॥*श्री*॥

श्री१०८महर्षिकृष्णद्वैपायनप्रणीतं

# श्रीब्रह्मसूत्रम् ।

श्रीद्धनिम्बार्कदर्शनं द्वैताऽद्वैतव्याख्यनपरं ।

श्रीश्रीमहर्ष्यौडुलोमिप्रणीत वेदान्तसूत्रवृत्त्यनुसारि भग-
वच्छ्री ९ मन्निम्बार्काचार्यप्रणीत वेदान्तपारिजात-
सौरभाख्य ब्रह्मसूत्रवाक्यार्थोपेतम् ।

तदङ्घ्रिपङ्कजान्तेवासि श्रीश्रीनिवासाचार्यप्रणीत
तद्भावार्थप्रकाशकवेदान्तकौस्तुभाख्य
ब्रह्मसूत्रभाष्योपेतम् ।

तथा तदनुगामि श्रीश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचित-
कौस्तुभप्रभाख्यवृत्त्यन्वितम् ।

एतद्भाष्यत्रय समन्वितम् ।

एतच्च ।

श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारिणा

सम्पादितम् ।

श्रीवृन्दाबनधाम्नि श्रीदेवकीनन्दनाख्यस्वकीययन्त्रालये ।

श्रीनित्यस्वरूपब्रह्मचारिणा मुद्रितं
प्रकाशितञ्च ।

सम्बत् १९६२ वि०                    मूल्यञ्च सप्तरौप्यकम्

PDF Creation and Uploading done by:
Hari Parshad Das (HPD) on 20 January 2014.

# शुद्धिपत्रम् ॥

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| फलं | ज्ञानफल | १ | ११ |
| अकृते | अकृतः | ५ | ९ |
| दुःखस्यान्तं निगच्छति | दुःखस्यान्तो भविष्यति | ६ | ३ |
| मृत्युमेति | मृत्युमत्येति | ६ | ७ |
| प्रपद्यंते | प्रपद्यते | ६ | ९ |
| अन्यमीशंतन्महि | अन्यमीशमस्य महि | ७ | ४ |
| जुष्टंततः | जुष्टस्ततः | ७ | ५ |
| तमीश्वरणां | तमीश्वराणां | ८ | ६ |
| ब्रह्य | ब्रह्म | ८ | १९ |
| तन्महिमानं | अस्य म० | ९ | २ |
| त्रिगुणार्थान्माया | त्रिगुणार्था माया | ११ | ५ |
| ऽक्षरमुच्यते | ऽक्षरउच्यते | ११ | ९ |
| अन्योऽन्तरात्मा | अन्योऽन्तरआत्मा | ११ | २० |
| अज्ञानघनः | प्रज्ञानघनः | १२ | ३ |
| एवद्रष्टा | एषहि द्रष्टा | १२ | ७ |
| उत्तमपुरुषो नोयजनं | उत्तमः पुरुषो नोपजनं | १२ | १५ |
| शास्त्रार्थवत्वात् | शास्त्रार्थवत्त्वात् | १२ | २० |
| सिनीताः | सिनीतः | १३ | ८ |
| नानापदेशात् | नानाव्यपदेशात् | १३ | १५ |
| दुःप्रेक्ष्यं | दुष्प्रेक्ष्यं | १५ | १५ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| विस्तारः | विस्तरः | १७ | ५ |
| श्रीश्रीनिवासाचार्यं | श्रीश्रीनिवासमाचार्यं | १९ | १७ |
| गाह्यं | ग्राह्यं | २० | २४ |
| गोपीजन ! मनोहर | गोपीजनमनोहर! | २१ | १० |
| चेत्र | चैत्र | २४ | २० |
| बद्धमुक्त दुःखा | बद्धमुक्तदुःखा | २६ | १२ |
| किश्चोपाधिः | किश्चोपाधेः | २८ | १५ |
| विशेषमुमुक्षो | विशेषः मुमुक्षो | २९ | २० |
| सर्वस्वाप्यधि | सर्वस्याप्यधि | ३० | ५ |
| विरोधस्यापरि | विरोधस्य परि | ३० | ७ |
| वस्तुनाऽधिष्ठान | वस्तुनोऽधिष्ठान | ३० | १३ |
| सामग्रथापेक्षा | सामग्र्यपेक्षा | ३३ | १९ |
| मृतपरिणतत्त्वेन | मृत्परिणतत्वेन | ३५ | ६ |
| अध्यासवत्वं | अध्यासवत्त्वं | ,, | २१ |
| निमितइति | निमित्त इति | ३६ | ५-६ |
| तत्वमस्यादि | तत्त्वमस्यादि | ३६ | १२ |
| सत्वेपि | सत्त्वेऽपि | ३६ | २१ |
| निमितो | निमित्तो | ३६ | २५ |
| कारणीय | करणीय | ३७ | १० |
| त्वाद्दिव | त्वादिति | ३७ | ११ |
| दिति तव | तव | ३७ | १२ |
| भ्रमोपदान | भ्रमोपादान | ३७ | २२ |
| निवृति | निवृत्ति | ३८ | ७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| ज्ञाननिवर्त्त्य | ज्ञाननिवर्त्यं | ३८ | १२ |
| जीवन० | जीवन्मुक्त्यनुवृत्ताज्ञानादावव्याप्त्यादेः | ३८ | १९ |
| व्याप्त्या | व्याप्त्या | ३८ | २१ |
| द्दष्टव्या | द्रष्टव्या | ३८ | २२ |
| बलीयस्तं | बलीयस्त्वं | ३९ | ८ |
| विषयीभावा | विषयिभावा | ३९ | ९ |
| विनियोः | विनियो | ३९ | ९ |
| असंक्षेप | असंख्येय | ४० | ४ |
| कांशार्थात्वांगी | कांशार्थांगी | ४६ | १४ |
| व्यावृत | व्यावृत्त | ४६ | २० |
| व्यावृत | व्यावर्त्त | ४७ | १७ |
| वृत | वृत्त | ४७ | २० |
| भाव | भावः | ४९ | १९ |
| व्यावृति | व्यावृत्ति | ५० | १८ |
| तत्तत्तद् | तत्तद् | ५३ | २० |
| साधितुं | साधयितुं | ५४ | १ |
| ब्रह्मा | ब्रह्मा | ५४ | १३ |
| विद्या | दिव्या | ५५ | ८ |
| सर्वा | सर्वाः | ,, | ,, |
| वेदैश्र | वेदैश्च | ५६ | ३ |
| वेघः | वेद्यः | ५६ | ४ |
| कार्यत्वा | कार्य | ५६ | २२ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| गृहीतु | ग्रहीतु | ५७ | ६ |
| तावक्रत्वं | तावत्क्रत्वं | ५९ | १३ |
| ऽन्वयः | ऽन्वयः समन्वयस्तस्मात् | ६० | १ |
| एकोनारा | एको ह वै नारा | ६३ | ६ |
| यजेत् | यजेत | ६३ | २० |
| यार्थत्वमा | यार्थत्वादा | ६४ | १२ |
| त्वतदर्था | अतदर्था | ६४ | १७ |
| प्रामाण्यं | प्रमाणं | ६५ | ४ |
| न्ययो | न्वयो | ६५ | ८ |
| जिगम | जिगमि | ६५ | १९ |
| विषयस्यापि | विषयानन्दस्यापि | ६८ | ७ |
| प्रामाण्यं | प्रमाणं | ७० | १५ |
| सयोगः | संयोगः | ७३ | ८ |

इति चतुःसूत्रीशुद्धाशुद्धपत्रं समाप्तम् ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| वियदा | बियदादि | ४ | ८ |
| निधर्मकस्य | निर्धर्मकस्य | ४ | १४ |
| कोस्तु | कौस्तु | ८ | १ |
| मुधन्तं | मुद्यतं | १३ | ६ |
| सच्छच्छ | सच्छब्द | १३ | १२ |
| गुणि | गुणी | १९ | ९ |
| स्पाप्या | स्याप्या | २३ | ८ |
| यन्ते | यते | २४ | ४ |
| इत्युनर | इत्युत्तर | २४ | २३ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| संगछते | सङ्गच्छते | २७ | ११ |
| जीवः | ज्ञाता जीवः | २७ | १३ |
| वयवययो. | वयवयो | २८ | १२ |
| द्यच | द्यच | २८ | १४ |
| आनन्दयता | आनन्दयिता | ३० | १५ |
| लब्धेव | लब्धैव | ३५ | १२ |
| कारणान्यनिष्ठा | कारणानिष्ठा इति स्यात् | ४० | १६ |
| दृश्ये | अदृश्ये | ४० | १७ |
| अदृश्यो | दृश्यो | ४० | १७ |
| इयत्ता | इयत्ता | ४० | २० |
| कारणान्यनिष्ठा | कारणानिष्ठा इति स्यात् | ४१ | १७ |
| मयादीनामपि | मपि तर्हि | ४२ | १२ |
| पुछं | पुच्छं | ४२ | २२ |
| निवत्तन्ते | निवर्त्तन्ते | ४३ | ४ |
| मपट् | मयट् | ४५ | १ |
| भ्वासेन | भ्यासेन | ४५ | १३ |
| द्वैवत्वो | द्वयवत्वो | ४५ | २० |
| येवा | ये वा | ५० | ५ |
| दृष्टैव | दृष्टैव | ५१ | १४ |
| वत्वा | वत्वा | ५१ | १७ |
| त्यराश्चो | त्पराश्चो | ५२ | १५ |
| वाक्यस्य | वाक्यस्य | ५३ | ९ |
| दित्यान्दतर | दित्यादन्तरः | ५५ | ५ |
| सर्वाणि | सर्वाणि | ५५ | १२ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| मन्वायते | मन्वापत्त्यै | ६० | १२ |
| मन्वायते | मन्वापत्त्ये | ६२ | ३ |
| मन्वायते | मन्वापत्त्ये | ६२ | ६ |
| चतुष्पाद् | चतुष्पाद् | ६४ | १० |
| तदेवा | तद्देवा | ६४ | १४ |
| कौक्षेप | कौक्षेय | ६६ | ८ |
| निगमात | निगदात्त | ६७ | ३ |
| क्षरछन्दो | क्षरच्छन्दो | ६८ | १४ |
| योगात्सा | योगात्साद्दश्य | ६९ | १० |
| पश्चान्यें | पश्चान्ये | ६९ | ११ |
| कृत्यर्थ | प्रकृत्यर्थ | ७२ | ४ |
| यत्त्वं | यन्त्वं | ७४ | ३ |
| स्योपास्यत्वन | स्योपास्यत्वेन | ७५ | १३ |
| परत्मा | परमा | ७७ | ३ |
| यन्तं | यन्त्वं | ८० | १३ |
| हिततम | हिततमं | ८० | १३ |
| एवमेवेता | एवमेवैता | ८० | १८ |
| पास्वे | पास्स्वे | ८१ | १२ |
| तद्वै | तद्धयै | ८२ | १३ |
| पास्वे | पास्स्वे | ८३ | २ |
| पास्वे | पास्स्वे | ८३ | १० |
| विद्यात्रि | विद्यात्रि | ८४ | २ |
| शब्दे | शब्दै | ८५ | ३ |
| महन्मुखान | मरुन्मुखान | ८५ | ६ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| महन्‌मुखान | मरुन्मुखान | ८७ | ५ |
| परिछिन्ने | परिच्छिन्ने | ८९ | १७ |
| निरुप्य | निरूप्य | ९२ | १८ |
| परमात्मा वा | परमात्मैवा | ९३ | १७ |
| अभ्यातः | अभ्यात्तो | ९५ | ६ |
| अभ्याती | अभ्यात्तो | ९५ | १० |
| अनादरो | अनादर | ९५ | ११ |
| अभ्यातो | अभ्यात्तो | ९५ | १६ |
| शायो | शायौ | ९६ | १ |
| अभ्यातः | अभ्यात्तः | ९६ | ६ |
| वत्वात् | वत्त्वात् | ९६ | २ |
| कर्मत्वेवोपा | कर्मत्वेनोपा | ९८ | १० |
| बंभ्रममाणः | बंभ्रम्यमाणः | १०२ | १ |
| नभ | नभः | १०२ | १३ |
| अद्विति | अद्विती | १०२ | १९ |
| द्रष्टशुता | दृष्टश्रुता | १०३ | १३ |
| दृष्टव्यः | द्रष्टव्यः | १०३ | १४ |
| श्चेति चेन्न | श्चं नेति चेन्न | १०३ | १८ |
| श्चेतिचेन्न | श्चं नेति चेन्न | १०४ | ५ |
| श्चेतिचेन्न | श्चं नेति चेन्न | १०५ | ८ |
| दावल्य | दावल्प | १०५ | १८ |
| ब्रह्मणोऽत्यन्त | ब्रह्मणोरत्यन्त | १०६ | ४ |
| उपादिश्य | उपदिशन् | ११२ | ४ |
| कर्ततया | कर्तृतया | ११४ | १८ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|---|---|---|---|
| गह्वरेष्ठं | गह्वरेष्ठं | ११५ | १७ |
| वत्तित्व | वर्त्तित्व | ११५ | २० |
| प्रकर्णे | प्रकरणे | ११६ | ७ |
| ब्रह्मयज्ञं | ब्रह्मजज्ञं | ११६ | ७ |
| वेतृत्वा | वेत्तृत्वा | ११६ | १० |
| गह्वरेष्ठं | गह्वरेष्ठं | ११६ | १७ |
| ब्रह्मयज्ञं | ब्रह्मजज्ञं | ११७ | ७ |
| ष्यन्तरः | ष्यन्तरः पुरुषः | ११७ | १५ |
| द्रष्ट्र | द्रष्टृ | ११९ | १ |
| द्रष्ट्र | द्रष्टृ | १२० | १३ |
| सर्वमापु | सर्वमायु | १२३ | १९ |
| साधिष्ठं | साधिष्ठं | १२४ | १० |
| आहुः | आह | १२५ | १५ |
| औपनिपद्ब्रह्म | औपनिषद्ब्रह्म | १२७ | ६ |
| षडुहङ्के | षड्डुदङ्के | १२७ | १९ |
| मावर्ते | मावर्त्ते | १२८ | ३ |
| पत्तिः | पत्ति | १२८ | ७ |
| कृत्य | कृत्वा | ” | ” |
| प्रजा | प्राजा | १२८ | १७ |
| दाताना | दान्ताना | १२९ | १४ |
| सावोंचितं | शवोंचितं | १३० | ४ |
| तद्वारा | तद्द्वारा | १३० | ७ |
| नर्न्दी | नर्दी | १३० | १३ |
| ब्रह्मणोः | ब्रह्मणो | १३० | १८ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| मांवृतं | मावर्त्त | १३१ | १ |
| अमृततत्वा | अमृतत्वा | १३२ | १५ |
| देवादि* | दैवाधि* | १३३ | ११ |
| ,, | ,,* | १३४ | ७ |
| अन्तरयामि | अन्तर्यामि | १३४ | ८ |
| पृथ्वी | पृथिवी | ,, | ११ |
| देवादि | दैवाधि* | १३५ | १८ |
| विषयः | विशयः | १३६ | ३ |
| षष्ठयानु | षष्ठयनु | ,, | ९ |
| द्रष्टान्तर | दृष्टान्तर | ,, | १२ |
| तस्य दृष्टो | तस्यादृष्टो | १३७ | १० |
| अदृष्ट | अद्रष्ट | ,, | १६ |
| अंतर्यामिनो | अंतर्यामिणो | १३८ | ८ |
| देवाधि | देवादि | १४१ | ३ |
| ह्यमना | ह्यमनाः | १४४ | १६ |
| परत | परतः | १४५ | ८ |
| प्रामाणा | प्रमाणा | ,, | ११ |
| सार्वज्ञा | सार्वज्ञ्या | ,, | १३ |
| न्यक्षरं | न्यक्षरः | १४८ | २ |
| पथिवी | पृथिवी | ,, | ५ |
| अन्तरयामि | अन्तर्यामि | ,, | १३ |
| प्रधानस | प्रधानस्य | ,, | १७ |
| रयि | रयिः | १५० | ६ |
| वेद | वेदिः | ,, | ७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| वर्हिहृदयं | बर्हिर्हृदयं | ,, | ,, |
| तदातम | तदात्म | १५१ | ८ |
| हृदयत | रूदयत | ,, | ९ |
| विषयः | विशयः | १५२ | १५ |
| प्रच्छयमानो | पृच्छय | १५३ | ११ |
| उतरत्र | उत्तरत्र | ,, | १२ |
| पुरुषमभि० | *पुरुषमपि चैनमर्धी० | १५५ | १९ |
| तथा | तद्यद्भक्तं | १५७ | १ |
| तद्यद्भक्तं | तद्यद्भक्तं | १५८ | ७ |
| वाजिनाः | वाजिनः | ,, | १५ |
| आत्मत्वात् | सर्वात्मत्वात् | ,, | १६ |
| मात्रतया | मात्रया | १६३ | १६ |
| यः | यः स | १६५ | १० |
| मायातन | मायतन | १६९ | १८ |
| तमेवं | तमेवैकमात्मानं | १७० | १७ |
| दिवाद्या | द्यवाद्या | १७१ | १६ |
| यलंम्भक | पलम्भक | १७२ | ७ |
| कौस्तु | कौस्तुभ | १७३ | १६ |
| त्रिगुणात्मकया | त्रिगुणात्मिकया | १७६ | १३ |
| वेदोक्ते | भेदोक्ते | १७७ | ६ |
| पिप्यलं | पिप्पलं | १७८ | १५ |
| ,, | ,, | १७९ | ४ |
| त्यश्नन्न | त्यनश्नन्न | ,, | ,, |
| छान्दोग्यैः | छन्दोगैः | १८० | ३ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| स्याधिक्य | स्याधिक्या | १८३ | ११ |
| विधान | भिधान | १८३ | १२ |
| भमानं | भूमानं | १८४ | १९ |
| निवर्तें | निवृत्ते | १८५ | २२ |
| विशक्तः | विसक्तः | १८७ | १४ |
| अस्थूलादीनां | अस्थूलत्वादीनां | १८९ | १९ |
| गार्गी | गार्गी | १९१ | ७ |
| गार्ग्यदष्टं | गार्ग्यदृष्टं | १९४ | २१ |
| सूर्य | सूर्यं | १९६ | १७ |
| मन प्रग्रह | मनः प्रग्रह | १९८ | १९ |
| ध्रुवं | ध्रुवं | १९९ | ४ |
| ” | ” | ” | ७ |
| मप्युप | मप्यु | २०० | ५ |
| वह्म | ब्रह्म | ” | १२ |
| एव | एवं | २०१ | ४ |
| यस्मिन् | अस्मिन् | २०३ | ४ |
| गति | गतिः | २०६ | २ |
| निहितं क्षेत्रज्ञा | निहितमक्षेत्रज्ञाः । | २०७ | १७ |
| रूपसंपद्य | रूपसम्पद्य | २११ | ११ |
| वैरुप्या | वैरूप्या | २१९ | १७ |
| श्रुयते | श्रूयते | २२० | ८ |
| करोति | करोतीति | २२४ | २ |
| उपरिष्ठा । | उपरिष्टा | २२४ | १० |
| देहादिमत्वा | देहादिमत्वा | २२५ | ७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| नामरुप | नामरूप | २२६ | २ |
| सायूज्य | सायुज्य | २२७ | ३ |
| मत्वसंभवः | मत्त्वसंभवः | ” | ६ |
| मत्वाच्च | मत्त्वाच्च | ” | ” |
| वपुनानि | वयुनानि | ” | ८ |
| दृढयति | द्रढयति | २३४ | १७ |
| कृत्वे ऽपि | कृत्त्वे ऽपि | २३५ | ११ |
| ” | ” | २३६ | २ |
| यथार्ता | यथर्ता | ” | १२ |
| गृहीतव्याः | ग्रहीतव्याः | २४२ | ६ |
| मन्ये | मन्यै | २४३ | १० |
| मध्वा | मध्व | २४५ | ११ |
| ” | ” | २४६ | ६ |
| सलभा | सुलभा | २४७ | १४ |
| शुद्रस्य | शूद्रस्य | २४८ | ७ |
| गृहीतु | ग्रहीतु | ” | १८ |
| जन्मातर | जन्मान्तर | २५१ | ७ |
| शोचताति | शोचतीति | ” | १३ |
| काक्षिसेनिं | काक्षसेनिं | ” | २१ |
| सेव्यमाणौ | वेष्यमाणौ | २५३ | ५ |
| जिह्वाछेदो | जिह्वाच्छेदो | २५९ | ९ |
| काशब्देन | काशशब्देन | २६२ | १७ |
| स्वित | स्वित् | ” | १८ |
| गृहीतव्यः | ग्रहीतव्यः | २६३ | १ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| वृहत्वा | बृहत्त्वा | २६४ | ६ |
| वृहत्वा | बृहत्त्वा | २६५ | १० |
| उपरिष्ठात् | उपरिष्टात् | २६९ | ५ |
| भग | भगवा | २७१ | ७ |
| शब्दैर्ग | शब्दैर्गृ | २७३ | १६ |
| सिद्धा ब्रह्मा | सिद्धाब्रह्मा | २७६ | २० |
| छायानु | च्छायानु | ,, | ,, |
| महतत्त्वा | महत्तत्त्वा | २७८ | १४ |
| ज्ञानमात्मनि | ज्ञान आत्मनि | ,, | १८ |
| गं त्रयाणा | गन्तॄणां त्रयाणा | २८५ | २ |
| अनुमानिक | आनुमानिक | ,, | ४ |
| प्रते | प्रत्ते | २८६ | १७ |
| परिछिन्न | परिच्छिन्न | २८७ | १७ |
| परमवेदं | परमे वेदं | ,, | १९ |
| प्रते | प्रत्ते | २८९ | ८ |
| नाचिकेताग्नि | न च्चिकेतोऽग्नि | ,, | १० |
| परिछिन्न | परिच्छिन्न | २९० | ८ |
| त्रयमेव | त्रयमेव | ,, | १५ |
| प्राप्यप्रप्तृ | प्राप्यप्राप्तृ | ,, | १६ |
| तत्त्व | त्तत्त्व | २९२ | २ |
| वैदिप्र | वैदिकप्र | ,, | १४ |
| त्तद्वारा | त्तद्द्वारा | ,, | १६ |
| उर्ध्व | ऊर्ध्व | २९४ | १३ |
| च्छिद्रश्चमस | च्छिद्रश्चमस | २९५ | ७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| ज्योतिरुपक्रमात् | ज्योर्तिरुपक्रमा | ,, | १९ |
| रूपक्रमात्तु | रुपक्रमा तु | २९८ | ५ |
| स्थात | स्थाता | ३०० | ३ |
| ,, | ,, | ३०१ | २२ |
| दृढयति | द्रढयति | ३०३ | ३ |
| षष्ठि | षष्टि | ,, | १३ |
| प्रकति | प्रकृति | ३०४ | ६ |
| विषये | विशये | ३०६ | ५ |
| प्राणाबोध्याः | प्राणादयो बोध्याः | ३०७ | १२ |
| व्याक्रियते | व्याक्रियत | ३११ | १२ |
| ,, | ,, | ,, | १६ |
| सौम्यद् | सौम्येद् | ३१२ | १० |
| व्याक्रियते | व्याक्रियत | ३१३ | ६ |
| दृष्ट | द्रष्ट | ३१३ | २२ |
| भिद्यत | भिद्यते | ३१४ | १ |
| रूपविभागात् | रूपाविभागात् | ,, | १० |
| व्याक्रियते | व्याक्रियत | ,, | १२ |
| ,, | ,, | ३१५ | १७ |
| ,, | ,, | ३१६ | २० |
| न शक्यं | नशङ्का | ३१७ | ५ |
| ब्रुवाणि | ब्रधाणि | ३१८ | ४ |
| ,, | ,, | ३२० | ३ |
| | ,, | ,, | २० |
| ,, | ,, | ३२२ | ५ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| तत्ङ्गोक्तॄ | तत्त्वङ्गोक्तॄ | ,, | १३ |
| ब्रुवाणि | ब्रवाणि | ३२३ | २ |
| ,, | ,, | ,, | ११ |
| ,, | ,, | ३२५ | ४ |
| श्रेष्ठ्यं | श्रैष्ठ्यं | ,, | ७ |
| उपसहाराभ्यां | उपसंहाराभ्यां | ,, | २० |
| ब्रुवाणि | ब्रवाणि | ३२६ | १ |
| स्वराज्य | स्वाराज्य | ,, | ४ |
| प्रथ | पृथ | ३२७ | १४ |
| यष्टिग्रातो | यष्टिभ्रातो | ३२८ | २ |
| एतत्वालाके | एतद्वालाके | ३३० | १० |
| नास्त्यकृतं | नास्त्यकृतः | ३३३ | ३ |
| दृढयति | द्रढयति | ३३८ | २ |
| खिल्प | खिल्य | ३४३ | १२ |
| उतर | उत्तर | ,, | १४ |
| दृढंयति | द्रढयति | ३४४ | १८ |
| प्रयोगः | योगः | ३४६ | १७ |
| निष्ठतक्षुः | निष्टतक्षुः | ३५५ | ३ |
| पृच्छयते एतद्य | पृच्छते दुतदध्यतिष्ठ | ,, | ,, |
| निष्ठतक्षुः | निष्टतक्षुः | ,, | १० |
| पृच्छयते एतद्यदध्य | पृच्छते दुतदध्य | ,, | ११ |
| निष्ठतक्षुः | निष्टतक्षुः | ३५६ | ४ |
| ,, | ,, | ,, | ६ |
| मचित्या | मचिन्त्य | ७५३ | १५ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| नचास्य | न तस्य | ३५८ | २ |
| शब्दवाद्यो | शब्दवाच्यो | ३५९ | ६ |
| प्रकृतिरधि | प्रकृत्यधि | ३६१ | ४ |
| ” | ” | ” | १२ |
| विवृत्तिः | विभूतिः | ३६४ | ७ |
| गृहीतव्या | ग्रहीतव्या | ३६७ | ११ |
| चेतन | चेत | ३६८ | २ |
| गृहीतुं | ग्रहीतुं | ” | ३ |
| पादकानां | पादिकानां | ” | ९ |
| मूलकानां | मूलिकानां | ” | १० |
| गर्जमानः | गर्जन् | ” | ११ |
| ज्योतीषि | ज्योतींषि | ३६९ | १४ |
| प्रथिव्याः | पृथिव्याः | ” | १७ |
| महात्म्य | माहात्म्य | ३७१ | १३ |
| विषये | विशये | ३७२ | ८ |
| दुःखात्यंत्य | दुःखात्यन्त | ” | १३ |
| प्रतिपादकानां | प्रतिपादिकानां | ” | २१ |
| मूलकाना | मूलिकाना | ” | २२ |
| युधिष्टिरः | युधिष्ठिरः | ३७३ | ३ |
| यादासना | यदासन्ना | ३७८ | १० |
| असिद्धहेतु | असिद्धो हेतु | ३७९ | १५ |
| दृश्यते | दृश्यते | ३८४ | ७ |
| यावनालादेः | यवनीलादेः इति स्यात् | ३८४ | १९ |
| जगतकारणं | जगत्कारणं | ३८६ | ११ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| यदत्तसमंजसं | यत्तदसमं | ३८८ | १६ |
| मृद्घटयो | मृद्धटयो | ३८९ | ७ |
| पिण्डकार्या | पिण्डः कार्या | ३९१ | ३ |
| वेशोषा | विशेषा | ३९२ | १९ |
| न स्यात् | नं स्यात् | ३९४ | ५ |
| दृढयितुं | द्रढयितुं | ४०२ | १२ |
| छान्दोगाः | छन्दोगाः | ४०३ | १७ |
| ताद्विविधं | तद्द्विविधं | ४०४ | ७ |
| दनुबृतस्य | दनुबृत्तस्य | ४०६ | ८ |
| सताया | सत्ताया | ४०७ | १ |
| तस्मात्वया | तस्मात्त्वया | ” | २१ |
| नविदुः | नविद्युः | ” | २६ |
| सतर्कैः | सत्तर्कैः | ४०८ | ८ |
| ऽनुन्मतस्य | ऽनुन्मत्तस्य | ” | १५ |
| अधिष्ठानतत्वं | अधिष्ठानतत्त्वं | ” | ” |
| प्रवृत्यसभंव | प्रवृत्त्यसम्भव | ” | १९ |
| पारिभाषित | पारिभाषिक | ४११ | ९ |
| नधीकरण | नधिकरण | ” | १८ |
| समा | सामा | ” | २० |
| द्वारकं | तद्धारकं | ” | २५ |
| प्रयोगस्यैवा | प्रयोगस्येवा | ४१२ | ६ |
| वाध्यते | बाध्यत्वे | ” | १४ |
| उभयथापि पाशारज्जू | उभयतःपाशारज्जुः | ” | ” |

इति स्यात् ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| सद्रपं | सद्रूपं | ४१३ | ७ |
| वोभयव्याप्तं था | वोभयव्याप्यत्वं वा | ,, | १२ |
| मनस्यैवा | मनसैवा | ४१४ | १ |
| विषयकै | विषयिकै | ,, | २ |
| सूत्रभाव्ये | सूत्रभाष्ये | ,, | ३ |
| तवानिष्ठं | तवानिष्टं | ४१५ | १२ |
| नुद्धरात् | नुद्धारात् | ४१६ | १२ |
| अमृतोभवति | अमृतोभवति यत्रत्वस्य | ,, | २० |
| सत्सामन्य | सत्सामान्य | ४१७ | ९ |
| आरंभणशब्दादिर्येषां | आरम्भणशब्दः | ४१९ | २५ |
| ,, | आदिर्येषां | ,, | ,, |
| मृतिका | मृत्तिका | ४२१ | १५ |
| तस्माद्दष्टांत | तस्माद्दृष्टान्त | ,, | १८ |
| त्वाद्दष्टांता | त्वाद्दृष्टान्ता | ४२२ | ७ |
| नुपपते | नुपपत्ते | ,, | २० |
| प्रतिपर्त्ति | प्रतिपत्ति | ४२५ | ६ |
| विद्यादित्युत्क्वा | विद्यादित्युक्त्वा | ,, | ८ |
| श्चान्द्रेंधकार्य | श्चार्द्रेन्धनकार्य | ,, | २१ |
| ननु | नतु | ४२६ | २४ |
| सृष्टाएव | स्रष्टा एव | ४२९ | १० |
| किंच एषुजाग्रति | किञ्चयएषुसुप्तेषुजागर्ति | ,, | १४ |
| यजुर्वेद साम | यजुर्वेदः साम | ४३० | १४ |
| सिद्धान्तसेतुकायां | सिद्धान्तसेतुटीकाया- | ४३० | १७ |
| ,, | मितिस्यात् | | |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|---|---|---|---|
| धमांतरं | धर्मान्तरं | ४३२ | ४ |
| ऽभूत्पूर्व | ऽभूतपूर्वं | ४३३ | २ |
| उपादानादविषय | उपादानविषय | " | १३ |
| आक्षिप्योतिष्ठंत्य | आक्षिप्योत्तिष्ठन्त्य | ४३४ | १२ |
| तत्रोतर | तत्रोत्तर | ४३५ | ७ |
| अक्काशर्करा | अक्काः शर्करा | " | १४ |
| शेषाद्धृतेन | शेषाद्धृतेन | " | १५ |
| षल्लिङ्गोपेत | षड्लिङ्गोपेतत्वेन | ४३८ | १ |
| स्फूरति | स्फुरति | " | ६ |
| विषयत्व | विषयत्वं | " | १३ |
| वस्ततस्तु | वस्तुतस्तु | ४४० | १० |
| रूपाभ्यामगृह्यते | रूपाभ्यां नगृह्यते | ४४२ | १९ |
| रुपेणा | रूपेणा | ४४३ | १० |
| स्वप्रांगणो | स्वप्रांगणे | ४४५ | २२ |
| नातशय। | नातिशये | ४४६ | ३ |
| नह्याध्यात्मका | नह्याध्यात्मिका | ४५२ | ४ |
| वक्षमाणो | वक्ष्यमाणो | " | २१ |
| म्याद्भेदो | त्म्याद्भेदो | " | २२ |
| निर्देशात् | निर्देशात् | " | " |
| कार्यकारेण | कार्याकारेण | ४५५ | १ |
| सर्वशक्तिः | सर्वशक्ति | ४५७ | १६ |
| शास्त्रविरुध्यते | शास्त्रं विरुध्यते | ४५९ | १४ |
| दन्यंनिर्मूलं | दन्यन्निर्मूलं | ४६२ | २ |
| निरवयशब्द | निरवयवशब्द | " | ७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| कुर्मः | कूर्मः | ४६३ | ५ |
| एव | एवं | ,, | ,, |
| सतत्तत् | सत्तत्तत् | ,, | १७ |
| कुर्मो | कूर्मो | ,, | १९ |
| विरोधामावा | विरोधाभावा | ,, | २० |
| वृंहति | वृंहयति | ४६६ | २ |
| केमुत्य | कैमुत्य | ,, | ९ |
| वसिष्ट | वसिष्ठ | ४६७ | ११ |
| त्यह्लवा | त्पह्लवा | " | १६ |
| सृष्ट्त्वेपि | स्रष्टृत्वेपि | ४६८ | ८ |
| गृहीता | ग्रहीता | ४७३ | १० |
| ,, | ,, | ४७४ | ४ |
| विवस्था | व्यवस्था | ४८० | ३ |
| क्षेत्रज्ञाणां | क्षेत्रज्ञानां | ४८१ | ५ |
| मश्रोतत्वं | मश्रौतत्वं | ४८३ | १४ |
| निषेधयित्वा | निषेध्य | ४८४ | ४ |
| षष्ठि | षष्टि | ,, | १० |
| प्रवृते | प्रवृत्ते | ,, | १४ |
| प्रवत्य | प्रवृत्य | ४८९ | ३ |
| महाद्या | महदाद्या | ४९५ | १८ |
| प्रवृतेः | प्रवृत्तेः | ४९६ | ६ |
| दनर्थका | दनर्थिका | ४९६ | १४ |
| दकशक्ति | दृक्शक्ति | ४९७ | ६ |
| ,, | ,, | ,, | १० |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| प्रलये वेला | प्रलैयवेला | ४९९ | ५ |
| नैरपेक्षेण | नैरपेक्ष्येण | ४९९ | १४ |
| गुणानानु | गुणाननु | ५०१ | १४ |
| विलशितेन | विलसितेन | ५०३ | १४ |
| परिमाणु | परमाणु | ५०४ | १६ |
| ्यासामंजस्य | ्यसामञ्जस्य | ५०५ | ५ |
| पोप्लुयमान | पोप्लूयमान | ५०६ | ९ |
| महत्वा | महत्त्वा | ५०९ | ५ |
| ,, | ,, | ,, | ६ |
| प्रथमानुपपत्तेः | प्रथिमानुपपत्तेः | ,, | ७ |
| महत्वा | महत्त्वा | ,, | १८ |
| महत्वो | महत्त्वो | ,, | १९ |
| कमात | कर्मात | ,, | २१ |
| एतदात्म्य | ऐतदात्म्य | ५१२ | ३ |
| सर्गप्रलयो | सर्गप्रळययो | ५१३ | ४ |
| भ्युगमाश्च | भ्युपगमाश्च | ,, | ५ |
| रज्जूघटयोः | रज्जुघटयोः | ५१४ | ३ |
| इदक् | ईदक् | ,, | ८ |
| रज्जूघटयो | रज्जुघटयो | ५१५ | ३ |
| प्रवृत्तेभावा | प्रवृत्तेर्भावा | ५१६ | ६ |
| प्रवृंति | प्रवृत्ति | ,, | १८ |
| प्रवृते | प्रवृत्ते | ,, | ,, |
| पत्तिरिति | पत्तेरिति | ५१७ | ५ |
| नत्वाश्च | मत्त्वाश्च | ,, | ६ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| मनित्यत्वंदशेना | मानेत्यत्वदशेना | ” | ४१ |
| समुदाये | समुदाय | ५२२ | १४ |
| ” | ” | ५२३ | ११ |
| ब्रह्मार्थ | बाह्यार्थ | ” | १६ |
| त्रितीय: | तृतीयः | ५२४ | ३ |
| माभव | मभाव | ” | ९ |
| गोरिति | गौरिति | ५२५ | १६ |
| चतुर्विधा | चतुर्विधाः | ५२८ | २ |
| चैतिका | चैत्तिका | ” | ११ |
| ध्वंसित्वा | ध्वंसित्वाद् | ” | २० |
| प्रवृता | प्रवृत्ता | ५३१ | ७ |
| त्रितीयः | तृतीयः | ५३३ | ३ |
| अङ्किचित् | अकिञ्चित् | ५३४ | ८ |
| किमापातं | किमायातं | ” | १३ |
| अवस्थापिनी | अवस्थायिनी | ५३५ | १० |
| क्रमयोग | क्रमयौग | ” | १३ |
| तद्वस्थः | तदवस्थः | ५३७ | ९ |
| निरस्यन्ते | निरस्यते | ५३८ | ३ |
| प्रकाश | प्रकाशः | ५३९ | ६ |
| निराधोऽपि | निरोधेऽपि | ५३९ | ५ |
| चर्म | चरम | ५४० | ७ |
| अथ सत्य | अर्थसत्य | ५४२ | १९ |
| ” | ” | ५४३ | १२ |
| भावत्वभ्यमनु | भावत्वमभ्यनु | ५४५ | १२ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| गृह्णात् | ग्रहणात् | ५४५ | १६ |
| प्रत्यभिज्ञा | प्रत्यभिज्ञया | ५४५ | २० |
| गृहीतु | ग्रहीतु | ५४६ | १८ |
| संतान | सन्तानः | ५४७ | ७ |
| नच | नचान्यः | ,, | ९ |
| ष्टार्थास्ति | ष्ठार्थास्ति | ५५० | १० |
| बहिष्टार्थ | बहिष्ठार्थ | ,, | १३ |
| तदेब | तदैव | ५५१ | ६ |
| वहिष्टार्था | बहिष्ठार्था | ५५२ | ७ |
| ,, | ,, | ,, | १० |
| नियमाच्च । नभेदो | नियमाच्च भेदो | ,, | १४ |
| स्वोत्पन्नोन | स्वोत्पन्नेन | ५५३ | ७ |
| पन्नत्वात्वा | पन्नत्वा | ,, | १७ |
| घटादयो | घटादयो | ५६० | ८ |
| उत्पत्ति | उत्पत्तिः | ,, | ११ |
| नास्तित्वानादि | नास्तित्वादिना | ५६१ | १० |
| प्रवृत्यनु | प्रवृत्त्यनु | ५६२ | १२ |
| अलोका | लोका | ५६३ | ३ |
| द्रष्टः | दृष्टः | ५६४ | २० |
| दृढयति | द्रढयति | ५६५ | १८ |
| गोरवः | गौरवं | ५६६ | १० |
| वयवानात्मा | वयववानात्मा | ५७० | १६ |
| मीष्यते | मिष्यते | ५७२ | १४ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| प्रवृत्तकाच्च | प्रवर्त्तकत्वाच्च | ५७३ | १७ |
| दुखांत | दुःखान्त | ५७४ | ९ |
| मात्मान | मात्मानं | ,, | १६ |
| पृष्टव्याः | प्रष्टव्याः | ५७८ | १० |
| नुपपत्तरपि | नुपपत्तेरपि | ,, | २० |
| सभम्वात् | सम्भवात् | ५८२ | १४ |
| संभवत् | सम्भवात् | ५८३ | ४ |
| चरोपपन्ना | चरीउपपन्ना | ५८५ | १ |
| ऽथ्यभिक्षुकः | ऽथ भिक्षुकः | ५८६ | १४ |
| वामनार्हतं | वाममार्हतं | ५८७ | २ |
| यजनीय | यजनीयः | ,, | १३ |
| मुख्यातस्य | मुख्यास्तस्य | ,, | २५ |
| प्रापणं | प्रायणं | ,, | ,, |
| त्प्रोक्तं | द्भुक्तं | ५८८ | १ |
| ज्ञानेष्वेतेषु | ज्ञानेष्वेतेषु | ,, | १५ |
| मानस | मानसं | ,, | २१ |
| कश्चिन | कश्चन | ५८९ | ५ |
| वुद्धिभि | बुद्धिभिः | ,, | ११ |
| दुर्दर्श | दुर्दृशा | ,, | १७ |
| द्रश्यन्ते | दृदृश्यन्ते | ५९० | ४ |
| स्वांगणो | स्वांगणे | ,, | १८ |
| ब्रह्मात्मकतेव | ब्रह्मात्मकतैव | ,, | २५ |
| वुद्धयाद्यभि | वुद्धाद्यभि | ५९१ | ४ |
| ऽप्रमा | ऽप्रामा | ५९२ | २ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| हरिरौं | हरिरों | ५९२ | ४ |
| उभयविधि | उभयविध | ५९३ | १४ |
| चास्मिञ्छ्छिंस्त्रे | चास्मिञ्छास्त्रे | ५९५ | १३ |
| प्रशंसार्थकैव | प्रशंसार्थिकैव | ,, | २३ |
| निमित्तका | निमित्तिका | ,, | २४ |
| संग्राहणार्थका | संग्राहणार्थिका | ,, | २७ |
| अधिकारीणां | अधिकारिणां | ५९७ | १ |
| पुसां | पुंसां | ,, | ,, |
| विषदं | विशदं | | ४ |
| निरवयस्या | निरवयवस्या | ६०० | १६ |
| औषधयऔषधिभ्यः | ओषधय० | ६१७ | ५ |
| पथिव्यप्सु | पृथिव्यप्सु | ६१९ | १३ |
| हेतु | हेतुः | ६२० | १४ |
| ज्योती | ज्योति | ,, | १८ |
| लयक्रमो | लयक्रमो | ६२२ | ३ |
| तल्लिङ्गागादिति | तल्लिङ्गादिति | ६२३ | २ |
| विज्ञानमसी | विज्ञानमनसी | ६२४ | ११ |
| ज्योतिः रापः | ज्योतिरापः | ,, | १६ |
| पार्थिवी | पृथिवी | ,, | ,, |
| संग्रहीतेषु | संगृहीतेषुं | ६२५ | ११ |
| मनस्यधि | मनोऽधि | ६२५ | १८ |
| मन्नोज्ञ | मनोज्ञ | ६२६ | १२ |
| मनस्यधि | मनोऽधि | ६२६ | १७ |
| नजायतेवा | नजायते म्रियतेवा | ६३० | १ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ. |
|---|---|---|---|
| समूलाः | सन्मूलाः | ,, | १४ |
| चन्न | चेन्न | ,, | २० |
| साम्येद् | सौम्येद् | ६३१ | ४ |
| प्रककरणेषु | प्रकरणेषु | ,, | १६ |
| सत्तानश्रय | सत्तानाश्रय | ६३२ | १ |
| संक्षेप | संक्षेपः | ,, | २ |
| निष्याद् | निष्पाद्य | ६३५ | १० |
| चिद्वेति | चिदेवेति | ६३५ | १२ |
| विभुःपरि | विभुपरि | ६३६ | ८ |
| सत्वे | सत्त्वे | ,, | १५ |
| रवस्यं | रवश्यं | ,, | २१ |
| चिन्मात्रवेति | चिन्मात्रमेवेति | ,, | २३ |
| गानमात्रं | ज्ञानमात्रं | ६३७ | ३ |
| त्वदुराशे | त्वद्दुराशे | ,, | १७ |
| अंभवात् | असम्भवात् | ६३८ | १२ |
| प्रवृत्य | प्रवृत्त्य | ६४० | १५ |
| कृषोऽहं | कृशोऽहं | ,, | १७ |
| स्वरुपा | स्वरूपा | ६४१ | २० |
| भवाभ्देदेन | भवाद्भेदेनं | ६४३ | १० |
| ऋुत्विज | ऋत्विजि | ६४४ | ,, |
| नाहस्संमीति | नाहमस्मीति | ६४५ | १९ |
| परिछिन्ना | परिच्छिन्ना | ६४८ | २० |
| त्वादिना | स्वादिना | ६४९ | ३ |
| पुरूपार्थे | पुरुषार्थे | ६५० | १५ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| वीजांकुर | बीजाङ्कुर | ६५१ | ३ |
| स्वरुपेण | स्वरूपेण | ६५१ | ८ |
| ,, | ,, | ,, | ९ |
| स्यानैक | स्यानेक | ६५४ | २ |
| ग्राम्य साम्य | ग्रामस्वाम्य | ,, | ११ |
| पंचया | पञ्चधा | ६५७ | ३ |
| व्याप्तौ | व्याप्तो | ६५९ | ५ |
| सर्व हि | सर्व ह | ६६० | ४ |
| स्वरुप | स्वरूप | ,, | ६ |
| वहन | बहून् | ६६२ | ९ |
| वेह | देहं | ,, | १९ |
| तथाहि | तथा च | ६६४ | ३ |
| मारूह्य | मारुह्य | ,, | १२ |
| जलान्तरं | जलाम्वरं | ६६५ | १३ |
| वृहत्व | बृहत्त्व | ६६६ | १४ |
| वृहत्त्वा | बृहत्त्वा | ,, | ,, |
| यजेत्स्वर्ग | यजेत स्वर्ग | ६७३ | ११ |
| यदस्नासि | यदश्नासि | ६७४ | ५ |
| लोहित्यं | लौहित्यं | ,, | २२ |
| रज्ञौ | रज्जौ | ६७५ | १६ |
| द्वारेणेवा | द्वारेणैवा | ६७६ | १८ |
| चेतोमुख | चेतोमुखः | ६७७ | २२ |
| द्रष्टुर्द्रष्टे | द्रष्टुर्द्दष्टे | ६७८ | १४ |
| कर्तृत्वादि | कर्तृत्वाद्य | ,, | २० |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| विषयकैव | विषयिकैव | ६७८ | २३ |
| सङ्गोयस्य | सङ्गोऽस्य | ६७९ | ७ |
| जक्षन् | जक्षत् | ६८० | ३ |
| कर्त | कर्तृ | ६८१ | १ |
| मूर्छा | मूर्च्छा | ,, | ६ |
| वैष्यम्या | वैषम्या | ,, | १६ |
| क्रियाया | क्रियायां | ६८३ | १४ |
| निर्विणो | निर्विण्णो | ६८६ | ८ |
| कर्त्राधि | कर्त्रधि | ६८९ | २ |
| ,, | ,, | ,, | ८ |
| पराद्धेतोऽस्ति | पराद्धेतोरस्ति | ,, | ११ |
| पूर्वनिषेधा | पूर्वपक्षनिषेधा | ६९० | २ |
| ब्रह्मकितवा | ब्रह्मेमे कितवाः | ६९३ | १५ |
| वद्धांशो | वद्धाशो | ६९४ | १८ |
| धिष्टाना | धिष्ठाना | ६९६ | १६ |
| करणछिद्रं | करणच्छिद्रं | ,, | ,, |
| सम्मूर्छित | सम्मूर्च्छित | ,, | १९ |
| तस्मादुरु | तस्माद्गुरु | ६९९ | ६ |
| रज्जु | रज्जुः | ,, | २२ |
| अस्थूलमण्वि | अस्थूलमनण्वि | ७०१ | ८ |
| सत्त्वाश्रयत्वाभ्यां | सत्ताश्रयत्वाभ्यां | ७०४ | ८ |
| ममेवांशो | ममैवांशो | ७०७ | ५ |
| शक्तित्वोक्त | शक्तित्वोक्ते | ,, | ७ |
| स्मृरंति | स्मरन्ति | ७१० | ५ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| चाकशीति | चाकशीतीति | ७१० | ६ |
| ,, | ,, | ,, | १५ |
| तिलाञ्जलिः | तिलाञ्जलि | | २१ |
| रीश्वत्वा | रीश्वरत्वा | ७१२ | ६ |
| लेपकेपूरा | लेपकेयूरा | ७१२ | ९ |
| शिष्ठस्य | शिष्टस्य | ७१२ | २६ |
| शुद्राधि | शूद्रादि | ७१५ | १२ |
| प्रसंगगात् | प्रसङ्गात् | ७१७ | १२ |
| चैत्यद्या | चैत्याद्य | ७२६ | ८ |
| आत्मनो | आत्मानो | ७२८ | ६ |
| भूयस्त्वासुप्रेः | भूयस्त्वात्सुप्रे : | ७२९ | २ |
| संख्यानिर्णेतु | संख्या निर्णेतु | ७३० | ५ |
| प्राणा | प्राणाः | ७३१ | ९ |
| अनूक्त्वा | अनूक्त्वा | ७३२ | ५ |
| ग्रहीतो | गृहीतो | ,, | २० |
| वृतिभेदेन | वृत्तिभेदेन | ७३३ | १५ |
| नचानन्त | नचानन्त्य | ७३५ | ४ |
| श्रेष्ठश्चेति | श्रेष्ठश्चेति | ,, | १३ |
| संगह्ः | संग्रहः | ७४१ | ७ |
| पच | पञ्च, | ७४४ | ११ |
| समप्लुषिणा | समः प्लुषिणा | ७४७ | ७ |
| लक्ष्ते | लक्ष्येते | ७४९ | १९ |
| राभासत्व | राभासत्वं | ,, | २२ |
| अनडुहा | अनडुहा | ,, | २३ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| विषर्ण | विषर्ण्ण | ७५० | ८ |
| ,, | ,, | ,, | १८ |
| ,, | ,, | ७५१ | १३ |
| विषये | विशये | ७५३ | ९ |
| नन्वित्यादिकमग्रिमसूत्रे पठनीयम् । | | ,, | १८ |
| तस्माह | त्तस्माह | ७५५ | २० |
| अथहम | अथहेम | ७५८ | २ |
| चोक्तः | चोक्तं | ,, | १७ |
| यकासु | यिकासु | ,, | २२ |
| इत्युत्क्वा | इत्युक्त्वा | ७५९ | ५ |
| सैयं | सेयं | ७६१ | ५ |
| प्राक्तृत्व | प्राक्तृत्वे | ७६२ | १५ |
| निर्दशा | निर्देशा | ,, | २५ |
| ब्रह्मात्मकत्मकत्वेन | ब्रह्मात्मकत्वेन | ७६३ | १५ |
| संज्ञका | संज्ञिका | ,, | २३ |
| तिर्यग् | तिर्यङ् | ,, | २५ |
| अभ्युपगछन्ति | अभ्युपगच्छन्ति | ७६४ | ६ |
| मणिष्टं | मणिष्ठं | ७६६ | १७ |
| प्रवाहनः | प्रवाहणः | ७७४ | १४ |
| प्रप्त्यादि | प्रपत्त्यादि | ७७५ | १३ |
| मुमुक्षोपायश्च | मोक्षोपायश्च | ,, | २२ |
| गछति | गच्छति | ७७६ | ११ |
| दर्शयित्वेति तु | दर्शयित्वा " इति तु | ,, | १६ |
| प्राणा | प्राणाः | ,, | १९ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| वंर्षा | वर्ष | ,, | २० |
| औषधी | ओषधी | ७८० | ८ |
| गोण्या | गौण्या | ७८० | १७ |
| प्रक्रमण | पक्रमण | ७८१ | २ |
| मौष | मोष | ,, | ६ |
| औषधी | ओषधी | ,, | १५ |
| ,, | ,, | ,, | १८ |
| अग्न्यादि | ऽग्न्यादि | ,, | २० |
| इतितु | "इतितु | ७८३ | ३ |
| प्राप्ति | प्राप्तिं | ७८४ | १२ |
| निंरूप्यते | निरूप्य, ते | ,, | १३ |
| यथा | पथा | ७८६ | २ |
| अभ्यासो | अभ्याशो | ७८६ | २ |
| ,, | ,, | ७९० | १४ |
| ,, | ,, | ,, | १६ |
| श्रुतवृत | श्रुतवृत्त | ७९१ | ५ |
| विषये | विशये | ,, | १४ |
| श्रुतवृत | श्रुतवृत्त | ७९२ | ७ |
| वाद्यादि | वाय्वादि | ,, | २० |
| पद्येरनि | पद्येरग्नि | ७९३ | १२ |
| वृतिमिति | वृत्तमिति | ७९४ | १४ |
| संभवन्ति | सम्भवति | ७९७ | ५ |
| सच | सात्र | ७९८ | १२ |
| अपिशब्द | अपिशब्दः | ८०२ | ४ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| गछंति | गच्छन्ति | ८०४ | १ |
| एतत्शाब्दस्य | एतच्छब्दस्य | ” | १७ |
| भावावादि | भावादि | ८०७ | १९ |
| उद्भिजेषु | उद्भिज्जेषु | ८०९ | १७ |
| उद्भिजयो | उद्भिज्जयो | ” | १८ |
| जीवमुद्भिजमि | जीवजमुद्भिज्ज | ८१० | ११ |
| उद्भिज | उद्भिज्ज | ” | १६ |
| ” | ” | ८११ | ४ |
| ” | ” | ” | ५ |
| ” | ” | ” | ६ |
| ” | ” | ” | ११ |
| ” | ” | ” | १४ |
| ” | ” | ” | १५ |
| निवर्तते | निवर्त्तन्ते | ८१२ | ३ |
| ” | ” | ” | १६ |
| वरोह | अवरोह | ८१३ | १ |
| नोभवति | अतो भवति | ” | १४ |
| द्राघिष्टं | द्राघिष्ठं | ८१६ | ३ |
| विषये | विशये | ” | ४ |
| द्राघिष्ठ | द्राघिष्ठ | ” | ” |
| दुखतरं | दुःखतरं | ” | ८ |
| औषधी | ओषधी | ” | १३ |
| तिलमासा | तिलमाषा | ” | १६ |
| औषधि | ओषधि | ८१७ | ७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| भाक्तं | भाक्त्वं | ८१७ | १८ |
| ओषधि | ओषधि | ८१८ | ७ |
| विषयः | विशयः | ८१८ | ९ |
| शरीरत्व | शरीरित्वं | ,, | १२ |
| विषयेन | विषयेण | ८१९ | १२ |
| रथयोगा | न रथयोगा | ८२४ | ६ |
| प्रमोदो | प्रमुदो | ८२५ | ८ |
| बद्धास्थायां | बद्धावस्थायां | ८२९ | ४ |
| स्वाप्नसृष्टि | स्वाप्नसृष्टिः | ,, | ६ |
| निर्मितेव | निर्मितैव | ,, | ,, |
| स्वगम्या | त्वगम्या | ८३१ | ४ |
| विषयानां | विषयाणां | ,, | १६ |
| स्वाप्नाध्याय | स्वप्नाध्याय | ८३२ | ५ |
| स्वास्थद्वानीयौ | स्वद्वास्थानीयौ | ८३८ | १६ |
| प्रवोधा | प्रवोधो | ८३९ | ३ |
| सुषप्ति | सुषुप्ति | ,, | ४ |
| जीवसुषप्ति | जीवस्य सुषुप्ति | ,, | ८ |
| अत | अतः | ,, | ११ |
| वाक्येभ्यः | वाक्येभ्यश्च | ८४१ | ११ |
| विषयः | विशयः | ,, | १८ |
| रहर्गछंत्य | रहर्गच्छन्त्य | ८४२ | ३ |
| जुहृया | जुहुया | ,, | ५ |
| विषये | विशये | ८४४ | ३ |
| दौषः | दोषः | ,, | १२ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| विषयानि | विषयाणि | ८४९ | १६ |
| गछन्त्य | गच्छन्त्य | ” | १९ |
| विषयकानि | विषयकाणि | ८५० | १ |
| ” | ” | ” | २ |
| स्वेछया | स्वेच्छया | ” | १२ |
| चाकशीति | चाकशीतिइति | ८५१ | १५ |
| दोषभाक्त | दोषभाक्त्वं | ८५२ | १ |
| चाकशीति | चाकशीति इति | ” | ५ |
| भाक्ताभाक्त | भाक्त्वाभाक्त्व | ” | ८ |
| दोषानां | दोषाणां | ८५३ | १५ |
| तन्नामभाक्तं | तन्नामभाक्त्वं | ८५४ | १७ |
| द्दढयति | द्रढयति | ८५५ | १४ |
| धनजय | धनञ्जय | ८५९ | ८ |
| शास्त्रं | शास्त्रे | ८६० | ६ |
| प्रथग् | पृथग् | ” | १६ |
| स्थानस्य | स्थानस्या | ८६१ | १७ |
| पथिव्यां | पृथिव्यां | ८६४ | १ |
| उपलक्षिता | उपलक्षिताः | ८७१ | १९ |
| स्वस्यमेव | स्वयमेव | ८७२ | १८ |
| त्युत्क्वा | त्युक्त्वा | ८७३ | ९ |
| ध्यामान | ध्यायमानः | ८७५ | ४ |
| द्रष्टुं | द्रष्टुं च | ” | ५ |
| जितस्घासाः | जितश्वासा | ८७६ | ३ |
| ” | ” | ” | १७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| तमः सीता | तमःशीता | ८७८ | १० |
| अतः अनन्तेन | अतोऽनन्तेन | ८७९ | १२ |
| इश्वरे | ईश्वरे | ८८० | २१ |
| द्दढयति | द्रढयति | ८८१ | २१ |
| व्यतिरेकेन | व्यतिरेकेण | ८८३ | ७ |
| ऽङ्कस्येव | ऽङ्कुरस्येव | ८८४ | २४ |
| रूक्मवर्णं | रुक्मवर्णं | ८८६ | ६ |
| श्रयबाद्गति | श्रयवादिति | ८८८ | १ |
| समाधत्तं | समाहितं | ८९० | ६ |
| विस्तारेण | विस्तरेण | ८९४ | ५ |
| योगमात्र | योगमात्रं | ८९५ | १५ |
| परिणमा | परिणामा | ८९६ | ४ |
| दन्यस्मात् | इन्यश्चास्मात् | ,, | २० |
| उन्मत | उन्मत्त | ८९७ | ४ |
| घटमणिकटक | घटमणिककटक | ,, | १० |
| वाध्यादि | वास्यादि | ,, | ,, |
| मेवास्थांतर | मेवावस्थान्तर | ,, | १२ |
| चाविभक्तानाम | न्चाविभक्तनाम | ,, | १७ |
| (परमात्मनि | न परमाणि) | ८९८ | २ |
| नावस्थयोः | नावस्थितयोः | ,, | ,, |
| द्दष्टुं | द्रष्टुं | ९०० | ३ |
| अनुसंधेया | अनुसन्धेयाः | ,, | ४ |
| मस्ततीति | मस्तीति | ९०२ | ६ |
| सवेश्वरात् | सर्वेश्वरात् | ९०३ | ७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| त्याध्यात्मं | त्यध्यात्मं | ९०५ | ३ |
| ब्रह्मेतरं | ब्रह्मेतरत् | ९०८ | १६ |
| दश्यते | दृश्यते | ९११ | ४ |
| विषये | विशये | ९१३ | ७ |
| नन्दयती | नन्दयाति | ९१४ | १ |
| ,, | ,, | ,, | ६ |
| आचार्यः | आचार्यः | ९१५ | ८ |
| कौस्तुभः | कौस्तुभप्रभा | ,, | १२ |
| प्रभुफल | प्रभुः फल | ९१९ | २ |
| मशिनं | मंशिनं | ,, | १० |
| प्रोक्तमुपासनमेकचो० | प्रोक्तमप्युपासनमेक- मेव चो । | ९२० | ७ |
| चोदनाख्य | चोदनाख्या | ९२२ | ३ |
| अनुकूले | अनुकूले | ९२३ | ४ |
| ताश्चाद्गीथ | ताश्चोद्गीथ | ,, | ६ |
| कृतुमयो | क्रतुमयौ | ,, | १२ |
| चोभयत्रेतरेनरोप | चोभयत्रेतरोप | ,, | १८ |
| चेत्कचित् | चेत्नकचित् | ९२४ | १४ |
| सवा | सवाः | ९२७ | १७ |
| तन्नियम | तन्नियमः | ९२८ | ११ |
| ऽधीयतेति | ऽधीयतेइति | ९२८ | १३ |
| अपरस्मिनपि | अपरस्मिन्नपि | ९३० | ९ |
| कर्तृकत्वं | कर्तृत्वं | ९३१ | १६ |
| अभिहनिष्याम | अभिहनिष्यामइति | ९३२ | २ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| अभिभविष्यामः | अभिहनिष्यामः | ९३३ | १ |
| समाननामात्रेण | समानतामात्रेण | ९३७ | ११ |
| र्दश्यते | दृश्यते | ९४० | ४ |
| कृत्स्नोर्दीथ | कृत्स्नोद्गीथ | ९४० | २० |
| कृत्स्नोद्गीथ | कृत्स्नोद्गीथः | ,, | २० |
| वेदे | वेद् | ९४३ | ७ |
| त्याब्रूवन् | ऽब्रुवन् | ९४४ | ४ |
| त्याब्रूवन् | त्याब्रुवन् | ९४५ | १३ |
| श्रेष्ठ्यं च | श्रैष्ठ्यं च | ,, | १५ |
| ऽभेदानन्दा | ऽभेदादानन्दा | ,, | २२ |
| गुणिन | गुणिनः | ९४९ | ३ |
| स्वरूपववत् | स्वरूपवत् | ९५० | ३ |
| तदेक्यार्थात् | तदैकार्थ्यात् | ९५४ | १२ |
| प्राणदा | प्राणादा | ,, | १७ |
| मात्मनं | मात्मानं | ९५५ | १४ |
| चाचाभेदे | चाचामेदे | ९५६ | १४ |
| कुरुते त्यादि | कुरुते इत्यादि | ,, | १५ |
| प्रपच्छ | पप्रच्छ | ९५७ | ५ |
| आचाम्न्त्याशित्वा | आचामन्त्यशित्वा | ,, | ८ |
| कुरुते त्यपां | कुरुते इत्यपां | ,, | १८ |
| सामाना | समाना | ९६२ | १२ |
| दिश्येते | दृश्येते | ९६५ | ९ |
| उपसंह्वीयेते | उपसंह्रियेते | ९६६ | ७ |
| ब्रह्म स्पर्धितुं | ब्रह्मणा स्पर्धितुं | ९६९ | १० |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| शाडिल्यादि | शाण्डिल्यादि | ९६९ | १७ |
| ऽल्पमाया | ऽल्पमाय | ९७० | ४ |
| विद्यया | विद्याया | ९७१ | २२ |
| ह्यशिशिषादीनां | ह्याशिषादीनां | ९७५ | २४ |
| प्रसूव | प्रसुव | ९७७ | ११ |
| ऐत्तरेयिणो | ऐतरेयिणो | ,, | १४ |
| प्रसूव | प्रसुव | ९७९ | ९ |
| ऐत्तरेयिभि | ऐतरेयिभि | ,, | ११ |
| देब | देवं | ,, | १२ |
| सात | सति | ९८३ | १३ |
| देवछंदांसि | देवच्छन्दांसि | ९८४ | २ |
| दन्यायत्वा | दन्याय्यत्वा | ,, | १७ |
| अधीयन्ते | अधीयते | ९८७ | ४ |
| जाते एव | जात एव | ,, | ८ |
| त्यागादूर्द्ध | त्यागादूर्ध्वं | ९८८ | १५ |
| ऊर्द्धं | ऊर्ध्वं | ,, | ,, |
| नर्दीं | नदीं | ९८९ | १७ |
| वियोगादूर्द्धं | वियोगादूर्ध्वं | ९९० | ३ |
| अधीयन्ते | अधीयते | ,, | ५ |
| कृतत्यागः | स्वकृतत्यागः | ९९१ | ६ |
| नियच्छति | हि गच्छति | ९९२ | १० |
| कौशीतकि | कौषीतकि | ,, | ,, |
| जक्षन् | जक्षत् | ९९४ | १३ |
| ,, | ,, | ९९५ | १५ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| साम्पराधि | साम्परायाधि | ९९६ | १५ |
| साम्पराधि | साम्परायाधि | ९९७ | ९ |
| याहि | तथाहि | ,, | १५ |
| छुक्त्यवरान् | छक्त्यवरान् | १००१ | १५ |
| वशिष्ठो | वसिष्ठो | ,, | १६ |
| तदम्भसि | तदाम्भसि | १००२ | ११ |
| वशिष्ठा | वसिष्ठा | १००३ | ८ |
| ,, | ,, | १००४ | १ |
| ,, | ,, | ,, | ५ |
| सामान्या | सामान्य | ,, | ११ |
| तद्विषयकासु | तद्विषयिकासु | १००५ | १६ |
| न्यायः | न्याय्यः | १००७ | ४ |
| अंतर्यामिनः | अन्तर्यामिणः | १०१२ | १७ |
| रवात्मनः | स्वात्मनः | १०१७ | १६ |
| द्विराम्नातं | द्विराम्नातं | १०१८ | १७ |
| अशनाद्यतीत | अशनायाद्यतीत | १०१९ | ४ |
| विशिषन्ति | विशिंषन्ति | ,, | ८ |
| सद्विद्यायाकमव | सद्विद्यायामेकमेव | ,, | ,, |
| शिषन्ति | विशिंषन्ति | ,, | ९ |
| अश नाद्यतीत | अशनायाद्यतीत | ,, | १५ |
| अशनातीत | अशनायातीत | १०२० | २ |
| अशनाद्यतीत | अशनायाद्यतीत | ,, | ८ |
| पृष्ट्रोः | प्रष्ट्रोः | ,, | १९ |
| क्षार्यः | कार्यः | १०२१ | २ |
| ब्रह्मण | ब्रह्मणः | ,, | ३ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| वचनान्यकेमव | वर्चनान्येकमव | ,, | ७ |
| त्यादिना | इत्यादिना | १०२४ | १ |
| रूपसंपद्य | रुपसम्पद्य | १०३० | ११ |
| जक्षन् | जक्षत् | १०३२ | २ |
| ,, | ,, | १०३३ | ४ |
| भूतोद्गीतादि | भूतोद्गीथादि | १०३५ | ५ |
| पेक्ष्यं | पेक्ष्यं | १०३८ | १५ |
| ,, | ,, | ,, | १६ |
| प्रथक्ज्ञाना | पृथक्ज्ञाना | १०४० | १ |
| सकलपयंति | सङ्कलपयन्ति | १०४१ | ४ |
| गृहीतव्या | ग्रहीतव्या | ,, | १३ |
| तथाभूताग्नित्वेन | तथाभूताग्नित्वेन | १०४२ | १६ |
| देवताकाण्डे | कर्मकाण्डे | १०४३ | ८ |
| इतश्चेषां | इतश्चैषां | १०४७ | ७ |
| अत्र येषा | अत्रैवैषा | ,, | १६ |
| शंसत् | शंसन् | १०४८ | १ |
| स्तुवन्तः | ऽस्तुवन्त | ,, | १६ |
| ते हते | तेहैते | १०४९ | ६ |
| स्तुवन्तः | ऽस्तुवन्त | ,, | ११ |
| क्रतु | क्रत्व | १०५० | १५ |
| संवधा | सम्बद्धा | १०५१ | १६ |
| कास्तुभ | कौस्तुभ | १०५३ | १३ |
| ब्रह्मणस्य | ब्राह्मणस्य | १०५७ | ६ |
| हारदत्रापि | हारादत्रापि | ,, | ८ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| लिंगाभूय | लिङ्गभूय | १०५७ | १५ |
| प्रत्यगात्मानु | प्रत्यगात्मानानु | १०६१ | १ |
| वेद्यत्वेनोक्रमो | वेद्यत्वेनोपक्रमो | १०६८ | १३ |
| उपास्ते | उपास्से | १०६९ | १६ |
| वयवत्मभिधाय | वयवत्त्वमभिधाय | ,, | २१ |
| वेद्यैक्याविद्यैक्यं | वेद्यैक्याद्विद्यैक्यं | १०७१ | १० |
| एकयेव | एकयैव | १०७४ | १२ |
| समुच्चीयेरन्न | समुच्चीयेरन्न वा | १०७५ | १३ |
| बुवन्ती | ब्रुवती | १०८० | १९ |
| स्यौंकारस्य | स्योङ्कारस्य | १०८१ | ८ |
| णौंकारे | णोङ्कारे | ,, | १० |
| स्यौंकारस्य | स्योँकारस्य | ,, | १६ |
| वेदात्रयो | वेदत्रयो | १०८२ | २ |
| सहभावोऽश्रुतेः | सहभावाश्रुतेः | ,, | ५ |
| नोपादन | नोपादान | ,, | १४ |
| यक्षमानं | यजमानं | १०८५ | १७ |
| प्रापिकानी | प्रायिकाणि | १०८६ | २ |
| सुधानिधं | सुधानिधिम् | ,, | १२ |
| पुरुषार्थोः | पुरुषार्थौ | १०८७ | १५ |
| याथात्म्यववेदन | याथात्म्यवेदन | १०९१ | ८ |
| त्याद्याः | त्याद्या | ,, | १२ |
| ,, | ,, | ,, | १३ |
| कारणाधिपः | करणाधिपः | १०९२ | १२ |
| विद्याकर्मणो | विद्याकर्मणोः | १०९४ | १७ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| जिजीविषेच्छन्तं | जिजीविषेच्छतं | १०९६ | १६ |
| कारणाधिपः | करणाधिपः | १०९८ | १७ |
| ,, | ,, | १०९९ | १७ |
| निश्रेयसैक | निःश्रेयसैक | ११०१ | १५ |
| न्वारभेते | न्वारभते | ११०३ | १२ |
| मित्युक्तेः | मित्युक्ते | ,, | १४ |
| शब्दस्यस्याक्षर | शब्दस्याक्षर | ११०५ | १७ |
| तिक्तेन | त्यक्तेन | ११०७ | ९ |
| कर्मांगत्वभ्युपगतं | कर्माङ्गत्वमभ्युपगतं | ११०८ | १६ |
| ज्ञानाग्नि | ज्ञानाग्निः | १११० | ११ |
| ऊर्ध्व | ऊर्ध्व | ११११ | ३ |
| ,, | ,, | ,, | ६ |
| ,, | ,, | ,, | १० |
| ,, | ,, | ,, | १२ |
| ,, | ,, | ,, | १५ |
| ,, | ,, | १११२ | ५ |
| ,, | ,, | ,, | ६ |
| विरहा | वीरहा | १११२ | १६ |
| ऊर्ध्व | ऊर्ध्व | १११४ | १४ |
| आश्रमा | आश्रमाः | ,, | ,, |
| सर्वेषां | सर्वेषां | १११५ | १० |
| तत्वतः | तत्त्वतः | १११६ | ३ |
| पुनरावृत्तिनो | पुनरावर्त्तिनो | ,, | ,, |
| प्राप्तिदार्शी | प्राप्तिर्दर्शी | १११७ | १६ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| विरहा | वीरहा | ११९८ | १ |
| तदहरेवं | तदहरेव | ,, | १६ |
| वाचार्यंणे | वाचार्यैंणे | ,, | १७ |
| मूर्द्धरेतः | मूर्द्ध्वरेतः | ,, | १८ |
| तावद्विविधं | तावद्द्विविधं | १११९ | ३ |
| फलादानार्हं | फलदानार्हं | ,, | १७ |
| मालभेते | मालभेत | ११२० | ५ |
| दिचेन्न | दितिचेन्न | ,, | १४ |
| त्वादिरुपादा | त्वादेरुपादा | ११२१ | ४ |
| भूतोद्गीथाद्य | भूतोद्गीथादेर | ११२२ | ६ |
| सामः | साम | ,, | १६ |
| जुहुरादित्यकूर्मः | जुहूरादित्यः कूर्मः | ११२३ | १ |
| स्युरि १। २। ७। ति | स्युः।१।२।७।इति | ,, | १० |
| विद्याप्रधान्यं | विद्याप्राधान्यं | ११२६ | ५ |
| माचक्षीत्युक्ता | माचक्षीतेत्युक्त्वा | ,, | ७ |
| रूर्द्धरेतःसु | रूर्द्ध्वरेतःसु | ११२७ | १५ |
| ,, | ,, | ,, | १८ |
| गृहास्था | गृहस्था | ११२८ | ४ |
| दूर्द्धरेतःसु | दूर्ध्वरेतःसु | ,, | १८ |
| ऊर्द्धरेतसः | ऊर्ध्वरेतसः | ११२९ | ३ |
| प्रकृत्यार्थे | प्रकृत्यर्थे | ११३० | १९ |
| मीष्यमाण | भिष्यमाण | ११३१ | १ |
| विदन्ति | विन्दति | ,, | ९ |
| निराशार्थः | निरासार्थः | ११३३ | १२ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| छांदोग्यानां | छन्दोगानां | ११३६ | १० |
| विषये | विशये | ,, | १२ |
| स्वादन | स्वादन् | ११३७ | ५ |
| विहितत्वाचा | विहितत्वाच्चा | ११४१ | ११ |
| इतिश्रुति | इतिश्रुतिः | ११४६ | ४ |
| विषये | विशये | ११४९ | ४ |
| ऽऽश्रमकर्मापि | ऽऽश्रमकर्माणि | ११५१ | ८ |
| कर्मवत्तेन | कर्मकृत्तेन | ११५२ | ११ |
| श्रोता | श्रौता | ,, | १३ |
| विषये | विशये | ११५६ | १७ |
| फलभाक्ते | फलभाक्त्वे | ११६२ | २० |
| तद्वित्वसम्मतः | तद्वित्त्वसम्मतः | ११६३ | ८ |
| स्यार्थस्यार्थस्याना | स्यार्थस्याना | ,, | ९ |
| द्दढयति | द्रढयति | ,, | १३ |
| विषये | विशये | ११६४ | ७ |
| फलस्य | फलञ्च | ,, | १५ |
| निर्वर्त्यानि | निर्वर्त्यानि | ११६५ | २० |
| भृत्यकर्तके | भृत्यकर्तृके | ११६६ | ४ |
| मोनं | मौनं | ११६७ | १० |
| ,, | ,, | ११६८ | १३ |
| विषये | विशये | ११६९ | ३ |
| आश्रमद्यर्मः | आश्रमधर्मः | ,, | ८ |
| महिमानमीश | महिमानमीशम् | ११७० | १२ |
| तथैतस्मिन्नपि- | इत्यादिकमग्रिमसूत्रेपठनीयम् | ११७२ | १८ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| मानोप | मौनोप | ११७२ | १६ |
| पुत्रेषणा | पुत्रैषणा | ११७३ | १३ |
| वित्ते० | वित्तैषं | ,, | ,, |
| लोकेषणा | लोकैषणा | " | १४ |
| वाल्यस्य | बालस्य | ११७५ | १५ |
| पूर्धकेन | पूर्वकेण | ११७६ | ६ |
| विषये | विशये | ,, | १८ |
| एहिकं | ऐहिकं | ११७७ | ९ |
| नाचिकेतो | नचिकेतो | ,, | १० |
| समुहे | समूहे | ११७८ | ७ |
| कृत्स्नाम् | कृत्स्नम् | ,, | १२ |
| सिध्यति | सिध्यन्ती | ११७९ | ४ |
| सम्पन्नविधस्य | सम्पन्नविद्यस्य | ११८२ | २ |
| पातः इति | पाते इति | ,, | ५ |
| विषये | विशये | ,, | ,, |
| चतुःषष्ठिः | चतुः षष्टिः | ११८३ | ८ |
| कर्तव्याः | कर्त्तव्या | ११८५ | १० |
| द्रष्ट्व्य | द्रष्टव्य | ११८७ | १२ |
| सध्येयं | सन्ध्येयं | ११९० | १८ |
| परमात्म्नो | परमात्मनो | ११९१ | १६ |
| तादात्य | तादात्म्य | ,, | १६ |
| मख्यः | मुख्यः | ११९२ | ७ |
| स्वास्यात्मत्वेन | स्वस्यात्मत्वेन | ११९३ | ६ |
| संबन्धेनेव | सम्बन्धेनैव | ,, | १५ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| रामेति | रार्द्धेति | ११९३ | १६ |
| तत्तद्दष्ट्या· | तत्तद्दृष्ट्या | ११९५ | ५ |
| स एवासौ | य एवासौ | ११९७ | ४ |
| णेत्यादे | णेत्यादित्यादे | ११९८ | ७ |
| त्याद्याः | इत्याद्याः | १२०२ | ६ |
| चित्तैकाग्रं | चित्तैकाग्र्यं | ,, | १९ |
| पुरुषः | पुरूषः | १२०५ | ७ |
| त्यजन्त्यन्ते | त्यजत्यन्ते | ,, | १३ |
| निर्जिहीषु | निर्जिहीर्षु | १२०७ | ४ |
| पराभक्त्या | परभक्त्या | १२०८ | ४ |
| अविदूषो | अविदुषो | ,, | १४ |
| नोपपद्येत | नोपपद्येते | १२०९ | १० |
| कर्मक्षयः | कर्मक्षय | ,, | १२ |
| दृढयतिं | द्रढयति | ,, | २२ |
| इतस्या | इतरस्था | १२१० | ६ |
| विमोक्षे | विमोक्ष्ये | १२१२ | १६ |
| स्वलु | खलु | १२१३ | ४ |
| अग्निहोत्रादि | अग्निहोत्रादि तु | १२१४ | १२ |
| द्विपन्त | द्विपन्तः | १२१७ | ३ |
| कौषीतकि | कौषीतकी | ,, | १७ |
| तपजपादीनि | तपो जप० | १२१९ | ८ |
| शरीरान्तर्भोग्ये | शरीरान्तरभोग्ये अपीति | १२२१ | २ |
| विमोक्षे | विमोक्ष्ये | १२२२ | ५ |
| ,, | ,, | ,, | १२ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| प्रपन्न | प्रपन्न | १२२३ | १ |
| सारथैय | सारथये | १२२३ | १ |
| मेवममात्मा | एवमेवममात्मा | १२२८ | १ |
| ऽनुक्रामति | ऽनूत्क्रामति | ,, | २ |
| उत्क्रामन्ते | उत्क्रान्ते | १२२९ | ७ |
| त्रिवृत्त | त्रिवृत | १२३१ | १७ |
| ,, | ,, | १२३२ | ७ |
| मापन्न | मायन्न | १२३३ | १६ |
| विषये | विशये | १२३५ | २१ |
| विद्धांश्चेन् | विद्वांश्चेन् | १२३६ | ६ |
| गछतो | गच्छतो | १२३९ | १५ |
| जीवववस्था | जीवद्वस्था | १२४० | १८ |
| आत्माकामो | आत्मकामो | १२४१ | १६ |
| त्यादिका एवश्रुते | त्यादि काण्वश्रुते | १२४२ | ९ |
| मुत्क्रान्ति | मुत्कान्ति | १२४३ | १२ |
| त्यादिका एवश्रुते | त्यादि काण्वश्रुते | ,, | १७ |
| सामन्यवाच | सामान्यवाचि | १२४४ | १६ |
| किंचेमा | किंचेमाः | ,, | २१ |
| निषेधः | निषेध | १२४५ | २ |
| तत्राह | तत्र हि | ,, | ४ |
| स्मृतेश्च | स्मृतिश्च | १२४६ | २० |
| नाडयौत्क्रान्ति | नाडयोत्क्रान्ति | ,, | ,, |
| सइन्द्रियः | सेन्द्रियः | १२४८ | १२ |
| भिद्यते | भिद्येते | १२४९ | ६ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| विषये | विशये | १२५० | ११ |
| तस्योक्तो | तस्यौक्तो | १२५१ | ४ |
| ग्रहीतः | गृहीतः | ,, | १३ |
| निष्क | निष्का | १२५३ | १६ |
| वेतृ | वेत्तृ | ,, | २० |
| विदुष | विदुषः | १२५४ | ७ |
| गृहीतु | ग्रहीतु | ,, | १४ |
| स्थान | स्थानं | ,, | २२ |
| विद्वान्स्तां | विद्वांस्तां | १२५५ | २ |
| वदान्त | वेदान्त | ,, | ६ |
| अमुष्या | अमुष्मा | १२५६ | ११ |
| नाडीभ्य | नाडीभ्यः | ,, | १३ |
| स्मातित्वं | स्मारित्वं | ,, | १४ |
| रूर्द्ध | रूर्द्ध्व | ,, | २० |
| विमोक्षे | विमोक्ष्ये | १२५८ | १ |
| मार्गेन | मार्गेण | ,, | १८ |
| विमोक्षे | विमोक्ष्ये | १२५९ | १ |
| मृत्यस्य | मृतस्य | ,, | १० |
| विमोक्षे | विमोक्ष्ये | ,, | १६ |
| प्रतिक्षणां | प्रतीक्षणा | १२६० | १९ |
| स्मर्णार्हेऽतो | स्मरणार्हे अतो | १२६१ | १७ |
| पुन | पुनः | १२६२ | ११ |
| अहारा | अहरा | १२६३ | १ |
| मजीशं | मनिशं | १२६४ | १६ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| प्रपन्न | प्रपन्न | १२६५ | १ |
| षड्डुदङ्केति | षड्डुदङ्ङ्केति | १२६५ | १० |
| ,, | ,, | ,, | १६ |
| मेति | पति | ,, | १७ |
| ताम् | ,, | ,, | १८ |
| ,, | ,, | १२६६ | १२ |
| ऽर्चिरभि | ऽर्चिषमभि | १२६८ | १७ |
| रूद्ध्व | रूर्द्ध्व | १२६९ | १३ |
| विशेषभ्यां | विशेषाभ्याम् | १२७० | १३ |
| वायुरविशेषणो | वायोरविशेषेणो | ,, | १४ |
| का | कौ | ,, | १८ |
| तकि | तर्की | १२७१ | १९ |
| ,, | ,, | १२७२ | १२ |
| ,, | ,, | १२७३ | ६ |
| समासाश्रयणीयः | समाश्रयणीय | १२७३ | ७ |
| देवाना | देवानां | ,, | ११ |
| दुर्द्धं | दूर्द्ध्व | ,, | २० |
| मागछती | मागच्छती | १२७४ | ४ |
| ,, | ,, | ,, | १० |
| १०७० | १२७७ | ०० | ० |
| रश्मिन् | रश्मीन् | १२८२ | १७ |
| विषयका | विषयिका | १२८५ | १ |
| ,, | ,, | ,, | २ |
| तदुपदेशाः | तद्व्यपदेशः | १२८६ | १ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| ब्रह्मासामी | ब्रह्मस्वामी | " | १२ |
| निर्दि | निर्दे | " | १७ |
| गृहीतव्यो | ग्रहीतव्यो | १२९१ | १३ |
| निःशेषविद्या | निःशेषाविद्या | १२९४ | ४ |
| यथादिति | यथादितिः | " | ११ |
| गतिःश्रुति | गतिश्रुति | " | १५ |
| एतद्धै | एतद्वै | १२९५ | २४ |
| विस्तृत | विस्तृतः | १२९७ | १ |
| सिद्धान्तो | सिद्धान्ती | १२९८ | ५ |
| रुपसन्द्य | रुपसम्पद्य | १२९९ | १ |
| प्रतीकस्येव | प्रतीकस्यैव | १३०० | १८ |
| त्यादिका | इत्यादिका | १३०२ | १० |
| महत्व | महत्त्व | १३०३ | २१ |
| प्रपप्न | प्रपन्न | १३०४ | १ |
| मार्गेन | मार्गेण | १३०५ | १६ |
| निरावर्णेन | निरावरणेन | " | १७ |
| स्वस्वरूपे | स्वस्वरूपे | १३१५ | ५ |
| जक्षन् | जक्षत् | " | १३ |
| दित्योडु | दित्यौडु | १३१६ | १६ |
| पाप्मवादि | पाप्मत्वादि | १३१७ | १० |
| त्यत्रप | त्यत्रापि | १३१८ | ६ |
| स्थितिभगवत् | स्थितिर्भगवत् | १३२२ | ४ |
| विषयका | विषयिका | " | ११ |
| ग्रहणयोग्य | ग्रहणायोग्य | १३२३ | १६ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| शास्त्रदयं | शास्त्रादयं | १३२६ | १० |
| निरूपाख्य | निरुपाख्य | ,, | १७ |
| सौकार्यं | सौकर्य्य | १३२७ | १४ |
| त्यग्निम | त्यग्निम | १२२८ | १६ |
| भावस्ततत् | भावस्तत्तत् | ,, | ,, |
| लक्षणे | लक्षणो | १३३१ | २ |
| तद्विधं | तद्द्विविधं | १३३१ | ६ |
| ऽनुश्छिन्ति | ऽनुच्छिन्ति | १३३२ | ३ |
| सर्वं पश्यः | सर्वं ह पश्यः | १३३३ | ११ |
| उपास्यस्येव | उपास्यस्यैव | ,, | २१ |
| जक्षन् | जक्षत् | १३३४ | २१ |
| निरधिष्ठोः | निरधिष्ठो | १३३५ | २ |
| तिलांजलिः | तिलाञ्जलि | ,, | ५ |
| प्राप्तेः | प्राप्तिः | ,, | ११ |
| जक्षन् | जक्षत् | १३३६ | ३ |
| सहकृत्सङ्कल्पा | सहकृतसङ्कल्पा | ,, | ७ |
| जक्षन् | जक्षत् | १३३७ | १ |
| स्वराट् | स्वराड् | ,, | २१ |
| स्याछेद्य | स्याच्छेद्य | १३४१ | १५ |
| महिनत्वं | महीनत्वं | १३४२ | ५ |
| वर्द्ध | वेद्ध | १३४४ | १६ |
| चानन्ताय | चानन्त्याय | १३४७ | ५ |
| रन्यन्तरा | रन्यतरा | ,, | १७ |
| वाक्यमुक्त | वाक्यं मुक्त | १३५० | २ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठे | पंक्तौ |
|---|---|---|---|
| पारेतरं | पारेतरत् | १३५१ | ,, |
| ,, | ,, | १३५२ | ६ |
| निल | ऽनिल | १३५४ | ८ |
| नात्म्ये | ऽनात्म्ये | १३५५ | ४ |
| निरुक्ते | ऽनिरुक्ते | ,, | ,, |
| निलयने | ऽनिलयने | ,, | ५ |
| त्याद्याः | त्याद्या | १३५६ | १५ |
| श्चैवं | श्चैवं | ,, | १८ |
| श्वर्य्यम् | श्वर्य्यम् | १३५७ | ४ |
| भोगामात्र | भोगमात्र | १३५८ | १७ |
| पारेतरं | पारेतरत् | १३५९ | १० |
| भगवर्निवार्के | भगवन्निम्बार्के | १३६० | ९ |

इति ब्रह्मसूत्रस्य शुद्धाशुद्धपत्रं परिसमाप्तम् ।

ॐ श्रीमद्राधागोपालाय नमः

ॐ श्रीमन्मङ्गलमूर्त्तये नियमानन्दाय नमः ।

# श्रीब्रह्मसूत्रम् ।

भाष्यत्रयोपेतम् ।

श्रीश्रीमन्निम्बार्कविरचित वेदान्तपारिजात

सौरभाख्यब्रह्मसूत्रवाक्यार्थः ।

## सू० अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १।१।१॥

अथाधीतषडङ्गवेदेन कर्मफलक्षयाक्षयत्वविषयकविवेकप्रकारकवाक्यार्थजन्यसंशयाविष्टेन तत एव जिज्ञासितधर्ममीमांसाशास्त्रेण तन्निश्चितकर्मतत्प्रकारतत्फलविषयकज्ञानवता कर्मब्रह्मफलंसान्तत्वसातिशयत्वनिरतिशयत्वविषयैकव्यवसायजातनिर्वेदेन भगवत्प्रसादेप्सुना तद्दर्शनेच्छालम्पटेनाचार्य्यैकदेवेन श्रीगुरुभक्त्येकहार्देन मुमुक्षुणाऽनन्ताचिन्त्यस्वाभाविकस्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्बृह-

त्तमो यः रमाकान्तः पुरुषोत्तमो ब्रह्मशब्दाभिधेय-स्तद्विषयिका जिज्ञासा सततं सम्पादनीयेत्युपक्रम-वाक्यार्थः ॥ १ ॥

---

श्रीश्रीनिवासाचार्यविरचित वेदान्तकौस्तु

भाख्य ब्रह्मसूत्रभाष्यम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीसूत्रकाराय नमः ।

श्रीवाक्यार्थकाराय नमः ।

श्रीभाष्यकाराय नमः ।

श्रीहंसं सनकादीन्देवर्षिं निम्बभास्करञ्च भजे ॥ कृपयैषां श्रीकृष्णे परमात्मनि नो भवतु भक्तिः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णपादयुगलं शिरसा नमामि यत्रान्वितः श्रुतिगणो न विरोधमेति ॥ यद्ध्यानयोगनिरताश्च यदाप्नुवन्ति केशेन्द्रवन्द्यमनिशं मनसा गिरा च ॥ २ ॥

इह खलु सर्वेश्वरः सर्वात्मा सर्वजगदभिन्न-निमित्तोपादानकारणरूपो भगवान् पुरुषोत्तमः

श्रीवासुदेवः पाराशर्य्यात्मना नानाकुतर्कविमोहितान् जीवान्वीक्ष्य तेषु स्वज्ञानभक्ती द्रढयितुं निःसंशयतया परब्रह्मप्रतिपत्तये शारीरकमीमांसाख्यं वेदान्तशास्त्रं सूत्रयामास। अथ श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकःपरमकारुणिको मुमुक्ष्वनुग्रहाय भगवान् श्रीमन्निम्बार्कस्तद्व्याख्यानं शारीरकमीमांसावाक्यार्थरूपेण वेदान्तपारिजातसौरभाख्यमतिगूढं कृतवान्। अथ तु तदाज्ञया तदुक्तवर्त्मना तदनुग्रहकामेन तच्छिष्येण मया मृदुमितपदो वेदान्तकौस्तुभस्तद्भावार्थप्रकाशको विदुषामुपकाराय विरच्यते। ननु धर्मजिज्ञासयैवेष्टसिद्धौ किं ब्रह्मजिज्ञासयेत्यत्र धर्मस्यानित्यफलदत्वान्निरतिशयानन्तानन्दप्राप्तये तज्जिज्ञासा कर्त्तव्येत्युच्यते ॥

( अथातो ब्रह्मजिज्ञासा )

अत्राथ शब्दः आनन्तर्य्ये नचार्थान्तरे पूर्वनिर्वचनाभावात् न च "ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभा"विति वचनादिह मङ्गलार्थ इतिवाच्यम् अस्य शास्त्रस्य शब्दतोऽर्थतश्च मङ्गलरूपत्वेन मङ्गलान्तरनिरपेक्षत्वात् श्रुत्यैव मङ्गललाभाच्च एवमन्येषा-

—मप्यथशब्दार्थानामधिकारादीनामिहानुपयोगाच्च किञ्चार्थविशेषविवक्षया पठितः शब्दोऽर्थान्तरे प्रयोक्तुमशक्यः आनन्तर्य्यमस्येह विवक्षितो ऽर्थः अत इत्यस्य पूर्ववृत्तपरामर्शित्वात् तस्मादथशब्दश्चानन्तर्य्यार्थक एव । अत इतिशब्दो हेत्वर्थः—

"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् । द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छती"त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां शब्दब्रह्मनिष्ठगम्यं वक्ष्यमाणलक्षणं तत्त्वं ब्रह्मशब्दवाच्यम् जिज्ञासाशब्द इष्यमाणब्रह्मज्ञानेच्छावाचकः यद्यप्यथानन्तरमतोहेतोर्ब्रह्मजिज्ञासा जायते इतिक्रियापदाध्याहारोऽपि युज्यते प्रेक्षावतां विशिष्टेऽर्थे स्वतो जिज्ञासासम्भवात्तथापि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः स विजिज्ञासितव्य" इत्यादिविषयवाक्यसारूप्यात्कर्त्तव्येत्यध्याहृतेन विध्यर्थकपदेनान्वयो बोध्यः । "मुमुक्षुर्भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येदिति" श्रुत्यनुसारिमुमुक्षुपदं तृतीयान्तमाक्षिप्यते इतिपदयोजना । तत्राथानन्तरमिति धर्मजिज्ञासाविषयभूतधर्मस्वरूपतत्साधन-

तदनुष्ठानप्रकारतत्फलविषयकज्ञानानन्तरम् स्वाध्यायोऽध्येतव्य इतिविधीयमानसंस्कारादिपूर्वकं साङ्गं वेदमधीत्य तत्र कर्मफलस्य क्षयाक्षयत्वविधायकानि "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति। अपाम सोमममृता अभूम। यत्र नोष्णं न च शीतं स्यान्न ग्लानिर्नाप्यरातय" इत्यादीनि "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। अन्तवदेवास्य तद्भवति। नह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवम्। नास्त्यकृतं कृतेन। प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा" इत्यादीनि परस्परविरुद्धप्रकारकाणि वाक्यानि सामान्यतो दृष्ट्वा जातसंशयो विशेषतोनिर्णेतुमनीशस्तन्निवृत्तये धर्मजिज्ञासायां प्रवृत्तस्तया सम्यङ्निर्णीतकर्मस्वरूपतदनुष्ठानप्रकारतत्फलकस्तथाभूतज्ञानमापद्यते तदनन्तरमित्यर्थः। अतो हेतोरितिकर्मफलस्य सान्तत्वसातिशयत्वनिश्चयात् "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोक" इतिश्रुतेः "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुने"तिस्मृतेश्च ब्रह्मज्ञानस्य च निरतिशयानन्तफलकत्वनिश्चयात् "तमेवविदित्वाऽति-

मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तन्निगच्छति । ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं मध्ये आत्मनि संस्थितं तं ज्ञात्वा मृत्युमेति नान्यः पन्था विमुक्तये । वहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः । ज्ञानवान् मां प्रपद्यंते । ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छती"त्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः "यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः । असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केऽचात्महनो जना"इत्यादिश्रुतिभ्यः अनात्मज्ञस्य कृपणत्वात्मघ्नत्वादियोगनिन्दाश्रवणाच्च ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येति यावत् । केनेत्यपेक्षायाम् एभ्योहेतुभ्यः कर्मफलादौजातनिर्वेदेन श्रीभगवद्दर्शनस्य मोक्षासाधारणकारणत्वं श्रुत्वा तज्जन्यव्यवसायजन्यदिदृक्षाग्रहगृहीतेन श्रीपुरुषोत्तमप्रसादैकेप्सुना आचार्य्यैकदेवेन गुरूपसन्नेन गुरुभक्त्येकहार्देन मुमुक्षुणेत्यन्वेति । "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो

निर्वेदमायात् यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्ता- रमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। जुष्टं यदा पश्यत्य- न्यमीशं तन्महिमानमितिवीतशोकः। पृथगात्मानं प्रेरितारंच मत्वा जुष्टं ततस्तेनामृतत्वमेति। भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि 'तस्मिन्दृष्टे परावरे। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वां। तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः। धातुःप्रसादान्महिमानमीशं। तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रो- त्रियं ब्रह्मनिष्ठं तस्मै सविद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्। आचार्यदेवो भव यस्य देवे पराभक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन" इत्या- दिश्रुतिभ्यः ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी "कर्त्तृकर्मणोः कृती"ति शास्त्रात् ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मषष्ठ्या समासः "कृद्योगा च षष्ठी समस्यते"इत्युक्तेः ब्रह्म चाचिन्त्या- नन्तनिरतिशयस्वाभाविकबृहत्तमस्वरूपगुणाद्याश्र -

यभूतः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वेश्वरः सर्वकारणरूपः समानातिशयशून्यः सर्वव्यापकः सर्ववेदैकवेद्यः श्रीकृष्णएव "बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म । यः सर्वज्ञः सर्ववित्पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच। एष सर्वेश्वरः तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतं न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्सम-श्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः । एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्त-रात्मा। कृष्ण एव परोदेवस्तं ध्यायेत्। अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिद स्ति धनञ्जय।वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इत्यादिश्रुतिस्मृ-तिभ्यः तद्विषयकमेव ज्ञानं तथाभूतेष्यमाणज्ञान-विषयिकैवेच्छेत्यर्थः । तथाच श्रूयते "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यादिबृहदारण्यके "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इतिछान्दोग्ये च अरे मैत्रेयि आत्मा द्रष्टव्यः अत्र तव्यप्रत्ययः अर्हार्थकएव "अर्हे कृत्यतृचश्चे"-ति सूत्रात् ब्रह्मसाक्षात्कारस्य"भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि

दृष्ट एवात्मनीश्वरे । निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति । तन्महिमानमिति वीतशोकः।ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर"मित्यादिवाक्यैर्मोक्षान्तरङ्गोपायतया सिद्धत्वेन विधेयत्वाभावात् तथाच वाक्यान्तरप्राप्तं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं मोक्षासाधारणोपायं दर्शनमुद्दिश्य तदन्तरङ्गोपायभूतन्निदिध्यासनमत्र विधीयते तदेव ध्यानज्ञानपराभक्तिध्रुवास्मृत्यपरपर्य्यायभूतं ज्ञानशब्देन सूत्रयामास भगवान्वादरायणः सूत्रविषयवाक्ययोरेकार्थत्वनियमात् । तत्रापि विषयवाक्यस्य मूलरूपत्वेन स्वतः प्रामाण्याद्बलीयस्त्वं तदनुसारेणैव सूत्रार्थो नेयः । अन्यथा तयोर्विषयविषयिभावानुपपत्तेः श्रवणमननयोर्निदिध्यासनोपायत्वेन विनियोगः तयोरपि परम्परया मोक्षसाधनोपायत्वात् तत्र वेदान्तवाक्यानां भगवत्स्वरूपगुणादिप्रतिपादनपरत्वं निश्चित्य तत्प्रतिपाद्यं ध्येयस्वरूपादिकं साक्षात्पश्यत आचार्यस्य मुखात्तदनुभूतवाक्यार्थस्य ग्रहणं श्रवणम् श्रुतस्य चोपदिष्टार्थस्य स्वानुभवविषयीकरणाय शास्त्रानुकूलयुक्तिभिर्विचारवि-

शेषो मननम् मननविषयस्यार्थस्य साक्षात्कारा-
साधारणसाधनमनवरतध्यानं निदिध्यासनम्
तथाचोक्तलक्षणश्रवणादिसाध्यनिदिध्यासनस्या-
त्यन्ताप्राप्तत्वादपूर्वविधिरेवायमिति बोध्यम् भूमे-
त्यस्य व्याख्या तु भूमेतिसूत्रव्याख्याने द्रष्टव्या
फलितार्थस्तु अनादिवद्धेन जीवेन दैवाज्जन्म-
समये मधुसूदनावलोकितेनानुष्ठितसाधनकद-
म्बेनोपासितगुरुचरणेन वेदान्तवेद्यब्रह्मश्रवण-
मनननिदिध्यासनैर्लब्धतद्दर्शनेन मुमुक्षुणा मुक्तिः
सम्पादनीयेति मुक्तिः कार्यकारणप्रकृतिरूप-
बन्धनिवृत्तिपूर्विका भगवद्भावापत्तिः "परं ज्योति-
रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यत" इति श्रुतेः
"तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । अस्मिन्नस्य च तद्योगं
शास्ती"त्यादिसूत्रेभ्यश्च निरस्तातिशयाह्लादसुख-
भावैकलक्षणा । भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्य-
न्तिकी मता । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपप-
द्यते । बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता
"इत्यादिस्मृतिभ्यः भावपदं च स्वयमेव व्याख्या-
तं श्रीमुखेन "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्य-
मागता" इति एतत्फलाध्याये निपुणं वक्ष्यामः

अथ 'किमात्मको मुमुक्षुः किमात्मकं च तद्बन्धनमित्याकाङ्क्षायां मुमुक्षूणां सुखेन शास्त्रप्रवेशाय च शास्त्रतत्त्वं विचार्यते तत्त्वं तावत्त्रिविधम् चिदचिद्ब्रह्मभेदात् सूत्रेणापि जिज्ञास्यं जिज्ञासुस्तदज्ञानमूलभूता त्रिगुणा ऽर्पान्माया चेति तत्त्वत्रयस्योक्तत्वात् अन्यथा जिज्ञासानुपपत्तेः "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत्। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो ऽक्षरमुच्यते उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च तत्राचिद्वर्गभिन्नो ज्ञानस्वरूपो ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिधर्मको ऽहमर्थरूपो भगवदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिको ऽणुपरिमाणकः प्रतिशरीरं भिन्नो बन्धमोक्षार्हश्चित्पदार्थः यथाहुः "ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यं अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात् मुक्तं च भक्तं किलबद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्य"मिति "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योन्तरात्मा विज्ञानमयः यथा

सैन्धवघनो ऽनन्तरो ऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव । एवम्वा अरे ऽयमात्मा ऽनन्तरो वाह्यः कृत्स्नः अज्ञानघन एव अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति । अविनाशी वा अरे ऽयमात्मा ऽनुच्छित्तिधर्मा अथ यो ऽयं वेद जिघ्राणीति स आत्मा कतमः योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु-हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष एव द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता वोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वान्नहि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्नहि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वात् । विज्ञातारमरे केन विजानीयात् । जानात्येवायं पुरुषः न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां स उत्तमपुरुषो नो यजनं स्मरन्निदं शरीरं एवमेव परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति । यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत । ज्ञो ऽत एव कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् । अहं वै त्वमसि देवते सोऽहं

ब्रह्मास्मीति मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते स एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते। स कारयेत्पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीशिताऽपि जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः। अणुर्ह्येष आत्मा ऽयं वा एते सिनीताः पुण्यं पापम्। वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः। उत्क्रान्तिगत्या गतीनाम्। नाणुरतच्छ्रुतेरितिचेन्नेतराधिकारात्। तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्। नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको वहूनां यो विदधाति कामान्। अंशो नानापदेशात्। अस्ति खल्वन्यो परो भूतात्मा योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिना यस्य सम्मूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारन्नापश्यद्गुणैः सूप्यमानः कलुषीकृतश्चेति। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति । न स पुनरावर्त्तते । अनावृत्तिः शब्दा"दित्यादीनि श्रुतिसूत्राणि । अचित्पदार्थस्त्रिविधः प्राकृताप्राकृतकालभेदात् यथाहुः "अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम् मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समे ऽपि तत्रे"ति तत्र गुणत्रयाश्रयभूतं द्रव्यं प्राकृतम् तच्च नित्यं परिणामादिविकारि च "गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः । अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपा" इत्यादिश्रुतिभ्यः त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम् अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया त्रिगुणं कर्मणां क्षेत्रं प्रकृतेरूपमुच्यते" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च "तदधीनत्वादर्थवत् । चमसवदविशेषात् । ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयते एके" इत्यादिसूत्रेभ्यः गुणाश्च सत्त्वरजस्तमांसि तदेव हि स्वगुणैः क्षेत्रज्ञानां देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिरूपेण परिणतं सञ्जीवबन्धनहेतुर्मोक्षप्रतिबन्धकतया चोच्यते महदादिब्रह्माण्डान्तस्य जगतः कारणीभूतं च तत्कार्यं चानित्यं बोध्यम् । अप्रा-

प्राकृतं नाम त्रिगुणप्रकृतिकालात्यन्तभिन्नमचे-
तनं च प्रकृतिमण्डलभिन्नदेशवृत्तिनित्यविभूति-
विष्णुपदपरमव्योमपरमपदब्रह्मलोकादिपदाभि-
धेयम् "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। योऽस्या-
ध्यक्षः परमे व्योमन् तद्विष्णोः परमं पदं सदा
पश्यन्ति सूरयः। विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्र-
हवान्नरः सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः
परमं पदम्। अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भ-
वामि। न स पुनरावर्त्तते। अनावृत्तिः शब्दात्।
इत्यादिश्रुतिसूत्रेभ्यः "यमाहुः सर्वभूतानां प्रकृतेः
प्रकृतिं ध्रुवाम्। अनादिनिधनं देवं प्रभुं नारा-
यणं हरिं ब्रह्मणः सदनात्तस्य परं स्थानं प्रका-
शते। देवाश्च यं न पश्यन्ति दिव्यं तेजोमयं पदम्
अत्यर्कानलसन्दीप्तं स्थानं विष्णोर्महात्मनः
स्वयैव प्रभया राजन्दुःप्रेक्ष्यं देवदानवैः यतय-
स्तत्र गच्छन्ति देवं नारायणं हरिम् वरेण्यं
तपसा युक्ता भाविताः कर्मभिः शुभैः योग-
सिद्धा महात्मानस्तमोमोहविवर्जिताः तत्र
गत्वा पुनर्नेमं लोकमायान्ति भारत स्थानमेत-
न्महाराज ध्रुवमक्षयमव्ययम् ईश्वरस्य सदा

ह्येतत्प्रमाणं च युधिष्ठिर ब्रह्मणः सदनादूर्द्धं तद्विष्णोः परमं पदम् शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति यद्विदुः। ज्ञानविज्ञानिनः केचित् परं पारं तितीर्षवः अतीव तत्पदं पुण्यं पुण्याभिजनसम्वृतम् यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ते तु तद्ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्वता" इत्यादिमहाभारतस्थश्लोकेभ्यश्च तत्रैव गीतासु "मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वत"मितिभगवद्वचनाच्च तच्च भगवदीयानादिसङ्कल्पात्तस्य तदीयानां नित्यमुक्तानां च भोग्यादिरूपेणानेकरूपं परिणामादिविक्रियानर्हं च कालातीतत्वात् "कलामुहूर्त्तादिमयश्च कालो नयद्विभूतेः परिणामहेतुः। तवाष्टगुणमैश्वर्यं नाथ स्वाभाविकं पर"मित्यादिवचनात् । अथ प्राकृताप्राकृतोभयभिन्नाचेतनद्रव्यविशेषः कालो नित्यो विभुश्च "अथ नित्यानि हवै पुरुषः प्रकृतिः काल" इत्यादिश्रुतेः "सदेव सौम्येदमग्रआसी" दिति श्रुतौ सृष्टेः प्राक् अग्रशब्दवाच्यस्य कालस्य सत्यत्वश्रवणाच्च "अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते । न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके

यत्र कालो न भासते” इत्यादिस्मरणाच्च । सच भूतभविष्यद्वर्त्तमानयुगपच्चिरक्षिप्रादिव्यवहारासाधारणहेतुः, सृष्ट्यादिसहकारी च, परमाण्वादिपरार्द्धावसानव्यवहारासाधारणकारणश्च । तस्य च पुराणेषु प्रसिद्धत्वान्नात्र विस्तारः । सर्वमपि प्राकृतं वस्तु कालतन्त्रम्, कालस्य सर्वनियामकत्वे ऽपि परमेश्वरनियम्यत्वमेव, “ज्ञः कालकालो गुणी सर्व्वविद्यः” इतिश्रुतेः । ब्रह्मपदार्थस्तु पूर्वं व्युत्पादितः, वक्ष्यमाणजगत्कर्तृत्वादिगुणगणनिलयः परब्रह्मनारायणवासुदेवादिशब्दाभिधेयः श्रीकृष्णः । यथाहुः “स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ॥ व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्” इति । चिदचिद्ब्रह्मपदार्थानां तत्तत्प्रकरणपठितैस्तत्तद्गुणस्वरूपादिविशेषत्वबोधकैर्वाक्यैरितरेतरवैलक्षण्यमुपदिश्यते । “सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । तत्त्वमसि । अयमात्मा ब्रह्म । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते । तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मि”

इत्यादिवाक्यैश्च चिदचितोर्ब्रह्म तादात्म्यमुप-
दिश्यते । एवं चोभयविधवाक्यानां स्वार्थे प्रामा-
ण्यात् चिदचितोर्भिन्नस्वरूपयोरपीन्द्रियाणां भिन्न-
स्वरूपाणामपि "न वै वाचो न चक्षूंषि न
मन इत्याचक्षते प्राण इत्येवाचक्षते" इति
छान्दोग्ये प्राणेन्द्रियसम्वादे प्रसिद्धानां
प्राणायत्तत्वादेव प्राणाभिन्नत्ववद्ब्रह्मायत्तस्थितिप्र-
वृत्तिमत्त्वेन ब्रह्माभिन्नत्वाच्चिदचिदभिन्नाभिन्नं जि-
ज्ञास्यं ब्रह्म सूत्रकाराभिमतम् । अत एव तत्त्व-
द्वयजिज्ञासाकाङ्क्षा नास्ति, एकविज्ञानेन सर्व-
विज्ञानप्रतिज्ञा च सूपपन्ना । यथाहुः । "सर्वं हि
विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखि-
लस्य वस्तुनः ॥ ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्रसाधिता" इति ॥ "अंशो
नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधी-
यत एके । उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् । प्रका-
शाश्रयवद्वा तेजस्त्वादि"त्यादीनि सूत्राण्यनुसन्धे-
यानि । विशेषविस्तरस्त्वग्रे द्रष्टव्यः । श्रुत्यर्थ-
निर्णायकस्यास्य सूत्रस्योपोद्घातरूपत्वात् शास्त्रे
प्रेक्षावत्प्रवृत्तये ऽनुबन्धा अप्यनेनार्थादुक्ताः । ते

चाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनाख्याः। तत्रोक्त-लक्षणो मुमुक्षुरिहाधिकारी। विषयश्चास्य ब्रह्मा-दिशब्दाभिधेयः सर्वज्ञः स्वाभाविकाचिन्त्या-नन्तयावदात्मवृत्तिगुणशक्त्याद्याश्रयो ब्रह्मरुद्रेन्द्र-प्रकृति परमाणुकालकर्मस्वभावादिनियन्ता दोषा-स्पृष्टसीमा चिदचित्स्वाभाविकभेदाभेदाश्रयो भग-वान् वासुदेवः श्रीपुरुषोत्तमः। विषयविषयि-भावलक्षणः सम्बन्धः। श्रीभगवद्भावापत्तिलक्षणो मोक्षोऽत्र प्रयोजनम् ॥१॥ इति जिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥

---

श्रीकृष्णायनमः।

श्रीश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यसङ्गृहीतवेदान्त-कौस्तुभप्रभाख्या ब्रह्मसूत्रवृत्तिः ॥

जिज्ञास्यं च जगद्धेतुं शास्त्रयोनिं तदन्वितम् ॥
श्रीकृष्णं नियमानन्दं वन्दे बुद्धिप्रदं गुरुम् ॥ १ ॥
नित्यं निवसतु हृदये श्रीनिम्बार्को मुनीन्द्रो नः ॥
बुद्धिसरोजं स्वकरैरुद्दीपयन्नबोधतमो निघ्नन् ॥ २ ॥
श्रीश्रीनिवासाचार्यं भाष्यकारं नमाम्यहम् ॥
यस्य स्पर्शनमात्रेण ध्रुवः सर्वज्ञतां गतः ॥ ३ ॥
श्रीनिवासपदाम्भोजध्यानविध्वस्तकिल्विषान् ॥
श्रीमत्सुन्दरभट्टादीन् वन्देऽहं परमान् गुरून् ॥ ४ ॥

श्रीमुकुन्दं गुरुं नत्वा पूर्वाचार्योक्तवर्त्मना ॥
ब्रह्मसूत्राणि संक्षेपात् विव्रियन्ते स्वतुष्टये ॥ ५ ॥

इह खलु भगवान्वासुदेवः पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः कणभक्षाक्षपादसाङ्ख्यजैमिन्यादिभिः शास्त्रकृद्भिर्हैरण्यगर्भपाशुपतसौरगाणापत्यमतवादिभिश्च प्रणीतैः परतत्त्वापह्नवपरैरन्यविषयैः शास्त्रैर्भ्रान्तान् स्वभक्तिज्ञानहीनान्सङ्कीर्णमतीन् जीवान्वीक्ष्य तेषु स्वज्ञानभक्ती द्रढयितुं कृष्णद्वैपायनरूपेण परतत्त्वप्रकाशकं समन्वयाविरोधसाधनफलाख्याध्यायचतुष्टयात्मकं शारीरकमीमांसाख्यवेदान्तशास्त्रं सूत्रयामास। तस्य च व्याख्यानं सुदर्शनावतारः श्रीनिम्बार्काचार्यो वाक्यार्थरूपेण वेदान्तपारिजातसौरभाख्यं सङ्गृहीतवान्। तदपि शङ्खावतारः श्रीश्रीनिवासाचार्यो वेदान्तकौस्तुभाख्यभाष्यरूपेण विशदयामास। तत्र सौकर्येण प्रवेशाय मिताक्षरावेदान्तकौस्तुभप्रभाख्या सूत्रवृत्तिर्मया सङ्गृह्यते ॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

अत्रानन्तर्यार्थकएवाथशब्दः नार्थान्तरपरः उपक्रमवाक्यत्वात् पूर्वनिर्वचनाद्। व्याख्यान्तरकथनमर्थान्तरम्। यथा माया रमायाः धवः स्वामी माधवः, अथवा मधुवंशे भवो माधव इति सचात्र न सम्भवति पूर्वनिर्वचनाभावात्। नापि मङ्गलार्थकः वेदान्तानां भगवत्स्वरूपगुणादिप्रतिपादनपरतया सर्वेषामपि वाक्यपदवर्णमात्राणां मङ्गलरूपत्वेन मङ्गलान्तरनिरपेक्षत्वात्। नाप्यधिकारपरः शब्दादिवत् ब्रह्मणोऽधिकार्यत्वाभावात्। नाप्यारम्भपरः वेदान्तानामनादित्वाभ्युपगमात् अन्यथौपचारिकत्वापत्त्या प्राभाण्यप्रसङ्गात्। अतः परिशेषादानन्तर्यार्थक एवेति श्रीसुन्दरभट्टपादैरेवमेवोक्तेः। आनन्तर्यमपि केवलानन्तर्यमेव ग्राह्यं नतु हेतुभूतानन्तर्यमतः शब्दोपादानात्। एवं च सति धर्मजिज्ञासाया यथा वेदाध्ययनं

पूर्ववृत्तं नियमविधिनाऽपेक्षितं तथा ब्रह्मजिज्ञासाया अपि नियमविधिना पूर्ववृत्तमपेक्षितम् । तत्र "मुमुक्षुर्भूत्वा ऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत् इति श्रुतेर्मुमुक्षेतिविशेषं मुमुक्षासिद्धये च श्रद्धोपपत्तिपूर्वकगुरूपपत्तिवस्तुयाथात्म्यविवेकविरागभगवत्प्रपत्तितदनुग्रहप्रार्थनादि - साधनानीति "श्रद्धान्वितो भव आचार्यदेवो भव । सद्गुरुमेवाभिगच्छेत् । यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । योवै भूमा तदमृतं ततोऽन्यदार्त्तम् नास्त्यकृतः कृतेन, प्लवाह्येते अदृढायज्ञरूपाः तद्यथेह कर्मजितोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्रपुण्यजितो लोकः क्षीयते । परीक्ष्य लोकान्कर्मजितान्ब्राह्मणोनिर्वेदमायात् । मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये । श्रीकृष्ण ! रुक्मिणीकान्त ! गोपीजन ! मनोहर ! संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो !" इत्यादिश्रुतिभ्यः वेदाध्ययनधर्मजिज्ञासानित्यनैमित्तिकादीनां विवेकादिसम्पत्त्यर्थकत्वाच्च स्वातन्त्र्येण पूर्ववृत्तत्वम् "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादिश्रुतेः । यस्य विवेकादयोन सन्ति तस्य तदर्थं धर्मजिज्ञासाद्यपेक्षाऽन्यथाधर्मस्वरूपज्ञानाभावे धर्मानुष्ठानानुपपत्तिर्धर्मानुष्ठानादिकं विना च बुद्धिशुद्ध्यभावेन विवेकादीनां दुर्घटत्वात् । यस्य तु विवेकादयो जातास्तस्य न तदपेक्षा, फलप्राप्तौ सत्यां साधनानामप्रयोजकत्वात्, तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च । विवेकादिना तु जन्मान्तरीयधर्माचरणस्येदानीमपि संस्कारात्मना सत्त्वमनुमीयते । अन्यथा विवेकादयो न स्युः कारणाभावे कार्याभावनियमात् । एवञ्च "धर्मजिज्ञासाविषयभूतधर्मस्वरूपतत्साधनतदनुष्ठानप्रकारतत्फलविषयकज्ञानानन्तरमि"त्यादिपूर्वाचार्योक्तौ कर्म्मणां तज्ज्ञानादेश्च परम्परयैव साधनत्वाभ्युपगमादत्रापि तेषां विवेकादिकरणत्वमेवोक्तम्, नतु कर्मविवेकादिसमुच्चयोऽतोनाचार्योक्तिविरोध इति भावः । अतः शब्दोहेत्वर्थः । अत "उक्तश्रुतेः "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन !"

इतिस्मृतेश्च । कर्मफलस्य सान्तत्वसातिशयत्वनिश्चयात् ब्रह्मज्ञानस्य च "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती"त्यादिश्रुतेर्निरतिशयानन्तफलकत्वनिश्चयाद्धेतोर्मुमुक्षानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येत्याध्याहृतविध्यर्थकपदेनान्वयः । ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मषष्ठ्यासमासः । "कृद्योगाच्च षष्ठी समस्यते" इत्युक्तेः । न शेषषष्ठ्या सन्प्रत्ययवाच्याया इच्छायाः ज्ञानकर्मकत्वात् ज्ञानस्य च ब्रह्मकर्मकत्वात् तत्र सकर्मकक्रियायाः कर्मज्ञानं विना ज्ञातुमशक्यत्वात् । प्रथमापेक्षितं कर्मैव षष्ठ्या वाच्यं, न शेषः । अतएव न चतुर्थ्योऽपि जिज्ञासापदे इच्छाया मुख्यार्थत्वात् । तस्याश्च प्रथमं कर्मापेक्षितं पश्चात्फलं ततश्चादौ कर्मज्ञानार्थे षष्ठीसमासोयुक्तः । ब्रह्मशब्देन च "स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् । व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिमि"त्युक्तः श्रीकृष्णएवात्राभिधीयते । तस्य "भगवानितिशब्दोऽयन्तथा पुरुष इत्यपि । निरुपाधी च वर्त्तेते वासुदेवे सनातने" इति भगवच्छब्दवद्वासुदेवे सर्वेश्वरे एव मुख्यवृत्तित्वात् तद्विषयकमेव ज्ञानं तथा भूतेष्यमाणज्ञानविषयिकैवेच्छेत्यर्थः । "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्यादिश्रुतेः । परमते तु जिज्ञास्योदुरुपपादः विकल्पासहत्वात् । तथाहि शुद्धो वा मायोपहितोवाऽज्ञानाध्यस्तेश्वरोवा जिज्ञासाविषयत्वेनाभिप्रेतः ? । नाद्यः, तस्याविषयत्वाभ्युपगमात् । अन्यथा मिथ्यात्वप्रसङ्गात्, शुद्धं ब्रह्म मिथ्या जिज्ञासाविषयत्वात् तव मते घटादिवत्, अपसिद्धान्तापत्तेरविषयत्वाभ्युपगमसिद्धान्तभङ्गाच्च । न द्वितीयः जिज्ञासया श्रवणाद्यभ्यासजन्योपहितसाक्षात्कारेण तद्विषयकाज्ञाननाशेऽपि शुद्धविषयकाज्ञानस्य तादवस्थ्येनानिर्मोक्षप्रसङ्गात् अप्रयोजकत्वाच्च । किञ्चोपहितज्ञानं मोक्षहेतुर्न वा ?, नाद्यः, तस्यैव मुक्तोपसृप्यत्वप्रसक्त्या शुद्धाभ्युपगमस्याप्रयोजकत्वेन वैयर्थ्यात् ।

न द्वितीयः, जिज्ञासावैयर्थ्यापत्तेस्तदर्थकभाष्यादिशास्त्रप्रणयनस्य जलताडनसाम्यापत्तेश्च। नापि अध्यस्तजिज्ञास्याङ्गीकारस्तृतीयः अध्यासस्य सपरिकरस्य निरसिष्यमाणत्वात्। तस्मात्स्वरूपगुण-शक्त्यादिभिर्निरतिशयबृहत्तमो ब्रह्मशब्दवाच्यो भगवान्वासुदेवः श्रीकृष्ण एव जिज्ञास्य इत्युक्तम्। "बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म" बृहन्तो गुणा अस्मिन्निति ब्रह्म "एष प्रकृतिरव्यक्तः कर्त्ता चैव सनातनः। परं च सर्वभूतेभ्यस्तस्माद्बृद्धतमोऽच्युतः" इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्यः। श्रुत्यर्थनिर्णायकस्यास्य सूत्रस्योपोद्घातरूपत्वात् शास्त्रारम्भहेत्वनुबन्धा अप्यनेन निरूपिताः। ते तु अधिकारिविषय-सम्बन्धप्रयोजनाख्यास्तत्र श्रेयस्कामोमुमुक्षुरत्राधिकारी। विषय-श्चास्य ब्रह्मशब्दाभिधेयः सर्वज्ञः स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तयाव-दात्मवृत्तिशक्तिगुणाद्याश्रयो ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रकृतिपरमाणुकालकर्म-स्वभावादिनियन्ता दोषास्पृष्टसीमा चिदचित्स्वाभाविकभिन्नाभि-न्नत्वाश्रयो भगवान्वासुदेवः श्रीपुरुषोत्तमः। परमते तु विषयस्य दुर्निरूपत्वेन शास्त्रारम्भोऽसम्भव एव विकल्पासहत्वात्। तथाहि तन्मते जीवब्रह्मैक्यं विषयः तच्चैक्यमध्यस्तमनध्यस्तं वा ?, नाद्यः, अध्यस्तस्यावश्यम्बाध्यत्वेन भेदस्य तात्त्विकत्वापत्तेः। द्वितीये ऐक्यस्य ब्रह्माभिन्नत्वेन भेदस्तदवस्थ एव। नन्वैक्यस्य ब्रह्मभेदो नाभ्युपगम्यत इति चेन्न, ऐक्यस्य निर्विशेषब्रह्माभिन्नत्वे तत्त्वं पदा-र्थपराणां "सत्यं ज्ञानमनन्तं विज्ञानमानन्दमि"त्यादीनामैक्यपर-महावाक्यैक्यस्वभाववैयर्थ्यापत्तेः। नचैक्यस्य स्वप्रकाशब्रह्माभिन्न-त्वेन स्थितिप्रवृत्त्यादौ निरपेक्षत्वेऽपि लक्षितार्थभेदभ्रमनिवर्त्तक-वृत्तिजनने पदार्थसापेक्षत्वेन स्वरूपपरवाक्यानामैक्यवाक्यतायाः सत्त्वात् भेदरूपप्रतियोगिसापेक्षत्वेन तत्र सापेक्षत्वव्यवहार इति वाच्यम्, निर्विशेषब्रह्माभिन्नैक्यस्य कुत्रापि सापेक्षत्वासम्भवात्। अभावसादृश्यादेः सप्रतियोगिकत्ववदैक्यस्य सापेक्षतायाः स्वाभा-

विकत्वात् । एतेन मन्मतेऽविद्यानिवृत्त्यद्वैतयोः सापेक्षयोरपि ब्रह्मै-
कयमस्तु । तत्राभावत्वसापेक्षत्वादेर्मायिकत्वेन विरोधाभावात् । तव
तु सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोस्तात्त्विकत्वेन विरोधस्य दुःपरिहरत्वा-
दितिनिरस्तम् । त्वदभिमताद्वैतश्रुतिबोध्यस्याभावत्वादेः कल्पितत्वा-
योगात् । अन्यथा श्रुतेरप्रामाण्यापत्त्याद्वैतनिवृत्त्यादेरसिद्ध्यापत्तेः
ज्ञानस्य ज्ञानत्वेन दण्डादेः कारणत्वेनाभावसादृश्येच्छादेस्तत्त्वेन
सापेक्षत्वेऽपि प्रमेयत्वदण्डत्वादिना निरपेक्षत्ववद्भेदत्वेन सापे-
क्षत्वेऽपि घटत्वादिना निरपेक्षत्वोपपत्तेः । नह्यस्माकमेकरूपेण
सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वाङ्गीकार इति संक्षेपः । विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः ।
प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः सम्बन्धः । परमते तु विषयाभावे
सम्बन्धानुपपत्तिरेव । श्रीभगवद्भावापत्तिलक्षणोमोक्षोऽत्र प्रयो-
जनम् । "मद्भक्तएतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते । बहवो ज्ञानतपसा
पूता मद्भावमागताः" इति श्रीमुखोक्तेः भावपदं स्वयमेव व्याख्यातं
श्रीमुखेन । "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः" इति श्लोकेन
स एव साम्यसायुज्यब्रह्मामृतमहिमादिशब्दैरभिधीयते । "निरञ्जनः
परमं साम्यमुपैति । नारायणे सायुज्यमाप्नोति । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव
भवति । जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति तन्महिमानामिति वीतशोकः"
इत्यादि श्रुतिभ्यः । परमते प्रयोजनं दुर्निरूपमसम्भवात् । तथाहि
यस्मै ब्रह्मभावापत्तिलक्षणो मोक्षः प्रयोजनत्वेनाभ्युपगम्यते तस्य
चेतनस्यैकत्वमनेकत्वं वा ? नाद्यः, चैत्रमैत्रादीनां सुखादिभोगसा-
ङ्कर्यप्रसङ्गात् । न चौपाधिकभेदस्य तन्नियामकत्वान्नोक्तदोषावकाश
इति वाच्यं, हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽप्यनुसन्धानदर्शनात् । न चान्तः-
करणभेदो विद्याभेदो वा तन्नियामक इति वाच्यं, चैतन्यैक्ये
चक्षुरादिभेदवदन्तःकरणभेदस्याप्यप्रयोजकत्वात् । नन्वन्यकरण-
भेदस्याप्रयोजकत्वेऽपि तदैक्याध्यासापन्नान्तःकरणभेदस्याननु-
सन्धाने प्रयोजकताङ्गीकारान्नोक्तदोषयोग इति चेन्न, निर्विशेष-
स्वप्रकाशे ज्ञाताज्ञातविभागहीने चेतने ऽन्तःकरणादेस्तादात्म्या-

रोपासम्भवात् उपरिष्टादध्यासस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। किञ्चा-
नेकाविद्यासम्बन्धस्य दुःखाद्यनुसन्धानरूपस्यानर्थस्य च विशिष्ट-
वृत्तित्वं? शुद्धगतत्वं वा? नाद्यः, बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यात्। अन्ते
च यच्छुद्धं चैत्रीयदुःखानुसन्धातृ तदेव मैत्रीयदुःखानुसन्धात्रिति-
साङ्कर्यं तदवस्थम्। नन्वविद्यानिवृत्तिरूपबन्धनिवृत्त्यात्मकमोक्षस्य
शुद्धगतत्वेऽपि दुःखाद्यनुसन्धातृत्वस्योपहितगतत्वान्न शुद्धे तदा-
पादकत्वमिति चेन्न, दुःखाद्यनुसन्धानरूपानर्थस्योपहितनिष्ठत्वेन
बन्धमोक्षवैयधिकरण्यस्य तादवस्थ्यात् बद्धस्य निवृत्तिरेव नतु
मोक्ष इत्यापत्तेश्च। ननूपाधेः कल्पितत्वान्निवृत्तावपि उपाधेयस्या-
कल्पितत्वेन निवृत्त्ययोगात् मोक्षान्वयित्वमिति चेन्न, शुद्धभिन्न-
तया भवदभिमतस्य विशिष्टस्य मृषात्वेन तत्र मोक्षान्वयासम्भ-
वात्। ननु दुःखाद्यनुसन्धानमुपहितगतमपि अविद्यारूपबन्धस्य
शुद्धवृत्तित्वात्तत्रैव मोक्ष इति तयोर्वैयधिकरण्याभाव इति चेन्न,
दुःखाद्यनुभवद्वारेणैवाविद्याया अनर्थत्वात्। यत्र दुःखाद्यनुसन्धानं
स एव बद्धस्तस्यैव मोक्षौचित्यात्। नाप्यविद्यावच्छिन्नद्वाराऽवस्था-
त्रयातीते शुद्धेऽप्यनुसन्धानमिष्टमिति वाच्यं, दुःखानुसन्धातुर-
वस्थात्रयातीतत्वासम्भवात्। अथ चोपहितस्योपाधिकृतत्वेनोपाधेः
शुद्धगतत्वमेव वक्तव्यं तथात्वे च किमेकैकोपाध्यपगमे मोक्षः? उत
सर्वोपाध्यपगमे? आद्ये सदामुक्तिरेव नतु बन्ध इत्यापातात्। द्वितीये
अधुना बन्ध एव न कस्यापि मुक्तिरित्यङ्गीकृतं स्यात्। न च जीवा-
नामनेकत्वात् येनोपाधिना यस्य परिच्छिन्नत्वं तस्मिंश्चेतने तदुपा-
ध्यपगमे मोक्ष इति वाच्यं विकल्पासहत्वात्। तथाहि जीवनानात्व-
वादे चेतनभेदो वास्तवः? औपाधिको वा? आद्ये अद्वैतवादो दत्त-
तिलाञ्जलिः स्यात् तवानङ्गीकाराच्च अस्मत्पक्षप्रवेशाच्च। द्वितीये
एकोपाधिविनिर्मुक्तस्यापि शुद्धस्योपाध्यन्तरावच्छिन्नत्वेन कदापि
मुक्तेरसम्भवात् भग्नोपाधेश्चेतनस्योपाध्यन्तरोपहितेभ्यो भिन्नत्वा-
भावात्। ननु माभूदनेकजीववादे मुक्तेः सामञ्जस्यम्, एकजीववादे

तु सर्वोपाध्यपगमान्मोक्ष इति चेन्न, शुकादिमोक्षविधायकशास्त्रस्य बाधापत्त्या तन्मतस्यैवाप्रामाणिकत्वात् दुःखाद्यनुसन्धानस्याव्यवस्थापत्तेश्च । किञ्चोपाधिरेकदेशेन सम्बद्धः ? कृत्स्नेन वा ? आद्ये त्वन्मते स्वाभाविकांशाभावेनौपाधिकत्वमेव वाच्यं तथात्वे चानवस्थाप्रसङ्गः । अन्त्ये, न भेदकता कृत्स्नस्यैकोपाधिनैव ग्रस्तत्वात् । न च सर्वविकल्पासहत्वेन मिथ्याभूतस्यैवोपाधेर्मिथ्याभेदप्रयोजकत्वमिति वाच्यम् । उत्तरास्फूर्तौ प्रधानसम्भिवत्योर्विकल्पाद्यसहत्वमिति साङ्ख्यबौद्धाभ्यामपि वक्तव्यत्वेन तन्निरासासम्भवात् मृषाभूतस्यापि व्यावहारिकस्य त्वया व्यवस्थाऽङ्गीकारात् । अन्यथा जीवजडयोर्विश्वकर्त्तृत्वान्तर्यामित्वादिकं निरस्येश्वरे तत्समर्थयतः समन्वयाध्यायस्योच्छेदापत्तेः । तव मते परमेश्वरकर्त्तृत्वस्यापि व्यावहारिकत्वात् । तस्माद्बद्धमुक्तः दुःखाद्यनुसन्धानानुपपत्त्या चितो वास्तवो भेदोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति सिद्धं भेदस्यापि पारमार्थिकत्वम् । ननु बन्धमोक्षादि व्यवस्थायाः स्वप्नवद्यावद्विद्यमुपपद्यमानत्वमेवेति चेन्न, तस्मिन्नेकस्मिन्नपि सुप्ते सर्वजगदप्रतीत्यापत्तेः । ननु समष्ट्यभिमानिनोऽस्वापान्नोक्तदोषापत्तिरिति चेन्न, सृष्टिमारभ्याप्रलयमप्रसुप्तत्वस्य जीवेऽसम्भवात् । जीवैक्याङ्गीकारे अहं त्वमयमिति प्रत्यक्त्वपराक्त्वप्रत्यानामुच्छेदापत्तेश्च । न हि देवदत्तस्य त्वमिति धीविषयस्याहमिति धीविषयत्वं युक्तमित्यर्थः । ननु नायं दोषः भिन्नान्तःकरणाभेदाध्यासेन तत्तदन्तःकरणमादायाहन्त्वमादिप्रत्ययानां सविषयत्वव्यवस्थोपपत्तेरिति चेन्न, योगिनः कायव्यूहे नानान्तः करणतादात्म्यारोपेऽप्यहमित्येव प्रतीतेः । न च तत्रान्तः करणस्यैकत्वमेवेति वाच्यं, बाह्यकरणानामप्यैक्यापत्त्या कायव्यूहस्यैवासम्भवात् । किञ्च त्वन्मते एकस्यैव चितः सर्वान्तः करणैरभेदाध्यासेन चैत्रस्य शुक्तिसाक्षात्कारेण रूप्यभ्रमनिवृत्तावन्येषामपि तन्निवृत्त्यापत्तिः अन्तःकरणस्य भोगाद्यव्यवस्थापकत्वात् । अन्यथा योगिकायव्यूहे देहाऽपि

भोक्तृभेदकः स्यात् । अथ चैकएव जीवः सर्वःसर्वकल्पकस्तेनैव सर्वमिदं कल्पितमिति चेन्न, जीवस्य कारणतान्निषिध्य परमेश्वरकारणत्वबोधकानां श्रुतीनां बाधापत्तेः सार्वज्ञ्यबोधकश्रुतीनां निर्विषयत्वापत्तेश्च जीवभिन्नेशाभावात् जीवे सार्वज्ञ्यस्यानुभवविरोधाच्च । न च समष्ट्यभिमानिनो जीवस्यैव सार्वज्ञ्यादियोगोऽभ्युपगम्यत इति वाच्यं, लोके जीवत्वेन प्रसिद्धेषु सार्वज्ञ्यादेः प्रत्यक्षादिना बाधितत्वात् प्रसिद्धभिन्नस्य सार्वज्ञ्यस्वीकारे तस्यैवेश्वरत्वेनेष्टापत्तेरिति संक्षेपः । द्वितीये चेतनानेकत्वपक्षे तद्भेदस्यौपाधिकत्वे उक्तदोषाणां योगः । किञ्चौपाधिकभेदाङ्गीकारे उपाधिगमनकाले तदवच्छिन्नस्य कौटस्थ्यात् गत्यभावेन पदे पदे बन्धमोक्षौ स्याताम् । अनादिबद्धस्याकस्मात्साधनं विनैव मोक्षः । कूटस्थनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्याकस्मान्निष्कारणमेव बन्ध इत्यर्थः । कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च । स्वाभाविकत्वे चास्मत्पक्षप्रवेशोऽद्वैतभङ्गश्च । ननु माभूदुपाध्यवच्छिन्नस्योक्तदोषकदम्बाज्जीवत्वं किन्तु चेतनप्रतिबिम्ब एव जीवस्तस्याविद्याया अन्तःकरणस्यैववोपाधेः कल्पितत्वेन तन्नाशे जीवब्रह्मैक्यसिद्धिरिति चेन्न, प्रतिबिम्बभावे उपाधेर्बिम्बस्य च सावयवत्वरूपवत्त्वप्रमाणविषयत्वादीनां तत्कारणानामभावात् । तथाहि बिम्बरूपो रूपी प्रत्यक्षविषयोऽवयववान् वा? नीरूपप्रमाणाविषयो निरवयवो वा? नाद्यः अनङ्गीकारात् । अन्यथा निर्विशेषाद्वितीयवादभङ्गापत्तेः । न द्वितीयः, असम्भवात् । नीरूपस्य च रूपस्य प्रत्यक्षगोचरस्वाश्रयद्रव्यविशिष्टस्यैव सावयवे प्रत्यक्षगोचरे एव द्रव्ये प्रतिबिम्बभावापत्तिदर्शनान्न केवलस्यातो न तत्र व्यभिचारः शङ्कनीयः । नचाकाशस्य निरवयवनीरूपस्यापि प्रतिबिम्बदर्शनाद्व्यभिचार इति वाच्यं, पञ्चीकृतस्याकाशस्य सावयवत्वरूपित्वचाक्षुषत्वादीनां सत्त्वेन प्रतिबिम्बनस्याविरुद्धत्वात् । अपञ्चीकृतस्य केवलस्य तु प्रत्यक्षगोचरत्वाभावेन प्रतिबिम्बकल्पनाया अप्रामाण्यात् । अन्यथा कालधर्मादीनां शब्द-

स्पर्शादौ वायुपिशाचादीनां चाचाक्षुषाणां कालादौ प्रतिबिम्बनापत्तेः तच्च दृष्टिश्रुत्यगोचरत्वादनुपपन्नम् । किञ्च सूर्यचन्द्रादिप्रभामण्डलयुक्तस्यैवाकाशस्य प्रतिबिम्बभावापत्तिर्न केवलस्यान्यथान्धकारेऽपि तद्दर्शनापत्तिरतो न तत्र व्यभिचारावकाशः । किञ्चोपाधिसम्बन्धो जीवे स्वाभाविकः ? औपाधिको वा ? नाद्यः, त्वन्मते ऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, अनवस्थानात् अन्योऽन्याश्रयाच्च । नचोपाधिरेव स्वसम्बन्धहेतुरिति वाच्यम्, आत्माश्रयात् । वस्तुतस्तु बिम्बसमसत्ताके एवोपाधौ लोके प्रतिबिम्बदर्शनात् प्रकृतेऽविद्याद्युपाधीनां ब्रह्मसमसत्ताकत्वाभावान्नेष्टसिद्धिः । अन्यथा मृगमरीचिकाजलेऽपिसूर्यादिप्रतिबिम्बदर्शनापत्तिः । नच दर्पणस्थनेत्रप्रतिफलितमुखादिदर्शने व्यभिचारः, सोपाधिकारोपे दृष्टस्य स्वबाध्यौपाधिकत्वस्य तत्रासत्त्वेन नेत्रदेशावच्छेदेन तन्मुखप्रतिफलनमित्यङ्गीकारात् । तत्राप्युभयोः प्रतिबिम्बयोः प्रतिबिम्बभावेन स्थितत्वे* ऽपि बिम्बसमसत्ताकोपाध्युपहितत्वस्य नियामकत्वान्न व्यभिचार इत्यर्थः । किञ्चोपाधिर्बिम्बान्यदेशावस्थाने एव प्रतिबिम्बभावः नत्वेकत्रैव प्रकृते तदभावादिष्टासिद्धिः । अयम्भावः । उपाधिर्ब्रह्मैकदेशवृत्तिः ? व्याप्यवृत्तिर्वा ? नाद्यः, ब्रह्मणः सदेशत्वापत्तेर्निर्विशेषत्वहानिः द्वितीये सर्वस्याप्युपाधिमत्त्वे प्रतिबिम्बनासिद्धिः सुतरां शुद्धत्वहानिश्च । इतरथा जलनिमग्नानामपि जलौकसां प्रतिबिम्बो दृश्येत, न तु तदस्ति तथा प्रकृतेऽपि बोध्यम् । तस्माद्बिम्बप्रतिबिम्बवज्जीवब्रह्मैक्यं वक्तुमशक्यत्वात्सर्वथाप्यनुपपन्नमिति सिद्धम् । किञ्च "आचार्यवान्पुरुषो वेद" इति श्रुतेरेकजीववादे ह्युपदेष्टव्यादन्यस्य चेतनस्याभावादुपदेष्टुरभावे तत्त्वज्ञानासम्भवस्तस्मिंश्च मोक्षासम्भवः । न च कल्पितस्योपदेष्टृत्वं, शास्त्रोक्तलक्षणलक्षितस्यैव तथात्वश्रवणात् । "सगुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठ"मिति श्रुतेः । न च स्वाप्नस्य गुरोरिवोपदेष्टृत्वेऽपि तुल्यभावेन तथा-

---

*दर्पण ।

त्वोपपत्तिरिति वाच्यं,स्वाप्नस्य गुरोरज्ञाननिवर्त्तकत्वादर्शनादन्यथा "यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूही"ति श्रुतेः "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इति स्मृतेश्च व्याकोपात् । किञ्चोपदेष्टुर्गुरोर्निश्चिताद्वैतत्त्वं?न वा?नाद्यः, अद्वैतज्ञानवतः पुंसोद्वैतदर्शनात्मकशास्त्रप्रणयनासम्भवात् । द्वितीये प्रतारकत्वापत्तिः अन्धपरम्परान्यायापत्तेश्च । किञ्चानादिसंसारे कस्य चित्तत्त्वज्ञानं मुक्तिश्चाभूत् ? न वा ? आद्ये जीवस्यैकत्वेनेदानीं संसारानुपलब्धिप्रसङ्गः । द्वितीये शुकादीनां यदिमुक्तिर्नासीत्तर्हि ममापि न भविष्यतीति शङ्कया वेदान्तश्रवणादौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । न च शास्त्रप्रामाण्यदाढर्यात्प्रवृत्त्युपपत्तिरिति वाच्यम्, एवं चेच्छ्रुतिप्रामाण्यदार्ढ्यादेव सदासिद्धो जीवभेद श्रुतिप्रमितः केषाञ्चिन्मोक्षश्च कुतो नाङ्गीक्रियते "यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् । अजोह्येको जुषमाणो ऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः । नित्योनित्यानामि"त्यादिश्रुतिभ्य "अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहिताः क्षणाः ततोऽप्यनन्तगुणिता जीवानां राशयः पृथक्"इत्यादि स्मृतिभ्यश्च । तस्मात्त्वन्मते मोक्षस्य स्वरूपत्वेन सदैव स्वत एव प्राप्तत्वाद्बन्धस्य चाविद्यकत्वेन मृगतृष्णाकल्पितोदकेनैव तेन स्पर्शासम्भवात्तन्निवृत्तये शास्त्रप्रणयनस्य श्लेष्मविलोडनमात्रत्वेन सुतरां वैयर्थ्यम् । शुद्धस्य नित्यमुक्तत्वात् बद्धस्य च तुच्छत्वात् कस्य मुक्तये प्रयासविशेषमुमुक्षोरेवासिद्धेः । तस्मात्प्रयोजनासिद्धेः शास्त्रारम्भो व्यर्थ एव । न च स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वेऽपि कण्ठस्थस्य नित्यप्राप्तस्य विस्मृतस्य मणेरुपदेशवदुपदेशः सार्थक इति वाच्यं, मण्युपदेशस्य सुखं दुःखाद्यभावश्च फलं, न च त्वन्मते स्वरूपभिन्नं प्राप्यं किञ्चिदस्ति स्वप्रकाशात्मकस्य नित्यप्राप्तत्वात् । किञ्च मणेर्देहादिभिन्नत्वेनाहन्तानास्पदत्वाद्विस्मरणविषयत्वं वक्तुं शक्यं, ब्रह्मणस्तु स्वरूपत्वेन विस्मरणासम्भवान्नोक्तदृष्टान्तासिद्धेः।किञ्च मणेः स्वल्पपदार्थस्य

देहैकदेशवृत्तित्वेन विस्मृत्यर्हत्वं भवेत् आत्मनस्तु सर्वगतत्वेन स्वरूपत्वेन च तत्तासम्भवात् दृष्टान्तस्यात्यन्तवैषम्यमेवेति संक्षेपः। एतेनाधिकार्य्युपपत्तिरपि निरस्ता । प्रयोजनाभावेऽर्थित्वाभावस्तदभावे च सामर्थ्यविद्वत्त्वयोरकिञ्चित्करत्वादप्रयोजकत्वमिति । ननु मन्मते सर्वस्याप्यधिकार्यादिकथनस्याज्ञानप्रयुक्ताध्यासपूर्वकप्रमाणप्रमेयादिव्यवहारान्तर्गतत्वान्नोक्तदोषावकाशोऽध्यासमाहात्म्येन निखिलविरोधस्यापरिहरणीयत्वादिति चेन्न, अधिष्ठानारोप्यलक्षणप्रमाणसामग्र्याद्यभावेनाध्यासासम्भवस्य पूर्वाचार्यैर्विस्तृतत्वात् । तथाहि साधकबाधकोभयविधसामान्यविशेषधर्मवत्त्वस्यैवाधिष्ठानत्वं प्रयोजकत्वं सामान्यतो ज्ञातं विशेषणाज्ञातमेवाधिष्ठानं लोके प्रसिद्धम्। यथेदं रजतमित्यत्रेदन्तासामान्यधर्म्मो रजतस्य साधकः शुक्तौ वर्त्तते शुक्तित्वञ्च विशेषधर्मस्तस्य बाधकः । त्वन्मते तु निर्विशेषाद्वितीयचिन्मात्रस्य वस्तुनोऽधिष्ठानत्वासम्भव उभयविधधर्मवत्त्वाभावादन्यथा सिद्धान्तभङ्गः ।तस्मादधिष्ठानासिद्ध्या तत्प्रयोज्याध्यासासिद्धिरेवेति संक्षेपः । अथारोप्यासिद्ध्याऽप्यध्यासासिद्धिः यद्यदारोपितं तत्तत्सप्रधानं शुक्तिरूप्यादिवत्, यन्नैवं तन्नैवं शशशृङ्गादिवदित्यन्वयव्यतिरेकव्याप्तेः सर्वसम्मतत्वात् । ननु प्रधानं सजातीयमस्त्येव पूर्वप्रपञ्चसजातीयस्योत्तरप्रपञ्चस्याध्यासाङ्गीकारात् । अध्यासो हि स्वकारणतया संस्कारमपेक्षते ननु संस्कारविषयस्य सत्यत्वमनुपयोगात् । न हि प्रमाणजन्यस्यैव संस्कारस्याध्यासहेतुत्वमिति नियम इति चेन्न, अनाद्यविद्यादेरध्यस्तत्वासम्भवेन तात्त्विकत्वप्रसङ्गात् ।नचाविद्याद्यध्यासस्य प्रधानादि विनैवाङ्गीकारान्नोक्तदोष इतिवाच्यं, ब्रह्मणोऽपि प्रवाहानाद्यारोपापत्तेरित्याद्याकरे विस्तृतं पूर्वैः । अपि चासत आरोपासम्भवादेकत्र सत एवान्यत्रारोपनियमात् । न हि स्वरूपेणासतः शशशृङ्गादेरारोपः सम्भवत्यदृष्टश्रुतत्वात्।नचारोपे तद्विषयकप्रतीतिमात्रमेवापेक्षितं ननु तद्विषयस्यसत्यत्वमपीति वाच्य-

मसतः प्रतीतेरेवासम्भवात्। न च रज्जौ सर्पप्रतीतेरिव प्रपञ्चप्रतीतेरपि दोषमात्रमेव कारणमपेक्षितं, नतु विषयसत्त्वमपीति वाच्यं, दोषात्मककारणस्याप्यसत्त्वसाम्येन तत्र पक्षे प्रतीतिलक्षणकार्योत्पत्तेरसम्भवात् कार्यस्य कारणसत्त्वापेक्षत्वनियमात् कुत्राप्यसतः कारणत्वासम्भवाच्च। सर्पादिभ्रमस्थलेऽपि कल्पितसर्पादिविषयकज्ञानस्यैव भयकम्पादिहेतुत्वं, न विषयस्य, सर्पज्ञानाभाववतो बालस्य सत्सर्पदर्शनेऽपि भयाद्यभावात् प्रत्युत तद्ग्रहणे प्रवृत्तिदर्शनाच्च। अन्यथा कारणमात्रस्यासत्त्वाङ्गीकारे कार्योत्पत्तिकथाया एवानवसरात्। नन्वसतो रज्जुसर्पादेस्तज्ज्ञानकारणत्वोपपत्तिवद्भयादिकारणत्वोपपत्तिरपि सुकरा भिन्नकारणाङ्गीकारे गौरवादिति चेन्न, तत्रापि दोषस्यैवासद्विषयकज्ञानकारणत्वेनासतो विषयस्य कारणत्वासम्भवात्। तस्मादारोप्यासिद्ध्याऽध्यासासम्भवस्यावश्यकत्वमेवेति संक्षेपः अथलक्षणासिद्ध्याऽपि तदसिद्धिः। किमध्यासलक्षणमित्यपेक्षायां स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यास इत्याहुस्तत्र परत्रावभास इत्येव लक्षणं शिष्टं पदद्वयं तु तदुपपादकम्।तथाहि अवभास्यत इत्यवभासोरजताद्यर्थः तस्यायोग्यमधिकरणं परत्रपदार्थः। तत्त्वञ्चारोप्यात्यन्ताभाववत्त्वं तथा चैकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वमित्यर्थः।इदञ्च साद्यनाद्यध्यासस्य साधारणं लक्षणं संयोगेऽतिव्याप्तिवारणायैकावच्छेदेनेति संयोगस्य स्वसंसृज्यमाने वृक्षे मूलावच्छेदेन स्वात्यन्ताभाववत्यवभासम्।नत्वेऽपि स्वसंयोगस्य स्वस्वात्यन्ताभावयोर्मूलाग्रावच्छेदकभेदान्नातिव्याप्तिः। पूर्वं स्वाभाववति भूतले पश्चादानीतोघटो भातीति घटेऽतिव्याप्तिवारणाय स्वसंसृज्यमान इति पदं तेन स्वाभावकाले प्रतियोगिसंसर्गस्य वर्त्तमानत्वमुच्यते इति नातिव्याप्तिः।भूत्वावच्छेदेनावभास्यमाने गन्धेऽतिव्याप्तिवारणाय स्वात्यन्ताभाववतीतिपदं शुक्लाद्यवच्छेदेन

रजतसंसर्गकालेऽत्यन्ताभावो ऽस्तीति नाव्याप्तिः। ननु शुक्तौ रजतस्य सामग्र्यभावेन संसर्गासत्त्वादस्य लक्षणस्यासम्भवः। न च स्मर्यमाणस्य सत्यरजतस्यैव तत्रावभास इति वाच्यं, अन्यथाख्यातिप्रसङ्गादित्याशङ्क्याह, स्मृतिरूप इति। स्मर्यत इति स्मृतिः सत्यरजतादिस्तस्य रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूपः स्मर्यमाण सदृश इत्यर्थः। सादृश्यपदेन स्मर्यमाणादारोप्यस्य भेदान्नान्यथाख्यातिरित्यर्थः। सादृश्यमुपपादयति पूर्वदृष्टेति दृष्टं दर्शनं संस्कारद्वारा पूर्वदर्शनादवभास्यत इति पूर्वदृष्टावभासः तेन संस्कारजन्यज्ञानविषयत्वं स्मर्यमाणारोपयोः सादृश्यं बोध्यते। प्रमाणजन्यज्ञानविषयत्वं वा स्मृत्यारोपयोः संस्कारजन्यत्वात्प्रमाणाजन्यत्वाच्च। तर्ह्यारोपस्य स्मृतित्वमेव विवक्षितमिति चेन्न, दोषसम्प्रयोगजन्यत्वस्यापि विवक्षितत्वेन तन्मात्रजन्यत्वाभावात् सम्प्रयोगोनाम अधिष्ठानसामान्ये ज्ञानम्, अहङ्काराध्यासे इन्द्रियसम्प्रयोगालाभात्। एवं च दोषसम्प्रयोगसंस्कारबलाच्छुक्तौ रजतमुत्पन्नमस्तीति परत्रावभासस्य लक्षणत्वमुपपन्नमिति स्मृतिरूपपूर्वदृष्टपदाभ्यामुपपादितम्। तत्रार्थाध्यासे स्मर्यमाणसदृशः परत्र पूर्वदर्शनादवभास्यते इति योजना। ज्ञानाध्यासे तु स्मृतिसदृशः परत्र पूर्वदर्शनादवभास इति वाक्यं योजनीयमिति तन्नेति ब्रूमः, मूलाविद्याध्यासे तदसम्भवस्य दुर्वारत्वात् एकत्र सतो ऽन्यत्रारोपत्वं भ्रमत्वं अत्यन्तासतो ऽध्यासायोगादित्युक्तम् पूर्वमेव। इदं रजतमितिप्रतीतिवदियमविद्येति कस्यचित्कदाचिदपि प्रतीत्यभावात् संस्कारसादृश्यसम्प्रयोगसामग्रीविरहाच्च। नच संस्कारजन्यज्ञानविषयत्वं सादृश्यमिति वाच्यं, संस्कारस्यानुभवपूर्वकत्वेन तदभावे संस्कारासिद्धेस्तदसिद्धौ तज्जन्यज्ञानाभावस्तदभावे च कथं तद्विषयत्वरूपं सादृश्यमिति किञ्चाविद्यासादृश्यं कस्मिन्वर्त्तते इति वक्तव्यं ? न. शुद्धे तस्य

निर्विशेषत्वादन्यथाशुद्धत्वहानिर्नोपि जीवे तस्याध्यस्तत्वेनोत्तरभावित्वात् किञ्चाविद्यायां चितोऽध्यासेऽपि चित्सादृश्यस्य कथं वृत्तिरिति वक्तव्यं सूर्यसादृश्यस्य तमस्यसम्भववत् महद्विरोधात् यच्चोक्तं स्मर्यमाणसदृश इत्यध्यासविशेषणं तदविचारितं प्रथमाध्यासे स्मर्यमाणस्यैव शशशृङ्गायमाणत्वात्कुतस्तत्सादृश्यसम्भावनापीति यदप्युक्तं सम्प्रयोगोनामाधिष्ठानसामान्यज्ञानमित्यादि तदसम्यक् निर्विशेषे सामान्यविशेषत्वाभावात् कल्पितसामान्यादिधर्मस्याध्यासजन्यत्वेनतदानीमभावाच्च किञ्च तवाभिमताधिष्ठानसामान्यज्ञानस्याश्रयाभावेन कुत्राप्यवृत्तित्वात् ज्ञातुरभावाज्ज्ञानासिद्धेः किञ्च सामग्रीविरहादप्यध्यासासम्भवः कारणाभावे कार्याभावनियमात् । तथाहि अध्यासमात्रस्य दोषसादृश्यसंस्कारसम्प्रयोगसामग्रीजन्यत्वनियमस्त्वावन्निर्विवादः तत्रेदं रजतमितिप्रतीतौ दोषसादृश्यज्ञानसंस्काराणां भ्रान्तिमत्पुरुषनिष्ठत्वात् रजतसादृश्यस्य च शुक्तिवृत्तित्वात् सम्प्रयोगस्य च सम्बन्धरूपत्वेनोभयनिष्ठत्वात्तत्सम्पातरूपसामग्र्याऽध्याससिद्धिः प्रकृतेतुसामग्रीतदाश्रययोरभावात् जीवदोषादीनामध्यासकार्यत्वेनोत्तरभावित्वाच्च कथमविद्याध्यास इति । नन्वध्यासोद्विविधः सादिरनादिश्च तत्र सादावेवोक्तसामग्र्यपेक्षा नत्वनादौ तथाचाविद्याध्यासस्यानादित्वान्नोक्तदोषावकाशः एवमयमनादिरनन्तोनैसर्गिकोध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपइतिभाष्यकृदुक्तेरिति चेन्न अध्यासमात्रस्य सादित्वदर्शनात् अनादेः सतो ऽपि वस्तुनोऽध्यस्तत्वाङ्गीकारे ब्रह्मणोऽपि तथात्वं वक्तुं शक्यते तस्याप्यनादित्वसाम्यात् । नन्वत्रानादित्वंनामावाद्यविद्याकार्यत्वं नैसर्गिकत्वं चाध्यासात्संस्कारस्ततोध्यास इतिप्रवाहरूपेण अनन्तत्वञ्च ज्ञानं विना ध्वंसायो-

ग्यत्वं विनिश्चितं तस्मान्नोक्तदोषावकाश इतिचेन्न असदुत्तर-त्वात् तथाहि न तावदुक्तलक्षणानादित्वं वक्तुं शक्यं अनादि-त्वकार्यत्वयोरितरेतरव्याघातात् प्रत्युत कार्यत्वस्य सादित्वेनैव व्याप्तिदर्शनात् नाऽपि नैसर्गिकत्वं वक्तुमर्हं अन्योन्याश्रयत्व-प्रसङ्गात् नाप्युक्तलक्षणानां तत्त्वं ज्ञानेन तत्सम्बन्धस्यैव ध्वं-सात् न स्वरूपस्य "गौरनाद्यन्तवती, अजामेका" मितिश्रुतेरनाद्य-नन्तरूपस्य निवृत्तिरेव श्रूयते नतु स्वरूपनाशः अन्यथामुक्तानां बाहुल्यादिदानीमनुपलब्धिप्रसङ्गात् "भूयश्चान्ते विश्वमायानि-वृतिः "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते" इतिश्रुतिस्मृ-तिभ्यां ननु सर्ववादिसम्मतत्वात्कथमध्यासोनिरस्यत इति-चेन्न साद्यध्यासस्य सम्मतत्वेऽप्यनाद्यध्यासस्य केषामप्यसम्मत-त्वादितिसंक्षेपः । अथप्रमाणाभावादप्यध्यासानुपपत्तिः ननु "द्रष्टा नुमाताश्रोताऽहं" मित्यादिप्रत्यक्षस्य देवदत्तादिकर्त्तृकः सर्वो-ऽपि व्यवहारः तदीयदेहादिष्वहंममाध्यासमूलकः तदन्वयव्य-तिरेकानुसारित्वात् यदेवं तदेवं मृन्मूलघटवदित्यनुमानस्य यद्य-ध्यस्तः प्रमाता न स्यात्तर्हि प्रमाणादिव्यवहारो न स्यात्स-र्वस्यापि व्यवहारजालस्याविद्यावद्विषयकत्वादित्यर्थापत्तेश्चाप्र मानत्वात् । तथाचाहभाष्यकारः "तमेतमविद्याख्यमात्मानात्म-नोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारालौकि-कावैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमो-क्षपराणीत्युक्ता कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि शास्त्राणि चेति उच्यते देहेन्द्रियादिष्वहंममेत्यभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेरित्यादिनेति कथं प्रमा-णाभाव इति चेन्न उक्तप्रत्यक्षानुमानादेराभासमात्रत्वात् । तथाहि उक्तप्रत्यक्षादीनां शरीरेन्द्रियादियुक्तात्मपरत्वेनाध्यस्तविषयकत्वा-

भावात् "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" इतिश्रुतेरन्यथायुक्तस्थानेऽध्यस्तमितिप्रयोगः श्रुतौ स्यात् श्रुतिगृहीततत्त्वादुक्तार्थस्यैव सम्यक्त्वेनोक्तमानस्याध्यासपरत्वाभावात् किञ्चाऽध्यासस्याद्याप्यसिद्ध्या तदनुमाने साध्यासिद्धिः अध्यासप्रयुक्तव्यवहारस्तत्प्रयुक्तश्चाध्यास इत्यन्योन्याश्रयश्च अध्यासाऽसिद्ध्या हेतुरपि स्वरूपासिद्धः घटादीनां मृत्परिणतत्वेन दृष्टान्तवैषम्यञ्च तथैव व्यवहारस्य देहादियुक्तात्मकर्तृकत्वेनान्यथासिद्धत्वादर्थापत्तेरपि निर्मूलत्वादाभासमात्रत्वम्। ननु मास्तु प्रत्यक्षादीनामत्रप्रामाण्यम् "ब्राह्मणो यजेत नह वै स्नात्वा भिक्षेत्, अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत" त्यादिश्रुतीनां वर्णाश्रमवयोवस्थाद्यध्यासवन्तमेवाधिकृत्य प्रवृत्तिर्दृश्यते। तथोक्तं भाष्यकारेण "ब्राह्मणो यजेत" त्यादीनि शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्त्तन्त इति तस्माच्छ्रुतिप्रमाणकत्वादध्यासोऽवश्यंमाननीय इतिचेन्न उक्तश्रुतीनामपिवर्णाश्रमवयोवस्थादिमच्छरीरसंयुक्ताधिकारिविषयकत्वाविशेषात् आसामपि तयैकवाक्यत्वाच्च तन्निष्ठानांमनीषित्वयोगंश्रावयन्तीश्रुतिस्तद्विपरीतवादिनां कुमनीषित्वं सूचयति तस्माद्येषां मतेऽध्यासो वेदादिप्रमाणविरुद्धोऽपिकुलधर्मत्वेन ग्राह्यस्तैरेव माननीय इतिमनीषिपदस्वारस्यार्थः। किञ्च तव मते जीवन्मुक्तानामपियाज्ञवल्क्यादीनां तादृशव्यवहारस्य तादवस्थ्यदर्शनेन तेषामप्यध्यासवत्वं स्वीकार्यं अन्यथा व्यतिरेकनियमभङ्गः स्यात् तथात्वेच्च तेषामज्ञत्वाविशेषेण तदुपदेशस्यान्धपरम्परान्यायापत्तेरनाप्तत्वयोगोदुर्वारस्तदुपदेशमूलेकदानीन्तनानांपौरुषेयशास्त्रव्याख्यातवाक्योपदेशानांसुतरामनाप्तत्वप्रसङ्गेनोपदेशसन्ततेः सुतमां वञ्चकत्वयोगादनिर्मोक्षप्रसङ्ग इतिसंक्षेपः।

नन्वध्यासासम्भवः किमयुक्तत्वाद्धाभानाभावाद्धाकारणाभावाद्वेति आद्ये इष्टापत्तिरध्यासस्यासङ्गे स्वप्रकाशात्मन्ययुक्तत्वस्यास्माकमलङ्कारत्वात् नद्वितीयः अज्ञः कर्तामनुष्योऽहमितिप्रत्यक्षानुभवात् नतृतीयः मिथ्याऽज्ञानस्य तत्कारणस्य भावात् । तथाह भाष्यकारः मिथ्याऽज्ञाननिमित इति मिथ्या च तदज्ञानं च तन्मिथ्याज्ञानं तदेव निमितमुपादानंयस्यसतथेत्यर्थः इति चेन्न आपातरमणीयत्वात् । तथाहि यदुक्तमात्मन्यध्यासायुक्तत्वमस्माकमलङ्कार इति तदुक्तं तत्रयुक्त्युपन्यासस्य जलताडनवद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात् यदप्युक्तमज्ञः कर्त्तेत्यादि तदप्यसम्यक् उक्तप्रत्यक्षस्य देहादियुक्तात्मविषयकत्वेन प्रमात्वस्य पूर्वमेवोक्तत्वात् । ननुतथाप्यपौरुषेयतया निर्दोषेणोपक्रमादिलिङ्गावधृततात्पर्येण तत्वमस्यादिवाक्येनाकर्तृब्रह्मबोधनादुक्तप्रत्यक्षस्य भ्रमत्वमेवेति चेन्न तत्वमस्यादिवाक्येन प्रतिपाद्यमानस्य "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेतीक्षणबहुभवनसङ्कल्पवतो ब्रह्मणः "सदेव सोम्येदमग्रआसी" दिति सच्छब्दवाच्यस्य "एकमेवाद्वितीय"मिति अतिशयसाम्यशून्यस्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" मितितादात्म्योपदेशोऽस्मदिष्टतम एव न तत्राकर्तृब्रह्मोपदेशः केनापि पदेन लभ्यते प्रत्युतेक्षणकर्तृबहुभवनसङ्कल्पपूर्वकं "तत्तेजोऽसृजते"ति तेजःप्रभृतिजगत्कर्तृत्वं श्रूयते अतो नोक्तप्रत्यक्षस्यभ्रमत्वम् । ननुसच्छब्दवाच्यस्य सार्वज्ञ्यादियोगात्कर्तृत्वादिसत्वेपि लक्षणया निर्विशेषाऽकर्तृब्रह्मबोधनपरत्वस्वीकारान्नोक्तार्थसिद्धिरिति चेन्न लक्षणासम्भवात् । तथाहि यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदस्य शक्यः प्रवाहस्तल्लक्ष्यश्च तीरादिस्तीरादिपदवाच्यस्तथा सच्छब्दवाच्यः सर्वज्ञः पुरुषोत्तम ईक्षणादिकर्तृत्वाश्रयस्तेजःप्रभृतिजगदभिन्ननिमितोपादानकारणरूप--

स्तस्य यो लक्ष्यः स पदान्तरवाच्यो नवेति नाद्यः वाच्यत्व-स्यापरिहार्यत्वात् वाच्यत्वेच तवमते मिथ्यात्वापत्तिरप्यावश्य-म्भाविनी वाच्यमात्रस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात् सच्छब्दलक्ष्यो मिथ्या पदान्तरवाच्यत्वात् तव मते तीरादिवदिति प्रयोगात् न द्वितीयः पदमात्रावाच्यस्यावस्तुत्वापत्तेः सच्छब्दलक्ष्यं तुच्छम्पदमात्रा-वाच्यत्वात् खपुष्पादिवदित्यनुमानात्। ननु विषमो ऽयं दृष्टान्तः जहल्लक्षणात्वात् प्रकृते तु जहदजहत्स्वार्थलक्षणास्वीकारस्तत्र शक्यैकदेशस्य विशेषणमात्रस्यैव त्यागेन विशेष्यभागस्यात्यागा-न्नोक्तदोषावकाश इति चेन्न शब्दैकदेशवाच्यत्वस्याकामेनाऽपि त्वयाङ्गीकारणीयतया मिथ्यात्वयोगस्य दुःपरिहरत्वात् तथा-चात्र प्रयोगः भागत्यागलक्षणालक्ष्यं मिथ्याशक्यैकदेशत्वादिव-दिति तव मते घटत्वादिवदिति एतेनयदुक्तं कैश्चित् मास्तु लक्ष-णा किन्तु यथा नित्यो घट इत्यत्र घटव्यक्तिनित्यत्वयोरभे-दस्य प्रत्यक्षवाधितत्वेऽपि घटत्वनित्यत्वयोः समानाधिकर-णस्याविरोधेन शक्यत्वमेव तथा प्रकृतेऽपिशक्यत्वमविरुद्धं-लक्षणाङ्गीकारस्य साम्प्रदायिनां नामाग्रहमात्रत्वात्तस्माच्छक्य-एव शास्त्रार्थ इति तदपि निरस्तं वाच्यैकदेशसाम्येन मिथ्या-त्वस्यावश्यम्भावात् त्यक्तद्वितीयभागवदितिसंक्षेपः। तत्सिद्ध-म्पूर्वोक्तप्रत्यक्षस्य प्रमात्वमिति नापि मिथ्याज्ञानस्याध्यासकारण-त्वं सम्भवति अज्ञानलक्षणतत्प्रमाणतदाश्रयविषयप्रयोजकनिव-र्तकाद्यसिद्धेः तथाहि तत्र किं तावदज्ञानस्यलक्षणम् अनादि-भावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्वा भ्रमोपदानत्वम्वा मिथ्या-त्वे सति साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वम्वा, अनाद्युपादानत्वे सति मिथ्यात्वं वा ऽज्ञानत्वमिति नाद्यः सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचै-तन्यावरकाज्ञानेष्वव्याप्तिस्तेषामनादित्वायोगात् आरोपितसर्पाद्य-

भावोपादानाज्ञाने घटादिविषयकज्ञानप्रागभावे च भावत्वाभावा-
दव्याप्तिश्च नच तस्य भावोपादानकत्वमिति वाच्यं असत्यस्य
सत्योपादानकत्वापातात् तस्याज्ञानोपादानकत्वाभावाङ्गीकारे ज्ञान-
निवर्त्यत्वाभावप्रसङ्गाच्च किञ्च शुद्धं ब्रह्म वृत्तिव्याप्यमपि नेति-
मते तदज्ञाने चरमसाक्षात्कारानन्तरभाविजीवन्मुक्त्यनुवृत्तेऽज्ञाने-
रक्तःस्फटिक इतिसोपाधिकभ्रमोपादानाज्ञानेचाव्याप्तिश्च तेषां-
ज्ञाननिवर्त्यत्वासम्भवात्* सोपाधिकाज्ञानस्योपाधिनिवृत्तिनाश्यत्व-
नियमात् जीवन्मुक्त्यनुवृत्ताज्ञानस्य प्रारब्धभोगनाश्यत्वनियमात्
चैतन्याविद्यासम्बन्धेऽतिव्याप्तिश्च कल्पितत्वेन दोषजन्यधर्मादि-
शरीरस्याज्ञानस्यानादित्वायोगात् ज्ञाननिवर्त्यत्याभावविलक्षणस्य
रूप्यवदनादित्वायोगाच्चासम्भवश्च किञ्चानादेरभावविलक्षणस्या-
त्मवदनिवर्त्यत्वप्रसङ्गात् अज्ञानं न ज्ञाननिवर्त्यमनादिभावरू-
पत्वादात्मवदित्यनुमानात् न द्वितीयः ज्ञानाभावेऽव्याप्तेः अभा-
वस्य निरुपादानकत्वात् सोपादानकत्वे ऽपिभावरूपज्ञानोपा-
दानकत्वायोगात् अन्यथास्वरूपहानिः रज्ज्वासूत्रद्वयमि-
व मायाब्रह्मणी जगदुपादाने इतिपक्षेऽतिव्याप्तेश्च तयोर्भ्रमो-
पादानत्वात् मायावच्छिन्नं ब्रह्मोपादानमिति पक्षेऽसम्भवः कि-
ञ्चार्थाज्ञानरूपस्य भ्रमस्य भावविलक्षणत्वेन निरूपादानत्वाद-
सम्भवश्च न तृतीयः जीवनमुक्त्यनुवृताज्ञानादावव्याप्त्यादेर-
त्रापि तुल्यत्वान्नचतुर्थः द्वितीयलक्षणोक्तदोषस्याभावादाव-
व्याप्त्यादेरत्राप्यविशेषात् इतिसंक्षेपः । तत्प्रमाणतदाश्रयाद्यसि-
द्धिश्च पूर्वाचार्यैराकरेविस्तृता तत्रैव जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्या । अत्र
विस्तरभियोपरम्यते विषयवाक्यार्थस्तु "अरे ! मूढे हेमैत्रेयि आत्मा
द्रष्टव्य" इति तव्यप्रत्ययोऽर्हार्थक एव "अर्हेकृत्यतृचश्चे"तिसूत्रा-
त् ब्रह्मसाक्षात्कारस्य "तस्मिन्दृष्टे परावरे, निरञ्जनः परमं साम्य-

* निवर्त्यत्वाभावादिति पाठान्तरम् ।

मुपैति, तन्महिमानमितिवीतशोकः, "ततोमां तत्त्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तर"मित्यादिवाक्यैर्मोक्षान्तरङ्गोपायतया सिद्धत्वेन विधेयत्वाभावात् तथाच वाक्यान्तरप्राप्तं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं मोक्षासाधारणोपायं दर्शनमुद्दिश्य तदन्तरङ्गोपायभूतं निदिध्यासनमत्रविधीयते । तदेवध्यानज्ञानपराभक्तिध्रुवास्मृत्यपरपर्यायभूतं ज्ञानशब्देनसूत्रयामास भगवान्बादरायणः । सूत्रविषयवाक्ययोरेकार्थत्वनियमात् तत्रापि विषयवाक्यस्य मूलरूपत्वेन स्वतः प्रामाण्याद्बलीयस्त्वं तदनुसारेणैव सूत्रार्थो नेयः अन्यथा तयोर्विषयविषयीभावानुपपत्तेः श्रवणमननयोर्निदिध्यासनोपायत्वेन विनियोगत्वयोरपि परम्परया मोक्षसाधनत्वात् तत्र वेदान्तवाक्यानां भगवत्स्वरूपगुणादिप्रतिपादनपरत्वं निश्चित्य तत्प्रतिपाद्यं ध्येयस्वरूपादिकं साक्षात्पश्यत आचार्यस्य मुखात्तदनुभूतवाक्यार्थस्य ग्रहणं श्रवणं श्रुतस्य चोपदिष्टार्थस्य स्वानुभवविषयीकरणाय शास्त्रानुकूलयुक्तिभिर्विचारविशेषो मननम् मननविषयस्यार्थस्य साक्षात्कारासाधारणसाधनमनवरतध्यानं निदिध्यासनं तथा चोक्तलक्षणश्रवणादिसाध्यानिदिध्यासनस्यात्यन्ताप्राप्तत्वादपूर्वविधिरेणायमितिबोध्यम् । द्वितीयवाक्यार्थेतु तच्छब्दौ पूर्वोक्तवाक्यस्थात्मपरामर्शपरौ विजिज्ञासितव्य इत्यत्रोक्तस्य ध्यानात्मकज्ञानस्य मोक्षान्तरंगोपायत्वाद्विधेयत्वं अन्वेषणस्य श्रवणाद्यात्मकस्य तत्साधनतया विनियोग इति भूमेत्यस्य व्याख्यानं भूमेति सूत्रविवरणाऽवसरे वक्ष्यामः ॥ १ ॥

---

# सू० जन्माद्यस्य यतः । १।१।२

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तल्लक्षणापेक्षायां सिद्धान्तमाह अस्याऽचिन्त्यविचित्रसंस्थानसम्पन्नस्यासंक्षेपनामरूपादि-विशेषाश्रयस्याचिन्त्यरूपस्य विश्वस्य सृष्टिस्थिति-लया यस्मात्सर्वज्ञाद्यनन्तगुणाश्रयाद्ब्रह्मेशकालादि-नियन्तुर्भगवतो भवन्ति तदेव पूर्वोक्तनिर्वचन--विषयं ब्रह्मेतिलक्षणवाक्यार्थः ॥ २ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

( जन्माद्यस्य यतः )

एवं निरुक्त्या बृहद्गुणशक्तिस्वरूपं श्रीकृष्णाख्यं ब्रह्म पूर्वाधिकरणे निर्णीतम् इदानीं किं तल्लक्षणमित्याकाङ्क्षायां तदेव जगज्जन्मादिकर्तृत्वसार्वज्ञ्यसत्यत्वादिमत्त्वेन प्रतिपाद्यते । अत्रास्येतिशब्दो जगदाख्यंकार्यपरः यतइति

च कारणवाचकः पूर्वसूत्राद्ब्रह्मेतिपदमनु-
वर्त्तते यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तच्छब्दाऽध्याहारः जन्म
आदिर्यस्य तदिदं जन्मादि सृष्टिस्थितिलय-
मोक्षम् अत्र तद्गुणसंविज्ञाना बहुव्रीहिः यतो
यस्मात्सर्वेश्वरात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः परमकारणा-
त्सर्वनियन्तुर्भगवतः श्रीपुरुषोत्तमात् अस्य जगतो
नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य त्रिविधविभक्तभोक्तृ-
संयुक्तस्य नियतदेशकालफलोपभोगाश्रयस्य
तर्कागोचररचनस्य सृष्टिस्थितिलयमोक्षाः प्रव-
र्त्तन्ते तद्ब्रह्म तदेव मुमुक्षुभिर्जिज्ञास्यमिति-
सूत्राक्षरयोजना । तथाच श्रुतयः "भृगुर्वै वा-
रुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो
ब्रह्मे"त्युपक्रम्य "यतो वा इमानि भूतानि
जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्य-
भिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म । सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" त्याद्याः यतो यस्माच्छ्रीपुरुषो-
त्तमादिमानि महदादितृणान्तानि भूतानि जायन्ते
इतिसृष्टिरुक्ता येन जातानि जीवन्तीति स्थिति
रुक्ता अभिसम्विशन्तीति लयो दर्शितः यत्प्र-
यन्ति यं सर्वकर्मध्वंसानन्तरं प्राप्नुवन्तीति

मोच्च उक्तः अत्र चेतनस्यानादिनिधनस्य देहादि-संयोगहेतुकाविचित्रविज्ञानविकाशो जन्म तत्सं-कोचपूर्वकः कारणप्रवेशः प्रलयः एतच्च "चरा-चरव्यपाश्रय" इत्यादिसूत्रद्वयव्याख्याने स्फुटीभ-विष्यति अचेतनांशस्य सृष्ट्यादौ रूपान्तरभावे मुख्यतेति विवेकः द्वितीयवाक्यार्थस्तु सत्यत्व-ज्ञानत्वानन्तत्वधर्मवद्ब्रह्मेति अत्र सत्यपदम—सत्यस्य ज्ञानपदमचिद्वर्गस्यानन्तपदं जीववर्गस्य च व्यावर्त्तकम् तथा च जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे सति सत्यत्वादिमत्त्वं ब्रह्मलक्षणं सिद्धम् । परा-परादिशब्दाभिधेयानां स्वस्वाभाविकीनां सूक्ष्मा-वस्थापन्नानां शक्तीनां तत्तद्गतसद्रूपकार्याणां च स्थूलतया प्रकाशकत्वमुपादानत्वम् । स्वस्वानादि-कर्मसंस्कारवशीभूतात्यन्तसङ्कुचितभोगस्मरणा—नर्हज्ञानधर्माणां चेतनानां कर्मफलभोगार्हज्ञान-प्रकाशनेन तत्तत्कर्म्मफलतत्तद्भोगसाधनैः सह योजयितृत्वं निमित्तत्वम् । विषयवाक्यानुरूपा-स्मृतिश्च "भृगुणा ऽभिहितं शास्त्रं भारद्वाजाय पृच्छते" इत्युपक्रम्य "स एष भगवान्विष्णुरनन्त इति विश्रुतः । सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयो ऽकृ-

तात्मभिः । अहङ्कारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै । यतः समभवद्विश्वं पृष्टो ऽहं यदिह त्वये"ति मोक्षधर्मे । ननु श्वेताश्वतरोपनिषदि "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्य" मिति वहूनि कारणान्युक्तानि पुरुषोत्तमो वासुदेव एव जगतां कर्त्तेति निर्धारणे किंप्रमाणमितिचेच्छृणु "यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः । "ज्ञः कालकालः गुणी सर्वविद्यः । न यस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः । एको ह वै नारायण आसीत् विष्णुस्तदासीद्धरिरेव निष्कलः । नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो जायते । एतस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत । एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः । एको ऽपि सन्बहुधा यो विभाति ॥ क इति ब्रह्मणो नाम ईशो ऽहं सर्वदेहिनां आवां तवाङ्गसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान् । अहं ब्रह्मा आद्य ईशः प्रजानां तस्माज्जातस्त्वं च मत्तः प्रसूतः । कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम् । वेदे रामायणे चैव भारते पञ्चरात्रके । आदावन्ते च

मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥ अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय । अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इत्यादिश्रुतिस्मृतिपूगो जगत्कारणनिर्धारणे मानम् जगदुत्पत्त्यादिविषयेषु वाक्येषु क्वचिच्छ्रूयमाणाः हिरण्यगर्भादिशब्दा उक्तलक्षणब्रह्मपरा ज्ञेयाः तस्मात्सर्वात्मा सर्वेश्वरः सर्ववेदैकवेद्यः श्रीकृष्णो जगतः कारणमिति सिद्धम् ॥ २ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं निर्वचनमुखेन जिज्ञास्यं व्युत्पादितं तस्य किं लक्षणमित्यपेक्षायामाह ॥

"जन्माद्यस्य यतः"

अस्येति शब्दः कार्यपरः यत इतिकारणपरः जन्मआदिर्यस्य तदिदं जन्मादि सृष्टिस्थितिलयमोक्षान्तद्गुणसम्विज्ञानो बहुव्रीहिः लम्बकर्णमानयेतियत् यतो यस्मात्सर्वेश्वरात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः परमकारणात्सर्वनियन्तुर्भगवतः श्रीपुरुषोत्तमादस्य-

जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य विविधविभक्तभोक्तृभोग्यसंयुक्तस्य नियतदेशकालफलोपभोगाश्रयभूतस्य तर्कागोचररचनस्य जन्मस्थितिलयमोक्षाः प्रवर्त्तन्ते तदेव ब्रह्म जिज्ञास्यमिति वाक्यार्थः यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् "भृगुर्वैवारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मे"त्युपक्रम्य "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्वि-जिज्ञासस्व तद्ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यादिश्रुतेर्जगदभिन्न-निमित्तोपादानत्वे सति सत्यत्वादिमत्वं ब्रह्मलक्षणम्। नचोपादा-नाभिन्ननिमित्तस्य कारणत्वं कुत्रापि न दृश्यते इतिवाच्यं घटेशसंयोगजीवगतज्ञानादौ ईशजीवयोस्तथादर्शनात् ब्रह्मजगद-भिन्ननिमित्तोपादानं भवितुमर्हति तादृशशक्तिमत्वात् जीवगत-ज्ञानादिकार्ये जीववत् घटेश्वरसंयोगादिकार्ये ईश्वरवदित्यनु-मानात् परमते तु लक्षणमसम्भवि पूर्ववद्विकल्पासहत्वात् ननु लक्षणम् द्विविधं स्वरूपतटस्थभेदात् तत्र स्वरूपाभिन्नम् लक्ष-णम् प्रथमं यथा सत्यम् ज्ञानमित्यादिकम् यावल्लक्ष्यमनव-स्थितत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थलक्षणम् यथा "यतो वा इमा-नी"त्यादि श्रुत्युक्तकारणत्वस्य प्रलयेऽननुगतत्वे सतीतरव्यावर्त्त-कत्वाल्लक्षणसमन्वय इतिचेन्नैवमसम्भवात् तथाहि न ताव-त्स्वरूपलक्षणोक्तिरुपपत्तिमती असाधारणधर्मस्यैव सर्वसम्मत-लक्षणत्वान्नस्वरूपमात्रस्य अन्यथा स्वरूपस्यैव व्यावर्त्तकत्वे लक्षणोक्तेरेव वैयर्थ्यात्स्वरूपस्य व्यावर्त्तकत्वादर्शनाच्च ननु स्वरूपस्यैव धर्मधर्मिभावकल्पनया लक्षणत्वाङ्गीकारे नोक्त-दोषः "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते" इत्यभियुक्तोक्तेरिति चेन्न कल्पितस्य व्यावृत्तकत्वासम्भवादन्यथा यूपे कल्पितादित्यत्व-

स्यात्पर्यायत्वापत्तिश्चावर्त्तकत्वापत्तिः किञ्च सत्यादिशब्दा यौगिका रूढा वा आद्ये यौगिकस्य प्रकृतिप्रत्ययार्थयोगपरत्वेन निर्विशेषत्वहानिः द्वितीये रूढानां गुणजात्याद्यनेकधर्मवद्वस्तुपरत्वनियमेन निर्विशेषपरत्वायोगः ननु सत्यादिशब्दानां सविशेषपरत्वेऽपि लक्षणया निर्विशेषपरत्वान्नोक्तदोषावकाश इतिचेन्न लक्षणासम्भवात्तथाहि जहत्स्वार्थापक्षे यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रवाहरूपशक्यत्यागेनागङ्गारूपस्तीरादिर्वाक्यार्थस्तथा प्रकृतेऽपि सत्यादिपदार्थत्यागेनासत्यजडपरिच्छिन्नरूपो वाक्यार्थः स्यात् अजहत्स्वार्थापक्षे शोणो धावतीत्यादिशक्यवद्विशिष्टार्थत्वापत्तिर्भागत्यागलक्षणापक्षे विशेषमात्राङ्गीकारे सत्यादीनां को वाऽर्थ इत्यर्थाद्यनिश्चयात्सत्यत्वादिधर्मत्यागेऽपि सच्चिदपरिच्छिन्नं ब्रह्मेति त्रैविध्यस्यावश्यम्भावान्निर्विशेषाद्वितीयत्वभङ्गः सर्वेषामेकार्थत्वाङ्गीकारे पर्यायत्वापत्तिस्तथात्वाभ्युपगमे चैकपदेनैवार्थसिद्धौ पदान्तरवैयर्थ्यं च किञ्च शब्दैकांशार्थत्वाङ्गीकारे सर्वांशवाचकतासम्बन्धाभावेऽपि तदंशवाचकतासम्बन्धस्याकामेनापि त्वया स्वीकार्यत्वान्निर्विशेषत्वहानिस्तथात्वे मिथ्यात्वापत्तिर्निर्विशेषं वस्तु मिथ्या शक्यैकदेशत्वात्तव मते घटत्वादिवदिति प्रयोगात् ननु सत्यत्वादिविशिष्टवाचिपदानां शुद्धे लक्षणाङ्गीकारान्न पर्यायत्वापत्त्यादिदोषावकाश इतिचेन्न अनृतास्वप्रकाशपरिच्छिन्नरूपे सविशेषे सत्यत्वादेरयोगात् योगे वा तस्यैवानृतादिव्यावृतत्वं स्यान्न शुद्धस्य तस्मात्सत्यत्वादीनां शुद्धादन्यत्रासम्भवाद्वाक्यस्य लक्षणयाऽखण्डार्थत्वे च शुद्धे तदसिद्धेः पर्यायत्वप्रसङ्गः पदान्तरवैयर्थ्यस्य तादवस्थ्यमेव किञ्च सत्यादिपदलक्ष्यं वस्तु पदान्तरवाच्यं नवा आद्ये सविशेषत्वस्यावश्यम्भावः द्वितीये लक्ष्यत्वासिद्धिः लक्ष्यत्ववाच्यत्वयोः सामानाधिकरण्यनियमात् यत्र

वाच्यत्वं तत्र लक्ष्यत्वं यथा गङ्गापदलक्ष्यस्य तीरशब्दवाच्यत्वं यन्नैवं तन्नैवं खपुष्पादिवदित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां लक्ष्यत्वासिद्धिः ननु सत्यादयः शब्दा असत्यादिव्यावृत्तिद्वारा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्यवस्यन्तीति चेन्न ब्रह्मस्वरूपमात्रस्य श्रुतिं विनाऽपि प्रागेवाविद्याधिष्ठानतया ज्ञातस्य पुनरपि "ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्यादिवाक्येन च सत्यादिशब्दैः सत्यत्वादिविशिष्टतया व्यावृत्तिविशिष्टतया च ज्ञातत्वेन तज्ज्ञानस्य व्यावृत्तिज्ञानसाध्यत्वायोगात् व्यावृत्तिज्ञानस्यैव धर्मिज्ञानसाध्यत्वेन विपरीतत्वापाताच्च किञ्च व्यावृत्तयः सत्या मिथ्या वा आद्ये व्यावर्त्तकानामपि सत्यत्वापत्तिः व्यावहारिकैर्व्यावर्त्तकैः पारमार्थिकव्यावृत्त्यसिद्धेः किञ्च व्यावृत्तिविशिष्टत्वापत्त्याऽद्वैतभङ्गः सविशेषत्वापत्तिश्च द्वितीये असतस्तुच्छस्य शशशृङ्गादेरिव व्यावृत्तित्वासम्भवः तुच्छस्य यदि स्वयं किञ्चित्पदार्थत्वं स्यात्तर्हि भेदकत्वमपि स्यात्तत्तु नास्त्येव नच व्यावृत्तिः स्वरूपमेवेति वाच्यं स्वरूपस्य व्यावर्त्तकत्वाभावात् व्यावर्त्तकत्वे च व्यावृत्त्यङ्गीकारस्य वैयर्थ्यं तथात्वे सविशेषत्वापत्तिर्दुर्वारा अभेदे सति भेदनिर्वाहकत्वं व्यावृत्तकत्वमिति लक्षणस्य समन्वयात् किञ्च व्यावर्त्यमसदादिशब्दवाच्यं सद्विलक्षणं वा आद्ये सद्विलक्षणस्य वस्तुत्वेऽद्वैतभङ्गोऽवस्तुत्वे व्यावृत्तिवैयर्थ्यं द्वितीये ब्रह्मण्यतिव्याप्तिर्व्यावृत्तव्यावर्त्यर्योरैक्यापत्तिश्च किञ्च व्यावृत्तयो ब्रह्मणो भिन्ना अभिन्ना वा आद्ये द्वैतापत्तिः द्वितीये व्यावृत्तिर्ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यापत्तिः किञ्च व्यावृत्तिर्ब्रह्मणि कल्पिता यथार्था वा नाद्यः कल्पिते व्यावर्त्तकत्वासम्भवस्योक्तत्वात् द्वितीयेऽद्वैतसिद्धान्तभङ्गः इत्यलं विस्तरेण । किञ्च सत्यादेर्विशेष्यमात्रपरत्वे वाक्यस्योद्देश्यविधेयविभागाभावेन यत्किञ्चिदित्येव बोधनाद्बुभुत्सानुपरमापत्तिः

सामान्यस्य पूर्वमेव ज्ञातत्वात् विशेषस्यानङ्गीकाराच्च एवं च सत्यादिवाक्यानामखण्डार्थनिष्ठत्वोक्तिर्भ्रान्तिविजृम्भितैव तस्मात्स्वरूपलक्षणं सर्वथाऽप्यसिद्धमेव नापि द्वितीयं लक्षणं वक्तुं शक्यं तस्यापि सविशेष एव वस्तुनि समन्वेतुमर्हत्वात् तैश्च ब्रह्मणो निर्विशेषत्वाङ्गीकारात् तस्य लक्ष्यत्वयोगे सुतरां सविशेषत्वापत्तिरितिसंक्षेपः। किञ्च कीदृग्ब्रह्म श्रीमद्भिर्जगत्कारणत्वे नाभिप्रेयते शुद्धं चिन्मात्रं वाऽविद्योपहितं वा तदध्यासाश्रयं वा आद्ये किं शुद्धशब्देन शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि वर्त्तते इत्युक्तो भगवान्महाविभूतिर्विवक्षितः सर्वविशेषहीनोऽखिलप्रमाणशून्यो निर्विशेषो वा नाद्यः अनङ्गीकारादन्यथाऽपसिद्धान्तापत्तेरस्मत्पक्षप्रवेशाच्च न द्वितीयः सर्वविशेषशून्यस्य श्रुत्युक्तेक्षणबहुभवनसङ्कल्पाद्यनुपपत्तेः सर्वप्रमाणशून्यस्यावस्तुत्वात् नाप्युपहितं ब्रह्म कारणमसम्भवात् तथाहि उपहितं बिम्बरूपं प्रतिबिम्बरूपं वा कारणत्वेनाभिप्रेतं आद्ये ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणप्रदेश इव बिम्बरूपचेतनस्य परमेश्वरस्य जीवप्रदेशे व्याप्त्यभावात् सर्वान्तर्यामित्वानुपपत्तिः द्वितीये ऽविद्याकृतदोषा जीवे इव जगत्कारणे परमेश्वरेऽपि स्युरुपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वनियमादिति संक्षेपः। नापि चरमः निर्विशेषस्वप्रकाशात्मके ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मण्यविद्याध्यासस्य सूर्ये तमस इवात्यन्तविरुद्धत्वादध्यासासिद्धेः पूर्वमेवोक्तत्वात्तदसिद्ध्याऽध्यस्तस्य सुतरामसिद्धिः किञ्च को वा परमेश्वरः मायावच्छिन्नश्चेतन इति चेन्न भ्रान्तिमत्त्वप्रसङ्गात् "यः सर्वज्ञः सर्ववित् सत्यकामः सत्यसङ्कल्प" इत्यादिश्रुतिव्याकोपात् नच मायावच्छिन्नविषयिकैव सार्वज्ञ्यादिश्रुतिः शुद्धे धर्मित्वायोगादितिवाच्यं बालभाषितत्वात् मायावच्छिन्नस्य भ्रान्तस्य सार्वज्ञ्यादियोगमनुन्मत्तः को ब्रूयात्

नच "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं त्वि" तिश्रुतिरेवमायित्वं वद-
तीति वाच्यं मायित्वं मायानियन्तृत्वमितिश्रुतेर्विवक्षितत्वात् तच्च
सार्वज्ञ्याद्यचिन्त्यानन्तस्वाभाविकशक्त्याश्रयस्य महाविभूत्याख्यस्य
शुद्धस्यैव साधारणधर्मो नान्यस्य पारिभाषिकशुद्धस्य मायावच्छि-
न्नस्य वा निर्विशेषस्येक्षणबहुभवनसङ्कल्पाद्यसम्भवात् माया-
वच्छिन्नस्य भ्रान्तियोगादिति संक्षेपः। तस्मादचिन्त्यानन्तस्वाभा-
विकासङ्ख्येयसद्गुणसागरो भगवांच्छ्रीपुरुषोत्तम एव जगतोऽभि-
न्ननिमित्तोपादानकारणम् तत्रैव लक्षणस्य समन्वय इति राद्धान्तः।
प्रथमविषयवाक्यार्थः सूत्रार्थेनैवोक्तः तत्र पित्रादिष्वतिप्रसक्ते-
रभिसम्विशन्तीति पदसन्निवेशः मृदादावतिव्याप्ते"र्येन जातानि
जीवन्ति यत्प्रयन्तीति पदसन्निवेशः प्रकर्षेण कर्मबन्धध्वंसेन यन्ति
प्राप्नुवन्तीति मुक्तप्राप्यत्वं अभिसंविशन्तीति प्रलयकालीन-
प्रवेशोविवक्षितः द्वितीयवाक्यार्थस्तु सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वाव-
च्छिन्नं ब्रह्मेति तत्र सत्यपदमसत्यस्य ज्ञानपदमचिद्वर्गस्यानन्त-
पदम् जीववर्गस्य व्यावृत्तिपरं अनन्तत्वं चात्र स्वरूपगुण-
शक्तिभिर्विवक्षितमन्यथा जीवज्ञानेऽतिप्रसङ्गः नच सत्यादी-
नामेव गुणत्वान्न सत्यत्वादिपर्यन्तधावनं युक्तं गौरवादिति-
वाच्यं सत्यादीनां स्वरूपवाचकत्वाभावेऽसत्यजडपरिच्छिन्नमेव
लक्ष्यं ब्रह्मस्वरूपं सत्यादिगुणकं त्वन्मतेऽभ्युपगतम् स्यात् अयम्भाव
स्त्वन्मते सत्यादिपदं स्वरूपपरं गुणपरं वा आद्ये स्वरूपस्य
त्रैविध्यापत्त्याऽद्वैतभङ्गः सत्यादेरेकार्थकत्वे पर्यायतापत्तिः अन्त्ये
तूक्तदोषस्तदवस्थ एव किञ्च सत्यादेः स्वरूपवाचकत्वे ब्रह्मणो
वाक्यगोचरत्वापत्तिस्तथात्वे निर्विषयत्वसिद्धान्तभङ्गः वाक्या-
गोचरत्वाङ्गीकारेऽप्यनिर्वचनीयत्वापत्तौ मिथ्यात्वापत्तिर्दुर्वारा
तथाच प्रयोगः ब्रह्म मिथ्याऽनिर्वचनीयत्वात् यदेवं तदेवं तव
मते मायादिवत् ब्रह्म मिथ्या असत्यस्वरूपत्वात् तव मते

रज्जुसर्पवत् जडत्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च तवाभिप्रेतघटादिव-
दित्यादयः तस्मात्सत्यत्वादिगुणकं सत्यादिस्वरूपं ब्रह्मेत्युक्ता-
र्थ एव वरीयान् । केश्चिदेतद्वाक्यमेवं व्याख्यायते सत्यपदम्
निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माह तेन विकारास्पदमचेतनम् तत्सं-
सृष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः नामान्तरभजनार्हावस्थान्तरयोगेन तयो-
र्निरुपाधिकसत्तायोगरहितत्वात् ज्ञानपदं नित्यासङ्कुचितज्ञानैका-
कारमाह तेन कदाचित्सङ्कुचितज्ञानत्वेन मुक्ता व्यावृ-
त्ताः अनन्तपदं देशादिपरिच्छेदशून्यस्वरूपमाह सगुण—
त्वात्स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणैश्चानन्त्यं तेन पूर्वपद-
द्वयव्यावृत्तकोटिद्वयविलक्षणाः सातिशयस्वरूपगुणा नित्या
व्यावृत्ता इति तन्न समीचीनमिति प्रतिभाति तत्पदैस्तादृग-
र्थस्यालाभात् सम्भवति मुख्यार्थे लक्षणाङ्गीकारस्य गौरवा-
वहत्वात् चिदचितोः सत्यत्वमङ्गीकृत्य पुनः सत्यपदेन तयो-
र्व्यावृत्त्यसम्भवाच्चान्यथाऽपसिद्धान्तापत्तिः किञ्च चिदचितोः
सोपाधिकसत्यत्वाङ्गीकारे उपाधिनिवृत्तौ तयोरसत्यत्वापत्ति-
स्तथात्वे च "सत्यं ह्येवेदं विश्वमसौ सृजते सत्यस्य सत्यं
प्राणा वै सत्यन्तेषामेष सत्य"मित्यादिश्रुतिव्याकोपः ज्ञानपदेन
मुक्तव्यावृत्तिरपि न सम्भवतीति तेषामपि ज्ञानस्वरूपत्वाभ्यु-
पगमादन्यथापसिद्धान्तापत्तिः अनन्तपदेन नित्या व्यावृत्ता इत्यपि
रिक्तं वचः अनन्तपदेन नित्यमुक्तबद्धानां त्रयाणामपि व्यावृ-
त्तिसम्भवात् तेषां स्वरूपेणानन्तत्वाभावादिति संक्षेपः । विस्त-
रस्त्वस्मत्कृततैत्तिरीयप्रकाशिकायां द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

## सू० शास्त्रयोनित्वात् । १।१।३

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

किं प्रमाणकमित्याकाङ्क्षायां सिद्धान्तमाह शास्त्रमेवयोनिस्तज्ज्ञप्तिकारणं यस्मिंस्तदेवोक्तलक्षणलक्षितं वस्तु ब्रह्मशब्दाभिधेयमिति ॥ ३ ॥

---

### वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं जिज्ञासासूत्रेण ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तं लक्षणसूत्रेणच जगज्जन्मादिकारणत्वसत्यत्वादिमत्त्वं ब्रह्मलक्षणमुक्तमिदानीं तत्र किम्प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां प्रमाणमुच्यते ॥

शास्त्रयोनित्वात् ।

उक्तलक्षणं ब्रह्मानुमानादिगम्यमुत वेदप्रमा-

णकमितिसंशये अनुमानादिगम्यं "यतो वाचो निवर्त्तन्त" इति ब्रह्मणो वागगोचरत्वश्रवणादिति पूर्वपक्षे । ब्रह्म नानुमानादिगम्यं किन्तु वेद-प्रमाणकम् कुतः शास्त्रयोनित्वात् शास्त्रं वेदः योनिः कारणं ज्ञापकं प्रमाणं यस्मिंस्तच्छास्त्र-योनि तस्य भावस्तत्त्वं तस्माच्छास्त्रयोनि-त्वाच्छास्त्रप्रमाणकत्वात् वेदैकप्रमाणकमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तः ननु लाघवाच्छास्त्रयोनीत्येव सु-वचम् तथाच शास्त्रयोनि वेदप्रमाणकम् ब्रह्मे-तीष्टसिद्धिरिति चेन्न नानुमानादिगम्यं ब्रह्म शास्त्रयोनित्वादितीतरप्रमाणाविघातकहेतुनिर्दे-शात् ननु नानुमानादिगम्यमिति कुतो-लभ्यत इतिचेत्पूर्वोक्तकार्यत्वलिङ्गेन जगतः कर्तृजन्यत्वसाधकेनानुमानगम्यं ब्रह्मेति शङ्का जाता❋ तन्निवारणायार्थिकस्तत्पदलाभः "सर्वे-वेदा यत्पदमामनन्ति । सर्वे वेदा यत्रैकी भवन्ति

---

❋ जगत्कर्त्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत् इत्यनुमानं पूर्वसूत्रेण सूचितं तेनानुमानगम्यं जगत्कारणम् किञ्चिदस्तीति शङ्का जाता ॥

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामः । नावेदविन्मनुते तं बृहन्त"मित्यादिश्रुतिभ्यः "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । वेदे रामायणे चैव भारते पञ्चरात्रके । आदावन्तेच मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥ नमाम सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" त्यादिस्मृतिभ्यश्च ननु पृथिव्यादीनि सावयवानि भूतानि सकर्तृकाणि कार्यत्वात् घटादिवदित्यनुमानेनेतरस्य कारणत्वासम्भवाज्जगत्कारणात्मकब्रह्मसिद्धौ किम्वेदेनेति चेन्न आकाशादिभूतोत्पत्तेर्वेदमन्तरेण केनापि ज्ञातुमशक्यत्वात्तन्निष्ठकार्यत्वस्यासिद्धत्वेन हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात् नच वेदद्वारा भूतोत्पत्तिर्ज्ञातव्या तया च तन्निष्ठकार्यत्वसिद्ध्या न स्वरूपासिद्धो हेतुरिति वाच्यम् तथैव वेदादेव जगत्कारणे ब्रह्मणि विज्ञाते सति अनुमानवैयर्थ्यापत्तेः अस्मत्पक्षप्रवेशाच्च एवं क्षित्यङ्कुरादीनां प्रसिद्धानां कार्याणामपि कार्यत्वेन लिङ्गेन न ब्रह्मानुमातुं शक्यम् भूवीजजलजीवादीनां तत्कारणत्वकल्पनासम्भवाददृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च अत्रेदं बोध्यम् यत्र यत्र कार्यत्वं दृश्यते तत्तत्तदनुरूपः क्षेत्रज्ञः कर्ता

ऽप्यनुमानेन साधितुं शक्यः कृत्स्नस्य तु विश्वस्य वेदं विना कार्यत्वमप्रसिद्धमतो जगत्कर्ताऽपि वेदादेव ज्ञातुं शक्यो नत्वनुमानसहस्रेण नच प्रत्यक्ष प्रमाणगम्यं ब्रह्म तद्ग्रहणे हि साधारणानामिन्द्रियाणा मसामर्थ्यात् नेन्द्रियाणि नानुमानं "नैषातर्केण मति-रापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठे"तिश्रुतेः हेप्रेष्ठ! एषा ब्रह्मविषयामतिस्तर्केण न निरस्या यद्वा न प्राप्तुं योग्या अन्येन वेदविदा सर्वज्ञेनाचार्येण प्रोक्ता सुज्ञानाय भवतीत्यर्थः "तर्काप्रतिष्ठाना" दित्यादिसूत्रात् "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजये"दिति मनुस्मृतेः "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत् । नाप्रति-ष्ठिततर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चय" इतिमहाभार-ताच्च किञ्च सर्वज्ञैर्मन्त्रैः ऋषिभिश्च साकल्येन—सर्वथाऽगम्यं दुर्बोधमचिन्त्यानन्तगुणशक्त्यादिमज्ज-गत्कारणं ब्रह्मानुमानादिवेद्यमिति कोऽनुन्मत्तो-ब्रूयात् नच "यतो वाचो निवर्त्तन्त" इत्यादिश्रुतीनां कागतिरिति शङ्क्यं तासामियत्तानवच्छिन्नं ब्रह्मे-त्यर्थपरत्वात् वक्ष्यति च "प्रकृतैतावत्त्वंही"ति सूत्रे शास्त्रस्य योनिः शास्त्रयोनीति विग्रहेऽप्ययमेवार्थः

सर्वज्ञब्रह्मनिःश्वासितैरन्तरङ्गैर्वेदैरेव ब्रह्म वेद्यं न वहिर्भूतैरन्यकल्पितानुमानादिभिरितिफलितोऽर्थः। अत्रास्य सूत्रस्य "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद" इतिवाक्यं विषयः नचास्मिन्नर्थे वेदानां नित्यत्वहानिः नित्यसिद्धानां निर्गमनमात्रस्वीकारात् "वाचा विरूपनित्यया। अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी विद्या यतः सर्वा प्रवृत्तय,, इतिश्रुतिस्मृतिभ्याश्च अनेन ब्रह्मणोऽप्राकृतो नित्यो विग्रहः सूचितः प्राकृतसृष्टिः पूर्ववर्त्तिनो वेदस्य तन्निःश्वासितत्वात् एतदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः तत्सिद्धम् वेदैकप्रमाणकं ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

जगत्कारणं ब्रह्मेत्युक्तं तत्रप्रमाणमाह ॥

शास्त्रयोनित्वात्।

शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं ज्ञापकं यस्मिस्तच्छास्त्रयोनि-

तस्य भावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति । सर्वे वेदा यत्रैकीभवन्ति । तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामः नावेदविन्मनुते तं बृहन्त" मित्याद्यन्वयव्यतिरेकश्रुतिभ्यः "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा । आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते । नमाम सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती"त्यादिस्मृतिभ्यश्च शास्त्रैकप्रमाणगोचरत्वादितियावत् ननु शास्त्रैकप्रमाणगोचरत्वं ब्रह्मणो न सम्भवति तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणवेद्यत्वादपि अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवदिति चेन्न प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वात्तस्य चातीन्द्रियत्वात् ब्रह्म न प्रत्यक्षप्रमाणविषयोऽतीन्द्रियत्वात् जात्यादिलौकिकविशेषविरहाद्वा यन्नैवं तन्नैवं गवादिवत् "नचान्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित" इतिश्रुतेस्तस्य सर्वत्र व्यापकत्वेनेन्द्रियेष्वपि सत्त्वाविशेषात्कथम् तत्सन्निकर्षानर्हत्वमिति वाच्यम् तस्य व्यापकतया सर्वत्र सत्त्वेऽपि करणानां तत्प्रकाश्यत्वेन तत्प्रकाशकत्वायोगात् नहि प्रमाणविषयीभावेपदार्थसद्भावमात्रम् प्रयोजकम् किन्तु प्रमाणनिष्ठातद्ग्रहणार्हा तच्छक्तिरेवान्यथा क्षीरादिपाने रसेन्द्रियेण तन्माधुर्ये गृह्यमाणे तत्सामानाधिकरण्यस्य रूपादेरपि ग्रहणापत्तेस्तस्य तत्र सद्भावसाम्यात्तथा प्रकृतेऽपि नाप्यनुमेयं ब्रह्म अनुमानस्य हेतुदृष्टान्तसत्त्व एव सद्भावात् तस्य च तद्विरहात् नेन्द्रियाणि नानुमानं "नैषा मतिस्तर्केणापनेये"तिश्रुतेः "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजये"दिति मनुवचनात् ननु क्षित्यादीनि महाभूतानि सकर्तृकाणि कार्यत्वात्वात् घटादिवत् व्यतिरेके कालादिवत् परपक्षे प्रधानादिवच्चेति प्रयोगात् भूतादिकर्तृतया ब्रह्म सिध्यत्येव तत्कार्यस्य भूतादेर्लिङ्गस्य घटादेर्दृष्टान्तस्य च सत्त्वेनानुमातुं शक्यत्वादुक्तहेतोः स्वरूपासिद्धत्वं किञ्च मन्तव्य इतिश्रुत्या "यस्त-

केणानुसन्धत्से" इतिस्मृत्या चानुमानस्यादरणात्कथमनुमानागोचरत्वं तस्येति चेन्न उक्तानुमानेन सामान्यतः कर्तृमात्रे सिद्धेऽपि यत्र कर्तृत्वं तत्र दोषवत्त्वं कुलालादिवदिति प्रत्यक्षादिगृहीतया सामान्यव्याप्त्या गुणदोषवतो जीवस्यैव कर्तृत्वेन सिद्धिर्नोक्तलक्षणस्य परब्रह्मणस्तत्र व्याप्तेः पक्षधर्मतायाश्च शास्त्रमन्तरेण गृहीतुमशक्यत्वात्तस्य च स्वरूपगुणशक्त्यादीनामलौकिकत्वात् नच शास्त्रादेव तत्स्वरूपादिकं निश्चित्य तद्वतो जगत्कारणत्वमनुमेयमिति वाच्यं शास्त्रमूलकानुमानस्येष्टत्वात् एवं च तर्कादिनिषेधशास्त्रस्य शास्त्रनिर्मूलस्वतन्त्रानुमानपरत्वेन तद्विधायकशास्त्रस्य च श्रुत्यनुकूलतन्मूलकानुमानविषयत्वेन नैराकाङ्क्ष्यात्सर्वथाऽप्यविरुद्धं । किञ्च कार्यत्वादित्यस्य हेतोराकाशभागेऽव्यापनात्स्वरूपासिद्धत्वमपि तन्मते गगनस्याकार्यत्वात् नच तत्पक्षवाह्यत्वान्न दोष इति वाच्यम् भूतत्वावच्छिन्नस्य पक्षत्वात् विरुद्धत्वमपि क्षित्यादिवायुपर्यन्तानि कार्याणि न भवन्ति महाभूतशब्दवाच्यत्वादाकाशवदिति प्रत्यनुमानादतो नानुमानविषयत्वं ब्रह्मण इति । नाप्युपमानविषयत्वं ब्रह्मसदृशपदार्थान्तराभावेन तत्सादृश्यज्ञानासिद्धेः "न संदृशे तिष्ठति रूपमस्ये" ति श्रुतेः "ननु निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां सिद्धत्वात् तत्सादृश्यस्य तदभिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वस्यैव सादृश्यसाम्यसाधर्म्यपदवाच्यत्वात्कथं सदृशाभाव इति चेत्सत्यं तस्य सत्त्वेऽपि शास्त्रैकगम्यत्वेन प्रत्यक्षप्रमाणागोचरत्वादविषयत्वं तदवस्थमेव श्रौतोपमानं तु शास्त्रान्तःपातित्वादिष्टमेव । ननु मास्तु सादृश्यज्ञानजन्योपमितिविषयत्वं ब्रह्मणस्तत्सदृशाऽभावात् तथाऽपि वैसादृश्यज्ञानजन्योपमितिविषयत्वं स्यादेव ब्रह्मणः विसदृशानां क्षेत्रज्ञादीनां सत्त्वात् यथागोविसदृशोऽश्व इति चेन्न

ऽसम्भवात् तथाहि कीदृशोऽश्व इत्यादिना तदविदुषा पृष्टे तज्ज्ञापकस्याश्वादिज्ञानाभावे गोविसदृशोऽखिशफस्वल्पपुच्छविशिष्टव्यक्तिमद्भिन्नोऽश्वः, अतिदीर्घग्रीवाविशिष्टव्यक्तिमद्भिन्नो हस्ती विषविसदृशं हननासाधरणीभूतौषध्यादिभिन्नममृतमिति ज्ञापनात्मकवचनप्रयोक्तृत्वानुपपत्तेः तथाच ज्ञापकस्य ब्रह्मज्ञानाभावेन ज्ञापकत्वाऽसिद्धेः ज्ञातृत्वपूर्वकत्वाज्ज्ञापकत्वस्येति भावः । किञ्च वै सादृश्यज्ञानसत्त्वेऽपि नोक्तलक्षणब्रह्मसिद्धिः तथाहि यथा गोविसदृशोऽश्व इति ज्ञानाद्गोभिन्नपदार्थमात्रस्य सामान्यज्ञाने जातेऽपि अश्वत्वावच्छिन्नैकशफवद्व्यक्तिज्ञानस्यासिद्धिरेव तथा ब्रह्मविसदृशचिदचिद्वस्तुज्ञानात्तद्विसदृशं ब्रह्मेति ज्ञानोत्पत्तावपि सर्वज्ञत्वाद्यसाधारणधर्मावच्छिन्नब्रह्मज्ञानाभावेन जगत्कारणत्वज्ञानासिद्धत्वान्नोपमेयं ब्रह्मेति राद्धान्तः । नाप्यर्थापत्तिप्रमाणवेद्यं ब्रह्म तस्य पीनत्वादिज्ञानवदुपपाद्यज्ञानासिद्धेः किञ्च तस्यास्तर्करूपतया तद्विषयत्वस्यानुमाननिराकरणेनैव निरासो ज्ञेयः । नाप्यनुपलब्धिगोचरत्वं ब्रह्मणः सम्भावनार्हं तस्या अभावकरणकत्वात् ब्रह्मणस्तु केवलान्वयित्वेनाभावत्वावच्छिन्नाप्रतियोगित्वात् । प्रतियोगिज्ञानसापेक्षत्वादभावस्य तथा चाभावज्ञानेऽनुपलब्धिप्रवृत्तिस्तदभावे प्रवृत्तेरेवासम्भवात् कुतस्तद्विषयताप्रत्याशेति भावः तत्सिद्धं परिशेषात् शास्त्रैकवेद्यं ब्रह्मेति ननु ब्रह्मणः शास्त्रज्ञाप्यत्वे परप्रकाश्यत्वप्रसक्त्या स्वप्रकाशत्वहानिस्तत्प्रतिपादकशास्त्रव्याकोपश्चेति चेन्न शास्त्रगतबोधकशक्तीनां तच्छक्त्यभिन्नत्वात् । ब्रह्मशक्तीनां च तत्परतन्त्रसत्ताकत्वेन तदपृथक्सिद्धत्वात् तद्गतप्रकाशकत्वं च स्वप्रकाशकत्वमेव तस्मान्नोक्तदोषावकाशः । नन्वेवं ब्रह्मशक्तीनामपरिच्छिन्नत्वेन स्वेतरज्ञकरणेष्वपि सद्भावात्तद्विषयत्वेऽप्युक्तन्यायेन क्षत्यभावात्स्वप्रकाशकत्वमेवाङ्गीकार्यं तथात्वे चान्यप्रमाणाविषयत्वो-

क्विभङ्ग इति चेत्सत्यं परमेश्वरीयशक्तीनां नेत्रज्ञकरणेषु व्याप्ति साम्येऽपि तत्तद्बुद्धिव्यवधानेन दोषवत्त्वसम्भवात् तद्विषयस्य न स्वप्रकाशत्वयोगः वेदे तु तद्व्यवधानाभावेन साक्षात्तद्विषयतया महद्वैषम्यमिति भावः । ननु "यतो वाचो निवर्त्तन्त" इत्यादिशब्दाविषयताया अपि डिण्डिमायमानत्वात्कथं शास्त्रैकवेद्यं ब्रह्मेति चेन्न श्रुतेः कात्स्न्येंन वाग् गोचरत्वनिषेधपरत्वादिति "प्रकृतैतावत्त्वंहि"ति सूत्रे वक्ष्यते ॥ ३ ॥

---

# सू० तत्तु समन्वयात् । १।१।४

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ननु समस्तस्यापि वेदस्य क्रियापरत्वेन तद्भिन्नविषयकाणां वेदान्तवाक्यानामप्यर्थवादवाक्यानां तत्प्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा परम्परया विधिवाक्यैकवाक्यतावक्तृत्वङ्कर्त्तृप्राशस्त्यप्रतिपादनेन विध्येकपरत्वात् कथमिव शास्त्रैकप्रमाणकं ब्रह्मेतिप्राप्ते राद्धान्तः तज्जिज्ञास्यं विश्वकारणं शास्त्रप्रमाणकं

ब्रह्मैव न कर्मादि तत्रैव प्रतिपादकतया कृत्स्नस्यापि वेदस्य समन्वयात् मुख्यवृत्त्याऽन्वयः । यद्वा वेदेषु तस्यैव प्रतिपादकतया समन्वयादितिसंक्षेपः । नच कर्मणि तत्समन्वयो वक्तुं शक्यः तस्य तु विविदिषोत्पादनेनैव नैराकङ्क्ष्यात् क्रत्वङ्गंब्रह्मेतितु बालभाषितम् तस्य सर्वकर्मकर्त्रादिकारकनियन्तृत्वेन स्वातन्त्र्यात् तत्फलदातृत्वाच्च प्रत्युतकर्मण एव विविदिषोत्पादनेन परम्परया तत्प्राप्तिसाधनीभूतज्ञानोत्पत्त्युपकारकत्वेन समन्वय इति निश्चीयते विविदिषाश्रुतेः ननु प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयकत्ववच्छब्दप्रमाणाविषयत्वस्यापि श्रुतिसिद्धत्वान्नशास्त्रैकप्रमेयं ब्रह्मेतिप्राप्ते ब्रूमः जिज्ञास्यं ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकमेव नान्यप्रमाणकम् समस्तश्रुतीनां साक्षात्परम्परया वा तत्रैव समन्वयात् तत्रलक्षणप्रमाणादिवाक्यानां स्वत एव तद्विषयकत्वेन शाण्डिल्यपञ्चाग्निमधुविद्यादिवाक्यानां प्रतीकादिप्रकारकाणां च परम्परया समन्वयः । यद्वा सर्वेषामपि वाक्यानां भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वेऽपि साक्षादेव ब्रह्मणि समन्वयः तत्तद्वाक्यविषयाणां सर्वेषामपि ब्रह्मात्मकत्वाविशेषेण मुख्यवाच्यत्वात्

नचैवं विषयनिषेधपराणां बाधः शङ्कनीयस्तेषां ब्रह्मस्वरूपगुणादिविषयकेयत्तानिषेधपरत्वेन समविषयत्वात् किञ्चात्र प्रष्टव्यो भवान् शब्दाऽविषयं ब्रह्मेतिवाक्यस्य वाच्यं ब्रह्माभिप्रेतं नवेति आद्ये वाच्यत्वसिद्धेरवाच्यत्वप्रतिज्ञाभङ्गः द्वितीये सुतरां वाच्यतेति तस्मात्सर्वज्ञः सर्वाचिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यः सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयस्तत्रैव सर्वं शास्त्रं समन्वेतीत्यौपनिषदानां सिद्धान्तः ॥ ४ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं श्रीकृष्णस्य वृहद्गुणशक्त्याश्रयस्य जगदभिन्ननिमित्तकारणस्य वेदैकप्रमाणकत्वमुक्तम् । इदानीं तदेव द्रढयितुं सर्ववेदसमन्वयम् तस्मिन् ब्रह्मणि सर्वेश्वरे दर्शयन् "आम्नायस्य क्रियार्थत्वा-

दानर्थक्यमतदर्थाना"मिति वदता जैमिनिना सर्वोपि वेदः क्रियायां योजितोऽक्रियार्थानामानर्थक्यविधानाद्वेदान्तानामपि क्रत्वङ्गकर्त्तृप्राशस्त्यप्रकाशनद्वारा क्रियायां समन्वयात्कथं वेदैकप्रमाणकम् ब्रह्मेत्याक्षेपं निराकरोति ॥ ४ ॥

---

तत्तु समन्वयात् ।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः तत् जिज्ञास्यं जगत्कारणम् ब्रह्मैव वेदैकप्रमाणकम् कुतः समन्वयात् वेदेषु तस्यैव समन्वयात् सम्यग्वाच्यतयाऽन्वयः समन्वयस्तस्मात् सर्वस्य वेदस्य वा तस्मिन् मुमुक्षुजिज्ञास्ये जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणे शास्त्रयोनौ प्रधानक्षेत्रज्ञकालकर्मादिनियन्तरि ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिकिरीटेडितपादपीठे निखिलदोषगन्धाऽघ्रातमाहात्म्ये सार्वज्ञाद्यनन्तगुणनिलये मुक्तोपसृप्ये ब्रह्मणि. श्रीकृष्णे सम्यग्वाचकतयाऽन्वयस्तस्मात् समन्वितश्च "यतो वा

इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च। सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयं। तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय। नारायणाज्जायते प्राणः नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो जायते। एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानः। ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्। ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदाहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्। आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत्। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। सर्वे वेदा यत्रैकी भवन्ति। अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां। यं सर्वे देवा नमन्ति। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। सर्वं खल्विदं ब्रह्म। य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः। यः सर्वज्ञः सर्ववित्। ब्रह्मविदाप्नोति परं। ब्रह्मैवेदं सर्व"मित्यादिवाक्यकदम्बस्तत्रैव। ननु पञ्चप्रकारवाक्यसमुदायस्तावत्समस्तो वेदः वाक्यानि च विधिनिषेधार्थवादमन्त्रनामधेयाख्यानि तत्र "ज्योतिष्टोमेन यजेत्स्वर्ग-

काम" इत्यादिविधिवाक्यम् "ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादिनिषेधवाक्यम् "वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवते"त्यादयोऽर्थवादाः "इषेत्वा अग्निर्मूर्द्धा दिव"इत्यादयो-मन्त्राः ज्योतिष्टोमाश्वमेधादीनि नामधेयानीति-तेषां विवेकः तथा चोपक्रमे "अथातो धर्मजिज्ञासे"ति सूत्रे वेदस्याध्ययनविधिकरणकभावनाविधि-भाव्यफलवदर्थपरत्वमुक्तम् "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म"इतिद्वितीये लक्षणसूत्रे धर्मे चोदनाप्रमाणमिति कार्यपरत्वव्याप्यं वेदप्रामाण्यं तत्र कार्य-परत्वमिति व्याप्त्या निर्णीतम् तत्र "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते"त्यर्थवादानां धर्मे प्रामाण्यमस्ति नवेति संशये पूर्वपक्षमाह "आम्नायस्य क्रियार्थत्वमानर्थक्यमतदर्थाना"मिति वेदस्य क्रिया एवार्थो विषयः प्रतिपाद्यो यस्य सक्रियार्थस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद्धेतोरर्थवादानां प्रामाण्यं नास्ति किं तर्हीत्याशङ्क्याह अतदर्थानामानर्थक्यमिति न सा क्रिया अर्थोयेषां ते त्वतदर्था अर्थवादादयस्तेषामानर्थक्यमर्थशून्यत्वमेवास्तु तथैव वेदान्तानामपि नहि "स्वाध्यायोऽध्येतव्य"इत्यध्ययनविध्युपात्तानां निष्फलब्रह्मपरत्वे प्रामाण्यं युक्तमितिप्राप्ते सिद्धान्त-

माह "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु"रिति अर्थवादानां विधिवाक्यैरेकवाक्यत्वात्तद्विधेयार्थानां स्तुत्यर्थेन स्तुत्यर्थरूपेण द्वारेणार्थवादाः प्रामाण्यं स्युरिति एवं च विधिनिषेधविधुराणां वेदान्तानां सिद्धार्थवस्तुवोधकानामपि मन्त्रार्थवादादिष्वेवान्तर्भावेणाध्ययनविध्युपात्तत्वात्सर्वथाऽनर्थक्यनिरासाय परम्परया साध्ये कर्मण्येवान्वयो युक्तः स्वातन्त्र्याभ्युपगमे निष्फलत्वापत्तेस्तेषां क्रत्वङ्गकर्तृत्वप्रतिपादनेन नैराकाङ्क्ष्यं वोध्यम् तत्र तत्त्वंपदार्थपराणां वाक्यानां कर्मकर्तृदेवतास्तावकत्वं तज्ज्ञानस्य च परविद्याख्यस्य फलस्तावकत्वं वेदान्तवाक्यानि न ब्रह्मपराणि क्रत्वङ्गकर्तृप्राशस्त्यप्रकाशनपरत्वादर्थवादवाक्यवदिति चेन्न स्वोत्प्रेक्षितकल्पनामात्रत्वात् कर्मणो मोक्षोपायभूतविद्योत्पादकत्वेन परम्परया ब्रह्मण्येव समन्वयाच्च "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेने"त्यादिश्रुतेः अत्र यज्ञेन विविदिषन्तीति अश्वेन जिगमिषतीतिवत् यदि यज्ञाख्यस्य करणस्य धात्वर्थेनान्वय-

स्तदा कर्मणो विद्यार्थत्वं तद्द्वारा ब्रह्मपरत्वं च ज्ञेयम् यदि तु सन्प्रत्ययस्य प्राधान्यात्प्रत्ययार्था-न्वयवशादिच्छार्थत्वं तदेच्छाद्वारा विद्याङ्गत्वं तद्द्वारा-ब्रह्मपरत्वं वोध्यम् विद्याङ्गत्वं कर्मणो वक्ष्यति च "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि"ति न च वेदान्त-वेद्यं वस्तु क्रत्वङ्गमिति वक्तुं शक्यम् तस्य सर्व-कर्मकर्त्रादिकारकानियन्तृत्वेन स्वातन्त्र्यात् न च वेदान्तानां विध्यङ्गत्वमर्थवादादिवद्वक्तुं शक्यम् भिन्नप्रकरणपठितत्वाद्विधिसान्निध्याभावाच्च नापि प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावरूपभूतार्थवोधकतया वेदान्तानां निष्फलत्वं वक्तुं शक्यम् वेदान्तवेद्यब्रह्मज्ञानस्य मोक्षरूपपरमश्रेयःफलवत्त्वात् नन्व "क्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन"इत्यादिना कर्मणोऽपि तद्वत्-फलश्रवणात्तत्र समन्वयो न दोषावह इति चेन्न "यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक" इत्यस्याः केवलकर्मजितो लोकोऽनित्यः कर्मैकप्राप्यत्वात्कृष्यादिवदित्यनुमा-नानुगृहीतायाः "प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपा" इति श्रुत्यन्तरदृढीकृतार्थायाः श्रुतेः प्रावल्यात् "अक्षय्यं ह वै चे"त्यादिश्रुतेर्दौर्वल्याद्दुर्वलवाक्यार्थे कर्मण-

तत्समन्वयस्थानौचित्याच्च "एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्यादिश्रुत्युक्तोऽर्थ-स्तु न केनापि वेदवचनेन विरुद्धयते नच शक्य-श्चाखण्डयितुमनुमानशतैः नच अक्षय्यमितिश्रुत्यर्थ-बाधः तस्या आपेक्षिकार्थपरत्वात् "आब्रह्मभुव-नाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय-पुनर्जन्म न विद्यत" इतिवेदपर्यायभूतायाः श्रीभ-गवत्स्मृतेरुभयत्र प्रामाण्याच्च ननु स्यादेतदुपनि-षद्भागस्य कथंचिद्ब्रह्मपरत्वं तत्र तथात्वदर्शनात्पू-र्वभागस्य तु "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति । ज्यो-तिष्टोमेन यजेत्स्वर्गकाम" इत्यादिना नित्यकाम्या-दिकर्मविधायकत्वेन निराकाङ्क्षत्वश्रवणात्कथं ब्रह्म परत्वमिति चेन्न कृत्स्नस्यापि वेदस्य ब्रह्मपरत्व-मेव कर्मादौ तस्य केनचिदंशेन कथञ्चिदन्वय-दर्शनेऽपि समन्वयस्तु ब्रह्मण्येव तत्रोपनिषद्भागस्य हि साक्षात्स्वरूपगुणादिप्रतिपादनपरत्वात्साक्षा दन्वयः तत्रापि चिदचिद्ब्रह्मस्वरूपपरत्वेन भेदवा-क्यानां सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनपरत्वेना-भेदवाक्यानां सृष्ट्यादिपराणां वाक्यानां जगत्क-र्तृत्वादिगुणप्रतिपादनपरत्वेन निर्गुणवाक्यानां

मायिकगुणनिषेधपरत्वेन सगुणावघनानां स्वाभाविकगुणप्रतिपादनपरत्वेन "यद्वाचाऽनभ्युदित" मित्यादीनामियत्तानवच्छिन्नत्वप्रतिपादनपरत्वेन चान्वयः नित्यनैमित्तिककर्मपराणां चाधिकारिसत्वशुद्धिसम्पादनद्वारा ब्रह्मविषयकज्ञानादिसहकारित्वेन काम्यपराणां चै"तस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती,,ति विषयस्यापि ब्रह्मानन्दलेशत्वात्तद्वारा ब्रह्मण्येवान्वयः । किञ्च काम्यानां मोक्षाधिकारिशुद्धदेवादिदेहोत्पादनद्वारा ब्रह्मविद्यापरत्वेन समन्वयः किञ्च संयोगपृथक्त्वन्यायेनः"दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया"दितिवाक्यान्तरेण "दध्ना जुहोती,,त्यनेन नित्यस्यापि दध्न इन्द्रियार्थत्वमिव स्वर्गाद्यर्थस्यापि कर्मणो विद्यार्थत्वं बोध्यम् "आप्रणखात्सुवर्ण" दिवाक्यानां च श्रीविग्रहपरत्वेन समन्वयः । यद्वा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मात्मकत्वात्तद्वाचकशब्दजातस्य साक्षात्तत्रान्वयः तस्मात्कृत्स्नस्य वेदस्य सर्वज्ञे स्वाभाविकानन्ताचिन्त्य शक्तौ जगत्कारणे ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे चिदचिद्भिन्नाभिन्ने श्रीकृष्णे समन्वय इतिसिद्धम् "वेदैश्चसर्वै रहमेव वेद्य"इति श्रीमुखवचनात् शास्त्रमूलभूता-

चतुःसूत्री व्याख्याता ऽस्या व्याख्यानभूतं शास्त्र-मिदम् ॥ ४ ॥

इतिश्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकश्रीभगवन्निम्बादित्यपादपङ्कजान्तेवासिपाञ्चजन्यावतारश्रीश्रीनिवासाचार्यविरचिते वेदान्तकौस्तुभभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे चतुःसूत्रीव्याख्या ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

"नन्वाम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु"रित्यादिभिर्भगवता जैमिनिना सर्वस्याऽपि वेदस्य क्रियापरत्वेन सूत्रितत्वात्तदन्तःपातिवेदान्तभागस्याऽपि कर्मण्येव समन्वयो युक्तः तथात्वे च कथं शास्त्रैकप्रमाणगम्यं ब्रह्मैवेत्यपि सिद्धान्तसम्भवः शास्त्रस्य तद्विषयकत्वाभावात् एतदुक्तंभवति पञ्चप्रकारवाक्यसमुदायस्तावत्समस्तो वेदः वाक्यानि च विधिनिषेधार्थवादमन्त्रनामधेयाख्यानि तत्र "ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम"इत्यादिविधिवाक्यं "ब्राह्मणो न हन्तव्य"इत्यादि निषेधवाक्यं "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते"त्यादयोऽर्थवादाः "इषेत्वा अग्निर्मूर्धादिव"इत्यादयो मन्त्राः ज्योतिष्टोमाश्वमेधादीनि

नामधेयानीति तेषां विवेकः तथाचोपक्रमे "अथातो धर्मजिज्ञासे" ति सूत्रे वेदस्याऽध्ययनविधिकरणकभावनाविधिभाव्यफलवदर्थ-परत्वमुक्तं "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म" इति द्वितीये लक्षणसूत्रे धर्मे चोदना प्रमाणमिति कार्यपरत्वव्याप्यं वेदप्रामाण्यं यत्र प्रामाण्यं तत्र कार्यपरत्वमिति व्याप्त्या निर्णीतं तत्र "वायु-र्वै क्षेपिष्ठा देवते" त्यर्थवादानां धर्मे प्रामाण्यमस्ति न वे ति संशये पूर्वपक्षमाह आम्नायस्येति वेदस्य क्रियाएवार्थो विषयप्रतिपाद्यो यस्य सक्रियार्थस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद्धेतोरर्थवादानां प्रामाण्यं नास्ति किं तर्हि इत्याशङ्क्याऽऽह अतदर्थानामानर्थ-क्यमिति न सा क्रियाऽर्थो येषां ते ऽतदर्थो अर्थवादादयस्तेषा-मानर्थक्यमर्थशून्यत्वमेवाऽस्तु तथैव वेदान्तानामपि न हि "स्वा-ध्यायोऽध्येतव्य" इत्यध्ययनविध्युपात्तानां निष्फलब्रह्मपरत्वे प्रा-माण्यं युक्तमिति प्राप्ते सिद्धान्तमाह "विधिना त्वेकवाक्यत्वा" दिति अर्थवादानां विधिवाक्यैरेकवाक्यत्वात्तद्विधेयार्थानां स्तु-त्यर्थेन स्तुत्यर्थरूपेण द्वारेणार्थवादाः प्रामाण्यं स्युरिति एवं च विधिनिषेधविधुराणां वेदान्तानां सिद्धार्थवस्तुबोधकानामपि मन्त्रार्थवादादिष्वेवान्तर्भावेणाध्ययनविध्युपात्तत्वात्सर्वथानर्थक्य-निरासाय परम्परया साध्ये कर्मण्येवान्वयो युक्तः स्वातन्त्र्या-भ्युपगमे निष्फलत्वापत्तेस्तेषां क्रत्वङ्गकर्तृप्रतिपादनेन नैरा-काङ्क्ष्यं बोध्यं तत्र तत्त्वंपदार्थपराणां वाक्यानांकर्मकर्तृदेवता-स्तावकत्वं तज्ज्ञानस्य च परविद्याख्यस्य फलस्तावकत्वं वेदा-न्तवाक्यानि न ब्रह्मपराणि क्रत्वङ्गकर्तृप्राशस्त्यप्रकाशनपरत्वाद-र्थवादवाक्यवदिति प्राप्ते उच्यते ॥

---

## तत्तु समन्वयात् ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः पूर्वोक्तरीत्या शास्त्रैकवेद्यं तत् उक्तलक्षणं ब्रह्मैव कुतः समन्वयात् सर्वशास्त्रस्य तत्रैव मुमुक्षुजिज्ञास्ये जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणे शास्त्रयोनौ जीवप्रधानकालकर्मादिनियन्तरि ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिकिरीटेडितपादपीठे निखिलदोषगन्धाघ्रातमाहात्म्ये सार्वज्ञ्याद्यनन्तगुणनिलये मुक्तोपसृप्ये ब्रह्मणि सम्यक् वाचकतया ऽन्वयात् समन्वितश्च "सविजिज्ञासितव्यः । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां । यं सर्वे देवा नमन्ति य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपि पासः । यः सर्वज्ञः सर्ववित् । ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्यादिवाक्यकदम्बस्तत्रैव यत्तुक्तं सर्वस्यापि वेदस्य क्रियापरत्वं तत्तुच्छं ब्रह्मतस्कराणां कपोलकल्पनामात्रत्वात् प्रत्युत समस्तधर्मजातस्य ब्रह्मविविदिषयैव मोक्षसाधनोपायभूततयोपक्षीणत्वात् कर्मणो मोक्षोपायभूतविद्योत्पादकत्वेन परम्परया ब्रह्मण्येव समन्वयाच्च विविदिषाश्रुतेः एतेनैव यदुक्तं क्रत्वङ्गकर्त्तृप्रतिपादनेन वेदान्तानां नैराकाङ्क्ष्यमिति तन्निरस्तं प्रत्युत कर्मण एव जिज्ञासोर्विशेषणत्वेन तदधिकारित्वसम्पादनेनैव नैराकाङ्क्ष्यात् "अर्थी समर्थो विद्वानधिकारीति" सूत्रे क्रियाविदएवाधिकारित्वनिरूपणात् शास्त्रं न कर्मपरं तस्य जिज्ञासोत्पादनेनोपक्षीणत्वात् रूपादिज्ञानोत्पादनेन चक्षुरादेरिवेत्यनुमानात् ननु सर्वेषां कारकाणां कर्मसाधनत्वात्कर्त्तुरपि कारकत्वाविशेषेण क्रियाङ्गत्वोपपत्तिः नच ब्रह्मण आप्तकामतया तद्भिन्नत्वेन कर्मकर्त्तृत्वाभावादिष्टा-

सिद्धेरिति वाच्यं ब्रह्मणस्तथात्वेऽपि जीवभिन्नत्वाऽभावात् "तत्त्वमस्या"दिवाक्यैः क्रत्वङ्गकर्त्तुः क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मत्वविधानेन स्तूयमानत्वात् न तद्भिन्नं किमपि ब्रह्मशब्दाभिधेयमस्तीति चेन्न मन्दानामन्धपरम्परोपदेशमात्रत्वात् न हि कर्मकर्त्रादिसर्वकारक-कलापनियन्तुः स्वतन्त्रस्य विश्वात्मनः परब्रह्मणः पराङ्गत्वं जीवात्पृथक्सत्त्वं चानुन्मत्तैः कैश्चिदपि वक्तुं शक्यं नाऽपि प्लवाह्येते "अदृढा यज्ञरूपा"इत्यादिश्रुतिनिन्दिते कर्मणि वेदान्तानां समन्वयो युक्तः अनाप्तत्वापत्तेः नहि स्वमुखेनैव निन्दां कृत्वा पुनस्तस्मिन्नेव निन्दाविषये स्वयं समन्वियात्सर्वज्ञो वेदः तथात्वे चोन्मत्तप्रलापवत्तस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् नाऽपि वेदान्तानां-विध्यङ्गत्वमर्थवादादिवद्वक्तुं शक्यं भिन्नप्रकरणपठितत्वाद्विधि-सान्निध्याभावाच्च नाऽपि प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावरूपभूतार्थबोधकतया वेदान्तानां निष्फलत्वं वक्तुं शक्यं वेदान्तवेद्यब्रह्मज्ञानस्य मोक्ष-रूपपरमश्रेयःफलवत्त्वात् "तमेव विदित्वा ऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय "यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यती"त्याद्यन्वयव्यतिरेक-सावधारणश्रुतिभ्यः ननु "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन"इत्यादि-ना कर्मणोऽपि ब्रह्मवत्स्तुतिश्रवणात्तत्र समन्वयो न दोषावह इति चेन्न वेदविषयः स एव यः सर्वत्र स्तूयते एव न तु क्वाऽपि निन्द्यते कर्मणस्तुस्तुतिनिन्दयोरुभयोर्विषयत्वदर्शनान्न शास्त्रसम-न्वितत्वमित्यर्थः "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते। नास्त्यकृतः कृते-ने"त्यादिना निन्दापूर्वकश्रेयःप्रतिबन्धकत्वश्रवणात् कर्मस्तुति स्तु बालानां प्रवर्त्तनार्थैव ननु स्यादेतदुपनिषद्भागस्य कथञ्चित् ब्रह्मपरत्वं तत्र तथात्वदर्शनात् पूर्वभागस्य तु "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम"इत्यादिना नित्यकाम्या-दिकर्मविधायकत्वेन नैराकाङ्क्ष्यश्रवणात्कथं ब्रह्मपरत्वमिति

चेन्न कृत्स्नस्याऽपि वेदस्य ब्रह्मपरत्वमेव कर्मादौ तस्य केनचित् भागेन कथञ्चिदन्वयदर्शनेऽपि समन्वयस्तु ब्रह्मण्येव तत्रोपनिषद्भागस्य साक्षात्तत्स्वरूपगुणादिप्रतिपादनपरत्वात्साक्षादन्वयः नित्यनैमित्तिककर्मपराणां चाधिकारिसत्त्वशुद्धिसम्पादनद्वारा ब्रह्मविषयकज्ञानाद्युपपादनेन काम्यानामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन तत्रैव परम्परया समन्वय इति विवेकः एकस्योभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति जैमिन्युक्त एकस्य कर्मण उभयत्वे ऽनेकफलसम्बन्धे संयोगः वाक्यस्योभयसम्बन्धबोधकता तस्य पृथक्त्वं भेदः यथा "खादिरे जुहोति खादिरैर्जुहुयाद्वीर्यकाम"इत्येकस्यैव खादिरकरणकस्य कर्मण उभयपरत्वं तथा प्रकृतेऽपि ज्योतिष्टोमादिकर्मणां स्वर्गादिफलकत्वे श्रूयमाणेऽपि विविदिषाश्रुतेर्ज्ञानार्थत्वमित्यवगमादित्यर्थः तस्मात् कृत्स्नस्याऽपि वेदस्य साक्षात्परम्परया वा ब्रह्मण्येव समन्वय इति सिद्धम् । विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः । एवं भूतस्य शास्त्रसमन्वितस्य ब्रह्मणः "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः निदिध्यासितव्य"इत्यादि श्रुतिप्रमितेन ध्यानेन "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य"इत्यादि वाक्योक्ततदनुग्रहसहकृतेन "भिद्यते हृदयग्रन्थि"रित्यादि मन्त्रप्रतिपादितात्तत्साक्षात्कारान्मोक्ष इत्यग्रे स्फुटी भविष्यति ॥ ४ ॥

इति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तक श्रीभगवन्निम्बादित्य
मतानुयायिधरामण्डलविजयि श्रीकेशवकाश्मीरि
भट्टाचार्य विरचितायां कौस्तुभप्रभाख्यसूत्रवृत्तौ
चतुःसूत्रीव्याख्यानम् ।

# सू० ईक्षतेर्नाशब्दम् १।१।५ ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

साङ्ख्याभिमतमचेतनं प्रधानं तु अशब्दम् 'श्रुतिप्रमाणवर्जितम् अतो नैव जगत्कारणम् जगत्कर्त्तुश्चेतनधर्म्मस्येक्षणस्य श्रवणात् ॥ ५ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं तावद्बृहद्गुणशक्तिस्वरूपं सर्वज्ञं सर्ववेदैकवेद्यं ब्रह्मैव जगज्जन्मादिकारणमित्युक्तम् इदानीं न ब्रह्म जगत्कारणमननुरूपत्वात् त्रिगुणमचेतनम् प्रधानं कार्य्यानुरूपत्वाज्जगत्कारणमस्ति हीति वदन्तः साङ्ख्याः "सदेव सौम्येदमग्र-आसी" दित्यादीनि वेदान्तवाक्यान्यपि तत्रैव

योजयन्ति तन्मतं निराकरोति भगवान् सूत्रकारः ॥

---

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।

आनुमानिकम् प्रधानं जगज्जन्मादिकारणम् भवितुं नार्हति कस्मादशब्दं हि तत् नास्ति शब्दः श्रुतिः प्रमाणं यत्र तदशब्दं हेतुगर्भं विशेषणमिदम् ननु "सदेव सौम्येदमग्र आसी" दिति छान्दोग्ये सच्छब्देन प्रधानमभिप्रेतं भवति कथमुच्यते ऽशब्दमित्यत्राह ईक्षतेरिति "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय"मित्युपक्रम्य "तदैक्षत वहु स्यां प्रजायेये" तिजगत्कर्त्तुरीक्षणश्रवणात् ऐतरीयेऽपितथा श्रूयते "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्स ईक्षत लोकानसृजा इति स इमांल्लोकानसृजत" इति अत्रधातुवाचकःईक्षतिशब्दः धात्वर्थभूतेक्षणपरो लक्षणया वोध्यः ईक्षणं पर्यालोचनमध्यवसायः

तच्चाचेतनस्य प्रधानस्य नोपपद्यते चेतनधर्मत्वात् अतईक्षणाहीनं प्रधानं श्रुत्या नोच्यते ऽतो युक्त मुक्तं भगवता ऽशब्दमिति, तस्मान्न तज्जगत्कारणं वेदवेद्यं चेत्यर्थः । नच सत्त्वगुणमाश्रित्य प्रधानस्य ज्ञानशक्तिमत्त्वमतईक्षणमुपपद्यत इति वाच्यम् 'जडस्य जडगुणस्यच ज्ञानत्वासम्भवात् ज्ञानवत्त्वासम्भवाच्च । नच पुरुषसंसर्गात्तथोपपत्तिरितिवाच्यम् लाघवतया नित्यसिद्धज्ञाने पूर्वोक्ते ब्रह्मणि वेदान्तवेद्ये जगज्जन्मादिकारणे सति परसङ्गमापतितज्ञानाश्रयणस्य गौरवात् तुच्छत्वाच्च । किंच साम्यावस्थायां तस्य गुणवत्त्वाभावाच्चत्यक्तं विस्तरेणातोजगज्जन्मादिकार्यानुरूपं कारणं सच्छब्दवाच्यमीक्षणाक्षमं ब्रह्मैव स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वात् "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रियाचे" त्यादिश्रुतेः ॥ ५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

एवं चतुःसूत्र्या सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्मैव सर्ववेदान्तवाक्य प्रतिपाद्यमित्युक्तम् इदानीं साङ्ख्यादिभिर्ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगम्यत्वं मन्यमानैः प्रधानादिपरतया योजितानां वेदान्तवाक्यानां परब्रह्मपरत्वेन समन्वयप्रकारं प्रपञ्चयति भगवान्सूत्रकार ईक्षतेर्नाशब्दमित्यादिभिः। तत्र"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय"मित्यादिवाक्यस्थजगत्कारणवाचिसच्छब्दवाच्यं प्रधानं वा ब्रह्म वेति संशये प्रधानमेवेति साङ्ख्या आहुः इदंशब्दवाच्यस्य वियदादिकार्यस्य तत्परिणामभूतत्वात् कार्यकारणयोश्चानन्यत्वेन प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरपि तत्र सम्भवात् ज्ञानकारणस्य सत्त्वस्य तत्र भावात्सर्वज्ञत्वस्य रजोगुणस्य भावात् क्रियाशक्तिमत्त्वस्य च प्रधाने सम्भवात्" तदैक्षत बहु स्या" मितिच गौणमीक्षणं भवितुमर्हति "तत्तेजऐक्षते" त्यादि गौणेक्षणसाहचर्यात् नहि चेतनस्य कारणता वाच्या चिन्मात्रस्य निर्धर्मकस्य कूटस्थत्वादितिप्राप्ते आह॥

---

## ईक्षतेर्नाशब्दम्।

न शब्दः श्रुतिः प्रमाणं यस्मिंस्तदशब्दमानुमानिकं प्रधानं जगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्यं न भवति कुतः ईक्षतेरीक्षितृत्वश्रवणात्

कारणस्य" तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय ।"सऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमांल्लोकानसृजत । सईक्षांचक्रे । स प्राणमसृजते" त्यादिश्रुतेः ईक्षणं नाम पर्य्यालोचनमध्यवसाय इतियावत् तस्य च चेतनासाधारणधर्मत्वेनाचेतने प्रधाने ऽसम्भवात् नापि प्रतिज्ञादृष्टान्तौ तत्र संभवतः चेतनस्य तत्कार्यत्वाभावेन एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायास्तत्रासम्भवादिति वक्ष्यति नापि सत्त्वादिमत्त्वेन ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वं घटते साम्यावस्थायां तस्य गुणवत्त्वाभावात् गुणसाम्यं प्रधानमिति निर्णीयमानत्वाच्च नापि निर्धर्मकं ब्रह्म तस्य ज्ञानक्रियादीनां स्वाभाविकशक्तीनां शास्त्रसिद्धत्वात्" पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाचे" त्यादिश्रुतेः अत ईक्षणाच्चमश्चेतनविशेषः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः पुरुषोत्तम एव सच्छब्दवाच्यः ॥ ५ ॥

---

## सू० गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।

१ । १ । ६ ।

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

गौणाचीक्षतिरयुक्ता कुतः आत्मश-ब्दात् ॥ ६ ॥

———

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु प्रपतनासन्नं कूलमालक्ष्य कूलं पिपतिषतीति शुष्कपङ्कां कृषिमालक्ष्य कृषिर्वृष्टिं प्रतीक्षत इतिचाचेतनयोः कूलकृष्योश्चेतनधर्मोपचारदर्शनात् "तत्तेजऐक्षत ता आपऐक्षन्ते" त्यचेतनयोरप्तेजसोरीक्षणश्रवणाच्च तद्वत्प्रधाने ऽप्यचेतने गौणमीक्षणमस्त्वित्याशङ्क्य समाधत्ते ॥

———

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।

प्रधानईक्षणधर्मो गौण इति चेन्न कस्मादात्मशब्दात् आत्मशब्दस्य प्रधाननिषेधितृत्वा-

भावसम्पादकस्य श्रवणात् तथाहि यदि सच्छब्देना चेतनं प्रधानं गृहीत्वा तस्मिन् गौणमीक्षणम् चाङ्गीक्रियते तदा "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इत्यात्मशब्देन सदेव सौम्येति तदै- क्षतेतिच पूर्वपठितसदीक्षितृपदार्थस्याचेतनस्य परामर्शः स्यात् तत्र स एव सत् ईक्षिता प्रधा- नलक्षण आत्मेति सदादिपदानामचेतनवचनानां भिन्नार्थानां परमेश्वरवाचकस्यात्मपदस्य भिन्ना- र्थस्य च सामानाधिकरण्यं विरुद्धमापद्येत आत्मशब्दस्य परमेश्वरवाचकस्य प्रधानपरत्वास- म्भवादित्यर्थः । तस्माद्गौणमपीक्षणमयुक्तमेव अप्तेजसोरपि देवताप्रवेशान्न गौणमीक्षणमिति दिक् ॥ ६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननूक्तं गौणमीक्षणं भवितुमर्हतीति प्रपतनासन्नं कूलमालक्ष्य कूलं पिपतिषतीति शुष्कान्कुरां कृषिमालक्ष्य कृषिर्वृष्टिं प्रतीक्षत इतिच लोकप्रसिद्धिवदचेतने प्रधानेऽपि चेतनवदीक्षण-मौपचारिकमेवास्तु कुतो मुख्येक्षितृत्वं विहायौपचारिकं कल्प्यते इति चेत् "तत्तेजऐक्षत ता आपऐक्षन्ते" तिचाचेतनयोरप्यप्तेज-सोश्चेतनवदुपचारदर्शनात् तस्मात्सकर्तृकमीक्षणमौपचारिक मिति गम्यते उपचारप्राये वचनादितिप्राप्ते आह।

### गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।

सच्छब्दवाच्यं प्रधानमीक्षणं तत्र गौणमिति चेन्न कुतः आत्म-शब्दादिति "सदेव सोम्येदमग्र आसी" दित्युपक्रम्य "ऐतदा-त्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इति सच्छब्दवाच्यस्यात्म शब्देन परामर्शदर्शनात् नहि चेतनं श्वेतकेतुं प्रत्यचेतनप्रधानस्या-त्मत्वोपदेशः सम्भवति कूलं पिपतिषतीत्यादौ तु संशयस्थल-त्वाद्युक्तं गौणत्वं "विषये प्रायदर्शना"दिति जैमिनिसूत्रात् प्रकृते तु गौणमुख्ययोर्गौणस्य जघन्यत्वेन संशयाभावात् तेजःप्रभृतीना-मपि तदात्मकत्वावगमात्तेजःप्रभृतीक्षणमपि मुख्यमेवेत्यभि-प्रायः ॥ ६ ॥

# सू० तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।

१।१।७

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सदीक्षित्रात्मादिपदार्थभूतकारणनिष्ठस्य विदुषस्तद्भावापत्तिलक्षणमोक्षोपदेशान्न प्रधानं सदात्मशब्दवाच्यम् ॥ ७ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु तर्हि चेतनाचेतनयोः साधारणोऽस्त्वात्मशब्दः क्रतुज्वलनयोर्ज्योतिःशब्दइव नात्र काचिदनुपपत्तिरित्यत्राह भगवान्बादरायणः ॥

---

## तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।

नाचेतनं प्रधानमात्मशब्दवाच्यं कुतः तस्मिन् सदादिशब्दाभिधेये ईक्षितरि तेजोऽवन्नादिकर्त्तरि निष्ठानिदिध्यासनापरपर्य्यायलक्षणा यस्य विदुषः सतन्निष्ठस्तस्य मोक्षोपदेशात् तथाहि तत्वमसीति मुमुक्षोः कारणात्मकत्वानुसन्धानमुपदिश्य "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति ब्रह्मभावापत्तिलक्षणमोक्षउपदिश्यते मुमुक्षुर्यावच्छरीरान्न विमोक्ष्यते प्रारब्धकर्मफलभोगप्रतिबन्धात्तावदेवास्यमुमुक्षोश्चिरं भवति भुक्ते तु कर्मफले प्रतिबन्धाभावादथ ब्रह्मभावं सम्पत्स्यते विमोक्ष्ये सम्पत्स्ये इत्युभयत्रोत्तमपुरुषप्रयोगः प्रथमपुरुषे छान्दसत्वाज्ज्ञेयः यदि स आत्मा इत्यात्मशब्दः प्रधानपरस्तदा तत्वमसीतिवाक्यस्थेन तच्छब्देन तदेव परामृश्येत ततस्तत्त्वमसिप्रधानात्मकोऽसीति महाननर्थापातः स्यात् अचेतनात्मकोऽस्मीति ध्यानेन मोक्षाद्धि व्याहन्येत प्रकृते तूक्तलक्षणं ब्रह्मतत्पदवाच्यम् तस्य शक्त्यप-

रपर्यायांशभूत उक्तलक्षणोजीवस्त्वम्पदार्थः तत्र चांशांशिनोःसर्वलोकवेदप्रसिद्धगुणगुणिवद्भेदाभेदः सम्बन्धः तत्र स्वरूपेण जीवस्य ब्रह्मभिन्नत्वेऽपि पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यभावाद्ब्रह्माभिन्नत्वम् तस्यानादि-मायावृतत्वात्तादृशाभेदज्ञानं नास्ति तत्रोच्यते तत्त्व-मसीति तत्पदार्थादभिन्नोऽसीत्यर्थः मोक्षाव-स्थायामपि भिन्नस्वरूपएव ब्रह्मभावापन्नस्तदति-रिक्तस्थितिप्रवृत्त्यभावात्तदभिन्नोज्ञेयः परमं साम्य-मुपैतीतिगम्यगन्तृभावावगमात् "सोऽश्नुते सर्वा-न्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते" ति सहश्रुतेश्च अतः-सदात्मादिशब्दैर्ब्रह्मैवाभिधीयते ॥ ७ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

नन्वात्मशब्दोऽपि चेतनाचेतनसाधारणोदृश्यते तत्कुतआत्मश-ब्दाद्गौणमीक्षणमितिचेत्तत्राह ॥

---

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।

तस्मिन्कारणे निष्ठा यस्य तस्य तत्त्वमसीति तदात्मकत्वानुसन्धानमुपदिश्य "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इतिशरीरपातविलम्बो ब्रह्मभावापत्तिलक्षणामोक्ष उपदिश्यते यदि चेतनं मुमुक्षुं श्वेतकेतुं प्रत्यचेतनम् कारणमुपदिश्येत तदा तदात्मकतया प्रत्यगात्मानुसन्धानस्य मोक्षसाधनत्वोपदेशो नोपपद्येत अन्यथाऽचेतनत्वापत्तिरेव मोक्षः स्यात् साच प्रधानकारणवादिमते ऽपि नाङ्गीक्रियते अतः सदात्मशब्दवाच्यं परं ब्रह्मैव ॥ ७ ॥

---

# सू० हेयत्वावचनाच्च । १ । १ । ८ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्वज्ञेन हितैषिणाऽसदादिशब्दैरुपदिष्टस्याचेतनस्य मोक्षे हेयस्य हेयत्वमवश्यं वक्तव्यमुपदेशोऽप्ययोजनश्च वक्तव्यम तदुभयवचनाभावान्न सदादिपदवाच्यम् प्रधानम् ॥ ८ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

### हेयत्वावचनाच्च ।

यद्यचेतनं प्रधानमेव सदीक्षितृप्रभृतिशब्दवाच्यत्वेनोपदिष्टं स्यात्तर्हि तन्निष्ठानिवारणाय ब्रह्मोपदिदेशयिषुर्हितैषि सर्वज्ञं शास्त्रं तस्य हेयत्वं ब्रूयात् यथाऽयुक्तं किञ्चिदादातुमुद्यन्तं पुत्रं माता ब्रूते नेदं पुत्र युक्तमिति नचेह तद्धेयत्ववचनमस्ति प्रत्युत "स आत्मा तत्त्वमसी" ति तादात्म्यमुपदिश्यते तदुपदेशप्रयोजनवचनाभावसमुच्चयार्थश्चशब्दः ॥ ८ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

### हेयत्वावचनाच्च ।

यद्यचेतनं प्रधानमेवात्र सच्छब्दवाच्यतयोपदिष्टं स्यात् तर्हि तन्निष्ठावारणाय मुमुक्षुं श्वेतकेतुं प्रति तस्य हेयत्वमेव श्रुत्योच्येत नच तथोच्यते प्रत्युत "तत्त्वमसि तस्य तावदेव चिर" मित्युपादेयत्वेनोपदिश्यते अतः परं ब्रह्मैव ॥ ८ ॥

---

# सू० प्रतिज्ञाविरोधात् १।१।९॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

किञ्चैकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधादपि नाचेतनकारणवादः साधुः ॥ ९ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रतिज्ञाविरोधात् ।

प्रधानं नजगत्कारणं कस्मादेकविज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधात् तथाहि "उत तमादेशमप्राक्षोयेनाश्रुतं श्रुतंभवति अमतं मतमविज्ञातंविज्ञात" मिति "कथं नुभगव स आदेशोभवती"त्येकविज्ञानात्सर्वविज्ञानोपक्रमः श्रूयते सहिं विरुद्ध्येत प्रधानविज्ञानात्तद्विकारज्ञानेऽपि चिदचिन्मिश्रकृत्स्नकार्य-

विज्ञानप्रतिज्ञा न सिद्ध्येत चेतनस्य प्रधानकार्य त्वाभावेन तज्ज्ञानासम्भवात् ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

प्रतिज्ञाविरोधात्।

प्रधानकारणवादे "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादिः कारणविज्ञानेन चिदचिन्मिश्रकृत्स्नकार्यविज्ञानप्रतिज्ञा च विरुध्येत चेतनस्य प्रधानकार्यत्वाभावेन तज्ज्ञानेन तज्ज्ञानासम्भवात् ॥ ९ ॥

## सू० स्वाप्ययात् ॥ १ । १ । १० ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सच्छब्दार्थं जगत्कारणम् प्रकृत्य "स्वप्नान्तमेव सौम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवतीत्या"दिनोक्तस्यार्थस्य

चेतनकारणाज्जगतेरसम्भवात् ब्रह्मैव जगत्कारणं युक्तम् ॥ १० ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

स्वाप्ययात् ।

स्वस्मिन् स्वकीये कारणे सदेव सौम्येत्यादिना प्रस्तुते ब्रह्मणि अप्ययाल्लयात् सदादिपदैर्ब्रह्मैवो- च्यते न प्रधानं तस्य कारणत्वेन लयश्रुतिर्विरुध्येत तथाचश्रुतिः यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मा- देनं स्वपितीत्याचक्षते स्वंह्यपीतो भवतीति तद्यथा प्रियया स्त्रिया परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद न चा- न्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तर,, मितिश्रुत्यन्तरञ्च ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्वाप्ययात् ।

"स्वमपीतो भवति सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" इति-सुषुप्तस्य जीवस्य स्वकारणे लयः श्रूयते प्रधानस्य कारणत्वे लय-श्रुतिर्विरुध्येत प्रधानस्य जीवकारणत्वाभावात् ॥ १० ॥

---

## सू० गतिसामान्यात् १ । १ । ११ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतेस्तुल्यत्वात् अचेतनकारणंवादो नहि युक्तः ॥ ११ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

गतिसामान्यात् ।

इतोऽपि न प्रधानं सच्छब्दवाच्यं सर्वासूपनिषत्सु

चेतनैकजगत्कारणत्वस्य गतेरवगतेः समानत्वा-च्चेतनं ब्रह्मैव जगज्जन्मादिकारणं न पुनर्वेदान्तेषु किञ्चिदपि विरुद्धमुपलभ्यते क्वचिच्चेतनं कारणं क्वचिदचेतनमिति अत्र सच्छब्देनाचेतनग्रहणे चेतनकारणाभिधायिवाक्यकदम्बविरोधः स्यादि-तिभावः ॥ ११ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

गतिसामान्यात् ।

सर्वासूपनिषत्सु चेतनैककारणत्वस्य गतेरवगतेः समानत्वा-च्चेतनं ब्रह्मैव कारणं नहि तार्किकाणामिव वेदान्तशास्त्रस्य भिन्ना-कारणावगतिर्यया प्रधानस्यापि क्वचित्कारणत्वं वक्तुं शक्येत ॥ ११

---

# सू० श्रुतत्वाच्च १ । १ । १२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तस्मात्सदादिशब्दाभिधेयस्य सर्वज्ञस्य सर्व-

नियन्तुः सर्वेश्वरस्य चेतनत्वेन कारणत्वस्य श्रुतत्वान्न प्रधानग्रहः ॥ १२ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

श्रुतत्वाच्च ।

अस्यामुपनिषदि "आत्मन एवेदं सर्व"मित्यादौ आत्मत्वेन सच्छब्दवाच्यस्य सर्वकारणतायाः श्रुतत्वात् चशब्दादुपनिषदन्तरे ऽपि तथात्वश्रवणाच्च तत्र श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि श्रूयते "ज्ञः कालकालो गुणिसर्वविद्यः स कारणं कारणाधिपाधिपः न चास्य कश्चिज्जनिता नचाधिप" इति कौषीतकिनः समामनन्ति "एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनम् विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका" इति एवमन्यत्रापि ग्रन्थवृद्धिभयादुपरम्यते तस्मादचेतनं प्रधानमानुमानिकं न जगत्कारणं चेतनमधिष्ठातारं विना सङ्घातकर्तृत्वायोगात् प्रधानस्याधिष्ठातृशक्तित्वस्वीकारे

ऽस्मत्पक्षप्रवेशाच्च । किन्तु सर्ववेदैकवेद्यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणभूतः सच्छब्दवाच्योब्रह्मादिशब्दाभिधेयः श्रीकृष्णएवेतिसिद्धम्* ॥ १२ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

श्रुतत्वाच्च ।

अस्यामेवोपनिषदि सच्छब्दवाच्यपरमेश्वरस्यैव "आत्मन एवेदं सर्व" मित्यात्मत्वेन सर्वकारणत्वस्य श्रुतत्वात् चशब्दादुपनिषदन्तरे ऽपि "स कारणं कारणाधिपाधिपः नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिप" इत्यादिना, अतः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्दिव्यगुणनिधिः सर्वेश्वरः पुरुषोत्तम एव सर्वजगत्कारणमितिसिद्धम् । एतेन जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणश्चैतन्यगुणयोगित्वपारमार्थिकमुख्येक्षितृत्वादिगुणयोगित्वादेः श्रुतिमुखेन प्रतिपादितत्वात् प्रधानवाद इव

---

* इति पञ्चमाधिकरणम् ।

निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मवादो ऽपि सूत्रकारेण निरस्तः* ॥ १२ ॥

---

# सू० आनन्दमयोऽभ्यासात् । १ । १ । १३ ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आनन्दमयः परमात्मैव नतु जीवः कुतः परमात्मविषयकानन्दपदाभ्यासात् ॥ १३ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं खलु प्रधानकारणवादनिरासव्याजेनाचिद्वर्गात्स्वरूपतोभिन्ने ब्रह्मणि सदेव सौम्येदमित्यादिश्रुतीनां समन्वयो दर्शितः इदानीं चेतनवर्गादपि निरतिशयानन्दवत्त्वेन स्वरूपतो हि

---

* इतिपञ्चमाधिकरणम् ।

भिन्ने ब्रह्मणि आनन्दमयादीनां श्रुतीनां समन्वयं दर्शयति ॥

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।

तैत्तिरीयके अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयकोशचतुष्टयमनुक्रम्याम्नायते "तस्माद्वा—एतस्माद्विज्ञानमयादन्योन्तरात्माऽऽनन्दमयस्तेनैष पूर्ण" इति, तत्र संशयः किमत्रानन्दमयपदेन प्रत्यगात्मोच्यते उत परमात्मेति किम् तत्र युक्तम् "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये"तिशारीरत्वश्रवणात् "अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुद्ध्यन्ता" मितिश्रुत्यन्तरे आनन्दमयस्य शोध्यत्वश्रवणाच्च नित्यशुद्धस्य परमात्मनः शोध्यत्वासम्भवाच्च आनन्दमयः प्रत्यगात्मेतिप्राप्ते ब्रूमः, आनन्दमयः निरतिशयानन्दवान् परमात्मैव कस्मात् अभ्यासात् परमात्मनि पुरुषोत्तम एवानन्दशब्दस्य बहुकृत्वो ऽभ्यस्यमानत्वात् "यद्देष आकाश आनन्दो नस्यात् । एष ह्येवानन्दयाति

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजाना" दित्यादिना अपिच "सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवती" त्यारभ्य आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान्न बिभेति कुतश्चने" त्यन्तस्य वाक्यस्य ब्रह्मानन्दे एव निरतिशयापरिमितत्वप्रतिपादनेनस-माप्तिदर्शनात् । नन्वानन्दपदस्यैव तत्राभ्यासोऽस्ति नत्वानन्दमयस्येति चेन्न "वसन्ते ज्योतिषा यजेत" त्यत्र ज्योतिः शब्दस्य ज्योतिष्टोमपरत्ववदानन्दपद-स्याप्यानन्दमयपरत्वात् । यत्तूक्तं शारीरत्वश्रवणान्न-परमात्माऽऽनन्दमय इति तत्र सर्वेष्वन्नमयादिषु तन्नि-यन्तृत्वेन वर्तमानत्वात्परमात्मनः शारीरत्वव्यप-देशः सङ्गच्छते । आन्दमये तु "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये" तिनिर्देशस्तस्यानन्यात्मत्वं दर्श यति शुद्ध्यन्तामित्यस्य च प्रसाध्यन्तामित्यर्थः ॥ १३ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा

एवं चेतनभोग्यभूतप्रधानशब्दोदितजडवर्गाज्जिज्ञास्यं ब्रह्म-

व्यतिरिक्तमित्युक्तमिदानीं चेतनवर्गादपि निरतिशयानन्दवत्त्वेन तस्य व्यावृत्तिः प्रतिपाद्यते ।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।

तैत्तिरीयके अन्नमयादिचतुःपुरुषानुक्रम्याम्नायन्ते" तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयस्तेनैष पूर्ण" इति तत्र किमयमानन्दमयशब्दवाच्यः प्रत्यगात्मा उत परमात्मेति संशये, प्रत्यगात्मेति पूर्वःपक्षः कुतः" तस्यैष एव शारीर आत्मे" त्यानन्दमयस्य शरीरसंवन्धित्वश्रवणात् तच्च प्रत्यगात्मन एव युक्तं अन्नमयादिगौणार्थप्रवाहपतितत्वाच्च । किंच" अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ता" मितिश्रुत्यन्तरे आनन्दमयस्य शोध्यत्वश्रवणात् नित्यशुद्धस्य परमात्मनः शोध्यत्वासंभवादितिप्राप्ते राद्धान्तःआनन्दमयः परमात्मा कुतोऽभ्यासात् तत्रैवानन्दशब्दस्य वहुकृत्वो ऽभ्यस्यमानत्वात्" यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयाति आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादित्यादिना अपिच "सैषा ऽऽनन्दस्य मीमांसा भवती" त्यारभ्य आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चने"त्यन्तस्य वाक्यस्य ब्रह्मानन्द एव निरतिशयापरिमितत्वप्रतिपादने च समाप्तिदर्शनात् । किञ्च श्रुत्यैव विज्ञानमयशब्दवाच्याज्जीवादन्यत्वेनोत्कृष्टत्वेनान्तरत्वेनान्तर्यामित्वेन च प्रतिपादितत्वात् नहि जीवस्य स्वस्मात्स्वस्योत्कृष्टत्वम् स्वान्तर्यामित्वं च घटते नच विज्ञानमयशब्दो वुद्धिपरः मयटो वैयर्थ्यापत्तेः नच प्राणमय इव स्वार्थे मयडिति वाच्यं प्राणमये ह्यगत्या तथाऽङ्गीकारः अत्रतु तद्वतो जीवस्य सत्त्वात् "विज्ञानं यज्ञं तनुत" इत्युत्तरश्लोकस्य विज्ञानशब्दे ऽपि "कृत्यल्युटो बहुल" मितिसूत्रात् नन्द्यादित्वाद्वा

कर्त्तरि ल्युंट् यच्चूक्तं शारीरत्वश्रवणान्न परमात्मे"ति नैष दोषः तस्य सर्वेष्वन्नमयादिषु तन्नियन्तृत्वेन वर्त्तमानत्वात् आनन्द-मये तु "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य "इतिनिर्देश-स्तस्यानन्यात्मत्वं दर्शयति आत्मान्तरानिर्देशात् नाप्यन्नमयादि-गौणार्थप्रवाहपतितत्वात्तस्यापि गौणत्वं निर्णेतुं शक्यं तस्य सर्वान्तरत्वेन सर्वपरत्वेन च प्रतिपादितत्वात् शुद्धचन्तामित्य-स्य च प्रसाध्यन्तामित्यर्थः । अत आनन्दमयशब्दनिर्दिष्ट आकाशा-दिजगत्कारणभूत आत्मा ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ १३ ॥

---

## सू० विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ११।१।१४॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विकारार्थे मयट्श्रवणान्नानन्दमयः परमा-त्मेति चेन्न कस्मात्प्राचुर्यार्थकस्यापि मयटः स्मर-णात् ॥ १४ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः।

### विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्।

नन्वानन्दमयः परमात्मा भवितुं नार्हति कुतो विकारशब्दात् विकारार्थकमयट्प्रत्ययस्य श्रवणात् "मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयो"रितिप्रकृत्य "नित्यं वृद्धशरादिभ्य" इतिविकरार्थे मयट् स्मर्यते मृन्मयो घट इत्यादौ लोके पर्णमयीशालाजुहू-रित्यादौ वेदे विकारे मयट्प्रत्ययदर्शनाच्चेति चेन्न कुतः प्राचुर्य्यात् प्रचुरतायामपि "तत्प्रकृतवचने मय"डिति मयट् स्मर्यते अन्नमयो यज्ञ इत्यादौ प्राचुर्ये मयट्प्रत्ययदर्शनाच्च नच ब्रह्मण आनन्दमय-त्वाङ्गीकारात् किञ्चिदनानन्दत्वमपि स्यादितिवाच्यम् इह प्राचुर्यस्य प्रभूतत्वापरपर्यायत्वात्। तथाहि महदादिशरीरपर्य्यन्तेषु मध्ये शरीरमन्नविकार-त्वादन्नमयः पुरुष इत्युच्यते तदन्यस्तद्विधारकः प्राणमयः तदन्यस्तदुभयविधारको मनोमयः तद-न्यस्तत्त्रिकनियन्ता विज्ञानगुणो जीवात्मा विज्ञा-

नमयः पुरुष इत्युच्यते त्रयाणां पुरुषाणामचेत-
नानां ज्ञानस्वरूपो विज्ञानगुणो नियन्ता भवति
तस्य विज्ञानगुणस्य गुणिनो ज्ञानस्वरूपत्वं द्विती-
याध्याये स्फुटी भविष्यति कथंतर्हि "विज्ञानं यज्ञं
तनुते,, इति केवलधर्मनिर्देशः शृणु ज्ञातुः स्वरूप-
मपि स्वप्रकाशमस्ति तत्रापि विज्ञानपदप्रयोगः
कर्त्तरि प्रत्ययो वा वोध्यः नपुंसकत्वं वस्तुत्वाभिप्रा-
येण अतएव काण्वपाठे "योविज्ञाने तिष्ठन्नि"
ति माध्यन्दिनपाठे च "य आत्मनि तिष्ठ"न्निति शब्द-
भेदेऽपिनिविरूपो ऽर्थस्त्वेकएव अत एव च "विज्ञानं
यज्ञं तनुते कर्माणि तनुते ऽपि चे" तिसङ्गच्छते
केवलस्य गुणभूतस्य विज्ञानस्य कर्त्तृत्वासम्भवात्
सच विज्ञानमयशब्दार्थो जीवः सएको मानुष
आनन्दइति "रसंह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती".
तिच श्रुत्यन्तरादानन्दवान् ज्ञातव्यः तदल्पानन्दापे-
क्षया प्रभूतानन्दनिधिः परमपुरुषः सर्वेषां नियन्ता
"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्माऽऽनन्द-
मय" इतिनिर्दिष्टः। किंच परमपुरुषस्य सर्वेषु वेदा-
न्तेषु स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषस्यैकस्यैव प्रतिपा-
दितत्वान्नास्ति तत्राल्पतराऽनानन्दगन्धवातस्पर्शो

ऽपीति संक्षेपः ॥ १४ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ।

ननु नायमानन्दमयः परमात्मा विकारशब्दात् विकारार्थ-मयटः श्रवणात् "मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयो" रिति प्रकृत्य "नित्यम् वृद्धशरादिभ्य" इति विकारार्थे मयट् स्मर्यते अन्नमय इत्युपक्रमे तस्यैव दर्शनात् इति चेत्तत्राह नेति कुतः प्राचुर्यात् प्रचुरतायामपि "तत्प्रकृतवचने मय" डिति मयटः स्मरणात् आनन्दप्रचुरत्वञ्च मनुष्यानन्दमारभ्योत्तरोत्तरशतगु-णितानन्दमुक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयापरिमितत्वाभिधानात् किञ्च मयड्वैतयोरितिपूर्वसूत्रान्नित्यं वृद्धशरादिभ्य इत्यत्र भाषायामित्यनुवृत्तेर्विकारावयवयोर्मयटो भाषाविषयत्वेन प्रकृते छन्दसि विकारार्थे मयट् न सम्भवति पर्णमयी जुहूरित्यादौ तु "द्व्यचश्छन्दसी" तिविधानबलादुपपद्यते प्रकृते त्वानन्दशब्दस्य द्व्यच्त्वाभावात् जीवे ऽपि "न जायते म्रियते वा विपश्चि" दिति-विकारप्रतिषेधः किमुत परमात्मनि विकारशङ्का नच प्रचुरान-न्दवत्त्वे ऽप्यल्पदुःखवत्त्वमवर्जनीयमिति वाच्यं, प्रकाशमयः सूर्य इति सूर्यस्य प्रकाशप्रचुरत्वे कथिते तद्विरोधितमोऽल्पत्वस्य तत्राप्रतीतेः नहि तत्र स्वगततमोऽल्पत्वापेक्षं प्रकाशप्रचुरत्वं किन्तु

व्यभिकरणचन्द्रादिगतप्रकाशाल्पत्वापेक्षं एवं व्यभिकरणजीवगतानन्दाल्पत्वापेक्षमेव ब्रह्मण्यानन्दप्रचुरत्वम् तस्मात्प्राचुर्यार्थे मयट् तत्र हेतुः ॥ १४ ॥

---

# सू०. तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥
## १ । १ । १५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवानन्दहेतुत्वादपि परमात्मैवानन्दमयः ॥ १५ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।

तस्य पूर्वपक्षे आनन्दमयत्वेन शङ्काविषयो

योजीवस्तदानन्दस्य हेतुरयमेवेति व्यपादिशति श्रुतिः "एषह्येवान्दयाती"ति आनन्दयतीत्यर्थः यो ऽन्येभ्यो धनं विद्यांच प्रयच्छति सप्रचुरधनः प्रचुरविद्यो यथैवं पुरुषोत्तमो ऽपिजीवानानन्दतीति प्रचुरानन्द इत्यर्थः अत्र यथा सकलतमोनिरसनस्वभावे भगवति भास्करे तेजोमय इतिप्रयोग एवमेव सर्वकारणे समानातिशयशून्ये सर्वनिरानन्दलेशस्पर्शवर्जिते भगवति प्रकृते ऽप्यानन्दमयप्रयोगः सूपपन्नः ॥ १५ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।

यतस्तस्य जीवानन्दस्य हेतुरयमेवेति व्यपदिशति श्रुतिः "एषह्येवानन्दयाती"ति दीर्घश्छान्दसः यो ह्यन्यानानन्दयति सप्रचुरानन्दो यथा लोके योऽन्येभ्यो विद्यां प्रयच्छति स प्रचुरविद्य इति तस्मादानन्दयितव्यानां जीवानामानन्दयतानन्दमयशब्दवाच्यः परमात्मैव ॥ १५ ॥

---

# सू० मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते

१ । १ । १६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति मन्त्रप्रोक्तं मान्त्रवर्णिकं तदेवानन्दशब्देन गीयते ॥ १६ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ।

"ब्रह्मविदाप्नोति पर" मित्युपक्रम्य "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । योवेद निहितं गुहाया" मितिमन्त्रवर्णेन यत्प्रोक्तं तन्मान्त्रवर्णिकं जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मैव "तस्माद्वा एतस्मादन्यो ऽन्तरात्माऽऽनन्दमय" इति ब्राह्मणेनापि गीयते मन्त्रब्राह्मणयो-

ऽर्थाख्येयऽथाख्यानयोरेकांवेषयत्वात् अतः आनन्द-
मयः परमात्मैव ॥ १६ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तत्रहेतूनाह ।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते

मन्त्रवर्णेनोक्तं यन्मान्त्रवर्णिकं ब्रह्मैवानन्दमय इति गीयते तथाहि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इतिब्राह्मणेन यद्ब्रह्मजीवप्राप्यतयोपक्रान्तं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" तिमन्त्रेण च सत्यत्वादिधर्मविशिष्टम् यन्निश्चितं मध्ये च "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिभिर्यद्विशदीकृतं तदेव ब्रह्मेहान्यो-"ऽन्तर आत्मा आनन्दमय" इत्युच्यते मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकविषयत्वादतआनन्दमयः परमात्मैव ॥ १६ ॥

# सू० नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १।१।१७॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आनन्दमयपदार्थमुद्दिश्य श्रूयमाणानां तदसाधारणधर्माणां तदितरस्मिन्ननुपपत्तेरितरोजीवो नानन्दमयपदार्थः ॥ १७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

नेतरो ऽनुपपत्तेः ।

इतरो जीवो नान्दमयपदेनात्र ग्राह्यः कुतः अनुपपत्तेः आनन्दमयं प्रकृत्य "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय । स इदं सर्वमसृजत" इत्यादि श्रूयमाणां सर्वजगत्कर्त्तृत्वादि जीवे नोपपद्यते तस्मादानन्दमयं ब्रह्मैव । यद्वा ब्रह्मेतरो जीवो न मान्त्रवर्णिकः

विद्वत्प्राप्यत्वादिगुणानां मान्त्रवर्णिकासाधारणानां तदितरत्रानुपपत्तेरिति योजना बोध्या ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत्र केचिदाहुः नहि परमेश्वरादन्यः कश्चित्प्रत्यगात्मा "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे" त्यादिश्रुतेरुपहितेश्वरस्यैव जीवस्य सतो मुक्तावस्थं निर्विशेषचिन्मात्रैकरसं परिशुद्धस्वरूपम् मान्त्रवर्णिकम् प्राप्यप्राप्तृत्वव्यपदेशस्तु घटाकाशादिवदुपाधिकृतभेदाङ्गीकारेणातस्तदनतिरिक्तआनन्दमय इति प्राप्ते आह ॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ।

ब्रह्मण इतरो भिन्नो जीवात्मा मुक्तावस्थोऽपि, मान्त्रवर्णिको न भवति कुतः अनुपपत्तेः विद्वत्प्राप्यत्वनिरुपाधिकविपश्चित्त्वजगत्कारणत्वाद्यसाधारणगुणानां परमात्मेतरस्मिन्ननुपपत्तेः ॥ १७ ॥

# सू० भेदव्यपदेशाच्च ॥

॥ १ ॥ १ १८ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती"ति वाक्येन लब्धृलब्धव्ययोर्भेदव्यपदेशाज्जीवो नानन्दमयः ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

भेदव्यपदेशाच्च ।

इतश्चानन्दमयो मान्त्रवर्णिको वा न प्रत्यगात्मा कस्माज्जीवपरयोर्भेदेन व्यपदिश्यमानत्वात् तथाहि "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती" त्यानन्दमयस्य मान्त्रवर्णिकस्य परमात्मनो लब्धव्यत्वेन जीवस्य लब्धृत्वेन भेदव्यपदेशः नहि लब्धैव लब्धव्यो भवति जीवब्रह्मणोः स्वरूपतोहि भेदोऽन्यथा गुणसाङ्कर्यापत्तिः स्यादित्युभयसूत्र-

तात्पर्यार्थः ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भेदव्यपदेशाच्च ।

"विज्ञानमयादन्योऽन्तरः" रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदे"त्यादिभिः स्वाभाविकजीवेश्वरभेदस्य व्यपदेशाच्च न मान्त्रवर्णिको विज्ञानात्मा "नान्यो तोऽस्ती" ति वाक्यस्य तु प्रत्यगात्मस्वातन्त्र्यद्रष्टृत्वश्रोतृत्वादिनिषेधपरत्वात् अन्यथा "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वादि"त्यादि स्वाभाविकद्रष्टृत्वादिप्रतिपादकाभ्याससहकृतशास्त्रव्याकोपात् । यत्तूक्तं घटाकाशवदुपहितईश्वर एव जीव इति तन्न तस्य निष्क्रियत्वे गत्याद्यनुपपत्तेः सक्रियत्वे चेश्वराभिन्नत्वेन विभुत्वात्सुतरां गत्याद्यनुपपत्तेः नच स्वरूपतो निष्क्रियत्वे ऽपि उपाधेः परिच्छिन्नत्वात्तत्क्रियाश्रैतने ऽध्यस्य घटगती स्तदवच्छिन्नाकाशे ऽध्यस्य घटाकाशश्चलतीतिवत् देवदत्तश्चलतीति व्यावहारिकगत्याद्युपपत्तिरिति वाच्यम् । तथात्वे चर्णां चणो बन्धमोक्षापत्तिरित्यादिदोषाणां पूर्वमेवोक्तत्वात् ॥ ॥ १८ ॥

## सू० कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥

## १ । १ । १६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रत्यगात्मनः कारणत्वस्वीकारे ऽनुमानस्य प्रधानस्य कारणादिरूपस्यापेक्षा भवेत्कुलालादेर्घटादिजनने मृदाद्यपेक्षावत् अप्राकृतस्यानन्दमयस्य सर्वशक्तेः पुरुषोत्तमस्य तु न कुतः कामात्सङ्कल्पादेव "सोऽकामयत वहुस्या" मित्यादिश्रुतेः अतस्तद्भिन्न आनन्दमयः ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ।

ननु चानन्दमयशब्देन प्रधानमुच्यतां तत्र सत्त्वगुणस्यानन्दकारणीभूतस्य विद्यमानत्वात्कार्यानुरूपत्वाच्चेत्यत्रोच्यते अनुमीयते इत्यनुमानं

प्रधानं तस्यापेक्षा ऽस्मिन्नानन्दमये पदे नास्ति कस्मात्कामात् आनन्दमयं प्रकृत्य "सोऽकामयत बहु स्या" मिति कामयितृत्वश्रवणात् काम इच्छा सा ऽचेतने प्रधाने न सम्भवति सम्भवति च सर्वेश्वरे सर्वज्ञे इत्यर्थः । "ईक्षतेर्नाशब्द" मित्यनेन निराकृतमपि प्रधानं गतिसामान्यसमर्थनाय पुनरपि निराकृतमिति न पुनरुक्तिदोषः । यद्वा जीवस्य प्रकृतानन्दपदवाच्यत्वे जगत्कारणत्वमपि भवेत्तदा घटादिजनने कुलालादेर्मृदाद्यपेक्षावत् जीवस्यानुमानापरपर्य्यायप्रधानापेक्षा स्याद्ब्रह्मणः सर्वशक्तेर्जगत्कारणत्वे तु नायं दोष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥

जीवस्य जगत्कारणत्वे ऽविद्यापरवशतयाऽनुमानस्य प्रधानस्य करणादिरूपस्यापेक्षाऽस्ति आनन्दमयस्य तु न कुतः कामात्सङ्कल्पादेव "सो ऽकामयत बहु स्यां प्रजायेये" त्यादिना सृष्टिकर्त्तृत्वश्रवणात् जीवादन्यः परमात्मैवानन्दमयः ॥ १८ ॥

# सू० अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति । १ । १ । २० ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तद्योगमानन्दयोगं शास्ति श्रुतिः "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इति जीवस्य यल्लाभादानन्दयोगः सतस्मादन्यइति सिद्धम् ॥ २० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।

इतोऽपि नानन्दमयो जीवः प्रधानं च किन्तु ब्रह्मैव यतोहि अस्मिन्नानन्दमये मान्त्रवर्णिके परमात्मनि पुरुषोत्तमे अस्य जीवस्य तन्निष्ठस्य तद्योगं तेन परमात्मना योगं संवन्धं तद्भावापत्तिलक्षणं मोक्षं शास्ति शास्त्रम् तस्मात् । तच्च शास्त्रम् "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ऽनात्म्ये ऽनिरुक्ते ऽनिलये

ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ऽथ सो ऽभयं गतोभवति । यदा ह्येवैष एतस्मिनुदरमन्तरं कुरुते ऽथ तस्य भयं भवतीति" अस्यार्थः यदेति" जायमानंतु पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः सात्त्विकः सतु विज्ञेयः सवै मोक्षार्थचिन्तकः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्यय" मित्यादिशास्त्रोक्तभगवन्निर्हेतुककृपाकटाक्षसमये जन्मनि वा । एष इति "अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः । ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् यः प्रयाति त्यजन् देहं सयातिपरमां गतिम् । ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति । ब्रह्मविदाप्नोति परं"इत्यादिशास्त्रोक्तलक्षणः ऐहिकामुष्मिकभोगवासनाशून्यो विद्वान्भगवच्चरणानन्यशरणः एतस्मिन् भगवति अभयं यथा स्यात्तथा प्रतिष्ठामव्यभिचारिणीं निष्ठां तत्कृपयैव विन्दते लभते अथान्तरमेवाभयं गतो भवति भयकारणाऽन्यनिष्ठाभावात् कथंभूते दृश्ये अदृश्यो जडवर्गस्तद्विलक्षणे पुनः कीदृशे ऽनात्म्ये आत्मनां चेतनानां समूहः आत्म्यं तद्भिन्ने परमचेतन उक्तं हि परमचेतनत्वमस्य कठवल्यां "चेतनश्चेतनाना" मिति अनिरुक्ते इयत्ता-

वत्त्वेनानिष्पन्ने वेदान्तैकवेद्यगुणस्वरूपे अनिलयने अनाधारे ऽनन्ताचिन्त्यशक्तिमतीत्यर्थः। यदा चाज्ञानकाले एषोऽविद्वान् उदरमीषदपि साधनसंवन्धप्रयोजनैकतममन्तरमन्यनिष्ठां कुरुते अथ तस्य भयं भवतीति तस्मात्सर्वचेतनाचेतनविलक्षणमानन्दमयं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।

यतोऽस्मिन्नानन्दमये मान्त्रवर्णिके परमात्मनि अस्य जीवस्य ज्ञानिनस्तद्योगं तेन परमात्मना योगं सम्वन्धं तद्भावापत्तिलक्षणां मुक्तिं शास्ति शास्त्रं "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ऽनात्म्ये ऽनिरुक्ते ऽनिलयने ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ऽथ सो ऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते ऽथ तस्य भयं भवती"ति श्रुत्यर्थस्तु यदा यस्मिन्भगवन्निर्हेतुककृपाकटाक्षसमये एषो ऽनन्यशरणो विद्वान् एतस्मिन्भगवति अभयं यथा स्यात्तथा प्रतिष्ठामव्यभिचरितनिष्ठां तत्कृपयैव विन्दते लभते अथानन्तरमेवाभयं गतो भवति भयकारणान्यनिष्ठाभावात् किम्भूते दृश्यो जडवर्गस्तद्विलक्षणे आत्मनां समूह आत्म्यं

---

* इति षष्ठाधिकरणम् ।

तद्भिन्ने सुरासुरविजातीये अनिरुक्ते इयत्तावच्छिन्नविषयकशब्दानु-दिते अनिलयने ऽनाधारे ऽनन्ताचिन्त्यशक्तिमतीत्यर्थः यदा चाज्ञानकाले एष विद्वान् उदरमीषदपि साधनसम्बन्धप्रयोजनैकतममन्तरमन्यनिष्ठां कुरुते ऽथ तस्य भयं भवतीत्यर्थः। यद्वा तद्योगमानन्दयोगं शास्ति भगवती श्रुतिः "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा ऽऽनन्दी भवती"ति जीवस्य यल्लाभादानन्दयोगः स तस्मादन्यः परमात्मैवेत्यानन्दमयः परं ब्रह्मेति सिद्धम्। अत्र केचित्तु नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं "सवा एष पुरुषो ऽन्नरसमय" इत्यारभ्य विज्ञानमयान्ते विकारार्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्द्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्म-विषयत्वं चाश्रीयत इति मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादितिचेदन्न-मयादीनामपि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः यद्यप्यन्नमयादिषु तस्मात्तस्मादा-न्तरस्यान्तरस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वाद्युक्तं तेषामब्रह्मत्व-मानन्दमयात्तु न कश्चिदन्योऽन्तरआत्मेति श्रूयते तथापि तस्य प्रियशिरस्त्वाद्यवयवयोगाविधानादानन्दमयपदार्थो विकृतएव अपि चानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे तदेव ब्रह्मानन्दमयआत्माऽवयवी— तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठाऽवयव इत्यसामञ्जस्यं स्यादन्यतरपरिग्रहे तु युक्तो ब्रह्मपुच्छम्प्रतिष्ठेत्यत्रैव ब्रह्मशब्दनिर्देशआश्रयितुं ब्रह्मशब्दसंयोगात्रानन्दमयवाक्ये ब्रह्म-शब्दसंयोगाभावादिति किञ्च "सन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चे" दित्युत्तरश्लोकेऽप्यननुकृष्यानन्दमयं ब्रह्मण एव भावा-भाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानाद्गम्यते "ब्रह्मपुच्छम्प्रतिष्ठे" त्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति नचानन्दमयस्यात्मनो भावाभाव-शङ्का युक्ता प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसि-द्धत्वात् कथं पुनः स्वप्रधानं सद्ब्रह्म आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते ब्रह्मपुच्छम्प्रतिष्ठेति नैष दोषः पुच्छवत्पुच्छं प्रतिष्ठा परायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते नावयवत्वम् "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि

मात्रामुपजीवन्ती"ति श्रुत्यन्तरात् अपिचानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निर्विशेषं तु ब्रह्मवाक्यशेषे श्रूयते वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधाना "यतो वाचो निवर्त्तन्ते ऽप्राप्य मनसा सहे"ति अपि चानन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते प्राचुर्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात्तथाच सति "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति सभूमे" ति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुध्येत. प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्य भिन्नत्वं ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यानन्त्यश्रुतेः "एको देव" इतिश्रुत्यन्तरात् नचानन्दमयाभ्यासः श्रूयते प्रातिपदिकमात्रस्यैवानन्दस्याभ्यासात् यदि चानन्दमयशब्दस्यब्रह्मत्वं निश्चितं भवेत् तत उत्तरेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत नत्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति प्रियाशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचाम तस्मात् श्रुत्यन्तरे "विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"त्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगदर्शनात् "यदेष आकाश आनन्दो न स्या" दित्यादिर्ब्रह्मविषयः प्रयोगो नत्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यं यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती" ति न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसंक्रमितव्यानां प्रवाहे पठितत्वात्। नन्वानन्दमयस्योपसंक्रमितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिफलं निर्दिष्टं भवेन्नैष दोषः आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात् यत्त्वानन्दमयसन्निधाने "सो ऽकामयत बहु स्यां प्रजायेये" तीयं श्रुतिरुदाहृता सा "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे"• त्यनेन सन्निहिततरेण ब्रह्मणा सम्बध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति तदपेक्षत्वाच्चोत्तरग्रन्थस्य

"रसो वै स" इत्यादेर्नानन्दमयाद्विषयता। ननु "सो ऽकामयते" ति ब्रह्मणि पुल्लिङ्गनिर्देशो नोपपद्यते नायं दोषः "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यत्र पुल्लिङ्गेनाप्यात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् तस्मात् अनुमानमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते नचेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितम् वाङ्मनोगोचरातिक्रमश्रुतेः तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमयेऽपि विकारार्थ एव मयड्विज्ञेयो न प्राचुर्यार्थः सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे"त्यत्र किमानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यते उत स्वप्रधानत्वेनेति पुच्छशब्दादवयत्वेनेति प्राप्ते उच्यते "आनन्दमयो ऽभ्यासात्" आनन्दमय आत्मेत्यत्र ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते कुतः अभ्यासात् "असन्नेव स भवती" त्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण एव केवलयाऽभ्यस्यमानत्वात् "विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्" विकारशब्दो ऽवयवशब्दो ऽभिप्रेतः पुच्छमित्यवयवशब्दान्न स्वप्रधानत्वम् ब्रह्मण इति यदुक्तं तस्य परिहारो वक्तव्यः। अत्रोच्यते नायं दोषः प्राचुर्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः प्राचुर्यं प्रायापत्तिः अवयवप्राये वचनमित्यर्थो ऽन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्ववयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वा अवयवप्रायापत्त्या ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्याह नावयवविवक्षया यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वम् ब्रह्मणः समर्पितं "तद्धेतुव्यपदेशाच्च" सर्वस्य च विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते "इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चे" ति नच कारणं सद्ब्रह्म स्वविकारजातस्य सानन्दमयस्य मुख्यया वृत्त्या अवयवउपपद्यतेऽपराण्यपि सूत्राणि यथासम्भवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मणउपपादकानि द्रष्टव्यानीत्येवं वदन्ति। तत्तुच्छमानन्दमये एव प्रकरणस्य पर्यवसानात् तथाहि तत्र तावद-

दुक्तं विकारार्थे मयट्प्रवाहे सतीत्यादि तदसम्यक् अन्नमये मयटोविकारार्थत्वे ऽपि प्राणमयादिषु विकारार्थस्यासम्भवेन न तत्प्रवाहपातित्वमानन्दमयस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्यैकत्वेन प्रकृति-विकारासम्भवात् ततः स्वार्थे मयट् वृत्तिप्रचुरत्वविवक्षया वा ज्ञानेन्द्रियैर्युक्तम् मन एव मनोमयइत्युच्यते विज्ञानमयेऽपि जीवात्मनश्चेतनस्यान्यविकारत्वासम्भवादन्यथा स्वरूपहाने"र्न जायते म्रियते वे"त्यादिशास्त्रबाधः प्राचुर्ये एव मयट् तद्विज्ञान-धर्मस्य बद्धावस्थायां सङ्कुचितत्वेऽपि "नहि विज्ञातुर्विज्ञाते र्विपरिलोपोविद्यतेऽविनाशित्वा" दित्यादिशास्त्रेण स्वाभाविकत्व-विवक्षया संसारिणोऽपि जीवस्य विज्ञानप्रचुरत्वसम्भवात् तस्माद्विकारार्थप्रवाहएव नास्ति कुतस्तत्पातशङ्का कुतस्तरामर्द्ध-जरतीयन्यायापातप्रसङ्गश्च प्रत्युत प्राचुर्यार्थकविज्ञानमयपदसान्नि-ध्यात्सुतरां प्राचुर्यार्थत्वावगमः नचैकत्राभ्यासेन द्वित्रिकृत्वःपठि-तस्य सन्निहितशब्दस्यैकार्थपरत्वनियमोवक्तुं शक्यः "पौर्णमास्यां पौर्णमास्यां यजेते" त्यत्र पाठस्य साम्यसन्निधानत्वयोः सतो-रपि सप्तम्यन्तस्य कालवाचित्वेन तृतीयान्तस्य कालयुक्तकर्म-वाचित्वेन च भिन्नार्थत्वस्य पूर्वकाण्डे निर्णयदर्शनात् यद-प्युक्तं तस्य प्रियशिरस्त्वाद्यवयवयोगविधानात्सोऽपि विकृतएवेति, तदपि न सम्यक् प्रियमोदादिशब्दवाच्यानामपीष्टवस्तुदर्शनजा-दिसुखानां तद्विभूतिलक्षणतदंशत्वादवयवत्वोक्तिर्युक्तैव सर्वे-स्यापि प्राणिसुखजातस्य तदानन्दांशत्वात् "एतस्यैवानन्दस्या-न्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इत्यादिश्रुतेः परार्थत्वान्नावयव-विधानं विरुद्धम् । यदुक्तमानन्दमयस्यैव ब्रह्मत्वे तस्यैवावयवा-वयविभावापत्तावसामञ्जस्यं स्यादिति । तदप्यसम्यक् तयोरेका-र्थपरत्वस्यैवेष्टत्वात् कथन्तर्हि आत्मत्वेन पुच्छत्वेन च निरूप-णमिति चेदेकस्यैव ब्रह्मणोब्रह्मत्वविशेषेण पुच्छत्वम् आनन्दत्वविशे-

णात्मत्वमित्युपपत्तेः अंशांशिनोर्विभूतिविभूतिमतोश्च।भेदस्याविरुद्धत्वात् । यच्चोक्तं ब्रह्मपुच्छमित्यानन्दमयइत्यनयोर्वाक्ययोर्ब्रह्मशब्दसंयोगासंयोगाभ्यामपि नानन्दमयशब्दवाच्यं ब्रह्मेति तत्तुच्छं यथाऽऽनन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दासंयोगस्तथा ब्रह्मपुच्छमितिवाक्ये आनन्दशब्दासंयोगस्य तुल्यत्वात् अनयोर्मध्ये सूत्रितत्वेनाभ्यस्तत्वेन चानन्दपदस्यैव सूत्रकृदभिमतत्वाद्बलीयस्त्वं तद्विरोधश्च तव पक्षएव महद्दोषमावहति यदि ब्रह्माभ्यासएव सूत्रकृदभिप्रेतः स्यात्तर्हि ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठाभ्यासादिति सूत्रितं स्यान्नतु तथा दृश्यते किन्त्वानन्दमयं प्रतिज्ञाय अभ्यासश्च हेतुतयोक्तः तथात्वेच प्रतिज्ञाहेत्वोः सूत्रितयोर्हानिरसूत्रितस्यच कल्पना स्यात् । किञ्च भृगुवल्ल्यामपि प्राणाद्युपासने उत्तरोत्तरजिज्ञासायास्तदवस्थत्वादानन्दस्य ज्ञानानन्तरमुपदेशसमाप्तेश्चानन्दस्य वलिष्ठत्वं कथं तर्ह्यानन्दरूपस्य ब्रह्मण आनन्दमयत्वमानन्दस्यानन्दप्रचुरत्वाभावादिति चेदानन्दस्वरूपस्यैव ब्रह्मणः प्रियमोदप्रमोदशब्दवाच्यशिरःपक्षादिधर्मभूतानन्दमयत्वस्याप्युपपत्तेः यच्चोक्तमसन्नेव स भवतीति श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं ब्रह्मणएव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानादित्यादि तदपि न सम्यक् गुणिमात्रनिर्देशेऽपि गुणप्रतिपत्तिः सुकरा सर्वज्ञस्यानन्दाद्यनन्तगुणवतएव प्रस्तुतत्वात् । यदप्युक्तमानन्दमयस्य ब्रह्मत्त्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निर्विशेषं तु वाक्यशेषे श्रूयते इत्यादि । तदतितुच्छं "सैषानन्दस्य मीमांसे" ति गुणभूतानन्दस्योत्तरोत्तरवाक्यैराधिक्यं निर्धार्य "आनन्दं ब्रह्मणोविद्वानि" ति गुणगुणिनोः पृथक्पाठएव कण्ठरवेण ब्रह्मणः सविशेषत्वं ज्ञापयति "यतोवाचोनिवर्त्तन्त"इति वाक्यस्य तु न निर्विशेषपरत्वं किन्तु ब्रह्मानन्दस्यान्यानन्दवत्परिच्छेदवारणपरत्वं रागादिदोषदूषितवाङ्मनसागोचरत्वविधानपरत्वं वा अन्यथा तत्रैवोत्तरार्द्धे

ब्रह्मण इति षष्ठीनिर्देशो वेदनक्रियाविषयत्वनिर्देशश्च विरुद्ध्येत नहि त्वन्मते धर्मधर्मिभावाङ्गीकारः । यच्चोक्तमानन्दप्रचुरत्वे दुःखाल्पत्वमपि गम्यते इत्यादि तदपि तुच्छतरम् प्राचुर्यस्य प्रतियोग्यल्पत्वसापेक्षत्वे ऽपि स्वात्मन्येव प्रतियोगिसत्वनियमस्याभावात् व्यधिकरणचन्द्रादिगतप्रतियोगिसत्तामपेक्ष्यापि प्रचुरप्रकाशः सूर्य इत्यादेः पूर्वमुक्तत्वात्तद्वदिहापि प्रियमोदादीनि वैषयिकसुखान्यपेक्ष्य तथाप्रयोगप्रवृत्तिरविरुद्धा इतरथा स्वात्मन्येवोभयकल्पनायां तमः प्रकाशयोरिव महद्भिरोधाद्वाक्यमूकताप्रसङ्गः । किञ्च तत्प्रचुरत्वं नाम तत्प्रभूतत्वं तच्चेतरस्य सत्तां नावगमयति अपि त्वल्पत्वं निवर्त्तयति इतरसद्भावाभावौ च प्रमाणान्तरावसेयौ इह चापहतपाप्मेत्यादिश्रुत्या तदभावोऽवगम्यते श्रुत्यर्थस्तु यत्र यस्यां ध्रुवास्मृतौ अन्यत् ब्रह्मव्यतिरिक्तं किञ्चिन्न पश्यति सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन तदपृथक्सिद्धत्वात् एवमग्रेऽपि ज्ञेयं । यच्चोक्तं प्रतिशरीरं प्रियादिभेदादानन्दमयस्य भिन्नत्वं ब्रह्म तु न भिद्यते आनन्त्यश्रुतेरिति । तदपि न । ब्रह्मण एवानन्दमयशब्दवाच्यत्वेनानन्दमयस्यैवानन्त्यश्रवणात् । यच्चोक्तं नानन्दमयाभ्यासः श्रूयते प्रातिपदिकमात्रस्यैवानन्दस्याभ्यासादित्यादि तदप्यसाधु "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेते" त्यत्र यथा ज्योतिःशब्दस्य ज्योतिष्टोमपरत्वं पूर्वकाण्डे निर्णीतं तद्वदिहापि प्रातिपदिकस्यानन्दपदस्यानन्दमयपरत्वम् युक्तमेव गुणिनं विना गुणस्य स्थित्यनुपलब्धेः । यच्चोक्तं "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती" त्यभ्यासस्य न ब्रह्मविषयत्वं विकारप्रवाहे पठितत्वादिति तदपि तुच्छतरं विकारप्रवाहाभावस्य पूर्वमुक्तत्वात् तत्रोपसंक्रामतीत्यस्यानुभवतीत्यर्थः । किञ्च मयटो विकारार्थत्वे कोवाऽऽनन्दमयपदार्थ इति विवेचनीयं चेतनोऽचेतनो वेति नाद्यः तस्य निर्विकारत्वादेकरसत्वाच्च नान्त्यो जडत्वा-

दितरथा घटादीनामप्यानन्दाश्रयत्वापत्तेस्तेषामपि जडत्वसाम्यात् तस्मात्प्राचुर्यार्थएव मयट् आनन्दमयश्च परमात्मा परब्रह्मपुरुषोत्तमः श्रीकृष्णएवेति सिद्धमलमतिविस्तरेण ॥ २० ॥

# सू० अन्तस्तद्धर्म्मोपदेशात् ॥

१ । १ । २१ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आदित्याक्ष्णोरन्तस्थोमुमुक्षुध्येयो हि परमात्मैव नतु जीवविशेषः कुतस्तस्यैवापहतपाप्मत्वसर्वात्मत्वादीनां धर्म्माणामुपदेशात् ॥२१॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवमधि करण[1]द्वयेन सामान्यतः प्रधानाज्जीवाच्च विलक्षणे जगज्जन्मादिकारणे ब्रह्मणि पूर्वोक्तवाक्यसमन्वय उक्त इदानीं नित्यसिद्धाप्राकृत विग्रह-

---

( १ ) विषयोऽविषयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरः प्रयोजनश्च पञ्चैते पाञ्चोऽधिकरणम् विदुः ।

वत्त्वादिभगवदसाधारणधर्मकथनपूर्वकतत्तद्वाक्य-समन्वयं दर्शयन् पुण्यातिशयवशात्प्राप्तोत्कर्षात् क्षेत्रज्ञविशेषात् कालाद्यचेतनविशेषाच्च ब्रह्मणो वैलक्षण्यमुच्यते आपादपरिसमाप्तेः

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।

छान्दोग्ये श्रूयते "अथ यएषो ऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं(१) पुण्डरीक मेव मक्षिणी तस्योदिति नाम स एष वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यं उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो यएवं वेद तस्य ऋक्च साम च गेष्णा(२)वित्यधिदैवतमथाध्यात्ममथ य एषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादि । तत्र संशयः किमयमादित्ये ऽक्षिण चान्तःस्थत्वेन श्रूयमाणः पुरुषो जीवविशेषः

---

( १ ) कं जलं पिबतीति कपि कपिना आसते प्रकाशते इति कप्यासं तत् एवंभूतं पुण्डरीकं कमलम् ।

( २ ) स्थानौ ।

किं वा परमेश्वर इति किं तावद्युक्तम् प्राप्तोत्कर्षो जीवइति। कुतः "हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश" इत्यादित्यान्तःपुरुषस्य "तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूप" मित्यक्ष्यन्तःपुरुषस्य च रूपत्वश्रवणात् "येचाऽमुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे--देवकामानां चेति सएष येचैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चे"ति चोभयोः क्रमादैश्वर्यमर्यादाश्रवणाच्च अन्तरादित्ये ऽन्तरक्षिणिचेत्युभयोः पराश्रितत्वश्रवणाच्च परमात्मन "स्त्वशब्दमस्पर्शमरूपं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि एष भूताधिपति" रित्यादिना तद्विपरीतत्वश्रवणाच्चेतिप्राप्ते ब्रूमः आदित्याक्ष्णोरन्तः श्रूयमाणः पुरुषः परमात्मैव कुतः"तद्धर्मोपदेशात्" तस्य परमात्मन एव खलु सर्वथाऽपहतपाप्मत्वस्वोपासकसर्वपापमोचयितृत्वादीनां "सैव ऋक् तत्साम तदुकूथं तद्यजुस्तद्ब्रह्मे" ति सर्वात्मकत्वादिधर्माणामस्मिन्वाक्ये उपदेशात् "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्समस्ताः शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठितास्तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महद्" दित्यादिशास्त्रात्सत्य-

सङ्कल्पत्वादि स्वाभाविकधर्मवत् रूपवत्त्वस्याप्य-
विरुद्धत्वात् अशब्दमस्पर्शमरूप" मित्यादि
वाक्यस्य च प्राकृतशब्दादिनिषेधपरत्वाच्च। नच
ब्रह्मणःपरिच्छिन्नैश्वर्यवत्त्वमत्र परिच्छेदवाक्यस्याधि-
दैवादिव्यवस्थापरत्वात्। नापि पराश्रितत्वं ब्रह्मणो
वाच्यम् "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्व-
भूतान्तरात्मा यः पृथिव्यां तिष्ठन्। सर्वस्य चाहं
हृदि सन्निविष्टः। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन
स्थितो जग" दित्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वाश्रय-
त्वात् अत्र" यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो
दृश्यते हिरण्यश्मश्रु"रित्यादिना सर्वज्ञवेद-
वाक्येन सर्वप्रमाणनिरपेक्षेण स्वार्थे स्वेनैव
प्रमाणभूतेन प्रकृतस्य ब्रह्मणस्तदनुरूपं शरी-
रमपि साक्षाद्दृष्टैवोक्तम् "दृश्यते" इतिवचनात्
एतेन परमात्मा विग्रहवत्त्वेन मुमुक्षुभिर्ध्येय इति
गम्यते वक्ष्यमाणं संराधनमपि परमात्मनो
विग्रहवत्त्वादेवोपपद्यते भगवद्विग्रहविषयकश्रुति-
स्मृतिकदम्बो विस्तरभयान्नोक्तः ॥ २१ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवमधिकरणद्वयेन सामान्यतः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः कारणत्वं निरस्येदानीं विशेषतः प्राप्तैश्वर्याणामिन्द्रादित्यादिचेतनानां प्रकृतिकार्याकाशाद्यचेतनानां च तत्त्वं निराकरोत्यापादपरिसमाप्तेः ॥

## अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।

छन्दोगैरिदमाम्नायते "अथ यएषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात्सर्वएव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम सएष वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः उदितउदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्योयएवं वेद तस्य ऋक्‌ सामच गेष्णावित्यधिदैवतमथाध्यात्ममथ यएषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादि तत्र संशयः आदित्यमण्डलाक्ष्णोरन्तःस्थत्वेन श्रूयमाणः पुरुषः किं जीवविशेषः उत परमपुरुष इति "हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः अन्तरादित्ये अन्तरक्षिणि येचामुष्मात्पराञ्चो लोका येचैतस्मादर्वाञ्चोलोका" इत्यादिना रूपवत्त्वपराश्रितत्वापरिच्छिन्नैश्वर्यत्वश्रवणात् परस्यतु "अशब्दमस्पर्शमरूपं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि एषसर्वेश्वरः एषभूताधिपति" रित्यादिना तद्विपरीतश्रवणादतःपुण्यवत्प्राप्तैश्वर्यः कश्चित् क्षेत्रज्ञविशेषइति पूर्वपक्षः । परमपुरुषएवेति राद्धान्तः कुतः "तद्धर्मोपदेशात्" तस्य परमेश्वरस्यैव धर्माणां सर्वपापगन्धसम्बन्धास्पर्शित्वस्वोपासकसर्वपापमोचयितृत्व सैव ऋक्तत्सामेत्यादि

सर्वात्मकत्वादीनामस्मिन्वाक्ये उपदेशात् "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं। आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। समस्ताः शक्तयश्चै-ता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्मह" दित्यादिशास्त्रात्सत्यसङ्कल्पत्वादिस्वाभाविकधर्मवत्तत्ररूपवत्त्वस्या-प्यविरुद्धत्वात् अशब्दमित्यादिवाक्यस्यच प्राकृतशब्दादि-निषेधपरत्वात् नच पराश्रितत्वं तस्य वाच्यं सर्वाश्रयत्ववत् सर्वान्तरत्वस्यापि "अन्तःप्रविष्टः शास्ता। सर्वभूतान्तरात्मा। यः पृथिव्यां तिष्ठ" न्नित्यादिशास्त्रसिद्धत्वात् नापि तस्य परिच्छिन्नै-श्वर्यवत्त्वमत्र विधीयते अधिदैवादिव्यवस्थापरत्वात्पारिच्छेद्वाक्यस्य एकदेशकथनेन परिच्छिन्नवत्प्रतीयते यथाऽनन्तब्रह्माण्डनायको-ऽपि श्रीकृष्णो वैकुण्ठनाथोगोकुलनाथोव्रजराजोद्वारकाधिपति-रिति। नच रूपवत्त्वे शरीरसम्बन्धोऽप्यवश्यम्भावी स च कर्म-वश्यानां जीवानामेव कर्मानुगुणप्रियाप्रिययोगायैवेति वाच्यं सत्यसङ्कल्पस्य भगवतःस्वेच्छयैव स्वानुरूपाप्राकृतशरीरसम्ब-न्धस्य सम्भवेन कर्मवश्यत्वाभावात् "अजायमानोवहुधा व्यजायते"ति श्रुतेः "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। न भूतसङ्घसंस्थानोदेहोऽस्य परमात्मन" इत्यादिस्मृतेश्च तत्र प्रकृतिः स्वभावः स्वमेव भाव-मास्थाय स्वस्वरूपे स्थित्वेत्यर्थः आत्ममाययेतिस्वसङ्कल्पमात्र-रूपेण ज्ञानेनेत्यर्थः साधुशब्देन भगवदुपासकास्तत्परित्राणस्यै-वोद्देश्यत्वात्दुष्कृद्विनाशस्त्वानुषङ्गिकः॥ २१॥

---

# सू० भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥

१ । १ । २२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आदित्यादिजीववर्गादन्योऽस्ति परमात्मा कुतः "आदित्ये तिष्ठन्नित्यादिना भेदव्यपदेशात् ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः

इतश्चादित्यादिशरीराभिमानिक्षेत्रज्ञात्तन्दतः स्थोऽन्यः स्वरूपतो भिन्नः परमात्मा कस्मात् "यआदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्यादिश्रुत्या जीवब्रह्मणोर्भेदव्यपदेशात् एवमादित्यादिजीवात्त-

दन्तर्गतस्य ब्रह्मणो भिन्नत्वं सिद्धम् ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः

इतश्चादित्याद्यन्तः स्थः: परमेश्वरएव कुतः" यआदित्ये तिष्ठ-न्नादित्यान्दतर" इत्यादिश्रुत्याऽऽदित्यादिक्षेत्रज्ञवर्गात्परमात्मनो-भेदेन व्यपदेशात् ।

## सू० आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥

१ । १ । २३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाशइति होवाचे" त्यत्राकाशशब्दवाच्यः परमात्मा कुतः "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेवोत्पद्यन्ते इति सर्वस्रष्टृत्वादि तल्लिङ्गात् ॥ २३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवंप्रकृतब्रह्मासाधारणधर्मेणा "ऽथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय" इत्यादिश्रुतिः प्रकृते ब्रह्मणि नियोजिता इदानीमस्य लोकस्य कागतिरित्यादिश्रुतिर्ब्रह्मलिङ्गेन तस्मिन्नीयते ॥ २३ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ।

छान्दोग्ये शालावत्यजैवलिसम्वादे हीदं श्रूयते "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इतिहोवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायण"मिति अत्र संशयः किं भूताकाशोऽत्राकाशशब्दार्थ उत परमात्मेति किं तावद्युक्तम् लोकप्रसिद्धत्वादाकाशाद्वायुरिति तस्यापि वाय्वादिभूतकारणत्वश्रवणाच्च भूताकाश इतिप्राप्ते । ब्रूमः अत्र वाक्ये आकाशः आकाशशब्दार्थः परमात्मैव कुतः तल्लिङ्गात् तस्य परमात्मनः लिङ्गं तल्लिङ्गम् सर्व-

भूतोत्पादकत्वज्यायस्त्वपरायणत्वादि तस्मात् परमात्मासाधारणधर्मात्। नच "श्रुतिलिङ्गवाक्य-प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षा" दिति न्यायेन लिङ्गात् श्रुतिर्बलीयसीति वाच्यम् "आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबल" मितिन्यायात् "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इति-लिङ्गेनाकाश इति भूतश्रुतिर्बाध्यते आकाश-शब्दस्य भूताकाशपरत्वे आनर्थक्यं स्यात् नह्ये-तल्लिङ्गं भूताकाशे सम्भवति प्रत्युत भूताकाशस्य परमात्मजन्यत्वं श्रूयते "तस्माद्वा एत-स्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति आसमन्ता-त्काशत इत्याकाशइतियोगवृत्त्या "यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्। आकाशो ह वै नामरूपयोर्नि-र्वहिते" त्यादौ रूढिवृत्त्या चाकाशपदेन परमा-त्मैवाभिधीयत इति सिद्धम् ॥ २३ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आकाशस्तल्लिङ्गात्

छान्दोग्ये शालावत्यजैवलिसम्वादे इदं श्रूयते "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाशइतिहोवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशोह्येवैभ्यो-ज्यायानाकाशः परायण" मित्यत्राकाशशब्दनिर्दिष्टः किंप्रसिद्धा-काशउत परमात्मेति संशयः । भूताकाशइति पूर्वः पक्षः यतः प्रसिद्धतरप्रयोगे तस्यैव झटिति बुद्धावारोहणात् ब्रह्मणि तु गौणआकाशशब्दः विभुत्वादिधर्मैर्ब्रह्मणआकाशसादृश्यात् यत्स-दादिशब्दानामपि साधारणत्वेनाकाशादेव समुत्पद्यते इति वाक्यशेषे विशेषपर्यवसानात् ईक्षणादयस्तु तत्र गौणा वर्णनीयाः "आकाशाद्वायुर्वायोरग्नि" रित्यादिश्रुत्या ज्यायस्त्वपरायणत्वे अपि भूतान्तरापेक्षया तत्रोपपद्येते तस्मादाकाशशब्देन भूता-काशएवेति प्राप्ते । राद्धान्तः आकाशोऽत्र परमात्मैव कुतः तल्लिङ्गात् लीनं स्वावच्छिन्नं धर्मिविशेषं गमयति परिच्छिन-त्तीति व्युत्पत्त्या तस्य परमात्मनएव सर्वकारणत्वज्यायस्त्वपरा-यणत्वादेर्लिङ्गादव्यभिचारिधर्मात् नह्येतेषां भूताकाशे सम्भवः तस्य वाय्वादीनां कारणत्वादिसम्भवेऽपि आकाशादेवेत्येवका-रस्य सर्वाणीति सर्वपदस्य च पाठान्न सर्वकारणत्वादिलिङ्गानां तत्र सम्भवः "तस्माद्वा एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूत" इति-आत्मकार्यत्वश्रवणाच्च स्वस्य स्वकारणत्वे आत्माश्रयतापत्तेः आसमन्तात्काशतइतियोगवृत्त्या "यद्येष आकाशआनन्दो न स्यात् आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते"त्यादिश्रुतौ रूढिवृत्त्या च ब्रह्म-

यैवाकाशशब्दोमुख्य: । ननु "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षा" दितिन्यायेन आकाशइतिश्रुतेर्लिङ्गापेक्षया बलीयस्त्वाद्बलीय: प्रमाणम् न दुर्बलेन बाधितुमर्हमिति चेन्न श्रुतिप्रमाणस्य बलीयस्त्वेऽपि प्रमेयलिङ्गोपपत्तावेव तस्य प्रवृत्तिरनुपपत्तौ चाप्रवृत्तिरिति न्यायादत्र परस्य ब्रह्मणोऽसाधारणलिङ्गानां भूताकाशे सर्वथानुपपन्नत्वादनुपपत्तिसहकृतलिङ्गस्य प्राबल्यात्तेन श्रुतेर्बाधोघटतएव यथा केनचिदेकेन पुरुषेण बलीयांसो जनाबाधितुमनर्हा ऽपि राजसहायेन तेनैव सर्वेऽपि बाध्यन्ते तथा केवललिङ्गेन निर्बलत्वाद्बलीयसीश्रुतिर्बाधितुमनर्हाऽपि बलवदनुपपत्तिप्रमाणसहकृतेन तेनैव बाध्यते सापीति न विरोधइति तस्मादाकाशशब्दवाच्य: परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ २३ ॥

## सू० अतएव प्राण: । १ । १ । २४

### वेदान्तपारिजातसौरभ: ।

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेव सम्विशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" इत्यत्रापि सम्वेशनोद्गमनरूपाद्ब्रह्मलिङ्गात्परमात्मैव प्राण: २४

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवमाकाशश्रुतिर्ब्रह्मवादिनी न भूताकाशवादिनीत्युक्तमिदानीं "मुद्गीथेप्रस्तोत" रित्यादिश्रुतिरपि ब्रह्मण्येवान्वेतीति वदन्नाकाशन्यायमतिदिशति ॥

अतएव प्राणः ।

छान्दोग्ये चाक्रायणप्रस्तोतृसम्वादे श्रूयते "उद्गीथे प्रस्तोतर्या देवताप्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्द्धा ते विपतिष्यतीति कतमा सा देवतेति प्राण इतिहोवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ते" त्यादि तत्रसंशयः सर्वस्य जगतः प्राणाधीनस्थितिदर्शनाल्लोकप्रसिद्धेश्च प्राणशब्देन वायुविकारो ऽपि वक्तुं शक्यः "प्राणवन्धनं हि सौम्य मनः प्राणस्य प्राण" मित्यादौ ब्रह्मणि प्राणशब्दप्रयोगाच्च ब्रह्म

वक्तुं शक्यमिति। किन्तावद्युक्तं सर्वस्य प्राणाधीनत्वदर्शनात् लोके प्राणशब्देन वायुविकारप्रसिद्धेश्च "यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं मनः प्राणं श्रोत्रं यदा प्रतिबुध्यते प्राणादेवाधिपुनर्जायन्ते" इति वायुविकारसंवेशनादिश्रवणाच्च वायुविकारः पञ्चवृत्तिः प्राण एव मुख्यो ऽत्र प्राणशब्देन गृह्यते इतिप्राप्ते। ब्रूमः अत एव सर्वमहाभूतसम्वेशनोद्गमनभूतात् पारमेश्वरात् लिङ्गादेव प्राणशब्दवाच्यः परमेश्वरः पुरुषोत्तम एव युक्तः सर्वाणि भूतानि विशन्ति लीनानि भवन्ति अभ्युज्जिहते तमभिलक्ष्योद्गच्छन्तीति सर्वमहाभूतसम्वेशनोद्गमनं पारमेश्वरं लिङ्गं वायुविकारे न सम्भवति "यदा वै पुरुषः स्वपिती" त्यत्रापि न पुनर्महाभूतसम्वेशनादि श्रूयते ऽपित्विन्द्रियसम्वेशनादिकमेवातः परमात्मालिङ्गात्प्रकर्षेणाऽणिति स्थितिं लभते सर्वं जगदस्मिन्निति व्युत्पत्त्याच परमात्मैव प्राणशब्देनाभिधीयत इतिसिद्धम्॥ २४॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

### अतएव प्राणः ।

तत्रैवोद्गीथे "प्रस्तोतर्यादेवताप्रस्तावमन्वायत्ते" ति प्रस्तुत्य "कतमा सा देवतेति प्राणइतिहोवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसम्विशन्ति प्राणमुज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ते" त्यत्र सर्वजगत्कारणतया प्राणशब्दोनिर्दिष्टः किम्प्रसिद्धः प्राणउत परं ब्रह्मेति संशयः सर्वस्य, जगतः प्राणाधीनस्थितिदर्शनात् वायुवृत्तिप्राणएवेति प्राप्ते ऽतिदेशमुखे- नाह अतएव सम्वेशनोद्गमनरूपपरमात्मलिङ्गादेव प्राणशब्द- वाच्यः परमात्मैव विशेषशङ्का तु "यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं मनः प्राणं श्रोत्रं स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधिपुनर्जायन्ते" इत्यादिश्रुत्या प्राणे कार्यप्रवे- शोद्गमदर्शनात्सएवात्रोपास्यतया विधीयते इति चेत्तत्रेन्द्रिय- मात्रसम्वेशादिसम्भवेऽपि महाभूतानां चेतनानां च सम्वेशना- देस्तत्राश्रवणात् परमात्मैव प्राणयति सर्वं प्रकर्षेण अणिति स्थितिं लभते सर्वं जगद्यस्मिन्निति वा व्युत्पत्त्या प्राणशब्देनाभिधी- यते इति ॥ २४ ॥

## सू० ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥

१ । १ । २५ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"दिवाज्योतिरिति" ज्योतिर्ब्रह्मैव "पादोऽस्य सर्वाभूतानी" ति चरणाभिधानात् ॥ २५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवमाकाशशब्दः प्राणशब्दश्च सर्वव्यापके सर्वदोषास्पृष्टे सर्वजीवनहेतौ ब्रह्मणि वर्त्ततइत्युक्तमिदानीं ज्योतिःशब्दवृत्तिं ब्रह्मणि दर्शयति ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।

छान्दोग्ये ह्यिदमाम्नायते "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योति"रिति तत्र संशयः किमयं ज्योतिःशब्दः प्रसिद्धादित्यादिज्योतिर्वाचकः किं वा परमात्मवाचकः किं तावदिहयुक्तमिति अत्र पूर्वपक्षः आदित्यादिज्योतिर्वाचकः कस्मात्तस्य

तमोनिवारकत्वप्रसिद्धेः "दिवः परो ज्योतिर्दीप्यते" इति मर्यादाश्रवणाच्च सर्वव्यापिनो ब्रह्मणो हि मर्यादाऽयोगात् चक्षुष्यः श्रुतो भवति एवं वेदेति अल्पफलश्रवणाच्च "इदं वाव तद्यदिदमन्तःपुरुषे ज्योति" रितिकौक्षेयज्योतिषैक्यावगमाच्चेति प्राप्ते। ब्रूमः। अत्र ज्योतिःशब्दवाच्यं निरतिशयदीप्तिमत्परं ब्रह्मैव कस्माच्चरणाभिधानात् " तथाहि ज्योतिर्वाक्यात्पूर्ववाक्ये "तावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादो ऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी" ति चतुष्पादब्रह्माभिधीयते तत्रास्य सर्वभूतान्येकः पादः इतिसर्वभूतैकपात्त्वं परब्रह्मण एवोपपद्यते नान्यस्य। नच द्युमर्यादाश्रवणाविरोधः यदतः पर इतिपरशब्दस्योत्कृष्टवाचकत्वेनाव्यापकतायाः अविवक्षितत्वात् "तदेवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासत" इत्यादौज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मपरत्वावगमाच्च नाप्यल्पफलश्रवणाविरोधः ब्रह्मणो यथाधिकारिफलदातृत्वात् श्रूयतेच वाजसनेयिनामग्निरहस्ये "तं यथायथोपासते तदेव भवतीति। ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह"मिति श्रीभगवद्वचनाच्च कौक्षेयज्योतिषा-

तादात्म्योपासनप्रयोजनञ्च "अहम् वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नम् चतुर्विध" मित्याद्यवगन्तव्यम् ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।

छान्दोग्ये गायत्रीविद्यायामिदमाम्नायते "अथ यदतः परो दिवोज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतःपृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु इदम् वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योति"रित्यत्र किं ज्योतिःशब्देन प्रसिद्धादित्यादिज्योतिरभिधीयते उत परम् ब्रह्मेति-संशये प्रसिद्धज्योतिरिति पूर्वः पक्षः तस्य तमोनिवारकत्व-प्रसिद्धेः द्युमर्यादत्वश्रवणाच्च, ब्रह्मणः सर्वगतस्य तदसम्भवात् । ननु भौतिकज्योतिष्यपि द्युमर्यादत्वानुपपत्तिरर्वागपि दिवोदर्श-नादिति चेत्तस्योपासनार्थं द्युमर्यादत्वविधानमविरुद्धम् ब्रह्मणस्तु विभुत्वेन निष्प्रदेशत्वान्न तद्युक्तम् "चक्षुष्यः श्रुतो भवति यएवं वेद"त्यल्पफलश्रवणाच्च । किञ्च "इदं वाव तद्यदिदमन्तःपुरुषे ज्योति"रितिकौक्षेयज्योतिषैक्यावगमात् स्ववाक्ये तदति-रिक्तब्रह्मासाधारणलिङ्गादर्शनाच्चेति प्राप्ते, राद्धान्तः ज्योतिः शब्द-निर्दिष्टंनिरतिशयदीप्तिमत्परं ब्रह्मैव कुतोयतोऽस्य ज्योतिषः पूर्वस्मि-न्वाक्ये "पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतम् दिवी"त्यत्र सर्वभूतचरणत्याभिधानात् । सर्वभूतपादत्वम् च परब्रह्मण्येवो-पपद्यते यच्छब्दस्य सर्वनामत्वेन प्रसिद्धपरामर्शित्वात् । पूर्व-

वाक्ये द्युसम्बन्धितया प्रसिद्धम् ब्रह्म अत्रापि द्युसम्बन्धाविशेषात्तदेव । यच्छब्देन प्रत्यभिज्ञायते नच द्युमर्यादाश्रवणविरोधः परशब्दस्योत्कृष्टतापरत्वेनाव्यापकत्वस्याधिवक्षितत्वात् "तदेव ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासत" इत्यादौ ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मपरत्वेन श्रवणात् न फलश्रवणविरोधोऽपि ब्रह्मणः सर्वफलदातृत्वेन तदुपासनेऽल्पाधिक्यफलनियमाभावात् श्रूयतेच वाजसनेयिनामग्निरहस्ये "तं यथा यथोपासते तदेव भवती"ति अत्र च कौक्षेयज्योतिषा तादात्म्योपासने तात्पर्यं "अहम् वैश्वानरो-भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित" इतिभगवदुक्तेरिति भावः ॥ २५ ॥

## सू० छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् ॥ १।१।२६ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पूर्ववाक्ये गायत्र्याख्यछन्दोऽभिधानात् तत्परा चरणश्रुतिरस्तु न ब्रह्मपरेति चेन्न गुणयोगाद्गायत्रीशब्दाभिधेये भगवति चेतोऽर्पणाभि-

धानात् दृष्टश्च विराट्शब्दः प्रकृतपरः ॥ २६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् ॥

ननु पूर्वत्र "गायत्री वा इदम् सर्व"मिति गायत्रीछन्दसः प्रकृतत्वात्तस्य छन्दस एव "पादोऽस्य सर्वाभूतानी"ति भूतपादव्यपदेशोऽस्तु नास्मिन्वाक्ये ब्रह्मनिरूपणं युक्तमिति चेन्न कस्मात् तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा "गायत्री वा इदम् सर्व"मिति सर्वात्मकत्वविधानेन गायत्रीशब्दवाच्ये ब्रह्मणि चेतोऽर्पणनिगदात् चित्तसमाधानस्याभिधानात् अत्र गायत्रीशब्दश्छन्दोऽनुगतब्रह्मवाचकः वर्णसन्निवेशमात्रस्य छन्दसः सर्वात्मकत्वासम्भवात् । तथाहि दर्शनम् तथैवदृष्टान्तः ऐतरीयोपनिषदि श्रूयते "एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एतमग्नावध्वर्यव एतं

महाव्रते छन्दोगा" इति यजुर्वेदिनः सामवेदिनः ऋग्वेदिनः क्रमात्प्रधानशस्त्राग्निमहाव्रतेषु तत्तदनुगतम् परमात्मानं मीमांसन्ते तद्वच्छन्दोऽनुगतं ब्रह्मेत्यर्थः अथवा यथा गायत्री षडक्षरैः पादैश्चतुष्पदा छन्दोजाति(१)रस्ति तथा ब्रह्माऽपि "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतम् दिवी"ति चतुष्पादइतिचतुष्पात्त्वगुणयोगाद्गौण्या वृत्त्या गायत्रीशब्दाभिहिते ब्रह्मणि चित्तसमाधाननिगदान्नात्र गायत्री अभिज्ञायते किन्तु ब्रह्मैव तथाहि दर्शनम् तथैव शब्दपार्थगुणयोगादर्थान्तरेऽपि छन्दोऽभिधायिशब्दस्य प्रयोगो दृष्टः" ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृत" मित्युपक्रम्याह "सैषा विराडन्नादी"ति सम्वर्गविद्यायां वाय्वादिदशद्रव्यसमुदाये कृते दशाक्षरछन्दोजातिविराड्पदप्रयोगः ॥ २६ ॥

---

(१) इन्द्रःशचीपतिर्वलेन पीडितः । दुश्च्यवनोवृषा समत्सु सासहे रिति ॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् ॥

पूर्ववाक्ये "गायत्री वा इदम् सर्वमिति" गायत्र्याख्यछन्दस एव प्रकरणात्सर्वभूतपादत्वेन तस्यापवाभिधानात् न ब्रह्मेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात् वर्णसन्निवेशमात्रायास्तस्याः सर्वात्मकत्वासम्भवात् तद्द्वारेण ब्रह्मणि चेतोऽर्पणं चित्तसमाधानं निगम्यते गायत्रीसादृश्यानुसंधानं वा फलार्थमत्रोपदिश्यते तत्र दृष्टान्तः तथाहि दर्शनं यथा—

गायत्री षडक्षरैः पादैश्चतुष्पदा तथा ब्रह्मापि चतुष्पादिति चतुष्पदत्वयोगात्सा । दृश्यते चान्यत्रापि छन्दोऽभिधायिशब्दस्य सादृश्यात्प्रयोगः "तेवा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृत" मित्युपक्रम्याह "सैषा विराडन्नादी" ति संवर्गविद्यायाम् ॥ २६ ॥

# सू० भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।१।१।२७॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

न केवलं तथा चेतोऽर्पणनिगमाद्गायत्री ब्रह्मेत्युच्यते भूतपृथिवीशरीरहृदयानां ब्रह्मणि

भगवत्युपपत्तेश्चैवम् ॥ २७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।

इतश्चैवं "गायत्री वा इदम् सर्व"मितिवाक्ये गायत्रीशब्दवाच्यं ब्रह्मेति इतः कुतः "भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः भूतपृथिवीशरीरहृदयाख्यैः पादैश्चतुष्पदा गायत्रीति व्यपदेशस्य ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्च अक्षरसन्निवेशभूतायास्तस्याभूतादिपादव्यपदेशानुपपत्तेश्च ॥ २७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।

इतश्च गायत्रीशब्दोदितं ब्रह्मैवाभ्युपगन्तव्यं चकारोऽवधारणे यतोब्रह्मण एव गायत्रीशब्दार्थत्वाभ्युपगतावेव भूतपृथिवीशरीरहृदयानां पादत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा भवितुमर्हन्ति ॥ २७ ॥

---

# सू० उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् । १ । १ । २८ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पूर्वमधिकरणत्वेन पुनरवधित्वेन द्यौर्निर्दिश्यते इत्युपदेशभेदान्न ब्रह्म प्रत्यभिज्ञायते इति न कुतउभयत्रापि ब्रह्मणएकत्वस्याविरोधात् ॥ २८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।

ननु पूर्वत्र "त्रिपादस्याऽमृतं दिवी" ति सप्तमीविभक्त्या ऽऽधारत्वेना"ऽथ यदतः परो दिवो ज्योति"रित्यत्र पञ्चम्या विभक्त्या ऽवधित्वेनच

द्यौर्निर्दिश्यते एवं खलु विभक्तिभेदेनोपदेशभेदा-ज्ज्योतिर्वाक्येन ब्रह्मप्रत्यभिज्ञायतइतिचेन्नायम् दोषः। कुतः उभयस्मिन् सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते च गुणभूतेन विभक्त्यर्थेन प्रधानस्य कृत्यर्थस्यैकत्वं न विरुध्यते यथा वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षात्परतः श्येन इति तस्माज्ज्योतिःशब्दाभिधेयं निरतिशयदीप्ति-मत्परं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।

पूर्ववाक्ये दिवीत्याधारत्वेन द्यौ निर्दिश्यते इह च दिवइति-पंचम्यामर्यादात्वेन द्यौर्निर्दिश्यतइत्युपदेशभेदाज्ज्योतिर्वाक्येन ब्रह्म प्रत्यभिज्ञायते इति चेन्नोभयस्मिन्नप्युपदेशे तात्पर्यैक्येना-विरोधात् यथा वृक्षाग्रे वृक्षाग्रात्परतोवा श्येनइति तस्माज्ज्योतिः-शब्दाभिधेयं निरतिशयदीप्तिमत्परं ब्रह्मैवेति सिद्धम् *॥ २८ ॥

---

* (१०) अधिकरणम् ।

# सू० प्राणस्तथाऽनुगमात् ।

१ । १ । २६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्राणोऽस्मीत्यादिवाक्ये प्राणादिशब्दवाच्यः परमात्मा हिततमत्वाऽनन्तत्वादिधर्माणां परमात्मपरिग्रहेऽवगमात् ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं कौषीतकिश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयं प्रदर्शयन्प्राणेन्द्रादिशब्दानां जीवपरत्वन्निराकरोति चतुर्भिः सूत्रैः ॥

प्राणस्तथाऽनुगमात् ।

अस्ति खलु कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि प्रतर्दनविद्या "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं

धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण चे"त्युपक्रम्याम्नाता तस्यां श्रूयते "वरं ते ददामी"तीन्द्रेणोक्तः प्रतर्द्दन इदमाह "त्वमेव मे वरं वृणीष्व यत्त्वम् मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इति तं वरं त्वमेवालोच्य मे मह्यम् वृणीष्व देहीत्यर्थः एवं प्रतर्द्दनेनोक्त इन्द्र इदमाह "प्राणो ऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वे"ति उत्तरत्रापि "अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा इदम् शरीरं परिगृह्योत्थापयती"ति "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्या" दितिच उपसंहारेच "स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दो ऽजरो ऽमृत"इति श्रूयते अत्रेन्द्रप्राणशब्दाभ्यां कश्चिज्जीवो ऽभिधीयते उत परमात्मेति किम् तावद्युक्तम् इतिसंशये जीवोऽभिधीयते इन्द्रशब्दस्य प्राणाधिकारे जीवे एव प्रसिद्धत्वात्प्राणोऽस्मीतीन्द्रशब्दवाच्यवचनात्प्राणशब्दो ऽपीन्द्रवाचक"स्तम्मामायुरमृतमित्युपास्स्व"ति तस्यैवोपास्यत्वमिह गम्यते इतिपूर्वपक्षे । सिद्धान्तः प्राणःप्राणशब्दार्थस्तत्सहचरैरिन्द्रादिशब्दैश्चाभिधेयः परमात्मैव कुतः तथाऽनुगमात् हिततमत्वप्रज्ञात्मत्वानन्दत्वाजरत्वादीनां हि तथा परमात्मपरिग्रहे

सत्येवांनुगमादनुगन्तुं शक्यत्वात् तथाहि उपक्रमे "तावद्वैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम यत्रे-न्द्रो ब्रह्माधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वमात्मनो ऽनुसन्धा-येन्द्रो ऽहमस्मी"ति नानुमन्यतेस्म किन्तु ब्रह्मान-न्दनिमग्नत्वाच्चिदचिद्वस्तुनो ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धान वशाद्ब्रह्मैवेदं सर्वं ब्रह्मास्मीति मन्यते कृताप-राधं जनमप्यात्मवत्पश्यति प्राप्यं चात्मनः आत्मतुल्यानाञ्च ब्रह्मैवोपायश्च तच्चरणोपासनमेव तत्रैनं प्रिये देशे प्राप्तम् प्रतर्दनमिन्द्रः प्रोवाच "वरं वृणीष्वे"ति प्रोक्तः परमपुरुषार्थकामः प्रतर्दनोऽपि विनीततरं निरस्ताहङ्कारं परमपुरुषार्थोपायविवक्षु प्रत्युवाच त्वमेवमे वरं वृणीष्वेत्यादि तत्र प्रतर्द-नस्योपास्यत्वेन प्राण उपदिश्यते प्राणोऽस्मीत्या-दिना एवं परमपुरुषार्थतयोपदिश्यमानः प्राणः कथम् जीवः स्यात् मामुपास्स्वेति परब्रह्मोपासनां विना वाक्यम् कथम् घटेत जीवस्यावस्थात्रय-साक्षिणोहि एकदेशित्वेन जीवान्तरप्राप्यत्वानर्ह-त्वेनच विद्वदनुभवप्राप्तत्वात् हिततमञ्च ब्रह्मप्राप्ते-रन्यन्नोपपद्यते एव "हितम् मामायुरमृतमुपा-स्स्वेति स एष प्रज्ञात्माऽऽनन्दो ऽजरो ऽमृत"इतिच

**प्रज्ञात्मत्वं आनन्दत्वम् अजरत्वम् अमृतत्वञ्च ब्रह्मपरिग्रहे युज्यते नान्यथा तस्मादिन्द्रप्राणादिशब्दाः प्रसिद्धेनेन्द्रेण ब्रह्मविवक्षयोपन्यस्ता नात्मपरत्वेन ॥ २९ ॥**

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

कौषीतकिब्राह्मणे प्रतर्दनविद्याऽऽम्नायते" प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेणाचे" त्यारभ्य तत्र वरं ते ददामीतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनस्तं प्रति त्वमेव मे वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस" इति तं वरं त्वमेवालोच्य मे मह्यं वृणीष्व देहीत्यर्थः एवं प्रतर्दनेनोक्तइन्द्र इदमाह" प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वे" ति उत्तरत्रापि "अथ खलु प्राण एवं प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्या" दितिच उपसंहारे च "सएष प्राणएव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरो ऽमृत" इति श्रूयते तत्रेन्द्रप्राणशब्दवाच्यः किं जीवः उत परं ब्रह्मेति संशये जीव इति पूर्वः पक्षः इन्द्रशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेः इन्द्रशब्दसहचरितप्राणशब्दस्यापि सएवार्थ इति तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वे "ति तस्यैवोपास्यत्वोपदेशादिति प्राप्ते आह ॥

प्राणास्तथाऽनुगमात् ।

प्राणोऽस्मीत्यादीन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टःपरमात्मैव कुतःतथाऽनुगमात् हिततमत्वप्रज्ञात्मत्वानन्दत्वाजरत्वादीनां हि तथा परमात्मपरिग्रहे सत्येवानुगन्तुं शक्यत्वात् ॥ २९ ॥

सू० न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।१।१।३०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्राणादि शब्दवाच्यं ब्रह्म न भवति कुतः "मामेव विजानीही" ति वक्तृस्वरूपाभिन्नोपदेशादिति चेत् अस्मिन्प्रकरणे परमात्मसम्बन्धस्य वाहुल्यमस्त्यतः प्राणेन्द्रादिपदार्थः परमात्मैव ॥ ३० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।

प्राणस्तथाऽनुगमादित्यनेनोक्तम् प्राणेन्द्रादिशब्दवाच्यम् ब्रह्मेति तन्न कस्मात् वक्तुरात्मोपदेशात् "मामेव विजानीहि"त्युपक्रम्य "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मे"ति वक्तुरिन्द्रस्य त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम् "अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छ"मित्येवमादिभिः प्रज्ञातजीवभावस्यैव स्वात्मन उपास्यत्वोपदेशादित्यर्थः एवमुपक्रमवाक्यमिह जीवविषयं तत्रैवं "सत्यानन्दोऽजरोऽमृत" इत्युपसंहारवाक्यमपि योजनीयमितिचेदत्रोच्यते "अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्" अस्मिन्नध्याये हि निश्चयेन अध्यात्मसम्बन्धभूमा विद्यते आत्मनि अधिवर्त्तमानः सम्बन्धो ऽध्यात्मसम्बन्धः परमात्मसम्बन्ध इत्यर्थः तस्यात्र भूमा बाहुल्यमस्ति अस्मिन्नध्याये परमात्मासा-

धारणाधर्मा बहवः सन्ति तस्मान्नेन्द्ररूपजी-
वपरिग्रह इतिफलितोऽर्थः तथाहि "यं त्वम्
मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इत्युपक्रमे हित-
तमोपासनम् परमात्मोपासनेमत्र तस्यैव हित-
तमत्वात् "तमेव विदित्वा ऽतिमृत्युमेति नान्यः
पन्था विद्यते ऽयनाये"त्यादिश्रुत्यन्तरात् तथा
"एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो
लोकेभ्य उन्निनीषते एष एवासाधु कर्म कार-
यति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो ऽधो निनीषते"
इतिसाध्वसाधुकर्मकारयितृत्वम् परमात्मन एव
धर्मः तथा "प्राणा एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं
परिगृह्योत्थापयती" त्युपक्रम्य तद्यथा रथस्या-
रेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एव मेवैता
भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञा-
मात्राः प्राणे ऽर्पिता" इति भूतमात्राप्रज्ञा-
मात्राशब्दोदितचेतनाचेतनात्मककृत्स्नवस्त्वाधा-
रत्वं स एव प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दो ऽजरो
ऽमृत इत्यानन्दादयश्च परमात्मन एव धर्माः
समन्त्रात्मे"ति । विद्यादित्युपसंहारे आत्मत्वं
वेद्यत्वञ्च परमात्मधर्मः तस्मात्परमात्मधर्म-

# भूयस्त्वात्परमात्मैवेन्द्रप्राणादिशब्दवाच्यः ॥ ३० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नवक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।

यदुक्तमिन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मेति तन्नोपपद्यते "मामेव विजानीहि मामुपास्स्वेति वक्तुरिन्द्रस्य" त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छ" मित्येवमादिभिः प्रज्ञातजीवभावस्यैव स्वात्मनउपास्यत्वोपदेशात् उपक्रमे जीवभावेनिश्चिते" सत्यानन्दोऽजरोऽमृत" इत्युपसंहारस्यापि तदनुगुणतया नेतव्यत्वादिति चेत्तत्र समाधत्ते अध्यात्मसंबंधभूमा ह्यस्मिन् आत्मनि सम्बन्धोऽध्यात्मसंबंधस्तस्य भूमा बहुत्वं आत्मन्याधेयतया संबध्यमानानां तदसाधारणधर्माणां तथा चिदचितोश्च बहुत्वेन सम्बन्धबहुत्वस्य वक्तुः परमात्मत्वे सत्येव सम्भवात् तथाहि" यं तं मनुष्याय हिततम मन्यस" इत्युपक्रमे हिततमोपासनं परमात्मोपासनमेव तस्यैव हिततमत्वात् तमेव विदित्वा ऽतिमृत्युमेती" त्यादिश्रुत्यन्तरात् तथा "एषएवं साधुकर्म कारयती" त्यादिसाध्वसाधुकर्मकारयितृत्वं परमात्मनएव धर्मः तद्यथा" रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावराअर्पिता एवमेवेताभूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिता "इतिभूतमात्राप्रज्ञामात्राशब्दोदितचेतनाचेतनात्मककृत्स्नवस्त्वाधारत्वं "सएष प्राणएव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरो ऽमृत"इत्यानन्दादयश्च हि यस्मात्परमात्मनएव धर्माः अतोऽस्मिन्प्रकरणे इन्द्र-

प्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैवोपास्य इत्यर्थः॥ ३०॥

सू० शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्। १। १। ३१॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

इन्द्रोहि सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वमवधार्य "मामेव विजानीही"ति शास्त्रदृष्ट्या युक्तमुक्तवान्। "तत्र कः शोकः कोमोहएकत्वमनुपश्यत" इत्यादिशास्त्रम् "यथाऽहम् मनुरभवम् सूर्य्यश्चे"तिवामदेवउक्तवान् तद्वत्॥ ३१॥

वेदान्तकौस्तुभः।

कथं तर्हीन्द्रो "ऽयन्यथा सन्तमात्मानमन्यथैव मामुपास्ते" त्युपदिष्टवानित्यत्रोच्यते —

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्।

नायं दोषः लोके यथा कश्चिद्राज्ञाऽत्याद्रितो राजभृत्यः प्रजासु राजवद्वदत्यहं वः पालकः पूज्य इत्यादि तद्वत् शास्त्रदृष्टयातु "एतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा. ब्रह्म सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति अभयं वै जनकप्राप्तोऽसि यदात्मानं वेदाहं ब्रह्मास्मी"ति "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा एष ते आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्यादिशास्त्रदृष्ट्या परब्रह्मणःसर्वान्तर्यामित्वं सर्वात्मत्वमवगम्य " मामेव विजानीहि मामुपास्वेती"न्द्रस्य जीवस्यैव स्वात्मत्वेन परमात्मोपदेशो ऽयम् यथा वामदेवः शास्त्रदृष्ट्या स्वान्तर्यामिणं परमात्मानं पश्यन् "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवं सूर्यश्च कक्षीवानृषिरस्मि विप्र" इतितमेवावोचत् अतो- "मामेव विजानीही"त्युपदेशो युक्त एव ॥ ३१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं चेत्तर्हि कथमिन्द्रो मामुपास्वेत्युपदिष्टवानित्यत आह-

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् —

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलानिति अभयं वै जनकप्राप्तोऽसि, यदात्मानं वेदाहं ब्रह्मास्मीति, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा सतआत्मान्तर्याम्यमृतः । एषसर्वभूतान्तरात्मा एषते आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्यादिशास्त्रदृष्ट्या परब्रह्मणः सर्वान्तर्यामित्वेन सर्वात्मत्वमवगम्य "मामेव विजानीहि" मामुपास्वेतीन्द्रस्य जीवस्यैव स्वात्मत्वेन परमात्मोपदेशोऽयं यथा वामदेवः शास्त्रदृष्ट्या स्वान्तर्यामिणं परमात्मानं पश्यन् " अहं मनुरभवं सूर्यश्च कक्षिवानृषिरस्मि विप्र"इतितमेवावोचत ॥ ३१ ॥

# सू० जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ।१।१।३२॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारम् विद्यात्त्रि-शीर्षाणं त्वाष्ट्रमहन्नित्यादिजीवलिङ्गात्, "प्राणएव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयती" ति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च नात्र ब्रह्मपरिग्रहइति चेन्नोपासकतारतम्येन ब्रह्मोपासनायास्त्रैविध्याज्जीववर्गान्तर्यामित्वेन प्राणाद्यचेतनान्तर्यामित्वेन तदुभयविलक्षणेन चान्यत्राश्रितत्वादिहापि तद्योगात् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरक-मीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजात-सौरभे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रि
तत्वादिह तद्योगात् ।

ननु नात्र ब्रह्मप्राणादिशब्दैर्वक्तुं शक्यम् कुतः जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् जीवलिङ्गं तावत् "नवाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहन् महन्मुखान्यतीन् शालावृकेभ्यः प्राय च्छ"मित्यादि मुख्यप्राणलिङ्गं तु "अथ खलुप्राणएव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयती"ति तस्मान्नात्र ब्रह्मप्रतिपत्तिराश्रयितुं शक्येतिचेन्न कुतः "उपासा त्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्" उपासनायास्त्रिविधत्वमुपदेष्टुं ब्रह्मण एव तत्तच्छब्देनाऽभिधानं यथाऽन्यत्र त्रिविधोपासनं ब्रह्मण आश्रीयते तत्र "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दोब्रह्मेतिस्वरूपेण उपास्यत्वम् तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनञ्चानिलयञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानं चेत्यादिषु चिदचिदन्तरात्मतया सर्वात्मतयाच तस्योपास्यत्वमेवमिहप्रतर्दनविद्या-

यामपितद्योगात्तस्य त्रैविध्यस्य योगात्सम्भवात् न वाक्यभेदः एकब्रह्मपरत्वाद्वाक्यजातस्य । अत्रेदं बोध्यम् उपक्रमादिना वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वेन निश्चिते तत्रान्यलिङ्गश्च यद्दिभवेत्तदपि तदन्तरात्मनि तच्छक्तिमत्त्वेनोपास्ये ब्रह्मणि योज्यमिति । तस्मादिहेन्द्रप्राणादिशब्दनिर्दिष्टः परमात्मेतिसिद्धम् ॥ ३२ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्य्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये वेदान्तकौस्तुभे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रि
तत्वादिह तद्योगात् ।

"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात् त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहन्महन्मुख्यान्यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छमित्यादिजीवलिङ्गात् । अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति यावदस्मिन् शरीरे प्राणोवसति तावदायुरितिमुख्यप्राणलिङ्गाच्च नेदं वाक्यं ब्रह्मपरमिति चेन्न, उपासात्रैविध्यात् उपासनायास्त्रिविधत्वमुपदेष्टुं ब्रह्मण एव तत्तच्छब्देनाभिधानं यथा ऽन्यत्र त्रिविधोपासनं ब्रह्मणआश्रीयते तत्र "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आनन्दोब्रह्मे" ति स्वरूपेण ब्रह्मणउपास्यत्वं "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभव"-दित्यादिषु जीववर्गान्तर्यामितया प्राणाद्यन्तर्यामितया च तस्योपास्यत्वमेवमिह प्रतर्दनविद्यायामपि तद्योगात् तस्य त्रैविध्यस्य योगात्सम्भवात् अतः परं ब्रह्मपरमेवेदं वाक्यजातमितीन्द्रप्राणशब्द निर्दिष्टः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इतिश्री सनकसम्प्रदायप्रवर्तकाद्याचार्य श्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचरणपद्ममकरन्दभृङ्गेण श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन संगृहीतायां वेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ प्रथमाध्याये प्रथमपादविवरणं समाप्तिमगात् ॥

# सू० सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । १।२।१ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तउपासीत" इत्युपक्रम्य श्रूयते "मनोमयः प्राणशरीर" इति अत्र मनोमयत्वेनोपास्यः सर्वकारणभूतः परमात्मा गृह्यते न प्रत्यगात्मा, कुतः सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धस्य परमात्मनएव पूर्वत्रसर्वं खल्विदम्ब्रह्मेत्याद्युपदेशात् ॥ १ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं खलु प्रथमे पादे जिज्ञास्ये बृहत्तमे जगज्जन्मादिहेतौ शास्त्रैकप्रमाणके सर्वज्ञे समानातिशयशून्ये ऽनन्तकल्याणगुणगणैकराशौ भगवति श्रीवासुदेवे श्रुतीनां समन्वयो दर्शितः

इदानीं पादद्वयेन यानि कानिचिदस्पष्टजीवादिलिङ्गकानि कानिचित्स्पष्टजीवादिलिङ्गकानि च वाक्यानि तेषां तत्रैव समन्वयमाह भगवान्वेदाचार्यः —

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तउपासीताथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप" इत्यादिछन्दोगैः समाम्नायते ऽत्र मनोमयत्वादिधर्मकः किम् क्षेत्रज्ञउपास्यत्वेन गृह्यते, उत परमात्मेति संशयः, किमत्र युक्तम् क्षेत्रज्ञइति कस्मात् क्षेत्रज्ञस्य मनःप्राणोपकरणकत्वप्रसिद्धेः भगवतोब्रह्मणः परस्याऽ"प्राणोह्यमनाः शुभ्र"इतिमनःप्राणसम्बन्धाभावश्रुतेः किञ्च एष स आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वेति हृदयायतनत्वाणीयस्त्वयोः परिछिन्ने जीवे एव सम्भवाच्च । ननु श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यारूपाणि षट् प्रमाणान्युत्तरोत्तरदुर्बलानि तत्र

निरपेक्षरवः श्रुतिः शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम् अत्र हि मनोमयत्वादेर्जीवलिङ्गात्सर्वम् खल्विदं ब्रह्मेति पूर्वत्र श्रवणात् श्रुतिर्बलीयसीति पूर्वोक्तं ब्रह्मैवात्रोपास्यतया सम्बध्यतामिति चेन्न तद्वाक्यस्य शान्तउपासीतेति शान्तिसिद्ध्युपायभूतब्रह्मात्मकत्वोपदेशायोपक्षीणत्वाद्ब्रह्मोपासनविधिपरत्वा-भावादिति प्राप्ते । ब्रूमः मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैवात्रोपास्यः कुतः सर्वत्र सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धस्य जगज्जन्मादिकारणस्येह सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति इत्येवंसर्वात्मत्वेन सर्वकारणत्वेनोपदेशात् । यद्वा सर्ववेदान्तेषु "मनोमयः प्राणशरीरनेता सएषोन्तर्हृदयआकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमय" इत्यादिषु परब्रह्मणि प्रसिद्धानां मनोमयत्वादीनामुपदेशात् तत्र मनोमयत्वं विशुद्धमनोग्राह्यत्वं प्राणशरीरत्वं प्राणस्याप्याधार-त्वं नियन्तृत्वं च अप्राणः प्राणानधीनस्थितिः अमनाः मनोऽनधीनज्ञानइत्यर्थः । यद्वा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तउपासीतेति सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तःसन्नुपासीतेत्युपासनं विधीयते । स क्रतुं कुर्वीतेति पूर्वस्यैव मनो-

मयत्वादिगुणोपपादनायानुवादः सर्वात्मकं ब्रह्म मनोमयत्वादि गुणकमुपासीतेति वाक्यार्थः। तत्र सर्वात्मत्वेन निर्दिष्टं ब्रह्म किं क्षेत्रज्ञ उत परमात्मेति संशये, किं तावद्युक्तं क्षेत्रज्ञ इति कुतः तस्यैवानाद्यविद्यामूलकर्मनिमित्तक-ब्रह्मादिसर्वभावोपपत्तेः । परब्रह्मणस्तु सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वापहतपाप्मत्वस्वभावतोऽस्त—समस्तदोषत्वादियोगान्न ह्येयाकारसर्वतादात्म्यमुपपद्यते। ब्रह्मशब्दोऽपि वृहद्गुणयोगेन तत्रैव वर्त्तते। जगज्जन्मादेश्च कर्मनिमित्तत्वात्तद्धेतुनिर्देशोऽपि तत्रोपपद्यते इति प्राप्ते, आह "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्" सर्वात्मत्वेन जगज्जन्मादिहेतुत्वेन च निर्दिष्टोब्रह्मशब्दार्थः परमात्मैव तस्मादेव सर्वत्र वेदान्तेषु जगज्जन्मादिप्रसिद्धतयोपदेशात् जगज्जन्मादेर्जीवकर्तृकत्वासम्भवाच्च । "सोऽकामयत वहु स्यां प्रजायेयेति इदम् सर्वमसृजत"त्यादिषु परमेश्वरस्यैव जगद्धेतुत्वप्रसिद्धेः। उक्तम् च मोक्षधर्मे "कुतःसृष्टमिदम् विश्वं जगत्स्थावरजङ्गमं प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह॥ ससागरः सगगनःसशैलः सवलाहकःसभूमिः

साग्निपवनोलोकोयं केन निर्मित" इत्युपक्रम्य "भृगुणाऽभिहितं शास्त्रं भारद्वाजाय पृच्छते" इत्युक्ता" नारायणाभिधानस्य कूटस्थस्याक्षरात्मनः अव्यक्तस्याप्रमेयस्य प्रकृतेः परतस्य चे" त्यादिना सर्वभूतोत्पत्तिमुक्ता "ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा। तस्मात्पद्मात्समभवद् ब्रह्मा वेदमयोनिधि"रित्युक्ता। "दुर्विज्ञेयोह्यचिन्त्यात्मा सिद्धैरपि न संशयः सएष भगवान्विष्णुरनन्तइति विश्रुतः॥ सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः। अहङ्कारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै। यतः समभवद्विश्वं पृष्टोऽहम् यदिह त्वये"ति सकलचेतनाचेतनकारणत्वन्नारायणस्य ब्रह्मणः श्रीकृष्णस्योक्तम् । तस्मात्परमात्मैवात्र ब्रह्मशब्दवाच्योन जीवः ॥ १ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

श्रीशेषाय नमः एवं प्रथमे पादे अद्धोपपत्तिपूर्वकगुरूपसत्त्यादिना जातसंसारमोक्षेच्छावत्तया ब्रह्मजिज्ञासायां प्रवृत्तं प्रति लक्षणप्रमाणे निरूप्य प्रधानपुरुषावेव जगत्कारणतया वेदान्तप्रतिपाद्यावित्याशङ्क्य सर्वज्ञसत्यसंकल्पस्वभावतोपाऽस्तसमस्तदोषदिव्यानन्तकल्याणगुणाकरस्य परब्रह्मणः श्रीकृष्णस्यैव जगत्का-

रणतया वेदान्तप्रतिपाद्यत्वमुक्तम् । अथ कानि चिदस्पष्टजीवादिलिङ्गकानि कानिचित्स्पष्टजीवलिङ्गकानि च यानि वाक्यानि तान्यपि ब्रह्मपराण्येवेति निर्णेतुं द्वितीयतृतीयपादावारभ्येते—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।

इदमाम्नायते छन्दोगैः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप"इत्यादि अत्र मनोमयत्वादिगुणकः क्षेत्रज्ञउपास्यत्वेनोपदिश्यते उत परं ब्रह्मेति संशयः । किन्तावत्प्राप्तं क्षेत्रज्ञ इति कुतः तस्यैव मनः प्राणोपकरणकत्वात् न ब्रह्मणः "अप्राणोह्यमनाः शुभ्र"इत्यादिश्रुतेः "ननु सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"तिपूर्वत्र श्रवणात् श्रुतिश्च लिङ्गाद्बलीयसीति पूर्वोक्तं ब्रह्मैवात्रोपास्यतया सम्बध्यतामिति, चेन्न तद्वाक्यस्य शान्तउपासीतेतिशान्तिसिद्धुपायभूतब्रह्मात्मकत्वोपदेशायोपात्तत्वान्न ब्रह्मोपासनविधिपरत्वं । किञ्च "एष मआत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वे"ति हृदयायतनत्वाणीयस्त्वयोः परिच्छिन्ने जीवएव सम्भवादिति प्राप्ते । कृतान्तः मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मावात्रोपास्यः कुतः सर्वत्र वेदान्तेषु परब्रह्मणि प्रसिद्धानां मनोमयत्वादीनामुपदेशात् । "मनोमयः प्राणशरीरनेता स एषोऽन्तर्हृदयआकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषोमनोमय" इत्यादिषु तत्र मनोमयत्वं विशुद्धमनोग्राह्यत्वं प्राणशरीरत्वं प्राणस्याप्याधारत्वं नियन्तृत्वं च अप्राणः प्राणानधीनस्थितिः अमनाः मनोऽनधीनज्ञानइत्यर्थः । अथवा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तउपासीतेति सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीतेत्युपासनं विधीयते । सक्रतुं कुर्वीतेति पूर्वस्यैव मनोम-

त्वादि गुणोपादानायानुवादः सर्वात्मकं ब्रह्म मनोमयत्वादि गुणकमुपासीतेति वाक्यार्थस्तत्र सर्वात्मत्वेन निर्दिष्टं ब्रह्म किं क्षेत्रज्ञः उत परमात्मेति किं तावद्युक्तं, क्षेत्रज्ञ इति कुतः तस्यैवानाद्यविद्यामूलकर्म निमित्तकब्रह्मादिसर्वभावोपपत्तेः पर-ब्रह्मणस्तु सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वापहतपाप्मत्वस्वभावातोऽपास्तस—मस्तदोषत्वादियोगात् नहेयाकारसर्वतादात्म्यमुपपद्यते ब्रह्मश-ब्दोऽपि बृहत्त्वगुणयोगेन तत्रैव वर्त्तते जगज्जन्मादेश्च कर्मनिमित्त-त्वात्तद्धेतुत्वानिर्देशोऽपि तत्रोपपद्यते इति प्राप्ते,तत्राह"सर्वत्रप्रसिद्धो पदेशात्"सर्वात्मत्वेन जगज्जन्मादिहेतुत्वेन च निर्दिष्टब्रह्मशब्दवाच्यः परमात्मैव तस्मादेव सर्वत्र वेदान्तेषु जगज्जन्मादीनां प्रसिद्ध-तयोपदेशात् । "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेये"ति "इदं सर्वमसृ-जते" त्यादिषु सर्वान्तर्यामितया सर्वात्मत्वमपि परब्रह्मणएवोप-पद्यते न प्रतिशरीरं भिन्नानां जीवानां । जगज्जन्मादेर्जीवकर्मनि-मित्तत्वात्सएव हेतुरित्यपि न परमेश्वरस्यैव जगद्धेतुत्वप्र-सिद्धेरतः परमात्मैवात्र ब्रह्मशब्दवाच्यः ॥ १ ॥

# सू० विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।

॥ १ । २ । २ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः सत्यसङ्कल्प" इत्यादीनां विवक्षितानां मनोमयत्वसत्यसङ्कल्प-

त्वादीनां गुणानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।

"मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः सत्यसङ्कल्प-आकाशात्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्व-मिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर" इत्यादिना ब्रह्मासा-धारणधर्मत्वेन वक्तुमिष्टाविवक्षितास्तेषां सत्य-सङ्कल्पइत्यादीनां गुणानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्चपूर्व-वाक्येब्रह्मपरिग्रहएव। सर्वमिदम् रसपर्यन्तं चेतना-चेतनात्मकमङ्गीकृतवानित्यभ्यात्तः गाम्भीर्याति-शयात्तूष्णीमासीनः अवाकीअनादरोआदरनिर-पेक्षः ॥ २ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।

"मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः सत्यसङ्कल्पआकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवा-क्यनादर" इत्यादिश्रुत्या वक्तुमिष्टानां मनोमयत्वादिगुणानां पर-मात्मन्येवोपपत्तेश्च । श्रुत्यर्थस्तु मनोमयः शमदमादिसाधनसहकृत-परमात्मोपासननिर्मलीकृतेन मनसा ग्राह्यः प्राणशरीरः सर्व-प्राणिधारकः प्राणो यस्य शरीरमाधेयं नियम्यभूतं च स भारूपो

भास्वररूपो दिव्याप्राकृतकल्याणरूपवत्तया निरतिशयौज्ज्वल्ययुक्तः सत्यसङ्कल्पः अप्रतिहतसङ्कल्पः आकाशात्मा आकाशवत्स्वच्छस्वरूपः सर्वप्रकाशकोवा सर्वं विश्वं कर्म यस्य सर्वा क्रिया वा यस्यस सर्वकर्मा सर्वेकामा भोग्यादयः सर्वविधा यस्य सन्ति ससर्वकामः दिव्याप्राकृतस्वभोग्यभूतसर्वविधगन्धरसयुक्तः सर्वमिदं रसपर्य्यन्तमङ्गीकृतवानित्यभ्यातः भुक्ता ब्राह्मणा इतिवत्कर्तरि क्तः यतोऽनादरः प्राप्तसमस्तकामत्वेनादरणीयाभावादादररहितः अतोवाक्उक्तिर्यस्य नास्तीत्यवाकी परिपूर्णैश्वर्यवत्वात्सर्वं तुच्छीकृत्य तूष्णीमासीनइत्यर्थः ॥ २ ॥

## सू० अनुपपत्तेस्तु नशारीरः ।

॥ १ । २ । ३ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

मनोमयत्वादिगुणकः परएव न जीवस्तस्मिन्मनोमयत्वसत्यसङ्कल्पत्वाद्यनुपपत्तेः ॥ ३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अनुपपत्तेस्तु नशारीरः ।

मनोमयत्वेन ब्रह्मैव गृह्यते उपासनार्थं नतु शारीरः शरीराभिमानी जीवः कुतः सत्यसङ्कल्प-

त्वादीनां जीवेऽनुपपत्तेः । किञ्च जीवे मनोमय-त्वादेरप्यनुपपत्तिरस्ति तथाहि "स क्रतुं कुर्वीत" कथम्भूतः मनोमयः पुनः प्राणशरीरइति विशेषणं जीवेऽत्र नोपपद्यते आकांक्षाविरहात् प्रयोजनाभावाच्च । परमात्मनि तु सर्वमुपपद्यते तथाहि "शान्तः सन्नुपासकोमुमुक्षुर्वा फलविशेषकामोवा क्रतुं ध्यानं कर्मवा कुर्वीत"त्युक्तेःकिमाश्रयं ध्यानं कर्म वा कुर्यादित्याकांक्षायां "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"तिपूर्वनिर्दिष्टः सर्वात्मा पुरुषोत्तमः क्रतुविषयत्वेनान्वेति, तद्विषयकं चेदं वाक्यं मनोमयः प्राणशरीर इत्यादितस्मान्मनोमयत्वादि जीवे न सङ्गच्छते ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।

पूर्वोक्तमनोमयत्वादीनां शारीरे शरीरसम्बन्धिनि जीवेऽनुपपत्तेश्च परमेव ब्रह्म तद्गुणकमुपास्यम् ॥ ३ ॥

## सू० कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।

१ । २ । ४ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

इतोऽप्यत्रमनोमयादिपदवाच्योन शारीरः "एतमितः प्रेत्य सम्भवितास्मी"ति"कर्मकर्तृव्यपदेशात्" ॥ ४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।

मनोमयः प्राणशरीरश्चेतोपि शारीरेण बोध्यः कुतः "एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मी" तिशारीरस्य कर्तृत्वेनोपासकत्वेन व्यपदेशात् परमात्मनः कर्मत्वेवोपास्यत्वेन प्राप्यत्वेन च व्यपदेशात् । एतं प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणकमुपास्यं ब्रह्माहम् मुमुक्षुरितः शरीरपातादूर्ध्वं प्रारब्धकर्मप्रध्वंसानन्तरं भवितास्मि प्राप्तास्मि । एवं व्यवसायवानुपासकोब्रह्म प्राप्नोतीतिश्रुत्यर्थः ॥ ४ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च।

इतश्च मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव नशारीरः यतः "एत-मितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मी" त्यादिश्रुतौ एतमिति उपास्यस्य परमात्मनः प्राप्यतया कर्मत्वेन अभिसम्भवितास्मीति उपासकस्य जीवस्य प्राप्तृतया कर्तृत्वेन च व्यपदेशात् ॥ ४ ॥

## सू० शब्दविशेषात् १।२।५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

मनोमयत्वादिगुणकः शारीरादन्यः परमात्मा "एषमे आत्मान्तर्हृदये इतिजीवपरमात्मनोः षष्ठीप्रथमान्तशब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

शब्दविशेषात्।

इतोऽपि मनोमयत्वादिगुणकः शारीरादन्यः परमात्मा कस्मात् "शब्दविशेषात्" समानप्रकरणे वाजिनां श्रुतिः "यथा व्रीहिर्वा यवोवा

श्यामाकोवा श्यामाकतण्डुलोवा एवमयम न्तरात्मन्. हिरण्यमयः पुरुष" इत्यन्तरात्मन्निति-सप्तम्यन्तात् शारीरवचनात् हिरण्यमयः पुरुष-इति प्रथमान्तात् परमात्मवाचकात् शब्दविशे-षात् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

शब्दविशेषात् ।

इतश्च मनोमयत्वादिगुणकः शारीरादन्यः "एष मआत्मा-न्तर्ऽहृदये" इति जीवपरयोः षष्ठीप्रथमान्तरूपशब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

## सू० स्मृतेश्च १।२।६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठती" तिस्मृतेश्च जीवपरमात्मनोर्भेदोऽस्ति ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

स्मृतेश्च ।

"योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि

पश्यति । तस्याहम् न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति । सर्वभूतस्थितं योमां भजत्येकत्वमास्थितः सर्वथा वर्त्तमनोऽपि स योगी मयि वर्त्तते । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय । मयि सर्वमिदम् प्रोतं सूत्रे मणिगणाइव । सर्वस्य चाहम् हृदि सन्निविष्टः मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च । ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया । यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः । ज्ञाज्ञौ-द्वावजावीशानीशौ, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनाना"मित्याद्याः श्रुतयोऽप्यत्र चकारादूह्याः एवं स्मृतिभ्यः श्रुतिभ्यश्च जीवब्रह्मणोर्भेदो ज्ञेयः एवमस्मिन्पादे चतुर्भिः सूत्रैर्भगवता सूत्रकारेण जीवपरमात्मनोर्भेदोदर्शितः । युक्तमश्चायं श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात् । परमात्मा नित्यमुक्तः सर्वज्ञः स्वाधीनः सर्वव्यापकः समानातिशयशून्यः सर्वात्मा सर्वनियन्ता च । जीवस्तु नित्यज्ञानरूपोऽपि अनादिमायावृतज्ञानधर्मोबन्धमोक्षार्होऽल्पज्ञोहि ब्रह्मांशभूतोभगव-

त्पराङ्मुखत्वात्स्वकृतैः कर्मभिर्नानायोनिषु बभ्रम-माणः प्रसिद्ध एव "सन्नात्मा । तत्त्वमसि सर्वं खल्विदं ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्मे"त्यादिशास्त्रसिद्धोऽभेदोपि युक्ततमः एवं भेदाभेदप्रकारं भगवान्सूत्र-कारःस्वाभिमतमंशोनानाव्यपदेशादित्यादौ वक्ष्यति तत्रैव निपुणं वक्ष्यामः ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्मृतेश्च ।

"सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः, ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, तमेव शरणं गच्छ" त्यादिस्मृतिश्चोपास्योपासकयोर्भेदं दर्शयति । अत्र केचित्पर एव त्वात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीरइत्युपचर्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभ परिच्छिन्नवदवभासते तद्वत् तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुध्यते । प्राक्तत्त्वमसीत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात् । गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यादिति वदन्ति तदयुक्तम् । सर्वज्ञसर्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य परब्रह्मणो निरतिशयानन्दत्वेन स्वभावसिद्धविद्यारूपत्वेन चाविद्यायोगासम्भवात् तत्कल्पितोपाधियोगस्य सुतरामसम्भवः अयंभावः सर्वगताद्वितियात्मवादे उपाधीनां विभुत्वं वा अणुत्वं वा मध्यमपरिमाणत्वं वेति, नाद्यः सर्वस्याप्यावृतत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गः प्रकाशकाभावात् गत्याद्यनुपपत्तेश्च मुक्तोपसृप्याभावप्रसङ्गाच्च । न द्वितीयः

उपाधिगमने तदवच्छिन्नाद्वितीयचिन्मात्रस्य सर्वगतत्वात् घट-गमने तदवच्छिन्नाकाशस्य गत्यनुपपत्तिवदुपाधिना सह गमनानुपपत्तेः पदे पदे वन्धमोक्षौ स्यातां । अनाद्युपाध्यवच्छिन्नस्याकस्मात् शास्त्रोक्तसाधनकदम्बं विनैव मुक्तिप्रसङ्गात् नित्यमुक्तस्य शुद्धबुद्धाद्वितीयनिर्विशेषचिन्मात्रस्याकस्माद्बन्धप्रसङ्गाच्च तद्विषयकजिज्ञासाशास्त्रारम्भवैयर्थ्याच्च मुक्तस्यापि पुनर्बन्धावश्यंभावाच्च पादादिवेदनादेः शिरसि गतसुखस्य च युगपदनुभवानुपपत्तेः । नापितृतीयः उपाध्यणुत्वनिरूपितजीवाणुत्वसिद्धान्तविरोधात् चाक्षुषत्वापत्तेश्च । किञ्च परिच्छेदकस्योपाधेः सत्यत्वं-वा मिथ्यात्वं वेति नाद्यः द्वैतापत्त्या सिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गात् सत्यस्य ज्ञाननाश्यत्वाभावेनानिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च परमतप्रवेशापत्तेश्च । न द्वितीयः अनुपपन्नत्वात् अन्यथा स्वाप्ननिगडेन जाग्रदवस्थायां वन्धनापत्तिर्दुर्वारा एतस्य दृष्टश्रुतागोचरत्वात् प्रमाशून्यत्वात् श्रुतियुक्तिविरुद्धत्वाच्चेति संक्षेपः । विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः तस्मात्तच्छक्तिभूतस्य जीवस्यैवाविद्याकर्मादियोगाद्बन्धमोक्षभाक्त्वं न परस्येति ॥ ६ ॥

## सू० अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्चेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।१।२।७॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"एषमे आत्मा हृदये" इत्यल्पायतनत्वात्

"अणीयान् व्रीहेर्वेत्यल्पत्वव्यपदेशान्नात्र न ब्रह्मेतिचेन्नैव तथात्वेन ब्रह्मणइहोपास्यत्वात् बृहतोऽल्पत्वन्तु गवाक्षव्योमवत्सङ्गच्छते ॥ ७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्चेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।

ननु नेहोपास्यत्वेन ब्रह्म परिगृह्यते कस्मात् "अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च" अर्भकम् स्वल्पमोकः स्थानं यस्याराग्रमात्रस्य जीवस्य सोऽयमर्भकौकास्तस्य भावस्तत्त्वम् तस्माज्जीवालिङ्गादिति फलितोऽर्थः "एष मे आत्माऽन्तर्हृदये" इतिहृदयाख्यपरिच्छिन्नस्थानस्थत्वम् जीवधर्मएव न ब्रह्मधर्मइति यावत्। किञ्चैषअणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वेति स्वशब्देनैवाणीयस्त्वस्य व्यपदेशाज्जीवएवात्र परिगृह्यते न ब्रह्मेति चेन्न, कुतः "निचाय्यत्वादेवम्" एवम् स्वल्पपरिमाणहृदयस्थत्वेन निचाय्यत्वादुपास्यत्वात्परमात्मनस्तथात्वं व्यपादिश्यते। नचैतेन सर्वव्यापकत्वहानिः अणीयस्त्वञ्चसूक्ष्मत्वेनोपासना-

विशेषविवक्षया व्यपदिश्यते नचैतावता ऽल्प-प्रमाणापत्तिः "ज्यायान्पृथिव्याज्यायानन्तरिक्षा", दित्यादिनाभगवतोमहत्वाभिधानात्। तत्र दृष्टान्तः यथाखलुसर्वगतमपि व्योमाल्पपरिमाणौ को ऽल्पणीयोऽपि सूचीपाशापेक्षया व्यपदिश्यते तद्वत्प्रकृतं ब्रह्मापीत्यर्थः ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च।

अर्भकमल्पमोको नीडमायतनं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् "एषमे आत्माऽन्तर्हृदय"इत्यल्पायतनत्वात् "अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वे"ति स्वरूपेणाल्पत्वव्यपदेशाच्चाणुपरिमाणको जीवएवा-त्रोपास्यतयोपदिश्यते न परमात्मेति चेन्नैतत्, निचाय्यत्वादेवं-एवं द्रष्टव्यत्वादुपास्यत्वात् परिच्छिन्नायतनत्वाणीयस्त्वव्यपदेशो न स्वरूपाल्पत्वेन "ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षादि"त्यादिना स्वाभाविकमहत्त्वस्यापि व्यपदेशात्, व्योमवच्च चशब्दोनियोगे यथा महतोपि व्योम्नः सूच्यादावल्पत्वानुसन्धानं तद्वदे-वेत्यर्थः ॥ ७ ॥

## सू० सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात् १।२।८।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्वहृदयसम्बन्धात्सुखदुःखसम्भोगप्राप्तिर्ब्रह्मणोपिजीवस्येवेतिचेन्नायं दोषः स्वकृतकर्म्मफलभोक्तृत्वेनापहतपाप्मत्वेनच जीवब्रह्मणोऽत्यन्तविशेषात् ॥ ८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात् ।

ननु जीवात्मनएकहृदयसम्बन्धान्नाना सुखदुःखसम्भोगप्राप्तिः सर्वगतस्य परमात्मनोयुगपत्सर्वहृदयसम्बन्धादवश्यं सर्वत्र सुखदुःखसम्भोगप्राप्तिरेवं सति सुखदुःखभोक्तृत्वेन परस्य जीववत्सर्वे दोषाः प्राप्नुवन्ति परोऽप्यतः कर्मवश्यवद्भवितुमर्हतीति चेन्न, वैशेष्यात्, विशेषएव वैशेष्यं स्वार्थे ष्यञ् विशेषातिशयद्योतनार्थोवा जीवस्य स्वकृतकर्मफलभोक्तृत्वम् परमात्मनस्तद्वैलक्षण्यं च शास्त्रसिद्धमस्ति । "तत्र यः परमात्मा

ऽसौ सनित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलै-श्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा । कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षवन्धैः सयुज्यत" इतिस्मृतेः "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहे"ति श्रीमुखवचनाच्च एवम् तयोरत्यन्तं विशेषाज्जीवस्यैव सम्भोगप्राप्तिर्न परमात्मनस्तस्मान्मनोमयः प्राणशरीरः परमात्मैवेतिसिद्धम् । *पूर्वाधिकरणे "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिसमन्वयं ब्रह्मणि प्रदर्श्यान्ते ब्रह्मणः कर्मजन्यसुखदुःखभोक्तृत्वाभावोऽप्युक्तः । इदानीं यस्यब्रह्मेत्यादिश्रुतिसमन्वयम् तत्र दर्शयन् तस्य पूर्ववच्चराचरात्तृत्वाभावोऽप्यस्त्विति शङ्कां निराकरोति ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।

जीवेन सहैकस्थानस्थितस्य परमात्मनोऽपि जीववत्सुखदुःखादिसम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् हेतोरिति शेषः नह्येकत्र स्थितिरेव सुखाद्युपभोगहेतुः अपितु पुण्यादिकर्मपरवशत्वम् तस्य त्वपहतपाप्मत्वादिगुणवति परमात्मन्यसम्भवात् । अन्यथाग्निदेशस्थितादिगाकाशयोरपि दाहप्रसङ्गः ॥ ८ ॥

---

* इति प्रथमाधिकरणम् ।

# सू० अत्ता चराचरग्रहणात्

१ । २ । ६ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवतओदनं मृत्युर्यस्योपसेचनं कइत्था वेद यत्र स" इत्यत्रात्ता श्रीपुरुषोत्तमः कुतः मृत्यूपसेचनौदनस्य ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितचराचरात्मकस्य विश्वस्य ग्रहणात् ॥ ६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अत्ता चराचरग्रहणात् ।

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवतओदनं मृत्युर्यस्योपसेचनं कइत्था वेद यत्र स" इति कठवल्लीषु पठ्यते । अत्रौदनग्रहणेन भोज्यं गृह्यते, यस्येति सम्बन्धनिर्देशेनात्ता गृह्यते, सकिमग्निरुत क्षेत्रज्ञ आहोस्वित्परमात्मेति सन्दिह्यते । त्रयाणामप्यत्र प्रकृतत्वात्किन्तावद्युक्तमग्निस्तावदत्ता स्तुतस्य ब्रह्मक्षत्रादिदहन-

सामर्थ्यप्रसिद्धेः "अग्निरन्नाद" इति-श्रुतेश्च क्षेत्रज्ञोवात्ताऽस्यात्तस्यभोक्तृत्व प्रसिद्धेः तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति श्रुतेश्च पूर्वाधिकरणे तस्यैव भोक्तृत्वेन निरूपणाच्च । परमात्मनस्त्वनश्नन्निति निषेधश्रुतेः पूर्वाधिकरणे सम्भोगप्राप्तिनिषेधाच्च नात्रात्तृत्वेन परिग्रहइतिप्राप्ते, ब्रूमः अत्रात्ता खलु परमात्मा भवितुमर्हति कुतोज्ञायते चराचरग्रहणात् चराचरयोरिहाद्यत्वेन ग्रहणात् । ननु नात्र चराचरशब्दोऽस्तीति चेन्मास्तु चराचरशब्दः ब्रह्मक्षत्रग्रहणेनोपलक्षणार्थेन चराचरग्रहणात्, मृत्योश्चराचरान्वयित्वेनोपसेचनविषयस्यौदनस्य चराचरात्मकस्य ग्रहणाच्च, तस्मादत्ता विश्वसंहर्त्ता परमात्मेति फलितोऽर्थः । नह्यग्नेर्जीवस्य वा कृत्स्नजगदत्तृत्वमुपपद्यते अनश्नन्निति कर्मफलभोग प्रतिषेधः ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत्ता चराचरग्रहणात् ।

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवतओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं कइत्था वेद यत्र स" इतिकठवल्ल्याम्नातस्यौदनोपसेचनशब्दसूचितस्यादनीयस्यात्ता किं क्षेत्रज्ञः परमात्मा वेति

संशयः, तत्र भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वेन "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ती"ति श्रुत्या जीवस्यैव तत्सम्भवइति प्राप्ते ब्रूमः। अत्ताऽत्र परमात्मैव कुतश्चराचरग्रहणात् मृत्यूपसेचनौदनस्य ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितचराचरात्मकस्य कृत्स्नस्य जगतो ग्रहणात् विश्वसृष्टिस्थितिलयलीलस्य परमात्मनो जगदुपसंहारित्वरूपः भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वाभावात् जीवस्यसर्वजगदुपसंहारित्वासम्भवात्, "अनश्नन्नि"ति श्रुतिश्च कर्मफलोपभोगनिषेधविषया ॥९॥

# सू० प्रकरणाच्च ॥ १ । २ । १० ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अत्ता भगवान् पुरुषोत्तमः "महान्तंविभु"मितितस्यैव प्रकृतत्वाच्च ॥ १० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रकरणाच्च ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इत्यादिपरमात्मनः प्रकृतत्वात् "कइत्था वेद यत्र स" इतिपरमात्मासाधारणादुर्विज्ञेयत्वाल्लिङ्गाच्चात्ता परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

प्रकरणाच्च।

इतश्च परएवात्ता "महान्तं विभुमात्मानम् मत्वा "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य"इत्यादिना तस्यैव पूर्वं प्रकृतत्वात् ॥ १० ॥

## सू० गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि-तद्दर्शनात् ॥ १।२।११ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

"ऋतं पिवतौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टा" वित्यत्र गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि चेतनौ. हि जीवपरत्मानौ वोध्यौ, कुतस्तद्दर्शनात्तयोरेवास्मिन्प्रकरणे गुहाप्रवेशव्यपदेशदर्शनात्। "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितमि"तिपरमात्मनः "या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती साभूतेभिर्व्यजायते" ति जीवस्य ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

पूर्वत्र प्रकृतस्य ध्येयस्य परमात्मनश्चरा-

चरात्तृत्वं कइत्था वेदेति दुर्विज्ञेयत्वंचोक्तमिदानीं तद्भावापत्तिकामं तज्जिज्ञासुं चराचरात्मक-संसारकूपपतितं मुमुक्षुं प्रति सहचरत्वेन सुलभ-त्वसुज्ञेयत्वादीन् भगवद्गुणानुपदिश्य ऋतमि-त्यादिश्रुति समन्वयं भगवति दर्शयति —

गुहां प्रविष्टवात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।

पूर्वोक्तवाक्यानन्तरं कठवल्लीषु पठ्यते "ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्न-यो ये च त्रणाचिकेता" इति तत्र संशयः किमि-ह वुद्धिजीवौ गुहां प्रविष्टाविति निर्दिष्टावुत जीवपरमात्मानाविति, किमत्र युक्तं वुद्धि-जीवौ भवतः गुहां प्रविष्टाविति वचनात् । सर्वगतस्य परमात्मनः गुहाप्रवेशासम्भवात् । ऋतं पिवन्ताविति कर्मफलभोक्तृत्वमाप्त-कामस्य परस्यासम्भवाच्च सुकृतस्य लोके-स्वनुष्ठितस्य कर्मणः फलभोगायतने लोक्यन्ते भुज्यन्ते कर्मफलान्यस्मिन्निति लोके शरीरे कर्मजन्ये सम्बन्धासम्भवाच्च । किञ्च जीवात्मनो

बुद्धिभिन्नत्वेन ज्ञानार्थं "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ऽस्तीत्येकेनायमस्तीति चैके एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽह"मिति प्रश्नदर्शनाच्च तावेवास्मिन्मन्त्रे प्रतिपाद्येते इतिप्राप्ते उच्यते, गुहां हृदयलक्षणां प्रविष्टौ आत्मानौ हि चेतनौ एव। ननु.जीवात्मनोऽणुत्वेन प्रवेशोयुक्तः परमात्मनोविभुपरिमाणस्य तु गुहाप्रवेशो न संगच्छते इतिपूर्वोक्तदोषस्तदवस्थइति चेन्न तद्दर्शनात् व्यापकस्यापि तस्य परमात्मनः स्वानन्यजनेच्छया स्यांमेवोपनिषदि "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति ईशानोभूतभव्यस्ये"ति स्वानन्यजनगुहायां दर्शनविधानात्। "गुहाहितं गह्वरेष्ठं यो वेद निहितं गुहाया" मिति तद्दर्शनाच्च "या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती सा भूतेभिर्व्यजायते"ति जीवस्य गुहाप्रवेशव्यपदेशाच्च। किञ्च "ऋतं पिवन्ता"वित्यत्र कर्मफलभोक्तृत्वेनैकस्मिन् चेतने निश्चिते सति द्वितीयेनापि चेतनेनैव भाव्यम् सङ्ख्याश्रवणे सति सङ्ख्यावतोर्हि समानजातीयत्वस्य लोके दर्शनादित्यर्थः तद्यथा "स्यमोर्हि-

तीयोऽन्वेष्टव्यइत्युक्ते गौरेवान्विष्यते नाश्वो न गर्दभ" इति महाभाष्ये स्थितम्, यदुक्तं जीवात्मनो बुद्धिभिन्नत्वेन ज्ञानार्थं प्रश्नदर्शनादिति तस्य प्रश्नस्य तु अन्यदेवोत्तरं नत्विदम् वाक्यम् नचर्त्तपानानुपपत्तिरिति वाच्यम् छत्रिणोयान्तीतिवदृतम्पिवन्ताविति निर्देशस्य सम्भवात् जीवः पिबति तमपरः पाययतीति प्रयोजककर्तृत्वसम्भवाच्च। यो हि कश्चिदनन्यशरणस्तत्कृतकर्मफलस्य तदर्पितस्याग्रभुगपञ्जगत्कारणभूतः परमात्मेति सर्वत्र प्रसिद्धश्च कर्मजन्यशरीरवर्त्तित्वमपि परस्यैतेन व्याख्यातम् छाया यथाऽऽतपेनापसारयितुं शक्या नतु छाययाऽऽतप इत्येवं छायातपौ स्वाधीनपराधीनौ ब्रह्मजीवात्मानावित्यर्थः ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तत्रैवानन्तरं "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता" इति मन्त्रे ऋतपानकर्ततया निर्दिष्टौ जीवपरमात्मानौ बुद्धिजीवौ वेति संशये, द्वयोः कर्मफलभोक्तृत्वश्रवणात् परस्य च तदसम्भवात् सुकृतसाध्यलोकवर्ति-

त्वगुहावच्छिन्नत्वयोः सर्वगते परब्रह्मण्यसम्भवात् छायातपनिर्दिष्टतमः प्रकाशत्वयोरपि जीवपरमात्मपरत्वे ऽसम्भवात्रातो बुद्धिजीवावेवात्र मन्त्रे प्रतिपाद्येते न जीवपरमात्मानौ बुद्धेर्भोक्तृजीवोपकरणतया यथा कथञ्चित्पाने ऽन्वयसम्भवादिति प्राप्ते आह—

गुहांप्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।

हृदयगुहां प्रविष्टौ जीवपरावेव हि यतस्तयोश्चेतनत्वेनैकस्वभावत्वात् सङ्ख्याश्रवणे सति एकस्मिन्सम्प्रतिपन्ने द्वितीयाकाङ्क्षायां प्रतिपन्नजातिमुपजीव्यव्यक्तिविशेषपरिग्रहे बुद्धिलाघवात् विजातीयपरिग्रहे जातिव्यक्तिबुद्धिद्वयापेक्षागौरवात् प्रतिपन्नजातीयपरिग्रहोयुक्तः । "अस्यगोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्यइत्युक्ते गौरेवान्विष्यते नाश्वो न गर्दभ" इति महाभाष्यकारोक्तेः तथाच ऋतपानलिङ्गावगतजीवस्य द्वितीयश्चेतनत्वेन तत्सजातीयः परमात्मैव ग्राह्यः तस्य प्रयोजककर्तृतया छत्रिन्यायेन वा पिबन्ताविति निर्देशस्यापि सम्भवात् बुद्धौ स्वतन्त्रकर्तृत्वस्यासम्भवात् "गुहां प्रविष्टा"विति गुहाप्रवेशस्यापि "गुहाहितम् गह्वरेष्ठं यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्नात्मानमन्विच्छ "गुहां प्रविष्ट"मित्यादिश्रुतिस्मृतिषु प्रदर्शनादुपपत्तेः छायातपशब्दाभ्याम् च किञ्चिज्ज्ञसर्वज्ञयोः प्रतिपादनसम्भवात् सुकृतसाध्यलोकवर्त्तित्वस्यापि छत्रित्ववत्सम्भवात् जीवाद्द्वितीयः परमात्मेति कथं प्राप्यते तद्दर्शनात् तयोरेवास्मिन्प्रकरणे गुहाप्रवेशव्यपदेशदर्शनात् "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहित"मिति परस्य "या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती सा भूतेभिर्व्यजायते"ति जीवस्य तत्र कर्मफलान्य-

तीत्यदितिः प्राणेन सहवर्त्तते देवतामयी इन्द्रियाधीनभोगा- भूतेभिर्भूतैः पृथिव्यादिभिः सहिता देवादिरूपेण विविभाजा- यतइत्यर्थः ॥ ११ ॥

# सू० विशेषणाच्च १।२।१२

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवपरयोरेवात्र गुहाप्रविष्टत्वेन परिग्रहः यतोऽस्मिन्प्रकरणे "ब्रह्मयज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति यः सेतुरीजाना- ना"मित्यादिषु तयोरेवोपास्योपासकभावेन वेद्य- त्ववेतृत्वादिना च विशेषितत्वाच्च ॥ १२ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

विशेषणाच्च ।

जीवपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ बोद्धव्यौ तयोरेव विशेषणाच्च "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवच । सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदं । तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गव्हरेष्टं पुराणं अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाती"त्यादिना ऽस्मिन्ग्रन्थे

जीवपरमात्मनोरेवगन्तृगन्तव्यभावेन मन्तृमन्तव्य-भावेन च विशेषितत्वादित्यर्थः ।. तस्माद्गुहा-प्रविष्टत्वेनात्र जीवपरमात्मानौ परिगृह्येते न बुद्धिजीवाविति सिद्धम् ❀ ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विशेषणाच्च ।

अत्र प्रकरणे जीवपरयोरेव "ब्रह्मयज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति यः सेतुरीजानानां आत्मानं रथिनं विद्धि विज्ञानसारथिर्यस्तु" इत्यादिषु उपास्यत्वो-पासकत्वप्राप्यत्वप्राप्तृत्वगन्तव्यत्वगन्तृत्वादिभिर्विशेषत्वेन प्रति पादनात् ॥ १२ ॥

## सू० अन्तरउपपत्तेः । १ । २ । १३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यएषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यक्षि-ण्यन्तरः पुरुषोत्तमएव नान्यः कुतः "एषआ-त्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति एतत्सं-

---

* इति तृतीयाधिकरणम् । ❀ इति तृतीयाधिकरणम् ।

यद्वामइत्याचक्षते" इत्यात्मत्वाऽभयत्वादीनां सं-
यद्वामत्वादीनां च पुरुषोत्तमे एवोपपत्तेः ॥ १३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं यएषोन्तरक्षिणीत्यादिश्रुतिसमन्वयं ब्रह्मणि दर्शयन् पूर्वत्र द्विवचनदर्शनाज्जीवपरमात्मनोर्ग्रहणमिह त्वेकवचनात्कस्य ग्रहणमितिशङ्कां निराकरोति —

अन्तरउपपत्तेः ।

छान्दोग्ये उपकोशलविद्यायां श्रूयते "यएषोन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते एषआत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकम् वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छती"त्यादि तत्र सन्देहः अक्षिमध्यगतउपदिश्यमानः पुरुषः छायात्मकः उत जीवः इन्द्रियाधिष्ठातृदेवता वा आहोस्वित्परमात्मेति । अत्र पूर्वपक्षः दृश्यते इतिवचनात् छायात्मकः पुरुषो ऽस्तुछायात्मकस्यदृश्यत्वप्रसिद्धेः जीवादेरदृश्यत्वात् यदिदर्शनमत्रशास्त्रीयमित्युच्यते तदाजीवस्य चक्षुषि रूप-

द्रष्टृतया सन्निहितत्वादस्तु जीवोऽक्षिण्यन्तरः चक्षुरधिष्ठातृदेवता वा तादृशपुरुषशब्दाभिधेया- "रश्मिभिरेषो ऽस्मिन्प्रतिष्ठित" इतिश्रुतेः सर्वगत- स्याक्षिस्थानत्वासम्भवादित्यत्र ब्रूमः, अन्तरः अक्षि- मध्यस्थःपरमात्मैव कस्मादुपपत्तेः आत्मत्वामृत- त्वाभयत्वादीनां परमात्मन्येवोपपत्तेः यद्यप्यात्मत्वा- दिर्जीवस्वरूपे नो विरुध्यते तथाऽपि ब्रह्मशब्दस्य सति मुख्यार्थलाभे ऽर्थान्तरपरत्वम् नोपपद्यते। किञ्चाभयत्वमपि प्रकृताद्ब्रह्मणोऽन्यत्र न सङ्गच्छते "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषा- स्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावतिपञ्चम" इतिमन्त्रवर्णाच्च। किञ्च "एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं हिसर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उ एव वामनी रेष हि सर्वाणि वामानि नयति एष उ एव भामनी- रेष हि सर्वेषु लोकेषु भाती"ति वाक्योक्तानां संयद्वामत्वादीनां परमात्मन्येवोपपत्तेश्च। संय- द्वामः संयन्ति वामानि कर्मफलानि यस्मादिति संयद्वामः सर्वकर्मफलोदयहेतुः एतदेवाह हि यतः एतमक्षिगतं पुरुषं हेतुमाश्रित्यवामा- न्यभिसंयन्ति उत्पद्यन्ते एष उ एव वामानि

कल्याणानि श्रेयांसि नयति जनं प्रापयतीति वामनीः एतदेवाह एष हि सर्वाणि वामानिनयतीति एष उ एव भामनीःभामानि नयतीति भामनीः सर्वप्रकाशकः एतदेवाह एषहि सर्वेषु लोकेषु भातीति इतिश्रुत्यर्थः ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अन्तरउपपत्तेः ।

छान्दोग्ये इदं श्रूयते "यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तत्र सन्दिह्यते किमयमक्ष्यन्तरः पुरुषः प्रतिविम्बात्मेति उत जीव उतेन्द्रियाधिष्ठातृदेवविशेषः अथवा परमात्मेति किं तावत्प्राप्तं, प्रतिविम्बात्मेति,कुतः दृश्यतइत्यपरोक्षतया प्रसिद्धवन्निर्देशात् जीवोवा तस्यापि चक्षुषिरूपदृष्टृतया सन्निहितत्वादात्मशब्दवाच्यत्वाच्च आदित्योवा चक्षुरनुग्राहकः "रश्मिभिरेषो ऽस्मिन्प्रतिष्ठितइतिश्रुतेरेवं प्राप्ते ब्रूमः । अक्ष्याधारः पुरुषः परमात्मैव कुतउपपत्तेः आत्मत्वामृतत्वाभयत्वापहतपाप्मत्वसंयद्वामत्वादिगुणजातस्य तत्रैवोपपत्तेः ॥ १३ ॥

## सू० स्थानादिव्यपदेशाच्च ।

१ । २ । १४ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

परमात्मनो "यश्चक्षुषि तिष्ठन्नि"त्यादिश्रुत्या-स्थानादेर्व्यपदेशाच्चाक्षिपुरुषः सएव ॥ १४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

ननु सर्वगतस्य कथमल्पस्थानव्यपदेश-इत्यत्राह भगवान्सूत्रकारः —

स्थानादिव्यपदेशाच्च।

अक्षिण्यन्तरः पुरुषः परमात्मैव भवितु-मर्हति कुतः "स्थानादिव्यपदेशात्" यश्चक्षुषि तिष्ठन्नित्यादिना सर्वकारणकारणस्य सर्वान्तरात्मनः श्रीपुरुषोत्तमस्य सर्वोपास्यस्यैव स्थानव्यपदेशात् एकदेशवर्त्तिनो ऽन्यत्र वासायोगात्। ननु सर्वगतस्य कथमल्पदेशस्थत्वमिति नात्र काचिदनुपपत्तिर्यथासर्वगोऽप्यग्निः स्वमहिम्ना विद्युदादिरूपेण मेघादौ दृश्यो भवति तथा सर्वगोऽपि भगवान्स्वासाधारणशक्तियोगादुपासककामपूरणाय चक्षुरादौ दृश्यो भवति आदिशब्दा"दथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो

दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः स एतस्माज्जीव-
घनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते अङ्गुष्ठमात्रः
पुरुषोज्योतिरिवाधूमकः" इत्यादिषु प्रसिद्धस्य
परमात्मानुरूपस्य स्थानवासयोग्यस्य परमात्म-
विग्रहस्य व्यपदेशात् पुरुषोदृश्यते इत्यनेन
रूपव्यपदेशादित्यर्थः च शब्देनाक्षिहृदयादिषु यथेष्ट-
रूपेणाविर्भवनसामर्थ्यं दर्शितम् ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्थानादिव्यपदेशाच्च ।

चक्षुषि स्थितिनियमनादीनां "यश्चक्षुषि तिष्ठन्नित्यादिश्रुत्या परमात्मन्येव व्यपदेशात्सएवाक्ष्याधारः दृश्यतइत्यपरोक्षव्यपदेशो योगिदृष्ट्योपपद्यते ॥ १४ ॥

## सू० सुखविशिष्टाभिधानादेव च १ । २ । १५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अक्षिगतः परएव "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" तिसुख

## विशिष्टाभिधानाच्च ॥ १५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

सुखविशिष्टाभिधानादेवच ।

अक्षिपुरुषोजगत्कारणभूतः पुरुषोत्तमएव नान्यः कुतः सुखविशिष्टाभिधानाच्च "प्राणोब्रह्म खंब्रह्म कं ब्रह्मे"त्युपक्रमवाक्ये कं ब्रह्म सुखविशिष्टं ब्रह्मेत्यभिधीयते तदेवात्रान्वेति ॥ १५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सुखविशिष्टाभिधानादेवच ।

इतश्चाक्ष्यन्तरः पुरुषः परमात्मा "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽत्राक्ष्याधारतया संयद्वामत्वादिगुणवत्तया चोपास्यत्वाभिधानात् एवकारो हेतुनैरपेक्ष्यद्योतकः नन्व"थहैनं गार्हपत्योऽनुशशासेत्यादिना मध्येऽग्निविद्योपदेशात्कथमक्षिस्थानकं प्रकृतं ब्रह्मेति फलवैलक्षण्यणयोपदेशाच्चेति चेदुच्यते "तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"ति "यएषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एषआत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मे"त्युपक्रमोपसंहारयोः श्रूयमाणोब्रह्मशब्दोमध्योपादिष्टाग्निविद्याया ब्रह्मविद्याङ्गत्वमवगमयति एवं च"पहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते उप वयन्तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोके ऽमुष्मिंश्च इतिफला-

न्तराभिधानस्य मोक्षाविरोधित्वादर्थवादत्वमेवेति तत्र पाप-शब्दोब्रह्मविद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकपापपरः लोकशब्दो ब्रह्मलोक-प्राप्तिमार्गभूताग्निलोकपरः सर्वं ब्रह्मोपासनसमाप्त्यन्तं ज्योग्-व्याध्यादिरहितो यावद्ब्रह्मप्राप्ति अवरपुरुषाः पुत्रपौत्रादयः शिष्य-प्रशिष्यादयश्च वयमग्नयः तमेनमुपभुञ्जामो यावद्ब्रह्मप्राप्तिवि-घ्नेभ्यो रक्षामइत्यर्थः । आचार्यस्तु ते गतिं वक्ते"तिवदता-मग्नीनां त्वयमभिप्रायः हेउपकोशल ब्रह्मविद्यामनुपादिश्य प्रोषषि गुरौ तद्लाभादनाश्वासं त्वामुज्जीवयितुं ब्रह्मस्वरूप-मात्रं तदङ्गभूतामग्निविद्यां चोपदिशामः "आचार्याद्धैव विद्विता-विद्या साधिष्टं प्राप"दिति श्रुतेराचार्यएव ते तुभ्यं संयद्वाम-त्वादिगुणकं ब्रह्म अक्षिरूपं तदुपासनस्थानमर्चिरादिकाञ्च गतिं वक्ता वक्ष्यतीति आचार्योप्यग्रे तथैवोपदिदेशेत्यतः "कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"ति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोत्राभिधानादक्ष्य-न्तरः परमपुरुषएवेति ॥ १५ ॥

## सू० अतएव च तद्ब्रह्म ।

१ । २ । १६ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्कं ब्रह्मेति सुखविशिष्टं ब्रह्मैव कुतः "यद्वावकं तदेव खं यदेव खं तदेव क"मितिपरस्परवैशि-ष्ट्यप्रतिपादकवाक्यादेवच ॥ १६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ननुकमितिशब्दोवैषयिकसुखे रूढः कथं सुखविशिष्टं ब्रह्मेत्युच्यते इत्यत्राह भगवान्वेदाचार्यः —

अतएव चतद्ब्रह्म ।

तद्ब्रह्म तस्मिन्नुपक्रमवाक्येसुखविशिष्टं ब्रह्मैवाभिधीयते नतु वैषयिकं सुखं कुतः अतएवच "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव क"मिति परस्परवैशिष्ट्यबोधकात् वाक्यादेवच नहिवैषयिकसुखस्यखशब्दबोधिते व्यापके वस्तुनि अभिन्नत्वेनान्वयः सङ्गच्छते ॥ १६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु नामब्रह्ममनोब्रह्मेत्यादिवत् कं खं शब्दयोरपि लौकिकसुखभूताकाशयोः प्रसिद्धेः प्रतीकोपासनमेवेदमिति चेत्त्राहुः —

अतएव च तद्ब्रह्म ।

यतस्तत्र "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव क"मिति सुखविशिष्टाकाशस्यापरिच्छिन्नसुखस्य चाभिधानमतः खशब्दवाच्यं तदाकाशं परं ब्रह्मेति ॥ १६ ॥

## सू० श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च । १ । २ । १७ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

श्रुतोपनिषद्येन तस्यश्रुतोपनिषत्कस्य या गतिर्देवयानाख्या "अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायण-मेतस्मान्नपुनरावर्तते" इतिश्रुत्यन्तरे प्रसिद्धा "तस्माएवेहतेर्चिषमेवाभिसम्भवन्ती" त्यादिना— गतेरभिधानाच्चाक्ष्यन्तरःपुरुषःपुरुषोत्तमएव॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इतश्चाक्ष्यन्तरः पुरुषः परमात्मेत्याह भग-वान्सूत्रकारः —

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ।

उपनिषीदति विशीर्यते बन्धनं यस्याः सकाशात्

सा उपनिषत् परमात्मविद्या। यद्वा उपनिषीदति परमात्मानं प्रापयति या परमात्मविद्या सा उपनिषत् तत्सम्बधाद्ग्रन्थोऽप्युपनिषत् आचार्यमुखात् श्रुता उपनिषद्येन सहि श्रुतोपनिषत्कःसरहस्यब्रह्मवित् तस्य श्रुत्यन्तरे स्मृतिषु च प्रसिद्धा या गतिः औपनिषद्ब्रह्मप्राप्तिमार्गः साहि गतिः अक्ष्यन्तरपुरुषविदःखल्विहापि श्रूयते तस्माच्चापि श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानादक्षिपुरुषः परमात्मेत्यर्थः तथाहि "अथोत्तरेण तपसाब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त" इति श्रुत्यन्तरेण "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणं तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाइति स्मृत्या च यागतिर्विदुषो- ब्रह्मप्राप्तये दर्शिता सैवाक्षिपुरुषविदः श्रूयते "अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदु चनार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरन्हआपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमादित्या-

श्चन्द्रमसं चन्द्रमसोविद्युतं तत्पुरुषोऽमानवःस एतान् ब्रह्म गमयतीत्येष देवपथोब्रह्मपथएतेन प्रतिपद्यमाना इमम्मानवमावर्त्तनावर्त्तन्ते" इति तस्मादक्षिपुरुषः परमात्मैव । श्रुत्यर्थस्तु अथ-देहपातानन्तरमुत्तरेणाऽर्चिरादिमार्गेणादित्यमभिजयन्ते प्राप्नुवन्ति ततश्चन्द्रादिद्वारावक्ष्यमाण-क्रमेण ब्रह्मभावापत्तिःप्राप्नुवन्ति किं कृत्य तपसा त्रिविधेन भगवदुक्तेन यद्वा ; तपसा वानप्रस्थ-संन्यासिधर्मेणउभयोस्तपः प्रधानत्वात् श्रद्धया-चार्य्यचरणार्चनपरया मनोवृत्या विद्यया वेदान्त-श्रवणमननाभ्यां समुद्भूतया "निदिध्यासितव्य" इतिश्रुत्युक्तध्यानारुपयाऽऽत्मानमन्विष्यानुसन्धाये-त्यन्वयः । वेदान्तश्रवणमननाद्यनुगुणमाश्रम-विशेषं दर्शयति, ब्रह्मचर्येणेति ब्रह्मचर्यादिना त्वत्र केवलाश्रमधर्मो न ग्राह्यः ब्रह्मनिष्ठावर्जि-तानांकेवलाश्रमिणां वर्णाश्रमधर्मनिष्ठानां पुन-रावृत्तिलोकप्राप्तिर्भगवता श्रीपराशरेण "प्राजा-पत्यं ब्राह्मणाना"मित्यादिना "ब्राह्मं संन्यासि-नांस्मृत"मित्यन्तेनोक्ता तत्र ये परब्रह्मनिष्ठा-स्तेषां तु तत्पदप्राप्तिः एकान्तिनः सदा ब्रह्म-

ध्यायिनो योगिनो हि ये "तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरय"इत्यनेनोक्ता, अतः परब्रह्मनिष्ठा वानप्रस्थादयो बोध्याः । ब्रह्मचर्यं च नैष्ठिकानां निरस्तैहिकामुष्मिकभोगैषणानामूर्द्ध्वरेतसामभीष्टो धर्मो ऽत्राभिप्रेतः तेन ब्रह्मचर्येणाऽव्यभिचारिधर्मेण ब्रह्मान्वेषणं सङ्गच्छतइत्यर्थः उक्तोऽयं ब्रह्मचर्याख्यो धर्मः सर्वज्ञैर्मोक्षधर्मेवार्ष्णेयाध्यात्मे "यदिदं ब्रह्मणोरूपं ब्रह्मचर्यमखण्डितम् परं तत्सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गति"मिति आनुशासनिके "ब्रह्मचर्यस्य तु गुणांछृणु तात युधिष्ठिर आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी वृहद्व्रतः न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप वह्वयः कोट्यस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्द्ध्वरेतसाम् ब्रह्मचर्यं परो धर्मः सर्वाश्रमनमस्कृतम् ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन्सर्वपापान्युपासित" मित्यादि "यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमी"ति श्रुतेः "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यंचरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये"इतिश्रीमुखवचनादपि मुख्यं परमपदसाधनं ब्रह्मचर्य मेव"आवृत्तिरसकृदुपदेशा"-

द्विति वक्ष्यमाणासाधनावृत्तिरपि नैष्ठिकेनैव कर्त्तुं शक्या: । अर्चिरादिमार्गेण प्राप्यं जिज्ञास्यं ब्रह्म निरूपयति श्रुतिः एतद्वै इत्यादिना अथेति अस्मिन्मृते सति शव्यं सावोचितं कर्म कुर्वन्ति यदि वा न कुर्वन्ति उभयथाप्य-प्रतिहतगतयो विद्वांसो भगवद्भावापत्तिकामाः अर्चिराद्यभिमानिनीं देवतां प्राप्नुवन्ति तद्द्वारा-दिनं ततः क्रमात्पक्षोत्तरायणसम्वत्सराभि--मानिभिर्देवैर्वायुं देवलोकरूपं ततः सूर्य-सोमं वैद्युतं जलेशमिन्द्रलोकं ततः प्रजापतिलोकं प्राप्नुवन्ति ततः प्राकृतमण्डलं-भित्त्वा परमधामसीमानं सरिद्वरां ·विरजां प्राप्नुवन्ति तदनन्तरं तां नन्दीं तीर्त्वा परम-व्योमपरमधाम ब्रह्म लोकादिसंज्ञं पूर्वोक्तलक्षणं भगवत्पराङ्मुखैर्दुर्गमं विष्णुलोकं प्रविश्य ब्रह्म-भावापन्नाविहरन्तीति फलितोऽर्थः । एतद्विचतूर्था-ध्याये निपुणं वक्ष्यामः । इत्येष देवपथः देवैः आतिवाहिकैरुपलक्षितत्वाद्देवपथः ब्रह्मणोः जिज्ञास्यस्य प्राप्यस्य मार्गः ब्रह्मपथः एतेन मार्गेण ब्रह्मप्रतिपद्यमानाः इमं मानवं मनु-

सर्गोपलक्षितं प्राकृतं लोकमावृत्तं पुनरावृत्ति-युक्तं नावर्त्तन्ते कर्मवशान्न प्रविशन्ति "आब्रह्म-भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" इति श्रीमुखोक्तेः लोकस्य प्रकृतिमण्डलभिन्नत्वमुक्तं मोक्षधर्मे जैगीषव्यासितसम्वादे "किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपराक्रमः प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुव" मित्युपक्रम्य प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुव" मित्युप-संहारेण ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

श्रुतोपनिषत्कगत्याभिधानाच्च ।

उपनिषीदति उपास्योपासकस्वरूपविषयकसन्देहं संसार-ग्रन्थिं वा सादयति नाशयतीति उप समीपस्थं नि निश्चितं परमात्मानं प्रापयतीति वा उपनिषद्विद्या तत्सम्पर्कत्वाद्ग्रन्थो-ऽपि श्रुताउपनिषदो यैस्तैरधिगतब्रह्मयाथात्म्यैः परमात्मप्राप्तये यागतिरर्चिरादिका ऽधिगन्तव्यतया ऽवगता श्रुत्यन्तरे. तस्याप्येवेह "ते ऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्ती"त्यारभ्य "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त"इत्यन्तेनाक्षिपुरुषं श्रुतवतउपकोशलस्याधिगन्तव्यतयाऽभिधानादक्ष्यन्तरः पुरुषः परमात्मैव ॥ १७ ॥

# सु० अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः । १ । २ । १८ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अक्ष्यन्तरः परमात्मेतरो न भवति कुतस्तदितरस्य तत्र नियमेनानवस्थितेरमृतत्वादेस्तत्रासम्भवाच्च ॥ १८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।

इतरः प्रतिविम्वात्मा वा शरीराभिमानी जीवो वा चक्षुरधीष्ठात्री देवता वा परमात्मेतरो न कोऽप्यक्ष्यन्तरः पुरुषः कस्मात् अनवस्थितेः परमात्मेतरस्य चक्षुषि नियमेनावस्थानाभावात् प्रतिविम्वस्य पुरुषान्तरसंनिधानाधीनत्वात् जीवस्य कृत्स्नेन्द्रियसम्वन्धवत्त्वात् देवतायाश्चरश्मिद्वारेणावस्थितिवचनात् तदन्यतमे ऽमृतत्वाभयत्व-

संयद्वामत्वादीनां चासम्भवात् परमात्मैवाक्ष्यन्तर-पुरुषत्वेनोपास्य इति सिद्धम् ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ।

यच्चोक्तं प्रतिविम्बात्मा जीवो वेन्द्रियाधिष्ठातृदेवो वा ऽक्ष्यन्तरस्तत्रोच्यते इतरःप्रतिविम्बादिर्नेह गृह्यते तस्य चक्षुषि नियमेनानवस्थितेरमृतत्वसंयद्वामत्वादीनां चासम्भवात् । तत्र प्रतिविम्बात्मनः पुरुषान्तरसन्निधानाधीनत्वात् जीवस्य च कृत्स्नेन्द्रियसम्वन्धवत्त्वात् न नियमेनचक्षुष्यवस्थितिसम्भवःदेवतायाश्च रश्मिद्वारेणावस्थितिवचनाद्देशान्तरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षुषि नियमेनावस्थानमितिभावः तस्मादक्ष्यन्तरः पुरुषः परमात्मेति सिद्धम् ॥ १८ ॥

# सू० अन्तर्याम्यधिदेवादिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । १ । २ । १९

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यःपृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्युपक्रम्य "एष ते आत्मा

* इति चतुर्थाधिकरणम् । ॐ इति चतुर्थाधिकरणम् ।

न्तर्यामी" तिपृथिव्याद्यधिदेवादिसर्वपर्य्यायेषु श्रूयमाणोऽन्तर्य्यामी परमात्मैव कुतस्तद्धर्मस्य सर्व-नियन्तृत्वादेरिह व्यपदेशात् ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं खल्वक्ष्यन्तरपुरुषश्रुतिसमन्वयवद-न्तर्य्यामिश्रुतिरपि ब्रह्मपरा नान्यपरेत्याह —

अन्तर्याम्यधिदेवादिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।

वृहदारण्यकेऽन्तरयामिब्राह्मणे "यइमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयती" त्युपक्रम्य "यः पृथिव्यांतिष्ठन् पथिव्या अन्तरो यं पथिवी न वेद यस्य पृथ्वीशरीरं यः पथिवमिन्तरोयमयत्येष ते आत्मान्तर्या-म्यमृत"इत्यादिना पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षाकाशादि-ष्वधिदेवादिसर्वपर्यायेषूच्यमानस्तदनन्तरं च "यः सर्वेषु लोके" ष्वित्यादिना "यआत्मनी"त्यन्ते-नाधिलोकाधिवेदाधियज्ञाधिभूताध्यात्मविधायके-न ग्रन्थेनोपदिश्यमानः कश्चिदन्तरवस्थितो-

यमयितान्तर्यामी किं देवतात्मा किम्वाजीव आहोस्वित्सर्ववेदैकवेद्यः परमात्मेति· किन्तावद्युक्तम्, अभिमानिनी देवता स्याज्जीवो वा स्यात्सर्वत्र तयोः सत्त्वात् इत्यत्रोच्यते पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षाकाशवाय्वादित्यादिष्वधिदेवादिसर्वपर्यायेषूच्यमानोऽन्तर्यामी परमात्मैव भवितुमर्हति कस्मात् तद्धर्मव्यपदेशात् तस्य धर्मास्तद्धर्मास्तेषां व्यपदेशात् अत्राहिसर्वलोकवेदयज्ञभूतप्राणात्मादिनियमयितृत्वादीनां सर्वान्तर्यामित्वात्मत्वामृतत्वादीनां च परमात्मनोऽसाधारणधर्माणां व्यपदेशात् अतोनदेवतापरिग्रहः देवतापि जीव एव तत्रोक्तधर्मायोगात् "यं पृथिवी न वेद"तिपृथ्वीदेवतया ऽविज्ञेयत्वोक्त्यनुपपत्तेश्च नापि जीवोऽन्तर्यामी तत्राप्युक्तधर्मायोगात् "एष ते आत्मान्तर्यामी"त्यत्र भेदनिवन्धनया षष्ठ्यान्तर्यामिभिन्नत्वेन तन्निर्देशात् ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अन्तर्याम्यधिदेवादिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्।

बृहदारण्यके "यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तर"इत्यार-

ऽथ "एष ते आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्यादिना पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षाकाशवायुदिवादित्यादिष्वधिदेवादिसर्वपर्यायेषूच्यमानोऽन्तर्यामी किं देवताविशेषः उत जीव उत परमात्मेति विषयः देवतात्मनो नियमयितृत्वस्य युक्तत्वात्स एवेति जीवोवावाक्यशेषे द्रष्टृत्वादिश्रवणात् द्रष्ट्रन्तरनिषेधाच्चेति प्राप्ते, इदमुच्यते अन्तर्यामी परमात्मैव कुतः तद्धर्मव्यपदेशात् सर्वदेवलोकवेदयज्ञभूतादिनियमनस्यात्मत्वामृतत्वादेश्च परमात्मधर्मस्यैवात्र व्यपदेशात् देवतापरिग्रहे "यं पृथिवी न वेदे"ति पृथ्वीदेवतयाऽविज्ञेयत्वोक्त्यनुपपत्तेः जीवपरिग्रहे ते इतिषष्ठ्यानुपपत्तेः "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण" इत्यादि श्रुतेर्द्रष्टृत्वादेरपि तत्र सम्भवात् द्रष्ट्रन्तरनिषेधस्तु पूर्ववाक्योक्तद्रष्टुर्नियन्तुर्द्रष्ट्रन्तरनिषेधपरः जीवेनादृष्टान्तर्यामिदृष्टवत् अन्तर्यामिणोऽन्यद्रष्टुरभावात् पृथिव्याद्यात्मपर्यन्तैस्तन्नियम्यभूतैरदृश्यमानस्यैव नियमयतीत्यादिपूर्वोक्तस्य नियन्तुरेवा "दृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोते"त्यादिना सूचितत्वाच्च ॥ १९ ॥

## सू० नच स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १ । २ । २० ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

नच प्रधानमन्तर्य्यामिशब्दवाच्यं चेतनधर्मा-

णां सर्वनियन्तृत्वसर्वद्रष्टृत्वादीनां चाभिलापात् ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

नच स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् ।

यद्यपि प्रधानमीक्षतेर्नाशब्दमित्यत्र निरस्तमेव तथाप्यदृष्टत्वादिधर्मसम्भवमाशङ्क्य पुनर्निरस्यते । स्मार्त्तं साङ्ख्यस्मृतिप्रतिपन्नं प्रधानं नचान्तर्यामिशब्दवाच्यम् कुतः अतद्धर्माभिलापात् तस्य धर्मस्तद्धर्मः न तद्धर्मोऽतद्धर्मः चेतनधर्मइत्यर्थः तस्य "दृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाते"तिवाक्यशेषेऽभिलापादभिधानात् सर्वात्मत्वसर्वनियमयितृत्वादीनां च चेतनधर्माणां कथनान्न प्रधानसम्भवः ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अदृष्टत्वादिधर्मस्य प्रधानेऽपि सम्भवात् ईक्षतेर्नेत्यत्र निरस्तमपि पुनराशङ्क्य निषिध्यते—

नच स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् ।

स्मार्त्तं स्मृतिप्रतिपन्नं प्रधानं च नान्तर्यामिशब्दवाच्यं कुतः अतद्धर्माणां स्वभावतएव सर्वात्मत्वसर्वनियन्तृत्वसर्वद्रष्टृत्वामृतत्वादीनामचेतनेऽसम्भावितानामत्राभिलापात् कथनात् ॥ २० ॥

# सू० शारीरश्चोभयेऽपिहि भेदे-नैनमधीयते । १ । २ । २१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

नच जीवोऽन्तर्य्यामी यतश्चैनमन्तर्यामिनो-भेदेन "यो विज्ञाने तिष्ठन्नि"तिकाण्वाः "यआत्मनी" तिमाध्यंदिनाश्चोभयेप्यधीयते ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु मास्त्वचेतनमन्तर्यामिशब्दवाच्यं चेतनो जीवोऽस्तु तस्यद्रष्टृत्वादिधर्मोपपत्तेरित्यत्रोच्यते—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।

अत्र नकारः पूर्वसूत्रादनुवर्त्तते नच शारीरः शरीरे स्वकृतफलभोगायतने प्रविष्टो जीवोऽ-

न्तर्यामिशब्दवाच्यः सर्वात्मत्वसर्वनियन्तृत्वसर्व-
द्रष्टृत्वादीनामतद्धर्मत्वात् हि यतः काण्वा माध्य-
न्दिनाश्चोभयेऽपि एनं शारीरमन्तर्यामिणो निय-
मयितुर्भेदेन पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्य-
त्वेन चाधीयते "यो विज्ञाने तिष्ठन्नि"तिकाण्वाः
यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मान-
मन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृत"
इतिमाध्यन्दिनाः "नान्योतो ऽस्ति द्रष्टे"ति द्रष्ट्र-
न्तरनिषेधात्सर्वद्रष्टा श्रीपुरुषोत्तम एव अतो-
ऽन्यः सर्वद्रष्टा नेत्यर्थः "पुरुषएव द्रष्टा श्रोते"-
त्यादिश्रुतिवद्यो ब्रह्मापेक्षया ऽल्पद्रष्टाजीव इति
विवेकः । अत्रापि श्रुतिसूत्राभ्याम् जीवब्रह्मणो-
र्भेदः स्वरूपेण प्रतिपादितः । सच भेदस्तार्किकमते
यथा जीवेश्वरयोस्तथेह न प्रतिपत्तव्यः किंत्वेकमेवा-
द्वितीयं ब्रह्मेति श्रुत्युक्तस्यैकस्यैव समाभ्यधिक-
शून्यस्य नियन्तुरनन्तशक्तेः कल्याणगुणैकास्प-
दस्य ब्रह्मणोंऽशभूतः उपोद्घातप्रकरणे उदाहृतल-
क्षणो जीवात्मा वेदोक्तेन स्वासाधारणधर्मेण
नियम्यत्वादिना भिन्नोऽपि स्वनियन्तुः सकाशात्
गुणो यथागुणिभिन्नस्तथापि स्वाधीनस्थितिप्रवृ-

त्यनर्हत्वादेकत्वाद्वितीयत्वादिस्वांशिधर्माविरोधित्वा-
च्चाभिन्नः । तत्र बन्धमोक्षार्हत्वाल्पज्ञत्वादयो
धर्मा अंशगताः नित्यमुक्तत्वसर्वज्ञत्वानावृतत्व-
मुक्तगम्यत्वादयो धर्मा ब्रह्मासाधारणाः नात्र
गुणसाङ्कर्यदोषः एवमचेतनशक्तेर्जडत्वपरिणामि-
त्वादयो ऽसाधारणधर्माः सर्वशक्तिमत्त्वसर्वज्ञ-
त्वादयः शक्तिमतो ब्रह्मणो ऽसाधारणाः शक्ति-
त्वेन प्रकृतेर्ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि शक्तेः पृथक्प्रवृत्त्या-
द्यभावाद्ब्रह्माभिन्नत्वम् । एवमौपनिषदानां भेदाभेद-
स्तत्त्वसम्बन्धः ❀ ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।

जीवस्यचेतनत्वात्सएवास्त्विति चेत्तत्राह शारीरश्चेति
चकारः समुच्चयार्थः शारीरोजीवो ऽपि नान्तर्यामी सर्वात्मत्व-
सर्वनियन्तृत्वसर्वज्ञत्वादीनामतद्धर्मत्वात् हि यत उभयेऽपि
काण्वा माध्यन्दिनाश्च एनं शारीरं जीवमन्तर्यामितो भेदेन
पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते "योविज्ञाने
तिष्ठ"न्निति काण्वाः विज्ञाने प्रत्यगात्मनि "यआत्मनि तिष्ठन्नात्मनो-

---

* इति पञ्चमाधिकरणम् ।

ऽन्तरो यमात्मा नवेद यस्यात्मा शरीरं यआत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इतिमाध्यन्दिनाः तस्मात्पृथिव्यादिवन्नियम्यत्वमेव जीवस्य न नियन्तृत्वमतोऽभिदेवाधिष्वन्तर्यामी परमात्मैवेति सिद्धम् * ॥ २१

# सू० अदृश्यत्वादिगुणको-धर्मोक्तेः । १ । २ । २२ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आथर्वणिकैरुदाहृतः अदृश्यमित्यादिना ऽदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव कुतः "यः सर्वज्ञ" इत्यादिना तद्धर्मोक्तेः ॥ २२ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वाधिकरणे द्रष्टृत्वादिचेतनधर्मवत्वान्निरस्तं प्रधानमिदानीं तदभावादस्त्वत्र प्रधानपरिग्रह इत्याक्षेप "मथ परा यया तदक्षर" मित्यादिश्रुतिसमन्वयं ब्रह्मणि दर्शयन्निराकरोति—

---

* इति पञ्चमाधिकरणम् ।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।

आथर्वणे "द्वे विद्ये वेदितव्ये" इत्युक्तं तत्र ऋग्वेदादिलक्षणा कर्मविद्या ऽपरा तदपेक्षया परां ब्रह्मविद्यामुपदेष्टु "मथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुरश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। अप्राणोह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर" इत्याद्याम्नायते तत्र संशयः किमत्राऽदृश्यत्वादिगुणकं भूतयोन्यक्षरं प्रधानमुत जीवः किम्वापरमात्मेति, अत्र पूर्वपक्षः प्रधाने जीवे चादृश्यत्वादीनां सम्भवात् प्रधानस्य भूतयोनित्वासिद्धेः जीवेऽपि स्वकृतैः कर्मभिर्देहादिकारणीभूते तथात्वसम्भवाच्चोभयान्यतरस्तथास्त्वित्यत्राभिधीयते अदृश्यत्वादिगुणकः भूतयोनिः अक्षरः परमात्मैव कुतः धर्मोक्तेः "यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपस्तस्मादेव ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायत" इतिपरमात्माव्यभिचारिधर्मस्य सर्वज्ञत्वादेर्भूतयोन्यक्षरगुणविधानाय निर्देशात्। ननु नेवं युक्तं यतस्तदक्षरम-

धिगम्यत" इत्यक्षरमुदाहृत्य पुनश्चा"क्षरात्परतः पर"इत्यक्षरमवधिं कृत्वा परशब्दार्थः "यः सर्वज्ञ"इत्यादिना परमात्माऽभिधीयते यद्यत्र पूर्वेणाक्षरशब्देन परमात्मा गृह्यते तर्हि अक्षरात्परतः पर इति कथं घटेत नहि स्वस्य स्वस्मात्परत्वं सङ्गच्छते प्रकृताज्जगत्कारणादक्षराद्ब्रह्मणः परतत्वाभावाच्च "मत्तःपरतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय"इतिभगवद्वचनात् "पुरुषान्न परं किञ्चि" दितिश्रुतेश्च तस्मात्पूर्वाक्षरशब्दार्थः प्रधानं जीवो वास्तु तस्मादक्षरात्परतः परः परमात्मा सर्वज्ञो भवत्विति चेन्न, द्वितीयाक्षरशब्दस्य परमात्मपरत्वाभावात्। तथाहि "अपरा यया तदक्षरमधिगम्यते" इतिपराख्यया विद्यया ऽक्षरं परं ब्रह्मैवेति गम्यते नह्यन्या विद्या पराभवितुमर्हति तथाच "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यां यथा सत्तः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ति सरूपास्तथाक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः" इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्ध-

मक्षरशब्दवाच्यं परमात्मान“मथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते इत्यादिनाऽदृश्यत्वादिगुणक-मक्षरमुपक्रम्य पुनस्तद्गुणस्वरूपप्रतिपादनाया-ऽक्षरात्स्वांशभूताज्जीवात्परतः स्वशक्तेः प्रधाना च्च परस्तयोर्नियन्तेत्यभिधीयते । यद्वा ऽश्नुते व्याप्नोति स्वविकारजातमित्यक्षरं तस्मादक्षरा त्परतः स्वविकारापेक्षयोत्कृष्टात् प्रधानात्परः परमात्मेत्यर्थः । यद्वा ऽक्षरात्प्रधानात्परः समष्टि-पुरुषः तस्मात्परतः पुरुषात्परः परमपुरुषः इत्यर्थः ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।

इदमाथर्वणिकैराम्नायते “अथ परा यया तदक्षरमधिग-म्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुरश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः अप्राणोह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर”इत्यादि तत्र संश-य्यते किमिहादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोन्यक्षरं अक्षरात्परतः परश्च प्रधानपुरुषौ उतोभयत्र परमेश्वर इति किं तावत्प्राप्तं, प्रकृतिपुरुषाविति कुतः अस्य भूतयोन्यक्षरस्य द्रष्टृत्वादिचेतन-धर्माणामश्रूयमाणत्वात् पृथिव्याद्यचेतनगतदृश्यत्वादिनिषेधस्य

तत्सजातीये ऽचेतनएव युक्तत्वात् । किञ्चादृश्यत्वादिविशिष्टस्याक्षरस्य परमात्मत्वे "अक्षरात्परतः पर" इति ततोपि परस्य पुरुषस्य श्रवणं नोपपद्यते अतः पुरुषगतपरत्वावधितया ऽक्षरादितिनिर्दिष्टस्य भूतयोन्यक्षरस्य परमात्मत्वासम्भवात् अक्षरशब्दस्य प्रधाने प्रसिद्धेश्च अदृश्यत्वादिगुणकं भूतयोन्यक्षरं प्रधानमेव तत्परतया निर्दिश्यमानपुरुषो ऽपि पञ्चविंशकएव नतु परमात्मा तस्याक्षरपरभूताज्जीवादपि परत्वेनाव्यवहितपरत्वाभावात् नचाक्षरात्परत पर इतिद्वयोर्वैयधिकरण्याश्रयणेन परमात्मनः परत्वमेवाक्षरादपि परभूताज्जीवात्प्रतिपाद्यत इतिवाच्यं स्वकार्यवर्गापेक्षया परभूतेऽक्षरे सामानाधिकरण्येन वृत्तिसम्भवे तयोर्वैयधिकरण्ये प्रामाणाभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते, अदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव "यः सर्वज्ञः सर्वविदि"त्यादिवाक्येनात्र प्रकरणे तद्धर्माणामेव सार्वज्ञादीनामुक्तत्वात् प्रधानजीवयोरचेतनाल्पज्ञत्वेन सर्वज्ञत्वाद्यसम्भवात् नचाक्षरात्परस्य पुरुषस्य परमात्मत्वे भूतयोन्यक्षरस्य परमात्मत्वं कथं सिध्येदिति वाच्यं अक्षरात्परतइति निर्दिष्टस्याक्षरस्या"थ परा यया तदक्षरमधिगम्यते तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वं तथाक्षरात् विविधाः सौम्य-भावाः येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्य"मित्यादिवाक्यनिर्दिष्टभूतयोन्यक्षरापेक्षया भिन्नत्वात् । न क्षरति न च्यवतइत्यक्षरं भूतयोनिः अश्नुते व्याप्नोति स्वविकारजातमित्यक्षरं भूतसूक्ष्मरूपाचेतनं प्रधानमितिव्युत्पत्तेः ॥ २२ ॥

## सू० विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ । १ । २ २३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रधानजीवौ न भूतयोन्यक्षरपदवाच्यौ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां सर्वगतमिति विशेषणव्यपदेशः "अक्षरात्परतः पर" इति भेदव्यपदेशश्च ॥ २३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।

इतरौ प्रधानपुरुषौ न भूतयोन्यक्षरनिर्दिष्टौ किन्तु परमात्मैव कस्माद्विशेषणाद्भेदनिर्देशाच्च । विषयवाक्ये सर्वगतमिति विशेषणं प्रधानजीवाभ्यां भूतयोन्यक्षरं व्यावर्त्तयति तस्मात् "अक्षरात्परतः पर" इत्यादिना भूतयोन्यक्षरस्य ताभ्यां भेदश्च व्यपदिश्यते तस्माच्च ॥ २३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ।

इतश्चेतरौ प्रधानं जीवश्च नभूतयोन्यक्षरनिर्दिष्टौ किन्तु परमात्मैव कुतः विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां विशिनष्टिव्यावर्तयति हि प्रकरणं प्रधानपुरुषाभ्यां भूतयोन्यक्षरं एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपपादनादिना तथा "अक्षरात्परतः पर" इत्यादिना भूतयोन्यक्षरस्य ताभ्यां भेदश्च व्यपदिश्यते ॥ २३ ॥

## सू० रूपोपन्यासाच्च ।

१ । २ । २४ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अग्निर्मूर्द्धे" त्यादिना परमात्मनोरूपोपन्यासाच्च नेतरौ ॥ २४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

योऽयं भूतयोन्यक्षरः सर्वकारणकारणः चिदचिच्छक्तिमान्सएवाचिदचिच्छक्तिभ्यामन्तर्यामिरूपेण च स्थितः कार्यावस्थः स्पर्द्धासूयादिदोषवर्जितैर्मुमुक्षुभिर्ध्येय इति दर्शयितुं विश्वं भगवद्रूपमित्याह —

रूपोपन्यासाच्च ।

भूतयोन्यक्षरपरमात्मैव नेतरौ कुतः रूपोपन्यासात् "अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मेति परमात्मन एवान्तर्यामिणः सर्वचेतनाचेतनात्मकः प्रपञ्चो रूपत्वे नोपन्यस्यते प्रधानजीवपरिग्रहे तु नैतादृशो रूपोपन्यासो घटते तस्माच्च भूतयोन्यक्षरः श्रीपुरुषोत्तम इति सिद्धम् ❀ ॥ २४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

रूपोपन्यासाच्च ।

अक्षरात्परतः परस्यैव भूतयोन्यक्षरस्यान्तरयामितया सर्वचिदचिदात्मकप्रपञ्चो रूपत्वेनोपन्यस्यते "अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मे"त्यादिना प्रधानसजीवस्य च सर्वभूतान्तरात्मत्वासम्भवान्नैवं रूपोपन्यासः सम्भवति । अतोऽदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैवेति सिद्धम् ❀ ॥ २४ ॥

---

* इति षष्ठाधिकरणम् । ❀ इति षष्ठाधिकरणम् ।

## सू० वैश्वानरः साधारणशब्द-विशेषात् ।१।२।२५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वैश्वानरः परमात्मैव यतोऽग्निब्रह्मसाधारणस्यापि वैश्वानरशब्दस्य ब्रह्मपरिग्रहे द्युमूर्द्धत्वाद्यवयवविधानेन विशेषावगमात् ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं चराचरात्मकत्वेन भगवानुपास्य इत्युक्तमिदानीं वैश्वानरत्वेनापि तथैव भगवानेवोपास्य इतिवदन् "को न आत्मा किं ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिसमन्वयं भगवत्याह —

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।

छान्दोग्ये श्रूयते "को न आत्मा किं ब्रह्मे"ति "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि*

* सर्वदाध्यायसि ।

तमेव नो ब्रूही"ति चोपक्रम्य यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिवि* मानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानर(१)स्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिपृथिव्येव पादावुर एव वेद लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्योमनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय"इत्यादि तत्र संशय्यते, किमत्र वैश्वानरो जाठराग्निरुत भूताग्निरुताग्न्यभिमानिदेवता ऽऽहोस्वित्परमात्मेति, अत्र पूर्वः पक्षः साधारणो हि वैश्वानरशब्द इति कुतः जाठरेऽग्नौ "अयमग्निर्वैश्वानरोयोऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं

---

* आभिमुख्येन सर्वं मिमीते जानातीति तं ।

(१) वैश्वानरस्य मूर्द्धासुतेजाद्यौचक्षुर्विश्वरूपस्सूर्य्यः । प्राणः पृथग्वर्त्मात्मावायुः । संन्देहोदेहमध्यं, बहुलः आकाशः । वस्तिमूत्रस्थानं, रयिधनं जलमित्यर्थः । पादौ पृथिवी । वैश्वानरस्य होमाधारत्वसम्पानार्थमुरइत्यादि ॥

पश्यते यदिदमद्यते तस्यैषघोषोभवति यमेतत्कर्णा-वपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोती"ति प्रयोगात् भौतिकेऽग्नौ च विश्वस्मा* अग्निं भुवनाय देवाः वैश्वानरं केतुमन्हामकृण्वन्नि"ति प्रयोगात् तद्देवतायां चापि वैश्वा(१)नरस्य सुमतौ स्याम राजाहिकं भुव-नानामभिश्री"रिति प्रयोगात् । परमात्मनि च तदंतमन्येव हृदयगे वैश्वानरे प्रायः स्यात्सएष वैश्वानरोविश्वरूपः प्राणोऽग्निहृदयतइतिप्रयोगाच्चे-त्यत्र ब्रूमः । वैश्वानरः श्रीपुरुषोत्तमएव कस्मात् साधारणशब्दविशेषात् औदर्यभूताग्निंतद्देवतापर-मात्मसु साधारणस्यापि शब्दस्य वैश्वानरस्य परमात्मपरत्वे विशेषात् येन विशेषेण पुरुषो-त्तमो वैश्वानरशब्दस्येह मुख्यार्थः स्यात्स-

---

* देवाः विश्वस्मै भुवनायवैश्वानरं अह्नां केतुं चिन्हं सूर्यं अकृण्वन् कृतवन्तः ।

(१) वैश्वानरस्याग्न्याधिष्ठातृदेवस्य सुमतौ स्याम वयं भवेम यतः भुवनानां राजा कं सुखहेतुः अभिमुखा श्रीरस्य स तथा ।

विशेषो ऽत्रविद्यते "एतस्यात्मनोवैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजा" इत्यादिविशेषावगमादित्यर्थः । तस्मात्सर्वसाधारणोऽपि वैश्वानरशब्दो ऽत्र विशेषतस्तु परमात्मपरः जाठरादेर्द्युप्रभृतयः पृथिवीपर्य्यन्ता अवयवा नोपपद्यन्ते तस्य सर्वात्मत्वाभावात् । साधारणशब्दस्याप्यस्मिन्प्रकरणे परमात्मासाधारणैः "को न आत्मा किं ब्रह्मे"त्युपक्रमादिस्थैः सर्वात्मत्वादिविशेषणैर्विशेष्यमाणत्वाच्च ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।

इदमाम्नायते छन्दोगैः "को न आत्मा किं ब्रह्मे"ति आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति चप्रक्रम्य "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इत्यादि तत्र विषयः किमिह वैश्वानरशब्दितः जाठराग्निरुत भूताग्निरुत देवता विशेषः अथ परमात्मेति, तत्रतावज्जाठराग्नि-रिति "अयमग्निर्वैश्वानरो यो ऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यत" इति तत्र वैश्वानरशब्दप्रसिद्धेः भूताग्निर्वा "विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवाः वैश्वानरं केतुमन्हामकृण्वन्नि"ति तत्रापि प्रयोगदर्शनात् देवतायां च "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा-

हितं भुवनानामभिश्री"रिति परमात्मनि च "तद्यात्मन्येव हृदयगे वैश्वानरे प्रास्यात् सएष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुद्यत" इति एवं वैश्वानरशब्दस्य सर्वत्र वैदिकप्रयोगदर्शनात् अत्र च प्रकरणे सर्वेषां लिङ्गोपलब्धेर्वैश्वानरशब्दवाच्यः परमात्मेति न निर्णेतुं शक्यइति प्राप्ते । उच्यते वैश्वानरः परमात्मा कुतः साधारणशब्दविशेषात् वैश्वानरशब्दस्य नानार्थसाधारणत्वे ऽप्यत्र प्रकरणे परमात्मासाधारणैः सर्वात्मत्वादिविशेषणैर्विशेष्यते इति विशेषस्तस्माद्विशेष्यमाणत्वादित्यर्थः उपक्रमे "को न आत्मा किं ब्रह्मे"ति सर्वजीवात्मभूतब्रह्मजिज्ञासायां प्रवर्त्तमानैरौपमन्यवादिमहर्षिभिर्वैश्वानरात्मज्ञमश्वपतिं कैकयं प्राप्य प्रच्छ्यमानो वैश्वानरात्मा परमात्मेति निश्चीयते किं ब्रह्मेति प्रक्रान्तस्य ब्रह्मशब्दस्यैव स्थाने उत्तरत्र सर्वत्र वैश्वानरशब्दप्रयोगात्सोऽपि ब्रह्मैवाभिदधातीति "स सर्वेषु लोकेषु इत्यारभ्य "एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त" इत्यादि श्रूयमाणस्य वैश्वानरात्मविज्ञानफलस्य च वैश्वानरशब्दस्य परमात्मपरत्वएव सम्भवादिति ॥ २५ ॥

## सू० स्मर्यमाणमनुमानं स्यात् इति । १ । २ । २६ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परमात्मनो हि वैश्वानरत्वे "यस्याग्नि-

रास्यं द्यौर्मूर्द्धे"त्यादिस्मृत्युक्तमपि रूपं निश्चायकं स्यात् ॥ २६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।

इति शब्दोहेतुपरः इतश्च वैश्वानरः परमात्मैव यतोहि वैश्वानरशब्दस्य परमात्मपरत्वे स्मर्यमाणमनुमानं स्यात् "मूर्द्धैव सुतेजा"इत्याद्याः श्रुतेरर्थभूतं द्युमूर्द्धत्वादिविशिष्टं रूपं श्रुत्यनुवर्त्तिन्या स्मृत्या ऽप्युक्तं स्मर्यमाणमित्युच्यते तदेवानुमानमनुमापकं निश्चायकं स्यादित्यर्थः । स्मृतिस्तु "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नम" इति "द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ महीं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेते"तिच अतएव "श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्त्तित" इत्युक्तम् ।

यद्वा "अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्या"वित्यादि श्रुत्यन्तरेषूक्तस्मृतिषु च परमात्मरूपतया प्रसिद्ध मेवेह तदिदमिति स्मर्यमाणं प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं लिङ्गं स्यादित्यर्थः ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।

इतश्च वैश्वानरः परमात्मैव यतः अग्निर्मूर्द्धे"त्यादिश्रुतिषु "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभि श्चरणौ क्षितिः सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः । द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ मही च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेते" त्यादिस्मृतिषु च परमात्मरूपतया प्रसिद्धमेवेह तदेवेदमिति स्मर्यमाणं प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वे अनुमानं लिङ्गं स्यात् इति शब्दः प्रकारे एवंभूतं द्युमूर्द्धत्वादिविशिष्टं परमात्मनएव रूपमिति वैश्वानरस्य परमात्मत्वे लिङ्गं स्यादित्यर्थः ॥ २६ ॥

सू० शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमभिधीयते ।१।२।२७

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जाठराग्नौ वैश्वानरशब्दस्य रूढत्वादग्नित्रेताविधानात्प्राणाहुत्याधारत्वसङ्कीर्त्तनादन्तःप्रतिष्ठानश्रवणाच्च न वैश्वानरः परमात्मा किन्तु जाठराग्नि रिति चेन्न तथा तस्मिन् जाठरे परमेश्वरदृष्टेरुपदेशात् परमात्मपरिग्रहाभावे द्युमूर्द्धत्वाद्यसम्भवात् पुरुषत्वश्रवणाच्च वैश्वानरः परमात्मैव ॥ २७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु नेह वैश्वानरशब्देन परमात्मा वक्तुं शक्यः कौक्षेयाग्निर्वक्तव्यः कुतः शब्दादिभ्यः शब्दआदिर्येषां हेतूनां ते शब्दादयस्तेभ्यः शब्दस्तत्र वैश्वानरः सहि रूढ्या वृत्त्या कौक्षेयाग्निपरः सति शक्यार्थेऽर्थान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात् अग्निशब्दाद्वाजसनेयके "एषोऽग्निर्वैश्वानर" इत्यग्निशब्दसामानाधिकरण्यात् "हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य" इत्याद्यग्नित्रेताव्यप-

देशाच्च तथा "प्रथममागच्छेत्तद्धोमीय"मिति प्राणाहुत्याधारत्वश्रवणाच्च अन्तः प्रतिष्ठानाच्च विशेषतः औदर्याग्नेर्लिङ्गात् अन्तः प्रतिष्ठितत्वं वैश्वानरस्यामनन्ति वाजसनेयिनः "सयोहैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेदे" ति इत्येवंविधेभ्यः शब्दादिहेतुभ्यःअन्तःप्रतिष्ठानाच्च नं परमात्मनो हि परिग्रहइति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशात् तथाभूते ऽर्थे परमात्मदृष्टेरुपासनायाउपदेशात् जाठराग्निविशिष्टपरमात्मोपासनविधानात् पूर्वोक्तस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य सर्वात्मतया जाठरादौ तदात्मत्वेनोपदेशात् । ननु तर्हि जाठराग्निरेव मुख्यो वैश्वानरोऽस्तु नेत्याह असम्भवात् द्युमूर्द्धत्वादेर्जाठरेऽसम्भवात् सर्वात्मनो भगवतएवोपपद्यते तथात्वं नान्यस्येत्यर्थः अपि "चैनं वैश्वानरं वाजसनेयिनः पुरुषमधीयते सएषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुष" इति परमात्मनः पुरुषत्वं सर्वात्मत्वादुपपद्यते केवलजाठराग्निपरिग्रहे तु नोपपद्यते चशब्दः प्रसिद्धिपरः परमात्मनः पुरुषत्वं "पुरुषएवेदं सर्वं । पुरुषान्न परं किञ्चि" दित्यादि शास्त्रप्रसिद्धमित्यर्थः ॥ २७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।

वैश्वानरो न परमात्मा कुतः शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च शब्दस्तावदग्निशब्दो वाजिनां वैश्वानरविद्याप्रकरणे "स एषोऽग्निर्वैश्वानर"इति अत्र प्रकरणे च हृदयं गार्हपत्य" इत्यादौ हृदयादिस्थितस्य वैश्वानरस्याग्नित्रयकल्पनं तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीय" मित्यादौ प्राणाहुत्याधारत्वसङ्कीर्त्तनं च तथा "सयोहैतमेनमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदे" ति वाजिनामेव प्रकरणेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं एभ्योहेतुभ्योऽग्निशब्दसामानाधिकरण्यादिभ्यो वैश्वानरो जाठराग्निर्न परमात्मेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशात् पूर्वोक्तस्य परब्रह्मणो वैश्वानरस्य सर्वात्मतया जाठराग्न्यादिषु तादात्म्यत्वेनोपासनोपदेशात् असम्भवात् केवलजाठराग्नेस्त्रैलोक्यात्मत्वाद्यसम्भवात् "पुरुषमपि चैनमधीयते वाजिनाः सएषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुष"इत्यादौ चशब्दः प्रसिद्धिपरः प्रसिद्धं च आत्मत्वात् परमात्मन एव पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितत्वं च "सहस्रशीर्षा पुरुषः । पुरुषएवेदं । पुरुषान्न परं किञ्चि"दित्यादौ ॥ २७ ॥

## सू० अतएव न देवता भूतं च ।

१ ।२।२८ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उक्तहेतुभ्यएव देवता भूतं च न गृह्यते वैश्वानरशब्देन ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अतएव न देवता भूतं च ।

अतएव उक्तेभ्योहेतुभ्यएव अग्न्यभिमानिनी देवता वैश्वानरशब्देन न गृह्यते भूतं च भूताग्निश्च न गृह्यते ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अतएव न देवता भूतं च ।

उक्तहेतुभ्यएव देवता महाभूताग्निश्च न वैश्वानरशब्दवाच्यः ॥ २८ ॥

सू॰ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः । १ । २ । २९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विश्वश्चासौ नरश्च सर्वात्मा भगवान् वैश्वानरइति साक्षादुपास्यइत्यविरोधं जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं खलु तावत्सामान्यशब्दविशेषादिहेतुभ्यो वैश्वानरशब्दो ब्रह्मणि नीतः पुनः शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च जाठराग्निपर इत्याशङ्क्य विरोधपरिहाराय तथा दृष्ट्युपदेशादिभिर्हेतुभिः पुनर्जाठराग्निविशिष्टे ब्रह्मण्येव योजितोऽथ यौगिकोऽयं ब्रह्मणि वैश्वानरशब्दइति दर्शयन्पूजार्थमाचार्यान्तरसम्मतिमाह —

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।

जैमिनिराचार्योहि वैश्वानरशब्दस्य जाठरविशिष्टदृष्टिं विनापि परमात्मासाधारणगुणविवक्षया साक्षात्परमात्मपरत्वात्साक्षाद्वैश्वानरःपरमात्मैवोपास्यइत्यविरोधं मन्यते विश्वश्चासौ नरश्च

सर्वात्मत्वात् विश्वेषां नरो नेता वा सर्व-कारणत्वात् विश्वे नरा नियम्या यस्य वा सर्वनियन्तृत्वादिति वैश्वानरः"नरे संज्ञाया"मिति-दीर्घः राक्षसवायसादिवत्स्वार्थे तद्धितः अग्नि-वैश्वानरशब्दयोः सामानाधिकरण्यमप्युपपद्यते अङ्गति हृत्पुण्डरीके ध्येयत्वेन गच्छत्याविर्भव-तीत्यग्निः अङ्गेर्नलोपश्चे" ति निर्नलोपश्च । यद्वा अङ्गयति गमयति विश्वस्याग्रं जन्म प्रापयती-त्यग्निः ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।

वैश्वानरस्य परमात्मनउपासनार्थमग्न्यन्तर्यामितया ऽग्नि-शब्दसामानाधिकरण्यनिर्देशउक्तः "नरतीति नरः प्रोक्तः पर-मात्मा सनातन" स्तस्य च सर्वात्मतया सर्वाभेदव्यपदेशार्हत्वात् विश्वश्चासौ नरश्च सर्वकारणत्वे विश्वेषां नरो नेता सर्व-नियन्तृत्वात् विश्वे वा नरा नियम्या यस्यासौ विश्वानरः "नरे-संज्ञाया" मिति दीर्घः स एववैश्वानरः स्वार्थे तद्धितः । जैमिनि-राचार्योहि वैश्वानरशब्दो यथा साधारणोऽपि परमात्मा-ऽसाधारणगुणयोगेन साक्षात्परमात्मनि वर्त्तते तथा ऽग्नि-शब्दस्याप्यग्रनेतृत्वादियोगेन साक्षात्परमात्मनि वृत्तावविरोधं मन्यते ॥ २८ ॥

# सू० अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।

१ । २ । ३० ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उपासकानामनन्यानामनुग्रहायानन्तोऽपि परमात्मा तत्तदनुरूपतया ऽभिव्यज्यते इति प्रादेशमात्रत्वमुपपद्यते इत्येवमभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यो-मुनिर्मन्यते ॥ ३० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

आश्मरथ्याचार्यानुमत्या प्रादेशमात्रश्रुतिं व्याचष्टे —

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।

"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इत्यत्राभितः परितो विगतो मानः परिच्छेदो यस्य तस्यानवच्छिन्नस्यापि श्रीपुरुषोत्तमस्य प्रादेशमात्रमङ्गुष्ठतर्जनीप्रस्तार-परिमितत्वमुपपद्यते कथमभिव्यक्तेः अनन्य-

शरणानामनुग्रहाय भगवान् हृत्पुण्डरीके नित्यानन्दाप्राकृतविग्रहेण प्रादेशपरिमाणेन निजभक्तेच्छापूरकेण स्तम्भे नृहरिरिवाभिव्यज्यते इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते। यद्वा स्थूलबुद्धेरुपासकस्यानुग्रहाय स्थूलेष्वेव प्रदेशेषु द्युलोकादिषु मीयते तद्बुद्ध्यनुरूपत्वेन सर्वगोऽपि परिच्छिद्यते तत्र तत्राभिव्यज्यते इत्येवमभिव्यक्तेः प्रादेशमात्रत्वमुपपद्यत इत्याश्मरथ्यो मन्यत— इत्यर्थः॥ ३०॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति द्युसूर्यादिप्रदेशसम्बन्धिमात्रतया परिच्छिन्नत्वमपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः कथमिति चेदत्राह —

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः।

उपासकानुग्रहार्थमभितोविगतमानतया ऽपरिच्छिन्नस्यैव सर्वेश्वरस्य द्युसूर्यादिप्रदेशसम्बन्धिमात्रतया परिच्छिन्नत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यादित्याश्मरथ्यआचार्यो मन्यते॥ ३०॥

## सू० अनुस्मृतेर्बादरिः। १।२।३१॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

मूर्द्धादिपादान्तदेहकल्पनमनुस्मृतेरनुस्मरणार्थमिति बादरिराचार्य्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अनुस्मृतेर्बादरिः ।

सूक्ष्मबुद्धीनां हृत्पुण्डरीकप्रदेशे प्रादेशमात्रप्रादुर्भावप्रयोजनाकाङ्क्षायां स्थूलबुद्धीनां द्युलोकादिषु मूर्द्धाद्यवयवत्वेन परिच्छिन्नस्योपासनाप्रयोजनाकाङ्क्षायां चेदमुच्यते हृत्पुण्डरीकादौ हि परमात्मनः प्रादेशमात्रतया प्रादुर्भावस्तथा द्युलोकादिप्रदेशेषु मूर्द्धादिपादान्तदेहपरिकल्पनं च परमात्मप्राप्तये ऽनुस्मृतेरनुस्मरणार्थं तथोपासनार्थमिति बादरिराचार्य्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उपासकानुग्रहायाभिव्यक्तस्यापि द्युसूर्यादीनां मूर्द्धाद्यवयवकल्पने किं प्रयोजनमिति चेत्तत्राह —

अनुस्मृतेर्वादरिः ।

मूर्द्धादिपादान्तदेहकल्पनं परमात्मप्राप्तये ऽनुस्मृतेरनुस्मरणार्थं तथोपासनार्थमिति वादरिराचार्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

# सू० सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति। १।२।३२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वैश्वानरोपासकेन क्रियमाणाया वैश्वानरविद्याङ्गभूतप्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पत्त्यर्थं तेषामुरआदीनां वेद्यादित्वकल्पनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते "तथैवाऽथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोती"त्यादिश्रुतिर्दर्शयति ॥ ३२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं त्रैलोक्यशरीरस्य परमात्मनो वैश्वानरशब्दवाच्यत्वे "उरएव वेदिर्लोमानि वर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो ऽन्वाहार्यपचन" इत्यादिनोपासकोरआदीनां वेद्यादिकल्पने किंप्रयोजनमित्यत्राह—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ।

वैश्वानरोपासकैः क्रियमाणाया वैश्वानरविद्याङ्गभूतप्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पत्त्यर्थं तेषां वेद्यादिकल्पनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते तथाहि प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसम्पत्तिमेव दर्शयति श्रुतिः "अथ यएतदेवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवती"ति ॥ ३२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं त्रैलोक्यशरीरस्य परमेश्वरस्य वैश्वानरत्वाद्यत्र "उर एव वेदिर्लोमानि बर्हि"रित्यादिनोपासकोरआदीनां वेद्यादित्वकल्पने किं प्रयोजनमिति तत्राह —

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ।

वैश्वानरोपासकैः क्रियमाणाया वैश्वानरविद्याङ्गभूतप्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पत्त्यर्थं तेषां वेद्यादित्वकल्पनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते तथाहि दर्शयतीयं श्रुतिः प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसम्पत्तिमेव "अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवती"ति ॥ ३२ ॥

# सू० आमनन्ति चैनमस्मिन् ।

१ । २ । ३३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एवं द्युमूर्द्धत्वादिमन्तं वैश्वानरमस्मिन्नुपासकदेहे पुरुषविधमामनन्ति च ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।

अपि च वाजिनोऽस्मिन्नुपासकदेहे एवं वैश्वानरं भगवन्तं "स योहैतमेव मग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेदेत्यामनन्ति" इदमपि पुरुषविधत्वं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितत्वं च वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे गमकमित्यर्थः जाठराग्निपरिग्रहे पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितत्वं तु घटेत नतु

पुरुषविधत्वमितिभावः तत्सिद्धं वैश्वानरः परमात्मेति॥ ॥ ३३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादः ॥

---

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।

एनं परमात्मानं द्युमूर्द्धत्वादिमन्तं वैश्वानरमस्मिन्नुपासकदेहे प्राणाहुत्यधिकरणत्वार्थमामनन्ति च "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजा" इत्यादिना एतस्यात्मन उपासकस्यात्मनः मूर्द्धैव यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरस्तस्य मूर्द्धात्वेष आत्मनइति वैश्वानरात्ममूर्द्धत्वे निर्दिष्टः सुतेजा इत्यर्थः एवमग्रे ऽपि श्रुत्यर्थो ज्ञेयः। तथा च उपासकः स्वमूर्द्धादीनेव वैश्वानरस्य भगवतो द्युप्रभृतीन्मूर्द्धादीन्प्राणाग्निहोत्रसमये ऽनुसन्दधत् स्वस्योरः प्रभृतीनेव प्राणाहुत्यधिकरणस्य भगवतोवैश्वानरस्य वेद्यादीनग्निहोत्रोपकरणभूतान्परिकल्प्य प्राणाहुतेश्चाग्निहोत्रत्वं परिकल्प्य तेन तमाराधयेदित्युपदिशति उरएव वेदिरित्यादिनेति भावः॥ ॥ ३३ ॥

इतिकौस्तुभप्रभायां प्रथमाध्यायद्वितीयपादविवरणं समाप्तिमगात् ॥

---

*सप्तमाधिकरणम् । ॥ सप्तमाधिकरणम् ।

# स० द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् । १ । ३ । १ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यस्मिन् द्यौ" रितिद्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्म स्वशब्दाद्ब्रह्मवाचकादात्मादिशब्दात् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

द्युमूर्द्धत्वाद्यवयविनस्त्रैलोक्यात्मनोभगवत एव त्रैलोक्यायतनत्वमपि घटतइतीदानीं दर्शयति भगवान्सूत्रकारः —

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।

मुण्डके श्रूयते "यस्मिन्द्यौः पृथवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्तमेवैकं विजानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतु"रिति अत्र संशयः यदेतत् द्युप्रभृतीनां यस्मिन्निति सप्तम्यन्तमायतनं निर्दिष्टं तत् किं प्रधानमथवा जीव आहोस्विज्जगज्जन्मादिहेतुः परमात्मेति किं तावत्प्राप्तम् प्रधानमायातनमस्तु स्वविकारस्य हि कारणे उदय-

समाप्तिदर्शनात्तस्य स्वकार्यायतनत्वं युक्तम् सेतुश्रुतेश्च सेतुत्वं हि सावधित्वसमानाधिकरणम् ब्रह्म तु न सावधि "अनन्तमपार"मिति श्रुतेः आत्मशब्दोऽपि प्रधाने नेतव्यः आत्मा प्रधानमात्मोपकारित्वात् यो यस्योपकारी स तस्यात्मैव ममैवात्मा भद्रसेनइतिवत् जीवोवाऽऽयतनमस्तु आत्मश्रुतेः आत्मशब्दो हि जीवे मुख्यएव तस्य चेतनत्वात् मनआदीन्द्रियाधिकरणत्वश्रवणाच्च "अराइव रथनाभौ संहिता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते वहुधा जायमान" इति नाडीसम्बन्धात् जायमानत्वश्रवणाच्च भोक्तृत्वेन भोग्यप्रपञ्चायतनत्वोपपत्तेरिति पूर्वपक्षे । उच्यते द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्मैव द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभ्वादि प्राणान्तं तस्यायतनमाश्रयः परमात्मैवेत्यर्थः कस्मात् स्वशब्दात् स्वस्य प्रकृतस्य परमात्मनोवाचका दात्मशब्दात् "तमेवं विजानथ अन्या वाचो विमुञ्चथे" ति विशेषणयुक्तात् अत्र सर्वात्मकभगवद्वाचकादेकशब्दाद्विशेषणादात्मा परमात्मेति गम्यते "अमृतस्यैष सेतु"रिति सेतुशब्दा

त्र अमृतस्य मोक्षस्य सेतुः आश्रयः तत्प्राप्ति-हेतुरित्यर्थः "तमेवं विद्वानमृत इह भवती" त्यादिश्रुत्यन्तरे ऽमृतत्वप्राप्तिहेतुः स एव प्रसिद्धः नाडीसम्बन्धोऽपि परमात्मनि सम्भ-वति "सन्ततं च शिराभिस्तु लम्बन्त्याकोशस-न्निभ" मित्यादिश्रुतेः "अजायमानोबहुधा व्यजायत । अजोऽपि सन्नव्ययात्मे"ति श्रुति स्मृतिभ्यां बहुधा व्यजायमानत्वमपि सम्भ-वति परमात्मनः सर्वाधारस्य मनआदिजीवो-पकरणाधारत्वमपि सङ्गच्छते अस्य प्रधान-सूत्रस्य विवरणभूतानि गुणसूत्राणि ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।

यस्मिन्द्यौःपृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्त-मेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैषसेतु" रिति-मुण्डकवाक्ये यस्मिन्निति द्युभ्वाद्याधारत्वेन श्रूयमाणः किं प्रधानं वा जीवो, वोत परं ब्रह्मेति संदेहे प्रधानमिति पूर्वःपक्षःतस्य सर्व-विकारजातहेतुत्वेनायतनत्वोपपत्तेः सेतुरिति सावधित्वश्रवणात् आत्मशब्दस्तु प्रधानस्य सत्त्वद्वारा पुरुषप्रीतिहेतुत्वात्तत्रोपचरितः जीवो वा मनआदीन्द्रियाधिकरणत्वश्रवणात् "अरा इव-रथनाभौ संहिता यत्र नाड्यः सपर्वो ऽन्तश्चरते बहुधा

जायमान" इति परत्र नाडीसम्बन्धात् जायमानत्वश्रवणाच्च भोक्तृत्वेन भोग्यप्रपञ्चायतनत्वोपपत्तेरिति प्राप्ते । ब्रूमः द्युभ्वा-द्यायतनं यस्यप्राणान्तस्य तस्यायतनमाश्रयः परमात्मैव कुतः । स्वश ब्दात् स्वस्य परमात्मनोऽसाधारणयोः आत्मामृतसेतुशब्दयोः श्रवणात् आप्नोतीत्यात्मा सर्वनियन्तृत्वेन तस्य सर्वव्यापकत्वात् मोक्षप्रापकतया सेतुश्च सएव सेतुरिव वा नद्यादिसेतोःकूलो-पलम्भकत्ववदस्य संसारपारभूतमोक्षोपलम्भकत्वात् नाडीसम्ब-न्धस्य परमात्मन्यपि संभवात् "सन्ततं च शिराभिस्तु लम्ब-त्या कोशसन्निभ" मित्यादिश्रुतेः अजायमानो "बहुधा व्यजायत अजोऽपि सन्नव्ययात्मे" ति । श्रुतिस्मृतिभ्यां बहुधा जायमा-नत्वमपि स्वस्वभावमजहतएव भक्तानुग्रहाय तस्य संभवति तस्य सर्वाधारत्वान्मनआदिजीवोपकरणाधारत्वस्यापि तत्रै-वोपपत्तेः ॥ १ ॥

## सू० मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।

१ । ३ । २ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव कुतस्तदायतनस्यैव "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"त्यादिमुक्तोपसृप्य-व्यपदेशात् ॥ २ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।

द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव कुतः मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् संसारबन्धान्मुक्तैरुपसृप्यः प्राप्यः मुक्तोपसृप्यस्तस्य व्यपदेशान्निर्देशात् अयमर्थः योऽर्थो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन एकत्वेनामृतसेतुत्वेनाभिमतोऽन्यत्रापि मुक्तगम्यत्वेन प्रसिद्धः सएव सर्ववेदैकवेद्यः समानातिशयवर्जितोमुक्तप्राप्यत्वेन व्यपदिश्यते "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे । यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथाविद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्य"मिति परावरे परे ब्रह्मशिवादयोऽवरे यस्मात्तस्मिन्नित्यर्थः परात्परं पराज्जीवात्प्रकृतेर्वा परम् पुरुषम् पूर्णम् ॥ २ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इतश्च —

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ।

"निरञ्जनःपरमं साम्यमुपैति" परात्परं पुरुषमुपैती" ति संसारबन्धान्मुक्तानां प्राप्यत्वेन व्यपदेशाच्च परमात्मैव तत् ॥ २ ॥

# सू० नानुमानमतच्छब्दात् ।

१।३।३॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

नानुमानगम्यं प्रधानं तदायतनं तद्बोधकशब्दाभावात् ॥ ३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

नानुमानमतच्छब्दात् ।

द्युभ्वाद्यायतनमनुमानं न स्यात् साङ्ख्यैरचेतनेन भूतादिकार्येणानुमीयते यद्ब्रह्मसम्बन्धहीनमचेतनं कारणं प्रधानं तदनुमानमित्युच्यते तद्द्युभ्वाद्यायतनं न कुतः अतच्छब्दात् तस्य शब्दस्तच्छब्दोन तच्छब्दोऽतच्छब्दस्तस्मात् अत्रानुमानिकप्रधानवाचकशब्दाभावादित्यर्थः प्रत्युत चेतनवाचकाः शब्दाः सन्ति "यः सर्वज्ञः सर्ववि"दित्याद्याः ॥ ३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तदेव विशदयति—

नानुमानमतच्छब्दात् ।

अनुमीयते इत्यनुमानं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनतया न ग्राह्यं-

कुतः अतच्छब्दात् प्रधानप्रतिपादकशब्दाभावात् अर्थाभावे ऽव्ययीभावः ॥ ३ ॥

## सू० प्राणभृच्च । १।३।४ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

न प्राणभृदपि द्युभ्वाद्यायतनं कुतो ऽतच्छ-ब्दादेव ॥ ४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

प्राणभृच्च ।

पूर्वसूत्रान्नेत्यतच्छब्दादितिचानुवर्त्तते प्राण-भृज्जीवो ऽपि न द्युभ्वाद्यायतनम् अतच्छब्दात् यद्यप्यात्मशब्दोजीवपरमात्मसाधारणस्तथा ऽपि "तमवैकं विजानथामृतस्यैषसेतुःयःसर्वज्ञ" इत्या-दयोहि परमात्मासाधारणधर्मप्रतिपादकाः शब्दा यथा ऽस्मिन्प्रकरणे श्रूयन्ते तथाजीवासाधारण-धर्मप्रतिपादकः शब्दो ऽत्र नास्तीत्यर्थःअणुस्वरू-पस्य जीवात्मनोद्युभ्वाद्यायतनत्वासम्भवाच्च पृ-थक्सूत्रपाठस्तूत्तरसूत्रसङ्गत्यर्थः ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्राणभृच्च ।

नेति अतच्छब्दादिति चानुवर्त्तते प्राणभृज्जीवोऽपि न द्युभ्वाद्यायतनं जीवप्रतिपादकशब्दाभावात् आत्मशब्दस्य तु सर्वव्यापके परमात्मन्येव मुख्यत्वात् ॥ ४ ॥

## सू० भेदव्यपदेशाच्च । १।३।५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

किञ्च ज्ञातृज्ञेयभावे भेदव्यपदेशादपि द्युभ्वाद्यायतनं न प्राणभृत् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

भेदव्यपदेशाच्च ।

प्राणभृन्न द्युभ्वाद्यायतनत्वेन ग्रहीतव्यः; कुतः भेदव्यपदेशात् त्रिगुणात्मकया भगवन्मायया बन्धमोक्षार्हो* ऽल्पज्ञानो जीवः ज्ञातृत्वेन सर्वज्ञो भगवान् ज्ञेयत्वेन च "तमेवैकं विजानथे"ति भगवत्या श्रुत्यैव तयोर्भेदो व्यपदिश्यते

---

* क्वचित् विमोहित इतिपाठः ।

तस्मादित्यर्थः तद्भावप्राप्त्यर्थं तत्तत्त्वज्ञानपूर्वकं तद्भजनं कर्त्तव्यमिति पुनः पुनर्भेदनिर्देशाभिप्रायः ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भेदव्यपदेशाच्च ।

परमात्मनः सकाशाज्जीवस्य वेदोक्तेश्चापि न तद्ग्रहणम् ॥ ५ ॥

## सू० प्रकरणात् । १।३।६॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परमात्मप्रकरणान्न द्युभ्वाद्यायतनत्वेन जीवपरिग्रहः ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रकरणात् ।

नेदं जीवप्रकरणं यतोजीवपरिग्रहः स्यात् "कस्मिन्नु भगवोविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती" त्युपक्रमात् परमात्मनएवेदं प्रकरणम् न जीवे ज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति सर्वस्य जीवात्मकत्वाभावात् "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिना च परमात्मनएव प्रकृतत्वाच्च ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा

प्रकरणात् ।

"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत" इत्यादिना परस्यैव प्रकृतत्वात् ॥ ६ ॥

# सू० स्थित्यदनाभ्यां च । १।३।७

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

द्वासुपर्णेत्यादिमन्त्रे परमात्मनोऽभोक्तृत्वेन स्थितेर्जीवस्याऽदनाच्च न जीवात्मा द्युभ्वाद्यायतनम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

भेदव्यपदेशं पुनर्विशदयति —

स्थित्यदनाभ्याञ्च ।

जीवोन द्युभ्वाद्यायतनम् कुतः स्थित्यदनाभ्याम् स्थितिश्चादनं च स्थित्यदने ताभ्याम् द्युभ्वाद्यायतनम् प्रकृत्य "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीती"ति मन्त्रे एकस्य सुपर्णस्य कर्मफलमनश्नतएव देदीप्यमानतया देहवृक्षे स्थितेः इतरस्य कर्माधीनतया कर्मफलादनाच्च जीवपरमात्मनोर्भेदावगमात्स्वतन्त्रः सर्वज्ञः परमात्मैवामृतसेतुः सर्वात्मत्वाच्च द्युभ्वा-

द्यायतनं चेति सिद्धम् ॥७॥ इतिद्युभ्वादिप्रथमाधिकरणम्

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्थित्यदनाभ्याञ्च

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति" इत्यत्रैकस्य सुपर्णस्य कर्मफलमनश्नतएव देदीप्यमानतया देहरूपवृक्षे स्थितेः इतरस्य कर्माधीनतया कर्मफलादनाच्च ताभ्यां जीवपरमात्मनोर्भेदावगमात् स्वतन्त्रः सर्वज्ञः परमात्मैवामृतसेतुर्द्युभ्वाद्यायतनं भवितुमर्हो न जीवइति "अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्ते"रित्यनेन सिद्धे ऽपि परमात्मत्वे मध्यवाक्ये प्रधानादिशङ्कानिराकरणार्थमिदमधिकरणमुक्तम्॥७॥ इतिद्युभ्वादिप्रथमाधिकरणम्

# सू०भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।

१ । ३ । ८ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परमाचार्यैःश्रीकुमारैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य" इत्यत्र भूमा प्राणो न भवति किन्तु श्रीपुरुषोत्तमः कुतः प्राणादुपरिभूम्नउपदेशात् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य"इत्यादिश्रुतिसमन्वयं ब्रह्मणि दर्शयति श्रीभगवा-

न्सूत्रकारः —

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।

छान्दोग्यैरिदमाम्नायते "श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवान् शोकस्य परं पारन्तारयत्वि"ति श्रीमन्नारदेन पृष्टोनिजगुरुर्मोक्षशास्त्राचार्यः श्रीसनत्कुमारो "नाम ब्रह्मे"त्युपदिदेश । "पुनरस्ति भगवो नाम्नोभूय" इतिपृष्टो "वाग्वाव नाम्नोभूयसी" इत्युपदिदेश "पुनरस्ति भगवोवाचोभूय"इति पृष्टो "मनोवाव वाचोभूय" इत्युपदिदेश । एवं नामादिप्राणपर्यन्ताः पञ्चदश* पदार्थाउपदिष्टाः । प्राणोपदेशानन्तरं प्रश्नं विनैवेदमुपदिश्यते "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदती"ति"भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य" इति "भूमानं भगवोविजिज्ञासे यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स

---

* नाम१ वाग्२ मनः३ सङ्कल्पः४ चित्तं५ ध्यानं६ विज्ञानं७ वलं८ अन्नं९ आप१० स्तेजः११ आकाशः१२ स्मरणम्१३ आशा१४ प्राणः१५ इतिछान्दोग्यभूमविद्यायामुक्तम् ।

भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्वि-
जानाति तदल्प"मित्यादि अत्र भूमशब्दोहि
बहुत्ववाची बहुशब्दाद्भावे "पृथ्वादिभ्यइमनि" जिति
इमनिचि "बहोर्लोपोभू च बहो"रिति सूत्रेण
प्रकृतिप्रत्यययोर्विकारे भूमेति निष्पन्नः। बहुत्वं
चात्र वैपुल्यम् न सङ्ख्याविशेषत्वं बहुशब्दस्य
"बहुषु बहुवचनं। बहवोज्ञानतपसा। बहूनां
जन्मनामन्ते" इत्यादौ सङ्ख्यायामिव "अल्पं
वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति य" इत्यत्रा-
ल्पत्वप्रतियोगिवैपुल्येऽपि प्रयोगदर्शनादिहापि
नाल्पे सुखमस्तीत्यल्पत्वप्रतिद्वन्द्वितयैव भूम-
शब्दप्रयोगाच्च विपुलत्वमेवार्थः तथा च नाल्पे
सुखं विद्यते किन्तु भूमैव सुखं तस्माद्भूमात्वेव
विजिज्ञासितव्यस्तन्निरतिशयवैपुल्यविशिष्टसुख—
प्राप्तिकामेन मुमुक्षुणा भूमैव निरतिशयवै-
पुल्यविशिष्टसुखरूपः परमात्मैव विजिज्ञासितव्य-
इत्यर्थः। एवं श्रीसनत्कुमारेणोक्ते भगवान् श्री-
नारद आह "भूमानं भगवोविजिज्ञासे" भगवः
हेभगवन्!गुरो!भूमानमेव विशेषेण ज्ञातुमिच्छामी
ति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भूम्नोलक्षणमाह यत्रे-

त्यादिनेति श्रुत्यर्थः। तत्र संशयः किं प्राणोभूमा, किं वा परमात्मे,ति प्राणइति पूर्वपक्षः "प्राणो वा आशायाभूया"निति पूर्वत्र प्राणस्यैव निर्दिष्टत्वात् "अस्ति भगवोनाम्नोभूय"इतिप्रश्ने "वाग्वाव नाम्नोभूयसी" तिवत्प्राणोपदेशानन्तरं पुनः प्रश्नोत्तराभावाच्च प्राणशब्देन प्राणविशिष्टो-- जीवात्मा गृह्यते न वायुविशेषमात्रम् "प्राणोहि पिता प्राणोमाते"त्यादिना चेतनत्वावगमात् "तरति शोकमात्मवि"दित्युपक्रमे "आत्मनएवेदं सर्व"मित्युपसंहारे चात्मशब्दप्रयोगाच्च "यत्र नान्यत्पश्यती"त्यादिकमपि जीवे उपपद्यते सुषुप्तौ दर्शनादिव्यवहारनिवृत्तेः देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिविलक्षणे निजस्वरूपे विदिते बाह्यदर्शनादिव्यवहारनिवृत्तिसम्भवाच्च । एतेन "योवै भूमा तत्सुख"मिति "प्राणोवा ऽमृत"मित्यादि च सर्वं प्राणविशिष्टजीवपरत्वेन व्याख्यातं भवतीति बोध्यमित्यत्राभिधीयते भूमा परमात्मैव नतु प्राणविशिष्टोजीवः कुतः "सम्प्रसादादध्युपदेशात्"सम्यक् प्रसादोयस्मिन्स सम्प्रसादोजीवात्मा "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति-

रूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादि-
श्रुतिप्रसिद्धस्तस्मात्प्राणशब्दसूचितात् अधि ऊर्ध्वं
"एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदती"ति
तुशब्देन प्राणोपदेशात्पूर्ववृत्तादुत्तरस्य भूमोपदे-
शस्य वैलक्षण्यं गम्यते तस्मात्प्राणोपदेशतोवि-
लक्षणात् भूम्नउपदेशात् प्राणपदार्थाद्भिन्नोहि भूम-
पदार्थइत्यर्थः। यद्वा एष तु वा अतिवदतीति शब्देन
प्राणोपासकात्सत्योपासकस्याधिकतयोपदेशात्—
उपासकभेदादुपास्ययोरपि भेदइत्यर्थः। अयम्भावः
श्रीमन्नारदपृष्टेन श्रीसनत्कुमारेण नामादिप्राणा-
वधिकपञ्चदशपदार्थेषु पूर्वपूर्वतउत्तरोत्तरस्याधिक्य
विधानवत् प्राणशब्दनिर्दिष्टाज्जीवादधिकतया निर्दिष्टः
सत्यशब्दाभिधेयएव भूमेति कथमधिकतया सत्य-
स्योपदेशोऽवगम्यते इति चेत् "स वा एष
एवम्पश्यन्नेवं मन्वानएवं विजानन्नतिवादी भवती"
ति प्राणवेदिनोऽतिवादित्वमुक्त्वा "एष तु वा अति-
वदति यः सत्येनातिवदती"ति तुशब्दएव प्राणो-
पासकात्सत्योपासकं व्यावर्त्य पूर्वातिवादित्व-
निमित्तात्प्राणादस्यातिवादित्वनिमित्तं सत्यमधिक-
तयोपदिशति सत्येनेतीत्थम्भूतलक्षणे तृतीया

सत्येन परब्रह्मणोपास्येनोपलक्षितो यो ऽतिवदतीत्यर्थः । सत्यशब्दश्च ब्रह्मणि प्रसिद्धः "तस्य ह्वा एतस्य ब्रह्मणोनाम सत्यं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे" त्यादिषु अतिवादित्वं च स्वोपास्याधिक्यवादित्वम् तच्चोपास्यदेवताऽतिशये पर्यवस्यति एवं पश्यन्नित्यादौ "लक्षणहेत्वोः क्रियाया" इतिहेत्वर्थे शतृप्रत्ययः ततश्चोपास्यदेवतासाक्षात्कारोऽतिवादित्वहेतुरित्यर्थः । साक्षात्कारप्रतीतस्वोपास्यदेवतानुग्रहादीदृशमातिवादित्वं भवतीति भावः । किञ्च "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानी" ति प्राणातिवादित्वपरित्यागेन सत्यवदनानुज्ञैव प्राणप्रकरणविच्छेदं बोधयति । अत्रात्मशब्दोऽपि परमात्मपरिग्रहे एव सङ्गतार्थोभवति "आत्मन एवेदं सर्व" मिति श्रूयमाणस्य सर्वकारणत्वस्यान्यत्रासम्भवात् वक्ष्यत्यग्रिमे सूत्रे भगवानेवम् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भूमासंप्रसादादध्युपदेशात् ।

इदमाम्नायते छन्दोगैः "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य" इति "भूमानं भगवो विजिज्ञास" इति "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति

नान्यद्विजानाति स भूमे"ति तत्र भूमशब्दो हि बहुत्ववाची बहुशब्दात् पृथ्वादित्वादिमनिचि "बहोर्लोपो भू च बहो" रिति सूत्रेण प्रकृतिप्रत्यययोर्विकारे भूमेति निष्पन्नं. बहुत्वं चात्र वैपुल्यं न सङ्ख्याविशेषः बहुशब्दस्य "बहुषु बहुवचन"मित्यादिसङ्ख्यायामिव "अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति य "इत्यत्राल्पत्वप्रातियोगिवैपुल्येऽपि प्रयोगदर्शनादिहापि नाल्पे सुखमस्तीत्यल्पत्वप्रतिद्वन्द्वितयैव भूमशब्दप्रयोगाच्च विपुलत्वमेवार्थः । विपुलत्वं च गुणोत्कर्षरूपं न तु परिमाणरूपं सुखशब्दस्य सामानाधिकरण्यात् नहि सुखे उत्कृष्टपरिमाणं प्रसिद्धमस्ति अत्र पुनर्न वैपुल्यरूपधर्मपरो भूमशब्दः सुखस्य वैपुल्यरूपत्वाभावात् अल्पप्रातियोगितया निर्देशाच्च नह्यत्र वोत्तरत्र वाऽल्पत्वं भूमप्रतियोगितया निर्दिश्यते अपि त्वल्पमेव अतोऽल्पशब्दप्रतियोगितया प्रयुज्यमानो भूमशब्दो वैपुल्याश्रयधर्मिपर एवेति । तत्र संशयः किमिह भूमशब्दानिर्दिष्टो निरतिशयवैपुल्यविशिष्टसुखरूपः प्राणः, उत परमात्मे,ति किं तावत्प्राप्तं प्राण इति पूर्वः पक्षः । "प्राणो वा आशाया भूया"निति तस्यैव समीपस्थत्वात्पुनः प्रश्नोत्तराभावाच्च प्राणशब्देन च प्राणसहचरितो जीवात्मा न वायुविशेषमात्रं "प्राणो ह पिता प्राणो माते" त्यादिना चेतनत्वावगमात् "तरति शोकमात्मवित् "आत्मनएवेदं सर्व "मित्युपक्रमोपसंहारयोरात्मशब्दप्रयोगात् यत्र "नान्यत् पश्यती" त्यादिकमपि सुषुप्तौ· प्राणेन्द्रियलयात्तत्रदर्शनादिनिवृत्तेर्जीवे संगच्छेत "योवैभूमा—तत्सुख" मित्यपि सुखमहमस्वाप्समिति सुखश्रवणात्—तत्रैव संगच्छेत "प्राणो वा अमृत" मितिश्रुतेरमृतशब्दोऽपि तत्रैव । एवं भूमगुणविशिष्टस्य प्रत्यगात्मत्वे निश्चिते वाक्यशेषोऽपि तदनुगुणतया नेय इत्येवं प्राप्ते—इदमाह भूमेति-

भूमशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैव न प्राणसहचरितो जीवः कुतः संप्रसादादध्युपदेशादिति सम्यक् प्रसादो यस्मिन्स संप्रसादो जीवात्मा "एषसंप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धस्तस्माद् "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदती" ति तुशब्देन प्राणोपासकात्सत्योपासकस्याधिकतयोपदेशात् भूमगुणवि- शिष्टः सत्यशब्दाभिधेयः परमात्मैव । अयंभावः श्रीनारदपृष्टेन श्रीसनत्कुमारेण नामादिप्राणावधिकपञ्चदशपदार्थेषु पूर्वपूर्वेषु उत्तरोत्तरस्याधिक्याभिधानवत् प्राणशब्दनिर्दिष्टाज्जीवादधिकतया निर्दिष्टः सत्यशब्दाभिधेयएव भूमेति कथमधिकतया सत्यस्यो- पदेशोऽवगम्यत इति चेत् "सवा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवती" ति प्राणवेदिनोऽतिवादित्वमुक्त्वा "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदती" ति तुशब्द एव प्राणोपसकात्सत्योपासकं व्यावर्त्य पूर्वोतिवादित्वनिमित्तात्प्राणा- दस्यातिवादित्वनिमित्तं सत्यमधिकतयोपदिशति सत्येनेतीत्थ- म्भूतलक्षणे तृतीया सत्येन परब्रह्मणोपास्येनोपलक्षितो योऽति वदतीत्यर्थः । सत्यशब्दश्च ब्रह्मणि प्रसिद्धः "तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" त्यादिषु अतिवादि- त्वं च स्वोपास्याधिक्यवादित्वं तच्चोपास्यदेवताऽतिशये पर्यव स्यति । एवं पश्यन्नित्यादौ "लक्षण हेत्वोः क्रियाया" इति हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः ततश्च स्वोपास्यदेवतासाक्षात्कारोऽतिवादित्वहेतु- रित्यर्थः । साक्षात्कारप्रीतस्वोपास्यदेवतानुग्रहादीदृशमतवादित्वं- भवतीति भावः । किञ्च "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदती" ति प्राणातिवादित्वपरित्यागेन सत्यवदनानुशेन प्राणप्रकरण विच्छेदं बोधयतीति ॥ ८ ॥

# सू० धर्मोपपत्तेश्च ।१।३।९॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

निरतिशयसुखरूपत्वामृतत्वस्वमहिमप्रतिष्ठितत्वादीनां परमात्मन्येवोपपत्तेश्च भूमा परमात्मैव ॥९॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

धर्मोपपत्तेश्च ।

धर्माणां भूमप्रकरणे पठितानामन्यत्राघटमानानां परमात्मपरत्वेनोपपत्तेश्च भूमा परमात्मेति गम्यते तथाहि "यत्र नान्यत्पश्यति" यत्र हि निरतिशयवैपुल्ययुक्ते सुखे निमग्नमनाः अन्यत् वैपुल्यविशिष्टसुखप्रतियोगिअल्पं वैषयिकं सुखं न पश्यति पीतामृतो यथा पेयान्तरं न पश्यति तथा । किञ्च यत्र सुखे विशक्तः सुखप्रतियोगिदुःखं न पश्यति सर्वसुखसम्पन्नोभवति सर्वदुःखविनिर्मुक्तोभवति यदनुरागीत्यर्थः । एवं निरतिशयसुखप्रदत्वदुःखनिवर्त्तकत्वादीनां धर्माणामुपपत्तिः परमात्मन्येव नतु

प्राणपदगृहीते जीवे । किञ्च "योवै भूमा तद-मृतं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि सएवाधस्ता"दित्यादौ "आत्मनः प्राण"इत्यादौ च श्रुतानां स्वाभाविकामृतत्वस्वमहिमप्रतिष्ठित-त्वसर्वोत्पादकत्वादीनां धर्माणां परमात्मन्येवो-पपत्तेश्च भूमा परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ ९ ॥ इति भूमाधिकरणम् २ ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

धर्मोपपत्तेश्च

अत्र भूम्नि ये धर्माः श्रूयन्ते ते परमात्मन्येवोपपद्यन्ते "योवै भूमा तदमृतं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि स एवाधस्ता" दित्यादौ आत्मनः प्राणइत्यादौ च श्रुतानां स्वाभाविकामृतत्वस्वमहिमप्रतिष्ठत्वसर्वात्मकत्वसर्वोत्पादकत्वादीनां परस्मिन्नेवोपपत्तेः "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टा" दित्यादिना सर्वात्मत्वोपदेशस्तु भूमगुणाश्रयस्य परमात्मनः "अथातो ऽहङ्कारादेशइत्यहंग्रहेणोपदेशोपक्रमात् अहंग्रहेणोपासनार्थः । नन्वहंबुद्धिशब्दयोर्जीवात्मविषययोः कथं भूमपर्यन्तत्वमनहमर्थे च परमात्मन्यहंग्रहोपासनस्यायथार्थत्वमेवेति चेन्न, "एष तआत्मान्तर्यामी"तिश्रुत्यन्तरात् भूम्नः सर्वान्तर्यामितया सर्वात्मत्वात् जीवात्मानं प्रत्यपि आत्मत्वेन तद्विषयाहंबुद्धिशब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वस्योपपन्नत्वात् एतदेव "अथात आत्मादेश" इत्यादिना "आत्मैवेदं सर्व"मित्यन्तेनोच्यते अतोऽहमर्थस्य जीवात्मनोऽप्यात्मा

परमात्मेति ज्ञानदार्ढ्यार्थमहंग्रहेण परमात्मोपासनं कर्त्तव्यमित्यतो भूमा परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ ६ ॥ इति भूमाधिकरणम् २।

## सू० अक्षरमम्बरान्तधृतेः १।३।१०

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

अक्षरं ब्रह्म कुतः कालत्रयवर्त्तिकार्य्याधारतया निर्दिष्टस्याकाशस्य धारणात् ॥ १० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

इदानीं वृहदारण्यकगतायाः "सहोवाचैतदक्षर"मित्यादिश्रुतेर्ब्रह्मणि समन्वयं दर्शयति भगवान्सूत्रकारः—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः।

वृहदारण्यके "कस्मिन्नु खल्वाकाशओतश्च प्रोतंश्चेति सहोवाच एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय" मित्यादि श्रूयते तत्र संशयः किमिहाक्षरशब्देन प्रधानं, गृह्यते उत जीव,-आहोस्वित्परं ब्रह्मे,ति किन्तावत्प्राप्तमिति प्रधानमक्षरशब्दवाच्यमस्तु प्रधानस्य स्वविकारधारणोपपत्तेः रूपादिहीनत्वाभ्युपगमादस्थूलादीनां तत्रो-

पपत्तेश्च जीवोवा ऽक्षरपदार्थोऽस्तु तस्य स्वभोग्यभूतसर्वाचिद्वस्त्वाधारत्वसम्भवात् इति पूर्वःपक्षः । तत्रेदमुच्यते अक्षरं परं ब्रह्मेति कुतः अम्बरान्तधृतेः अम्बरमन्ते यस्य पृथिव्यादिविकारजातस्य तस्य पृथिव्याद्याकाशपर्यन्तस्य विकारजातस्य धारणात् ❋ यदूर्ध्वङ्गार्गिदिवोयदर्वाक् पृथिव्याः यदन्तराद्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेति तत्सर्वं कस्मिन्नोतं प्रोतंचे"ति प्रश्ने आकाशे तत्सर्वमोतं प्रोतं चेत्युत्तरेदत्ते गार्गीपुनरपृच्छत् "कस्मिन्नु खल्वाकाशओतश्च प्रोतश्चे"ति तत्र पृथिव्याद्याकाशपर्यन्तस्याधारमक्षरमस्तीत्युत्तरमाह "सहोवाचैतदक्षर"मित्यादि एवं प्रश्नोत्तराभ्याम् निर्णीतस्य पृथिव्यादेरम्बरान्तस्य विकारजातस्य धारणात् अक्षरं ब्रह्मैव । यद्वा अम्बरस्य वायुमतआकाशस्यान्तःपारभूतं कारणमव्याकृतं प्रधानं तस्य धृतेर्धारणादित्यर्थः । यदूर्द्ध्वमित्यारभ्य कालत्रयवर्त्ति-

---

❋ यदूर्द्ध्वं गार्गि दिवोयदधस्तात्पृथिव्याः येचोभे द्यावापृथिव्यौ येदन्तरिक्षं यद्भूतं यद्भविष्यच्चेति पाठान्तरम् ।

कृत्स्नवस्त्वाधारतया निर्दिष्टस्याकाशशब्दवाच्यस्याव्याकृतसूक्ष्मप्रधानादिनामधेयस्याधारतयोच्यमानमेतदक्षरं न प्रधानमपितु ब्रह्मै-वेत्यर्थः ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ।

वाजसनेयिभिर्गार्गीप्रश्नइदमाम्नायते "कस्मिन्नुखल्वाकाश-ओतश्च प्रोतश्चेति सहोवाच एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय" मित्यादि तत्र संशय्यते किमेतदक्षरं प्रधानं, जीवो, वोत परमात्मे,ति तत्राक्षरशब्दस्य प्रधानजीवयोरिव प्रायः प्रयोगदर्शनात् प्रधानं जीवो वा न परमात्मेति पूर्वः पक्षः प्रधानस्य सर्वविकारकारणतया तदास्पदत्वात् रूपादिहीनत्वाभ्युपगमेन चास्थूलादीनामपि तत्रोपपत्तेः जीवस्य च स्वभोग्यभूतसर्वाचिद्वस्त्वाधारत्वात् केचिदत्राक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वादक्षरं वर्णरूपमोङ्कारइति पूर्वपक्षयन्ति तदेतदधिकरणेनासम्बद्ध "मलोहितमस्नेहमच्छाय" मित्यादिप्रतिषेधानुपपत्तेः । ननु "यया तदक्षरमधिगम्यते" इत्यादौ परमात्मन्यप्यक्षरशब्दो दृश्यते इति चेन्न प्रमाणान्तरप्रसिद्धश्रुतिप्रसिद्धयोराद्यस्य प्रथमं प्रतीतेः प्रतीतपरिग्रहविरोधाभावात् इति प्राप्ते-ब्रूमः अक्षरं परं ब्रह्मैव कुतः अम्बरस्य वायुमत आकाशस्यान्तः पारभूतं कारणमव्याकृतं प्रधानं तस्य धृतेरस्याक्षरस्य तदाधारकत्वेनोपदेशात् । यत्तूक्तम् श्रुतिप्रसिद्धात्प्रमाणान्तरप्रसिद्धस्य प्रथमं

प्रतीतेरिति तन्न अक्षरशब्दस्यावयवशक्त्या स्वार्थप्रतिपादने प्रमाणान्तरानपेक्षणात् सम्बन्धग्रहणदशायामर्थस्वरूपं येन प्रमाणेनावगम्यते न तत्प्रतिपादनदशायामपेक्षणीयम् एतेन "यदूर्द्धं गार्गि दिव" इत्यारभ्य कालत्रयवर्त्तिकृत्स्नवस्त्वाधारतया निर्दिष्टस्याकाशशब्दवाच्यस्याव्याकृतभूतसूक्ष्मप्रधानादिनामधेयस्याधारतयोच्यमानमेतदक्षरं न प्रधानं किन्तु परमात्मैवेत्युक्तम् ॥ १० ॥

## सू० सा च प्रशासनात् । १।३।११॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

साच धृतिः पुरुषोत्तमस्यैव कुतः "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इत्याज्ञापयितृत्वश्रवणात् ॥ ११ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु माऽस्तुप्रधानमक्षरशब्दवाच्यं जीवस्य प्राकृतपदार्थभोक्तुरुक्तप्रकाराधारत्वोपपत्तेः अस्थूलत्वादिधर्मवत्त्वोपपत्तेश्च न क्षरतीत्यक्षरोजीवइतिजीवपरिग्रहे व्युत्पत्तिसम्भवाच्च सएवाक्षरशब्दार्थोऽस्त्वित्यत्राह —

सा च प्रशासनात् ।

जीवे हि स्वकृतकर्मफलभोगायतनशरीरादि-

धृतिरुपपद्यते सा च धृतिः परमात्मनएव कर्म नान्यस्य कुतः प्रशासनात् "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत"इत्यादिना प्रशासनश्रवणात् प्रकृष्टमप्रतिहतं शासनम् प्रशासनम् अप्रतिहतमाज्ञापनम् ११. ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तर्हि जीवोऽस्तु तस्यापि प्रधानधृत्युपपत्तेरस्थूलत्वादिधर्मवत्त्वोपपत्तेरक्षरशब्दवाच्यत्वाचेत्याशङ्क्याह —

सा च प्रशासनात् ।

साचाम्बरान्तधृतिः परमात्मनएव कर्म कुतः "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत"इत्यादिश्रूयमाणात् प्रशासनात् प्रशासनम् प्रकृष्टं शासनमप्रतिहताज्ञा नचेदृशम् स्वप्रशासनायत्तं सर्वधारकत्वम् जीवे सम्भवति ॥ ११ ॥

## सू० अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।

१ । ३ । १२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अत्र प्रधानस्य जीवस्य वाऽक्षरशब्देन ग्रहणं नास्ति परमेवाक्षरशब्दार्थः कुतः "तद्वा

**एतदक्षरं गार्ग्यऽदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ इत्यन्यभावव्यावृत्तेः ॥१२॥**

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।

इतोऽपि परमात्मैवाक्षरशब्दवाच्यः कुतः अन्यभावव्यावृत्तेः अन्यस्य प्रधानस्य जीवस्य वा ऽन्ययोरुभयोर्वा भावोऽन्यभावस्तस्य व्यावृत्तेः "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यऽदृष्टम् द्रष्टृऽश्रुतम् श्रोत्रऽमतं मन्त्रऽविज्ञातम् विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशश्रोतश्च प्रोतश्चे"ति वाक्यशेषोऽस्याक्षरस्य ब्रह्मणोऽन्यभावं व्यावर्तयति । तत्र द्रष्टृत्वादिचेतनधर्मेण प्रधानभावो व्यावर्त्यते सर्वैरदृष्टस्यैव सतः सर्वद्रष्टृत्वाद्युपदेशाच्च जीवभावोऽव्यावर्त्यते तस्मादत्राक्षरशब्देन परमात्मपरिग्रहएवेति सिद्धम् ॥ १२ ॥

इत्यक्षराधिकरणम् ३ ।

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।

अन्यस्य प्रधानादेर्भावो ऽन्यभावः तस्य व्यावृत्ते र्हेतोः परमात्मैवाक्षरशब्दवाच्यः "तद्वाएतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं

श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशश्चोतश्च प्रोतश्चे "ति वाक्यशेषोऽस्याक्षरस्य ब्रह्मणोऽन्यत्वं व्यावर्त्तयति । तत्र द्रष्टृत्वादिचेतनधर्मेण प्रधानभावः सर्वैरदृष्टस्यैव सतः सर्वद्रष्टृत्वाद्युपदेशाच्च जीवभावो व्यावर्त्यते यथैतदक्षरमन्यैरदृष्टंसदन्येषां द्रष्टृ च सत्त्वातिरिक्तस्य सर्वस्याधारभूतमेवमनेनादृष्टमेतस्य द्रष्टृ च सदेतस्याधारभूतमन्यन्नास्तीति वदन्नान्यदतोऽस्तिद्रष्टृत्यादिवाक्यशेषोऽन्यस्य सद्भावं व्यावर्तयन्नस्याक्षरस्य प्रधानभावजीवात्मभावौ प्रतिषेधति तस्मादक्षराक्षरशब्दवाच्यः परमात्मैवेतिसिद्धम् ॥ १२ ॥	इत्यक्षराधिकरणम् ३ ।

# सू० ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः ।

१ । ३ । १३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"पुरिशयंपुरुषमीक्षते" इतीक्षतेःकर्म ब्रह्माण्डान्तर्गतो ब्रह्मलोकस्थो ब्रह्मा न भवति किंतु सएव प्रकृतः स्वासाधारणाप्राकृतब्रह्मलोकेशः यः परमात्मेक्षतिकर्म कुतः "यत्तच्छान्तमजरमभय" मित्यादिना तद्धर्माणां व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं प्रकृतेर्जीवस्य च ब्रह्मवाचकेनाक्षरपदेन न परिग्रहइत्युक्तमिदानीं प्रकृतेरनुपादेयत्वं तद्विलक्षणस्य परमात्मलोकस्योपादेयत्वं च जीवस्य ध्यातृत्वं गन्तृत्वं परमात्मनोध्येयत्वमुपेयत्वं चोच्यते सूत्रेण तद्विषयवाक्येन च —

ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः ।

आथर्वणो प्रश्नोपनिषदि श्रूयते "एतद्वै सत्यकामपरं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेती"ति प्रकृत्य "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नोयथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं हैव स पाप्मना विनिर्मुक्तः ससामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत" इतितत्र सन्देहः यद्ध्यानबलेन त्रिमात्रोपासकः सर्वपापविनिर्मुक्तः सूर्यसम्पन्नः सन् पुनः सामभिर्ब्रह्मलोकं नीतः सन् तमेव पुरिशयं पुरुषमीक्षत" इतीक्षतिविषयभूतम् तत्त्व-

मीक्षतिकर्म सर्वजीवाभिमानी पूर्वत्रापरब्रह्मत्वेन निर्दिष्टश्चतुर्मुखः, आहोस्विदीक्षतिकर्मसर्वजगद्धेतुःशास्त्रार्थभूतः परब्रह्मपदार्थः श्रीपुरुषोत्तम,इति —अत्र पूर्वपक्षः चतुर्मुखोऽस्तु खल्वीक्षतिकर्म पूर्वस्मिन्नेकमात्रद्विमात्रप्रणवोपासकस्यमनुष्यलोकान्तरिक्षलोकाप्तिफलमुक्त्वा त्रिमात्रोपासकस्य फलत्वेन कथ्यमानोऽन्तरिक्षात्परः समष्टिजीवस्य हिरण्यगर्भस्य लोकः प्रत्येतव्यस्तल्लोकगतपुरुषेक्षणविषयस्तल्लोकाधिपतिः सएवेति देहेन्द्रियादिभ्यः परादेहादिभिः सह घनीभूताद्व्यष्टिजीवात्तल्लोकवासिसमष्टिपुरुषस्य परत्वमुपपद्यते। तस्मादीक्षतिकर्मचतुर्मुखइति प्राप्ते ऽभिधीयते सएव प्रकृतोजगद्धेतुः परमात्मा ईक्षतिकर्म कुतः व्यपदेशात् "तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यतच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणश्चे"ति विद्वत्प्राप्यत्वशान्तत्वाजरत्वामरत्वामृतत्वाभयत्वादीनां परमात्मधर्माणां व्यपदेशात् यस्य हि कर्मजन्यदेहादिसंयोगः स जीवघनः सच "योब्रह्माणं विदधाति पूर्वं" मित्यादिषु चतुर्मुखस्यापि श्रूयते नह्यन्तरिक्षा-

त्परश्चतुर्मुखलोकः स्वर्गादीनां मध्ये तद्भावात् "पुरि शयं पुरुषमीक्षते"इति श्रुत्युक्तोलोको न कर्मफलभोगायतनभूतः सत्यलोकापरनामा ब्रह्म-लोकः किन्तु मुक्तगम्यः प्रकृतस्य ब्रह्मण ईक्षा-तिकर्मभूतस्य लोकः सर्वलोकपराङ्मविघनादपि परस्य पुरुषस्य शयनस्थानत्वेन निर्दिष्टत्वात् अस्यैव परब्रह्मलोकस्याथर्वणे एवोपनिषदन्तरे-विद्वत्प्राप्यत्वं च श्रूयते "सर्वे वेदा यत्पद-मामनन्ति । तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमी"त्युपक्रम्य "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदाल-म्बनं परं । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके मही-यते"इति तत्रैवास्याविद्वद्भिरप्राप्यत्वम् विद्वत्प्रा-प्यत्वं संसाराद्विलक्षणत्वम् च श्रूयते । "यस्त्ववि-ज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः । न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति यस्तु विज्ञा-नवान्भवतिसमनस्कः सदा शुचिः । सतु तत्पद-माप्नोति यस्माद्भूयोन जायते ॥ विज्ञानसारथि-र्यस्तु मनप्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पद"मिति शान्तौ हारीतगीतो-

पक्रमे ॥

युधिष्ठिरउवाच ।

किंशीलः किंसमाचारः किम्विद्यः किम्परायणः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥

भीष्मउवाच ।

मोक्षधर्मेषु निरतोलघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम्" ॥

इतिप्रश्नोत्तराभ्यामाप्ततमकृताभ्यां प्रकृतेः परत्वं मोक्षधर्मैकसाध्यत्वम् ध्रुवत्वम् च जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणोलोकस्य प्रतिपादितम् । तस्मात्कार्यकारणभूतायाः प्रकृतेः परं पुरि शयं ब्रह्मेक्षति कर्मेति सिद्धम् ॥ १३ ॥इतीक्षतिकर्माधिकरणम् ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा

ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः ।

आथर्वणिकैः प्रश्नोपनिषद्येवं पठ्यते "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथापादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवंह्वैव स पाप्मनाविनिर्मुक्तः ससामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं सएतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरि शयं पुरुषमीक्षत" इति तत्र संशयः ध्यायतीक्षतिविषयः किंसमष्टिजीवश्चतुर्मुखः, उतपरमात्मे,ति अपरब्रह्मशब्दवाच्यश्चतुर्मुखएव तयोर्विषय इति पूर्वः पक्षः पूर्वस्मिन्नेकमात्रद्विमात्र-

प्रणवोपासकस्य मनुष्यलोकानन्तरिक्षलोकाप्तिफलमुक्त्वा त्रिमात्रोपासकस्य फलत्वेन कथ्यमानोऽन्तरिक्षात्परः समष्टिजीवस्य-हिरण्यगर्भस्य लोकः प्रत्येतव्यस्तल्लोकगतपुरुषेक्षणविषयस्तल्लोकाधिपतिः सएवेति देहेन्द्रियादिभ्यः पराद्देहादिभिः सह घनीभूताद्व्यष्टिजीवात्तल्लोकवासिसमष्टिपुरुषस्य परत्वमप्युपपन्नम् अतश्चतुर्मुखइति प्राप्ते—ब्रूमः परमात्मैवेक्षतिकर्म कुतः व्यपदेशात् "तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणं चे"ति परमात्मधर्माणामत्र व्यपदेशात् यस्य हि कर्मकृतदेहादिसंयोगः सजीवघनः सच "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व"मित्यादिषु चतुर्मुखस्यापि श्रूयते नह्यन्तरिक्षात्परश्चतुर्मुखलोकः स्वर्गादीनां मध्ये सत्त्वात् । एवं च ब्रह्मैव लोक इति ब्रह्मलोकशब्दोऽपि निषादस्थपतिन्यायेन परमात्मलोकवाचकः ॥ १३ ॥ इतीक्षतिकर्माधिकरणम् ४ ।

## सू० दहरउत्तरेभ्यः । १। ३। १४ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इतिश्रुत्या प्रोक्तो दहराकाशः परमात्मा भवितुमर्हति कुतः उत्तरेभ्यो "यावान् वाऽयमाकाशस्तावानसौ अन्तर्हृदय आकाशः उभे ऽस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते एष आत्माऽपहतपाप्मा विजर"इत्यादिभि-

वक्ष्यमाणाये परमात्मासाधारणधर्मास्तेभ्यो हेतुभूतेभ्यः ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एव "पुरि शयं पुरुषमीक्षत" इत्यनेन वाक्येन पुरिशयत्वमीक्षतिकर्मत्वञ्चाविष्कृतमङ्गलमूर्त्तिमत्त्वेन परमात्मनउपपद्यते तथैवेदानीं हृत्पुण्डरीकाख्यवेश्मवर्त्तित्वेन दहरत्वमप्युपपद्यते इत्याशयवान्भगवान्सूत्रकारश्राह —

दहरउत्तरेभ्यः ।

छान्दोग्ये हि भूमविद्यानन्तर "मथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् तद्वाव विजिज्ञासितव्य" मिति श्रूयते तत्र ब्रह्मपुरे शरीरे ब्रह्मांशभूतस्य जीवस्य कर्मफलभोगायतने ब्रह्मोपलब्धिस्थानेऽस्मिन् यदिदं शास्त्रप्रसिद्धं दहरमल्पं हृदयलक्षणं पुण्डरीकं तदेव वेश्म अस्मिन्नेव वेश्मनि दहरोऽल्पः दिदृक्षुस्वानन्यभक्तेच्छयाऽऽविष्कृतसूक्ष्मतनुः आकाशःव्यापकस्वरूपः तस्मिन् हृत्पुण्डरीकेऽन्तवर्त्तियदाकाश-

शब्दोक्तम् दहरम्ब्रह्माऽन्वेष्टव्यं ज्ञातुः सकाशाच्छरीराच्च वैलक्षण्येन विवेचनीयम् विजिज्ञासितव्यम् वेदान्तश्रवणाद्यभ्यासेन चिन्त्यमिति सिद्धान्तपक्षे श्रुत्यर्थ इति तत्र संशयः किन्दहराकाशशब्देन भूताकाशो,गृह्यते आहोस्वित्परमात्मे,ति आकाशशब्दस्य भूताकाशे प्रसिद्धत्वात् दहरशब्दस्यापि सूक्ष्मार्थत्वेन तत्र वृत्तिसम्भवाद्भूताकाशइति । नच"यावान्वायमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयआकाश"इत्येकस्यैवोपमानोपमेयभावोनोपपद्यतइति वाच्यम् वाह्याभ्यन्तरभेदमाश्रित्योपमानोपमेयभावोपपत्तेः आराग्रमात्रोदेह्याभिमानी जीवोवा दहराकाशोऽस्तु "अथ य एष सम्प्रसादो अस्माच्छरीरात्समुत्थाये"तितस्याप्यत्र प्रतीतेः अणुस्वरूपत्वेन दहरत्वम् देहेन्द्रियादिभिरसंस्पृष्टत्वेनाकाशोपमेयत्वं तस्य सङ्गच्छते इतिप्राप्ते—ब्रूमः दहरोदहराकाशः परमात्मैव कस्मात् उत्तरेभ्योवाक्यशेषगतेभ्योहेतुभ्यः । वियदुपमत्वपृथिव्यादिसर्वजगदाधारत्वात्मत्वापहतपाप्मत्वादिभ्यः परमात्मासाधारणधर्मेभ्यः तथाहि "यावान्वाऽयमाकाशस्ता-

वानेषोऽन्तर्हृदयआकाश " इतिप्रसिद्धेनाकाशेन-
दहराकाशः परएवोपमीयते भिन्नयोरेवोपमा-
नोपमेयभावे सिद्धे एकस्मिन्तत्कल्पनायाअन्या-
य्यत्वात् "उभे यस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव
समाहिते" इति सर्वविकाराधारत्वं च परमा-
त्मनएवोपपद्यते "एषआत्माऽपहतपाप्मा विज-
रोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः
सत्यसङ्कल्प"इत्यनेन वाक्येनोक्ताआत्मत्वापहत-
पाप्मत्वादयोधर्माः परमात्मपरिग्रहे सङ्गच्छन्ते
किञ्च"यथेह कर्मजितोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्र
पुण्यजितोलोकः क्षीयते" इति कर्मणामनित्य-
फलकत्वंमतज्ज्ञं प्रत्यभिधाय पुनर्वाक्यशेषे
"अथ ये इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च
सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो
भवती"ति ये उपासकाः आत्मानं परमेश्वरं-
दहराख्यमेतांस्तद्गुणांश्चानुविद्यानुभूय परलोकं
व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारोभव-
ती"ति दहरगुणस्वरूपविदां कामचारोपपत्तेश्च
दहराकाशःपरमात्मा ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

दहरउत्तरेभ्यः ।

इदमाम्नायते छन्दोगैः "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्य"मिति तत्र संशय्यते किमिह दहरे हृत्पुण्डरीके श्रूयमाणो दहराकाशः भूताकाश, उत जीवः, अथवा परमात्मे,ति किं तावत्प्राप्तं भूताकाश इति आकाशशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेः। एकस्यैव "यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषो ऽन्तर्हृदयआकाश" इत्युपमानोपमेयभावस्तु बाह्याभ्यन्तरकल्पितभेदकृतः जीवो वा "अथयएष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाये"ति तस्याप्यत्र प्रतीतेः पुरस्वामित्वान्मितत्वप्रत्ययाच्च। प्रजापतिवाक्ये ऽपहतपाप्मत्वादिगुणकत्वावगतेश्चेति-प्राप्ते प्रचक्ष्महे दहराकाशः परमात्मा कुतः उत्तरेभ्य आत्मत्वापहतपाप्मत्वादिसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिहेतुभ्यः दहराकाशस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिप्राप्तिश्रवणाच्च दहराकाशस्य भूताकाशत्वे हृदयावच्छेदनिबन्धेनापि नोपमानोपमेयभावः सम्भवति। हृदयावच्छिन्नस्य द्यावापृथिव्यादिसर्वाश्रयत्वानुपपत्तेः। नच दहराकाशस्य परमात्मपरत्वेऽपि बाह्याकाशोपमेयत्वासंभवस्तस्य सर्वस्माज्ज्यायस्त्वश्रवणादितिवाच्यं बाह्याकाशोपमानस्य सर्वज्यायस्त्वप्रतिपादकवाक्यस्य च हृत्पुण्डरीक मध्यवर्त्तित्वप्राप्ताल्पत्वनिवृत्तिपरत्वात्। इषुवद्गच्छति सूर्यइति वाक्यस्य गतिमान्द्यनिवृत्तिपरत्ववत्। ननु च "दहरोस्मिन्नन्तरआकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्य"मिति दहराकाशान्तर्वर्त्तिनस्तदन्यस्यान्वेष्टव्यतया प्रक्रान्तत्वान्न दहराकाशोऽपहतपाप्मेत्यादिना वक्तुं शक्य इति चेत् श्रुत्यैव तदन्वेष्टव्यमिति तच्छब्देन दहराकाशं तदन्तर्वर्त्तिगुणगणं च परामृश्य तदुभयस्यान्वेष्टव्यत्वेनो-

पदिश्यमानत्वात् । तथाहि उपास्यतया समीपस्थस्य ब्रह्मणः पुरत्वेनोपासकशरीरं तन्मध्ये तदवयवभूतं पुण्डरीकाकारमणुपरिमाणं हृदयं च ब्रह्मणो वेश्मत्वेन निर्दिश्य तत्स्थं परमात्मानं सूक्ष्मतया ध्येयं दहराकाशशब्देनोक्त्वा तदन्तर्वर्त्तिचापहतपाप्मत्वादिकल्याणगुणगणं ध्येयतयोपदिशति श्रुतिः कथमेतदवगम्यते इति चेत् "यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयआकाशः" इति दहराकाशस्य वियदुपमेयत्वमुक्त्वा "उभे० अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते" इत्यादिना सर्वजगदाधारतया निर्दिष्टस्य तस्यैव "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहित" मिति अस्मिन्नित्यनेन परामर्शात् तस्यैव "नास्य जरयैतज्जीर्यती" त्यादिना देहधर्मैरलिप्तत्वं "एतत्सत्यं ब्रह्मपुर"मित्यनेन निखिलविश्वाधारत्वं "अस्मिन्कामाः समाहिता" इतिकामशब्दितकल्याणगुणाधारत्वं चाभिधाय "एषआत्माऽपहतपाप्मे" त्यादिना दहराकाशस्यैवात्मत्वकाम्यभूतकल्याणगुणवत्त्वादिस्फुटीकृत्य तं तद्गुणां श्चाविदुषामन्तवत्फलप्राप्तिमसत्यसङ्कल्पत्वं चोक्त्वा "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामानि"ति वाक्यशेषस्तमेव दहराकाशशब्दनिर्दिष्टमात्मानं तद्गुणांश्च विदुषां तत्प्रसादात्सर्वकामप्राप्तिं सत्यसङ्कल्पतां च दर्शयतीति ॥ १४ ॥

## सू० गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च १ । ३ । १५ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्ती"ति गति-ब्रह्मलोकमिति शब्दस्ताभ्यां दहरः परइति निश्चीयते "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवती"ति प्रत्यहं गमनं श्रुत्यन्तरे तथैव दृष्टम् कर्मधारयसमासपरिग्रहे ब्रह्मैवलिङ्गं शब्द-सामर्थ्यञ्च ॥ १५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

इतश्च दहराकाशः परमात्मेत्याह —

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ।

उत्तरे हेतवः प्रपञ्च्यन्ते ऽनेन तद्यथा "हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञाउपर्य्युपरि सञ्चरन्तो-न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजाअहरहर्गच्छन्त्य-एतं ब्रह्मलोकन्न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा" इति-दहराकाशवाक्ये अहरहर्गच्छन्त्य इति गतिः एतं ब्रह्मलोकमितिशब्दश्च ताभ्याम् दहराकाशः पर-मात्मेत्यवगम्यते सर्वेन्द्रियलये प्रजाशब्दनिर्दि-ष्टानां जीवानां प्रत्यहं सुषुप्तौ ब्रह्मगमनेन ब्रह्मलोकशब्देन च दहराकाशः परमात्मैवेति

निश्चीयतेच जीवस्य गन्तृत्वात् भूताकाशस्य गत्यनर्हत्वाच्चेत्यर्थः। तथाहि दृष्टम् तथैवान्यत्र "एवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे" इति "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे" इति परमात्मन्येव सर्वप्राणिनामहरहः सुषुप्तावस्थायां गमनं तत आगमनं च दृष्टम् तथैव "एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाचे"ति ब्रह्मलोकपदमपि परमात्मनि दृष्टम् एतदेव तत्र सर्वप्रजानामहरहर्गमनम् ब्रह्मैव लोकइतिकर्मधारयसमासेन एतमिति दहरार्थकपदसमानाधिकरणतया निर्दिष्टोब्रह्मलोकशब्दश्च दहराकाशस्य परब्रह्मत्वे लिङ्गं च गमकं चेत्यर्थः॥ १५॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

इतश्च दहराकाशः परमात्मा।—

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च।

"तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितं क्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्यपतम् ब्रह्मलोकम् न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा" इत्यत्रैतमिति प्रकृतं दहरं निर्दिश्य तत्राहरहः सर्वक्षेत्रज्ञानां गत्या गन्तव्यस्य दहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्दनिर्देशेन च दहराकाशं परं ब्रह्मैवे-

त्यवगम्यते । तथाहि दृष्टम् तथैवान्यत्र "एवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह"इति स त आगम्य न विदुः सत आगच्छामह" इति परमात्मन्येव सर्वप्राणिनामहरहः सुषुप्तिकाले गमनं दृष्टम् तथैव "एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाचे"ति ब्रह्मलोकशब्दोऽपि परमात्मनि दृष्टः एतदेव च तत्र सर्वप्रजानामहरहर्गमनं ब्रह्मैव लोक इति समासेन सदहरसमानाधिकरणतया निर्दिष्टो ब्रह्मलोकशब्दश्च दहराकाशस्य परब्रह्मत्वे लिङ्गं गमकम् ॥ १५ ॥

## सू० धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।१।३।१६

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्सेतुर्विधृतिरेषां लोकानां विधारकत्वं दहरस्य परमात्मत्वे सङ्गच्छते अस्य च महिम्नो धृत्याख्येऽस्मिन्परमात्मन्येव "एतस्य वा ऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत इतिश्रुत्यन्तरे उपलब्धेः ॥ १६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।

धृतेश्च हेतोर्दहराकाशशब्देन परमात्मैव ग्राह्यः "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकाः

नामसम्भेदाये"ति सेतुरसाङ्कर्यहेतुः विधृतिर्विधारयिता एषामध्यात्माधिदैवभेदभिन्नानां लोकानामसम्भेदायाऽसङ्कराया विदारणायवेत्यर्थः । अस्य च धृत्याख्यस्य महिम्नोऽस्मिन्परमात्मनि खल्वन्यत्र श्रुत्यन्तरेऽपि उपलब्धेरिहाऽपि सर्वलोकविधारकः दहराकाशः परमात्मेति गम्यत इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरं तु "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इति । तथा "एष सर्वेश्वर एष लोकाधिपतिरेष सेतुर्विधारणः एषां लोकानामसम्भेदाये" ति च ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।

"अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाये"ति प्रकृतस्य दहरस्यैव जगद्विधरणश्रवणाच्च धृतिर्हि जगद्विधरणं सा च परस्य महिमरूपा अस्य धृत्याख्यस्य महिम्नोऽस्मिन्दहराकाशे "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाये"त्यादिश्रुतिषु उपलब्धेरयं दहराकाशः परमात्मा ॥ १६ ॥

## सू० प्रसिद्धेश्च । १ । ३ । १७ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इति परमात्मन्यप्याकाशशब्दप्रसिद्धेश्च दहराकाशः परमात्मैव ॥ १७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रसिद्धेश्च ।

पुनर्दहराकाशः परमात्मैव बोध्यः कुतः आकाशशब्दस्य परमात्मन्यपि प्रसिद्धेः। कुत्र- "आकाशोह वै नामरूपयोर्निर्वहिता सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त" इत्यत्र ॥ १७ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्रसिद्धेश्च ।

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता, 'यद्येषआकाशआनन्दो न स्यात्, 'आकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादौपरमात्मन्येवाकाशशब्दस्य प्रसिद्धेश्च परमेश्वरधर्मविशेषितेनाकाशशब्देनैव भूताकाशशङ्का निराकृता ॥ १७ ॥

## सू० इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् । १।३।१८ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाचे"ति दहरवाक्यमध्ये जीवस्यापिपरामर्शाज्जीवोऽस्तु दहर इतिचेन्नापहतपाप्मत्वादीनां पूर्वोक्तानां जीवे ऽसम्भवात् ॥ १८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

इतरपरामर्शात्सइति चेन्नाऽसम्भवात् ।

नन्वितरस्य जीवस्यास्मिन् दहराकाशवाक्यमध्ये "अथ य *एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभय" मित्यत्र सम्प्रसादशब्देन परामर्शात्सएवास्तु दहराकाशइति चेन्न कुतः असम्भवात् पूर्वोक्तानामपहतपाप्मत्वादिगुणानाम् जीवेऽसम्भवात् ॥ १८ ॥

---

*अथ य एष सम्प्रसाद इत्यादिवाक्यस्य दहरविद्यायां जीवपरामर्शार्थः पाठः । प्रजापतिविद्यायाम तु बन्धविनिर्मुक्ते जीवे अपहतपाप्मत्वादि गुणासूचनायेति विवेकः ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इतरपरामर्शात्सइति चेन्नासम्भवात् ।

ननु यथा वाक्यशेषबलेन दहराकाशस्य परमात्मपरत्वमुक्तं तथा "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्मे"ति दहरवाक्यमध्य इतरस्य जीवस्यापि परामर्शात् आकाशशब्दस्यापि प्रकाशादियोगेन जीवे वृत्तिसम्भवाज्जीवएव दहरः स्यादिति चेन्न, कुतः असम्भवात् पूर्वोक्ताऽपहतपाप्मत्वादिगुणानां जीवेऽसम्भवात् ॥ १८ ॥

# सू० उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।१। ३।१९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उत्तराज्जीवपरात्प्रजापतिवाक्याज्जीवेऽप्यपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकमवगम्यते ऽतः स एव दहराकाशोऽस्त्विति चेदुच्यते पूर्वोक्तगुणयुक्तो नित्याविर्भूतस्वरूपः परमात्मा दहर आविर्भूतस्वरूपो जीवस्तु न ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।

अत्रप्रधानसूत्राद्दहरइति लभ्यते पूर्वसूत्रा-

त्सइति नेति चानुवर्त्तते । ननु नासम्भवोऽस्ति दहरविद्यातउत्तरात्प्राजापत्यात् वाक्यादपहत- पाप्मत्त्वादिगुणकोजीवोऽपि प्रतिपन्नोऽस्तस्मा- दिहापि अपहतपाप्मत्वादिगुणकोदहरः सए- वास्तु इति चेन्न तत्र "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"इत्येवं आविर्भूतस्वरूपो- जीवोविवक्षितोऽस्ति । तुशब्दोहि निरावरणस्वरूपा- द्बद्धमुक्तव्यवहारातीताद्दहरादाविर्भूतस्वरूपस्य मह- द्वैलक्षण्यं द्योतयति । तथाहि प्रजापतिवाक्येऽनादि- कालप्रवृत्तपुण्यपापकर्ममूलजाग्रदाद्यवस्थाभिस्ति- रोहितगुणकस्य परमात्मोपासनाजन्यतदुपसम्प- त्त्याविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्याऽपहतपाप्मत्वादि- गुणवत्तयोपदेशः । दहरवाक्ये तु नित्याविर्भूत- स्वरूपगुणकस्य दहराकाशशब्दितस्य परमात्म- नोऽपहतपाप्मत्वादिगुणवत्तयोपदेश"इति । श्रुत्य- र्थस्तु परं चेतनाज्जीवादचेतनाच्च पदार्थाद्वि- लक्षणं ज्योतिः सर्वावभासकमंशिस्वरूपं जीवः उप समीपे सम्यक् प्राप्य गाढान्धकारावृतं चक्षुर्यथा स्वासाधारणं वस्त्राभरणादिविषयं प्रकाश- कत्वमलभमानं सत् सदैवतमसा ऽनावृतं

भास्करमुपसम्पद्य स्वेन स्वासाधारणेन स्वविषय-प्रकाशकत्वावच्छिन्नेन रूपेण निष्पद्यते । तथा देहेन्द्रियादिविलक्षणेन स्वानन्दसम्पन्नेन ज्ञान-स्वरूपेण निष्पद्यत" इति सआविर्भूतस्वरूपइत्यु-च्यते आविर्भूतं स्वरूपं यस्य स तथा। किञ्चा-विर्भूतस्वरूपस्यापि जीवस्य सेतुत्वसर्वजगद्विध-रणत्वचेतनाचेतननियन्तृत्वासम्भवादपि न दहराकाशो जीवः शङ्क्यः । दहरविद्यायां नित्या-विर्भूतस्वरूपासाधारणाः प्रजापतिविद्यायामावि-र्भूतस्वरूपासाधारणाश्रपहतपाप्मत्वादयोधर्मास्त-स्मादसम्भवादिति हेतुस्तदवस्थः ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।

दहरविद्यातउत्तरस्माज्जीवपरात्प्रजापतिवाक्याज्जीवेऽप्यपहत-पाप्मत्वादिगुणाष्टकमवगम्यते । अतः स एव दहराकाशइति निर्णीयते इति चेदिति तत्राह । आविर्भूतस्वरूपस्त्विति तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः नेत्यनुवर्त्तत नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवा-शङ्का कार्या यतस्तत्र प्रजापतिवाक्येऽनादिकालप्रवृत्तपुण्यपाप-कर्ममूलजाग्रदाद्यवस्थाभिस्तिरोहितगुणाष्टकस्य परमात्मोपासाज-न्यतदुपसम्पत्त्याविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणावस-र्योपदेशोदहरवाक्ये तु नित्याविर्भूतस्वरूपगुणाकस्य दहराकाश-

शब्दितपरमात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिगुणावत्तयोपदेश इति । किञ्चाविर्भूतस्वरूपस्यापि जीवस्य सेतुत्वसर्वजगद्विधरणत्वचेतनाचेतननियन्तृत्वासम्भवादपि न दहराकाशो जीवः शङ्क्यः ॥ १९ ॥

## सू० अन्यार्थश्च परामर्शः ।

१ । ३ ।२० ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवपरामर्शः परमात्मनो जीवस्वरूपाविर्भावहेतुत्वप्रदर्शनार्थः ॥ २० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु यदि दहराकाशोनित्याविर्भूतस्वरूपः परमात्मा तर्हि दहरवाक्ये "अथ य एष सम्प्रसादो ऽस्माच्छरीरादि"त्यादिना जीवपरामर्शोऽपर्थः स्यादित्यत्राह —

अन्यार्थश्च परामर्शः ।

सम्भावनायां चकारः अनादिमायावृताऽपहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूपोजीवस्तमसाभिभूतं चक्षुर्यथा भास्करमुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते तथा परं ज्योतिर्दहराकाशमुपसम्पद्य स्वेनस्वासाधारणेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इत्येवं दह-

राकाशस्य जीवस्वरूपाविर्भावहेतुत्वप्रदर्शनार्थः प्रजापतिवाक्योक्तजीवपरामर्शः । नच जीवएव दहराकाशइति प्रतिपादनार्थः ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यद्येवं तर्हि किमर्थं दहरवाक्ये जीवपरामर्श इति चेत्त-त्राह —

अन्यार्थश्च परामर्शः ।

"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति-श्रुतेः पूर्वमविद्यातिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूपस्य जीवस्य परं ज्योतिःशब्दितदहराकाशं प्राप्यस्वस्वरूपाविर्भावोभवतीति दहराकाशस्य जीवस्वरूपाविर्भावहेतुत्वप्रदर्शनार्थः प्रजापतिवा-क्योक्तजीवपरामर्शः ॥ २० ॥

## सू० अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्

१ । ३ । २१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अल्पश्रुतेर्नविभुरत्र ग्राह्यइति चेत्तत्समाधा-नाय यद्वक्तव्यं तदुक्तं पुरस्तात् ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।

दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश"इत्यल्पश्रुतेरणुपरिमाणो-

जीवएव दहरोस्तु इति चेत्तत्र यद्वक्तव्यं तदुक्तं पुरस्तात् "निचाय्यत्वादेवं व्योमवदि" ति ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।

दहरोऽस्मिन्नित्यल्पत्वश्रुतेरणुपरिमाणकजीवएव दहरवाक्यउक्तइति चेत्तत्र यद्वक्तव्यं तत् "निचाय्यत्वादेवं व्योमवदि" त्यनेनैवोक्तम् ॥ २१ ॥

सू० अनुकृतेस्तस्य च ॥ १।३।२२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तस्य नित्याविर्भूतस्वरूपस्य "तमेव भान्तमनुभाति सर्व" मित्यनुकृतेश्चानुकर्त्ता जीवो नित्याविर्भूतस्वरूपोदहरो न भवितुमर्हति ॥२२॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इतश्च जीवोन दहराकाशइत्याह —

अनुकृतेस्तस्य च ।

तस्य दहराकाशस्य नित्याविर्भूतगुणाष्टकस्य आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणानुकरणात् दहरः परमात्मैव । यथा मुण्डके "तमेव भान्त-

मनुभाति सर्व"मित्यनुकरणात् "तस्य भासासर्वमिदं विभाती"ति प्रकाश्यत्वाच्च सर्वस्यानुकर्तुः प्रकाश्यस्यानुकार्यत्वं प्रकाशकत्वञ्चन भवति तथा प्रजापतिनिगदितोऽनुकर्ता जीवोहि न दहरशब्दोदितानुकार्यं ब्रह्म भवितुमर्हति ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इतश्च जीवो न दहराकाशइत्याह —

अनुकृतेस्तस्य च ।

चो नियोगे अनुकृतिस्तदनुकरणं तत्साम्यापत्तिरिति यावत् तस्य दहराकाशस्य परमात्मनोऽनुकरणाज्जीवोऽपहतपाप्मत्वादिगुणकः दहराकाशस्तु नित्याविर्भूततद्गुणाष्टकः अतः प्रजापतिनिगदितोऽनुकर्त्ता जीवो न दहरशब्दोदितानुकार्यब्रह्मभवितुमर्हतीति ॥ २२ ॥

## सू० अपितु स्मर्यते १ । ३ ।२३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अपि च "मम साधर्म्यमागता" इति स्मर्यते ॥ २३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अपितु स्मर्यते ।

सर्वबन्धविनिर्मुक्तस्य जीवस्य परमात्म-

साम्यापत्तिः स्मर्यते "मम साधर्म्यमागता" इति तस्माद्दहराकाशः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ २३ ॥

इति दहराधिकरणम् ५ ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अपितुस्मर्यते ।

जीवस्य मुक्तदशायां परमात्मसाम्यापत्तिः स्मर्यते । "मम साधर्म्यमागता" इति केचित्तु "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती"ति वाक्ये "यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति" स किन्तेजो ?धातुः ?कश्चिदुत परमेश्वर ?इति सन्दिह्य ?तेजः स्वभावानामेवसूर्यादीनां भानप्रतिषेधात्तत्सजातीयः कश्चित्तेजोधातुरितिपूर्वपक्षयित्वा प्राज्ञमात्मानं भान्तं सर्वेषां सूर्यादीनामनुभानात् । प्राज्ञएव स इति सिद्धान्तेन सूत्रद्वयमिदमधिकरणान्तरम्प्रवृत्तमिति मन्यन्ते तत्तु "ज्योतिश्चरणाभिधानादि"त्यादिष्वेव परमात्मनोभारूपत्वावगतेः "अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्तेः" "द्युभ्वाद्यायतनमि"त्यधिकरणद्वयेन तत्प्रकरणस्य परमात्मपरत्वप्रतिपादनाच्च पूर्वपक्षानुत्थानात्सूत्राक्षरवैरूप्याच्चायुक्तमित्यन्ये वदन्ति ॥ २३ ॥

इति दहराधिकरणम् । ५ ।

## सू० शब्दादेव प्रमितः । १।३।२४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रमितोऽङ्गुष्ठपरिमाणकः पुरुषोत्तमएव "ईशानो भूतभव्यस्ये"ति शब्दात् ॥ २४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं दहरत्वेन ब्रह्मणउपास्यत्वं निर्णीतमिदानीमङ्गुष्ठमात्रत्वेन ब्रह्मोपासनीयमित्याह —

शब्दादेव प्रमितः ।

कठवल्ल्यामङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोमध्यआत्मनि तिष्ठती"ति पुन"रङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोज्योतिरिवाधूमक"इति च पुन"रङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट"इति च श्रूयते । तत्र संशयः किमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोजीव? उत पुरुषोत्तम? इति अत्र पूर्वपक्षः अङ्गुष्ठमात्रोजीवः "प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिरङ्गुष्ठमात्रोरवितुल्यरूप"इति श्वेताश्वतरश्रुतेः । "अथ सत्यवतः कायात्पाशबद्धं वशं गतम् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमोबलादि"तिस्मृतेश्चेति । अत्र ब्रूमः प्रमितः अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः कठवल्ल्युक्तः परमात्मैव । कस्मात् शब्दात् । "ईशानोभूतभव्यस्ये"तिश्रुतेः अयमभिप्रायः यदपि श्रुतिस्मृत्युक्तमङ्गुष्ठमात्रत्वं जीवलिङ्गमिहोपलभ्यते तथापि लिङ्गं बाध्यते इत्यर्थः । ननु जीवस्य स्वरूपतो-

ऽणुपरिमाणस्याङ्गुष्ठमात्रत्वासम्भवात्पाशबद्धमिति लिङ्गाच्छरीरविशेषविषयमङ्गुष्ठमात्रत्वम् सङ्गच्छते। प्रकृतस्य तु ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठमात्रत्वं पुनः पुनः श्रुत्योपदिष्टमपि न सम्भवतीति चेन्न, भक्तेच्छया स्थानयोगाच्च तथात्वसम्भवात्तच्चाग्रिमे सूत्रे द्रष्टव्यम्। किञ्चाङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं प्रकृत्य "तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत् मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्यादि"ति शब्दादपि परमात्मैवाङ्गुष्ठमात्रः तथाहि तमङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं कर्मभूतम् अधिकारी स्वाच्छरीरात्स्वकीयत्वेन विदितात् इत्यनेनात्मानात्मविवेकवानिति सूचितम्। एवंभूतोजीवः कर्त्ता प्रवृहेत् पूर्वं ध्यानेन हृदि विदितं पुनः प्रकृष्टया प्रार्थनया मुञ्जादिवेषीकामुद्यच्छेत् वहिः स्थापयेत्। अथ धैर्येण तं विद्यादिति श्रुत्यर्थः। एवं सति अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषउपासकादुपास्यरूपोऽन्यः॥ २४॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

शब्दादेव प्रमितः।

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोमध्यआत्मनि तिष्ठति अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां

हृदये सन्निविष्ट" इतिकठवल्लीपाठे अङ्गुष्ठप्रमितोजीव? उत परमात्मेति सन्देहे "प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिरङ्गुष्ठमात्रोरवितुल्यरूप" इतिश्वेताश्वतरश्रवणात् अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमोबला"दिति वनपर्वस्मरणाच्च जीवस्यैवाङ्गुष्ठमात्रत्वसम्भवात्सएवेति प्राप्ते राद्धान्तः अङ्गुष्ठप्रमितः परमात्मैव कुतः "शब्दादेव ईशानोभूतभव्यस्ये"ति तद्वाचिशब्दादेव नचेदृशमैश्वर्य्यं कर्मतन्त्रे जीवे सम्भवति ॥ २४ ॥

## सू० हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ १।३।२५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उपासकहृद्यऽपेक्षयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यते । ननु जन्तुशरीरेषु हृदयस्यानियतपरिमाणत्वात्तदपेक्षयाऽपि तथात्वं कथम्? त्राह मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपादयति —

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।

सर्वगतस्याप्यङ्गुष्ठमात्र परिमाणं च हृदि स्थानन्यजनहृदयकमलेऽङ्गुष्ठपरिमाणेऽपेक्षयाहृदयापेक्ष-

या तु सङ्गच्छते लोकत्रयापेक्षया त्रिविक्रमवत्तत् व्यपदेशोयुक्तएवेत्यर्थः । हृच्छब्देनैव तदन्तस्स्थपरिमाणलाभेऽपेक्षयोपासकापेक्षया तदिच्छयेति वा व्याख्या बोधव्या । ननु प्राणिभेदेन हृदयमानभेदात्तदनुगुणतयाऽप्यंगुष्ठश्रुतिर्न नेतुं शक्येत्यत्रोच्यते मनुष्याधिकारत्वात् शास्त्रस्येतिशेषः । मनुष्याणामधिकारोयस्मिन्तत्तथा तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । मनुष्यहृदयानुगुणतयांऽङ्गुष्ठश्रुत्यर्थोपपत्तिरस्ति । सामान्यतः प्रवृत्तमपि शास्त्रं मनुष्याणामेवोपासकत्वार्थित्वादिसम्भवात्तानेवाधिकरोति तेन गजमत्कुणादिहृदयानामनङ्गुष्ठमात्रत्वेऽप्यविरोधः तेषां हि श्रौतस्मार्त्तेषु कर्मस्वधिकारइति षष्ठेऽधिकारलक्षणे स्थापितम् । तस्मात्परमात्मैवाङ्गुष्ठमात्रः पुरुष इति सिद्धम् ॥ २५ ॥

इति प्रमिताधिकरणम् । ६ ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

कथं तर्ह्यनवच्छिन्ने परमात्मनि प्रमितत्वश्रुतिरित्यत्राह —

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।

तुर्नियोगे अपरिच्छिन्नस्यापि तस्योपासनार्थमुपासकहृदि गतस्य तद्धृदयापेक्षयैवेदमङ्गुष्ठपरिमाणत्वम् । ननु प्राणिभेदेन- हृदयमानभेदात्तदपेक्षयापि कथमङ्गुष्ठमात्रत्वमिति चेत्तत्राह, मनु-

ष्येति सामान्यतः प्रवृत्तमपि शास्त्रं मनुष्याणामेवोपासकत्वार्थित्वादिसम्भवात् तानेवाधिकरोति तद्धृदयापेक्षयेदमुक्तम् । तेनगजादिहृदयानामनङ्गुष्ठमात्रत्वे ऽप्यविरोधः जीवस्याप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं तावद्धृदयान्तर्वर्त्तित्वात्तदपेक्षमेव न स्वरूपेण तस्याणुत्वश्रवणादिति स्थितम् ॥ २५ ॥

इति प्रमिताधिकरणम् । ६ ।

## सू० तदुपर्य्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ १।३।२६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तस्मिन् ब्रह्मोपासनेमनुष्याणामुपरिष्ठादपि ये देवादयोहि तेषामप्यधिकारोस्तीति भगवान् बादरायणो मन्यते ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वाधिकरणे मनुष्यहृदयापेक्षयाङ्गुष्ठश्रुतिः उपपन्नेत्युक्तं शास्त्रस्य मनुष्याधिकारिकत्वात् । इदानीं तत्प्रसङ्गाद्देवानामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोविचार्यते —

तदुपर्य्यपि बादरायणः सम्भवात् ।

बृहदारण्यके "योदेवानाम् प्रत्यबुद्ध्यत

स एव तदभवत्तथर्षीणामि" त्यादि श्रूयते। देवानां मध्ये तथर्षीणां मध्ये यो यो हि प्रत्यबुद्ध्यत ब्रह्मसाक्षादकरोत्स एव ब्रह्म-भावापन्नत्वेनातिष्ठत् अत्र हि ब्रह्मोपासने तद्भावप्राप्तिसाधने देवादीनामधिकारोऽस्ति ? उत नास्तीति सन्देहे शास्त्रस्य मनुष्याधिकारित्वादिन्द्रादीनां मंत्रमूर्तित्वेन देहादिमत्वाभावे सामर्थ्याद्यभावाच्च देवादिषु न ब्रह्मोपासनं सम्भवतीति प्राप्तेभिधीयते तद्ब्रह्मोपासनं मनुष्योपरिवर्त्तमानेषु देवादिष्वपि सम्भवतीति भगवान्बादरायणोमन्यतेस्म कस्मात् सम्भवात् तेषामपि स्वकृतकर्मोपस्थापितभोगोपरामपूर्वकब्रह्मभावापत्तिलक्षणमोक्षप्रदब्रह्मोपासनादि सम्भवात् तथाहि तेषां पारलौकिकदिव्यभोगशालित्वेऽपि तादृशभोगस्यानित्यत्वसातिशयत्वादिदोषग्रस्तत्वेन तदुपरामसम्भवः ब्रह्मभावापत्तेश्च निरतिशयत्वपरमानन्दत्वशाश्वतत्वश्रवणेन मोक्षकामत्वसम्भवः मोक्षकामनया ब्रह्मोपासनसम्भवः "एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास" "भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं

पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मे"त्याद्यधिकारविधायकप्रमाणसद्भावाच्च एवं नामरूपव्याकरणश्रुतेः मन्त्रार्थवादेतिहासादिभ्यश्च तेषां विग्रहादिमत्त्वसम्भवोऽस्ति श्रूयते हि "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तान्ध्यायेद्वषट्करिष्यन्नि"ति अत्र* विग्रहं विना वाक्यार्थासम्भवाद्विग्रहवती देवता गृहीतव्या । इतिहासे च सूर्येन्द्रवरुणादयोविग्रहवन्तः सुप्रसिद्धाः कुन्त्यां विग्रहवद्भिर्धर्म्मादिभिः पुत्रा उत्पादिताः पुराणेषु च विग्रहवतां तेषां वहुधाकथाविस्तारः ग्रन्थविस्तरभयात्तत्प्रकरणस्थाः श्लोकानोदाहृताः ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तदुपर्य्यपि बादरायणः सम्भवात् ।

शास्त्रस्य मनुष्याधिकारित्वात्तेषां ब्रह्मोपासनसम्भवेन तद्धृदयापेक्षयाङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्ब्रह्मणि सङ्गतार्थेत्युक्तं तत्प्रसङ्गेनदेवानामपि ब्रह्मोपासनेऽधिकारोऽस्ति ? नवेति संशये तत्रेन्द्रादीनां मन्त्रमूर्त्तित्वेन देहादिमत्त्वाभावे सामर्थ्याद्यभावान्नदेवादिषु ब्रह्मोपासनं सम्भवती ति प्राप्ते तत् ब्रह्मोपासनं मनुष्योपरिवर्त्तमानेषु देवादिष्वपि सम्भवतीति भगवान् बादरायणो मन्यते कुतः सम्भवात् स्वर्गादिभोगानामनित्यत्वसातिशयत्वादिपर्यालोचनया मोक्षस्य

---

* अत्र कर्म्मविधिशेषभूते मन्त्रार्थ वादे ।

च निरतिशयत्वपरमानन्दत्वशाश्वतत्वश्रवणेन तेष्वर्थित्वसम्भवः "यथेहकर्म्मजितोलोकः क्षीयते तन्महिमानमिति, वीतशोकः" नारायणे सायूज्यमाप्नोतीत्या"दिश्रुतेः "न केवलं द्विजश्रेष्ठ ! नरके दुःखपद्धतिः। स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्तिनिर्वृति"रितिस्मृतेः किञ्च नामरूपव्याकरणश्रुतेर्मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणादिभ्यश्च तेषां विग्रहादिमत्वसम्भवः अन्तर्धानादिशक्तिमत्वाच्च न तत्प्रत्यक्षं नच मन्त्रादिजन्यज्ञानस्य मिथ्यात्वम् वक्तुं शक्यं? बाधकप्रत्यक्षादिप्रमाणान्तराभावात्। किञ्च"विश्वानि देव वपुनानि विद्वानि"त्यादिमन्त्रैस्तेषु विग्रहवत्त्वसम्भवः प्रजापतिविद्यायामिन्द्रविरोचनयोर्जिज्ञासुत्वश्रवणादपि "तद्योयोदेवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद्भवत्तथर्षीणां तद्देवाज्योतिषांज्योतिरायुर्होपासतेमृत"मित्याद्यधिकारविधायकप्रमाणसद्भावाच्च तत्राप्यङ्गुष्ठमात्रश्रवणं स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुद्धमिति ॥ २६ ॥

## सू० विरोधः कर्म्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्। १।३।२७

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

शरीरं विना ब्रह्मोपासनानुपपत्त्या तेषामवश्यं विग्रहवत्त्वमभ्युपगन्तव्यं तथात्वे तु कर्म्मणि विरोध इतिचेन्नायं दोषः कुतः एकस्याप्यनेकेषां देहानां युगपत्प्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

विरोधः कर्म्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।

ननु यद्यपि देवादीनां विग्रहवत्त्वमस्मदादिवद्धावश्यकं श्रवणमननिदिध्यासनाभ्यासादौ शरीरेन्द्रियमनोयुक्तस्यैव प्रवृत्तिसम्भवादेवं कर्मण्यपि ऋत्विगादिवत्सन्निधानेनोपकारकत्वसम्भवाच्च तथापि तेषां विग्रहवत्त्वे कर्मण्यपि यागादावेकशरीरस्य युगपदनेकयागेषु सन्निधानानुपपत्तेर्विरोधः स्यादिति चेन्न, कुतः अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् अनेका नानारूपा प्रतिपत्तिस्तस्या दर्शनात् तथाहि यथानेकैर्नमस्कुर्वाणैः शिष्यैरेकोऽप्याचार्योयुगपन्नमस्क्रियमाणोदृश्यते यथा चैकोऽपि भास्करोऽनेकैरुपतिष्ठद्भिर्युगपदर्घ्यमानो दृश्यते तथैकां स्वस्थानस्थितां विग्रहवतीं देवतामुद्दिश्य युगपत्स्वं स्वं द्रव्यमुत्सृजन्तीत्युपपद्यते अतोन काचित्कर्मणि क्षतिः । "अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शना"दित्यस्यापरा योजना वा उक्तप्रकारेण कर्म्मणि विरोधइति चेन्न, कुतः अनेकप्रतिपत्तेः एकस्यापि योगसिद्धस्यानेकविग्रहप्रतिपत्तेः अनेकशरीरप्राप्तेः कुतः शास्त्रे दर्श-

नात् तथाहि मोक्षधर्म्मे "साङ्ख्ययोगे च मे तात ! विशेषं वक्तुमर्हसि । तव धर्म्मज्ञ सर्वं हि विदितं कुरुसत्तमे"ति साङ्ख्ययोगविशेषविषयकप्रश्ने साङ्ख्ययोगयोः प्रसंशामुक्त्वा "विशन्ति स्ववशाः पार्थ ! योगाद्योगबलान्विताः । प्रजापतीनृषीन्देवान्महाभूतानि चेश्वराः ॥ न यमोनान्तकः क्रुद्धोन मृत्युर्भीमविक्रमः । ईशते नृपते ! सर्वे योगस्यामिततेजसः ॥ आत्मनोवै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ! योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥ प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् । संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्योरश्मिगणानिवे"त्यभिहितम् ॥ २७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विरोधः कर्म्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।

देवादीनां विग्रहवत्त्वे कर्म्मणि यागादावेकस्य युगपदनेकयागेषु सन्निधानानुपपत्तेर्विरोधः स्यादिति चेन्न, कुतः अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् शक्तिमत्सु सौभर्य्यादिषु युगपदनेकशरीरप्रतिपत्ति दर्शनात् योगशास्त्रे च "आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ! योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥ प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् । संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्योरश्मिगणानिवे"ति ॥ २७ ॥

# सू० शब्दइतिचेन्नातः प्रभवा-त्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।१।३।२८

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

देवादीनां विग्रहवत्त्वपि स्वीकारे तद्वाचिनि वैदिके शब्दे विरोधः स्यात् अर्थोत्पत्तेः प्राग्विनाशानन्तरं च निरर्थकत्वापत्तेरिति चेन्नायं विरोधः अतः शब्दादेव नित्याकृतिवाचकात्प्रजापतिबुद्ध्युद्बोधकादर्थस्य प्रभवात् "वेदेन नामरूपे व्याकरोत्" "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्याम् ॥२८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

शब्दइति चेन्नातःप्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

अत्र पूर्वसूत्राद्विरोधइत्यनुवर्त्तते ननु देवादीनां विग्रहवत्त्वे मास्तु कर्मणिविरोधस्तथापि देवादिवाचिनि शब्देऽर्थाद्वैदिके प्रयोगे विरोधः स्यात् कर्मजन्यत्वेन देवादिशरीरस्यानित्यत्वा-

द्वदवाक्यस्य नित्यत्वाच्च शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धानुपपत्त्या नियतकालस्यार्थस्य त्रैकालिके शब्दे विरोधः स्यादित्यर्थः शब्दसामर्थ्यादर्थोऽपि नित्यश्चेत्तदनित्यत्वप्रतिपादकशब्दे विरोधः स्यात् अर्थानुरोधेन शब्दोऽनित्यश्चेत्तन्नित्यत्वप्रतिपादकशब्दे विरोधः स्यादिति चेन्न, शब्देऽपि विरोधोनास्ति कुतः अतः प्रभवात् अतः तत्तत्सृष्टिकालिकसृज्यमानदेवादि विग्रहादिविषयकस्रष्टृविज्ञानोद्बोधकदेवादिनित्याकृतिवाचकाच्छब्दादेव—वेदलक्षणाद्देवादेः प्रभवादुत्पत्तेः । तथाहि यदा कश्चिन्महापुरुषः कृतपुण्यपुञ्जः प्रजापतिर्भविष्यामीत्यभिसन्धिवान् भगवदनुग्रहाल्लब्धैश्वर्योहि प्रजापतिरित्युच्यते स वक्ष्यमाणप्रकारेण लब्धवेदः सुषुप्तप्रतिबुद्धवत्सृष्टिवेलायां प्रदीपस्थानीयेन वेदेन पूर्वदेवादिव्यक्तौ विनष्टायां सत्यां तत्तदाकृतिविशेषवाचकाद्वेदशब्दादेव देवाद्याकृतिविशेषमवधार्य तत्तदाकारमपरदेवादिकं तत्तत्सृष्टिवेलायां करोति तस्मान्नोक्तविरोधावकाशः । ननु वेदशब्दात्तत्तदाकृतिमवगम्य प्रजापतिः सृष्टिं करोतीत्यत्र किं मानमत्रोच्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति-

प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रमाणान्तरानपेक्षत्वात् श्रुत्यर्थ-निर्णायकत्वादनुमानं स्मृतिः ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्याम् श्रुतिस्तावत् "वेदेन नामरूपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः" तथा "स भूरिति व्याहरन्भूमिमसृजत स भुवइति व्याहरन्नन्तरिक्षमसृजत" त्यादिका स्मृतिरपि मोक्षधर्मे "ऋषयस्तपसा वेदानध्यैष्यन्तदिवानिश"मित्युपक्रम्य "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौवेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः । नानारूपं च भूतानां कर्म्मणां च प्रवर्त्तनम् ॥ वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः । नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः ॥ शर्वर्यन्ते सजातानामन्येभ्यो ऽपदधादजः । नामभेदतपः कर्म्मयज्ञाख्या लोकसिद्धयः" इति तथा "नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम् । वेदशब्देभ्यएवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥ सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्यएवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे"इत्यादिका ॥ २८ ॥

———

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

शब्दइतिचेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

विरोधइत्यनुवर्त्तते । देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽप्युक्तहेतोर्न कर्म्मणि विरोधः वैदिकशब्दे तु स स्यादेव विग्रहयोगे हि सावयवत्वेनास्मदादिवत्तेषामपि जननमरणयोगादनित्यत्वम् दुर्वारं ततश्चेन्द्राद्यर्थोत्पत्तेः पूर्वत्र तद्विनाशात्परत्रचेन्द्रादिवाचकवैदिकशब्दानामर्थशून्यत्वमनित्यत्वं वा स्यात् । तथात्वे च नित्यः शब्दो नित्येनार्थेन नित्यसम्बन्धवत्तया प्रतीयते इति वैदिके शब्दे यन्नित्यत्वम् पूर्वतन्त्रउक्तं तद्विरुद्धं स्यादिति चेन्न, "कुतोऽतः प्रभवात्' अतोवैदिकादेव नित्यतत्तदाकृतिवाचकादिन्द्रादिशब्दादिन्द्राद्यर्थस्य प्रभवात् । प्रजापतिर्हि पूर्वदेवादिव्यक्तौ विनष्टायां वैदिकाद्देवाद्याकृतिविशेषवाचकाच्छब्दाद्देवाद्याकृतिविशेषं मनसि कृत्य तत्तदाकारमपरं देवादिकं कुलालादिरिव घटादिकं सृजतीति वैदिकशब्दस्य न कश्चिद्विरोधः । नहि चैत्रदेवदत्तडित्थादिशब्दवत्केवलव्यक्तिवचनाः अर्थानन्तरभाविनः साङ्केतिकाः देवादिशब्दाः प्रवृत्ता अपितु गवादिशब्दवद्व्यक्तिप्रभवहेतुत्वेन प्रागेव विद्यमानाः स्थूलसूक्ष्मभावेनानुस्यूतव्यक्त्यविनाभूताकृतिवाचकाः । जातिमतां हि व्यक्तयउत्पद्यन्ते न जातयोजातिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिर्व्यक्तीनामानन्त्यात्सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः । एवं च देवादिव्यक्तिषूत्पद्यमानास्वपि गवादिशब्देष्विवाकृतीनांनित्यत्वान्नित्य एव तेषां वाचकभावः । इन्द्रादिव्यक्तेरेकत्वेऽप्यतीतानागतव्यक्तिभेदेन जात्युपपत्तेः । वैदिकात्तत्तच्छब्दात्तत्तदर्थविशेषं स्मृत्वा सृजतीति कुतोऽवगम्यते ? "प्रत्यक्षानुमानाभ्यां" प्रत्यक्षं श्रुतिर्निरपेक्षत्वात् । अनुमीयमानश्रुतिसापेक्षत्वादनुमानं

स्मृतिः । श्रुतिस्तावत् "वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सता सती प्रजापतिः" तथा "सभूरितिव्याहरत् सभूमिमसृजत सभुव इतिव्याहरत् सोऽन्तरिक्षमसृजते"त्यादिः । स्मृतिरपि "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनं । वेदशब्देभ्य-एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥ सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्यएवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे"इत्या-दिकां वाचकशब्दपूर्विकां सृष्टिं दर्शयति ॥ २८ ॥

## सू० अतएव नित्यत्वम् ।१।३।२९

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रजापतेः सृष्टिः शब्दपूर्विका ऽतोहेतोर्वेदस्य नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिना वेदस्य नित्यत्वे-ऽपि देवादिविग्रहवाचकानां वैदिकशब्दानाम-नित्यार्थपरत्वमाशङ्क्य तत्राप्यापतितामनित्यता-भ्रान्तिं निरस्य तत्प्रसङ्गाद्वेदस्य नित्यत्वं दृढ-यति —

अतएव नित्यत्वम् ।

शब्दस्य वेदस्य अत एव प्रजापतिसृष्टेः

पूर्ववर्त्तित्वादपि नित्यत्वम्। विश्वामित्रेण प्रोक्तं वैश्वामित्रम्। कठेन प्रोक्तं काठकमित्यादिनिर्वचनं तु तदुच्चारितमात्रविषयम् प्रजापतिर्हि प्रलयानन्तरम् "मन्त्रकृतोवृणीते विश्वामित्रस्य सूक्तं भवती"त्यादिवेदस्थविश्वामित्रादिशब्दैस्तत्तदाकृतिशक्त्यादिकं विचिन्त्य तत्तदाकारांस्तत्तच्छक्तियुक्तांस्तान् निर्माय तत्तन्मन्त्रादिप्रकाशने विनियुङ्क्ते। तेऽपि तदाहितशक्तयस्तदनुगुणं तपस्तप्त्वा नित्यसिद्धान्पूर्वपूर्वविश्वामित्रादिप्रकाशितान्वेदैकदेशभूतमन्त्रादीननधीत्यैव स्वरतोवर्णतश्चास्खलितान्पठन्तीति तेषां मन्त्रादिकृत्वेऽपि वेदस्य नित्यत्वमुपपन्नम् ॥ २९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अतएव नित्यत्वम्।

अत एव प्रजापतिसृष्टेःशब्दपूर्वकत्वादेव शब्दमयस्य वेदस्य नित्यत्वम्। विश्वामित्रेण प्रोक्तं वैश्वामित्रं सूक्तं। कठेन प्रोक्तं काठकमित्यादिनिर्वचनं तु तत्तदुच्चारितमात्रविषयं प्रजापतिर्हि प्रलयानन्तरं"मन्त्रकृतोवृणीते विश्वामित्रस्य सूक्तं भवती"त्यादिवेदस्थविश्वामित्रादिशब्दैस्तत्तदाकृतिशक्त्यादिकं विचिन्त्य तत्तदाकारांस्तत्तच्छक्तियुक्तांस्तान् निर्माय तत्तन्मन्त्रादिप्रकाशने विनियुङ्क्ते। तेऽपि तदाहितशक्तयस्तत्तदनुगुणं तपस्तप्त्वा नित्यसिद्धान्

पूर्वपूर्वविश्वामित्रादिप्रकाशितान्वेदैकदेशभूतमन्त्रादीननधीत्यैव स्वरतोवर्णतश्चास्खलितान्पठन्तीति तेषां मन्त्रादिकृत्वेपि वेदनित्यत्वमुपपन्नम् ॥ २९ ॥

## सू० समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च । १ । ३ । ३० ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एवं प्राकृतसृष्टिसंहारात्मिकायामावृत्तावपि न विरोधः कुतः कल्पादौ सृज्यमानस्य पदार्थस्य कल्पान्तरातीतेन पदार्थेन तुल्यनामरूपादिमत्त्वात् "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पय"दितिदर्शनात् "यथार्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथाभावा युगादिष्वि"ति स्मृतेः ॥ ३० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु नैमित्तिक प्रलये प्रजापतिः सुषुप्तोत्थितन्यायेन वेदद्वारा तत्तदाकृतिविद्यथापूर्वं सृजती

त्युपपद्यते । प्राकृतप्रलये तु सर्वविच्छेदात्कुतो-वेदस्य सृष्टेः पूर्ववर्त्तित्वं ? कथं च नित्यत्वं ? कथं च तत्पूर्वत्वं ? जगतः स्यादित्यत्राह —

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधोदर्शनात्स्मृतेश्च ।

चशब्दः शङ्का* निरासार्थः । अपिशब्दः सम्भावनायाम् । प्राकृतसृष्टिप्रलयप्रवाहरूपायामावृत्तावपि महाप्रलयावसाने प्रथमसृष्टौ खलु न ঃकोऽपि विरोध इति यावत् । कस्मात् "समाननामरूपत्वात्" तथाहि प्राकृतप्रलये भगवान्वासुदेवः स्वकीयचिदचिच्छक्तिमयं कूर्मोङ्गानीव सर्वं कार्य्यमात्रं समाहृत्य सृष्टिप्रतिलोमक्रमेण स्वस्मिन्संस्थाप्य स्वासाधारणनित्यानन्तस्वाभाविकगुणगणैकनिलयश्चेतनाचेतनशक्तियुतस्तूष्णींभूत्वा—संहृतक्रीडनकोबालइवास्तेस्म । तदा वेदास्तद्वाच्यास्तत्तदाकृतयश्च तस्मिन्नेकीभूय तिष्ठन्ति । एवं सर्वं जगच्चिदचिच्छक्तिमति ब्रह्मणि वासुदेवे

---

* हरौ सर्वनिर्वाहके जगत्कारणे सति उक्ता शङ्का न-कार्येत्यर्थः ।

ঃ नकारोनञ्समासाल्लब्धः ।

कारणे सदेव तिष्ठति । न निरन्वयोनाशोऽस्ति । "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीय" मिति श्रुतेः । हे ! सौम्येदं जगदग्रे सृष्टेः प्राक् सदेवासीत् कारणानन्यमेवासीत्तच्च सच्छब्दार्थभूतं कारणमेकमेवाद्वितीयं तस्यैवकाराद्वितीयशब्दाभ्यां समानातिशयवर्जितत्वं चिदचिच्छक्त्याश्रयत्वादनेकत्वमपि स्वभावतएव बोद्धव्यम् । कार्यस्य सूक्ष्मरूपेण कारणे स्थितिः प्रलयः तथा भूतस्याभिव्यक्तीकरणमात्रं खलु सृष्टिरभिप्रेता । प्रलयावसाने च सर्वज्ञः सर्वविद्भगवान्बहुस्यामिति सङ्कल्पपूर्वकं स्वस्मिन्सूक्ष्मशक्त्यात्मना प्रलीनं भोक्तृभोग्यजातं विभज्य महदादिचतुर्मुखपर्यन्तमण्डं पूर्ववत्सृष्ट्वा वेदांश्चानादिसिद्धान्प्रकटीकृत्य ब्रह्मणे तान्मनसोपदिश्य पूर्ववद्देवमनुष्याद्याकारविश्वसृष्टौ तं नियुज्य स्वयं च तदन्तरात्मतया ऽवतिष्ठते । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश"दिति श्रुतेः । ब्रह्मापि तदनुग्रहलब्धवीर्यस्तैर्वेदशब्दैस्तत्तदाकृतीर्विमृश्य देवादीन्सृजतीति अतआवृत्तावपि न विरोधइत्यर्थः । एतदेव हि वेदस्यापौरुषेयत्वं परब्रह्मणइव नित्यसिद्धरूपत्वान्नित्यत्वं च यत्पूर्व-

पूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव च क्रम-विशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वमिति। कस्मा-दिदमवगम्यत?इतिचेत्तत्राह“दर्शनात्स्मृतेश्च” हृद-यतिमिरनिर्णाशकं दर्शनं* श्रुतिः । योब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये” इति तथा“ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्प-यत् दिवं च पृथिवीश्चान्तरिक्षमथोस्वरिति”स्मृति-रपि “तत्र सुप्तस्य देवस्य नाभौ पद्ममजायत । तस्मिन्पद्मे महाभाग!वेदवेदाङ्गपारगः॥ब्रह्मोत्पन्नः सतेनोक्तः प्रजाःसृज महामते! । यथर्तावृतुलिङ्गा-नि नानारूपाणि पर्यये ॥ दृश्यन्ते तानि तान्येव तथाभावा युगादिषु । ऋषीणां नामध्येयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः ॥ शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्यवै-भ्योददात्यजः । तथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह ॥ देवादेवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव चे” त्यादिका।अतोदेवादीनामप्यर्थित्वादिसम्भवाद्ब्रह्म-विद्याधिकारे न कश्चिद्विरोधः । तस्माद्ब्रह्मविद्यायां

---

* आलोकोदर्शनं दर्शः इति कोशात् ।

देवानामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ॥ ३० ॥

* इति देवताधिकरणम् । ७ ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्यादेवं नैमित्तिकप्रलये प्राकृतप्रलये तु प्रजापत्याद्यव्याकृतान्तसर्वतत्त्वस्याव्याकृतपरिणामरूपशब्दमयवेदस्य च विनाशोक्तेरव्याकृतसृष्ट्यावृत्तौ कथं वेदस्य नित्यत्व ? मिति चेत्तत्राह —

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ।

च शब्दः शङ्कानिरासार्थः । आवृत्तावपि महाप्रलयावसाने प्रथमसृष्टावपि न विरोधः । कुतः "समाननामरूपत्वात्" कल्पादौसृज्यमानपदार्थानां कल्पान्तरातीतैः पदार्थैस्तुल्याह्वासंस्थानादिमत्त्वात् अयम्भावः प्राकृतप्रलये भगवान् श्रीपुरुषोत्तमः भोक्तृभोग्यजातं सर्वं विश्वं संहृत्य सूक्ष्मतया स्वस्मिन् संस्थाप्य सशक्तिकस्तूष्णीं भूत्वास्ते स्म । तदा वेदास्तद्वाच्यास्तदाकृतयश्च नित्यास्तस्मिन्नेकीभूय तिष्ठन्ति । प्रलयावसाने च सर्वज्ञो भगवान् पूर्वसंस्थानं विश्वं विचिन्तयन् बहुस्यामिति सङ्कल्पपूर्वकं स्वस्मिन्सूक्ष्मशक्त्यात्मना प्रलीनं भोक्तृभोग्यजातं विभज्य महदादिचतुर्मुखपर्यन्तमण्डं पूर्ववत्सृष्ट्वा वेदांश्च पूर्वानुपूर्वी विशेषसंस्थायुक्तान्प्रकटीकृत्य ब्रह्मणे तान्मनसोपदिश्य पूर्ववद्वेदाद्याकारविश्वसृष्टौ तं नियुज्य स्वयं च तदन्तरात्मतयाऽवतिष्ठते । ब्रह्मापि तदनुग्रहलब्धवीर्यस्तैर्वेदशब्दैस्तत्तदाकृतीर्विमृश्य कुलालःपूर्वतुल्यान्घटादीनिव देवादीन्सृजतीति । एतदेव हि वेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं च । यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वमिति कुतइदमवगम्यत?इति चेत्तत्राह "दर्शनात्स्मृतेश्च" दर्शनं

श्रुतिस्तावत्। "योब्रह्माणं विदधाति पूर्वं योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै, सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पय"दित्यादिका। स्मृतिरपि "तत्र सुप्तस्य देवस्य नाभौ पद्ममजायत। तस्मिन्पद्मे महाभाग! वेदवेदाङ्गपारगः॥ ब्रह्मोत्पन्नः स तेनोक्तः प्रजाः सृज महामते!। यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्य्यये॥ दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु। ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः॥ शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः। तथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह॥ देवादेवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च"त्येवमादिका। अतोदेवादीनामप्यर्थित्वादिसम्भवात् ब्रह्मविद्याधिकारे न कश्चिद्विरोधः॥ ३०॥

इति देवताधिकरणम्। ७।

## सू० मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः॥ १। ३। ३१ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

उपास्यस्योपासकत्वासम्भवात् मध्वादिषु विद्यासु सूर्य्यादीनामनधिकारइति जैमिनिर्मन्यते॥ ३१॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

एवं ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकारउक्तः। इदानीं मध्वादिषु विद्यासु तेषामधिकारोऽस्ति?

न वे?ति विचार्यते —

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।

छान्दोग्ये मधुविद्या श्रूयते । "असौ वा आदित्यो देवमध्वि"त्यादिना आदिशब्देन यासु देवादीनामुपास्यत्वं ता अन्या अपि विद्या गृहीतव्याः । तत्र संशयः मध्वादिषु देवादीनामधिकारोऽस्ति ? न वे?ति किं तावद्युक्तम् । मध्वादिषु विद्यासु सूर्यवस्वादीनां देवानामनधिकारः अधिकाराभावः इति जैमिनिराचार्य्योमन्यते । कुतः "असम्भवात्" तासु आदित्यवस्वादीनामुपास्यत्वेन गृहीतानामुपासकत्वासम्भवात् ॥३१

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ।

देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः प्रसाधितः । इदानीं "यास्वसौ वा आदित्योदेवमध्वि"त्यादिना छान्दोग्योक्तमध्वादिषु विद्यासु देवाएवोपास्यास्तासु तेषामधिकारोऽस्ति ? नवेति ? संशये जैमिनिराचार्यस्त्वनधिकारं मन्यते । कुतः "असम्भवात्" आदित्यवस्वादीनामुपास्यान्तर्गतानामुपासकत्वासम्भवात् प्राप्तृत्वादेव वसुत्वादेः प्राप्यत्वासम्भवाच्च । नहि वस्वादिभिरुपास्या आदित्यवस्वादयोऽन्ये सम्भवन्ति । मधुविद्याफलस्य वसुत्वादिप्राप्तेः सिद्धत्वेनार्थित्वासम्भवाच्च ॥ ३१ ॥

# सू० ज्योतिषि भावाच्च ।१।३।३२

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ब्रह्मणि तेषामुपासकत्वेन भावाच्च मध्वादिष्वनधिकार इति पूर्वः पक्षः ॥ ३२ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ज्योतिषि भावाच्च ।

तर्हि देवा निरीश्वराः इति न शङ्क्यम् । परस्परं तेषां समान कल्पानां स्पर्द्धया नाशप्रसङ्गात् ।"भीषोदेति सूर्य"इत्यादिश्रुतिव्याकोपाच्च । किन्तु ते परमात्मोपासकाः स्वयमन्यैरुपास्याइत्याह "ज्योतिषि" परस्मिन् ब्रह्मणि देवादीनां मध्वादिषूपास्यानामप्युपासकत्वेन भावाच्च नोपासकत्वेन मध्वादिषु परिग्रह इत्यर्थः । "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतमि"तिश्रुतेः ॥ ३२ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ज्योतिषि भावाच्च ।

"तद्देवाज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतमि"ति श्रुतेर्ज्योतिषि परस्मिन्ब्रह्मणि देवानामुपासकत्वेन भावाच्च न मधुविद्यास्वधिकारः । ब्रह्मोपासनस्य देवमनुष्योभयसाधारणत्वेऽपि ज्योतिषां

ज्योतिः परं ब्रह्म देवाउपासते इति विशिष्यकथनं वस्वादि-देवानां ब्रह्मेतरोपासननिवृत्तिं द्योतयति ॥ ३२ ॥

## सू० भावं तु बादराणोऽस्ति हि।

१ । ३ । ३३ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्र सिद्धान्तमाह, मध्वादिष्वपि सूर्य्य-वस्वादीनामधिकारसद्भावं बादरायणोमन्यते । हि यतस्तेषां स्वान्तर्यामिब्रह्मोपासनेन कल्पान्तरेऽपि स्वाधिकारप्राप्तिपूर्वकब्रह्मलिप्सासम्भवोऽस्ति ॥ ३३॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं जैमिनेर्मतमनूद्य तन्निराचिकीर्षुर्भग-वान्स्वमतमाह —

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्त्तकः । मध्वादिषूपासनास्वपि सूर्यवस्वादीनां भावमधिकारसद्भावं भगवान्बादरा-यणोमन्यते । हि यतः आदित्यवस्वादीनामपि-सतामिह स्वान्तर्यामिब्रह्मोपासनेन कल्पान्तरेऽ-प्यादित्यवसुत्वादिप्राप्तिपूर्वकब्रह्मलिप्सासम्भवो—ऽस्ति । तथाचात्र कार्यकारणोभयावस्थब्रह्मोपास-

नस्य विधीयमानत्वाद्वस्वादित्यादिशब्दानां स्वान्तर्यामिब्रह्मपर्य्यन्तत्वेन वस्वादीनामेवोपास्यत्वं, प्राप्यत्वं, च सम्भवतीति "यएतां ब्रह्मोपनिषदं वेदे"त्युपसंहारस्य वस्वादिशब्दानां ब्रह्मपर्य्यन्तत्वे मानत्वात् । एवं च मध्वाद्युपासनास्वपि ब्रह्मणएवोपास्यत्वात् । "तद्देवाज्योतिषांज्योति"रिति श्रुतिरपि सङ्गता । नच मधुविद्याफलस्य वसुत्वादिप्राप्तेः सिद्धत्वेनार्थित्वासम्भवः । लोके धनिनामेव सतां जन्मान्तरे धनादिप्रेप्सादर्शनात् । तस्मान्मध्वादिषु देवानामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

इति मध्वाधिकरणम् । ८ ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं प्राप्ते आह —

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।

तुः पूर्वपक्षव्यावर्त्तकः । मध्वाद्युपासनास्वपि वस्वादीनांभावमधिकारसद्भावं भगवान् बादरायणोमन्यते । हि यतआदित्यादीनामपि सतामिह स्वान्तर्यामिब्रह्मोपासनेन कल्पान्तरेऽप्यादित्यवसुत्वादिप्राप्तिपूर्वकब्रह्मलिप्सासम्भवोऽस्ति । तथा चात्र कार्यकारणोभयावस्थब्रह्मोपासनस्य विधीयमानत्वाद्वस्वादित्यादिशब्दानां स्वान्तर्यामिब्रह्मपर्यन्तत्वेन वस्वादीनामेवोपास्यत्वं, प्राप्यत्वं, च सम्भ-

वतीति । "य एतां ब्रह्मोपनिषदं वेदे"त्युपसंहारस्य वस्वादिशब्दानां ब्रह्मपर्यन्तत्वे मानत्वात् । एवं च मध्वाद्युपासनास्वपि ब्रह्मण एवोपास्यत्वात् । "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिरि"तिश्रुतिरपि सङ्गता । नच मधुविद्याफलस्य वसुत्वादिप्राप्तेः सिद्धत्वेनार्थित्वासम्भवः । लोके धनिनामेव सतां जन्मान्तरे धनादिप्रेप्सादर्शनात् ॥ ३३ ॥

इति मध्वाधिकरणम् । ८ ।

## सू० शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥१।३।३४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

छान्दोग्ये मुमुक्षौ गुरुप्रयुक्तं शूद्रपदमालोच्य शूद्रोऽपि ब्रह्मविद्यायामधिक्रियते इति नाशङ्कनीयमस्य मुमुक्षोर्जानश्रुतेर्हंसप्रयुक्तानादरवाक्यश्रवणात् । तदैव गुरुं प्रत्याद्रवणात् शुक् सञ्जाता इति शूद्रेति सम्बोधनेन सूच्यते ॥ ३४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

बृहदारण्यके "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यते"तिश्रुतौ देवशब्दोक्त्या देवानामप्यधिकारो यथोक्तस्तथा छान्दोग्येपि मुमुक्षौ जानश्रुतौ शूद्रशब्दश्रुत्या ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याप्यऽधिकारो-

ऽस्ति? नवे? तीदानीं विचार्यते —

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि।

छान्दोग्ये सम्वर्गविद्यायाम् "अहहारे त्वा शूद्र! तवैव सह गोभिरस्तु आजहारेमाः शूद्रे"-त्यत्र शूद्रशब्दोक्त्या शूद्रस्याप्यधिकारः सम्भाव्यते तस्याप्यर्थित्वादिसम्भवात्। तस्य ब्रह्मस्वरूपादिज्ञानं चेतिहासादिश्रवणेन भविष्यति "श्रावयेच्चतुरोवर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत"इत्यादिपर्वोक्तेः "सुगतिमियाच्छ्रवणाच्च शूद्रयोनिः" इति हरिवंशोक्तेश्च तस्यापि तच्छ्रवणानुज्ञानात्"तस्माच्छूद्रोयज्ञेनावक्लृप्त"इतिनिषेधस्तु तस्याग्निसाध्ययज्ञादिकर्मानधिकारमात्रविषयः नतु विद्यानधिकारे हेतुः। विद्याया मनोवृत्तिसाध्यत्वात् विदुरादिषु सलभादिषु स्त्रीषु च ब्रह्मविद्यादर्शनाच्चेति प्राप्ते, उच्यते। न खलु शूद्रोब्रह्मविद्यायामधिक्रियते ब्रह्मस्वरूपतदुपासनोपायज्ञानाभावेनासमर्थत्वात्। ब्रह्मोपासनस्य मनोवृत्तिमात्रनिर्वर्त्यत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपादिज्ञानस्योपनयनपूर्वकवेदाध्ययनजन्यत्वात् शूद्रस्योपनयनविध्यविषयत्वात्सामर्थ्या-

भावेऽर्थित्वस्याकिञ्चित्करत्वात् । कर्मविधेरिवो—
पासनविधीनामपि त्रैवर्णिकविषयत्वात् कर्म-
स्विव विद्यास्वपि निषेधस्य तुल्यत्वम् । "इति-
हासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेदि "तिवच-
नात् इतिहासादीनामपि स्वाध्यायसिद्धज्ञानोपबृं-
हकत्वान्न ततोऽप्यस्य ज्ञानलाभः । श्रवणानु-
ज्ञानं तु शुद्रस्य पापनाशपूर्वकैहिकामुष्मिका-
भ्युदयार्थं नोपासनार्थम् । विदुरादीनां तु जन्मा-
न्तरप्राप्तज्ञानाप्रमोषाद्ज्ञानवत्त्वं प्रारब्धवशाच्चे—
दृशं जन्मेति ज्ञेयम् । तस्माच्छूद्रस्य ब्रह्मविद्यायां
नाधिकारः । श्रौतं शूद्रपदं त्वेवं व्याख्येयमि-
त्याह भगवान्सूत्रकारः शुगित्यादिना । हि यतः
अस्य जानश्रुतेः पौत्रायणस्याब्रह्मज्ञतया "कम्व-
*रएनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्कमात्थे"
ति हंसप्रयुक्तानादरवाक्यश्रवणात्तदैव ब्रह्मज्ञं रैक्कं
सयुग्वानं प्रत्याद्रवणात् शुक् सञ्जातेति सूच्यते ।
अतोऽशूद्रेऽपि शूद्रेति मुनिप्रयुक्तं सम्बोधनं
मां धनदानेन वशीकृत्य ब्रह्मविद्यां मत्तोगृहीतु-

---

* कम् उ अरे एनमिति पदानि ।

मागतोऽयं जानश्रुतिः कृतकृत्यं सर्वज्ञं मां न जानातीति स्वस्य सर्वज्ञत्वज्ञापनार्थम् । तथाहि "जानश्रुतिः पौत्रायणोधर्मज्ञोराजर्षिः आसीत् । तस्य राज्ञोगुणगणयन्त्रिताः सन्तोदेवर्षयोहंसा भूत्वाऽस्मदुपालम्भमवधार्यायं जानश्रुतिर्ब्रह्मज्ञस्य रैक्कस्य समीपं गत्वा ब्रह्मविद्भविष्यतीत्यभिप्रायवन्तो ग्रीष्मे प्रासादोपरि शयानस्य राज्ञ उपरि मालाकाराः सन्तोजग्मुस्तत्राग्रगंहंसं तदनुगो हंसः साद्भुतमभ्युवाच । भो भो भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष ! अस्य राज्ञो जानश्रुतेर्द्युलोकं व्याप्य विद्यमानं तेजो न पश्यसि किं ? तत्तेजस्त्वां धक्ष्यति । अतस्तदतिलङ्घ्य मागच्छे"ति स्वानुगवचनं श्रुत्वाऽग्रगोहंसः प्रत्युवाच "कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्कमात्थे"ति । एनं जानश्रुतिं सयुग्वानं रैक्कमिवात्थ युग्वा शकटी तया सह वर्त्तते यो भगवान् ब्रह्मवित् रैक्कस्तद्विधं ब्रवीषि । सयुग्वानमिति तत्प्राप्त्यर्थं तल्लिङ्गं सूचितम् । अथ जानश्रुतिरपि हंसोक्तानादरवाक्यं श्रुत्वा निशापाये स्वपुरुषद्वारा रैक्कं निश्चित्य गवां षट्शतानि हारमश्वयुक्तं रथं चादाय रैक्कं

मुनिमुपससाद । उपसद्य चोवाच । हे रैक्क ! इदं सर्वं गवादि गृहीत्वानुशाधि मां भगवन्निति ! ति रैक्क उवाच । " अहहारे " इत्यादि हे शूद्र ! गोभिः*सहितः रथादिधनपूगः खलु तवैवास्तु । हे शूद्रेति असकृत् सम्बोधयामास च । शोचतीति शूद्रः । "शुचेर्दश्चे"ति रक्प्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य दकारः । इति विद्योपदेशयोग्यत्वख्यापनार्थं शोकएवास्य जानश्रुतेः रैक्केण सूचितोन जातियोगइत्यर्थः ॥ ३४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ।

श्रुतौ देवशब्दोक्त्या देवानामप्यधिकारोयथोक्तस्तथा "अहहहारे त्वा शूद्र ! आजहारेमाः शूद्र" इत्यादौशूद्रशब्दोक्त्या शूद्रस्याप्यधिकारः सम्भाव्यते, अर्थित्वसामर्थ्ययोः सम्भवात् । तस्य ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारज्ञानं चेतिहासपुराणादितः स्यात् । "श्रावयेच्चतुरोवर्णान्कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः" इति तस्यापि तच्छ्रवणानुज्ञानात् । अनग्नित्वं तु तस्याग्निसाध्ययज्ञादिकर्मानधिकारमात्रे हेतुर्नविद्याधिकारनिषेधपरम् । विदुरादिषु ब्रह्मविद्यादर्शनाच्चेति प्राप्ते, उच्यते । न शूद्रस्तस्यामधिक्रियते ब्रह्मस्वरूपतदुपासनोपायज्ञानाभावेनासमर्थत्वात् ब्रह्मोपासनस्य मनोवृत्तिमात्र-

---

* हारेत्वाहारेणाच । इत्यधिकपाठः पुस्तकान्तरे दृश्यते ।

निर्वर्त्यत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपादिज्ञानस्योपनयनपूर्वकवेदाध्ययनजन्यत्वात् शूद्रस्योपनयनविध्यविषयत्वात् सामर्थ्याभावेऽर्थित्वस्याकिञ्चित्करत्वात् । कर्मविधेरिवोपासनविधीनामपि त्रैवर्णिकविषयत्वात् कर्मस्विव विद्यास्वपि निषेधस्य तुल्यत्वम् । इतिहासादीनामपि स्वाध्यायसिद्धज्ञानोपबृंहकत्वान्न ततोऽप्यस्य ज्ञानलाभः । श्रवणानुज्ञानं तु पापनाशादिफलार्थं नोपासनार्थम् । विदुरादीनां तु जन्मान्तरप्राप्तज्ञानाप्रमोषाद् ज्ञानवत्त्वं प्रारब्धवशाच्चेदृशजन्मेति । यत्तु सम्वर्गविद्यायां शूद्रशब्दोक्त्या शूद्राधिकारः सम्भाव्यते, इति तन्नेत्याह, शुगिति । हि यतोऽस्य जानश्रुतेः पौत्रायणस्याब्रह्मज्ञतया "कम्वर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्कमात्थे"ति हंसोक्तानादरवाक्यश्रवणात्तदैव ब्रह्मज्ञं रैक्कं प्रत्याद्रवणात् शुक् सञ्जातेति सूच्यते । अतोऽशूद्रेऽपि शूद्रेति सम्बोधनं स्वस्य सर्वज्ञत्वज्ञापनार्थम् । न चतुर्थवर्णत्वेन शोचतीति शूद्रः । "शुचेर्दश्चे"ति रक्प्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य दकारइतिविद्योपदेशाऽयोग्यत्वख्यापनार्थं शोकएवास्य रैक्केण सूचितो न जातियोग इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

# सू० क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र-चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥१।३।३५॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे"

इत्युत्तरत्र चैत्ररथेनाभिप्रतारिणा क्षत्रियेण सह समभिहाररूपलिङ्गाज्जानश्रुतेः क्षत्रियत्वस्यावगते-र्नजानश्रुतिः शूद्रः ॥ ३५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इतश्च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वं गम्यत—इत्याह —

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।

शुगेवास्य सञ्जाताऽतोमुनिना शूद्रेत्युक्तौ जानश्रुतेर्न शूद्रत्वं जातिनिबन्धनम् । कुतः "क्षत्रि-यत्वावगतेः" तथाहि उपक्रमे "बहुदायी बहुपाक्य"-इत्यादिना दानपतित्वबहुपक्वान्नदायित्वप्रतीतेः "क्षत्तारमुवाचे"ति क्षत्तृप्रेषणात् रैक्काय गोनि-ष्करथकन्यादिदानाच्चास्य क्षत्रियत्वावगमाच्च। एव-मुपक्रमवाक्यगतं जानश्रुतेः क्षत्रियत्वसाधकं लिङ्ग-मुक्त्वा सम्वर्गविद्यावाक्यशेषगतं लिङ्गं दर्शयति काका-क्षिन्यायेन । चकारउभयान्वयी, "उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गाच्चे"ति उत्तरत्र सम्वर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्रर-थेन प्रसिद्धक्षत्रिययाजकसाहचर्यान्निश्चितेन क्षत्रि-येणाभिप्रतारिनाम्ना सह समुच्चारणाल्लिङ्गाच्च जान-श्रुतेः क्षत्रियत्वमगम्यते । तथाहि "अथ ह शौनकं

च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सूदेन परिवि ष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्ष" इति वाक्यशेषे चैत्ररथोऽभिप्रतारिनामकः सङ्कीर्त्यते । अयमर्थः सूदेन महानसाधिष्ठात्रा परिविष्यमाणौ परि-सेव्यमाणौ कौ इत्यपेक्षायामाह श्रुतिः । "शुन-कापत्यं कपिगोत्रं पुरोहितम् अभिप्रतारिना-मकं कक्षसेनापत्यं च राजानं तौ हि यदा भोक्तुमुपविष्टौ तदा भिक्षितवानिति । ननु कथम-भिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वमिति चेदुच्यते, कापेयेन-चित्ररथयाजकेन योगात्तथात्वम् । एतेन "वै चित्र-रथं कापेयाः अयाजयन्नि"ति श्रुतौ चित्ररथ-पुरोहितत्वं कापेयानां प्रसिद्धम् एतेन द्विरात्रे-णेत्यर्थः । ननु चित्ररथपुरोहितसहचरत्वेनाभि-प्रतारिणो भवतु चैत्ररथत्वम्, तस्य क्षत्रियत्वे किम्मानमितिचेत् "तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्र-पतिरजायते"ति श्रुतिर्मानम् । तस्माच्चित्ररथादि-त्यर्थः । उपसंहारे क्षत्रियनिश्चये उपक्रमे ऽपि जानश्रुतिः क्षत्रियइति सूत्रार्थः । एकस्यां विद्यायां समानजातीयानां प्रायेण सङ्कीर्तनसम्भवात् । किञ्चोपसंहारे कापेयब्राह्मणसहचरत्वादभिप्रता-

रिणः क्षत्रियत्वे निश्चिते, उपक्रमे रैक्वसंसर्गा-
ज्जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वं निश्चितमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।

इतश्च जानश्रुतौ न शूद्रत्वजातियोगः । उपक्रमे "बहुदायी बहुपाक्य" इत्यादिना दानपतित्वबहुतरपक्वान्नदायित्वप्रतीतेः । "क्षत्तारमुवाचे"ति क्षत्तृप्रेषणात् रैक्वाय गोनिष्करथकन्यादिदाना-च्चास्य क्षत्रियत्वावगमाच्च । उत्तरत्रच संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्र-रथेनाभिप्रतारिनाम्ना क्षत्रियेण सह समुच्चारणाल्लिङ्गादस्य क्षत्रियत्वमवगम्यते । "अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्ष"इति हि वाक्यशेषः । कापेयसहचारिणश्चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वं चावगम्यते । "एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्नि"ति । "तस्माच्चैत्ररथोनामैकः क्षत्रपतिरजायत" इत्यन्यत्र श्रवणात् । एवं चास्यां ब्रह्मविद्यायां ब्राह्मणक्षत्रिययोरेवान्वयदर्शनाद्रैक्वादन्योजानश्रुतिरपि क्षत्रिय-एव न चतुर्थवर्ण इति ॥ ३५ ॥

## सू० संस्कारपरामर्शात्तदभावा-भिलापाच्च १ । ३ । ३६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्याप्रदेशे " तं होपनिन्ये "इत्यादिनोप-

नयनसंस्कारपरामर्शात् "शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजाति-र्नच संस्कारमर्हतीति" "तदभावाभिलापाच्च" विद्यायां शूद्रो नाधिक्रियते ॥ ३६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।

पूर्वत्र शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामनधिकारो युक्त्या साधितोऽथ श्रुत्यादिभिस्तस्यानधिकार उच्यते । शूद्रस्य न विद्याधिकारः । कुतः "संस्कारपरामर्शात्" विद्योपदेशप्रदेशेषु "तं होपनिन्ये" इत्यादिषूपनयनसंस्कारपरामर्शात् । तर्हि शूद्रस्याप्युपनयनं कल्प्यतां ? नेत्याह "तदभावाभिलापाच्च" "न शूद्रे पातकं किञ्चिन्नच संस्कारमर्हति" "शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एक जाति" रित्यादिना शूद्रस्योपनयनादिसंस्काराभावकथनादित्यर्थः । इतरेषां तु "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत । एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्य" मित्युपनयनमभिधीयते, तत्परामर्शो विद्याप्रदेशेषु सङ्गच्छते ॥ ३६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ब्राह्मणसाहचर्येण जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतेर्न शूद्रोऽधिकारीति युक्त्या साधितं श्रुत्यादिभिरनुगृह्य दर्शयति —

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।

विद्योपदेशप्रदेशेषु "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्य"मिति "उपत्वा नेष्ये तं होपनिन्ये"इत्यादिपूपनयनसंस्कारपरामर्शात् शूद्रस्य च "न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति । शूद्रश्चतुर्थोवर्णएकजातिर्नच संस्कारमर्हती"-त्यादिषु "तदभावाभिलापात्" च न शूद्रस्याधिकारः ॥ ३६ ॥

# तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ।

१ । ३ । ३७ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

किञ्च गौतमस्य जाबालेः शूद्रत्वाभावनिर्णये सति तमुपनेतुमनुशासितुं प्रवृत्तेः शूद्रस्यानधिकारएवात्र ॥ ३७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इतश्च न शूद्रस्याधिकारइत्याह —

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ।

मृतपितृकोमुमुक्षुर्गुरूपसदनं करिष्यन्गोत्रज्ञानार्थं जाबालोमातरं पप्रच्छ, "किं गोत्रः? अहमस्मीति" । सापि गोत्रमजानन्ती प्रत्युवाच "न जानामीति" जाबालोऽपि "हे भगवन्! त्वयि ब्रह्मचर्यं चर्तुमिच्छामीति" गौतममुपसद्योवाच । तत-

एतेन किं गोत्रः? असीति पृष्टो जाबाल आह, "नाहमेमेतद्वेद भो! यद्गोत्रोऽहमस्मीत्यादि। एवं सत्यवचनेन जाबालेनोक्ते सति "नैतदब्राह्मणो वक्तुमर्हती"ति जाबाले शूद्रत्वाभावस्य निर्द्धारणे निर्णये सति "समिधं सौम्य! आहर उप त्वा नेष्ये न सत्यादगा" इति जाबालमुपनेतुमनुशासितुं च गौतमस्य प्रवृत्तेर्विद्यायां शूद्रो नाधिक्रियते ॥३७॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः।

"नाहमेतद्वेद भो! यद्गोत्रोऽहमस्मी"त्यादिना जाबालेनोक्ते सति "नैतदब्राह्मणो विवेक्तुमर्हती"ति जाबाले शूद्रत्वाभावस्य निर्धारणे निर्णये सति तमुपनेतुमनुशासितुं च गौतमस्य प्रवृत्तेश्च नाधिकारः शूद्रस्य ॥ ३७ ॥

## सू० श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ।१।३।३८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

शूद्रो नाधिक्रियते "शूद्रसमीपे नाध्येतव्यमि"त्यादिना तस्य वेदश्रवणादि प्रतिषेधात्॥३८॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ।

इतोऽपि न शूद्रस्याधिकारः । कुतः ? "पद्युह वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्, तस्माच्छूद्रोबहुपशुरयज्ञीय " इत्यादिना शूद्रस्य श्रवणादिप्रतिषेधात् । पद्युपादयुक्तं सञ्चारक्षमं एतत् एतादृशं यत् श्मशानं स शूद्र इत्यर्थः । यस्य समीपेऽध्ययनमपि न कर्त्तव्यम् । तस्य वेदश्रवणं, तदध्ययनं, तदर्थज्ञानं, तदुक्तधर्मानुष्ठानं च, सुतरां निषिद्धमस्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ।

"पद्युह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यं तस्माच्छूद्रोबहुपशुरयज्ञियः"इत्यादिना शूद्रस्य श्रवणादिप्रतिषेधात् नास्याधिकारः । अनुपशृण्वतोऽध्ययनतदर्थज्ञानतदर्थानुष्ठानामसम्भवात्तान्यपि प्रतिषिद्धान्येव । ३८ ॥

## सू० स्मृतेश्च ॥ १ । ३ । ३९ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"नचास्योपदिशेद्धर्ममि"त्यादिस्मृतेश्च ॥ ३९ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

स्मृतेश्च ।

"नचास्योपदिशेद्धर्मं नचास्य व्रतमादिशेत् । न शूद्राय मतिं दद्यादि"ति स्मृतेश्च ॥ ३९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्मृतेश्च ।

"नचास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् । न शूद्राय मतिं दद्यादि"तिच "अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमुच्चारणे जिह्वाछेदो धारणे शरीरभेद इति च शूद्रस्य श्रवणादिनिषेधस्मरणाच्च । ३९ ।

सू० कम्पनात् । १ । ३ । ४० ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रमितः परः पुरुषः प्रतिपत्तव्यः सर्वजगत्कम्पकत्वान्महदादिभ्यश्च ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

शब्दादेवप्रमित इत्यङ्गुष्ठप्रमितपुरुषविचारे प्रसङ्गात्प्राप्तमधिकारविचारं समाप्य प्रकृतं समापयति —

कम्पनात् ।

प्रमितइत्यनुवर्त्तते । कठवल्ल्यामङ्गुष्ठमात्रपुरुषप्रकरणे "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राणएजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं यएतद्विदुरमृतास्ते भवन्ती" ति श्रूयते । तत्र प्राणशब्दितः प्रमितोऽङ्गुष्ठपरिमाणकः परएव। कुतः? "कम्पनात्" स्वस्मान्निःसृतस्य कृत्स्नस्य जगतः कम्पनहेतुत्वात् ब्रह्मापरपर्यायमहत्पदप्रयोगाच्च। "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" इति सर्वभयहेतुभूतप्रतिपादकभयशब्दाच्च स्वविषयकज्ञानवताममृतहेतुत्वाच्च ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतं समापयति —

कम्पनात् ।

"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राणएजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ती"ति कठवल्ल्यामङ्गुष्ठमात्रप्रकरणे स्वस्मान्निःसृतस्य कृत्स्नस्य जगतोमहाभयानकोद्यतवज्रवत् कम्पनात्कम्पकत्वाद्धेतोः प्राणशब्दितः अङ्गुष्ठमात्रः परमात्मैवेति निश्चीयते । पूर्वोत्तरवाक्ययोस्तस्यैव निर्दिश्यमानत्वात् तज्ज्ञानेन मोक्षश्रवणाच्च ॥ ४० ॥

# सू० ज्योतिर्दर्शनात् । १।३।४१ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"तस्य भासे"ति ज्योतिर्दर्शनात्प्रमितः पुरुषः परः ॥ ४१ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ज्योतिर्दर्शनात् ।

कठवल्ल्यामेवाङ्गुष्ठप्रमितपुरुषप्रकरणे प्राणवाक्यात्प्राक् श्रूयते । "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् नेमाविद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाती"ति वाक्ये भाःशब्दवाच्यस्य परमात्मासाधारणस्य ज्योतिषो दर्शनादप्यङ्गुष्ठमात्रः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ ४१ ॥ इत्यपशूद्राधिकरणम् । ६

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ज्योतिर्दर्शनात् ।

तत्रैवाङ्गुष्ठप्रमितप्रकरणे एतद्वाक्यात्प्राक् "न तत्र सूर्यो भाती"त्यादिवाक्ये भासाशब्दवाच्यस्य परमात्मासाधारणस्यज्योतिषो दर्शनादप्यङ्गुष्ठप्रमितः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

इत्यपशूद्राधिकरणम् ।९।

# सू० आकाशोऽर्थान्तरत्वादि-व्यपदेशात् १ । ३ । ४२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते"त्यत्राकाशशब्दवाच्यः पुरुषोत्तमः । कुतः ? मुक्तात्मनः जीवात्परमात्मनो नामरूपोपलक्षितनिखिलनामरूपवद्वस्तुनिर्वोढृतया ऽर्थान्तरत्वेन व्यपदेशात्, ब्रह्मत्वामृतत्वादिव्यपदेशाच्च ॥ ४२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं शब्दादेव प्रमितइत्यनेनाङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्ब्रह्मणि नीता प्रासङ्गिकाधिकरणान्ते पुनर्दृढीकृताऽथेदानीं परमात्मनोऽसङ्गत्वसर्वगतत्वकथनायाकाशश्रुतिस्तस्मिन्नीयते —

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।

छान्दोग्ये "आकाशोह वै नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं सआत्मे"ति श्रूयते । तत्र संशयः किमत्राकाशब्देन भूताकाश? उत संसारबन्धानिर्मुक्तोजीवः ? आहोस्वित परमा-

त्मा? ब्रह्म इति भूताकाशो गृह्यतेऽयः आकाश-शब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेरिति चेन्नात्मशब्दात्। किं तर्हि प्रतिपत्तव्यम्, मुक्तजीवः? इति। कुतः? "अश्व इव रोमाणि विधूये"त्यादिना मुक्तजीवस्यैव पूर्वं-प्रकृतत्वात्। "ते यदन्तरे"ति ते नामरूपे यस्मा-ज्जीवात्संसारविमुक्तादन्तरा बाह्यत्यर्थः। "यथा नद्योनामरूपे विहाय" इत्यादिना मुक्तावस्थायां प्रसिद्धनामरूपपरित्यागसम्भवाच्च मुक्तात्मन आ-विर्भूतज्ञानवत्तयाऽऽकाशशब्दस्यापि तत्रोपपन्न-त्वात्। "तद्ब्रह्म तदमृतमि"तिमुक्तावस्थो-च्यत इति प्राप्ते—ब्रूमः। आकाशशब्दार्थोऽत्रपर-मात्मा भवितुमर्हति। कुतः? "अर्थान्तरत्वादि-व्यपदेशात्" आकाशशब्दार्थस्य "ते यदन्तरे" त्यनेन नामरूपास्पृष्टस्यैव "नामरूपयोर्निर्व-हिते"ति नामरूपनिर्वोढुर्नामरूपानिर्वोढृत्वशून्याद-र्थादर्थान्तरत्वेन व्यपदेशादित्यर्थः। बद्धावस्थायां-जीवस्य कर्माधीनतया नामरूपे भजतः स्वयं नामरूपे निर्वोढुं व्याकर्तुमशक्यत्वान्मुक्तावस्थायां च जगद्व्यापारासम्भवस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुतरां नामरूपनिर्वोढृत्वासम्भवाच्च। परमात्मनस्तु सर्व-

जगन्निर्मितिकुशलस्य "अनेन जीवेनात्मना ऽनुप्रविश्य, नामरूपे व्याकरवाणि, तस्मादेतन्नामरूपमन्नं च जायते सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते" इत्यादिश्रुत्यैव तन्निर्वोढृत्वं सुप्रतिपन्नम् । आदिपदार्थस्य नित्याविर्भूतबृहत्वामृतत्वादिभगवदसाधारणधर्मस्य व्यपदेशाच्च । नापि पूर्वं मुक्तः प्रकृतः "ब्रह्मलोकमभिसम्भवानी"ति ब्रह्मलोकशब्दितपरमात्मनएव प्रकृतत्वात् आकाशशब्दस्यापि व्यापकत्वेनासङ्गत्वेन च परमात्मन्येव प्रसिद्धत्वाच्च ॥ ४२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।

"आकाशोह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं सआत्मे"ति छन्दोगैः पठ्यते । तत्र सन्देहः । किमिहाकाशशब्देन संसारबन्धविनिर्मुक्तोजीवः ? उत परमात्मे?ति "अश्व इव रोमाणि विधूये"त्यादिना मुक्तस्यैव पूर्वं प्रकृतत्वान्मुक्तजीवइति पूर्वः पक्षः । "ते यदन्तरे"ति च नामरूपविमुक्तस्योक्तेः नामरूपनिर्वोढृत्वस्य च तत्र भूतपूर्वगत्यासम्भवात् मुक्तात्मनोऽसङ्कुचितज्ञानप्रकाशवत्तयाऽऽकाशशब्दस्यापि तत्रोपपन्नत्वात् । "तद्ब्रह्म तदमृतमि"तिमुक्तावस्थोच्यतेइतिप्राप्ते, उच्यते । आकाश

शब्दितः परमात्मा, कुतः ? "ते यदन्तर"ति नामरूपास्पृष्टस्यैव नामरूपनिर्वोढृत्वोक्तिर्बद्धमुक्तजीवादर्थान्तरमन्यमाकाशशब्दवाच्यं परमात्मनं व्यपदिशति । बद्धस्य कर्माधीनतया नामरूपे भजतः स्वयं ते निर्वोढुं व्याकर्तुमशक्यत्वात् । मुक्तस्य तु जगद्व्यापारासम्भवस्य वक्ष्यमाणत्वात् नतरां तन्निर्वोढृत्वम् । परमात्मनस्तु निखिलविश्वनिर्मितिप्रवीणस्य "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, तस्मादेतन्नामरूपमन्नं च जायते, सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरोनामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते"इत्यादिश्रुत्यैव तन्निर्वोढृत्वं सुप्रतिपन्नम् । आदिना निरुपाधिकबृहत्वामृतत्वात्मत्वादिव्यपदेशो गृह्यते । नापि पूर्वं मुक्तः प्रकृतः, "ब्रह्मलोकमभिसम्भवानी"ति ब्रह्मलोकशब्दितपरमात्मनएव पूर्वं प्रकृतत्वात् । आकाशशब्दस्यापि व्यापकत्वेनासङ्गत्वेन च, परमात्मन्येव प्रसिद्धत्वात् । अतआकाशः परमात्मैवेति ॥ ४२ ॥

# सू० सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन १।३।४३

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अज्ञात्सर्वज्ञस्य सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेनव्यपदेशाच्च ॥ ४३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपर्यालोचनया परमात्मनोऽर्थान्तरत्वासम्भवात्कथमुच्यते"अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादि"ति चेत्सत्यम्, ब्रह्मांशभूतस्य

ब्रह्मव्यतिरिक्तस्थितिप्रवृत्त्याद्यभावेन ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि स्वासाधारणधर्मवत्त्वेन भेदोऽपि दुर्वार इत्याह भगवान्सूत्रकारः —

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।

व्यपदेशादित्यनुवर्त्तते । "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमि"ति सुषुप्तौ "प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढउत्सर्जन् याती" त्युत्क्रान्तौ चाल्पज्ञाज्जीवाद्भेदेन सर्वज्ञतया परमात्मनो व्यपदेशात् । अन्वारूढोऽधिष्ठितः उत्सर्जन् घोरान्शब्दान् हिक्कशब्दान् वा कुर्वन् नहि स्वपतउत्क्रामतोवाऽज्ञस्य तदैव प्राज्ञेन स्वेनैव सता परिष्वङ्गान्वारोहौ सम्भवतः, नच जीवान्तरेण तस्यापि सार्वज्ञ्याऽसम्भवात् ॥ ४३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु स्यादेतत् । प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मैव नास्ति "अयमात्मा ब्रह्म, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति, तत्त्वमसी"त्यादिनैक्योपदेशात् । "नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती"ति द्वैतप्रतिषेधाच्चातः प्रकृतान्मुक्तादपि जीवादभिसम्भवितुरभिसम्भाव्योब्रह्मलोकोनार्थान्तरभूतः । भेदव्यपदेशस्तु घटाकाशादिवदुपाधिकृतइति चेत्तत्राह —

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।

व्यपदेशादित्यनुवर्त्तते । "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तोन बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरमि"तिसुषुप्तौ "प्राज्ञेनात्मनान्वारूढउत्सर्जन् याती"त्युत्क्रान्तौ चाज्ञाज्जीवात् भेदेन सर्वज्ञतया परमात्मनोव्यपदेशात् । अन्वारूढोऽधिष्ठितः उत्सर्जन् घोरान् शब्दान् हिक्कशब्दान् वा कुर्वन् नहि स्वपतउत्क्रामतोवाऽज्ञस्य तदैव प्राज्ञेन स्वेनैव सता परिष्वङ्गान्वारोहौ सम्भवतः, नच जीवान्तरेण तस्यापि सार्वज्ञ्यासम्भवात् ॥ ४३ ॥

## सू० पत्यादिशब्देभ्यः।१।३।४४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

" सर्वस्याधिपतिः, सर्वस्येशानः" इत्यादिशब्देभ्यो जीवाद्भेदेन परमात्मनो व्यपदेशात्स एवाकाशं इति स्थितम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे प्रथमाध्यायस्य तृतीयःपादः ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

भेदमेवाह —

पत्यादिशब्देभ्यः ।

जीवपरमात्मनोर्भेद एव । कुतः? "पत्यादि-शब्देभ्यः" । "सर्वस्याधिपतिः, सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वमिदं प्रशास्ति, एष सर्वेश्वर" इत्यादिभ्यः । प्राग्दर्शितावपि भेदाभेदौ विस्तरतोऽग्रे वक्ष्यामः । तस्मादर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादाकाशशब्दार्थः परमेश्वर एवेति सिद्धम् ॥ ४४ ॥

इति अर्थान्तरत्वाधिकरणम् । १० ।

इति श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसा-भाष्ये वेदान्तकौस्तुभे प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इतश्च जीवादन्यः परमात्मेत्याह —

पत्यादिशब्देभ्यः ।

"सर्वस्याधिपतिः, सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, सर्वमिदं प्रशास्ति, यदिदं किञ्च स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एषभूताधिपतिरेषभूतपालः, एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाये"त्यादिनोत्तरत्रापि पत्यादिशब्दाः परिष्वञ्जकं परमात्मानमेव व्यपदिशन्ति । तैश्चमुक्तजीवादप्यन्यः परमात्मेति निश्चीयते । नहि सर्वाधिपतित्वसर्वेशितृत्वसर्वप्रशास्तृत्वसर्वेश्वरत्वजगद्विधरणादिकं मुक्तावस्थेऽपि जीवे वक्तुं शक्यते तस्य जगद्व्यापारप्रतिषेधात् । औपाधिकभेदस्तु पूर्व-

प्रत्युक्तः । एकत्वोपदेशस्तु परमात्मनः सर्वव्यापकत्वसर्वनियन्तृत्वसर्वाधारत्वसर्वकारणत्वादिमत्तया चिदचिदात्मकस्य सर्वस्य जगतस्तु तद्व्याप्यत्वतन्नियम्यत्वतदाधेयत्वतत्कार्यत्वादिमत्तया सर्वदा सर्वत्र तदपृथक्स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिमत्तया सङ्गच्छते इत्युपरिष्टाद्वक्ष्यामइति ॥ ४४ ॥

इति अर्थान्तरत्वाधिकरणम् । १० ।

इति श्रीश्रीकेशवभट्टविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
वेदान्तकौस्तुभप्रभाख्ये प्रथमाध्यायस्य
तृतीयःपादः ॥

## सू० आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १।४।१ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ननु "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः पर"-इत्यत्र कठशाखायामानुमानिकं प्रधानमपि शब्दवदुपलभ्यते इति चेन्न, "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवे"त्यत्र शरीरस्य रथरूपकविन्यस्तस्याव्यक्तशब्देन ग्रहणात् । इन्द्रियादीनां वशीकरणप्रकारं प्रतिपादयन्, रूपकपरिकल्पितग्रहणमेव दर्शयति च । वाक्यशेषे "यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद्ज्ञानमात्मनि ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनी"ति ॥ १ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं त्रिपाद्यां चिदचिच्छक्तिमति स्वाभाविकानन्ताचिन्त्यकल्याणगुणगणार्णवे समस्तप्राकृतगुणास्पृष्टे जगत्कारणे ब्रह्मणि श्रुतीनां

समन्वयो दर्शितः । पुनरिदानीं चतुर्थे पादे कापिलतन्त्रासिद्धाऽब्रह्मात्मकप्रधानादिप्रतिपादनशङ्काजनकानां वाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयं दर्शयन्नुपादेयं च ब्रह्मात्मकं प्रधानं प्रतिपादयन्, क्वचिदव्यक्तादयः शब्दाः प्रधानवाचकाः श्रूयन्तेऽतोऽन साङ्ख्याभिमतस्य प्रधानस्याशब्दत्वं केवलमानुमानिकत्वम् चेति शङ्कां निराकरोति भगवान्सूत्रकारः ।—

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।

कठवल्लीषु श्रूयते । "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः पर" इति तत्र संशयः, अव्यक्तशब्दितमत्र साङ्ख्याभिमतं प्रधानम्? उत शरीरमि?ति। अत्र पूर्वः पक्षः, प्रधानमस्तु महदादिपुरुषान्तस्य कपिलस्मृतिक्रमप्रसिद्धस्यैवेह प्रत्यभिज्ञानात् । ननु सर्ववेदसमन्वयो जगत्कारणे ब्रह्मणि सम्यगुपपादितस्ततोऽन्यत्र प्रतिपादयितुमशक्य इति चेत्सत्यमेकेषां शाखिनामानुमानिकं प्रधानमपि जगत्कारणमस्तु, तदिह काठकानां शाखायामव्यक्तशब्देन प्रधानं गृह्यते इति चेन्न, कस्मात्?

“शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः” पूर्ववाक्यस्थशरीरस्यैव रूपकेण विन्यस्तस्यास्मिन्वाक्येऽव्यक्तशब्देन गृहीतेर्ग्रहणात् । केनचित्साहृश्येन वस्तुनि वस्त्वन्तरकल्पनं रूपकम् । तथाहि “आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वाइव सारथेः॥ यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वाइव सारथेः ॥ यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः । न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः । स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदमि”त्यनेन संसारमार्गस्य पारभूतं विष्णुपदं प्राप्तुमिच्छुं भोक्तृतया प्रधानभूतं रथित्वेन भोगायतनत्वेन गुणभूतं तच्छरीरं रथत्वेन च करणानि बुद्ध्यादीनि यथासम्भवं सार-

थित्वादिना च*रूपयित्वा यथाकुलालस्य घटादि-कर्तृत्वं चक्रदण्डादियुक्तस्यैवोपपद्यते . तथात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादयोधर्माः देहेन्द्रियमनोयुक्तस्यैव प्रतीयन्ते न निर्धर्मकस्य, गन्तृत्वाद्यसम्भवात् । भोक्तृत्वोपलक्षितान्कर्तृत्वगन्तृत्वादीन् चेतनधर्मा-नुक्त्वा तदनन्तरमविदुषोऽनियतेन्द्रियस्य संसारा-र्हत्वं, विदुषोनियतेन्द्रियस्य विष्णुपदार्हताञ्चा-भिधाय गम्यञ्च विष्णुपदमित्युक्त्वा ऽनन्तरं च रथादिरूपितशरीरादिषु येभ्योयेषां वशी कार्य-तायां प्राधान्यं तान्युच्यन्ते । "इन्द्रियेभ्यः परा-ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु पराबुद्धि-बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्य-क्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिरि"ति । अत्र पुरस्ताद्रथित्वादिनोक्ताः पदार्थाविवक्षितार्थवशात्क्रममनपेक्ष्य निरूप्यन्ते । तत्र रथित्वादिना रूपिता आत्माद्याः स्वस्वशब्दैर्ग-ह्यन्ते । रथत्वेन रूपितं शरीरं तु परिशेषादव्य-क्तशब्देनोच्यते । तत्र हयत्वेन रूपितेभ्यइन्द्रियेभ्यो-

* रूपकतया उक्त्वा ।

गोचरत्वेन रूपिता विषया वशीकार्यत्वे पराः उत्कृष्टा इत्यर्थः । वश्येन्द्रियस्यापि विषयसन्निधाने ह्यीन्द्रियाणां पुनः तेषु प्रवृत्तिदर्शनात् । तेभ्योऽपि प्रग्रहरूपितं मनः परम् मनसि विषयाप्रवणे विषयसन्निधानस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् । तस्मादपि सारथिरूपिता बुद्धिः परा अध्यवसायाभावे मनसोऽप्यकिञ्चित्करत्वात् । तस्या अपि रथिरूपितआत्मा कर्त्तृत्वेन प्राधान्यात्परः सर्वस्यास्यात्मेच्छायत्तत्वात्सएव महानिति च विशिष्यते । ततोऽपि रथरूपितं शरीरं परम् जीवस्य सर्वसाधनप्रवृत्तीनां शरीरायत्तत्वात् । ततोऽपि सर्वात्मा संसाराध्वनः पारभूतः पुरुषः परः। पूर्वोक्तस्य सर्वस्य तदधीनत्वात् । यथोक्ताराधनेन तस्मिन्वशीभूते सति सर्वपुरुषार्थसिद्धिः स्यात् । "या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः" तस्मान्नेह महच्छब्देन प्रधानकार्यभूतोमहानव्यक्तशब्देन च तत्कारणं प्रधानं पुरुषशब्देन च चतुर्विंशतिसङ्ख्याकप्राकृतगणापेक्षया पञ्चविंशकः साङ्ख्याभिमतः पुरुषोगृह्यते । अस्मिन्नेव पुरुषे जिज्ञास्ये

अनन्तकल्याणगुणगणार्णवे सर्ववेदसमन्वयः। अतः परं वस्त्वभावात्। "पुरुषान्न परं किञ्चिदि"ति-श्रुतेः। "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जये" तिस्मृतेः। पुरुषएव प्राप्यः। "सा काष्ठा सा परा गति"रितिश्रुतेः। "नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दा-दि"ति वाक्यार्थकारोक्तेः। "असंयतचित्तैर्दुर्ज्ञेयत्वं संयतचित्तैः सुज्ञेयत्वं च परमपुरुषस्य दर्शयन्, इन्द्रियादीनां वशीकरणप्रकारं च दर्शयन्, रूपक विन्यस्तग्रहणं दर्शयति च वाक्यशेषः। "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते "दृश्यतेत्वग्र्य-या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः, यच्छेद्वा-ङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद्ज्ञानमात्मनि ज्ञानमा-त्मनि महति तद्यच्छेच्छान्तआत्मनी"ति एषः "पुरुषान्न परं किञ्चित्साकाष्ठा सा परा गति"-रित्यनेनोक्तः समानातिशून्योमुक्तगम्यः सर्वज्ञो वासुदेवः सर्वेषु भूतेषु वर्त्तमानोऽपि न प्रका-शते सर्वेषां दृश्योन भवति, तेषां तद्दर्शनानधि-कारात्। अतएव गूढः सन्धिश्छन्दोऽनुरोधात्। "नाहं प्रकाशः सर्वस्ये"ति श्रीमन्मुखोक्तेश्च। सत्य-धिकारे दृश्योऽपि भवतीत्याह। दृश्यतइत्यादिना।

वागिन्द्रियोपलक्षितानि सर्वाणीन्द्रियाणि मनसी यच्छेत् दैर्घ्यं छान्दसं, तन्मनोज्ञान आत्मनि बुद्धौ बुद्धेर्ज्ञानत्वमात्मत्वं च जीवसम्बन्धात् । ज्ञानं च आत्मनि महति जीवे तं च शान्ते-सर्वकारणे ब्रह्मणि यदि पूर्वत्र महच्छब्देन महत्तत्त्वं गृहीत्वा तत्प्रत्यासत्त्या तत्कारणं प्रधान-मानुमानिकमव्यक्तशब्देन गृह्यते, तर्हि महच्छब्दे-नात्रापि तद्ग्रहणासम्भवान्महान्तं शान्ते यच्छे-दित्यनिष्टापातः स्यादतोवाक्यशेषोऽपि शरीर-रूपकविन्यस्तग्रहणम् दर्शयतीत्यर्थः ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं तावत्प्रथमे पादे मुमुक्षुभिर्मुक्त्युपायतया जिज्ञास्यस्य परस्य ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य जगज्जन्मादिकारणत्वमुक्त्वा तत्प्रधानपुरुषयोरपि वेदान्तवाक्यैः प्रतिपाद्यते इत्याशङ्क्य, तानि सर्वज्ञं सर्वशक्ति स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याण-गुणैकराशिं तमेव प्रतिपादयन्तीत्युक्तम् । द्वितीये, तृतीये, च कानिचित्स्पष्टजीवादिलिङ्गकानि कानिचिदस्पष्टलिङ्गकानि च यानि वाक्यानि तान्यपि सत्यसङ्कल्पसर्वान्तरात्म-भूतपरब्रह्मपराणीत्युक्तम् । इदानीं चतुर्थे तु पादे कापिल-तन्त्रसिद्धा ब्रह्मात्मकप्रधानपुरुषादिप्रतिपादनच्छायानुसारिणां कासु चिच्छाखासु श्रूयमाणानां वाक्यानां परब्रह्मण्येव

समन्वयः स्मर्यते । कठवल्लीष्विदं श्रूयते । "महतः परम-व्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति" रिति । तत्राव्यक्तशब्देन कपिलोक्तमब्रह्मात्मकं प्रधानमिहाभिप्रेतं ? शरीरं ? वेति विचिकित्सायां प्रधानमेवेति पूर्वपक्षः, महदादिपुरुषान्तस्य स्मृतिक्रमप्रसिद्धस्यैवेह प्रत्यभि-ज्ञानात् पंचविंशकपुरुषातिरिक्ततत्त्वप्रतिषेधाच्च । शब्दादिहीन-त्वेन न व्यक्तमव्यक्तमितिव्युत्पत्तेश्चेति प्राप्ते आह।—

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न,शरीर

रूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥

एकेषां कठानां शाखायामानुमानिकमनुमाने भवं प्रधानमपि जगत्कारणत्वेन श्रूयते इति चेत् नेति, कुतः ? शरीरेति अव्यक्त शब्देनात्र शरीरस्यैवरूपकेण रथसादृश्येन विन्यस्तस्यग्रहीतेर्ग्रहणात्। केनचित्साहश्येन वस्त्वन्तरेण वस्त्वन्तरकल्पनं हि रूपकम्।अयम्भा वः पूर्वत्रात्मानं रथिनं विद्धी त्यारभ्य "तद्विष्णोः परमं पदमि"-त्यन्तग्रन्थेन संसारमार्गस्य पारभूतं विष्णुपदं प्राप्तुमिच्छुमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादिकं रथरथांगत्वेन रूपयित्वा "यस्यैते रथादयो-वश्याः सन्ति सएवाध्वनः पारं विष्णुपदं प्राप्नोती"त्युक्तानन्तरं रथादिरूपितशरीरादिषु येभ्योयेषां वशीकार्यतायांप्राधान्यं तान्यु-च्यन्ते।"इन्द्रियेभ्यः परा" इत्यादिना।अत्रेन्द्रियादयः पूर्वं रथरूप-कल्पनायां हयादिभावेन रूपिताः स्वस्वशब्दैरेव गृह्यन्ते। रथरूपितं शरीरं तु परिशेषादव्यक्तशब्देनोच्यते।तत्र हयत्वेन रूपितेभ्यइन्द्रि-येभ्योगोचरत्वेन रूपिता विषया वशीकार्यत्वे परा उत्कृष्टाः।वश्ये-न्द्रियस्यापि विषयसन्निधाने इन्द्रियाणां दुर्निग्रहत्वात् तेभ्योपि प्रग्रहरूपितं मनः परम्।मनसि विषयाप्रवणे विषयसन्निधानस्याप्य-

किञ्चित्करत्वात् । तस्मादपि सारथित्वरूपिता बुद्धिः परा अध्यवसायाभावे मनसोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्।तस्या अपि रथित्वरूपितआत्मा कर्तृत्वेन प्राधान्यात्परः सर्वस्यात्मेच्छायत्तत्वात्सएव महानिति च विशिष्यते । ततोऽपि रथरूपितं शरीरं परं जीवस्य सर्वसाधनप्रवृत्तीनां शरीरायत्तत्वात् । ततोपि सर्वान्तरात्मभूतः संसाराध्वनः पारभूतः सर्वान्तर्यामितयोपासनसिद्ध्युपायभूतः प्राप्यश्च परमात्मा परः । सर्वस्य पूर्वोक्तात्मपर्यन्तस्य तत्सङ्कल्पाधीनप्रवृत्तित्वान्नतु पञ्चविंशकः तदिदमुच्यते "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सापरा गति" रिति "दैवं चैवात्रपञ्चममि"ति भगवद्गानात् च । दैवमत्रपुरुषोत्तमएव"सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं चे" ति वचनात् । तस्य च वशीकरणं तच्छरणागतिरेवेति । अतोऽत्र न कापिलतंत्रसिद्धप्रधानप्रसङ्गः । नच तन्त्रसिद्धप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा इन्द्रियेभ्योऽर्थानामर्थेभ्योमनसश्च परत्वकीर्त्तनस्य तद्धेतुतया सांख्यैरस्वीकारात् । बुद्धिशब्देन च महत्तत्त्वाभिधानं तैरभ्युपगम्यते । तथात्वे महतोमहत्परत्वासम्भवात् महतआत्मशब्दविशेषणासङ्गतेश्चातोरूपकविन्यस्ताएव गृह्यन्ते । दर्शयति च रूपकपरिकल्पितग्रहणमेत्र वाक्यशेषः । इन्द्रियादीनां वशीकरणप्रकारं प्रतिपादयन् "यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेत् ज्ञानमात्मनि ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्तआत्मनी"ति ॥ १ ॥

## सू० सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् । १।४।२॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अव्यक्तशब्दः सूक्ष्मवचनश्चेत्तदर्थभूतं शरीरमपि सूक्ष्मस्यैव स्थूलावस्थापन्नत्वात् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु रथरूपके सूक्ष्मशरीरावयवानां रथाङ्गत्वेन ग्रहणात्सूक्ष्मशरीरमव्यक्तशब्दार्हमपि न रथत्वेन वक्तुं शक्यमपि तु स्थूलमेव शरीरं रथत्वेन विन्यस्तं तत्कथमव्यक्तशब्देन ग्राह्यं ? भवेत्तस्य व्यक्तत्वादिति चेदुच्यते ।—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।

तु शब्दोऽवधारणे । स्थूलं शरीरं सूक्ष्मं कारणं प्रधानमेव बोध्यम् । तत्राव्यक्तशब्दप्रवृत्ति-रस्तु । कुतः ? तदर्हत्वात्, सूक्ष्मस्य प्रधानस्य कार्य-भावार्हत्वात् । अथवा कार्यस्य कारणभावार्हत्वात् । यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि"ति तज्ज-त्वादिना कार्यत्वेन भिन्नमपीदं जगद्ब्रह्माभिन्नं श्रूयते । तथा प्रधानाभिन्नमिदं शरीरमपीत्यर्थः । यद्वा कारणवाचकस्य तस्याव्यक्तशब्दस्य कार्यवचनत्वा-र्हत्वात् गोभिः* श्रीणीत‡ मत्सरमिति वत् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु व्यक्तशब्दार्हं शरीरं कथमव्यक्तशब्दवाच्यं भवतीत्या-शङ्क्याह ।—

---

* गोविकारैः पयोभिः ।  ‡ मत्सरं नाम सोमं क्षीरम् ।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।

तुरवधारणे । सूक्ष्मं भूतसूक्ष्ममव्यक्तमेवावस्थान्तरापन्नं शरीरं भवति । कुतः ? तदर्हत्वात् तदवस्थस्यैवाव्याकृतस्य कार्यतार्हत्वात् । कारणात्मना शरीरमव्यक्तशब्दवाच्यं कार्यकारणयोरभेदादित्यर्थः ॥ २ ॥

# सू० तदधीनत्वादर्थवत् ।१।४।३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

औपनिषदं प्रधानं परमकारणाधीनत्वादर्थवदानर्थक्यं पराभिमतस्य तस्येति भेदः ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु तर्हि प्रविष्टाः साङ्ख्यानां पथि सुखिनोभवन्तु भवन्तः । प्रधानकारणवादाङ्गीकारादित्यत्राह —

तदधीनत्वादर्थवत् ।

लोके हि चेतनसम्बन्धहीनमचेतनं द्रव्यं कार्योत्पादनेऽसमर्थत्वादर्थवन्न भवति । नहि स्वतो-मृत्पिण्डोघटभावमापद्यते । तथा चेतनसम्बन्धहीनं साङ्ख्याभिमतं प्रधानं स्वयमचेतनं कार्योत्पादनक्षमं न भवत्यतोऽनर्थकमेव । औपनिषदं तु

प्रधानमर्थवद्भवति महदादितृणान्तकार्यजननमर्थः प्रयोजनं यत्र तदर्थवत् । कुतः ? "तदधीनत्वात्" तस्य चेतनस्य परमकारणस्य ब्रह्मणः श्रीवासुदेवस्याधीनं तदधीनं प्रधानं तस्य भावस्तत्वं तस्मात् । प्रधानस्य ब्रह्माधीनत्वं तु तार्किकाभिमतं परमाणूनामीश्वराधीनत्वं यथा तथा नास्ति किन्तु "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामि"त्यादिशास्त्रसिद्धं शक्तिशक्तिमद्भाव निबन्धनम् । औपनिषदप्रधानप्रतिपादकं शास्त्रं प्रागुदाहृतमेव ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु यद्भूतसूक्ष्ममव्याकृतमभ्युपगम्यते तदेव भूतकारणं सांख्यैः प्रधानमित्युच्यते । एवं च तन्मतात्कोविशेष— इत्यत्राह —

तदधीनत्वादर्थवत् ।

परमकारणभूतपरमात्माधीनत्वात्प्रधानमर्थवत्स्वकार्योत्पत्तिफलवत् । अयंभावः न वयं प्रधानं तत्कार्याणि च स्वरूपेण नांगीकुर्मः । अपि तु परब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन तदात्मकतयैव प्रधानं स्वकार्ये प्रवर्त्तते, तदिहाव्यक्तशब्देन गृह्यते । नाब्रह्मात्मकं स्वतन्त्रन्तन्त्रसिद्धमिति । श्रुतिस्मृतिषु सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनः परब्रह्मात्मकतादर्शनात् । यद्वा "यदीन्द्रियेभ्यः परा" इत्यादिनारूपकाविन्यस्तस्यात्मादेर्वशीकार्यत्वे परत्वमुच्यते, तर्हि "अव्यक्तात्पुरुषः परः, पुरुषान्न पर मि"ति पुरुषः किमर्थं गृह्यते ? इति । तत्राह, "तदधीनत्वादर्थ-

वत्" रथित्वादिरूपितमात्मादिकं सर्वं परमात्माधीनत्वादर्थवत्प्रयोजनवत् । अतः सएवेह वशीकार्य्यैककाष्ठात्वेन "पुरुषान्न परंकिचिदि"त्युच्यते तदर्थमिहरूपकविन्यस्तेषु गृह्यमाणेषु परत्वेन तस्यापि ग्रहणम् ॥ ३ ॥

# सू० ज्ञेयत्वावचनाच्च ।१।४।४

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

नाव्यक्तशब्दस्तान्त्रिकप्रधानवचनः ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ।

इतश्च नानुमानिकं प्रधानमव्यक्तशब्देनेहोच्यते । कुतः ? "ज्ञेयत्वावचनात्" प्रकृतिपुरुषविवेकान्मोक्षं प्रवदन्तो हि साङ्ख्याः प्रकृतिरपि मुमुक्षुणा तदर्थं ज्ञेयेत्याहुः । तथा च कठैर्ज्ञेयत्वेनाव्यक्तं न पठ्यते । अव्यक्तशब्दमात्रोपादानात् ॥ ४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ।

सांख्यैर्हि गुणपुरुषविवेकज्ञानान्मुक्तिं वदद्भिः प्रधानं ज्ञेयत्वेन

स्मर्यते । इह च न तथाऽतो नतत्प्रसिद्धप्रधानस्याव्यक्तशब्देन ग्रहणम् ॥ ४ ॥

# सू० वदतीति चेन्न प्राज्ञोहि प्रकरणात् ।१।४।५॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" इति श्रुतेः प्रधानस्य ज्ञेयत्वं वदततीति चेन्न, ज्ञेयत्वेन प्राज्ञः परमात्मा निर्दिष्टस्तत्प्रकरणात् ॥ ५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

वदतीतिचेन्न प्राज्ञोहि प्रकरणात् ।

ननूत्तरत्र "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसन्नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" इतिमहतो महत्तत्वात्प्रधानकार्यात् बुद्ध्याख्यात् द्वितीयतत्वात्परं तत्कारणं प्रधानं निचाय्य ज्ञात्वा मृत्युमुखात्संसारात्प्रमुच्यते इति । ज्ञेयत्वं प्रधानस्य श्रुतिर्वदतीति चेन्न, प्राज्ञोहि निचाय्यत्वेननिर्दिष्टः

कुतः ? प्रकरणात् "तद्विष्णोः परमं पदम्, पुरुषान्न परं किञ्चित्, एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशत" इत्यादिना परमात्मनः प्रकरणात् "महतः परमि"ति च "बुद्धेरात्मामहान्पर" इति पूर्वत्रोदाहृताज्जीवात्परमात्मनः परत्व-मुच्यते ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

वदतीति चेन्न प्राज्ञोहि प्रकरणात् ।

" अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते " इत्युत्तरत्राव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्वं वदतीयं श्रुतिरिति चेदत्राह । नेति प्राज्ञः परमात्मैवात्र निचाय्यत्वेन निर्दिश्यते, न प्रधानं, कुतः ? प्रकरणात् "तद्विष्णोः परमं पदम, एषसर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि रि"त्यादिपरमात्मन एवं हि प्रकरणम् । तस्य चाशब्दत्वादि धर्मवत्त्वं " यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमि " त्यादिश्रुतिसिद्धम " महतः परमि " ति च " बुद्धेरात्मा महान्परः " इति पूर्वमन्त्रनिर्दिष्टाज्जीवात्परत्वमेवोच्यते ॥ ५ ॥

## सू० त्रयणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च १।४।६ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अस्यामुपनिषद्युपायोपेयोपगं त्रयाणामुपन्यासः प्रश्नश्च पूर्वापरवाक्यार्थविचारेण लभ्यते । अनुमानिकतत्त्वनिरूपणस्यात्रावकाशो-नास्ति ॥ ६

## वेदान्तकौस्तुभः ।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।

नेह प्रधानस्याव्यक्तशब्देन परिग्रहोऽस्ति । यतोऽत्र त्रयाणामेवपरमात्मतदुपासनोपासकानामेवमुपन्यासो वक्तव्यतया प्रश्नश्च ज्ञेयतया कठवल्ल्यामस्ति । नतु साङ्ख्यतन्त्रसिद्धस्य प्रधानादेरपि । तथाहि "तिस्रोरात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्तिमे ऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्वे"ति नचिकेतसे मृत्युना वरत्रये प्रतिज्ञाते तत्र "शान्तसङ्कल्पः सुमना यथास्याद्वीतमन्युर्गौतमोमाभिमृत्यो ! त्वत्प्रसृष्टम्मामभिवदेत्प्रतीतः एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे" इति प्रथमेन वरेण स्वस्मिन्

।पितुः सौमनस्यं वृतवान् । तदनन्तरम् "यथा पुर-
स्ताद्भविता प्रतीतः औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः
सुखं रात्रीः शयितावीतमन्युरि " त्यादिना
स्वस्मिन् पितुः सौमनस्यं प्रतिलभ्य तदनन्तरं
द्वितीयेन वरेण "सत्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो !
प्रब्रूहि तं श्रद्धधानाय मह्यम् स्वर्गलोकाअमृ-
तत्वं भजन्ते एतत् द्वितीयेन वृणेवरेणे"त्यनेन
मुक्त्युपायभूतां नाचिकेताख्याग्निविद्यां वृतवान् ।
हेमृत्यो त्वम् स्वर्ग्यं मोक्षहितमग्निमध्येषि
स्मरसि जानासि अतस्तं मह्यं मुमुक्षवे प्रब्रूहि ।
स्वर्गश्चतुर्थाध्यायोक्तार्चिरादिमार्गेण मुक्तगम्यो-
लोकोयेषां ते स्वर्गलोकाः वेदान्तिनः येनामृतं
मोक्षं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदग्निविज्ञानं द्विती-
येन वरेण वृणे इत्यन्वयः । स्वर्गशब्दोऽत्र मोक्ष-
साधारणः तस्यां हि "हिरण्मयः कोशः स्वर्गो
लोकोज्योतिरावृतः ब्रह्म यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्ग-
लोकमि"त्याद्यन्यत्र प्रसिद्धेश्च । तदनन्तरं"प्रते
ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः
प्रजानन् अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठामि"त्या-
दिनोपदिष्टमग्निविज्ञानं प्रतिलभ्य तृतीयवरेण च

परमपुरुषार्थरूपपरमात्मप्राप्तिलक्षणमोक्षयाथात्म्य स्वरूपप्रश्नमुखेन प्राप्यस्वरूपं प्राप्तृस्वरूप-मुपायभूतोपासनस्वरूपं च पृष्टम् "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेषवर-स्तृतीय" इति । एवं मोक्षस्वरूपे पृष्टे तदुपदेश-योग्यतापरीक्षापूर्वकं प्रतिवचनमपि "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्या-त्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाती"ति तदेव सामान्यत उपदिष्टे देवमिति निर्दिष्टस्य प्राप्यस्य स्वरूपं मत्वेति प्रतिपन्नस्य ज्ञानरूपोपायस्य स्वरूपं धीरइति प्रतिपन्नस्य प्राप्तुश्च स्वरूपं शोधयितुं पुनरप्य"न्यत्र धर्मा-दन्यत्राधर्मादि"त्यनेन पुण्यापुण्यरूपसाधनवि-लक्षणस्योपासनस्य "अन्यत्रास्मात्कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यदि"त्यनेन काला-परिच्छिन्नस्योपेयस्य च प्रश्ने प्राप्तुरपि चेतनस्य नित्यत्वात् प्राप्यान्तर्गतत्वाच्च ततएव तस्यापि तन्त्रेण प्रश्नः कृतः । अथवोपेयप्रश्नपरमवेदं वाक्यम् "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादि"ति प्रकृ-

तस्यान्यत्र शब्दद्वयसामानाधिकरण्यवत् अन्यत्रास्मात्कृताकृतादन्यत्र भूतादित्युपरितनान्यत्रशब्दद्वयस्यापि सामानाधिकरण्यप्रतीतेरेवमप्युपेयप्रश्ने उपेतुरन्तर्भावादुपायस्याप्यन्तर्भूतत्वान्त्रयमेव पृष्टम् । ततोब्रह्मप्रतिपादकतया प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यम्प्राप्यप्राप्तृस्वरूपं वाचकरूपमुपायं च कथयन्, प्रणवमुपादिश्य "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजोनित्यः शाश्वतो ऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इत्यादिना प्राप्तृस्वरूपम् " अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्य जन्तोर्निहितोगुहायाम् । तमक्रतुं पश्यति वीतशोकोधातुः प्रसादान्महिमानम्" इत्यारभ्य "कइत्था वेद " त्यन्तेन ग्रन्थेन प्राप्यस्वरूपम् " नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः " इत्यादिना मध्ये उपासनस्य भक्तिरूपतां चोपदिष्टवान् । ततउपास्योपासकयोरेकगुहाप्रवेशेन परमात्मनः सूपास्यत्वम् " आत्मानं रथिन"मित्यादिना "तत्कवयोवदन्ती"त्यन्तेनोपासनप्रकारमुपासकस्य विष्णुपदप्राप्तिं चोक्त्वा अशब्दमित्यादिनो-

# पसंहृतवानितित्रयाणामेवात्र ज्ञेयतयोपन्यासः प्रश्नश्च । न तन्त्रसिद्धप्रधानस्येह ग्रहणम् ॥६॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

त्रयाणामेवचैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।

इतश्च नाव्यक्तशब्दवाच्यं प्रधानम् । यतोऽत्र प्रकरणे त्रयाणामेव परमात्मतदुपासनोपासकानामेवमुपन्यासोवक्तव्यतया प्रश्नश्च ज्ञेयतया कठवल्लीषु दृश्यते । नतु सांख्यतन्त्रसिद्धस्य प्रधानादेरपि । तथा हि नचिकेतसे मृत्युना वरत्रये प्रत्ते प्रथमेन सत्त्वस्मिन् पितुः सौमनस्यं प्रतिलभ्य द्वितीयेन मुक्त्युपायभूतां नाचिकेताग्निविद्यां वृतवान् " सत्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषी " त्यादिना स्वर्गशब्दोऽत्र मोक्षसाधारणः । तस्यां हि "हिरण्मयः कोशः स्वर्गोलोकोज्योतिरावृतः ब्रह्म यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्ग लोकमि"ति "अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोकेऽज्ये प्रतितिष्ठती"ति तैत्तिरीयबृहदारण्यतलवकारादिषु मोक्षशास्त्रेषु तथादर्शनात् । अमृतत्वं भजन्तइति । तत्रस्थानां जन्ममृत्युभावश्रवणाच्च । तत्रैवोत्तरत्र क्षयफलकर्मनिन्दादर्शनाच्च । " ध्रुवसूर्यांतरं लक्षु नियुतानि चतुर्दश । स्वर्गलोकः सोऽत्र कथितो लोकसंस्थानचिन्तकैरि"ति सूर्यध्रुवांतर्वर्त्तिलोकविशेषे । पौराणिकपरिकल्पितस्वर्गशब्दरूढिस्तु सांख्यपरिकल्पिताव्यक्तशब्दरूढिवद्विहानादरणीया । तृतीयवरेण च परमपुरुषार्थरूपपरमात्मप्राप्तिलक्षणमोक्षयाथात्म्यस्वरूपप्रश्नमुखेन प्राप्यस्वरूपं प्राप्तृस्वरूपमुपायभूतोपासनस्वरूपं च पृष्टम् । "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः"इति एवं मोक्षस्व-

रूपे पृष्टे तदुपदेशयोग्यतापरीक्षापूर्वकं प्रतिवचनमपि "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति तदेवं सामान्यतउपदिष्टे देवमितिनिर्दिष्टस्य प्राप्यस्य स्वरूपं मत्वेति प्रतिपन्नस्य ज्ञानरूपोपायस्य स्वरूपं धीरइति प्रतिपन्नस्य प्राप्तुश्च स्वरूपं शोधयितुं पुनरप्य"न्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादि"त्यनेन पुण्यापुण्यरूपसाधन विलक्षणस्योपासनस्य "अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यदि"त्यनेन कालापरिच्छिन्नस्योपेयस्य च प्रश्ने कृते प्राप्तुरपि चेतनस्य नित्यत्वात्प्राप्यान्तर्गतत्वाच्च ततएव तस्यापि तन्त्रेण प्रश्नः कृतः। अथवोपेयप्रश्नपरमेवेदं वाक्यं "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादि"ति प्रक्रमस्थाऽन्यत्रशब्दद्वयसामानाधिकरण्यवत् "अन्यत्रास्मात् कृताकृतादन्यत्र भूतादि "त्युपरितनान्यत्रशब्दद्वयस्यापि सामानाधिकरण्यप्रतीतेरेवमप्युपेयप्रश्ने उपेतुरन्तर्भावादुपायस्याप्यन्तर्भूतत्वात्त्रयमेव पृष्टम्। ततोब्रह्मप्रतिपादकतया प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यं प्राप्यप्राप्तृस्वरूपस्वाचकरूपमुपायञ्च कथयन्प्रणवमुपदिश्य "न जायते" इत्यादिना प्राप्तृस्वरूपं "अणोरणीयानि"त्यारभ्य, कइत्था वेदे"त्यन्तेन प्राप्यस्वरूपं "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" इत्यादिना मध्ये उपासनस्य भक्तिरूपतां चोपदिष्टवान्। ततउपास्योपासकयोरेकगुहाप्रवेशेन परमात्मनः सुपास्यत्वम् "आत्मानं रथिनमि"त्यादि "तत्कवयोवदन्ती"त्यन्तेनोपासनप्रकारमुपासकस्य विष्णुपदप्राप्तिं चोक्त्वा अशब्दमित्यादिनोपसंहृतवानिति त्रयाणामेवात्रज्ञेयतयोपन्यासः प्रश्नश्च। न तन्त्रसिद्धप्रधानस्येह ग्रहणम्॥ ६॥

---

# सू० महद्वच्च ।१।४।७ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

साङ्ख्यैर्महच्छब्दो बुद्ध्याख्यद्वितीये तत्त्वे प्रयुक्तोऽपि ततोऽन्यत्रापि " वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमि"त्यादिवेदवचनेन यथा दृश्यते तथाऽव्यक्तशब्दः शरीरपरोस्तु ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

महद्वच्च ।

साङ्ख्याभिमतं बुद्ध्याख्यं द्वितीयं तत्त्वं परित्यज्य यथा वैदिकोमहच्छब्दो "बुद्धेरात्मा महान्परः, महान्तं विभुमात्मानमि" त्यादौ जीवे ब्रह्मणि च प्रशक्तः शाङ्ख्यशतैरप्यन्यत्र नेतु मशक्योयथा। तथाऽव्यक्तशब्दोऽपि वैदिकत्वादानुमानिके प्रधाने न प्रवर्त्तते । किन्तु शरीरमभिधत्ते इति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इत्यानुमानिकाधिकरणम् ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

महद्वच्च ।

यथा च सांख्यैर्महच्छब्दो बुद्धौ प्रयुक्तोऽपि "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, बुद्धेरात्मा महान्परः, महान्तं विभुमात्मान

मि"त्यादिवैदिकप्रयोगेषु पुरुषात्मशब्दसामानाधिकरण्यान्न महत्तत्त्वमभिधत्ते । तथा अव्यक्तशब्दोऽपि वैदिकप्रयोगे न तान्त्रिकप्रधानमभिधातुं योग्यः ॥ ७ ॥

इत्यानुमानिकाधिकरणम् ।

# सू० चमसवदविशेषात् ।१।४।८।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अजामेकामि"त्यादिमन्त्रोक्ता प्रकृतिः स्मृतिसिद्धाभवतु इति पूर्वपक्षे राद्धान्तं दर्शयति । मन्त्रोक्ताऽजा ब्रह्मात्मिका ऽस्तु । पूर्वपक्षनिर्द्धारणे विशेषाभावात् "अर्वाग्विलचमस" इतिमन्त्रोक्तचमसवत् ॥ ८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं यथाकठवल्ल्यामव्यक्तशब्देनावैदिकं प्रधानं नोच्यते, वैदिप्रधानात्मककारणवाचकेन तत्कार्यं शरीरमभिधीयते । प्रधानस्य च ब्रह्मात्मकत्वात्तद्द्वारा ब्रह्मणि श्रुतिसमन्वयः । तथेदानीमजाश्रुतिरपि ब्रह्मणि नीयते —

चमसवदविशेषात् ।

श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि श्रूयते "अजा-

मेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति अस्मिन्मन्त्रे ऽजाशब्देन साङ्ख्यस्मृतिप्रतिपन्ना प्रकृतिः प्रत्यभिज्ञायते ? उत मन्त्रार्थभूताब्रह्मात्मिकाप्रकृतिरिति ? संशयः । न जायतइत्यजा स्वाश्रयास्वातन्त्र्येण समानप्रजाजननस्वभावा त्रिगुणात्मिका बन्धमोक्षविभागहेतुभूता साङ्ख्याभिमता मन्त्रेणाप्युक्तास्तु इति पूर्वपक्षे ब्रूमः । ब्रह्मात्मिकाऽजा मन्त्रेणोक्तास्ति कुतः ? अविशेषात् आनुमानिकप्रधानपरिग्रहे विशेषाभावात् अस्माकमप्यजास्ति । श्रुतेः स्वार्थे प्रामाण्यान्नेह स्वाश्रया प्रत्यभिज्ञायते स्वाश्रयशब्दाभावात् । अचेतनस्य स्वातन्त्र्येण स्थित्यसम्भवाच्च । साधारणे शब्दे इदमेतन्नामकमिति निर्धारणाभावे दृष्टान्तः चमसवदिति "अर्वाग्बिलश्चमसऊर्ध्वबुध्न" इत्यस्मिन्मन्त्रे चम्यते अनेनेति व्युत्पत्त्या भक्षणसाधनत्वमात्रप्रतीतेरयं चमसइत्येवमवधारणं न सम्भवति अविशेषात् । अर्वाग्बिलत्वादेरन्यत्रापिसम्भवात् । तद्वत्प्रकृतमन्त्रे ऽपि अजात्वादिना साङ्ख्य

## स्मृतिसिद्धेयं प्रकृतिरिति निर्धारणं न भवति ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

चमसवदविशेषात् ।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रे ऽजाशब्देन किं स्मृतिसिद्धा प्रकृतिः प्रत्यभिज्ञायते ? उत वैदिकी ब्रह्मात्मकेति ? संशयः । स्मृतिसिद्धेति पूर्वपक्षः अजामित्यकार्यत्वश्रवणात् । सृजमानामिति । कर्त्रर्थशानचा स्वातन्त्र्येण स्वसमानप्रजास्रष्टृत्वश्रवणाच्चेत्येवं प्राप्ते, आह । नानेन मन्त्रेण सांख्यतन्त्रसिद्धा प्रकृतिर्निर्दिश्यते । कुतः ? अविशेषात्, ब्रह्मात्मिकाऽजा प्रतिपादनेऽप्यजात्वाविशेषात्, चमसवत् । यथा "अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न" इति बृहदारण्यकमन्त्रे चम्यते ऽनेनेति व्युत्पत्तेर्भक्षणसाधनत्वमात्रप्रतीतेः न स्वातन्त्र्येणायं नामासौ चमसोऽभिप्रेत इति विशेषो निर्णेतुं शक्यते । अर्थप्रकरणादिभिर्विशेषव्यवस्थापकैर्विना यौगिकशब्देष्वर्थविशेषानिश्चयात् । नचात्र सांख्यतन्त्रसिद्धाजाग्राहका अर्थप्रकरणादयो दृश्यन्ते । नाप्यस्याः स्वातन्त्र्येण स्रष्टृत्वं स्रष्टृत्वमात्रप्रतीतेर्ब्रह्मात्मिकायाः अपि साऽविरुद्धा परनियुक्तेऽपि तत्त्वादौ तक्षतिकाष्ठमिति कर्त्रर्थप्रत्यय दर्शनात् । तावन्मात्रेण स्वतन्त्रप्रकृतित्वनिश्चयासम्भवात् । अतो नास्मिन्मन्त्रेऽजाशब्देन सांख्यतन्त्रसिद्धप्रधानगन्धोऽपि । श्रुत्यर्थस्त्वस्मत्कृतश्वेताश्वतरप्रकाशिकायां द्रष्टव्यः । यथा च चमसमन्त्रस्य वाक्यशेषे "यथेदं तच्छिरः एष ह्यर्वाग्विलश्चमस" इति शिरो-

रूपश्चमसविशेषोनिश्चितस्तथा न तन्त्रसिद्धप्रधानग्रहणे विशेषो ऽस्ति॥ ८॥

## सू०ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके। १।४।९॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः

ननु चमसमन्त्रे "इदं तच्छिर" इति वाक्यशेषाच्छिरश्चमस इति गम्यते। अजामन्त्रे किं गमकं? विशेषार्थग्रहणे इत्यत्रोच्यते, ज्योतिर्ब्रह्मलक्षणमुपक्रमः कारणं यस्याः साऽत्राप्यजामन्त्रेणोच्यते यतस्तथैव। "तस्मादेतद्ब्रह्मनामरूपमन्नं च जायते"-इत्येके ऽधीयते॥ ९॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

"इदं तच्छिरएष ह्यर्वाग्बिलश्चमस" इति वाक्यशेषाद्यथा गम्यते। चमसमन्त्रे शिरएव चमसस्तथा साङ्ख्यासिद्धाऽजानिर्द्धारणोनेह बीजमस्ति ब्रह्मात्मिकाऽजात्वजामन्त्रे पूर्वापरवाक्यवशात्प्रतिपत्तव्येत्याह—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके।

तुशब्दो निश्चये ज्योतिरुपक्रमात्प्रकृतिरजाम-

न्त्रे निश्चयेन प्रतिपत्तव्या "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिः, अथ यदतः परो दिवोज्योतिरि"त्यादिश्रुतिप्रसिद्धं ज्योतिर्ब्रह्म उपक्रमः प्रारम्भकं प्रवर्त्तकं कारणम् यस्याः सा ज्योतिरुपक्रमा ब्रह्मात्मिका प्रतिपत्तव्या । वेदे विशेषतो ब्रह्मासाधारणगुणस्वरूपादिनिर्णये ऽन्यप्रसङ्गाभावात् । ब्रह्मात्मिकैव प्रतिपत्तव्या । तथाहि "ब्रह्मवादिनो वदन्ति किङ्कारणमि"त्याद्युपक्रम्य "कालः स्वभावोनियतिर्यदृच्छा भूतानी"त्यनेन सूचितान् कालवादिबौद्धमीमांसकार्हततार्किकसाङ्ख्यपक्षाननादृत्य "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामि"त्युपक्रमवाक्यादजामन्त्रे जगत्कारणस्य ब्रह्मणोज्योतिरादिपदाभिधेयस्य शक्तिभूतावेदसिद्धा ऽजाप्रतिपत्तव्येत्यर्थः । उत्तरत्रापि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्योमाययासन्निरुद्धः, मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरं । योयोनिंयोनिमधितिष्ठत्येकः" इत्यादिनाब्रह्मात्मिकायाएव प्रतिपादितत्वात् । अतएवेयं शक्तित्वेन शक्तिमतोभिन्नापि शक्तिमत्पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यभावाद्ब्रह्माऽभिन्ना पठ्यते

ऽस्यामेवोपनिषदि "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतदि"ति तत्र भोक्तापरप्रकृतिशब्दितो जीवः, भोग्यमपरप्रकृतिशब्दितं कार्यकारणभूतमचेतनम्, प्रेरिताप्रकृतिद्वयवान् ब्रह्मादिशब्दाभिधेयः श्रीपुरुषोत्तमः। एवं स्वरूपभेदेऽपि द्वयोः प्रकृत्योर्नियम्ययोर्नियन्तृसापेक्षास्थितिप्रवृत्तिमत्त्वात्तदभिन्नत्वमाह, "सर्वं ब्रह्मैतदि"ति वेदोक्तामजां वेदादेव दाढ्यार्थं पुनः प्रतिपादयति । "तथा ह्यधीयत एके" इति । हि यस्मात्तथा ब्रह्मकारणकत्वमस्या अजाया एके शाखिन आथर्वणिका मुण्डकोपनिषदि अधीयते "तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" इति "मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहमि"ति श्रीमन्मुखवचनाच्च । तैत्तिरीयके ऽपि च "अणोरणीयानि "त्यादिना ब्रह्म प्रस्तुत्य "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादि "त्यादिना प्राणोपलक्षितसकलप्रपञ्चोत्पत्तिं ततोऽभिधाय तदनन्तरं पठितस्य " अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः"

इति मन्त्रस्य ब्रह्मात्मकप्रकृतिपरतया वक्तव्य-त्वादिहापि तथात्वस्यावश्यम्भावाच्च ब्रह्मा-त्मिकैव प्रकृतिरजा मन्त्रप्रतिपाद्या ॥ ९ ॥

अस्ति तु ब्रह्मात्मिकायाअजायाग्रहणे विशेषइत्याह —

ज्योतिरूपक्रमात्तु तथाह्यधीयतएके ।

तुर्निश्चये "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिः, अथ यदतः परो दिवोज्योतिः" इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धं ज्योतिर्ब्रह्म उपक्रमः कारणं यस्याः सा ज्योतिरुपक्रमा ब्रह्मकारणा । अस्यामेवोपनिषदि "ते ध्यानयोगीनु गताअपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामि"त्युपक्रमवाक्यात् । उत्तरत्रापि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः, मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्, योयोनिं योनिमधितिष्ठत्येकः" इत्यादिना ब्रह्मात्मिकायाएव प्रतिपादितत्वात्। "तथाह्यधीयतएके" हि यस्मात्तथा ब्रह्मकारणकत्वमस्या अजाया एके शाखिनआथर्वणिकामण्डुकोपनिषदि अधीयते "तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" इति ब्रह्मशब्दोदितं त्रिगुणात्मकं प्रधानमिहाभिप्रेतम् "मम योनिर्महद्ब्रह्मे"ति भगवद्वानाच्च । तैत्तिरीयके च "अणोरणीयानि"त्यादिना ब्रह्मप्रस्तुत्य "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादि"त्यादिना प्राणोपलक्षितसकलप्रप-ञ्चोत्पत्तिं ततोऽभिधाय तदनन्तरं पठितस्य "अजामेकां लोहित-शुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजोह्येको जुषमा-णोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः" इति मन्त्रस्य ब्रह्मा-त्मकप्रकृतिपरतया वक्तव्यत्वादिहापि तथात्वस्यावश्यम्भावाच्च ब्रह्मात्मिकैव प्रकृतिरजा मन्त्रप्रतिपाद्या ॥ ९ ॥

# सू०कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः। १।४।१०॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः

ब्रह्मोपादानकत्वाजात्वयोरेकस्मिन् धर्मिणि न विरोधः। सूक्ष्मशक्तिमतोजगत्कारणात् ब्रह्मणो विश्वसृष्ट्युपदेशाद्द्वयं सङ्गच्छते मध्वादिवत्॥ १०॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

नन्वजायाजन्यत्वं कथमत्राह —

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः।

चशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः। अजायाजन्यत्वेऽविरोधः। कुतः? कल्पनोपदेशात्, कल्पना क्लृप्तिः सृष्टिस्तदुपदेशात्। "इहैवास्मान्मायी सृजते विश्वमेतदि"ति सूक्ष्मशक्तिकाद्ब्रह्मणोविश्वसृष्ट्युपदेशादित्यर्थः। अव्याकृता सूक्ष्मरूपा ब्रह्मशक्तिः प्रकृतिर्ब्रह्मशक्तित्वाद्ब्रह्मवन्नित्याजेत्युच्यते, सैव-शक्तिमता विसृष्टा कार्यात्मना स्थिता सती ब्रह्मोपक्रमेत्युच्यते ऽतोऽविरोधः। अत्र दृष्टान्तमाह।

मध्वादिवदिति । यथा मधुविद्यायाम् "असौ वा आदित्योदेवमधि"त्युपक्रम्य "अथ ततऊर्ध्वम् उदेत्यनैवोदेतानास्तमेतैकलएव मध्ये स्थात"इत्यन्तमन्त्रे आदित्यस्यैवकारणावस्थायां मधुत्वव्यपदेशानर्हसूक्ष्मात्मना स्थितस्य कार्यावस्थायां वस्वादिदेवभोग्यमधुत्वेनोदयास्तमयत्वेन च कल्पनमविरुद्धम्, तद्वत् इयमेव प्रकृतिर्नित्यसिद्धा नित्यसिद्धस्य जीवस्य बन्धमोक्षव्यवस्थायां मन्त्रेण कारणरूपा दर्शिता । तत्राजशब्दनिर्दिष्टोनित्यस्वरूपोऽनादिकर्मप्रवाहेनोह्यमानोहि स्वपरस्वरूपविवेकहीनोजीवः, प्रकृतिपरिणामेषु देवमनुष्याद्याकारेषु शरीरेष्वज्ञानवशात्तादात्म्यं प्राप्य प्रकृतिलेशान् शब्दादीन् जुषमाणोऽनुशेते, स ब्रह्मानन्दवर्जितोबद्ध इत्युच्यते । यस्तु दैवाद्दैन्यादिवशाद्भगवदनुग्रहं प्राप्य, श्रीमद्गुरुचरणोपसत्त्या वेदान्तश्रवणाद्यभ्यासेन ब्रह्मानन्दं प्राप्य, कार्यकारणरूपां प्रकृतिं विजहाति स मुक्त इत्युच्यते । न जायतइत्यजेति व्युत्पत्त्या नित्यसिद्धाब्रह्मात्मिका प्रकृतिर्यदि न स्यात्तदा ब्रह्मसम्बन्धवर्जितेनाचेतनेन प्रधानेन सृष्टिर्जीवानां बन्ध-

**मोक्षव्यवस्था च कर्तुं न शक्यास्यात्तस्मान्मन्त्र-प्रोक्ताब्रह्मात्मिकाऽजेति सिद्धम् ॥ १० ॥**

इति चमसाधिकरणम् २ ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वाकाशादीनां ब्रह्मोपादानकत्वेन ब्रह्मात्मकत्ववत् प्रकृतेरपि ब्रह्मोपादानकत्वेनैव ब्रह्मात्मकत्वस्य वक्तव्यतयाऽनुत्पन्नत्वाच्च तस्या ब्रह्मोपादानकत्वासम्भवेन ब्रह्मात्मकत्वासम्भवइत्याशङ्क्याह —

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।

चशब्दः शङ्कानिरासार्थः । अस्याः प्रकृतेर्ब्रह्मोपादानकत्वमजात्वं च द्वयं सम्भवति । कुतः ? कल्पनोपदेशात्, कल्पनायाः कॢप्तेर्विश्वसृष्टेरुपदेशात् "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदि"ति प्रयोगदर्शनात् । उपदिश्यते हि सूक्ष्मशक्तिकाद्ब्रह्मणोविश्व सृष्टिरिहापि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतदि"ति । अयंभावः । यदा प्रलयसमये ऽतिसूक्ष्मतया नामरूपविभागानर्हा कारणावस्थान्वयिनी परब्रह्माश्रिता तच्छक्त्यात्मनावतिष्ठते तदैषाजेत्युच्यते । यदा तु सृष्टिसमये उद्भूतसत्वादिगुणत्वेन विभक्तनामरूपा व्यक्तादिशब्दिता तेजोबन्नादिरूपेण च परिणता लोहितशुक्लाद्याकाराऽवतिष्ठते तदा ब्रह्मोत्पन्नेत्युच्यते, इति न विरोधः मध्वादिवत् । यथा मधुविद्यायाम् "असौ वा आदित्यो देवमध्वि" त्युपक्रम्य "अथ ततऊर्ध्वम् उदेत्यनैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्येस्थात" इत्यन्तमन्त्रे आदित्यस्यैकस्यैव कारणावस्थायां मधुत्वव्यपदेशानर्हसूक्ष्मात्मना स्थितस्य कार्य्यावस्था-

यां वस्वादिदेवभोग्यमधुत्वेनोदयास्तमयत्वेन च कल्पनमवि-
रुद्धं तद्वत् ॥ १० ॥ इति चमसाधिकरणम् २।

# सू० न सङ्ख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च। १।४।११

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

न च "यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इति सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि प्रधानादीनां पञ्चविंशतिपदार्थानां श्रुतिमूलकत्वमस्ति, प्रधानस्यैकस्य श्रुतिवेद्यत्वे कोविवादइति वक्तव्यम् ? कुतः ? नानाभावात्, यस्मिन्निति श्रुतिसिद्धे ब्रह्मणि प्रतिष्ठितानां पदार्थानां ब्रह्मात्मकत्वप्रतीत्या तान्त्रिकेभ्यः पृथक्त्वात् । आधारस्य ब्रह्मणो हि तथाकाशस्य चातिरेकत्वाच्च ॥ ११ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र देवात्मशक्तिमित्यादिशब्देन साङ्ख्याभिमतप्रधाने ऽघटमानमजावाक्यं शक्तिद्वारा ब्रह्मणि नीतम् । तथैवेदानीं सर्वनामादिशब्देन

साङ्ख्याभ्युपेतसङ्ख्याव्यापादकेन पञ्चपञ्चजनवाक्यमपि ब्रह्मणि प्रतिष्ठितेषु प्राणादिषु योजयन्, प्रधानस्याशब्दत्वं दृढयति भगवान्सूत्रकारः —

न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।

बृहदारण्यके षष्ठाध्याये "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतमि" त्युपक्रमानन्तरम् "यस्मिन्पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितस्तदेव मन्ये आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोमृतमि"ति श्रूयते । तत्र संशयः । इह पञ्चपञ्चजनाः पञ्चपञ्चकाः साङ्ख्याभ्युपेताः पञ्चविंशतिपदार्थाः उच्यन्ते ? आहोस्वित्पञ्चजनसंज्ञिकाः पञ्चसङ्ख्याकाः प्राणादयः ? इति । अत्र पूर्वः पक्षः, पञ्चविंशतिपदार्थाः श्रुत्युक्ताः साङ्ख्यस्मृतौ विशेषतोनिर्णीताः सम्पद्यन्ते । षष्ठिसंहितायाम् "दुःखत्रयाविघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेताव"त्युपक्रम्य "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः"इतिस्मर्यते । इति अत्रोच्यते । "न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि"अपिशब्दः सम्भावनायाम् । अस्मिन्मन्त्रे प्रतीयमानया पञ्चविंशति-

सङ्ख्ययापि न प्रकृत्यादीनां श्रुतिम*त्त्वम् । कस्मात् ? नानाभावात् पञ्चविंशतिपदार्थानां स्मार्त्तानां नाना भावात्पञ्चपञ्चकत्वानर्हत्वात् । सङ्ख्याशब्दोहि गोपञ्चकं विद्वत्पञ्चकमित्यादाविव जातिगुणाद्यादायार्थै प्रवर्त्तते । तदिह प्रतिपञ्चकमवान्तरसङ्ख्याप्रवृत्तिनिमित्तं न पश्यामइति भावः । "सप्त प्रकृतिविकृतयः षोडशविकाराः" इत्यादौ तु सङ्ख्याप्रवृत्तिनिमित्तमस्ति । यद्वा नाना अभावात् वेदान्तप्रोक्तानां सर्वेषां पदार्थानां ब्रह्मात्मकत्वादत्यन्ततोनानाभावो नास्ति । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति वचनादिहापि "‡यस्मिन्पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इत्युपदेशात् । साङ्ख्याभिमतपञ्चविंशति पदार्थाङ्गीकारे तु तेषां ब्रह्मात्मकत्वाभावाच्छ्रुतिविरुद्धोनानाभावश्चापद्येतेत्यर्थः । यद्वा "यस्मिन्पञ्च

---

* श्रुतिः प्रमाणत्वेन विद्यते येषु ते श्रुतिमन्तस्तेषां भावः श्रुतिमत्त्वं ।

‡ यस्मिन् इति सर्वनामपदेन प्रधानग्रहणे तस्मिन्पुरुषस्य-प्रतिष्ठितत्वं न सम्भवति, तस्याप्रधानात्मकत्वादिति भावः ।

पञ्चजना" इति ब्रह्मणि प्रतिष्ठितेभ्यः पराभिमतानां ब्रह्मनिरपेक्षाणां पृथग्भावात्, अतिरेकाच्च, न खल्वत्र पञ्चविंशतिसङ्ख्यैवास्ति । अपितु यस्मिन्निति सर्वनामपदेन निर्दिष्टस्य सर्वाधारस्य परमात्मनः आकाशस्य चातिरेकाच्च, अतिरिक्तत्वात्, पञ्चविंशतितत्त्वानि नोच्यन्ते। श्रुत्यर्थस्तु देवास्तद्ब्रह्मोपासते, किं तद्यज्ज्योतिषामादित्यादीनां ज्योतिः आयुः स्वोपासकानामायुर्वर्द्धनम् अमृतम् मोक्षदशायां प्राप्यम् इत्युपक्रमवाक्यार्थः। यस्मिन्ब्रह्मणि पञ्चपञ्चजनाः प्रतिष्ठिताः पञ्चजनाइत्यत्र "दिक्सङ्ख्ये संज्ञाया" मिति समासः । पञ्चजनाअत्र नामतोगृह्यन्ते अवयवार्थस्याविवक्षितत्वात् । यथा सप्तर्षयः सप्तर्षिशब्देनैकैकोऽपि यथा वाच्यस्तथा पञ्चजनशब्देनापि ते पञ्चजनाः कतीत्याकाङ्क्षायां पञ्चेति विशेषणम्। आकाशश्च यस्मिन्प्रतिष्ठितः तदेवसर्वाधारम् ब्रह्म अमृतम्, मुक्तगम्यम्, आत्मानम्, सर्वस्थितिप्रवृत्तिकारणम्, परमात्मानम्, योविद्वान्स अमृतोभवतीति मन्ये । ऽतज्ज्ञोन मुक्तोभवती"ति याज्ञवल्क्यवाक्यमिति ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

"अथ यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः तमेव मन्यआत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतमि"ति बृहदारण्यक-श्रुतौ साङ्ख्याभिमतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि प्रतिपाद्यन्ते उत न? इति विषये तान्येव प्रतिपाद्यन्त इति पूर्वपक्षः। एवं च श्रुति-निर्णीततत्त्वविशदीकरणपरा या "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इतिस्मृतेः श्रुतिमूलकत्वेन तत्सङ्गृहीतानां तत्त्वानामपि श्रौतत्वात् पञ्चविंशतिसङ्ख्याकानि साङ्ख्यांगीकृततत्त्वानि श्रुति-सिद्धान्येवेति। पञ्चपञ्चजनाइति पञ्चकृत्वआवृत्ताः पञ्चपञ्चपञ्चाः पञ्चविंशतिरित्यर्थः। "सङ्ख्ययाव्ययासन्ने"ति समासः। "बहुव्री-हौ सङ्ख्येये डजि"ति डच्। पञ्चपञ्चाश्च ते जनास्तत्त्वानि चेति कर्मधारयः। यद्वा पञ्च[illegible]इति समाहारे समासः, लिङ्गव्यत्य-यश्छान्दसः। ते कतीत्यपेक्षायां पञ्चशब्दविशेषिताः पञ्चजनसमूहा इति पञ्चविंशतितत्त्वावगतौ ते के इत्यपेक्षायां मोक्षाधिकारान्मु-मुक्षुज्ञेयाः स्मृतिप्रसिद्धाः प्रकृत्यादयएवेति। एवं सति "तमेव मन्यआत्मानं विद्वानि"त्यस्य पंचविंशकमात्मानं ब्रह्मभूतं विद्वान-मृतोभवतीत्यर्थइति प्राप्ते आह —

नसङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।

अपि सम्भावनायाम्। पञ्चपञ्चजनाइत्यत्र पञ्चविंशति-सङ्ख्योपसङ्ग्रहणादपि न तन्त्रसिद्धप्रधानादयोऽत्र प्रतीयन्ते। कुतः? नानाभावात्, श्रुतिस्थपञ्चजनशब्दितानां यस्मिन्निति निर्दि-ष्टब्रह्माधारतया ब्रह्मात्मकत्वप्रतीत्या तान्त्रिकेभ्यः पृथक्त्वात् अति-रेकाच्च। यस्मिन्निति पञ्चपञ्चजनस्याकाशस्य चाधारतया निर्दि-ष्टस्य परमात्मनआकाशस्य चातिरेकात्पञ्चपञ्चजनाइत्यत्र

पञ्चविंशतिसङ्ख्याप्रतीतेरेवासम्भवः । अतोन बहुव्रीहिगर्भितकर्मधारयः, न वा समाहारः । किन्तु पञ्चजनाइति सङ्ख्याशब्दः संज्ञापरः । यथा सप्तर्षयः सप्तेत्यत्रैकैकोऽपि सप्तर्षिपद्वाच्यस्तथा पञ्चजनशब्दोऽपिबोध्यः । "दिक्सङ्ख्ये संज्ञायामि"ति स्मरणात्, "पुमांसः पञ्चजनाः"इत्यमरकोशाच्च । तथाचावयवार्थमनपेक्ष्य पुरुषाभिधानपरोऽयं पञ्चजनशब्दइति सिद्धम् ॥ ११ ॥

# सू० प्राणादयोवाक्यशेषात् ।

१ । ४ । १२ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"प्राणस्य प्राणमुतचक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसोये मनोविदुरि"तिवाक्यशेषात्ते पञ्चजनाः प्राणाबोध्याः ॥ १२ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

के तर्हि पञ्चजनाइत्यत्राह ।—

प्राणादयोवाक्यशेषात् ।

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसोये मनोविदुरि"तिवाक्यशेषाद्ब्रह्मात्मकाः प्राणादयः पञ्च खलु पञ्चजनशब्दवाच्यामन्त्रेऽभिप्रेताः ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

पुरुषस्यात्रानुपपत्त्या के पुनस्ते पञ्चजना नामेत्यपेक्षायां लक्षणया पुरुषसम्बन्धिनः प्राणादयः पञ्चजनशब्दवाच्या इत्याह —

प्राणादयोवाक्यशेषात् ।

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसोये मनोविदुरि"ति वाक्यशेषात्प्राणादयः पञ्चजनाः । ते कतीत्यपेक्षायां पञ्चेति पञ्चत्वसङ्ख्यान्वयात्, पञ्च प्राणादयएव पञ्चजनशब्दवाच्याः श्रुतावभिप्रेता न स्मृत्युक्तप्रकृत्यादयः इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

## सू० ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ।

१ । ४ । १३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

काण्वानां वाक्यशेषे त्वसत्यन्ने उपक्रमगतेन ज्योतिषा पञ्चत्वं पूरणीयम् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु माध्यन्दिनशाखायां पञ्चजनमन्त्रानन्तरमन्त्रेण वाक्यशेषेण प्राणादयः पञ्च भवन्तु पञ्चजनाः । काण्वशाखायामप्ययं पञ्चजनमन्त्रो-

ऽस्ति, तत्र वाक्यशेषेऽन्नशब्दो नास्ति। तत्र कुतः पञ्चत्वपूर्त्तिरित्याशङ्क्याह —

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने।

माध्यन्दिनानामन्नेन पञ्चत्वपूर्त्तिरुक्ता। एकेषां काण्वानां पाठे त्वसत्यन्ने "तद्देवा-ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासत" इत्युपक्रमस्थ-ज्योतिषा पञ्चत्वपूर्त्तिरस्तीत्यर्थः। तस्माद्ब्रह्म-सम्बन्धहीनं प्रधानं न श्रुतिवेद्यमिति सिद्धम्॥१३॥

इति सङ्ख्योपसङ्ग्रहाधिकरणम् ३।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

ननु काण्वमाध्यन्दिनशाखयोर्यस्मिन्पञ्चपञ्चजना इति मन्त्रस्य समानत्वेपि काण्ववाक्यशेषस्यान्नशब्दहीनत्वात्कथं पञ्चत्व-पूर्त्तिरित्याशङ्क्याह —

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने।

एकेषां काण्वानां पाठे अन्ने असति "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिरि"ति पूर्वमन्त्रपठितज्योतिषा पञ्चत्वसङ्ख्यापूर्येत। ननु ज्योतिः शब्दउभयपाठे समानः कथमेकेषामेव तद्ग्रहो नान्येषामिति वैषम्यं, नियामकाभावादिति चेन्न, अपेक्षाभेदस्यैवात्र नियामकत्वात्, माध्यन्दिनानां समानमन्त्रपठितप्राणादि-पञ्चकस्य लाभात्, अन्यमन्त्रपठितज्योतिः शब्दापेक्षाभावः। काण्वानां तु पञ्चमस्यालाभात् भवत्यन्यस्यापेक्षेति भावः। यथा

समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात् षोडशिनोग्रहणाग्रहणे तद्वत् ॥ १३॥

इति सङ्ख्योपसङ्ग्रहाधिकरणम् ३ ।

## सू० कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः ॥१।४।१४॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्मैव सर्वत्राकाशादिसृष्टिविषयकवाक्येषु ग्राह्यं, लक्षणसूत्रादिषु यत् प्रकारकम् ब्रह्म व्यपदिष्टं तत्प्रकारकस्यैवाकाशादिकारणत्वेन प्रतिपादितत्वात् ॥ १४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु स्मृतिप्रतिपन्नं प्रधानं जगत्कारणं परित्यज्य ब्रह्मैकहेतुकं विश्वमिति मतमपि सन्दिग्धमेव, कारणप्रतिपादकेषु वेदान्तवाक्येषु सृष्टेरनेककारणकत्वदर्शनात् । तथाहि "क्वचित्सदेव सौम्येदमग्रआसीदि"ति सद्धेतुका सृष्टिरुच्यते, क्वचित् "तस्माद्वा एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतः" "इति केवलात्महेतुका, क्वचित्तु "असद्वा

इदमग्रआसीत्ततोवै सदजायत" तथा "असदेवेद-मग्रआसीत्तत्सदासीदि"त्यसद्धेतुका, क्वचित् "अस्य का गतिरित्याकाशइति होवाच" इत्याकाशहेतुका च, क्वचिच्च "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसम्विशन्तीतिप्राणहेतुका, "आत्मै-वेदमग्रआसीत्, ब्रह्म वा इदमग्रआसीदि"त्या दिना बृहदारण्यके आत्मब्रह्महेतुका च, सृष्टिः प्रोच्यते । एवं खलु जगत्कारणविज्ञाने ब्रह्मैव जगत्कारणमिति न निश्चेतुं शक्यते, ब्रह्मनिर-पेक्षं प्रधानं जगत्कारणमिति तु निश्चेतुं शक्यम् । तथाहि "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्ना-मरूपाभ्यामेव व्याक्रियते"इतिश्रुत्या चेतननिर-पेक्षं जगत्कारणमव्याकृतशब्देन प्रधानं परि-पठ्यते । तदिदं ह स्फुटं जगत्तर्हि तदा सृष्टेः प्रागव्याकृतमासीत् तच्चाव्याकृतं प्रधानं तन्ना-मरूपाभ्यां व्याक्रियते इति श्रुत्यर्थः । अत्रैव जगत्कारणप्रतिपादकोवाक्यसमूहोनेय इतीमां शङ्कां निराचिकीर्षुर्भगवान् जगत्कारणवादिवाक्य-समूहं ब्रह्मणि योजयति —

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः ।

चशब्दः शङ्कानिरासार्थः । यथाशब्दः प्रकारार्थकः । सर्वशक्तिः सार्वज्ञ्यादिगुणवान्सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमएव जगद्धेतुरिति निश्चेतुं शक्यते । कुतः ? यत्प्रकारः परमात्मा लक्षणसूत्रादिषु व्यपदिष्टस्तत्प्रकारस्यैवाकाशादिषु कार्येषु कारणत्वेन खलूक्तत्वात् । तथाहि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"ति पूर्वप्रकृतमेव ब्रह्म "तस्माद्वा एतस्माद्वि"त्यादिना कारणत्वेन व्यपदिश्यते । तथा "सदेव सौम्यदमि"त्यादिषु "तदैक्षत बहुस्यामि" ति निर्दिष्टमेव ब्रह्म "तत्तेजोऽसृजते" त्यादिना व्यपदिश्यते । एवमन्योपनिषद्वाक्येऽपि बोध्यम् ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु यदुक्तं ब्रह्मैकहेतुकं विश्वमिति तन्न शक्यते वक्तुं, वेदान्तवाक्येषु सृष्टेरनेककारणकत्वदर्शनात् । तथाहि क्वचित् "सदेव सौम्येदमग्रआसीदि" ति सद्धेतुकासृष्टिराम्नायते, क्वचित्तु "तस्माद्वा एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतः" इत्यात्महेतुका, क्वचित्तु "असद्वा इदमग्रआसीत्ततो वै सदजायत" तथा "असदेवेदमग्रआसीत्तत्सदासीदि"त्यसद्धेतुका, क्वचिच्च "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाशइति होवाच"इत्याकाशहेतुका,

"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति" इति क्वचित्प्राणहेतुका, "आत्मैवेदमग्र आसीत् ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि"त्यादिना बृहदारण्यके आत्महेतुकाच, सृष्टिः प्रोच्यते । अतोऽनेकहेतुकत्वाज्जगतो ब्रह्मैव कारणमिति न निश्चेतुं शक्यते । किन्तु प्रधानैककारणकं तादृशं निश्चीयते । "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते" इति श्रवणात् । अस्य च परिणामितया नित्यतया चात्मब्रह्मशब्दयोः स्वोत्पन्नतत्त्वपूरकतया प्राणशब्दस्य आकाशब्रह्मात्मशब्दानां नित्यत्वेन तत्रैव सम्भवात् । एवं निश्चिते ईक्षणादयस्तत्र गौणा भवितुमर्हन्ति । अतः स्मृतिन्यायप्रसिद्धत्वात् प्रधानमेव जगद्धेतुतया वेदान्तवाक्यैः प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्याह —

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः ।

चशब्दः शङ्कानिरासे, तुशब्दार्थे वा । यथा शब्दः प्रकारवचने । सर्वज्ञः सर्वेश्वरः परमात्मैव जगदेककर्तेति निश्चेतुं शक्यते । कुतः? आकाशादिपदचिह्नितेषु सर्वेषु सृष्टिवाक्येषु यथा व्यपदिष्टस्योक्तेः । लक्षणसूत्रादिषु सार्वज्ञ्यादियुक्तत्वेनास्माभिर्यथा व्यपदिष्टं प्रतिपादितं ब्रह्म तस्यैकस्यैवाकाशादिकारणत्वेन सर्ववेदान्तैः प्रतिपाद्यमानत्वात् । तथाहि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति पूर्वप्रकृतमेव ब्रह्म "तस्माद्वा एतस्मादि"त्यादौ कारणत्वेन व्यपदिश्यते । तथा "सदेव सौम्येदमि"त्यादिषु "तदैक्षत बहुस्यामि"ति निर्दिष्टमेव ब्रह्म "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिना व्यपदिश्यते । एवमन्योपनिषद्वाक्येष्वपीदमेव निर्देष्टव्या । सृष्टिवैचित्र्यं च न कर्तृभेदमापादयति, यथा कुलालो नानायपात्रजातं निर्मिमाणः कदाचित्घटपूर्विकां सृष्टिं कदाचि-

च्छरावपूर्विकां च करोति, स्वयं तु न भिद्यत । तथा परमात्माऽपि कदाचिदाकाशादिकां कदाचित्तेजआदिकां सृष्टिं कुर्वन्स्वयं न भिद्यते ॥ १४ ॥

## सू० समाकर्षात् ॥ १ । ४ । १५ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"सोऽकामयत" इति प्रकृतस्य सतएव ब्रह्मणः "असद्वा इदम्" इत्यत्र समाकर्षात्, "आदित्यो ब्रह्म"इति प्रकृतस्य ब्रह्मणः "असदेवेदम्" इत्यत्र समाकर्षात्, असच्छब्देन सृष्टेः पूर्वं नामरूपविभागात्तत्सम्बन्धितयाऽस्तित्वाभावेन सद्रूपं ब्रह्मैवाभिधीयते। "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" इत्यव्याकृतशब्दोदितस्योत्तरवाक्ये "सएष इह प्रविष्टआनखाग्रेभ्यः" इत्यादौ समाकर्षादचेतनस्य प्रधानस्यान्तः प्रविश्य प्रशासितृत्वाद्यसम्भवात्, तदन्तरात्मभूतमव्याकृतं ब्रह्मेत्युच्यते। जगत्कारणप्रतिपादकेषु वाक्येषु लक्षणसूत्रादिना निर्णीतं ब्रह्मैव ग्राह्यं, न प्रधानशङ्कागन्धोऽपीति भावः ॥ १५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

### समाकर्षात् ।

"असद्वा इदमग्रआसीत्ततोवै सदजायत" इत्यत्र " सोऽकामयत " इति प्रकृतस्यैव बहुभवनसङ्कल्पपूर्वकम् विश्वं सृजतः सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः समाकर्षात्सुसूक्ष्मशक्तिमत्कारणावस्थं ब्रह्म सूक्ष्मशब्दापरपर्यायेणाऽसच्छब्देन सच्छब्दापरपर्यायस्थूलशब्दार्हाभिव्यक्तशक्तिककार्यावस्थब्रह्मापेक्षयोच्यते । तथैव खलु "असदेवेदमग्रआसीत्तत्सदासीत् " इत्यत्रापि आदित्योब्रह्मेति पूर्वप्रकृतस्य ब्रह्मणः समाकर्षोबोध्यः । तथैवाव्याकृतवाक्येऽपि अव्याकृतशब्देनाव्याकृतान्तरात्मोच्यते । "सएषइह प्रविष्टः आनखाग्रेभ्यः पश्यन् चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानोमनः आत्मेत्युपासीत " इत्युत्तरवाक्ये सइति सर्वनाम्ना ऽव्याकृतशब्दोदितस्य ब्रह्मणएव समाकर्षात् । " तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते " इति पृथक्व्याकर्त्तरि सत्येव कर्मकर्तृनिर्देशोबोध्यः । यद्वा कर्मणि लकारो बोध्यः । तस्मात्सर्वत्र कारणमेकमेव । अस्मिन्नधिकरणे कारणवि-

गानं परिहृतम् । कार्यविषयां विप्रतिपत्तिं तु द्वितीयाध्यायस्य तृतीये पादे "न वियदश्रुतेः" इत्यादिना निराकरिष्यति । तस्मात्सर्वत्र सार्व-ज्ञ्यादिमज्जगत्कारणं चेतनं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥ १५ ॥

इति कारणत्वाधिकरणम् । ४ ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तथा सत्यसदव्याकृतशब्दयोः का गतिरिति चेत्तत्राह —

समाकर्षात् ।

" सोऽकामयत " इति प्रकृतस्यैव बहुभवनसङ्कल्पपूर्वकम् विश्वं सृजतः सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः "असद्वा इदमि"त्यत्र समा-कर्षात् सृष्टेः पूर्वं नाम रूपाविभागात् तत्सम्बन्धितयाऽस्ति-त्वाभावेन ब्रह्मैवासच्छब्देनोक्तम् । एवम् "आदित्यो ब्रह्मे"ति पूर्व-प्रकृतस्य ब्रह्मण एवासदेवेदमित्यत्र समाकर्षो बोध्यः । "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" त्यत्राप्यव्याकृतशब्देन तदन्तरात्मा परमात्मैव वोच्यते । "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः पश्यन् चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनआत्मेत्युपासीत "इत्युत्तरवाक्ये स इति सर्वनाम्नाऽव्याकृतशब्दोदितस्य ब्रह्मण एव समाकर्षात्, प्रधानपरत्वे तु तस्याचेतनस्यान्तः प्रविश्य प्रशासितृत्वाद्यसम्भवात् । "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामि" त्यादौ ब्रह्मण एव तत्प्रसिद्धेः । व्याक्रियते इति कर्मकर्त्तरि लकारः । अतो ब्रह्मैवैकं जगद्धेतुरिति सिद्धम् ॥ १५ ॥ इति कारणत्वाधिकरणम् । ४ ।

# सू० जगद्वाचित्वात्। १। ४। १६।

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

"योवै बालाके! एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्यैतत्कर्म" इति वाक्ये धर्माधर्मकर्मफलभोक्ता तन्त्रोक्तपुरुषोवेदितव्यः इति न शक्यं, परमात्मैवात्र वेदितव्यत्वेन निर्दिष्टः। कुतः? "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति ब्रह्मप्रकरणात्। क्रियते यत्तत्कर्मेति कर्मशब्दस्य जगद्वाचित्वात् "एतदि"त्यनेन सर्व॰ नाम्ना प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्य जगतउपस्थितत्वाच्च, तन्त्रोक्तपुरुषप्रकरणाभावाच्च॥ १६॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

"प्रकृतिः कर्त्री पुरुषोभोक्ता" इति साङ्ख्याः प्राहुस्तत्र प्रकृतेर्जगत्कारणत्वासम्भवोबहुशोदर्शितः। अथेदानीम् कौशीतकीब्राह्मणवाक्यसमन्वयं ब्रह्मणि दर्शितमपि प्रतर्दनाधिकरणे "यस्यैतत्कर्म"इति वाक्यमपि ब्रह्मविषयमिति दर्शयन्भोक्तृत्वलिङ्गेन वेदान्ते साङ्ख्याभिमतपुरुषपरिग्रहस्तदधिष्ठिताप्रकृतिर्जगद्धेतुरिति शङ्कां निराकरोति —

जगद्वाचित्वात् ।

कौशीतकीब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादः श्रूयते। तत्र बालाकिर्गार्ग्याख्यऋषिरजातशत्रुनामकं राजानं प्रति ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति प्रतिज्ञाय "यएष आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः" इत्यादिना ब्रह्मत्वेन पुरुषान् व्यपदिश्य, तूष्णीं बभूव। तमजातशत्रुः "ब्रह्मज्ञो मृषा खलु मास्संवदिष्ठा" इत्यपोद्य "योवै बालाके! एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्यः" इत्याह। तत्र वेदितव्यत्वेन साङ्ख्यतन्त्रसिद्धः प्रकृत्यध्यक्षोभोक्तापुरुषउपदिश्यते? उत परमात्मा" इति? सन्देहः। अत्र पूर्वः पक्षः। तन्त्रसिद्धः प्रकृतिवियुक्तः पुरुषएव ब्रह्मर्षिं प्रति राजर्षिणा वेदितव्यत्वेन निर्दिष्टः। "यस्य चैतत् कर्म" इति कर्मसम्बन्धोक्तेः। कर्मणश्च पुण्यापुण्यरूपस्य कर्माधिकारिणि कर्मवश्ये क्षेत्रज्ञे एव सम्भवात्। परमात्मनि तत्सम्बन्धानभ्युपगमात्, जगदुत्पत्तेश्च तत्तद्भोक्तृकर्मनिमित्तत्वात्। किञ्चात्र "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः" इत्यादिना भोक्ता जीव एवाजातशत्रुणा बालाकिं प्रति प्रतिपादितः।

तथा "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते, यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैते आत्मानमेनं भुञ्जन्ति" इति भोक्तुर्जीवस्यैव लिङ्गं दृश्यते। श्रुत्यर्थस्तु यथा श्रेष्ठी प्रधानभूतः स्वामी स्वैर्भृत्यादिभिरुपकरणैर्भुङ्क्ते, स्वाः भृत्यादयः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति अशनाच्छादनादिनोपजीवन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा तैः पुरुषैरादित्यादिभिर्भुङ्क्ते इति। नच "अस्मिन्प्राणे एवैकधा भवती" ति वाक्यशेषे श्रूयमाणः "यस्यैतत्कर्म"इति कर्मशब्दस्य क्रियावाचित्वात्तदाश्रयणेन चलनात्मकक्रियावान् प्राणोवेदितव्यः। नतु तन्त्रसिद्धः पुरुषः कर्मफलभोक्ता वेद्यत्वेनेह ग्राह्यइति वाच्यम्, प्राणशब्दस्य प्राणभृत्परत्वात्, अस्मिन्प्राणे प्राणभृति पुरुषे इत्यन्वयसम्भवात्। अस्मिन्नात्मनि वर्त्तमाने प्राणे इतिव्यधिकरणे सप्तम्यौ यदि तदा प्राणशब्दस्य मुख्यप्राणपरत्वेऽपि स्वतस्तस्य जीवोपकरणत्वाज्जीवएवात्र प्रतिपाद्यः, ततश्चायमर्थः। यएतेषामादित्यमण्डलादिस्थानां जीवभोगोपकरणभूतानां पुरुषाणां कर्ता कारणभूतः यस्य चैत-

त्कारणत्वे हेतुभूतं पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म्म स-प्रकृतिवियुक्ततया ज्ञातव्यइति । ततश्च "ब्रह्म ते ब्रुवाणि" इति वक्तव्यत्वेनोपक्रान्तं ब्रह्म स एव तदतिरिक्तेश्वरासिद्धेः ईक्षादीनां च कारणगतानां चेतनधर्मत्वात्तत्रैवोपपत्तेः । भोक्तृपुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिरेव जगद्धेतुरिति, अत्र ब्रूमः । अत्र पुरुषाणां कर्त्ता पुरुषोत्तमएव वेदितव्यत्वेनावगम्यते । कुतः ? कर्मशब्दस्य जगद्वाचित्वात् । नच जगत्कर्तृत्वं परमात्मनोऽन्यत्राञ्जसा सम्भवति । क्रियते इति कर्म चिदचिन्मिश्रं जगत् । चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्य भोक्तृत्वेन जगन्मध्ये प्रविष्टस्य जगत्कर्तृत्वासम्भवादनङ्गीकाराच्च, अल्पज्ञाल्पशक्तिक्षेत्रज्ञाधिष्ठितप्रकृतेरपि जगत्कर्तृत्वासम्भवाच्च, लोके चेतनाधिष्ठितेनाचेतनेन रथादिना यत्किञ्चित्क्रियते तच्चेतनकर्तृकमेव मुख्यकर्तृपरित्यागे मानाभावाच्च मुख्यः कर्त्ता श्रुतिगणगीतः परएव । एतदिति सर्वनामपदेन प्रत्यक्षाद्युपस्थितं जगत्परामृश्यते । नच कर्मशब्देनात्र पुण्यापुण्यलक्षणं कर्मैववाच्यम्, "ब्रह्म ते ब्रुवाणि" इति प्रतिज्ञाय बालाकिना ब्रह्म-

त्वेन निर्दिष्टानां षोडशपुरुषाणामब्रह्मतयाऽजात-शत्रुस्तमब्रह्मवादिनं "मृषा वै खलु मासंव-दिष्ठा" इत्यपोद्य "तदविदितं तन्निर्दिष्टपुरुषक-र्त्तारं परमात्मानं वेद्यत्वेन "योवै बालाके!" इत्या-दिनोपदिष्टवान्। अन्यथा पुण्यपापकर्मसम्बन्धि-पुरुषाणां बालाकिनैव ज्ञातत्वेन वेदितव्यतया तदुपदेशस्य नैष्फल्यात्। अतश्चिदचिदात्मक-प्रपञ्चकार्यत्ववाच्येव कर्मशब्दो, न पुण्यापुण्य-मात्रवाची, क्रियामात्रवाची वा, एवं सत्येत-च्छब्दोपि सार्थकः, तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणोप-स्थापितनिखिलचिदचिन्मिश्रजगद्विषयकत्वेन पुरुष-मात्रकर्तृत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात्। तथाच "योवै बालाके! एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता"इत्यस्य वाक्यस्या-यमर्थः। हे बालाके! त्वया आदित्यादिगता ये पुरुषा ब्रह्मत्वेनोक्तास्तेषां यः कर्त्ता, न केवलं पुरुषाणामेव कर्त्ता, किन्तु यस्यैतच्चिदचिदा-त्मकम् कृत्स्नं जगच्च कर्मकार्यभूतं स सर्वात्मा सर्वेश्वरः परमात्मा वेदितव्यइति। अत्र पुरुषाणां जगदन्तर्भूतत्वेन परमेश्वर-

कर्त्तृत्वे सिद्धेऽपि बालाक्युक्तब्रह्मत्वनिराकरणार्था तेषां पृथगुक्तिर्बोद्धव्या ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

पुनरपि साङ्ख्योनिरस्यते । तथाहि कौशीतकीब्राह्मणे बालाक्यऽजातशत्रुसंवादे बालाकिना "ब्रह्म ते ब्रवाणी" ति प्रतिज्ञाय "यएषआदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः" इत्यादिना ब्रह्मत्वेन निर्दिष्टान्पुरुषान् निरस्याजातशत्रुणा "योवै बालाके! एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्यः"इति तस्माउपदिश्यते । किमत्र वेदितव्यतया निर्दिष्टः, साङ्ख्यतन्त्रसिद्धः प्रकृत्यध्यक्षोभोक्ता पुरुषः? उत परमात्मा?इति संशये, तन्त्रसिद्धः प्रकृतिवियुक्तः पुरुषएवेति, "यस्य चैतत्कर्म"इति कर्मसम्बन्धोक्तेः। कर्मणश्चपुण्यापुण्यरूपस्य क्षेत्रज्ञएवतत्परवशे सम्भवात्, परमात्मनि तत्सम्बन्धानभ्युपगमात्, जगदुत्पत्तेश्च तद्भोक्तृकर्मनिमित्तत्वात्। उत्तरत्रापि "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः"इत्यादिना भोक्ता जीवएवाजातशत्रुणा बालाकिं प्रति प्रतिपादितः। तथा परस्तादपि। "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते, यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्माभिर्भुङ्क्ते, एवमेवैते आत्मानएनं भुञ्जन्ति"इति भोक्तुर्जीवस्यैव लिङ्गं दृश्यते । "अथास्मिन्प्राणएवैकधा भवती"ति प्राणशब्दोपि जीवस्य प्राणभृत्त्वात्तत्रैवोपपद्यते । यद्वाऽस्मिन्नात्मनि वर्त्तमाने प्राणे इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ प्राणशब्दस्य मुख्यप्राणपरत्वेऽपि स्वतस्तस्य जीवोपकरणत्वात् जीवएवात्र प्रतिपाद्यः। ततश्चायमर्थः। यएतेषामादित्यमण्डलादिस्थानां जीवभोगोपकरणभूतानां पुरुषाणां कर्त्ता कारणभूतः

यस्य चैतत्कारणत्वहेतुभूतं पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म स प्रकृतिवियुक्तया ज्ञातव्यइति। ततश्च "ब्रह्म ते ब्रुवाणी" तिं वक्तव्यत्वेनोपक्रान्तं ब्रह्म सएव तदतिरिक्तेश्वरासिद्धेः। ईक्षादीनां च कारणगतानां चेतनधर्मत्वात्तत्रैवोपपत्तेः भोक्तृपुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिरेव जगद्धेतुरिति प्राप्ते आह —

जगद्वाचित्वात्।

परमात्मैवात्र वेदितव्यतयोपदिश्यते। न तन्त्रोक्तः कर्मपरवशः क्षेत्रज्ञः। कुतः? "यस्य चैतत्कर्म" इति एतच्छब्दान्वितस्य कर्मशब्दस्य क्रियत इति व्युत्पत्त्या चेतनाचेतनात्मकजगद्वाचित्वात्। नच कर्मशब्देनात्र पुण्यापुण्यलक्षणम् कर्मैव वाच्यम्, "ब्रह्म ते ब्रवाणी"ति प्रतिज्ञाय बालाकिना ब्रह्मत्वेन निर्दिष्टषोडशपुरुषाणामब्रह्मतया ऽजातशत्रुस्तमब्रह्मवादिनं "मृषा वै खलु मासंवदिष्ठाः" इत्यपोद्य तदविदितं तन्निर्दिष्टपुरुषकर्तृपरमात्मानं वेद्यत्वेन "यो वै बालाके!" इत्यादिनोपदिष्टवान्। अन्यथा पुण्यपापकर्मसम्बन्धिपुरुषाणां बालाकिनैव ज्ञातत्वेन वेदितव्यतया तदुपदेशस्य नैष्फल्यात्। अतश्चिदचिदात्मकप्रपञ्चकार्य्यत्ववाच्येव कर्मशब्दो, न पुण्यापुण्यमात्रवाची, क्रियामात्रवाची वा, एवं सत्येतच्छब्दोपि सार्थकः, तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितनिखिलचिदचिन्मिश्रजगद्विषयकत्वेन पुरुषमात्रकर्तृत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात्। तथा चैष वाक्यार्थः। हे बालाके! ये त्वया ब्रह्मत्वेन पुरुषाउक्ताएतेषां यः कर्त्ता ते यत्कार्यभूताः यस्य एतच्चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगच्च कर्मकार्यभूतं स सर्वेश्वरः परमात्मा वेदितव्य इति ॥ १६ ॥

# सू० जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् । १ । ४ । १७ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"एष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते" इति जीवलिङ्गात् "अथास्मिन्प्राणे एवैकधा भवति" इति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तदन्यतरोग्राह्यो, न ब्रह्मेति चेत्तद्व्याख्यातं प्रतर्दनाधिकारे । जीवादिलिङ्गानि तत्र ब्रह्मपरत्वेन व्याख्यातानि तद्वदिहापि ज्ञेयानीत्यर्थः ॥ १७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ।

ननु "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते, यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्माएतैरात्मभिर्भुङ्क्ते, एवमेवैते आत्मान एनं भुञ्जन्ति" इतिभोक्तृत्वरूपजीवलिङ्गात् "अथास्मिन्प्राणे एवैकधाभवति"इति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तदन्यतरोग्राह्यो, न परमात्मेति चेत्तद्व्याख्यातं"प्राणस्तथाऽनुगमादि"त्य

स्मिन्नधिकरणे । तत्र हि उपक्रमोपसंहाराभ्यां वाक्यस्य ब्रह्मविषयत्वे निश्चिते जीवादिलिङ्गान्यपि तत्परत्वेन वर्णितानि । इहाप्युपक्रमे "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति विषयत्वेन ब्रह्मोक्तम् । मध्येऽपि "यस्य चैतत्कर्म"इति निखिलजगदात्मककर्मकर्त्तृत्वेन ब्रह्मैवोक्तम् । उपसंहारोऽपि ब्रह्मपरएव "सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रेष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति यएवं वेद" इति तदुपासकस्य फलातिशयश्रवणात् । एवमस्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते जीवादिलिङ्गान्यपि तत्परत्वेन नेयानि । नच पुनरुक्तिर्जातेति वाच्यम्, तस्मिन्प्रतर्दनाधिकरणे " यस्य चैतत्कर्म " इति वाक्यार्थनिर्णयाभावात् ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ।

"एवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते"इत्यादिभोक्तृत्वरूपजीवलिङ्गात्, "अथास्मिन्प्राणएवैकधा भवती"ति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च, तदन्यतरोग्राह्यो, न परमात्मेति चेत्, तस्य परिहारः प्रतर्दनविद्यायां "प्राणस्तथानुगमादि"त्यधिकरणेन व्याख्यातः । तत्र खलूपक्रमोपसंहाराभ्यां वाक्यस्य ब्रह्मविषयत्वे निश्चिते अन्यलिङ्गान्यपि तत्परत्वेन नेतव्यानीति वर्णितम् । इहाप्युपक्रमे

"ब्रह्म ते ब्रुवाणी"ति विषयत्वेन ब्रह्मोक्तम् । मध्येऽपि "यस्य चैतत्कर्म" इति निखिलजगदात्मककर्मकर्तृत्वेन ब्रह्मैवोक्तम् । उपसंहारश्च "सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद" इति तदुपासकस्य निरतिशयफलश्रवणाद्ब्रह्मपर एवेति । एवमस्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते जीवादिलिङ्गान्यपि तत्परत्वेन नेयानीति । नच प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्यं निर्णीतार्थमिति शङ्क्यम् "यस्य चैतत्कर्म" इति कर्मपदस्य तत्राविचारात् ॥ १७ ॥

## सू० अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥

१ । ४ । १८ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अस्मिन्प्रकरणे जीवग्रहणमन्यार्थं जीवव्यतिरिक्तब्रह्मबोधार्थमिति जैमिनिर्मन्यते । "क्वैष एतद्बालाके ! पुरुषोऽशयिष्ट, क्व वा एतदभूत् कुत एतदगादि"ति प्रश्नात् । "यदा सुप्तः स्वप्नं न कश्चन पश्यति अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति" इत्यादिप्रतिवचनात् वाजसनेयिनोऽपि च एवमेव जीवव्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति । तत्रापि

प्रश्नप्रतिवचने भवतः "क्वैष तदाभूत् कुत एतदगात् इति प्रश्नः । "यएषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन् शेते" इति प्रतिवचनम् ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "अस्मिन्प्राणे एवैकधा भवति" इति जीवप्रवेशश्रवणात् जीवप्रवेशार्हे ब्रह्मणि प्राणशब्दप्रयोगात्प्राणलिङ्गम् तावद्ब्रह्मविषयं भवतु । जीवलिङ्गानां तु ब्रह्मपरत्वं दुर्घटमिवाभाति । यतोऽत्र "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः"इत्यादिवाक्ये हि केवलं जीवलिङ्गं प्रतीयत इत्यत आह —

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।

जैमिनिराचार्यो ऽस्मिन्प्रकरणे जीवग्रहणं तु खलु अन्यार्थं आधेयत्वादिमतोजीवात् पृथग्भूतस्याधारत्वादिमतः परमात्मनोहि प्रतिपादनार्थं मन्यते स्म । कस्मात् ? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् । तथाहि ब्रह्मजिज्ञासुना बालाकिना सह ब्रह्मवित् अजातशत्रुः सुप्तपुरुषसमीपं गत्वा, तं सुप्तं पुरुषं हे सोमराजन् ! इत्याहूय, तथाप्याह्वान-

शब्दाश्रवणात्प्राणादिभ्योविलक्षणं भोक्तारं प्रतिपादयितुं तेषामभोक्तृत्वं च प्रतिपाद्य, यष्टिघातोत्थापनेन तेभ्योऽचेतनेभ्यः पृथग्रूपे चेतने जीवे प्रतिबोधिते पुनश्चेतनाचेतनविलक्षणं ब्रह्म प्रतिपादनाय प्रश्नानजातशत्रुः स्वयमेव कृतवान्। "क्वैष एतद्बालाके ! पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदागादि"ति । तदनन्तरं बालाकिं प्रश्नोत्तरदानासमर्थं मन्वानोऽजातशत्रुः स्वयमेवोत्तरमाह, "यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति, यदा प्रबुध्यते तदैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणायथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्योदेवा देवेभ्योलोकाः" इति । एवंभूताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां जीवविलक्षणः परमात्मा बोध्यः । अयमर्थः, सुषुप्तिवेलायां जीवात्मा मनसा समस्तं करणग्रामं सङ्गृह्य "अस्मिन्प्राणे" इति सर्वनामपदसमानाधिकरणप्राणशब्दोदितं परमात्मानमनुप्रविश्य स्वस्थः सम्प्रसन्नो यथाकालं पुनस्तस्मादेव प्राणाद्भोगाय गच्छति सोऽयं सुषुप्त्याद्याधारत्वादिना प्रसिद्धो जीवाद्भिन्नः परमेश्वरोवेदितव्यइति जैमिनेरपि

मतम्। जैमिनिग्रहणमुक्तार्थस्य पूज्यत्वद्योतनार्थम्। "अपि चैवमेके" वाजसनेयिनोविज्ञानमयाज्जीवाद्भिन्नं परमात्मानमधीयते। तत्रापि हि बालाक्यजातशत्रुसंवादमवतार्य प्रश्नप्रतिवचने भवतः तत्र प्रश्नः "यएष विज्ञानमयः क्वैष तदाभूत्कुतएतदगादि"ति प्रतिवचनञ्च "यएषोऽन्तर्हृदयआकाशस्तस्मिन् शेते" इति आकाशः परमात्मा "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" इत्यधिकरणे निर्णीतः। अयं जीवेश्वरयोर्भेदः "भेदव्यपदेशाच्च"-इत्यादिभिर्बहुभिः सूत्रैः सूत्रकारेण पूर्वत्र प्रतिपादितः। प्रसङ्गादिहापि "अन्यार्थं तु जैमिनिः" इति जैमिनिसम्मतत्वेन दृढीकृतः। तदपि वेदमूलत्वेन दृढतरमिति दर्शयितुं "प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्" इत्युक्तम्। सर्वोपनिषत्प्रसिद्धत्वसूचनाय "अपिचैवमेके" इत्युक्तम्। अभेदप्रकारमपि वेदमूलं पूर्वोक्तमुपरिष्टान्निपुणं वक्ष्यामः। तस्माद्वेदितव्यतया परमात्मैवोपदिश्यते। सएव जगज्जन्मादिहेतुर्न तन्त्रसिद्धः पुरुषस्तदधिष्ठितं प्रधानं वेति सिद्धम्॥ १८॥

इति जगद्वाचित्वाधिकरणम्। ५।

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वस्तु तावत्प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धत्वात्तल्लिङ्गानां ब्रह्मपरत्वम् । कथं पुनर्जीवलिङ्गानां ब्रह्मपरत्वम् । "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः" इत्यादिवाक्यं हि प्रबुद्धप्राणस्य सुप्तस्य यष्टिघातोत्थापनादिना शरीरेन्द्रियप्राणातिरिक्तजीवात्मसद्भावप्रतिपादनपरमिति प्रतीयतइत्याशङ्कायामाह —

**अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।**

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । अत्र प्रकरणे जीवग्रहणमन्यार्थं, जीवव्यतिरिक्तब्रह्मबोधनार्थमिति जैमिनिराचार्यो मेने । कुतः ? प्रश्नेति । प्रश्नस्तावत् "क्वैष एतत्बालाके ! पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुतएतदगादि"ति जीवप्रतिबोधानन्तरं परमात्मविषयोदृश्यते व्याख्यानम् । प्रतिवचनमपि "यदा सुप्तः स्वप्नं न कश्चन पश्यति, अथास्मिन्प्राणएवैकधा भवति, एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्योदेवा देवेभ्योलोकाः" इति जीवव्यतिरिक्तं परमात्मानमेव गमयति । सुषुप्तिसमयेऽयं जीवो मनसेन्द्रियग्रामं सङ्गृह्य परमात्मानमनुप्रविश्य, सम्प्रसन्नः स्वस्थतामेति । पुनस्तस्मादेव भोगाय निष्क्रामति, सोऽयं सुषुप्त्याद्याधारतया प्रसिद्धः प्राणशब्दवाच्यः परमात्मैवात्र वेद्यइति । जैमिनिग्रहणमुक्तार्थस्य पूज्यत्वद्योतनार्थम् । अपि चैवमेके शाखिनोवाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे विज्ञानमयशब्दवाच्यजीवव्यतिरिक्तं परमात्मानं स्पष्टमामनन्ति । "यएष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुतएतदगादि"ति प्रश्नः । यएषोऽन्तर्हृदयआकाशस्तस्मिन्शेते"इतिप्रतिवचनमप्येवमेव । आकाशः परमात्मा "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः"इत्यत्रोक्तः । तस्मात्परमात्मै-

वात्र वेदितव्यतयोपदिश्यते, सएव समस्तविश्वकारणं, न तन्त्रसिद्धः पुरुषस्तदधिष्ठितं प्रधानं वेति स्थितम् ॥ १८ ॥

इति जगद्वाचित्वाधिकरणम् । ५ ।

# सू०वाक्यान्वयात् । १।४।१९ ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः" इत्यादिना परमात्मा द्रष्टव्यत्वेन ग्राह्यो वाक्यस्योपक्रमादिपर्य्यालोचनया तत्रैवान्वयात् ॥ १९ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं पुनरपि श्रुतिसमन्वयं ब्रह्मणि दर्शयन्साङ्ख्याभिमतं पुरुषं निराकरोति —

वाक्यान्वयात् ।

बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते "सहोवाच न वा अरे ! पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियोभवति" इत्युपक्रम्य "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासितव्यः" इति । तत्र संशयः, किमिह द्रष्टव्यत्वादिरूपेण साङ्ख्याभिमतः पञ्च-

विंशकश्चात्मोपदिश्यते ? आहोस्वित्पुरुषोत्तमः श्रीवासुदेवः किं ? तावद्युक्तमिति । अत्र पूर्वपक्षी-मन्यते, द्रष्टव्यत्वादिना पञ्चविंशकस्तन्त्रप्रसिद्धः आत्मोपदिश्यते । तस्यैव दर्शनादिक्रियाविषयत्व-सम्भवात्, सिद्धान्त्यभिमतस्येयत्तानवच्छिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽञ्जसा क्रियाविषयत्वाऽसम्भवात्, तन्त्रोक्ते पुरुषे पतिजायापुत्रादिप्रियत्वसम्बन्धस्योपक्रमो-क्तस्य सम्भवाच्च । "इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघनएवैतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थाय तान्ये-वानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति मध्ये-ऽपि इदमित्यनेन शरीरस्थस्यैव प्राकृतभूतवै-लक्षण्यद्योतनाय महद्भूतशब्दनिर्दिष्टस्य काला-नवच्छिन्नत्वद्योतनायानन्तशब्दनिर्दिष्टस्यापारस्या-सङ्ख्येयस्य विज्ञानघनस्य तन्त्रोक्तस्यैवोत्पत्तिविना-शसम्बन्धितया सांसारिकत्वविधानाच्च, अन्ते च "विज्ञातारमरे ! केन विजानीयादि"ति विज्ञातृत्व-वचनाच्चेति । अत्र सिद्धान्त उच्यते, श्रीपुरुषो-त्तमएवात्र द्रष्टव्यत्वादिनोपदिश्यते । कुतः ? वाक्य-स्य परमात्मन्येवान्वयात्, उपक्रमोपसंहारपर्या-लोचनयैकार्थपरस्याकाङ्क्षावत्पदग्रामस्य परमा-

त्मपरतयान्वयावगमात् । तथा हि "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन*" इति याज्ञवल्क्याद्वित्तसाध्यं "प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपा नास्त्यकृतं कृतेन" इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धं कर्म मोक्षानुपायं निश्चित्य, मोक्षमाशासाना मैत्रेयी मोक्षसाधनं पृच्छति । "येनाहं नामृता स्यां ? किमहं तेन कुर्यां ? यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्येवं पृष्टेन याज्ञवल्क्येन "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः" इत्यादिना दर्शनादिक्रियाविषयः सर्वात्मा पुरुषोत्तम एवोपदिश्यते, तद्ध्यानादेव मोक्षसम्भवात् । तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानमप्युपपद्यते । उपसंहारे च "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति सर्वात्मत्वं परमात्मनएव लिङ्गम् ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

"न वा अरे ! पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवति, आत्मानस्तु कामाय पतिः प्रियोभवति" इत्युपक्रम्य "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासितव्यः" इत्यादिना बृहदारण्यके मैत्रेयीं प्रति याज्ञवल्क्येन द्रष्टव्यतयोपदिष्टः

---

* वित्तेन वित्तसाध्येन कर्मणा ।

आत्मा किं तन्त्रसिद्धः पञ्चविंशकः ? उत परमात्मा ? इति संशये, तत्रोपक्रमे पतिजायापुत्रवित्तमित्रपश्वादिप्रियत्वसम्बन्धस्य मध्ये च "एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति" इत्युत्पत्तिविनाशसम्बन्धितया सांसारिकस्वभावप्रतीतेश्च, अन्ते च "विज्ञातारमरे ! केन विजानीयादि"ति विज्ञातृत्ववचनस्य च तन्त्रसिद्धे पुरुषे एव सम्भवात्सएवेति । नच- "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" इत्यादिना अमृतत्वप्राप्त्युपायोपदेशान्नैतद्वाक्यं जीवपरमिति वाच्यं, मोक्षस्य प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपयाथात्म्यज्ञानेनैव सम्भवात्, सर्वात्मनां प्रकृतिवियुक्तस्वरूपस्य ज्ञानैकाकारत्वेन सर्वत्रैकरूपत्वात्, तज्ज्ञानेन सर्वात्मविज्ञानमैकात्म्योपदेशश्चोपपद्यते । "सर्वं तं परादादि"त्यादिना तदन्यत्वनिषेधश्च देवाद्याकाराणामनात्माकारत्वादुपपद्यते। "अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" इत्यादिना कारणत्वं च तस्यैव प्रतिपाद्यते, जगदुत्पत्तेः प्रकृत्याधिष्ठातृपुरुषनिमित्तत्वात् । यत्र हि "द्वैतमिव भवती" ति चैकरूपे ह्यात्मनि देवादिप्रकृतिपरिणामभेदेन नानात्वं यदुक्तन्निषेधति । तस्मात्तन्त्रसिद्धः पुरुषउपदिश्यते तदधिष्ठिता प्रकृतिरेव जगत्कारणमिति प्राप्ते आह —

वाक्यान्वयात् ।

परमात्मैवात्र द्रष्टव्यत्वादिना निर्दिश्यते। कुतः ? वाक्यान्वयात्, वाक्यं नामैकार्थप्रतिपादनपरत्वे सत्याकाङ्क्षादिमत्पदसमुदायस्तस्य सर्वस्य पूर्वापरपर्यालोचने तत्रैवान्वयात् । तथाहि "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" इति याज्ञवल्क्याद्धनादेर्मोक्षानुपायत्वं श्रुत्वा "तदेव मे ब्रूही" त्यमृतत्वमाशासानया मैत्रेय्या प्रार्थितेन याज्ञवल्क्येन द्रष्टव्यत्वादिनोपदिष्टोऽयमात्मा परमात्मैव।

"तमेव विदित्वा ऽतिमृत्युमेति, तमेवं विद्वानमृतइह भवति, नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय, यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं निगच्छति" इत्याद्यन्वय-व्यतिरेकवाक्यैर्मोक्षस्य तदेकज्ञानोपायकत्वमवगम्यते। प्रकृतिवि-युक्तात्मस्वरूपज्ञानं तु न स्वातन्त्र्येण मोक्षोपायः। किन्तु पर-मात्मज्ञानोपयोगित्वेनैव, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापि पर-मात्मन्येव सम्भवति, तस्य सर्वात्मत्वात्। अन्यथा सर्वत्र ज्ञान-स्वरूपतया सर्वात्मविज्ञाने जातेऽप्याचिद्वर्गज्ञानाभावेन सर्ववि-ज्ञानप्रतिज्ञाभङ्गापत्तेः "इदꣳ सर्वं यदयमात्मा" इत्येकात्म्योपदेशो ऽपि तत्रैवोपपद्यते। इदं शब्देन चिदचिन्मिश्रप्रपञ्चनिर्देशात्। अत-एव परमात्मनोऽत्यन्तभिन्नतया सर्वविदोनिन्द्योच्यते। "सर्वं तं परादादि"ति सर्वविश्वकारणत्वमपि कर्मपरवशानां जीवानां न सम्भवति, मुक्तानां तु जगद्व्यापाररहित्यं वक्ष्यते। यत्तूपक्रमे "आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियोभवती" त्यादिना पत्यादिप्रियसम्बन्धितया मध्ये चोत्पत्तिविनाशसम्बन्धितया सांसारिकस्वभावप्रतीतेर्जीवात्मनोऽन्वेष्टव्यत्वमाशङ्कितं, तन्न युक्तं, तत्र जीवात्मशब्देन परमात्मनएवाभिधानात्, तस्य सर्वकारणतया सर्वात्मतया च सर्वशब्दवाच्यत्वात्॥ १९॥

## सू० प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्म-रथ्यः॥ १।४।२०॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

कथं तर्हि जीवेनोपक्रमणमात्रोच्यते ? एक-

विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धेर्यज्जीवस्य परमात्मकार्यतया परमात्मानन्यत्वात्तद्वाचकशब्देन परमात्माभिधानं गमकमित्याश्मरथ्योमन्यते स्म ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "न वा अरे ! पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियोभवति" इत्याद्युपक्रमे पत्यादिप्रियसम्बन्धितया "एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति मध्ये चोत्पत्तिविनाशसम्बन्धितया जीवएव प्रतीयते, इतिचेत्सत्यम् । तथापि जीवा* त्मशब्देन परमात्मात्र ग्राह्यस्तस्य सर्वकारणत्वादिना सर्वशब्दवाच्यत्वान्नैषदोषइत्याचार्यान्तरसम्मत्या दर्शयति —

---

*"आत्मनस्तुकामाय"इत्यनेन परमात्माऽत्र ग्राह्यः । अन्यथा "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः" इत्यात्मशब्देन परमात्मपरेण सहैकार्थता न स्यात् ।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ।

"यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादौ जीवोऽपि भूतेषु प्रविष्टः खलु कार्यमध्ये गणितः ब्रह्मकारणं कार्यकारणत्वाभ्यां तयो-र्भेदोमुख्यएव। अत्र द्वैतवाक्यान्यर्थवन्ति भवन्ति। कार्यस्य च तज्जत्वादिना तदनन्यत्वादभेदोऽपि मुख्यः । एवमत्राद्वैतवाक्यान्यर्थवन्ति सन्ति। एव-मुभयविधवाक्यानां स्वार्थे प्रामाण्याज्जीवब्रह्मणो-र्भेदाभेदसम्बन्धः स्वाभाविकः । अत्र कार्य-वाचकानां शब्दानां कारणपरत्वं सम्भवति, घटभूम्योः कार्यकारणभावेन घटशब्दस्यापि भूमिपरत्वात्। एवं सत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञापि सिद्धेत्याश्मरथ्यमतम् । सूत्राक्षरार्थस्तु एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धेरिदं हि लिङ्गं गमकम् । किं लिङ्गम् ? । शृणु ! यज्जीवस्य परमात्मकार्यतया तदनन्यत्वाज्जीवा*त्मशब्देन परमात्मनोऽभिधानम्, इत्याश्मरथ्यआचार्योमन्यते स्म ॥ २० ॥

* "आत्मनस्तुकामाय" इत्यनेन ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तदेव मुन्यन्तरसम्मत्या दृढयति —

॰ प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः

आत्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाप्रसिद्धेरिदं लिङ्गं गमकम् । यज्जीवस्य परमात्मकार्यतया परमात्मानन्यत्वात् जीवात्मशब्देन परमात्मनोऽभिधानमित्याश्मरथ्यमाचार्योमन्यते स्म ॥ २० ॥

## सू॰ उत्क्रमिष्यतएवं भावादित्यौडुलौमिः १।४।२१॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

शरीरादुत्क्रमिष्यतोजीवस्य ब्रह्मणा सह भावात्तच्छब्देन ब्रह्माभिधीयते इत्यौडुलोमिः मन्यते स्म ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

उत्क्रमिष्यतएवं भावादित्यौडुलौमिः ।

"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय, परं ज्योतिरुपसम्पद्य, स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"। "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति शरीरेन्द्रियसंघातादुत्क्रमिष्यतो

ब्रह्मश्रवणमननध्यानदर्शनसम्पन्नस्य "न जायते म्रियते वा विपश्चित्"। "अजोनित्यः शाश्वतोऽयम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्योऽजत्वेन प्रसिद्धस्य जीवस्यैवं भावात्परमात्मना सह भावाद्ब्रह्मभावापन्नत्वाज्जीवशब्देन परमात्माऽभिधीयते, इत्यौडुलोमिराचार्योमन्यते स्म । अस्मिन्पक्षे बद्धावस्थायां भेदः, मुक्तावस्थायामभेदः, इत्थं जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदौ वर्त्तेते । एवं भेदाभेदवाक्यार्थइत्यौडुलोमेराचार्यस्याभिप्रायः । स्थूलबुद्धिजनोपकाराय भगवतऔडुलोमेर्भेदाभेदप्रकारएवमभिमतः । वस्तुतस्तु बद्धावस्थायामपि व्यापकादप्रच्युतस्वभावात्सर्वज्ञाद्ब्रह्मणः अणुपरिमाणोऽल्पज्ञोजीवोभिन्नोऽपि वृक्षात्पत्रमिव, प्रदीपादेः प्रभेव, गुणिनोगुण इव, प्राणादिन्द्रियमिव, पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यभावाद्ब्रह्मांशभूतोजीवोब्रह्मपदार्थादभिन्नः । तथा मुक्तावपि पृथक्स्थित्याद्यभावेन तदभिन्नोऽपि "स्वेन रूपेणैव सम्पद्यते" इति वचनाद्भिन्नएव । अन्यथोभयस्वरूपयोरच्युतत्वहानिः स्यात्, एवमाश्मरथ्याभिप्रायोऽपि बोध्यः ॥ २१ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उत्क्रमिष्यतएवं भावादित्यौडुलोमिः ।

"एषसम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय, परं ज्योतिरुपसम्पद्य, स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" । "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमि"ति शरीरादुत्क्रमिष्यतो जीवस्य एवं भावात्परमात्मना सह तादात्म्यभावात् जीवशब्देन परमात्माऽभिधीयते । ननु परमात्मकार्यतया "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, ज्ञाज्ञौ द्वावजौ, अजोनित्यः शाश्वतोऽयमि"त्यादिश्रुतिस्मृतिभिस्तस्योत्पत्तिप्रतिषेधादित्यौडुलोमिराचार्योमन्यते स्म ॥ २१ ॥

## सू० अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः

१ । ४ । २२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवात्मनि स्वनियम्ये "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" इत्यादौ प्रसिद्धस्य परमात्मनोनियन्तृत्वेनावस्थितेर्हेतोर्नियम्यपदेनोपक्रमादौ-नियन्तृपरिग्रहइति काशकृत्स्नोमन्यते स्म ॥ २२ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।

"यश्रात्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, यश्रात्मानमन्तरो यमयति, स ते आत्मान्तर्याम्यमृतः, अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्यादिश्रुतेः स्वनियम्यभूते जीवात्मन्यात्मतया परमात्मनोऽवस्थितेर्हेतोर्जीवशब्देन परमात्माऽभिधीयते, इतिनियम्यनियन्तृत्ववित्काशकृत्स्न आचार्योमन्यते स्म । तदेवं मुनित्रयमतद्वारा प्रसङ्गाद्भेदाभेदप्रकारोभगवता दर्शितः । स्वमतत्वेन च श्रुतीनां विरोधपरिहाराय स्वाभाविकं जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदसम्बन्धं निपुणं प्रतिपादयिष्यति "अंशो नानाव्यपदेशात्" इत्यादिना । तत्रोपक्रमे आत्मशब्दः परमात्मपरएव, तस्यैव परमात्मन उपासनं मोक्षोपायत्वेन "आत्मा वा अरे !" इत्यादिनाऽभिधीयते । "एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इत्यनेन परमात्मपराङ्मुखस्य संसारोन प्रेत्यसंज्ञास्तीत्यनेन तदुपासकस्य मुक्ति-

निर्दिश्यते । तस्माच्चिदचिद्भिन्नाभिन्ने सर्वकारणे मुक्तगम्ये सर्वनियन्तरि ब्रह्मणि मैत्रेयीब्राह्मणवाक्यं समन्वितं भवतीति सिद्धम् ॥ २२ ॥

इति वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्मान्तर्याम्यमृतः, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्यादिश्रुतेः स्वनियम्यभूते जीवात्मन्यात्मतया परमात्मनोऽवस्थितेर्हेतोर्जीवशब्देन परमात्माऽभिधीयते इति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते स्म । ततश्चायं मैत्रेयीब्राह्मणनिष्कर्षार्थः, वित्तादिकमनादृत्य मोक्षोपायं पृच्छन्त्या स्वपत्न्या मैत्रेय्या "यदेव भगवान्वेत्थ तदेव मे ब्रूहि" इति प्रार्थितेन याज्ञवल्क्येन "न वा अरे ! पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय" इत्यारभ्य "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यन्तेन परमात्मोपासनं मोक्षोपायत्वेन कथितम् "आत्मनस्तु कामाय" इत्यत्रात्मशब्दस्य जीवात्मपरत्वे "आत्मा वा" इति परवाक्येनानन्वयापत्तिः, तस्यां च सत्यां वाक्यभेदः, तस्मिंश्च सति पूर्ववाक्यस्य न किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते । "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः" इत्यात्मनो द्रष्टव्यत्वोपपादकत्वेन तदुपदेशात्, उभयत्र जीवात्मपरत्वे तु परमात्मैकान्तधर्मश्रुतिर्व्याकुप्येत । अतोऽरे हे मैत्रेयि ! पत्यादेः कामाय कामोऽभिलाषं मत्प्रयोजनायाहमस्य प्रियः स्यामित्येवं रूपस्तन्निर्वृत्तये

पत्यादयः प्रिया न भवन्ति, अपि त्वात्मनः परमात्मनः कामाय स्वाराधकप्रियप्रतिलम्भनरूपाभिलाषसिद्धय इत्यर्थः । परमात्मा हि कर्मभिराराधितः स्वाराधकानां सर्ववस्तुगतं प्रियत्वमापादयति । "एषह्येवानन्दयाती"ति श्रुतेः "योगक्षेमं वहाम्यहमि"तिस्मृतेश्च । ततश्च "आत्मनि खल्वरे दृष्टे" इत्यादिनोपास्यलक्षणं ब्रह्म "तं परादादि" त्यादिना च ब्रह्मणोऽत्यन्तभिन्नचिदचित्सर्वपदार्थज्ञातृ निन्दापूर्वकं सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन तदभिन्नत्वात् "इदꣳ सर्वं यदयमात्मे" ति चिदचिद्वस्तुनोर्ब्रह्मणाऽभेदमुपदिश्य, दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्चोपासनोपकरणभूतकरणनियमनं च सामान्यतोऽभिधाय, "सयथार्द्रैन्धनाग्नेरि" त्यादिना, स यथा सर्वासामपाम्" इत्यादिना च, पुनरुपास्यलक्षणं सर्वविश्वकारणत्वरूपं करणनिवहनियमनं च विस्तरतउक्त्वा, "स यथा सैन्धवखिल्यउदके प्रास्तः" इत्यादिना मोक्षोपायप्रवृत्तिप्रोत्साहनाय स्वनियम्यभूतजीवात्मतया ऽवस्थितस्य परमात्मनोव्यापकत्वं, उत्तरमैत्रेयीब्राह्मणे च "स यथा सैन्धवघनः" इत्यादिना जीवात्मतया तद्भेदेनावस्थितस्य परमात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानैकस्वरूपत्वमुपपाद्य, "एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थाय, तान्येवानुविनश्यति" इत्यनेन च तमनुपासीनस्य जीवस्य संसारं "न प्रेत्य संज्ञास्ती" त्यनेन च तमुपासीनस्य मोक्षं चाभिधाय, पुनरपि "यत्र हि द्वैतमिव भवती" त्यादिना च विनष्टसर्वाज्ञानस्य ध्रुवास्मृतिमतोनिखिलविश्वस्य ब्रह्मात्मकतया ब्रह्माभिन्नं सर्वं वस्तु पश्यतोब्रह्मभिन्नवस्त्वन्तराभावेन भेददर्शनं निराकृत्य, "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" इत्यनेन च जीवो येन स्वस्मिन्नात्मतयावस्थितेन परमात्मना बोधितः सन्निदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयान्नकेनापीति तस्य दुर्ज्ञेयतामापाद्य, "विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्" इति सर्वविज्ञातारं सर्वजगदेककारणभूतं पुरुषोत्तम-

मुपक्रमोक्तात्तदुपासनादृते केन विजानीयात्र केनापीति तदु-पासनमेवामृतत्वोपायः परमात्मप्राप्तिरेवामृतत्वमित्युपसंहृतम् । अतः परमात्मैवात्र प्रकरणे निर्दिश्यते । स एव निखिलविश्व-कारणं, न तन्त्रसिद्धः पुरुषस्तदधिष्ठिता प्रकृतिर्वेति स्थितम् ॥२२॥

इति वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥ ६ ॥

## सू० प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥१।४।२३ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रकृतिरुपादानकारणं चकारान्निमित्तकारणं च परमात्मैव । "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यविज्ञातं विज्ञातं भवति" इति प्रतिज्ञायाः, "यथा सौम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" इति दृष्टान्तस्य च सामञ्जस्यात् ॥ २३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

इत्थं निरीश्वरसाङ्ख्यमतं निराकृत्येदानीं सेश्वरसाङ्ख्यमतं निराकुर्वन् पूर्वोक्तं जगदभिन्न-निमित्तोपादानकारणत्वं भगवतो दृढयति —

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।

ननु "जन्माद्यस्य यतः" इति ब्रह्मलक्षण-प्रतिपादकसूत्रानन्तरमस्याधिकरणस्य पाठोयुक्तः। दृढतया जगत्कारणप्रकारविधायकत्वादिति चेन्न सम्यक् पश्यति*इहैवास्य योग्यत्वात् । तथाहि "ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या"इत्यत्र किं लक्षणं ब्रह्मणः इत्याकाङ्क्षायां "जन्माद्यस्य यतः" इति ब्रह्म-लक्षणमुक्तम् । तत्रोपादानत्वं निमित्तत्वं च श्रुतिसूत्राभ्यां सिद्धमेव । तदनन्तरमुपादानत्वं वा, निमित्तत्वं वेत्याकाङ्क्षाभावान्न पुनः प्रप-ञ्चितम् । अत्र तु स्वातन्त्र्येण प्रकृतिपरिणाम-वादिनोनिराकृताः, अपि तत्र केचित्सेश्वर-साङ्ख्याः प्रत्यवतिष्ठन्ते, लोके चेतनानां कुलाला-दीनां निमित्तकारणत्वमेव दृष्टम्, नोपादानत्वम्, "स ऐक्षत ईक्षां चक्रे"इत्यादिनेक्षापूर्विका सृष्टि-रुक्ता । अतईक्षिता परमेश्वरः कथंचिन्निमित्तमात्र-मस्तु जगत्कारणम् । उपादानं तु महदादेस्तद-धिष्ठितं प्रधानमेव, घटादेर्मृदादिवत् । " विकार-

* पूर्वपक्षीति शेषः ।

जननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् । ध्यायते ध्यासि-ता तेन तन्यते प्रेरिता पुनः ॥ सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत् । गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी" इत्यादिशास्त्रप्रामाण्यादित्यत्राभिधी-यते, ब्रह्मैव जगतः प्रकृतिरुपादानं चाभिमित्तं च । कुतः? "प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" प्रतिज्ञायाः दृष्टा-न्तस्य च अबाधनात् सामञ्जस्यात् । प्रतिज्ञा तावत् "उत तमादेशमप्राक्ष्योयेनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इति । श्रुत्यर्थ-स्तु हे पुत्र श्वेतकेतो ! तमादेशम् तमादेष्टारं परमात्मानमप्राक्ष्यः प्रष्टवानसि, येन गुरुमुखात् श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतं भवति, अमतं मतं भवति, अविज्ञातं विज्ञातं भवतीति । अनया प्रतिज्ञया परमात्मनउपादानत्वं गम्यते, उपा-दानश्रवणादिना उपादेयश्रवणादेरेव सङ्गतत्वात् । दृष्टान्तस्तु, "यथा सोम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यादि । अनेन दृष्टा-न्तेन दार्ष्टान्तेऽपि परमात्मनउपादानत्वं गम्यते । नहि दृष्टान्ते कुलालोगृहीतः, नच कुलालेन ज्ञातेन घटो ज्ञातः स्यात्, मृत्पिण्डेन तु ज्ञातेन

सर्वं घटादिकं मृन्मयं विज्ञातं स्यादेव । यदुक्तं लोके चेतनानां कुलालादीनां निमित्तत्वमेव दृष्टमिति, तत्रोच्यते । न वयमनुमानादिना जगत्कारणं साधयामः, येन कुलालादिदृष्टान्तापेक्षा भवेत् । वयं तु वेदविरुद्धसर्वप्रमाणपरित्यागपूर्वकशास्त्राचार्योक्तकारिणः । किञ्च लोकेऽपि केशलोमादिकार्यस्योपादानकारणं चेतनं पुरुषम्, ऊर्णायाः उपादानमूर्णनाभिञ्च पश्यामः । श्रूयते च "यथा पुरुषात्केशलोमानि यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" इति । नन्वत्रोपादेयानुरूपोहि उपादानेंऽशोऽप्यस्तीति चेत्प्रकृतेऽप्यस्ति प्रकृत्याख्या देवात्मशक्तिः ॥ २३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इत्थं निरीश्वरसाङ्ख्यमतं निराकृत्य सेश्वरं तन्निराकुर्वता जगत्कारणत्वप्रतिपादकवाक्यजातं सर्वज्ञे परब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे समन्वेतुकामेनेदमारभ्यते । ननु ब्रह्मैव जगत्कारणं, न प्रधानमित्युक्तेऽपि तत् किं जगतोनिमित्तकारणमात्रमुतोपादानकारणमपीति संशये, निमित्तमात्रमेवेति । कुतः ? "स ईक्षाञ्चक्रे तदैक्षत सऐक्षते" त्यादिश्रुत्युक्तेक्षापूर्वककर्त्तृत्वस्य लोके निमित्तकारणेषु कुलालसुवर्णकारादिष्विव निमित्तमात्र एव सम्भवात्, कार्यकारणयोश्च सारूप्यदर्शनात्, ब्रह्मणोऽपरिणामितया सदभि-

ष्ठितेनाचेतनेन कार्यसधर्मेण परिणामिना प्रधानेनोपादानेन भाव्यम् । "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं, विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् । ध्यायते ध्यासिता तेन तन्यते प्रेरिता पुनः ॥ सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत् । गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी" त्यादिश्रुतेः "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्, मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । "निमित्तमात्रमेवासौ सृष्टानां सर्गकर्मणि । प्रधानकारणीभूता यतोवै सृज्यशक्तयः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्निमित्तोपादानयोर्मृत्कुलालादिवद्भेदप्रतिपादनाच्च, कार्यसिद्धेश्च लोकेऽनेककारकसापेक्षत्वदर्शनाच्च, अतोनिमित्तमात्रमेव ब्रह्म, तदधिष्ठितं प्रधानमेवोपादानमिति प्राप्ते राद्धान्तः ।—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।

चकारोनिमित्तसमुच्चयार्थः । प्रकृतिरुपादानं निमित्तं च ब्रह्मैव । कुतः ? । प्रतिज्ञेति । प्रतिज्ञा च दृष्टांतश्च तयोरनुपरोधात्सामञ्जस्यात् । प्रतिज्ञा च "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातम् विज्ञातम्" इत्युपादानकारणविज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानविषया, कार्यस्य तदनतिरिक्तत्वात् । दृष्टान्तोऽपि "यथा सोम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादि" त्यादिरूपः । उपादानकारणविज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानगोचरएव, ब्रह्मणोनिमित्तमात्रत्वे तु कुलालादिज्ञानेन मृन्मयाज्ञानवत्तज्ज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानं न स्यादेवेति, तयोर्बाधएव स्यात् । यत्पुनरुक्तमीक्षापूर्वककर्तृत्वस्य लोके कुलालादाविव निमित्तमात्रे एव सम्भवादिति, तत्रोच्यते । न लोकवदिह भाव्यं "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवे" ति श्रुतेः प्रागेकत्वावधारणादद्वितीयपदेनाधिष्ठात्र-

न्तराभावज्ञापनाच्च । "उत तमादेशमप्राक्ष्यः" इत्यत्रापि निमित्तोपादानयोरैक्यस्य प्रतीयमानत्वाच्च । तथाहि "आदिशती"त्यादेशः बाहुलकात्कर्तरि घञ्, यद्वा भावार्थघञन्तादादेशशब्दात् "अर्शआद्यच्" उभयत्रापि प्रशासितृत्वाधिकरणत्वमेवादेशशब्दस्य युक्तम् । तथा च "अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्रशासितारं सर्वेषाम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यामादेशशब्देन प्रशासनरूपव्यापाराश्रयः कर्त्ता विवक्षितः । तमादेशमादेष्टारमधिष्ठातारमप्राक्ष्यः येनादेष्ट्राधिष्ठात्रा श्रुतेनाश्रुतं सर्वं श्रुतं भवतीति । किञ्च ब्रह्मणोजगदुपादानत्वे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, जन्माद्यस्य यतः, यतः सर्वाणि भूतानि भवन्ति" इत्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्रेषु "जनिकर्तुः प्रकृतिरि"तिसूत्रेण प्रकृत्यर्थेविहितपञ्चम्याः प्रामाण्यात् । ननु च वृत्तौ "पुत्रात्प्रमोदोजायते" इत्यनुपादानेऽपि पञ्चमीदर्शनात्प्रकृतिपदं हेतुपरमित्युपादानपरत्वनिषेधात् न्यासेऽपीदमेवाश्रित्यासति प्रकृतिग्रहणे उपादानस्यैवापादानसंज्ञा स्यात्, प्रत्यासन्नत्वान्नेतरस्य, प्रकृतिग्रहणात्कारणमात्रस्य भवतीति प्रकृतिपदमनुपादानेऽप्यपादानसंज्ञासिद्ध्यर्थमित्युक्तत्वात् । महाभाष्यकृद्भिरपि "अयमपि प्रयोगः शक्योवक्तुम्, गोलोमविलोमभ्योदूर्वा जायन्ते अपक्रामन्ति ताभ्यः" इत्यादिना दूर्वादीन्प्रत्यवधित्वात् , "ध्रुवमपाये" इत्यनेनैवापादानसंज्ञासिद्धेरिदं सूत्रमनारभ्यमिति प्रत्याख्यातत्वात् । कैयटेऽपि "अपक्रमणावधित्वे लोमादिषु कार्यप्रतीतिर्न सम्भवती"त्याशङ्क्य ? बिलान्निष्क्रामतोदीर्घभोगस्य भोगिनोऽविच्छिन्नतया तत्रोपलब्धिवत्कार्यस्यापि दूर्वादेस्तत्रोपलब्धिरित्यवधित्वस्यैव तत्रोपपादितत्वात्, अतउपादानएव, "जनिकर्तुरि"त्यनेन पञ्चमीति न नियमोऽन्यत्रापि सम्भवादिति चेन्न, कारणमात्रार्थकत्वेऽप्युपादानपरत्वाभ्युपगमात्, छागपशुन्यायेन यथा "पशुना यजेदि"त्यत्र पशुपदस्य पशुमात्रवा-

चकत्वेऽपि छागवपायाइति शेषात्पशुविशेषपरत्वम्। तद्वत्प्रकृतेऽप्य-नुसन्धेयमान चोक्तन्यायविरोधोऽत्र निश्चयौपयिकवाक्यशेषाभावा-दिति शङ्क्यम्, "आत्मनआकाशः सम्भूतः"इत्यादावुपादाने पञ्चम्यां "सच्च त्यच्चाभवदि"ति वाक्यशेषेण "सोऽकामयत बहुस्यामि"-त्येतच्छाखान्तरस्थवाक्येन प्रतीतसामानाधिकरण्यस्य नियाम-कत्वात्। अपि च ब्रह्मणउपादानत्वाभावे कार्ये व्याप्त्यभावा-त्तस्य परिच्छिन्नत्वापत्तिरप्यावश्यकी । एतदुक्तं भवति, कार-णत्वं नाम कार्योत्पत्तिप्राक्कालीननियतसम्बन्धाश्रयत्वम् । तद्द्विविधं निमित्तोपादानभेदात् । तत्र निमित्तत्वं नाम कार्योत्पत्त्यनुकूलज्ञान-चिकीर्षाकृतिमत्त्वेसति तद्व्यापाराश्रयत्वं, व्यापाराश्रयत्वं च स्वस्वा-नादिकर्मसंस्कारवशीभूतात्यन्तसङ्कुचितभोगानर्हज्ञानशक्तिधर्मका-णां चेतनानां कर्मफलभोगार्हज्ञानप्रकाशेन तत्तत्कर्मफलतत्तद्भोग-करणैः सह संयोजयितृत्वम्।परमते तु तत्त्वं दुर्घटं, कार्यस्य कल्पित-त्वाङ्गीकारेण कुलालवदुपादानगोचरप्रयत्नचिकीर्षादिमत्त्वासम्भ-वात्। नहि कल्पितशुक्तिरूप्यादिकं प्रति भ्रान्तस्यान्यस्य वा कर्त्तृत्वं प्रामाणिकम् । नच रूप्यादौ साक्ष्येव कर्त्ता, नह्यदर्शनमा-त्रेण कर्त्रपलापो वक्तुं शक्यः, त्वन्मते सर्वज्ञस्य कर्तुरपलापा-पत्तेरिति वाच्यं, इदमर्थावच्छिन्नस्येदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नस्य वा त्वदभिमतस्य साक्षिणइच्छाद्यभावे कर्त्तृत्वासम्भवात्, सर्वज्ञे कर्त्तरि श्रुत्यादेरिव शुक्तिरूप्यादिकर्तरि प्रमाणस्याभावात् । नहि "नामरूपे व्याकरवाणी"ति श्रुत्युक्तेश्वरस्येव शुक्तिरूप्यं करवा-णीति कस्याप्यनुभवोदृश्यते । नच भ्रान्तवदध्यासद्रष्टृत्वं भ्रान्तस्य प्रेक्षापूर्वकमारोपितकर्त्तृत्वाभावात् । नच मायाविवद्व्यामोहकत्वं, व्यामोहनीयानामपि कल्पितत्वेन तद्दर्शने परेशस्य भ्रान्तत्वा-पत्तेः । नहैन्द्रजालिकः कल्पितान् मोहयति, किञ्च जन्मादिसूत्रे-ऽर्थलब्धसार्वज्ञ्यस्य स्फोरणार्थं "शास्त्रयोनित्वादि"ति त्वन्मतस्य

भङ्गापत्तेः अध्यस्तद्रष्टृव्यामोहकस्य सार्वज्ञ्यासम्भवात् । नच "करवाणी"ति सङ्कल्पपूर्वकं कर्तृत्वं मायिन्यप्यस्तीति वाच्यं, कल्पितपदार्थकर्तृत्वाभावेऽपि प्रतारकस्य मायिनः "करवाणि" "करोमी"त्युक्तिसम्भवेऽपि परमाप्तस्य परमेश्वरस्य वास्तवकर्तृत्वं विना तथोक्त्यसम्भवादित्यलं कुतर्कोच्छेदैः । अथ किमुपादानस्य लक्षणमित्यपेक्षायामाहुरेके । भ्रमाधिष्ठानत्वं तत्त्वमिति चेन्न, उपादाने मृदादौ भ्रमाधिष्ठानत्वस्य भ्रमाधिष्ठाने च शुक्त्या-दावुपादानत्वस्य च व्यवहारादर्शनात्, मृज्ज्ञानेन घटादिबा-धाऽदर्शनात्, पारिभाषिकोपादानत्वस्य चानुपादानत्वे पर्यव-सानात् । नन्वसत्यरूपान्तरापत्तिर्विवर्त्तः, सत्यरूपान्तरापत्तिस्तु परिणामः रूपान्तरापत्तिमात्रमुपादानत्वं, तच्च ब्रह्मणोविवर्त्त-रूपविशेषेणापि सूपपन्नम् । निर्विकारश्रुतिस्तु तात्त्विकविकाराभा-वाभिप्रायिका । ब्रह्म चाज्ञातप्रपञ्चरूपेण विवर्त्ततइत्यज्ञानमपि परि-णामितयोपादानान्तर्गतं रूप्यमपि शुक्तिविवर्त्तत्वात् । अज्ञानपरि-णामत्वाच्चोभयोपादानकमिति चेन्न, त्वयाऽपि मिथ्याभूतस्य मिथ्याभूतमेवोपादानमन्वेषणीयम्, सत्यत्वे कार्यस्यापि कारण-स्वभावतया सत्यत्वप्रसङ्गइति वदता सत्यस्यासत्यरूपापत्तेर्निषे-धात्स्वभावत्यागप्रसङ्गाच्च । किञ्च सत्यस्यासत्यरूपतापत्तौ तदा-पत्तियोग्यतारूपधर्मोऽप्यवश्यं स्वीकार्यः, सर्वसामर्थ्यशून्यस्य तथात्वासम्भवादतिप्रसङ्गाच्च, तथात्वे च निर्विशेषप्रतिज्ञाभ-ङ्गात् । नापि रूपान्तराभेदधीविषयत्वमुपादानत्वमिति लक्षणं सम्भाव्यं, तत्त्वम्पदार्थयोः क्षीरनीरयोः खण्डगोत्वयोश्चोपा-दानोपादेयभावप्रसङ्गात् । नच कार्याभेदधीविषयत्वमुपादानत्व-मिति वक्तुं योग्यम् । सदृशे वस्तुनि सन्निहिते निमित्तेऽपि कार्याभेदभ्रमसम्भवेनातिव्याप्तेः । ननु मायोपादानमीश्वरोनिमित्तं शुद्धं ब्रह्माधिष्ठानमिति चेन्न, अभिन्ननिमित्तोपादानासिद्ध्या

त्वन्मते तदर्थस्यैतदधिकरणस्यैव बाधापत्तेरिति । किञ्च तन्मते ब्रह्मणउपादानत्वप्रतिपादनं प्रामादिकमेव, भ्रमाधिष्ठाने शुक्त्या-दावभवदिति प्रयोगाभावात्, तत्प्रयोगविषयबहुभवनरूपोपा-दानतायाब्रह्मणस्तैरनभ्युपगमात् । नच शुक्तेरूप्यस्यानुपादानत्वा-च्छुक्तिरूप्यमभवदिति व्यवहाराभावोयुक्त इति वाच्यम् । इदं रूप्यमित्यत्र रूप्याभिन्नतया प्रतीतस्येदमर्थस्य रूप्योपादानतया त्वदभिमतस्येदं रूप्यमभवदिति व्यवहाराविषयत्वात् । किञ्च सृष्टेः प्रागहमर्थाभावेनोत्तमपुरुषप्रयोगानुपपत्तेः । न चाविद्याप-रिणामविशिष्टेऽहमि प्रयोगसम्भवेनोत्तमपुरुषोपपत्तिः सूपपन्नेति वाच्यं, उक्तसङ्कल्पात्प्रागविद्यापरिणामाभावात् । अयम्भावः, सङ्कल्पात्प्रागविद्यापरिणामोऽस्ति ? न वेति ? वक्तव्यम् । नाद्यः, "एकमेवाद्वितीयमि"ति श्रुतिविरोधात् । नान्त्यः, उक्तोत्तम-पुरुषप्रयोगासम्भवात् । किञ्च "तदात्मानं स्वयमकुरुते"ति श्रुति-विरोधात् । अन्यथा "कुरुते"ति तत्त्वोक्त्ययोगात्, विवर्त्ता-धिष्ठाने इदमर्थे आत्मानं रूप्यात्मना कुरुतेति व्यवहारा-दर्शनाच्च । किञ्च "तज्जूतयोनिमि"ति श्रुतिविरोधः, इदमर्थे रूप्याद्यधिष्ठाने योनिशब्दाप्रयोगात्, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म-तज्जलानि"ति सहेतुकसामानाधिकरण्यश्रुतिबाधश्च । नच "स्थाणु-रेव चोरः"इतिवद्बाधितसमानाधिकरणत्वाङ्गीकारान्न बाध इति वाच्यम्, स्थाणुपुरुषयोरुपादानोपादेयत्वाभावेन दृष्टान्तासम्भवा-दिति संक्षेपः। केचित्तु चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मोपादानम्, तथा चोपा-दानश्रुतीनां स्वार्थे प्रामाण्यान्न कोऽपि दोषः। नच विशिष्ट-स्योपादानत्वे परिणामोऽप्यवश्यम्भावी, तथात्वे च निर्विकार-श्रुतिव्याकोपादसामञ्जस्यमिति वाच्यं, विकारस्य विशेषणगत-त्वात्, निर्विकारश्रुतीनां विशेष्यपरत्वान्नोक्तदोषलेशसम्बन्धा-वकाशइत्याहुस्तन्नासम्भवात् । तथाहि विशिष्टस्य ब्रह्मत्वं भव-

तामभिप्रेतं ? न वेति ? । आद्ये, भवता "अंशोनाने"ति वक्ष्यमाणसूत्र-भाष्ये विशेषणस्यांशत्वाङ्गीकारेणांशतः परिणामापत्तेर्दुर्वारत्वात्, निर्विकारश्रुतिबाधस्य ताद्वस्थ्याच्चासम्भवः । द्वितीये, नोपादानत्वप्रतिज्ञाभङ्गात्, शुद्धविशिष्टयोर्भेदापत्त्या परमतप्रवेशाच्च, विशिष्टाभ्युपगमबाधाच्चासम्भवएव । किञ्च विशिष्टब्रह्मणोमुक्तगम्यत्वं भवतामभिप्रेतं ? न वा ? । नाद्यः, विकारिणोमुक्तोपसृप्यत्वे मुक्तावपि सविकारत्वापत्तेर्महाननिष्टः । द्वितीये, किम्वा मुक्तगम्यं ब्रह्मेति वक्तव्यं, न तावद्विशेषशून्यं, मायावादमतप्रवेशात् अनभ्युपगमाच्च, गत्यन्तराभावाच्चासम्भव एव । तस्माद्विशिष्टब्रह्मोपादानवादोमहद्दोषवत्त्वादसम्भवएवेति संक्षेपः । अन्ये तु ब्रह्म-जगतोनिमित्तकारणमेव, नोपादानकारणमित्याहुस्तत्सूत्रकारेणैव खण्डितं, श्रुतिस्मृतिविरोधादित्युपरम्यते । वस्तुतस्तु कार्याकार-भजनार्हशक्तिमत्त्वे सति तदवस्थापत्तियोग्यत्वमुपादानत्वमिति क्षेत्रक्षेत्रज्ञक्षराक्षरादिपदार्थभूतस्वस्वाभाविकसूक्ष्मावस्थापन्नानां शक्तीनां तत्तद्गतसूक्ष्मसद्रूपकार्याणां च स्वाभाविकानां स्वान्वितानां स्थूलतया प्रकाशकत्वमित्यर्थः । प्रकृतमनुसरामः । एवं ब्रह्मणएव जगतोनिमित्तोपादानत्वे निश्चिते "विकारजननीं गौरनाद्यन्तवती" इत्यादिश्रुतिभिः सूक्ष्माचिच्छक्तिकं ब्रह्मैव तत्तच्छब्दैरभिधीयते, ब्रह्मणः सर्वात्मतया सर्वशब्दवाच्यत्वात् स्थूलसूक्ष्मावस्थस्य सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनश्च तदात्मकत्वेन तदभिन्नत्वात् । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"त्यादिश्रुतेः । यत्तूक्तं लोके कार्यस्यानेककारकसाध्यत्वदर्शनादिति, तदपि न, सर्वाचिन्त्यानन्तशक्तेर्ब्रह्मणोजगन्निर्माणे कारकान्तरनिरपेक्षत्वात् ॥ २३ ॥

---

# सू० अभिध्योपदेशात् ।१।४।२४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"तदैक्षत बहु स्यामि"त्यभिध्योपदेशाद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वप्रकृतित्वे॰ वर्त्तेते ॥ २४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अभिध्योपदेशाच्च ।

"सोऽकामयत" इत्यभिध्योपदेशात् सङ्कल्पोपदेशात् स्रष्टृत्वं "बहु स्याम्" इति सङ्कल्पोपदेशादुपादानत्वञ्च परमात्मनएव उपपद्यते ॥२४॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इतश्च ब्रह्मैव निमित्तमुपादानञ्च ।—

अभिध्योपदेशात् ।

अभिध्या सङ्कल्पः "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय तदैक्षत बहु स्यामि"ति विश्वस्रष्टुर्ब्रह्मणः स्वस्यैवाभिव्यक्तनामरूपजगदात्मना बहुभवनसङ्कल्पोपदेशात्। "तदैक्षते"ति स्रष्टृत्वम्*। "बहु स्यामि"त्युपादानत्वमिति विवेकः ॥ २४ ॥

# सू० साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ १ । ४ । २५ ॥

---

॰ निमित्तोपादानत्वे । * निमित्तत्वम् ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्षआसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणोमनसा पृच्छयते एतद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्नि"ति निमित्तत्वमुपादानं च ब्रह्मणः आम्नानाद्ब्रह्मैवोभयरूपम् ॥ २५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।

चशब्दोऽवधारणे । प्रकृतिर्निमित्तञ्च ब्रह्मैव । कुतः ? । साक्षादुभयाम्नानात् । तथाहि "किंस्विद्वनं क उ स वृक्षआसीद्यतोद्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणोमनसा पृच्छयते एतद्यदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्नि"ति जगदुपादाननिमित्तादिप्रश्ने "ब्रह्म वनं ब्रह्म सवृक्ष आसीद्यतोद्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणोमनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्नि"ति साक्षादुभयं निमित्तकारणत्वमुपादानकारणत्वं च ब्रह्मणआम्नायते ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।

चशब्दोऽवधारणे । "किंस्विद्वनं क उ स वृक्षआसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्ठतक्षुर्मनीषिणोमनसा पृच्छथतेदु तद्यदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्नि"ति जगदुपादाननिमित्तादिप्रश्ने "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्ठतक्षुर्मनीषिणोमनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्नि"ति साक्षादुभयं निमित्तत्वमुपादानत्वं च ब्रह्मण आम्नायतेऽतस्तदेवोभयरूपम् ॥ २५ ॥

## सू० आत्मकृतेः परिणामात् ।

१ । ४ । २६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ब्रह्मैव निमित्तमुपादानं च । कुतः ? । "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यात्मकृतेः । ननु कर्त्तुः कुतः ? कृतिविषयत्वं परिणामात्सर्वज्ञं सर्वशक्तिब्रह्मस्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमय्य, अव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति ॥ २६ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभः ।

आत्मकृतेः परिणामात् ।

ब्रह्मैव निमित्तमुपादानञ्च । कुतः ? । "आत्मकृतेः" "तदात्मानं स्वयमकुरुते"ति आत्मनः कर्मभूतस्य कृतिविषयस्य स्वयं कृतिमान्निर्दिश्यते, कृतिः करणमतोहेतोरित्यर्थः । ननु स्वस्य कृतिमतः स्वात्मैव कृतिविषयत्वेन कथं सङ्गच्छते । तत्राह, "परिणामात्" सर्वज्ञः सर्वशक्तिरप्रच्युतस्वरूपः परमात्मा स्वात्मकस्वाधिष्ठितनिजशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणामयतीत्येवं भूतात्परिणामात्सर्वमनवद्यम् । "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणोनचान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युः । शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञानगोचराः । शतशोब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः । भवन्ति तपतां श्रेष्ठ ! पावकस्य यथोष्णता" इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपादिता अनन्ताः स्वाभाविक्यस्तस्य शक्तयः सन्ति । तासां सृष्ट्यादौ विक्षेपं करोति । श्वेताश्वत-

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।

चशब्दोऽवधारणे । "किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणो मनसा पृच्छथेत एतद्यदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्नि"ति जगदुपादाननिमित्तादिप्रश्ने "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्नि"ति साक्षादुभयं निमित्तत्वमुपादानत्वं च ब्रह्मण आम्नायतेऽतस्तदेवोभयरूपम् ॥ २५ ॥

# सू० आत्मकृतेः परिणामात् ।

१ । ४ । २६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ब्रह्मैव निमित्तमुपादानं च । कुतः ? । "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यात्मकृतेः । ननु कर्त्तुः कुतः ? कृतिविषयत्वं परिणामात्सर्वज्ञं सर्वशक्तिब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमय्य, अव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति ॥ २६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

### आत्मकृतेः परिणामात् ।

ब्रह्मैव निमित्तमुपादानञ्च । कुतः ? । "आत्मकृतेः" "तदात्मानं स्वयमकुरुते"ति आत्मनः कर्मभूतस्य कृतिविषयस्य स्वयं कृतिमान्निर्दिश्यते, कृतिः करणमतोहेतोरित्यर्थः । ननु स्वस्य कृतिमतः स्वात्मैव कृतिविषयत्वेन कथं सङ्गच्छते । तत्राह, "परिणामात्" सर्वज्ञः सर्वशक्तिरच्युतस्वरूपः परमात्मा स्वात्मकस्वाधिष्ठितनिजशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणामयतीत्येवं भूतात्परिणामात्सर्वमनवद्यम् । "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणोनचान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युः । शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या ज्ञानगोचराः । शतशोब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः । भवन्ति तपतां श्रेष्ठ ! पावकस्य यथोष्णता" इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपादिता अनन्ताः स्वाभाविकयस्तस्य शक्तयः सन्ति । तासां सृष्टयादौ विक्षेपं करोति । श्वेताश्वत-

राणां मन्त्रवर्णोऽस्य सृष्ट्यादावन्यानिरपेक्षत्वं समानातिशयशून्यत्वं च प्रतिपादयति । "नचास्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इति सर्वशक्तिविक्षेपरूपपरिणामे च "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥ प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः । तद्वद्भूतानि भूतात्मा सृष्टानि ग्रसते पुनः" इत्यादिश्रुतिस्मृतयोमानम् ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इतश्चोभयरूपं ब्रह्म —

आत्मकृतेः परिणामात् ।

लोके हि कृतिमान्कर्त्ता कृतिविषयोमृदादिरुपादानमिति व्यवस्था । प्रकृते चात्मनः कृतिमत्त्वं कृतिविषयत्वं चोभयं श्रूयते । "तदात्मानं स्वयमकुरुते"ति आत्मानमिति द्वितीयया कृतिविषयत्वं स्वयमिति कृतिमत्त्वम् । एवञ्च ब्रह्मैव निमित्तमुपादानञ्च । कुतः ? । "आत्मकृतेः" आत्मसम्बन्धिनी कृतिरात्मकृतिः । सम्बन्धोविषयविषयिभावः, कृतिः करणं तस्मादित्यर्थः । तत्राव्याकृतरूपेण कर्त्तृत्वं व्यक्तनामरूपत्वेन च कर्मत्वं कार्यकारणयोस्तादात्म्यात् । नन्वात्मनः कर्त्तृत्वेन पूर्वसिद्धस्य कथं पुनः कृतिकर्मत्वमतआह । "परिणामादि"ति । परिणामो द्विविधः स्वरूपपरि-

रिणामः शक्तिविक्षेपलक्षणपरिणामश्च। तत्राद्यो ब्रह्मानभिष्ठितस्वतन्त्रप्रकृतिस्वरूपपरिणामवादोऽयं साङ्ख्यानां सिद्धान्तः। द्वितीयश्चौपनिषदानाम्। तथा च सर्वज्ञत्वसर्वाचिन्त्यानन्तशक्त्यादिनिलयः परब्रह्मभूतः श्रीपुरुषोत्तमः स्वात्मकस्वाभिष्ठितनिजशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणामयति। यथाऽप्रच्युतस्वरूपादिभ्यएवाकाशोर्णनाभ्यादिभ्यः शब्दवाद्योस्तन्त्वादेश्च जन्मादिकम्, यथा वाऽप्रच्युतस्वरूपान्मनसः कामक्रोधलोभमोहादीनां परस्परविलक्षणानां समुद्रादूर्मीणां चोद्भवनं प्रत्यक्षागमादिमानसिद्धं, तेषां तादृशापरिमितशक्तियोगादेव,एवमचिन्त्यानन्तस्वाभाविकशक्तियोगाद्ब्रह्मणोऽपि निर्विकारादप्रच्युतस्वरूपाज्जगज्जन्मादिकं बोध्यम्। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणोन चान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युरि"त्यादिश्रुतेः "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। शतशोब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याभावशक्तयः। भवन्ति तपतां श्रेष्ठ ! पावकस्य यथोष्णते"त्यादिस्मृतेः। नच शक्तिविक्षेपोपसंहारवादे किम्प्रमाणमिति वाच्यम्, "यथोर्णनाभिरि"त्याद्युपपत्तिसहकृतश्रुतेः "प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामासे"ति विक्षेपपर्यायक्षोभशब्दप्रयोगस्मृतेश्च मानत्वात्। किञ्च "प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः। तद्वद्भूतानि भूतात्मा सृष्टानि ग्रसते पुनरि"ति भारते दृष्टान्तोपपत्तिपूर्वकभीष्मवाक्याच्च, शक्तिविक्षेपरूपपरिणामानङ्गीकारे ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वनिरतिशयानन्दत्वादिकं विरुध्येत, अज्ञत्वासुखित्वकर्मवश्यत्वादिकं प्रसज्येत। विवर्त्तवादे च प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरसम्भवएव, सर्वस्य कार्यस्य भ्रान्तिमात्राङ्गीकारात्कस्य ज्ञानं स्यात्। किञ्च भ्रान्तिविषयकं ज्ञानं भ्रान्तिरूपमेव स्यात्, तथाच भ्रान्तजल्पितमेव श्रुतिवाक्यं स्यात्, बौद्धमतापत्तश्च। अपिच

यथा परिणामदृष्टान्तानां मृद्विज्ञानेन घटशरावादिकार्याणां सुवर्णज्ञानेन कटककुण्डलादीनां श्रुत्युपात्तानां ज्ञानसम्भवः, न तथा विवर्त्तदृष्टान्तानां शुक्तिरजतरज्जुसर्पादीनां श्रुत्युपात्तत्वं, शुक्तिज्ञानेन रजतजातस्य रज्जुज्ञानेन सर्पजातस्य वा ज्ञानं च दृष्टं, श्रुतमुपपन्नं वा, कार्यस्य सत्यत्वाङ्गीकारे चाद्वैतसिद्धान्तो-दत्ततिलाञ्जलिः स्यात् । तस्माद्विवर्त्तवादोहि श्रुतिप्रतिज्ञादृष्टान्त-विरुद्धत्वादुपेक्षणीयोविवेकिभिः ॥ २६ ॥

# सू० योनिश्च हि गीयते १।४।२७

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः कर्त्तार-मीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिमि"ति चेति योनिशब्देन ब्रह्म गीयते । अतोब्रह्मैवोपादानम् ॥ २७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

योनिश्च हि गीयते ।

हि यतः "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इति "कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिमि"ति च "एषयोनिः सर्वस्ये" ति चोपादानवाचकेन योनि-शब्देन ब्रह्म गीयते । अतोहेतोरुपादानं ब्रह्मैवे-त्यर्थः । तस्मात्साङ्ख्यपक्षोवेदविरुद्धत्वान्नादर्त्तव्यः ।

सर्ववेदैकवेद्योजगद्भिन्नाभिन्नः श्रीपुरुषोत्तमोभगवान्सर्वेश्वरः श्रीकृष्णएव जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन मुमुक्षुभिर्ध्येय इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

इति प्रकृतिरधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

योनिश्च हि गीयते ।

इतश्चोपादानमपि ब्रह्म, हि हेतौ, यस्मात्सर्वस्य कार्यस्य परमात्मा योनित्वेन गीयते । "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इति "कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिमि"ति च "एष योनिः सर्वस्ये"ति च योनिशब्दस्य चोपादाने शक्तिः सुप्रसिद्धा, "पृथिवीयोनिरौषधिवनस्पतीनामि"त्यादौ ॥ २७ ॥

इति प्रकृतिरधिकरणम् ॥ ७ ॥

## सू० एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः १।४।२८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एतेनाधिकरणसमुदायेन सर्वे वेदान्ता ब्रह्मपरत्वेन व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

# हरिःॐतत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अथेदानीं सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयमतिदेशेन भगवान् सूत्रकारोदर्शयति—

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ।

एतेन समन्वयप्रकारेण सर्वेउक्ता अनुक्ताः वेदान्ताः ब्रह्मपरत्वेन व्याख्याताः सन्तोवेदितव्याः । सर्ववेदसमन्वयोऽपि ब्रह्मण्येव वेदितव्यः । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"ति श्रुतेः "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति स्मृतेश्च । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिं द्योतयति । तस्माज्जगज्जन्मादिहेतुः सर्ववेदैकवेद्यः ब्रह्मनारायणादिशब्दाभिधेयः श्रीकृष्णोमुमुक्षुभिः श्रवणमननध्यानादिभिराराधनीय इति सिद्धम् ॥ २८ ॥ इति सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥ ८ ॥

# हरिः ॐ तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्य्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीद्द-श्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये वेदान्तकौस्तुभे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एतेन सर्वे व्याख्याताव्याख्याताः

एतेन समन्वयाध्यायोक्ताधिकरणसमुदायेन सर्वेऽप्युक्तानुक्तकारणप्रतिपादनपराः वेदान्ता व्याख्याताः भवन्तीति शेषः । पदाभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति । तस्मात्सर्वज्ञानशक्तिबलैश्वर्याद्यनन्तगुणादिनिलये निःशेषदोषगन्धाघ्रातसीम्नि परब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे वेदान्तानां समन्वय इति सिद्धम् । यदि सर्वज्ञानशक्त्याद्याश्रयः परब्रह्मभूतोमुकुन्दाख्योजगद्धेतुर्न स्यात्तर्हि प्रतिनियतदेशकालादिक्रियातत्फलादिसिद्धिर्न स्यात् । प्रतिनियतकालकोकिलाद्युत्पत्तिः, प्रतिनियतकालमम्बुदादिगर्जनादिः, प्रतिनियतब्राह्मणादिवर्णाश्रमक्रियादिः, प्रतिनियतस्वर्गादिसुखं, नरकादिदुःखञ्च, न स्यात् । किञ्च मनसाप्यतर्क्यरचनस्य जगतस्तत्रत्यैकदेशवृत्तिविविधनाडीजालादिसन्निवेशविशिष्टशरीरस्य चोत्पत्तिर्न स्यादित्यादिकाः शास्त्रैकमूलानुकूलतर्काश्चात्रानुसन्धेयाः ॥ २८ ॥

इति सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥ ८ ॥

गुणैकनिलयोदेवः सर्ववेदसमन्वितः ।
पायाच्छ्रीमन्मुकुन्दोनः श्रीनिम्बार्कपदाश्रितान् ॥ १ ॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाद्याचार्यश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-
श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण श्रीदश्रीकेशव-
काश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां वेदान्तकौस्तुभ-
प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ प्रथमाध्याय-
चतुर्थपादविवृत्तिः समाप्ता

## समाप्तश्चायं समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः ।

अस्य समन्वयाख्याध्यायस्य प्रथमे पादे सूत्राणि-
द्वात्रिंशत् - ३२
अधिकरणानि च - एकादश - ११
द्वितीये पादे सूत्राणि - त्रयस्त्रिंशत् - ३३
अधिकरणानि च - सप्त - ७
तृतीये पादे सूत्राणि - चतुश्चत्वारिंशत् - ४४
अधिकरणानि च - दश - १०
चतुर्थे पादे सूत्राणि - अष्टाविंशतिः - २८
अधिकरणानि च - अष्टौ - ८
सर्वाणि चैतदध्यायसूत्राणि - सप्तत्रिंशदुत्तरं शतम् - १३७
सर्वाण्यधिकरणानि च - षट्त्रिंशत् - ३६

॥ *इति* ॥

॥*ॐ श्रीमद्राधागोपालाभ्यां नमः*॥

ॐ मङ्गलमूर्त्तये श्रीमन्नियमानन्दाय नमः।

भाष्यत्रयोपेते।

# श्रीब्रह्मसूत्रे॥

द्वितीयाध्यायारम्भः।

## सू० स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग-इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गात् २।१।१॥

श्रीश्रीभगवन्निम्बार्कविरचितवेदान्तपारिजात-सौरभाख्य—वाक्यार्थः।

उक्तसमन्वयस्याविरोधप्रकारः प्रतिपाद्यते। ननु श्रुत्युपबृंहणाय स्मृत्यपेक्षा वर्त्तते, तत्र सांख्यस्मृतिर्ग्राह्या?। नचाचेतनकारणवादिनी साऽतो न ग्राह्येति वाच्यम्, स्मृत्यनवकाशदोष-

प्रसङ्गादिति चेन्न, अन्यस्मृतीनां वेदोक्तचेतन-कारणविषयाणां बाधप्रसङ्गादिति वाक्यार्थः ॥ १ ॥

## श्रीश्रीनिवासाचार्य–विरचित–वेदान्तकौस्तुभ-भाष्यम् ।

पूर्वस्मिन्नध्याये ब्रह्मसाक्षात्कारासाधारणकारणतद्ध्यानोपयोगितद्गुणस्वरूपादिप्रकाशकवेदान्तश्रवणमननाद्यभ्यासे मुमुक्षून्प्रवर्त्तयितुं सर्वभिन्नाभिन्ने स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषे कल्याणगुणगणैकनिलये जगत्कारणे ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे श्रुतिसमन्वयोदर्शितः। अथास्मिन् द्वितीयेऽध्याये विरोधः परिह्रियते । तत्र प्रथमे पादे परैः स्वसिद्धान्ते उद्भाविताः दोषा निराक्रियन्ते। द्वितीये पादे च परपक्षेषु युक्त्याभासमूलेषु स्वपक्षप्रवृत्तये दोषा उद्भाव्यन्ते। तृतीये पादे च वियदादिमहाभूतोत्पत्तिविधायकश्रुतीनामविरोधप्रकारः, सृष्टिसंहारक्रमो, जीवतत्त्वञ्च, निरूप्यते । चतुर्थे पादे तु जीवकरणप्रतिपादकश्रुतिविरोधः परिह्रियते । तत्रतावत्स्मृत्यविरोधोनिरूप्यते ।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष-
प्रसङ्गात्।

प्रमाणाधिकरणे जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽन्य-प्रमाणागोचरतया वेदैकप्रमाणकत्वमुक्तम्। समन्वयाधिकरणे च सर्ववेदसमन्वयोब्रह्मणि प्रतिपादितः। तथा च वेदार्थस्य वेदवित्प्रणीतस्मृतिं विना दुर्ज्ञेयत्वात्स्मृतिरप्यपेक्षिता। "श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते। एकेन विकलः काणोद्वाभ्यामन्धःप्रकीर्त्तितः" इति स्मृतिहीनस्य काणत्वं स्मर्य्यते। अतोवेदविशदीकरणाय साङ्ख्यादिस्मृतिर्गृहीतव्याऽहोस्विन्मन्वादिस्मृतिः? इति संशये, वेदोपबृंहणाय सांख्यादिस्मृतिर्ग्राह्या, वेदस्य सर्वस्यात्मज्ञाने परिसमाप्तत्वात्। आत्मज्ञानाभावे संगृहीता वेदवाणी निष्फलैव स्यादधेनुरिव। आत्मज्ञानोपदेशाय प्रवृत्ता स्मृतिः कुतः केन विजानता नादर्त्तव्या स्यात्?। मन्वादिस्मृतीनां तु ऐहिकामुष्मिकफलककर्मप्रतिपादकतया चरितार्थत्वात्। सर्वज्ञत्वं कपिलस्यामनन्ति श्वेताश्वतराः। "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येदि"ति। तस्मात्सर्वज्ञ-

प्रणीता स्मृतिरात्मतत्त्वप्रतिपत्तये ग्राह्या, तदनुसारेणैवात्मतत्त्वबोधकोवेदभागोनेयः, अतोन चेतननकारणवादोग्रहीतुं शक्यः, साङ्ख्यस्मृतेरचेतनकारणबोधकत्वात् । अन्यथा "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः" । वेदप्रसिद्धसर्वज्ञमुनिप्रणीताऽचेतनकारणवादिस्मृत्यनवकाशरूपदोषप्रसङ्गः स्यादितिचेन्न, एवं पूर्वपक्षोनैव युक्तइत्यर्थः । कुतः ? "अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्" तदन्यासां मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मैककारणत्वप्रतिपादकानां श्रुतिमूलकानामनवकाशत्वरूपदोषप्रङ्गात् । स्मृतिबलेन गर्जमानः प्रतिवादी स्मृतिबलेनैव निवारणीयः । तथाह भगवान्मनुः "महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः । सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥ अपएव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजदि"ति । आपस्तम्बश्च "पूः प्राणिनः सर्वगुहाशयस्य ह्यहन्यमानस्य विकल्मषस्य । तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स एव मूलं शाश्वतिकः स नित्यः" इति । भारते च राजधर्मे "योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण ! त्वमेवेदं सृजसि विश्वमग्रे । विश्वं चेदं त्वद्वशे विश्वयोने ! नमोऽस्तु ते

शार्ङ्गचक्रासिपाणे !" इत्यादि । मोक्षधर्मे "सह्य-न्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते । नारायणोजगन्मूर्त्तिरनन्तात्मा सनातनः ॥ तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम !"इति । तत्रैव "पितामह ! महाप्राज्ञ ! पुण्डरीकाक्षमच्युतम् । कर्त्तारमकृतं विष्णुं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ नारायणं हृषीकेशं गोविन्दमपराजितम् । तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ ! श्रोतुमिच्छामि केशवमि"ति प्रश्ने "महाभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः । वायुर्ज्योतिस्तथा चापः खञ्च गां चानुकल्पयदि"त्यादि, दानधर्मे शिवः "पितामहादपि वरः शाश्वतः पुरुषोहरिः । कृष्णोजाम्बुनदाभासोऽव्यभ्रे सूर्यइवोदितः ॥ श्रीवत्साङ्कोहृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः । ब्रह्मा तस्योदरभवस्तथाहं च ललाटजः ॥ शिरोरुहेभ्योज्योतींषि रोमभ्यश्च सुरासुराः । ऋषयोदेहसम्भूतास्तथालोकाश्च शाश्वताः । पितामहगृहं साक्षात्सर्वदेवगृहं च सः । सोऽस्याः पृथिव्याः कृत्स्नायाः स्रष्टा त्रिभुवनेश्वरः । संहर्त्ता सर्वभूतानां स्थावरस्य चरस्य च । सदेव रिपुजित्साक्षाद्देवनाथः परात्परः । सर्वज्ञः सर्वसंश्लिष्टः सर्वगः सर्वतोमुखः ।

परमात्मा हृषीकेशः सर्वव्यापिमहेश्वरः” इत्यादि । तत्रैव सर्वज्ञोदेवव्रतोऽप्याह । “अहं ह्येनं वेद्मि तत्त्वेन कृष्णमि”त्युपक्रम्य “सर्वं कृष्णः स्थावरं जङ्गमञ्च विश्वात्मानं विश्वमेतं प्रतीहि । यत्प्रशस्तं च लोकेषु पुण्यं यच्च शुभाशुभम् । तत्सर्वं केशवोऽचिन्त्योविपरीतमतः परम् । एतादृशः केशवोऽयं स्वयम्भूर्नारायणः परमश्चाव्ययश्च । मध्याद्यन्तोजगतस्तस्थुषश्च सर्वज्ञेयोभूतानां प्रभवश्चाव्ययश्चे”ति । सर्वस्मृतिकृदभिवन्दितपादयुगलवचनमपि “अहं सर्वस्य प्रभवोमत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे”ति ॥ पराशरश्च “विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव संस्थितम् । स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च स”इति । वेदान्तोपयोगित्वेन कापिलतन्त्रपरिग्रहे इत्यादिकानां बाधः स्यादित्यर्थः । ताश्च मन्वादिस्मृतयोवेदोक्तब्रह्मज्ञानसाधनीभूतधर्मप्रतिपादनेन, ब्रह्मगुणस्वरूपादिप्रतिपादनेन च, वेदवित्प्रणीततया चोपादेयाः । वेदे च चेतनं जगत्कारणं ब्रह्मैवोक्तम् । तद्विरुद्धत्वात्साङ्ख्यादिस्मृतिरग्राह्या । तथाह भगवा-

न्मनुः "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । ताः सर्वा निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" इति, वेदविरुद्धस्मृतिकर्त्ताऽपि कपिलनामकः कश्चित्कणादादिवन्मुनिरेव, न तु वासुदेवाख्यो भगवान् कपिलः । "कपिलो वासुदेवाख्यः साङ्ख्यं तत्त्वं जगाद ह । ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च । तथैवासुरये सर्ववेदार्थैरुपबृंहितम् । सर्ववेदविरुद्धं च कपिलोऽन्यो जगाद ह । साङ्ख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्कपरिबृंहिताम्" इति पाद्मात् । *श्रुतिप्रोक्तस्तु कपिलो हिरण्यगर्भो ज्ञेयः ॥ १ ॥

श्रीश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचितवेदान्त-
कौस्तुभप्रभा ।

एवं प्रथमाध्याये वेदानां निखिलदोषास्पृष्टमहात्म्यसीम्नि अचिन्त्यानन्तयावदात्मवृत्तिस्वाभाविकासङ्ख्येयसार्वज्ञ्यादिसद्गुणार्णवे ऽनन्ताचिन्त्यशक्तौ जगत्कारणे परब्रह्मणि श्रीवासुदेवे भगवति समन्वय उक्तः । इदानीमुक्तसमन्वयस्य साङ्ख्यादिस्मृतियुक्तिभिर्विरोधपरिहाराय प्रधानादिवादानां युक्त्याभासत्वदर्शनाय प्रतिवेदान्तं सृष्ट्यादिप्रक्रियायाएकविधत्वदर्शनाय च द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । तत्र प्रथमं तावत्स्मृत्यविरोधो निरूप्यते भगवता सूत्रकारेण —

---

*पुस्तकान्तरेऽधिकोदृश्यते एषः पाठः ।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गइति चेन्नान्य-
स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ।

पूर्वत्र ब्रह्मणोऽन्यप्रमाणागोचरतया वेदैकवेद्यत्वं निर्णीतम्, अतीन्द्रियत्वात् । "नेन्द्रियाणि नानुमानमि"तिश्रुतेः । एवं श्रुत्यर्थस्याप्तप्रणीततदुपबृंहणौपयिकस्मृतिं विना दुर्ज्ञेयत्वादल्पश्रुतानां मन्दमतीनां तन्निश्चयानुपपत्तेश्च स्मृतयोऽप्यवश्यमपेक्षिताः । तत्र च श्रुत्युपबृंहणाय साङ्ख्यादिस्मृतिर्ग्राह्या? मन्वादिस्मृतिर्वेति? विषये पूर्वपक्षमाह । "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गइतिचेदि"ति, मन्वादिस्मृतीनां स्वर्गाद्यभ्युदयफलकाग्निहोत्रज्योतिष्टोमादिनित्यनैमित्तिकादिधर्मप्रतिपादने सावकाशतया कृतार्थत्वात् "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं च पश्येदि"ति, शास्त्रसंस्तुत्यमहर्षिप्रणीतायाः "अथत्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः । १ । १ । न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्, १ । २ । विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य २।१। अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य३।५६। इत्यादिसाङ्ख्यस्मृतेः केवलपरतत्त्वप्रतिपादनपरत्वात्तदनुसारेणैववेदान्तशास्त्रमपि व्याख्येयम् । अन्यथा तस्याअन्यत्र निरवकाशतया बाधरूपदोषापत्तेः "सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलीय"इति न्यायादित्येवं प्राप्ते राद्धान्तः । "नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादि"ति, नेति पूर्वपक्षनिषेधपरः । पूर्वपक्षोक्तिर्न युक्ता, कुतः? अन्यासां मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मैककारणत्वप्रतिपादकानां श्रुतिमूलकानामनवकाशत्वरूपदोषापत्तेर्बाधप्रसङ्गात् । तथा चाह भगवान्मनुः "महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः । सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अपएव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजदि"ति । आपस्तम्बश्च "पूः "प्राणिनः सर्वगुहाशयस्य ह्यहन्यमानस्य विकल्मषस्य । तस्मात्कायाः

प्रभवन्ति सर्वे समूलं शाश्वतिकः स नित्यः" इत्यादि, भारते च, "नारायणोजगन्मूर्त्तिरनन्तात्मा सनातनः । तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम !" तत्रैव राजधर्मे युधिष्ठिरः, "योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण ! त्वमेवेदं सृजसि विश्वमग्रे । विश्वं चेदं त्वद्वशे विश्वयोने ! नमोस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे !" इत्यादि, भगवद्गीतायाञ्च "अहं सर्वस्य प्रभवोमत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" । पराशरश्च, "विष्णोः शकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव संस्थितम् । स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च स" इति । एतासां बाधः स्यादित्यर्थः । ननु तासां धर्मप्रतिपादनेन नैराकांक्ष्यमिति चेन्न, शास्त्रप्रतिपाद्यश्रीपुरुषोत्तमज्ञानसाधनीभूतधर्ममात्रप्रतिपादनेऽपि धर्मसाध्यज्ञानविषयब्रह्मप्रतिपादनभागे बाध्यमाने दोषतादवस्थ्यात् । नच कपिलस्मृतिबाधोऽप्ययोग्यः स्मृतित्वाविशेषादितिवाच्यं, श्रुतिविरुद्धायास्तस्याअप्रामाण्यस्येष्टत्वात् । तथा सूत्रितं भगवता जैमिनिना, "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानमि"ति । अस्यार्थः श्रुतिस्मृतीनां परस्परविरोधे कस्याबाधइति निर्णयार्थमिदमधिकरणम् । तत्र "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेदि"ति श्रुतिः "औदुम्बरीं सर्व्वेष्टयितव्ये"ति स्मृतिः । यदि स्पर्शाङ्गीकारस्तदा स्मृतिबाधः । यदि सर्ववेष्टनं तदा श्रुतिबाधइति प्राप्ते राद्धान्तः । विरोधइत्यादि, स्मृतीनां श्रुतिविरोधे सति श्रुतीनामनपेक्षं निरपेक्षतया प्रामाण्यं स्यात् । स्मृतिविरोधोऽत्र न विचारणीयइत्यर्थः । श्रुत्यविरोधे तु अनुमीयते श्रुत्यर्थोयेन तदनुमानं स्मृतिरपि प्रमाणं, न तु श्रुतिविरोधे, श्रुतीनां निरपेक्षतयास्वार्थे प्रामाण्यं स्वतएव रवेरिव रूपविषये । स्मृतीनां तु तन्मूलत्वाच्छ्रुतिसापेक्षत्वात्तदविरोधे सत्येवेत्यर्थः । किञ्च "यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्भेषजमि"ति श्लाघ्यस्य भगवतोमनोरपि

निर्णयरूपं वचनम्, "या वेदबाह्याः स्मृतयोयाश्च काश्च कुदृष्टयः। ताः सर्वानिष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठाहिताः स्मृताः"इति, तस्माद्वेदविरुद्धानां साङ्ख्यादिस्मृतीनां बाधेन दोषावहः। औपनिषदानां श्रुतिस्थकपिलशब्देन च हिरण्यगर्भोग्राह्यः, कनककपिलवर्णत्वात्। "योब्रह्माणं विदधाति पूर्वं योवा वेदांश्च प्राहिणोति तस्मै, हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानमि"त्यनेन सामानार्थकत्वाच्च। श्रुतिविरुद्धस्मृतिप्रवर्त्तकस्त्वग्निवंशजोजीवविशेषएव, न कर्दमात्मजः। "कपिलोवासुदेवाख्यः साङ्ख्यं तत्त्वं जगाद ह। ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्योभृग्वादिभ्यस्तथैव च। तथैवासुरये सर्ववेदार्थैरुपबृंहितम्। सर्ववेदविरुद्धं च कपिलोऽन्योजगाद ह। साङ्ख्यमासुरये ऽन्यस्मै कुतर्कपरिबृंहितमि"ति पाद्मात्। "कपिलं परमर्षिं च यमाहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलोनाम साङ्ख्ययोगप्रवर्तकः" इति वनपर्वण्यग्निवंशवर्णने मार्कण्डेयवाक्याच्च ॥ १ ॥

# सू० इतरेषां चानुपलब्धेः २।१।२

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

इतरेषां मन्वादीनां वेदस्य प्रधानपरत्वानुपलब्धेश्च वेदविरुद्धस्मृतेरप्रामाण्यम् ॥ २ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

कपिलापेक्षयेतरेषां वेदविदुत्तमानां मन्वादीनां वेदस्य च प्रधानपरत्वानुपलब्धेः सांख्यस्मृति-

नोदर्त्तव्या, वेदविरुद्धस्मृतित्यागोनोक्तसमन्वये विरुद्ध्यते इति सिद्धम् ॥ २ ॥

इति स्मृत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

वेदविरुद्धसाङ्ख्यादिस्मृतिबाधेन दोषावहइत्यत्र हेतुमाह —

इतरेषां चानुपलब्धेः।

इतरेषां मन्वादीनां वेदविदग्रेसराणां स्वयोगमहिम्नातीन्द्रियार्थसाक्षात्कारसमर्थानां वेदस्य प्रधानपरत्वानुपलब्धेश्च साङ्ख्यस्मृतिर्नादर्त्तव्या ॥ २ ॥ इति स्मृत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

## सू० एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥

॥ २।१।३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

साङ्ख्यस्मृतिनिरासेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याताऽस्ति ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

इदानीं योगस्मृतेरप्रामाण्यमाह।—

एतेन योगः प्रत्युक्तः।

अतिदेशरूपमिदं सूत्रम्। अपरिज्ञातसादृश्ये

साद्दश्यज्ञापनमतिदेशः । "तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणामि" त्यादिश्रुतिगृहीतयोगशब्दग्रहणाद्योगस्मृतेर्वेदविशदीकरणत्वप्रतीत्या सांख्यस्मृतिसाद्दश्यमपरिज्ञातं तदिदं सूत्रं सांख्यस्मृतिसाद्दश्यं योगस्मृतेः ज्ञापयाति । एतेनाचेतनकारणप्रतिपादकसांख्यस्मृतिनिरासेनैवयोगस्मृतिः प्रत्युक्ता वेदितव्या "योगः प्रत्युक्तः" इति, योगशब्देन तत्प्रतिपादकस्मृतिर्गृह्यते। योगस्मृतिः प्रत्युक्तेति वक्तव्ये योगइति पदोपन्यासेऽयमभिप्रायः। यद्यपि योगशास्त्रे ईश्वरः स्वीकृतस्तथापि प्राधान्येन "अथातोब्रह्मजिज्ञासा, आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः" इतिवन्न प्रतिपादितः । "अथ योगानुशासनमि" त्युपक्रमे "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध" इति तल्लक्षणसूत्रादौ योगस्यैव प्राधान्यं गम्यते। स चेश्वरसम्बन्धवर्जितः केवलचित्तवृत्तिनिरोधमात्रः सिन्धुतरणे श्वलाङ्गूलवज्जगत्तरणेऽकिञ्चित्करएव । "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्यः, ब्रह्मविदाप्नोति परं, ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति, बन्धकोभवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणोहरिः" इत्यादिश्रुति-

स्मृतिविरुद्धत्वेनोपेक्षणीय इति । केवलचित्तवृत्ति-निरोधमात्रेण मुक्त्यसम्भवात् तत्प्राधान्यविषयं योगशास्त्रमनुपादेयमेव । प्रधानं ब्रह्मसम्बन्ध-हीनमुपादानं निमित्तमात्रमीश्वरोजगत्कारण-मिति तन्मतं, तदप्ययुक्तमेव, वेदविरुद्धत्वात् । अन्येऽपि योगशास्त्रे बहवोदोषाः सन्ति । निष्प्र-योजनत्वादिह नोदाहृताः । श्रुतिस्मृतिगतयोग-शब्दश्च परमात्मध्यानादिविषयः । मोक्षधर्मादिषु सांख्ययोगयोः प्रशंसावचनं त्वविरुद्धांशाभिप्रा-यम् । तस्मात्प्रकृतसमन्वयस्य ब्रह्मकारणत्व-बोधकस्य योगस्मृत्या न विरोधइति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् । २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एतेनैव योगस्मृतिरपि प्रत्युक्तेत्याह —

एतेन योगः प्रत्युक्तः ।

अतिदेशरूपमिदं सूत्रम् । तत्त्वं नाम असादृश्यशङ्कायां सादृश्यप्रतिपादनं, केयमसादृश्यशङ्केति, "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्ये"ति श्वेताश्वतरोपनिषदि "तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणामि"ति, काठके च "योगः परमश्रेयोऽसाधारणहेतुज्ञानस्य साधनतयाशिष्टैर्गृहीतः" तत्परमिदं योगशास्त्रं तत्र ध्येयोऽपि श्रीपुरुषोत्तमइति साङ्ख्य-

स्मृतेरसादृश्याद्वेदान्तोपयोगित्वात्तेन वेदान्तोपबृंहणं युक्तमिति मन्दानां शङ्का मा भूदिति साङ्ख्यस्मृतेः सादृश्यं दर्शयन्समाधत्ते एतेनेति। एतेन साङ्ख्यस्मृतिनिरासेन योगस्मृतिरपि निरस्ता बोध्या । समानं साङ्ख्यानामिवात्रापि परमेश्वरानधिष्ठितस्य प्रधानस्य स्वातन्त्र्येणोपादानत्वप्रतिपादनात्, परमेश्वरस्य निमित्तमात्रत्वाङ्गीकाराच्च। ध्यातुश्चेतनस्याचेतनवर्गस्य च ब्रह्मतादात्म्यानभ्युपगमाच्च। "अथ योगानुशासनमि" त्यादियोगस्मृतेरपि वेदान्तविरोधस्तुल्यएव । अतोनानया वेदान्तोपबृंहणं युक्तम्। किन्तु तत्रस्थविरुद्धांशस्य निरासएव श्रेयानिति । एवं च सति "त्रिरुन्नतमि"त्यादौ योगाङ्गत्वेन पदासनाद्यभिधीयते । यच्च तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यमि"ति श्रुतौ साङ्ख्ययोगशब्दाभ्यां ज्ञानं निष्कामकर्म च तत् खलु तदन्यद्वैदिकमेव । तस्मादुक्तलक्षणं ब्रह्मैव जगत्कारणमिति ॥ ३ ॥

इति योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥

# सू० न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥२।१।४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

तर्कबलेन प्रत्यवतिष्ठते। जगतोन चेतनप्रकृतिकत्वं विलक्षणत्वात्। विलक्षणत्वञ्च "विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्चाभवदि " त्यादिशब्दादप्यस्यावगन्तव्यम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

एवमधिकरणाभ्यां स्मृतिविरोधोनिराकृतः इदानीं तर्कविरोधः परिह्रियते —

न* विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्।

"जन्माद्यस्य यतः"इत्यादिना ऽस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वमुक्तम्। तत्र तर्कबलेनाक्षिपति। नेति, नास्य जगतोब्रह्मप्रकृतिकत्वम्। कुतः? "विलक्षणत्वात्"। ब्रह्मचेतनत्वाऽस्थूलत्वानन्तत्वशुद्धत्वादिगुणकम्। ततोऽस्याचेतनत्वस्थूलत्वादिना विसदृशत्वात्। यद्यस्माद्विलक्षणं तन्न तत्प्रकृतिकम्। यथाऽऽकाशविलक्षणोघटोनाकाशप्रकृतिकः, कुलालविलक्षणं घटशरावादिकं न कुलालप्रकृतिकम्। ननु प्रकृतिधर्मानुवृत्तिर्विकारे दृश्यते,‡एवं प्रकृतेऽपि ब्रह्मोपादानकारणं मनुष्यपश्वाद्याकारश्चेतनरूपस्तद्विकारः संसारस्तत्सदृशोभवेदतोऽसिद्धहेतुरिति चेन्न, कार्ये पाषाणकाष्ठादावचेतनत्वस्थूलत्वादेः प्रत्यक्षप्रमाणगोचरत्वात्। ननु तत्रापि

---

*द्वौ सूत्रौ पूर्वपक्षे।

‡ तत्र ब्रह्मोपादानकोऽस्ति मनुष्यपश्वाद्याकारः इत्यपि पाठः।

चेतनत्वमनभिव्यक्तं कल्पयितुं शक्यमतोन विलक्षणत्वमिति चेन्न, प्रत्यक्षावगतस्यार्थस्य कल्पनयाऽन्यथात्वायोगात् । विलक्षणत्वं शब्दादपीत्याह । तथात्वमिति । तथात्वं च विलक्षणत्वं च शब्दादपि "विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्, समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोनीशया शोचति मुह्यमानः । अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावादि"त्यादिशब्दात् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु ब्रह्मकारणवादेऽप्यसम्भवस्तुल्यएव विप्रतिपत्तिबाहुल्यात् । तथा हि उपादेयभूतस्य विकारस्योपादानगतधर्मानुविधायित्वनियमोनिर्विवादः । दृष्टश्चायं सुवर्णादिविकृतौ कुण्डलादौ । प्रकृते तु कारणस्य ब्रह्मणश्चेतनत्वशुद्धत्वसर्वज्ञत्वादिधर्मस्याचेतनत्वाशुद्धत्वाद्यवच्छिन्ने कार्येऽनुवृत्त्यदर्शनादन्यथा कार्यस्यापि चैतन्यसाम्येन भोक्तृत्वभोग्यत्वविभागासिद्धेः । आकाशादिकार्यं न चेतनोपादेयमत्यन्तवैलक्षण्यात्, अग्निजलवत्, गोऽश्ववच्चेति प्रयोगात् । किञ्च न केवलं प्रत्यक्षादिभिरेव वैलक्षण्यं जगदुपलभ्यते । अपि तु शब्दादपि तथात्वं विलक्षणत्वमवगम्यते "विज्ञानं चाविज्ञानं च, समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोनीशया शोचति मुह्यमानः अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावादि"त्यादेरित्याह —

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्
अस्य कार्यस्य जगतोब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगद्ब्रह्मकार्यं भवितुमर्हति, अपि तु तत्सदृशस्याचेतनस्य प्रधानस्यैवकार्यं भवितुमर्हति । शेषं तूक्तार्थम् ॥ ४ ॥

## सू० अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥२।१।५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"पृथिव्यऽब्रवीत्ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमानाब्रह्म जग्मुः"इत्यादौ तु तदभिमानिनीनां देवतानां व्यपदेशः "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता"इति विशेषणात् । "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदि"त्याद्यनुगतेश्च ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "तं पृथिव्यब्रवीन्मृदब्रवीदापोऽब्रुवन् ते हेमे प्राणाअहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः, ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय"इत्यादिश्रुतिभिरुपादेयस्यापि चेतनत्वावगमान्नोपादानाद्विलक्षणत्वमित्यत्रोच्यते —

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।

तुशब्दउक्तशङ्कानिराकरणपरः । नोपादेयस्य चेतनत्वव्यपदेशोयेन ब्रह्मप्रकृतिकत्वं तस्य स्यात् । किन्तु पृथिव्याद्यभिमानिनीनां देवतानां "तं पृथिव्यब्रवीदि"त्यादिव्यपदेशोऽस्ति। कस्मात्? "विशेषानुगतिभ्याम्" । "हन्ता हमिमास्तिस्रोदेवता" इति पृथिव्यादेर्देवताशब्देन विशेषणात्, एताह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमाना"इति "ता वा एता देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वे"ति चेन्द्रियाणां देवताशब्देन विशेषणात् । "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् आदित्यश्चक्षुर्भुत्वाक्षिणी"त्यादिषु वागाद्यभिमानित्वेनाग्न्यादीनामनुगतेश्च अनुगतिश्रवणाच्च । तस्माद्ब्रह्मविलक्षणत्वादस्य न ब्रह्मप्रकृतिकत्वमिति पूर्वपक्षे ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वचेतनत्वाभिमतानामपि भूतेन्द्रियाणां क्वचिच्चेतनत्वं श्रूयते । "यथा तं पृथिव्यब्रवीन्मृदब्रवीत्, आपोवा अकामयन्त आपोऽब्रुवन्, तत्तेजऐक्षत, ताआपऐक्षन्ते"ति "ते हेमे प्राणाअहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः, ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाये-ती"ति चेत्तत्राह —

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।

तु शब्दः शङ्कानिरासार्थः । श्रुत्या पृथिव्यादिशब्दैस्तदभिमानिन्यश्चेतना देवतास्तत्र तत्र व्यपदिश्यन्ते । कुतः? "विशेषानुगतिभ्याम्" "हन्ता हमिमास्तिस्रोदेवता" इति पृथिव्यादेर्देवताशब्देन विशेषणात् । "एता ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमाना" इति "तावा एतादेवताः प्राणोनिःश्रेयसं विदित्वा" इति च कौषीतकिभिरिन्द्रियाणां देवताशब्देन विशिष्याभिधानाच्च । तथा "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी" त्यादिषु वागाद्यभिमानित्वेनाग्न्यादीनामनुप्रवेशश्रवणात् चेत्यतोनाचेतनस्य विश्वस्य चेतनं विलक्षणं ब्रह्मकारणम् । अपि तु जगत्प्रब्रह्मोपादानकं तद्विलक्षणत्वात् । यद्यद्विलक्षणं तन्न तदुपादानकं, यथामृद्विलक्षणारुचकादयः । जगत्प्रधानोपादानकमचेतनत्वादिधर्मवत्त्वेन तत्साहश्यात् । यदेवं, तदेवं, मृद्विकारघटादिवत् । जगद्यदि प्रधानोपादेयं न स्यात्तर्ह्यचेतनत्वादिधर्मवत्त्वपि नस्यादित्यादितर्कसहकृतस्मृत्यनुरोधेन जगतः प्रधानोपानकत्वं वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीति ॥ ५ ॥

## सू० दृश्यते तु २।१।६॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्रोच्यते पुरुषाद्विलक्षणस्य केशादेर्गोमयाद्विलक्षणस्य वृश्चिकस्योत्पत्तिर्दृश्यते ऽतोब्रह्मविलक्षणत्वाज्जगतोन तत्प्रकृतिकत्वमिति न वक्तव्यम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

हेतोर्व्यभिचारोऽस्तीत्याह —

दृश्यते तु ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । यदुक्तं नास्य जगतोब्रह्मप्रकृतिकत्वं तद्विलक्षणत्वादिति, तन्न, यतः पुरुषाद्विलक्षणानां नखलोमादीनां* गोमयाद्वृश्चिकस्य विलक्षणस्योत्पत्तिर्दृश्यते तस्मादित्यर्थः ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं प्राप्ते, राद्धान्तः —

दृश्यते तु ।

तुः शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । यदुक्तं जगच्चेतनोपादेयमत्यन्तवैलक्षण्यादित्यादि, तदयुक्तमाभासमात्रत्वात् । तथा हि यत्र यत्रोपादानोपादेयभावस्तत्र तत्र सादृश्यमिति व्याप्तिर्न तावन्नियता, यतस्तथात्वं स्यात् । दृश्यते हि विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावः । यथा भुक्तादन्नात्केशनखादिरूपस्य विलक्षणस्य, गोमयाच्च वृश्चिकस्य, मक्षिकादिभ्यः कृम्यादेर्द्रव्याद्गुणादेः, शृङ्गाच्छरस्य, दावाग्निदग्धकदलीकाण्डाद्वंशाङ्कुरस्य, श्वमस्तकोप्तगोधूमयावनालादेः पलाण्डुलशुनाङ्कुरस्य कार्यस्योत्पत्तेरुपलम्भात् । किञ्च कार्यकारणभावे सर्वथा सादृश्यं विव-

*आदिना महिषशृङ्गादिषिकोत्पत्तिः, मक्षिकोत्सर्गात्पौत्तिनाख्यस्योत्पत्तिः ।

त्वितं? किञ्चित्साहश्यं ? वा, नाद्यः । कार्यकारणभावस्यैवासिद्धेः । अन्यथा केशनखादावन्नादेर्वृश्चिकादौ च गोमयस्य साहश्यप्रत्ययापत्तेः । द्वितीये, त्विष्टापत्तिः सत्तादेर्ब्रह्मधर्मस्याकाशादावपि सत्त्वात् । आकाशोऽस्तीति प्रत्यक्षप्रतीतेः आकाशादिप्रपञ्चजातं ब्रह्मोपादेयं सत्तादिधर्मवत्त्वात् । यन्नैवं तन्नैवमग्निसेचनयोरिवेत्यनुमानात्सत्प्रतिपक्षत्वं च बोध्यम् "आत्मनआकाशः सम्भूतः" इत्यादिश्रुतेश्च ॥ ६ ॥

# सू० असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् २।१।७॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ननूपादानादुपादेयस्य विलक्षणत्वे उत्पत्तेः पूर्वं तदसद्भवितुमर्हतीति, नैष दोषः पूर्वसूत्रे प्रकृतिविकारयोः सर्वथा साहश्यनियमस्य प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।

ननु "न विलक्षणत्वादस्य" इत्यनेन प्रकृतिविकारयोरत्यन्तसाहश्यमङ्गीकृत्य, ब्रह्मविलक्षण

त्वादस्य तत्प्रकृतिकत्वं दूषितम्। पुनस्तत्समाधानाय "दृश्यते तु"इत्यनेन विलक्षणयोरपि प्रकृतिविकृतिभावः प्रतिपादितः। तत्र हि सृष्टेः पूर्वं जगत्कारणादविलक्षणमुत?विलक्षणम्? किमात्मकं भवदभिमतम् ?। अविलक्षणमिति चेत् ? तत्र पुरुषादेः केशलोमादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिवद्विलक्षणस्य जगतउत्पत्तिर्यथा स्वीक्रियते, तथा सुवर्णादेः कटकादीनामिव सदृशस्य जगतः उत्पत्तिः कुतो८ न स्यात् ? विलक्षणमिति चेत् ? ब्रह्मविलक्षणप्रकृतिकत्व×मस्य भवेत् ? अतःप्रधानं जगतकारणमस्तु । निरस्तत्वात्तन्नाङ्गीक्रियते इति चेत् ? तदा "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, एकोह वै नारायणआसीत्, विष्णुस्तदासीद्धरिरेव निष्कलः" इत्येकतत्त्वश्रवणादन्याभावादसः‡त्स्यात्, इति चेन्न, कुतः ? "प्रतिषेधमात्रत्वात्" । "दृश्यते तु" इत्यत्र उपादानादुपादेयवैलक्षण्य-

८ सदृशयोः कार्यकारणभावोहि युक्तइति भावः।

× विलक्षणयोः कार्यकारणभावो न युक्तइति भावः।

‡ पूर्वं जगन्नासीदिति भावः।

कथनद्वारा पराभिमतस्योपादानोपादेययोः सर्वथा सादृश्यनियमस्य प्रतिषेधमात्रं क्रियते, न तु सर्वथा तद्वैलक्षण्यं*साध्यते ।' अतोब्रह्मात्मकत्वात्कारणावस्थायामपि जगत्सद्भावोऽस्त्येव । "जगद्‌ꝏसदि"ति वचनं च प्रतिषेधमात्रमर्थशून्यं तस्य भावरतत्वं तस्माच्च "सदेव सौम्य ! इदमग्र-आसीदि"ति श्रुतेः ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु यदि विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावस्तर्हि द्रव्यान्तरत्वेनोपादाने ब्रह्मणि उत्पत्तेः पूर्वमुपादेयं जगदसदिति प्रसज्जेत । असतएवोत्पत्तिः स्यादित्यसत्कार्यवादस्त्वयाङ्गीकृतः स्यादिति चेत्तत्राह,—

असदिति चेन्न, प्रतिषेधमात्रत्वात् ।

कारणात्कार्य्यस्य विलक्षणत्वे उत्पत्तेः पूर्वमेकत्वावधारणात्कारणे कार्य्यं न विद्यते इति चेन्नैष दोषः । कुतः ? प्रतीतिकार्यकारणयोः सर्वथा सादृश्यनियमस्य प्रतिषेधमात्रत्वात् । पूर्वसूत्रे हि कार्यकारणयोः सर्वथा सादृश्यनियमाभावोऽभिहितः । नतु कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वमपि कारण-

---

* सृष्टेः प्राक् सूक्ष्मरूपेण कारणाविलक्षणमासीत्, स्थूलरूपेण कार्यावस्थायां दृश्यते इति भावः ।

ꝏ हेतुं प्रकारान्तरेण विवृणोति जगदित्यादिना ।

द्रव्यमेव स्वाविलक्षणकार्य्याकारेण परिणमते इत्यङ्गीकृतत्वात् । कार्य्यं यथा सत्तथा "तदनन्यत्वमि"ति सूत्रव्याख्याने वक्ष्यामः ॥ ७ ॥

## सू० अपीतौ तद्वत्प्रसंगादसमञ्ज-सम् ॥ २।१।८ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आक्षेपः —

प्रलयसमये कार्य्यवत्कारणस्याप्यचेतनत्वादि-प्राप्तिप्रसङ्गाज्जगदुपादानं ब्रह्मेत्यसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

पुनरप्याक्षेपः —

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ।

ननु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अपहत-पाप्मा, विजरोविमृत्युः, यः सर्वज्ञः सर्ववित्"-इत्यादिश्रुतिनिर्णीतं चेतनत्वानन्तत्वापहतपाप्म-त्वादिधर्म्मकं ब्रह्म जगदुपादानमित्यभ्युपगम्यते यदत्तसमञ्जसम् । कस्मात् ? "अपीतौ तद्वत्प्रस-ङ्गात्" अपीतौ प्रलये तद्वत् उपादेयवदुपादान-

स्यापि अचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्धत्वादिप्राप्ति-प्रसङ्गात् । प्रलयवेलायाम् अचेतनत्वादिमज्जगत्सृष्टिप्रतिलोमक्रमेणोपादाने चेतनत्वादिगुणके ब्रह्मणि लीयमानं तक्रं दुग्धे पतितं दुग्धमिव स्वधर्मैर्ब्रह्म दूषयेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

ननु स्यादेतन्मृद्घटयोरिव सुवर्णकुण्डलयोरिव च कार्य-कारणयोर्द्रव्यैक्यम्। तथाऽपि कार्यस्य जगतउपादाने ब्रह्मणि प्रलयवेलायां सत्त्वात् कार्यगताः सर्वेपि धर्माअचेतनत्वपरिच्छि-न्नत्वाशुद्धत्वाज्ञत्वकर्मवश्यत्वादयोब्रह्मण्येव प्रसज्येरन्। तदा तेन तस्याभेदात्। तथा सति"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अपहतपाप्मा, विजरोविमृत्युः, यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्याद्युपनिषद्वाक्यानाम-सामञ्जस्यं स्यादिति पुनराक्षिपति —

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्।

जगतोब्रह्मोपादानकत्वे अपीतौ प्रलये तद्वत्कार्यस्येव ब्रह्मणो ऽप्यचेतनत्वादिप्राप्तेः प्रसङ्गादसमञ्जसं वेदान्तवाक्यम्। "अपीतौ" इति सृष्ट्यादिप्रदर्शनार्थः ॥ ८ ॥

# सू० न तु दृष्टान्तभावात् २।१।९

वेदान्तपारिजातसौरभः।

समाधानम् । तद्वत्प्रसङ्गोनैवाऽस्ति । यथा

पृथिवीविकारस्तस्यां विलीयमानस्तां न दूषयति, तथा ब्रह्मविकारः संसारः ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

परिहरति —

न तु दृष्टान्तभावात् ।

तद्वत्प्रसङ्गोनतु नास्त्येव । यतोऽसमञ्जसं भवेत् । कुतः ? "दृष्टान्तभावात्" । विकारः उपादाने लीयमानः स्वधर्मैरुपादानं न दूषयतीत्यस्मिन्नर्थे दृष्टान्तानां सत्त्वात् । यथा कटककुण्डलादयोविकारा अपीतिं गच्छन्तः स्वधर्मैः सुवर्णपिण्डं न दूषयन्ति । यथा च पृथिवीविकाराः पृथिव्यां लीयमानाः स्वधर्मैः पृथिवीं न दूषयन्ति, तथा चेतनाचेतनात्मकमिदम् जगत् चिदचिच्छक्तिमति ब्रह्मणि लीयमानं चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्म नैव दूषयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तत्पूर्वकत्वात्सृष्ट्यादेः उत्पत्तावपि ब्रह्मणस्तद्धर्मापत्तिरित्यत्रोत्तरमाह —

न तु दृष्टान्तभावात् ।

तुशब्दः प्रसक्तस्यासम्भाव्यत्वद्योतकः । नैव तद्वत्प्रसङ्गः । कुतः?

एकस्यैव कार्यकारणावस्थाद्वयान्वयेऽपि कारणस्य शुद्धतयावस्थितौ दृष्टान्तस्य भावाद्विद्यमानत्वात् । यथा एक एव सुवर्णपिण्डकार्यावस्थायां स्वपरिणामभूतकटककुण्डलाद्यात्मनावस्थितः, पुनस्तेषां शक्त्यात्मना स्वस्मिन्नप्यये च न तद्धर्मैः स्वयं संस्पृश्यते । शक्तिधर्माणां शक्तिगतत्वनियमात् । यथा वा मृत्पिण्डः स्वपरिणतघटादिधर्मैः, यथा च पृथ्वी स्वविकारचतुर्विधभूतग्रामधर्मैर्न संस्पृश्यते, एवं ब्रह्मापि कार्यावस्थायां व्यक्तनामरूपचिदचिदात्मकजगदाकारेण स्थितमपि न तद्धर्मैः संस्पृश्यते । अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्तया, निरतिशयानन्दैकस्वभावतया च, तद्विलक्षणत्वात् । पुनस्तस्मिंस्तस्याप्यये च ब्रह्मशक्तिधर्माः परिच्छिन्नत्वाज्ञत्वकर्मवश्यत्वादयोब्रह्मशक्तिभूतचिदचिद्वस्तुगता--एव स्युरिति नासङ्गे शुद्धे ब्रह्मणि तेषां प्रसङ्ग इत्यतोन किञ्चिदसमञ्जसम् ॥ ९ ॥

## सू० स्वपक्षे दोषाच्च ॥२।१।१०॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वेदविरुद्धवादी सांख्योवक्तुमक्षमस्तत्पक्षेऽप्युक्तदोषयोगात् ॥ १० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अस्मदीये वेदैकमूले पक्षे सामञ्जस्यमितोऽपि सांख्योवक्तुं न क्षमइत्याह —

स्वपक्षे दोषाच्च ।

न श्रुतिमूलस्यास्मत्पक्षस्यासामञ्जस्यम्, वेदान्तसिद्धान्तानभिज्ञेन साङ्ख्येन कार्य्यकारणयोर्विलक्षणत्वादुपादानोपादेयभावानुपपत्तिरुक्ता । सृष्टेः पूर्वं कार्य्यस्यासत्त्वप्रसङ्गउक्तः । प्रलयवेलायां तद्वत्प्रसङ्गश्चोक्तः । एतेषां सांख्यपक्षेऽपि तुल्यत्वात् । नीरूपान्निरवयवात्प्रधानात् रूपादिमतः सावयवस्य कार्यस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् कार्य्यकारणयोर्विलक्षणत्वादुपादानोपादेयभावानुपपत्तिः । सृष्टेः प्राक् स्थूलपदाभावात्कार्यस्य तदानीमसत्त्वप्रसङ्गः । अपीतौ प्रकृतेर्जगत्वत्स्थूलत्वप्रसङ्गइत्यर्थः ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

किञ्च त्वत्सम्भावितदोषास्त्वदभिमते प्रधानकारणवादेऽपि समानाइत्याह —

स्वपक्षे दोषाच्च ।

तथाहि त्रिगुणमचेतनं निरवयवं प्रधानं तत्कार्याकारेण परिणमते इति भवतोराद्धान्तः । तत्र निरवयवान्नीरूपात्प्रधानात्सावयवस्य रूपादिमतः कार्यस्योत्पत्तेरसम्भवे विशेषाभावात् । "यत्रोभयोः समोदोषः परिहारोऽपि वा समः । नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे" इति न्यायात् । इतरथा सर्वस्यापि कार्यमात्रस्य निरवयवत्वं नीरूपत्वं च स्यात् । तथात्वे

च कार्यप्रत्यक्षं न स्यात्, नामरूपादिना विभक्तं कार्यं च नोपलभ्येतेति संक्षेपः ॥ १० ॥

## सू० तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः । २ । १ । ११ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तर्कानवस्थानाच्चोक्तसिद्धांतस्य नासामञ्जस्यम् । दृढतर्केणवेदाविरुद्धे प्रधानादिके जगत्कारणेऽनुमिते तु तादृशेन तर्केण सत्प्रतिपक्षसंभवात् । एवमेवतार्किकविप्रतिपत्त्याऽनिर्मोक्षप्रसङ्गाद्वेदोक्तस्यैवोपादेयत्वमिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।

चार्थेऽपि शब्दः । उक्तसिद्धान्तस्य श्रुतिमूलस्य नासामञ्जस्यम्, तर्कमूलस्य साङ्ख्यसिद्धान्तस्यैवासामञ्जस्यम्, उक्तदोषयोगात् । "तर्काप्रतिष्ठानाच्च" तर्कानवस्थानाच्च । एकेन तर्ककुशलेनानुमितोऽर्थोऽन्येन प्रतिषिध्यतेऽन्येना-

न्यथा नीयतइति तर्कस्यानवस्थानादित्यर्थः। उपक्रमोपसंहारादिभिर्वेदान्तोक्तोऽर्थस्तु तर्कशतैरपि न निराकर्तुं शक्यः। ननु विलक्षणत्वादितर्कस्याप्रतिष्ठितत्वाद्धेयत्वेऽपि यथाऽनवस्था न स्यात्तेन प्रकारेणाकाशादेः कार्य्यस्याचेतनस्योपादानमचेतनमेवानुमातुं योग्यं भवतीति चेत्? एवमपि तर्कप्राधान्यापत्त्या वेदोक्तसिद्धान्तेऽप्राधान्यं गते सति कपिलकणादादीनां परस्परविरोधेनानिर्मोक्षप्रसङ्गः स्यात्। न च तन्मध्येऽप्यन्यतमस्य कदाचिज्जये सति नानिर्मोक्षप्रसङ्गइति वाच्यम्, पुरुषाणां मध्ये एकतमस्य नियतजयित्वासम्भवात्। ननु तादृक् परमात्माऽस्तीति चेदस्माकं पथि प्रविष्टोऽसि, वेदविरुद्धं तर्कं परित्यज्य सुखीभव। इत्येवं सर्ववेदैकवेद्ये श्रीवासुदेवे जगदुपादाने सिद्धे न वेदबाह्यतर्कविरोधइति सिद्धम् ॥ ११ ॥

इति विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

यथोक्तं तर्कसहकृतस्मृत्यनुरोधेन जगतः प्रधानोपादानकत्वं वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीति तत्प्रत्याह —

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ।

अपिशब्दश्चार्थे । तर्कस्याप्रतिष्ठानादनवस्थानाच्च शास्त्रमूलको ब्रह्मकारणवाद एव स्वीकार्यः, न तर्कमूलः प्रधानकारणवादः, । "नारायणाज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" त्यादिश्रुतेः । "अतश्च संक्षेपमिदं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः । स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले च तदत्ति भूयः" इत्यादिस्मृतेश्च । शाक्योलूक्याक्षपादकणादकापिलपतञ्जलितर्काणां परस्परतर्कप्रतिहततयाऽप्रतिष्ठितत्वाच्च तर्कमूलस्य कापिलपक्षस्य सम्भव इति भावः । किञ्च "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठे"ति "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि" त्यादिश्रुतिस्मृतिभिरपि तर्काणां निषेध्यत्वाच्चोक्तानुमानस्यापि प्रामाण्यम् । ननु विलक्षणत्वादितर्काणामप्रतिष्ठितत्वेऽप्यन्यथा शाक्यादितर्काप्रतिहतेन व्याप्तिपक्षधर्मतासम्पन्नेन केनचित्प्रतिष्ठितेनानागतेन, तर्केण प्रधानमनुमेयं, नच प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति वक्तव्यं, "तर्काप्रतिष्ठानादि" त्यस्यैव तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वात् । तर्कमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वे च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । भूतभवन्मार्गसाम्येनानागतेऽपि मार्गे सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय लोकप्रवृत्तिदर्शनात् । "प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" इति वदता मनुना च तर्कस्य निर्णयहेतुत्वप्रतिपादनादिति चेदेवमपि, तथापि तर्काप्रतिष्ठानदोषादनिर्मोक्षो दुर्वारः । त्वत्तोऽप्यधिकतमकुतर्ककुशलपुरुषसद्भावनासम्भवात् । अतः प्रत्यक्षादिप्रमाणागोचरे परब्रह्मणि तर्काप्रवेशाच्छ्रुतिरेव प्रमाणम् । "तन्मू-

लकतर्कश्च "तदुपबृंहणायोपादेयोमन्तव्य"इति श्रुतेः । न तु तद्विरुद्धः । "शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिस्मृती"इति भारतात् । तर्कोनाम ' प्रमाणानुग्राहकऊहः । अज्ञातनिश्चये वस्तुनि क्रियमाणस्तत्त्वज्ञानैकप्रयोजनः । "यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गाः" इति श्रुत्या प्रत्यगात्मनोजन्मप्रतीयते "न जायते म्रियते वे"तिश्रुत्या च तदभावस्तत्रात्मनित्यानित्यत्वसंशये, आत्मा नित्य एव यदि नित्योन स्यात्तर्हि कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः स्यादित्यादिरूपः "अविनाशी वा अरे ! आत्मानुच्छित्तिधर्मे"त्यादिशास्त्रमूलकत्वात्प्रमाणसहायत्वेन गृह्यते । यदि प्रपञ्चोमिथ्या न स्यात्तर्ह्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः स्यात् । यदि सेश्वरं सवेदं जगन्मिथ्या न स्यात्तर्हि निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्तसिद्धिर्न स्यादित्यादिरूपश्च शास्त्रनिर्मूलत्वान्निषिद्ध्यते । "आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्कउच्यते" इति वचनात् । "अज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थऊहस्तर्कः" इतिन्यायसूत्राच्च । एवं तर्कग्राहकश्रुत्यादेः श्रुतिमूलकतर्कविषयत्वं, तर्कनिषेधकश्रुत्यादेश्च शास्त्रनिर्मूलतर्कनिषेधविषयत्वमिति विवेकः उक्तः । तस्मादचिन्त्यानन्ताघटघटनापटीयः शक्तिमत्तया निःशेषदोषगन्धाघ्रातमाहात्म्यं सार्वज्ञ्याद्यनन्तसद्गुणाश्रयं परं ब्रह्मैव जगत्कारणं न प्रधानमिति ॥ ११ ॥

इति विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

## सू०एतेन शिष्टापरिग्रहाअपि व्याख्याताः । २।१।१२। ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एतेन सांख्यपक्षनिरासेन परिशिष्टाःवेद-विरुद्धकारणवादिनो ऽन्येऽपि प्रत्युक्ताः ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं परपक्षनिराकरणप्रकारं परिशिष्टेषु पक्षेष्वतिदिशति —

एतेन शिष्टापरिग्रहाअपि व्याख्याताः ।

एतेन प्रधानजगत्कारणवादनिराकरणप्रकारेण शिष्टापरिग्रहाव्याख्याता निरस्तावेदितव्याः । शिष्टाः परिशिष्टाः कपिलपतञ्जलिभ्यामन्ये न विद्यते वेदस्य परिग्रहोयेष्वित्यपरिग्रहाः ते च ते च तथा । तेषां पक्षेणापि तर्कमूलेन ब्रह्म-कारणवादोन विरुध्यते इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

इति शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एतेन शिष्टापरिग्रहाअपि व्याख्याताः ।

अतिदेशसूत्रमिदम् । परिगृह्यन्ते इति परिग्रहा न परिग्रहाः अपरिग्रहाः शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः । शिष्टैर्मनुव्यासादिभिः केनचिदप्यंशेनापरिगृहीताइत्यर्थः । यद्वा शिष्टाः परिशिष्टाः कपिलपतञ्जलिभ्यामन्ये न विद्यते वेदस्य परिग्रहोयेष्वित्यपरिग्रहाः

शिष्टाश्च तेऽपरिग्रहाश्च शिष्टापरिग्रहाः वेदमगृह्णन्तः केवलतर्कपराः । कणभक्षाक्षपादक्षपणकभिक्षुप्रभृतिपरमाणवादिकारवादाअपि एतेन वेदविरोधिप्रधानकारणवादनिरासेन निरस्तावेदितव्यास्तेषामपि तर्कमूलत्वाविशेषात् ॥ १२ ॥

इति शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥ ४ ॥

# सू० भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् । २ । १ । १३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ब्रह्मणोजगदुपादानत्वे जीवरूपेण ब्रह्मणएव सुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेर्वेदप्रसिद्धोभोक्तृनियन्तृविभागोन स्यादिति चेदविभागे ऽपि समुद्रतरङ्गयोरिव सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोर्विभागः स्यात् ॥१३॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

पुनरिदानीं विरोधमाशङ्क्य, निराकरोति —

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ।

ब्रह्मणोहि समानातिशयशून्यस्य जगदुपादानत्वे भोक्तृभोग्ययोरविभागः स्यात् । कुतः ? "भोक्त्रापत्तेः", सर्वस्य कार्यमात्रस्य कारणान-

न्यत्वेन भोक्तुर्जीवस्य भोग्यात्मकत्वापत्तेः, भोग्यस्य च शरीरेन्द्रियविषयलक्षणस्य भोक्त्रापत्तेः। लोकवेदप्रसिद्धो भोक्तृभोग्यविभागोब्रह्मकारणवादे नघटेतेत्यर्थः। किञ्च भोक्तृनियन्तृविभागोऽपि नस्यात्, भोक्तृवर्गस्य नियन्त्रनन्यत्वेन भोक्तुर्नियन्तृत्वापत्तेः, नियन्तुः परमात्मनोभोक्त्रापतेः। लोके तावत् "जीवोभोक्ता देहादिकं भोग्यमितिभोक्तृभोग्यविभागः प्रसिद्धः। "पिप्पलं स्वाद्वत्ती"ति वेदे च। एवं भोक्तृनियन्तृविभागोऽपि लोकप्रसिद्धः। "भगवदधीनं मम सुखं दुःखं चे"ति शिष्टाचारात्। वेदे च "एष एव साधु कर्म कारयति, अनीशश्चात्मा वध्यते, भोक्तृभावादि"त्यादौ प्रसिद्धः। एवं खलु भोक्त्रापत्तेरविभागस्तस्माद्ब्रह्मकारणवादोन युक्त इति चेदित्यत्र सिद्धान्तमाह। "स्याल्लोकवदि"ति। अस्मन्मतेऽपि भोक्तृभोग्ययोर्भोक्तृनियन्त्रोश्च विभागः लोकवत्स्यादेव। यथा लोके मृत्पिण्डोपादानकानां घटशरावादीनां सुवर्णोपादानकानां कटककुण्डलादीनां समुद्रोपादानकानां फेनतरङ्गादीनां वृक्षोपादानकानां फलपत्रादीनां च कारणानन्यत्वेऽपि पर-

स्परं विभागोऽस्ति । तथा ब्रह्मोपादनकत्वेन तद- नन्ययोरपि भोक्तृभोग्ययोः परस्परं विभागः स्यात्। एवं भोक्तृनियन्त्रोरपि अविभागेऽपि विभागः स्यात् । यथा मृदोऽभिन्नाअपि स्वभावतः घट- शरावादयः मृद्व्यतिरिक्तस्थितिप्रवृत्त्यभावात् । मृदः सकाशाद्भिन्ना अपि स्वभावतः एव, स्वासाध- रणधर्मवत्त्वात् । एवं सुवर्णकुण्डलादौ बोध्यम् । तथा ब्रह्मजीवयोरपि स्वाभाविकोभेदाभेदसम्बन्धः। अत्र नैवासामञ्जस्यम् । तस्माद्ब्रह्मकारणवादे नोक्त- विरोधइति सिद्धम् ॥ १३ ॥

इति भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ।

पुनरप्याशङ्क्य, समाधत्ते । ननु ब्रह्मैव जगदुपादानमिति यत्तत्युक्तं?न वा?इति संशये, न युक्तमिति पूर्वः पक्षः । तथा सति कार्यकारणयोरभेदनियमेन ब्रह्मणएव कार्यकारणरूपत्वाज्जीव- ब्रह्मणोः स्वभावविभागः । "अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते, तयो- रन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावादि" त्यादिश्रुत्युक्तोन सम्भवति । अविभागे च सति ब्रह्मणोऽपि जीववत्सुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेः । न च "सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यादि"त्यत्र परमात्मनः सम्भोगप्रसङ्गः परिहृतइति वाच्यं, तत्रोपास्यतयोपासकहृदयस्थस्यैकशरीरान्तर्वर्त्तितामात्रेण सम्भोग-

प्रसङ्गेन भवतीत्युक्तम्, अत्र तु जीवब्रह्मणोरनन्यत्वाङ्गीकारेण तद्ब्रह्मस्यापि तत्प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वाद्, कार्यगतसर्वदोषाश्रयत्वप्रसङ्गाच्च प्रधानकारणवादएव श्रेष्ठइति चेत्तत्रोत्तरम् । "स्याल्लोकवदि"ति । लोके यथा मृत्पिण्डजन्यस्य मृन्मयस्य घटाद्यवस्थापन्नस्य मृदमन्तरेण पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हतया मृदभिन्नत्वेऽपि स्वरूपस्वभावनामरूपसङ्ख्याव्यवहारादिभेदः सुप्रसिद्धः, तद्ब्रह्मोपादानकस्य जगतोऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हतया ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि स्वरूपस्वभावादिभेदस्य श्रुतिस्मृतिसूत्रसिद्धस्य स्वाभाविकत्वात् । अयं भावः, न वयं ब्रह्मणउपादानत्वेऽपि तस्य चेतनाचेतनयोश्च स्वरूपैक्यमङ्गीकुर्मः, येनोक्तः दोषः स्यात् । अपि तु "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमपाणिपादः, अणोरणीयान्महतोमहीयान्, अणुर्ह्येष आत्मा, अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्, गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभावनी सितासिता च रक्ता च" इत्यादि श्रुत्युक्तं स्वरूपस्वभावादिवैलक्षण्यं स्वाभाविकं ब्रूमः । अनन्यत्वं च कारणं विना कार्यस्य, आत्मानं विनात्मीयस्य व्यापकं विना व्याप्यस्याधारं विनाधेयस्य, पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हत्वेनेति सुखदुःखभोक्तृत्वस्य च पुण्यापुण्यकर्मप्रयुक्तत्वान्न परब्रह्मणि तत्प्रसङ्गः । परब्रह्मणस्तु अपहतपाप्मत्वादिधर्मवत्तया कर्मसम्बन्धगन्धलेशासम्भवात् ॥ १३ ॥

इति भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

## सू० तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।२।१।१४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

कार्य्यस्य कारणानन्यत्वमस्ति, नत्वत्यन्तभिन्नत्वं, कुतः ? "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं तत्त्वमसि सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिभ्यः ॥ १४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रथमाध्याये चिदचिद्भिन्नत्वेन ब्रह्म बहुशो वर्णितं स्वासाधरणपदार्थस्वरूपविवेकार्थम् । इह तु कारणाद्ब्रह्मणः कार्य्यस्य जगतः पृथक्स्थितिप्रवृत्त्याद्यभावादनन्यत्वम् "असदिति चेन्न, प्रतिषेधमात्रत्वादि"त्यादौ प्रतिपादितम्। अथेदानीमुक्तसिद्धान्तं दृढयितुं कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं नास्ति, कार्य्यं चोत्पद्यते इति वैशेषिकाआहुस्तन्मतं निराकरोति —

### तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।

तयोः कार्य्यकारणयोरनन्यत्वं, तस्य कार्य्यस्य जगतः कारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमिति वा, तस्मात्कारणाद्वा कार्यस्यानन्यत्वमिति विग्रहः । तस्मात्परमकारणाच्चिदचिच्छक्तिमतोऽपरिच्छिन्नादेका-

द्वितीयादिशब्दार्थात्कारणावस्थया कार्य्यावस्थया च स्वेच्छयैव स्थातुं समर्थात्सर्वप्रपञ्चपूर्ववर्त्तिनोब्रह्मणः सकाशाच्चिदचिद्रूपस्य परिच्छिन्नस्यानेकनामरूपस्य परतन्त्रस्य कार्य्यस्यानन्यत्वमित्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह । "आरम्भणशब्दादिभ्यः"इति, आरम्भणशब्दः आदिर्येषां वाक्यानां तान्यारम्भणशब्दादीनि वाक्यानि तेभ्यः "वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं, सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय, तत्तेजोऽसृजत, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति, तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इत्यादिभ्यः । एवं जातीयकान्यन्यान्यपि बहूनि वाक्यानि कारणभूताद्ब्रह्मणः कार्य्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वं प्रतिपादयन्ति, विस्तरभयान्नोदाहृतानि । तत्रारम्भणशब्दस्यायमर्थः । छान्दोगाः "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि"त्येकोपादानकारणविज्ञानेन सर्वकार्य्यविज्ञानं प्रतिज्ञाय, तत्सिद्धये दृष्टान्तमाहुः । "यथा सौम्य!

एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति । यथैकेन मृत्पिण्डेन मृद्द्रव्यतया विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं मृद्विकारजातं मृदात्मकतया विज्ञातं स्यात् । यतोहि तथाभूतं कार्य्यजातं वाचा वागिन्द्रियेणारभ्यते व्यवह्रियते इति वाचारम्भणं, तद्द्विविधं, विकारोऽर्थः, नामधेयं शब्दश्च, तदेतदुभयमालम्ब्य वाग्व्यापारः प्रवर्त्तते । घटेनोदकमाहरेति, अतः पृथुबुध्नोदरत्वादिलक्षणः घटादिनामकोजलाहरणादिव्यवहारसाधकोविकारोमृत्तिकैवेति सत्यम्, कारणाभिन्नं कार्य्यं व्यक्तिबुद्ध्यादिभेदादितिमतमसत्यमित्यर्थः । नहि मृद्भिन्ने वातादौ घटव्यक्तिबुद्ध्यादिकल्पना शक्या कर्तुम् । यद्यसदेव कार्यमुत्पद्यते, तर्हि सर्वत्र सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः, कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गश्च स्यादित्यलं विस्तरेण ॥ १४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ यदुक्तं कार्यस्य कारणादनन्यत्वं तदिदानीं स्पष्टमाह —

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।

तत्र कार्यं मिथ्याऽनिर्वचनीयं वा? असद्रूपं वा?सद्रूपं वा?इति संशये, आहुरेके, "असच्चेन्न प्रतीयेत, सच्चेन्न बाध्येत, प्रतीयते बाध्यते च, अतः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमेवाभ्युपगन्तव्यम्, अनिर्वचनीयत्वादेव मिथ्यात्वमिति, प्रपञ्चोयदि मिथ्या न स्यात्तर्हि ज्ञाननिवर्त्योऽपि न स्यात् । दृश्यते हि लोके मिथ्यापदार्थस्य शुक्तिरजतादेरधिष्ठानज्ञानान्निवृत्तिरतोऽध्यस्तोऽयं प्रपञ्चो ज्ञाननिवर्त्यत्वादिति, ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथाऽनुपपत्तिर्जगन्मिथ्यात्वे मानमिति तन्न, मिथ्यात्वानिर्वचनीयत्वादेर्लक्षणप्रमाणानुपपत्त्या पूर्वैर्विस्तरतोनिरस्तत्वादत्रोपरम्यते । किञ्च नहि ज्ञानमज्ञानस्यैव मिथ्याभूतस्य निवर्त्तकमिति नियमः, ज्ञानमात्रेण ज्ञानसमानविषयकाज्ञानानुपादानकस्य सत्यस्य तज्ज्ञानप्रागभावस्य घटादिज्ञानेन पटादिज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञादिना संस्कारस्य यथा दोषदर्शनेन रागादेः सेत्वादिदर्शनेन ब्रह्महत्यादेश्च सत्यस्यैव निवृत्तिदर्शनात् । ननु सेत्वादिदर्शनमज्ञाननिवृत्तिद्वारेणादृष्टद्वारेण वा निवर्त्तकं? साक्षान्निवर्त्तकत्वेऽपि न ज्ञानत्वेन, किन्तु विहितक्रियात्वेनेति चेन्न, प्रकृतेऽपि साम्यात्, श्रुतदर्शनत्यागेन तत्प्राप्तिसज्जन्यादृष्टं वा निवर्त्तकं कल्प्यते चेदिहापि श्रवणज्ञानोत्तरब्रह्मध्यानं तज्जन्यादृष्टं वा निवर्त्तकमिति वक्तुं शक्यत्वात् । "तस्याभिध्यानादिति" श्रुतेः । ननु सेतुदर्शनमात्रं न निवर्त्तकं, किन्तु दूरगमनादिविशिष्टमिति चेन्न, अत्रापि ज्ञानमात्रं न निवर्त्तकं, किन्तु नियमाधीतवेदान्तश्रवणादिनियमविशिष्टमन्यथा भाषाप्रबन्धादिश्रवणेऽपि असम्भावनादियुक्तस्याज्ञाननिवृत्त्यापत्तेः । किञ्च शूद्रादीनामपि म्लेच्छभाषानिरूपितवेदान्तार्थश्रवणादिनाऽपि मोक्षप्रसङ्गात् । नच नियमाध्ययनादीनामभि-

कारसम्पादनेनैवोपक्षीणत्वान्नज्ञानसहकारित्वमिति वाच्यं, प्रकृतेऽपि दूरगमनादीनामधिकारसम्पादनेनैव नैराकांक्ष्यसाम्यात् । न च "दृष्ट्वैव तं मुच्यते" इति दर्शनमात्रस्य निवर्त्तकत्वश्रवणादिति वाच्यं, "प्रकृतेऽपि सेतुं दृष्ट्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहती"ति सेतोश्चाक्षुषज्ञानस्यैव निवर्त्तकत्वश्रवणात् । किञ्च लोकेऽदृष्टत्वेऽपि विपक्षे बाधकाभावात् श्रुतिबलात्सत्यस्यापि बन्धस्य निवृत्तिः किं न स्यादन्यथा लोकेऽधिष्ठानतत्त्वे साक्षात्कृते कर्मवशादपि निरुपाधिकभ्रमानुवृत्तेः जीवन्मुक्तिदशायां कर्मवशादनुवृत्तस्य जगतः सत्यत्वमेव स्यात् । किञ्च तव मतेऽपि लोकेऽत्यन्ताप्रसिद्धस्यापि व्याप्तिशून्यस्याश्रौतस्यानाद्यध्यासस्य प्रतिपादनेन ह्यत्यन्ताप्रसिद्धाङ्गीकारसाम्यात्, न ह्यनाद्यध्यासे श्रुतिर्मानं नापि-लोकप्रसिद्धाव्याप्तिः । यत्राध्यासस्तत्रानादित्वमिति प्रत्युत सादिव्याप्तिः शुक्तिरूप्यादौ प्रसिद्धा, किन्तु युक्तिमात्रं मानं, तथाऽपि कुलधर्मतया तवाङ्गीकारः । अस्माकं तु श्रुतिवलात्सत्यस्यैव श्रौतब्रह्मज्ञानान्निवृत्त्यङ्गीकारे कोवा दोषइति मनीषिभिर्विवेचनीयम् । ननु ज्ञानैकनिवर्त्त्यस्य किं नाम सत्यत्वं न तावदज्ञानाजन्यत्वं "मायां तु प्रकृतिमि"ति श्रुतिविरोधात् मायाविद्ययोरैक्यात् । नापि स्वाधिष्ठाने स्वभावशून्यत्वमस्थूलादिश्रुतिविरोधात् । नापि व्यवहारकाले बाधशून्यत्वं तर्हि व्यावहारिकमेव सत्त्वमागतमेवाध्यस्तत्वं तच्च श्रुत्यर्थयोग्यताज्ञानार्थं वर्णनीयमेवेति चेन्न, सर्वस्य जगतः "तत्तेजोऽसृजत, तस्माद्वा एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतः नारायणाज्जायते प्राणः, अहं सर्वस्य प्रभवः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रमाणेन ब्रह्मजन्यतयाऽज्ञानजन्यत्वाभावात्सत्यत्वमेव । नापि "मायांतु"इति श्रुतिविरोधः, तस्याः प्रकृतिपदवाच्यश्रीपुरुषोत्तमाधीनाचित्प्रकृतिप्रतिपादनेनैव नैराकाङ्क्ष्यात्राज्ञानपरत्वं मायाशब्दस्य ज्ञाने शक्त्यभावात् । यदुक्तं स्वाधिष्ठानइत्यादि तत्तुच्छम् "गौरनाद्यन्त-

वतो" ति श्रुतिबलात्तद्गतपरतन्त्रसतायाअनाद्यनन्तत्वाभ्युपगमस्यादोषात् । श्रुतेश्च सर्वविलक्षणब्रह्मप्रतिपादनपरतया प्रपञ्चनिषेधपरत्वाभावात् । यच्चोक्तं व्यवहारकाले बाधशून्यत्वमित्यादि, तदपि तुच्छमनाद्यनन्तत्वविधायकश्रुत्यैवैतद्विकल्पस्य निरासात् । किञ्च संस्कारसापेक्षगरुडभ्रमरादिध्यानज्ञाननिवर्त्यविषकीटत्वादौ सत्यत्वदर्शनेन श्रवणादिजनितसंस्कारसापेक्षज्ञाननिवर्त्यस्य प्रपञ्चस्य सत्यत्वमेव स्यात् । किञ्च लोके निवृत्तिनिवर्त्ययोः समानसत्ताकत्वनियमात् अज्ञाननिवृत्तिवदज्ञानमपि तात्त्विकं स्यात्, ज्ञानज्ञेययोर्दोषाधिष्ठानयोश्च समानसत्ताकत्वनियमात् ब्रह्मवदज्ञानमपि सत्यं स्यात् । किञ्च यथानादिभावरूपस्याज्ञानस्यान्यत्रादृष्टाऽपि निवृत्तिः श्रुतिबलादङ्गीकृता, तथा प्रकृतेऽपि किं न स्यात् । किञ्च शङ्खस्य श्वेतत्वानुमित्यादिना तदीयस्य श्वेतत्वविषयकाज्ञानस्यारोपितपीतत्वस्य वा निवृत्तिवत्त्वन्मते बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यसाक्षात्कारेणैक्याज्ञानस्यारोपितभेदस्य वा निवृत्तिश्चेत् श्वेतत्वानुमित्यादिना तदज्ञाननिवृत्तावज्ञानकार्यस्यारोपितपीतत्वादेरननुवृत्तिर्न स्यात् । नच तस्य सोपाधिकत्वेन यावदुपाधिस्थायित्वनियमान्नोक्तदोषइति वाच्यं, उपादाननिवृत्तौ कार्यानुवृत्त्ययोगात्, ज्ञानस्य स्वप्रागभावनिवर्त्तनइवाज्ञाननिवर्तनेऽप्यन्यानपेक्षणात् । अपि च चरमसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तिदशानुवृतस्याज्ञानलेशस्य वाऽज्ञानसंस्कारस्य वा प्रारब्धकर्मादेर्वा निवृत्तिः किं न स्यात् ? तस्मात्त्वयाप्यज्ञानस्यारोपितभेदस्य वाज्ञानविरोधिनएव ज्ञानेन निवृत्तिर्विरोधश्च कार्यनिरूप्यइत्येव वक्तव्यं एतन्ममापि समानम्, ज्ञाननिवर्त्यत्वेन तावत्सत्त्वं मिथ्यात्वं वानियामकमपि तु ज्ञानविरोधित्वमेवेति सिद्धमित्यलं विस्तरेण । वस्तुतस्तु भगवत्प्रसादादेव बन्धनिवृत्तिर्न प्रकारान्तरेण । "शृण्वन्तोऽपि बहवोयं न बिदुः, यमेवैष वृणुते तेन

लभ्यः, यस्य प्रसादात्परमार्तिरूपादस्मात्संसारान्मुच्यते नापरेण" इत्यन्वयव्यतिरेकश्रुतेः । "मत्प्रसादात्तरिष्यती"ति स्मृतेश्च । नचैवं ज्ञानस्य वैयर्थ्यापत्त्या तत्प्रतिपादकशास्त्रव्याकोपप्रसङ्गइति वाच्यं, तस्य तत्प्रसादहेतुत्वात् । तथाह श्रीप्रल्हादः "एवं ज्ञाते सभगवाननादिः पुरुषोत्तमः प्रसीदत्यच्युते तस्मिन्प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यमि"त्यादिना अतोज्ञानस्य कारणत्वं भगवत्प्रसादस्यावान्तरव्यापारत्वमित्युभयशास्त्रस्याविरोधादित्यलं प्रासङ्गिकेन । अथपराहतं च सतर्कैरेतदन्यथानुपपत्तिरूपं प्रमाणम् । तर्काश्च प्रपञ्चोयदि सत्योन स्यात्तर्हि श्रीपुरुषोत्तमस्य परब्रह्मणः परिपाल्योन स्यात्, तत्परिपाल्यत्वं च श्रुतिस्मृतिसूत्रैरुद्घुष्यमाणं तस्मात्सत्यमेवेति । तथाहि अध्यस्ते प्रवृत्तिरधिष्ठानसाक्षात्काराभाववतएव पुरुषस्य दृश्यते घटते च, नतु शुक्तिं शुक्तित्वेन साक्षादनुभवितुः शुक्तिरूप्यादाने प्रवृत्तिः, स्वाप्निकपुत्रादिगजतुरगादिपालनार्थाप्रवृत्तिश्च जाग्रतोऽनुन्मतस्य कस्य चिद्दृष्टा युक्ता वा, तथा सर्वस्याधिष्ठानतत्वं सर्वदा पश्यतः परमेश्वरस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वे कथं तस्य पालने प्रवृत्तिरिति, पण्डितंमन्यैर्वैदिकत्वाभिमानिभिरेकाग्रमनसा विचारणीयं, परमेश्वरस्याज्ञत्वकल्पनायां परमेश्वरत्वमेव न स्यात्, सर्वज्ञत्वे च मिथ्यावस्तुपरिपालने प्रवृत्त्यसंभवएव । अन्यथा परमेश्वरस्य भ्रान्तत्वप्रसक्त्या तत्प्रतिपादकवेदोदत्तातिलाञ्जलिः स्यात् । नन्वैन्द्रजालिकवत्तस्य मिथ्यापालनं भवत्विति चेन्न, दृष्टान्त वैषम्यात्, ऐन्द्रजालिकोमन्त्रौषधादिबलादतीतानागतान् देशान्तरस्थितांश्च सतएव पदार्थान्प्रदर्शयत्येव, नत्वपरोक्षतया स्वयं पश्यति पालयति वा, प्रकृते तु "यः सर्वज्ञः सर्ववित्, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च नामरूपे व्याकरवाणि, आकाशोह वै नामरूपयोर्निर्वहिता, सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि

कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते। एकं बीजं बहुधा यः करोती”त्यादिश्रुतिभ्यईश्वरबहुभवनसङ्कल्पपूर्वकसृष्ट्यादिकर्तृत्वम्। “स्वयमात्मानमकुरुत, सच्च त्यच्चाभवदि”त्यादिना बहुभवितृत्वेनोपादानत्वं चोपलभ्यते इति विपरीतत्वाद्दृष्टान्तस्येत्यर्थः। नन्वैन्द्रजालिकस्य स्वमाययाऽमोहितस्य विषयापरोक्षत्वाभावे पश्यन्त्विदमाम्रफलमिति प्रतिज्ञावचनं तथैव प्रदर्शयितृत्वं चानुपपन्नम्, एतदन्यथाऽनुपपत्त्या तस्य विषयापरोक्षमस्तीत्यवश्यमङ्गीकार्यमिति चेन्न, तस्यान्यथोपपन्नत्वात्। तथा हि यथा वैद्योगुरूपदेशादिना ज्ञातौषधिप्रभावोभविष्यद्रोगनाशादिविषयकापरोक्षाभावेऽपीदमौषधमिमं रोगं सद्योनाशयति, पश्यन्त्वस्य प्रभावमिति वदति ददाति च, तथैन्द्रजालिकोऽप्यस्मान्मन्त्रादेरेते भ्राम्यन्तीति ज्ञातमन्त्रादिप्रभावः पश्यन्त्विदमित्यादि वदति दर्शयति चेति भावः। न चैन्द्रजालिकस्याप्यैन्द्रजालिकान्तरात्स्वसृष्टानां रक्षणादर्शनात्। तथात्वे च नोक्तवैषम्यमिति चेन्न, भ्रमजनकस्वमन्त्रौषधादिगतसामर्थ्यस्यैव रक्षणान्न विषयस्येति। ननु मम पक्षे परमेश्वरस्यापि व्यावहारिकत्वेन तद्गुणशक्त्यादीनां सार्वज्ञ्यादीनामपि तथात्वेन पारमार्थिकत्वाभावात्। तथा चाह भाष्यकारः, “ईश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारे प्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञेश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरि”ति श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते, ताभ्यामन्यः सर्वज्ञईश्वरः, “आकाशोह वै नाम० नामरूपे० सर्वाणि रूपाणि० एकं बीजमि” त्यादिश्रुतिभ्यः। एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरोभवति व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि। स च स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्यात्मकोपाधिप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसङ्घातानुरोधिनोजीवाख्यान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये तदेवमविद्यात्मको-

पाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं, न परमार्थतोविद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूपआत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहारउपपद्यते इत्यादिनेति चेन्न, अश्रौतत्वेन कल्पनामात्रत्वात् । तथाहि परमेश्वरस्य मिथ्यात्वे किं मानमिति वक्तव्यम् ?। न च "आकाशोह वै" इत्यादिश्रुतयइति पूर्वमेवोक्ताइति वाच्यम्, तासु मिथ्याव्यावहारिकादिप्रतिपादकपदानामेकतमस्याप्यदर्शनात् । प्रत्युत नामरूपादिहेतुत्वप्रतिपादनपराणां पदानामेवोपलभ्यमानत्वात् । अतएव न नामरूपयोरपि मिथ्यात्वम्, "यस्य नाम महद्यशः, अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं, प्राणावै सत्यं, तेषामेष सत्यमि"त्यादिना सत्यत्वश्रवणात् । नापि तस्य ज्ञानशक्त्यादीनां व्यावहारिकत्वं वक्तुं शक्यम्, "परास्य शक्तिर्विधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"इति कण्ठरवेण स्वाभाविकत्वश्रवणात् । नच तासां व्यावहारिकसत्त्वपरत्वं तत्त्वज्ञानबाध्यत्वं भेदवाक्यानां प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यभेदाविषयकत्वेनानुवादपरत्वाभ्युपगमादितिवाच्यम्, आपातोक्तेः । तथाहि "जीवब्रह्मभेदे प्रत्यक्षादीनामप्रसरादि"ति विवरणाचार्यवचनात् प्रत्यक्षादिशक्यभावेन भेदवाक्यानां स्वार्थे एव प्रामाण्यम्, अन्यथा स्वरूपस्यापि बाधोऽभ्युपगन्तव्यः, स्वाभाविकत्वसाम्यात् । किञ्च घटोऽस्तीति प्रत्यक्षेण निर्विशेषाधिष्ठानवस्तुनोगम्यत्वादभेदवाक्यानामेव—तदनुवादपरत्वेन—स्वार्थे—ऽप्रामाण्यं, प्रत्यक्षगृहीतग्राहित्वात् । तथाच तवैव सिद्धान्तविरोधः, अन्यथा विवरणवाक्यभङ्गः।किञ्च"ईश्वरस्यात्मभूते इवे"त्यस्य कोवाऽर्थोविवक्षितः ?। स्वरूपात्यन्ताभिन्नत्वं वा ? शुक्तिरजतवदसत्त्वस्य प्रतीयमानत्वं वा?स्वरूपापृथक्सिद्धत्वमात्रं वा?नाद्यः, श्रुतिप्रमितत्वात् । अन्यथा "नामैव ब्रह्म रूपमेव ब्रह्मे"ति प्रतीत्यापत्तेः । नापि द्वितीयः, प्रतीयमानत्वे प्रमाणाभावात्, प्रत्युत "अथ नामधेयं

सत्यस्य सत्यमि"ति सत्यत्वश्रवणात् । "व्याकरवाणी"ति व्यक्तीकरणश्रुतेश्च । अन्यथा "प्रत्यापयामी"तिश्रवणं स्यात् । चरमश्चेदिष्टापत्तिः, तदात्मकत्वेन स्वरूपापृथक्सिद्धत्वस्य सिद्धान्तेऽप्यङ्गीकारात् । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति श्रुतेः । नाप्यनिर्वचनीयत्वम्, अनिर्वचनीयख्यातिनिरासे तस्य पूर्वाचार्यैर्विस्तरेण निरस्तत्वात् । तस्मात्सदेव । किञ्चेश्वरस्यातात्त्विकत्वे निरीश्वरसाङ्ख्यादिभ्योऽवैदिकेभ्यस्तव सिद्धान्तस्य परवञ्चनं विना कोवा विशेषः? । सर्वस्य वेदस्य सार्वज्ञ्यसर्वशक्त्यादिनिलयपरब्रह्मपरत्वेन भवतां पारिभाषिततर्कमात्रं विना प्रमाणान्तरं नास्तीत्यलं कुतर्कनिरासैः । किञ्च यदि प्रपञ्चमिथ्यावादः श्रौतः स्यात्तर्हि शुक्तिरजतादिदृष्टान्तावेदे उपन्यस्ताः स्युः । यद्यनिर्वचनीयवादः सूत्रकाराभिप्रेतः स्यात्तर्हि सूत्रितोऽपि स्यान्नतु तथा दृश्यते, तस्मात्कार्यं सदेवेत्यादितर्काअत्रानुसन्धेयाः । ननु *ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वे, सद्भिन्नत्वे, च सति चिदन्यन्मिथ्या, दृश्यत्वाज्जडत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च, शुक्तिरूप्यवदित्यनुमानमत्रप्रमाणमिति चेन्न, तस्य पक्षसाध्यहेतुदृष्टान्तानामसम्भवेनाभासमात्रत्वात् । तथाहि चिदन्यद्रूपः पक्षः प्रमितो ? न वा ? । नाद्यः, प्रमितस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् । ननु प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षगोचरत्वेऽपि सत्त्वानङ्गीकरणात्वा-

---

* सद्भिन्नत्वं सत्त्वेन प्रतीत्यर्हम्, ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वं, तत्रसिद्धसाधनवारणाय प्रथमविशेषणम्, अत्र पक्षतावच्छेदकसमानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात्पक्षैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनतेति मते शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनवारणाय ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं पक्षविशेषणं, यदि पुनः पक्षतावच्छेदेनैव साध्यसिद्धिरुद्देश्या तदैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनभावात् द्वारकं विशेषणमनुपादेयम्, इतरविशेषणद्वयं तु तुच्छे ब्रह्मणि च वारणायादरणीयमेव ।

विना मिथ्यात्वं वक्तुं शक्यमेवेति चेन्न, तव मते निर्विशेषस्य शुद्धस्य ब्रह्मणोऽपि सत्त्वानधिकरणात्वाभ्युपगमात्तत्राति-व्याप्तिः, शुद्धं ब्रह्ममिथ्या सत्त्वानधिकरणत्वात्, तवाभिप्रेत-प्रपञ्चवदित्यनुमानात् । न द्वितीयः, शशशृङ्गं तीक्ष्णाग्रं, शृङ्ग-त्वात्, हरिणशृङ्गवत्, खपुष्पं गन्धवत्, पुष्पत्वात्प्रसिद्धपुष्प-वदिति प्रयोगस्यैवाश्रयासिद्धत्वाच्च । अथास्य साध्योऽपि दुर्निरूपः, तथाहि साध्यमत्र मिथ्यात्वं, तच्च सत्यं वा ? तुच्छं वा ? । आद्ये, मिथ्यात्वस्य सत्यत्वे अद्वैतभङ्गः । द्वितीये मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तिः, घटाभावाभावस्य घटरूपत्ववज्जगन्मिथ्यात्वमिथ्यात्वस्य सद्रूपत्वात्, सिद्धसा-धनतापत्तिश्च । यथा केन चिल्लौकिकेनोक्तं देवदत्तोमृतः, परेण चाप्तेन निर्णीयोक्तस्तदभावः । एवं चाप्तवाक्याद्देवदत्तमरणस्य मृषात्वे तस्य जीवनं सिद्धं, तद्वत् मिथ्यात्वस्याबाध्यत्वेऽद्वैतहानिः बाध्यते जगतः सत्यत्वमित्युभयथाऽपि पाशारज्जूरित्यर्थः । किञ्च किं तावन्मिथ्यात्वं ? नच सदसत्त्वानधिकरणत्वं च सत्त्ववि-शिष्टासत्त्वाभावरूपमिति वाच्यं, सदेकस्वभावे जगति विशिष्टा-भावस्येष्टत्वात् । नच सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपं द्वयमिति वाच्यं, सत्त्वासत्त्वयोरेकतराभावेऽपरस्य सत्त्वा-वश्यकत्वेन व्याघातात्, निर्धर्मकब्रह्मवत्, सत्त्वराहित्येऽपि सद्रूप-त्वोपपत्त्या मिथ्यात्वासिद्धेः । एतेन सत्त्वात्यन्ताभावविशिष्टा-सत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टं तत्त्वमित्यपि निरस्तं, दोषसाम्यात् । ननु क्वचिदुपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वमसत्त्वं, त्रिकालाबाध्यत्वं सत्त्वं, तयोरभावः साध्यइतिचेन्न, असल्लक्षणस्यासङ्गे ब्रह्मण्य-तिव्याप्तेः । तस्याप्युक्तासत्त्वाङ्गीकारे सद्भिन्नेति विशेषणस्य वैय-र्थ्यापत्तेः, शब्दाभासेन तुच्छस्यापि क्वचिदुपाधौ सत्त्वेन धीसम्भ-वाच्च, उक्तासत्त्वाभावस्य शून्यवादिप्रपञ्चे स्वीकाराच्च, लाघवा-

त्सत्त्वासत्त्वयोः परस्पराभावस्यैवौचित्याच्च। नन्वेकेनैव सर्वानुगतेन ब्रह्मसत्त्वेन सर्वत्र सदितिज्ञानोपपत्तौ प्रत्येकं सद्रूपत्वकल्पनमयुक्तमन्यथाऽनुगतव्यवहारानुपपत्तेरिति चेन्न, सत्तात्रैविध्यस्य त्वयाऽपि स्वीकारात्, लाघवेन "यदासीत्तदर्धानमासीदि"तिश्रुतेः प्रामाणिकपरतन्त्रसत्तयाऽप्यनुगतधीदर्शनाच्च। एतेन सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वयं साध्यमिति निरस्तं, निर्धर्मके ब्रह्मण्यतिव्याप्तेश्च। नच सद्रूपं ब्रह्म तत्तदभावाधिकरणमिति वाच्यं, प्रपञ्चेऽपि साम्यात्। नच ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वात्सत्त्वासत्त्ववत्तदधिकरणत्वमपि नास्तीति वाच्यं, निर्धर्मकत्वहेतुसत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याघातात्, सत्त्वासत्त्वाद्यनधिकरणत्वनिषेधे सदसत्त्वाधिकरणत्वापत्तेरिति साध्यासम्भवः। एवं हेतूनामप्याभासत्वमेव। तत्र दृश्यत्वं नाम किम्वृत्तिव्याप्यत्वं? वा फलव्याप्यत्वं? वोभयव्याप्तं वा? नाद्यः, ब्रह्मण्यतिव्याप्तेः, तस्यापि वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वात्। अन्यथा वेदान्तस्य वैयर्थ्यापत्तेः। नच "यत्तदद्रेश्यमि"ति श्रुतेः शुद्धं न दृश्यं, किन्तूपहितमेव, तस्य मिथ्यात्वं चेष्टापन्नम्। नहि वृत्तिदशायामनुपहितं तद्भवतीतिवाच्यम्, उपहितभाने उपधेयभानावश्यकत्वात्, प्रसिद्धार्थकयत्तच्छब्दयोरयोगाच्च। विशिष्टभाने विशेष्यभानं ह्यावश्यकं, नहि दण्डीति ज्ञाने पुरुषस्य विषयता नास्ति, नच विशेष्यतापन्नं मिथ्यैवेति वाच्यम्, अधिष्ठानस्याधिकसत्ताकनियमेन विशेष्यतापन्नस्य मृषात्वेऽधिष्ठानत्वासम्भवात्। नहि विशेष्यतापन्नं सर्वथा ज्ञानाविषयं ह्यधिष्ठानं भवति, जगतोऽपि विशेष्यतापन्नत्वादिना मिथ्यात्वं, स्वरूपेण तु सत्यत्वमित्यापत्त्याऽद्वैतहानिः स्यात्। किञ्च शुद्धस्याविषयत्वे मोक्षाभावप्रसङ्गः, उपहितज्ञानेनैव मोक्षसिद्ध्याऽपसिद्धान्तापत्तेश्च। किञ्च सत्यस्य शुद्धस्यैव व्यावहारिकघटाद्यधिष्ठानस्य घटादिगोचरचाक्षुषादिवृत्तिविषयतायाः सत्वाच्च ह्यधिष्ठानमविषयीकृत्या-

ध्यस्तं वृत्तिर्विषयीकरोति "मनस्यैवानुद्रष्टव्यं, दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्ये"ति श्रुतेः। न चोपहितविषयकैवेयं श्रुतिरिति वाच्यं, त्वन्मत-भाष्यविरोधात्। तथाहि "तदव्यक्तमाह ही"ति सूत्रभाष्ये अव्यक्तं परं ब्रह्मेन्द्रियाग्राह्यं निरूप्य, "अपि च संराधने प्रत्यक्षा-नुमानाभ्यामि"ति सूत्रभाष्ये च अपि चैनमात्मानं निरस्त-समस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्तीत्यादिना परस्यैव पश्यतेः क्रियायाः कर्मत्वस्वीकारेण तद्बाधात्, तत्रोदाहृतश्रुति-स्मृतीनां "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इति "ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानाः योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनमि"त्यादीनां बाधाच्च। किञ्चोक्तश्रुत्यादीनां यदि शुद्धविषयकत्वं नाङ्गीक्रियते, तर्हि शुद्धस्य ज्ञानाभावे तादवस्थ्ये तदाच्छादक-मूलाज्ञानस्याप्यनिवृत्त्याऽनिर्मोक्षप्रसङ्गः। सबलज्ञानस्य मोक्षासा-धकत्वाभ्युपगमात्। "परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इत्यादिना परात्परस्यैव ब्रह्मणो दर्शनक्रियाकर्मश्रवणाच्च। तद्बाधोऽपि दुःपरि-हरः। नापि फलव्याप्यत्वम्, अतीन्द्रियेष्वपञ्चीकृतभूतेषु चोदनै-कवेद्यधर्मादौ तव मते साक्ष्येकवेद्ये सुखादौ तदभावेना-व्याप्तिप्रसङ्गात्तेषां सत्यत्वापत्तेः। सुखादयो धर्मादयश्च सत्याः, फल-व्याप्यत्वराहित्यात्, ब्रह्मवदिति प्रयोगात्। नाप्युभयव्याप्यत्वं तत्त्वं, विशेषस्य सामान्यानतिरेकेण वृत्तिव्याप्यत्वाभ्युपगमादेव दृश्यत्वसिद्ध्या ब्रह्मण्यतिव्याप्तिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वादिति संक्षेपः। नापि जडत्वं हेतुः तत्त्वं न तावदज्ञानत्वं, वृत्तिज्ञाने भागा-सिद्धेः, आत्मनि व्यभिचाराच्च। तथाहि आत्मरूपं ज्ञानं सवि-षयं ? न वा ? आद्ये, स्वविषयं ? परविषयं वा ? नाद्यः, त्वया ऽनभ्युपगमात्। न द्वितीयः, मोक्षे परस्याभावात्, त्वन्मते वर्त्तमानस्यैव विषयत्वात्। न चार्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञान-त्वात् तस्य मोक्षेऽप्यनपायइति वाच्यम्, यदा कदाचिद्विषय-

सम्बन्धान्मोक्षेऽज्ञानत्ववद्यदा कदाचिद्दुःखादिसम्बन्धाद्दुःखित्वा-
द्यापत्तेः । अभावादिषु सप्रतियोगित्वादेरिव ज्ञाने सविषयत्वस्या-
पि स्वाभाविकस्य धर्मिसमसत्ताकस्य दर्शनात् । न च सविषय-
त्वं ज्ञानस्य विषयेण सहाध्यासिकः सम्बन्धः । स च न
स्वाभाविकः, एतद्धेत्वधीनमिथ्यात्वासिद्धेः, प्रागाध्यासिकसम्ब-
न्धासिद्धेः । मोक्षे अध्यासिकसम्बन्धासिद्धेरिति वाच्यम्, अज्ञाने-
च्छादेरिव ज्ञानस्यापि सविषयतायाः स्वाभाविकत्वात् । भोक्तृ-
भोज्यं विना भुजेरिव, ज्ञातृज्ञेयं विना ज्ञानस्यासम्भवात् ।
न चानादौ तदनपेक्षा, अनादेः प्रागभावस्य प्रतियोग्यपेक्षाया-
जात्यादेर्व्यक्त्यपेक्षायामज्ञानस्य विषयाश्रयापेक्षायादर्शनात् । ज्ञानस्य
ज्ञानत्वं हि ज्ञेयोल्लेखित्वं, तच्चातीतादिज्ञानस्याप्यक्षतम्, तच्च
तवानिष्टं, उल्लेखस्य तव संसारत्वेन मोक्षे तदुल्लेखे तद्विप्लव-
प्रसङ्गात् । नापि ज्ञानस्य निर्विषयत्वं सम्भवति ज्ञानत्वहानेः,
अर्थप्रकाशत्वरूपज्ञानस्वभावाभावे घटादेरपि ज्ञानत्वापातात्,
ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वादिति विवरणोक्तिबाधाच्च । किञ्चा-
त्मरूपं ज्ञानं प्रमा ? भ्रमः ? वा, नाद्यः, तद्वेद्यस्याविद्यादेः
सत्यत्वापत्तेः । नान्त्यः, भ्रमस्य दोषजन्यत्वनियमेनात्मनस्तद-
भावात् । उभयभिन्नत्वे ज्ञानमेव न स्यात् । नच तार्किकाभि-
मतेश्वरज्ञानवत् घटादिनिर्विकल्पकवच्चोभयवैलक्षण्येऽपि ज्ञान-
त्वोपपत्तिः, ईश्वरज्ञानस्य प्रमात्वे गुणाजन्यत्वस्य भ्रमत्वे दोष-
जन्यत्वस्य चापत्तेः, निर्विकल्पकस्य तद्वति तत्प्रकारकत्वाभावा-
दिति वाच्यं, अबाधितार्थकत्वरूपयाथार्थ्यप्रामाण्यस्येश्वरीयज्ञानादा-
वक्षतेः, विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वरूपप्रामाण्यस्येश्वरज्ञाननिर्विकल्प-
कयोरक्षतत्वाच्च । प्रमासामान्ये च न गुणजन्यत्वं नियामकं,
किन्तु तद्विशेषे एव । प्रमामात्रे च नानुमतोगुणइति मणिकृतो-
क्तेः, किन्तु दोषाजन्यत्वमेव हि तन्नियामकम्, नापि ज्ञान-

पदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वं जडत्वं, वृत्त्यात्मकज्ञाने भागासिद्धेः, लाक्षणिकज्ञानपदजन्यधीविशेष्यत्वस्य देहेन्द्रियादावपि सत्त्वेनासिद्धेः। नाप्यनात्मत्वं जडत्वं, तथाहि आत्मत्वं न जातिः, तस्यैकत्वात्, विशिष्टानां भेदेऽपि पक्षान्तःपातित्वात् प्रतियोग्यसिद्ध्या तदभावासिद्धेः। नचानानन्दत्वं जडत्वं, वैषयिकानन्दे भागासिद्धेः। नच सोऽपि ब्रह्मानन्द इति वाच्यं, क्षीरनीरपानजन्यानन्दानां तारतम्योपलब्ध्या ब्रह्मत्वासंभवात्। नच दुःखनिष्ठोत्कर्षापकर्षयोरानन्दे उपचारः, दुःखलेशाप्रतीतावप्यानन्दतारतम्यस्य प्रतीतेः। नाप्यज्ञातृत्वं जडत्वं, तव मतेऽन्तःकरणस्य ज्ञातृत्वेन तत्राव्याप्तेः, शुद्धे ब्रह्मण्यतिव्याप्तेश्च; शुद्धं ब्रह्म मिथ्या, अज्ञातृत्वादाकाशादिवदित्याभाससाम्यात्। नच कल्पितज्ञातृत्वं शुद्धेऽपि स्वीक्रियते इति वाच्यं, कल्पितेन हेत्वभावेनातिव्याप्त्यनुद्धरात्, शुद्धत्वभङ्गाच्च, शुद्धाशुद्धविभागासिद्धेश्चेति संक्षेपः। नापि परिच्छिन्नत्वस्य हेतुत्वम्, आभाससाम्यात्। तथाहि तत्त्वं नाम देशकालवस्तुपरिच्छेदवत्त्वं, तत्रात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं देशपरिच्छिन्नत्वं, ध्वंसाभावप्रतियोगित्वं कालपरिच्छिन्नत्वम्, अन्योऽन्याभावप्रतियोगित्वं वस्तुपरिच्छिन्नत्वमिति विवेकः। तत्र नाद्यद्वितीयौ आकाशरूपदेशस्य कालस्य चापरिच्छिन्नत्वेन तत्राव्याप्तेः, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, अथ मर्त्योऽमृतो भवति सर्वमात्मैवाभूत्, अथ संपत्स्ये" इत्यादिश्रुतिभिः सदा सर्वत्र कार्यदर्शनादित्यादियुक्त्या धर्मिग्राहिणा साक्षिणा च तथात्वावगमात्। नच "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्याकाशस्य कालपरिच्छेदश्रवणादुक्तविरोध इति वाच्यं, भूताकाशस्योत्पत्तिनाशादिसम्भवेऽपि अव्याकृताकाशस्य तदयोगात्। नहि पूर्त्तिं विनाऽवकाशनाशः सम्भवति, एतेन विमतं मिथ्या, विभक्तत्वात्। सन् घटः सन् पटः इति घटादिकमननुगतमनु-

गतसद्रूपे विभज्यते इति निरस्तम् । नीलोघटोनीलः पटोघट-श्चलति पटश्चलति, असन्नृशृङ्गमसत् खपुष्पमित्यादौ नीलादिषु घटादीनामसति नृशृङ्गादीनामध्यासापत्तेः । अयं सर्पोऽयं सर्प-इति रज्जुमालादिष्वननुगतेष्वनुगतस्य सर्पस्यारोपवदननुगतेषु घटादिष्वनुगतसद्रूपस्यारोपापत्तेश्च, खण्डोगौर्मुण्डोगौरित्यादाव-नुगतगोत्वादौ व्यक्तेरारोपापत्तेश्च । नच सद्रूपब्रह्मभिन्नगोत्वादे-रनभ्युपगमान्नोक्तदोषइति वाच्यम्, अगवादिव्यावृत्तस्य गवादि-वैलक्षण्यव्यवहारस्यानुपपत्तेः, सद्रूपस्य सर्वानुगतत्वेन व्यावृत्ते-रसम्भवात् । नच तत्तद्व्यक्तिविशिष्टं सत्सामान्यमेव तत्त-द्व्यवहारजनकमिति वाच्यं, तत्तद्व्यक्तिविशिष्टस्य मिथ्याभूतस्य व्यक्त्यनधिष्ठानत्वेन तत्र व्यक्तेरध्यासायोगात् । तत्सामान्य-व्यक्त्योराध्यासिकसम्बन्धातिरिक्तसम्बन्धस्य त्वयाऽनङ्गीकारात् । एतेन घटादिकं सद्रूपेकल्पितं प्रत्येकं तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमान-त्वात्, प्रत्येकं चन्द्रानुविद्धजलतरङ्गचन्द्रवदिति निरस्तम् । रूपादिहीनस्य ब्रह्मणश्चाक्षुषत्वायोगात् चक्षुरादिगृहीतस्य दृश्यस्य मिथ्यात्वेन घटाद्यनधिष्ठानत्वात् । किञ्च ब्रह्मणः सर्वेन्द्रियग्राह्य-त्वे घटादिवन्मिथ्यात्वस्यावश्यं भावात्, अधिष्ठानरूपनिर्वि-शेषं वस्तु मिथ्या, इन्द्रियगोचरत्वात्तव मते घटादिवदित्यनुमा-नात् । किञ्च ब्रह्मणइन्द्रियग्राह्यत्वाङ्गीकारे महावाक्योपदेशस्या-नुवादकत्वापत्तेः, महावाक्योपदेशोन स्वार्थपरः, इन्द्रियगृहीतग्रा-हकत्वेनानुवादरूपत्वात्, अग्निर्हिमस्य भेषजमिति वाक्यवदि-त्यनुमानात् । एतेन द्रव्यग्रहे रूपाद्यपेक्षा, ब्रह्मणस्तु द्रव्यत्वाभावेन तदनपेक्षत्वान्नोक्तदोषावकाशः "अस्थूलमनणिव"ति परिमाणनि-षेधादिति निरस्तम् । उक्तश्रुतेः प्राकृतपरिमाणनिषेधेन नैराका-क्ष्यात् । अन्यथा "अणोरणीयान्महतोमहीयानि"त्यादिश्रुतिव्याको-पात् । नापि तृतीयोऽन्योऽन्याभावप्रतियोगित्वरूपोवस्तुपरिच्छेद-

रूपोहेतुः, अनृतादौ ब्रह्मात्यन्ताभावान्योऽन्याभावयोः सत्वात्तत्रा-
तिव्याप्तेः, ब्रह्म मिथ्या, अनृताद्यन्योऽन्याभावप्रतियोगित्वात्तव मते
घटपटादिवदित्यनुमानात्। नन्वनृतादौ ब्रह्मात्यन्ताभावान्योऽन्या-
भावयोर्मिथ्यात्वात् तत्र ब्रह्मसंसर्गस्य चाभिन्नत्वान्नोक्तदोषइति
चेन्न, तथात्वे मिथ्यात्वाभिन्नत्वसंसर्गयोस्तात्त्विकत्वापत्त्या
तद्भिया पारमार्थिकस्यैवाभावस्याकामेनापि त्वयाऽङ्गीकार्यत्वात्,
सन्दिग्धानैकान्त्यस्य दुर्वारत्वात्, अप्रयोजकत्वाच्च। किञ्च ब्रह्म-
भिन्नत्वस्य तात्त्विकस्य प्रपञ्चेऽप्यभावात् ब्रह्मण्यनृतव्यावृत्ति-
स्तात्त्विकी तया तस्य तथात्वमनुमातुं शक्यते, कल्पित-
स्य त्वात्मनि सत्त्वात् सिद्धं दृश्यत्वादिहेतूनामाभासत्वं सोपाधि-
कत्वात्। उपाधयश्च, सप्रकारकधीबाधार्हत्वम्, अध्यस्ताधिकदोष-
प्रयुक्तभानत्वं, प्रतिभासमात्रशरीरत्वं चेत्यादयः। देहात्मैक्याध्यास-
स्यापि सप्रकारकभेदविषयकज्ञानबाधयोग्यत्वात् न तत्र
साध्याव्याप्तिः। नच सप्रकारकेति अध्यस्ताधिकेति च, विशे-
षणवैयर्थ्यं, तद्भिन्नैवोपाधेः साध्यव्यापकत्वादिति वाच्यं, विशिष्टा
भावस्यातिरिक्तत्वेन तद्विशिष्टस्यैव साध्यव्यापकतया वैयर्थ्या-
भावात्, तावन्मात्रस्य तु साधनव्यापकत्वान्नोपाधित्वमिति संक्षेपः।
किञ्चास्य प्रयोगस्य दृष्टान्तोऽपि दुर्निरूपः, शुक्त्यादेः पक्षान्तः-
पातित्वेन तत्प्रयोगस्याभासमात्रत्वात्। न च माऽस्तु शुक्त्यादि-
दृष्टान्तः व्यतिरेकिदृष्टान्तस्य ब्रह्मणः सत्त्वान्नोक्तदोषावकाशइति
वाच्यं, विकल्पासहत्वात्। तथा हि शुद्धस्य दृष्टान्तत्वं? विशि-
ष्टस्य वा? नाद्यः, सर्वप्रमाणागोचरस्य ब्रह्मणः शशशृङ्गकल्प-
त्वेन दृष्टान्तानर्हत्वात्, प्रमाणविषयत्वे शुद्धत्वहानेरद्वैतभङ्गाच्च।
न द्वितीयः, विशिष्टस्य पक्षान्तः पातित्वात्, तव मते व्यतिरेका-
नुमानानङ्गीकाराच्च। तस्मात्पक्षादीनामाभासत्वेनापातरमणीय-
त्वमुक्तानुमानस्येति सिद्धम्। किञ्च विश्वं यदि कल्पितं

स्यात्तर्हि साधिष्ठानं स्यात्, सामान्यतोऽज्ञातत्वे सति अज्ञात-विशेषवत्त्वस्याधिष्ठानत्वप्रयोजकस्य निर्विशेषे निःसामान्ये ब्रह्म-ण्यसम्भवात् । विश्वं यदि कल्पितं स्यात्तर्हि, सप्रधानं स्यात्, न चैवमस्ति तस्मान्न तथा । विश्वं यद्यध्यस्तं स्यात्तर्हि ससंस्कारं स्यान्नतु तदस्ति, तस्मान्न तथा । नच स्वेनाध्यस्तः स्वारोपहेतु-रिति वाच्यं, भ्रमात्पूर्वं स्वस्य कार्यानुमेयसंस्काराध्यासकारण-त्वासम्भवात् । अन्यथा भ्रमहेतुसंस्कारस्याधिष्ठानसमसत्ताकत्वं दुर्वारम् । न च संस्कारोऽज्ञातोव्यावहारिकः स्वेनारोपितः स्वाध्यास-हेतुरस्त्येवेति वाच्यम्, अज्ञातस्याध्यस्तत्वे मानाभावेन पारमार्थि-कत्वप्रसङ्गात् । किञ्च विश्वं यद्यध्यस्तं स्यात्तर्हि ससादृश्यं स्यान्नचैवमस्ति तस्मान्न तथा । न च पीतः शङ्ख इति सादृश्यं विनाऽपि भ्रमोदृष्टइति वाच्यं, द्रव्यत्वादिना तत्रापि सादृश्य-ज्ञानवत्त्वस्यानुमेयत्वात्, स्वर्णमयशङ्खमूर्त्तौ तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च । किञ्च विश्वं यद्यध्यस्तं स्यात्तर्ह्यनादिकर्मादिजन्यं न स्यात्, अध्यासानादित्वस्य क्वाऽपि प्रसिद्ध्यभावात्, प्रत्युत सादित्वस्य शुक्तिरूप्यादौ दर्शनात्तस्मान्नाध्यस्तत्वमित्यादिप्रतिकूलतर्कैः प्रतिहतमिदमनुमानं न प्रामाण्यार्हमित्यलं विस्तरेण । अप्रमाणत्वा-त्सूत्रकारपक्षहीनत्वाच्चोपेक्षणीयोऽयमनिर्वचनीयवादोमुमुक्षुभिः । असद्वादस्त्वग्रे निरस्यते । तस्मात्सदेवेदं विश्वं "सदेव सौम्येदमग्रआसीदि"ति श्रुतेः । "सत्वाच्चावरस्ये"ति वक्ष्यमाण-सूत्राच्च । तच्च कार्यं कारणात्मकत्वात्तदपृथक्सिद्धमित्याह भग-वान्सूत्रकारः । "तदनन्यत्वमिति" । तस्य कार्यस्य ब्रह्मणः सकाशा-दनन्यत्वं, यद्वा तस्मात्कारणात् ब्रह्मणोऽनन्यत्वं तदात्मकत्वा-दिनाऽपृथक्सिद्धत्वं कार्यस्य जगतः । तत्र प्रमाणमाह । "आर-म्भणशब्दादिभ्यः"इति आरम्भणशब्दादिर्येषां "विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं, सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयं, तदै-

स्यात बहु स्यां प्रजायेय, तत्तेजोऽसृजत, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति, तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते" त्यादीनां तान्यारम्भणशब्दादीनि तेभ्योवाक्येभ्यः प्रमाणेभ्यः । अत्रामनन्ति छन्दोगाः । "येनाश्रुतं श्रुतं भवती"त्यादिना ह्येकोपादानकारणविज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये दृष्टान्तोपन्यासः । "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति । यथेति दृष्टान्ते मृत्पिण्डेन मृद्द्रव्यरूपतया विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं मृद्विकारजातं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकतया विज्ञातं भवति, तत्तदवस्थाविशेषमात्रत्वादुपादेयजातस्य स्वोपादानापृथक्सिद्धत्वादित्याह, वाचारम्भणमिति । कार्यजातं वाचा वागिन्द्रियेणारभ्यते "घटेन जलमाहरे"त्यादिना व्यवह्रियते इति वाचारम्भणं "कृत्य ल्युटोबहुलमि"ति कर्मणि ल्युट् । तद्विविधं विकारोनामधेयं चेति, तत्र कम्बुग्रीवादिमद्व्यक्तिविशेषरूपो विकारशब्दवाच्यः, नामधेयं च घटादिशब्दवाच्यः शब्दविशेष एव । ननु यथा कारणं मृत्तिका स्वतन्त्रसत्ताश्रयत्वात्सत्या तथा घटादीनां कार्याणामपि पृथक्स्वतन्त्रसत्त्वं भवतु, उपलभ्यमानत्वादित्यत्राह, मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः । इति शब्दः कारणपरामर्शपरः । मृत्तिकाकारणभूतैव स्वतन्त्रसत्ताश्रया, न तु तथा घटादिकार्यं स्वातन्त्र्येण सत्यं, कारणव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात्, तदन्वितस्य चोपलभ्यमानत्वाच्चेति दृष्टान्तः । एवमाकाशादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मोपादेयतया तदात्मकतया च स्वतन्त्रसत्ताऽनधिकरणत्वात् स्वोपादानकारणभूतब्रह्मापृथक्सत्त्वमेवेति सिद्धान्तः । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति श्रुतेः । "वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च" इत्यादिस्मृतेश्च ।

यत्तु कैश्चित्स्वकपोलकल्पितानश्रौतदृष्टान्तान् शुक्तिरूप्यमृगतृष्णोदकादीनुपन्यस्याकाशादि कार्यस्य मृषात्वं प्रतिपादयद्भिरेतत्सूत्रं विवर्त्तपरत्वेन व्याख्यायते, तदसमीचीनं, प्रतिज्ञादृष्टान्तासम्भवात् । तथाहि "येनाश्रुतं श्रुतमि"त्यादि श्रौतप्रतिज्ञावाक्ये कारणविज्ञानेन कार्यविज्ञानं प्रतिज्ञातं, तत्र किं तावत्कारणं शुद्धं निर्विशेषं ब्रह्म वा ? उपहितं वा ? नाद्यः, तस्य कारणत्वानभ्युपगमात्, तत्र प्रमाणाभावेन तद्विज्ञानस्यैवासम्भवाच्च । "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः" इत्यन्वयव्यतिरेकश्रुतिव्याकोपाच्च, तज्ज्ञानाभावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च । न द्वितीयः, तद्विज्ञानस्य मोक्षाहेतुत्वेनाप्रयोजकत्वात्, उपहितस्यैव ब्रह्मणोजगत्कारणत्वेन तज्ज्ञानेन तदुपादेयज्ञाने जातेऽपि तस्य मोक्षाहेतुत्वेन मिथ्यात्वेन चानिर्मोक्षप्रसङ्गस्यावश्यं भावात् । अन्यथोपहितं ब्रह्मैव मुक्तोपसृप्यं स्यात् शुद्धस्यासिद्धेश्चेत्यर्थः । किञ्च शुक्तिरूप्यमृगतृष्णोदकादिदृष्टान्तानामप्यप्रामाण्यम्, अश्रौतत्वात्, श्रौततात्पर्यविरोधाच्च । मृत्तिकाद्युपादानपदार्थज्ञानाद्यथा घटादितत्कार्यजातस्य विज्ञानं तदुपादेयत्वात्सर्वप्राणिगोचरं, न तथा शुक्तिज्ञानाद्रूप्यमात्रस्य ऊषरज्ञानाद्वाउदकमात्रस्य ज्ञानं कस्याप्यनुन्मत्तस्य जायते, उपादेयत्वाभावात् । तस्माद्दृष्टान्ताभासत्वमेव तेषामिति सिद्धं "लौकिकपरीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्यं सदृष्टान्तः" इति गौतमीयलक्षणसूत्रात् । ननु घटादीनामपि मृदादावध्यस्तत्वेन विवर्त्तपक्षेऽपि दृष्टान्तत्वसम्भवान्नाभासत्वमिति चेन्न, मृदादिज्ञानेन घटादीनां बाधादर्शनात्, बाधं विना चारोपेमानान्तराभावात् मृदादिज्ञानेऽपि घटादीनां पूर्ववद्विद्यमानानां प्रातीतिकत्वासम्भवाच्च । किञ्च व्यावहारिकविवक्षायां मृदादिवत् कारकव्यापारसाध्यानां जलाहरणादिकार्योपयुक्तानां चावस्थाविशेषाणां घटादीनामपि सत्त्वात् तात्त्विकसत्त्वविवक्षायां च

मृदादेरपि सत्यत्वाभावाच्च दृष्टान्ताभासत्वम् । ननु घटादयोन तावन्मृदादिमात्रेऽध्यस्ताः किन्तु मृदाद्यवच्छिन्नचेतने एव, तथात्वे च मृदाद्यवच्छिन्नतत्त्वज्ञानाभावात्तद्बाधोयुक्तएवेति चेन्न, प्रमाणहीनत्वात्, श्रौतदृष्टान्तविरुद्धत्वाच्च । नहि श्रुतौ मृदाद्यवच्छिन्नचेतनविज्ञानेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादिति दृष्टान्तउपन्यस्तः, किन्तु मृत्पिण्डमात्रएव, तस्मात्कपोलकल्पितपारिभाषिकमात्रत्वाद्दृष्टान्ताभासत्वमेव । ननु "शुक्तौ ज्ञातायां रूप्यं तत्त्वतोज्ञातं भवति, साहि तस्य तत्त्वं, एवं ब्रह्मज्ञानात्सर्वं तत्त्वतोज्ञातं भवती"ति श्रीवाचस्पतिमिश्रैर्भामतीप्रबन्धे प्रतिपादनात् । किञ्च यथाघटकरकाद्याकाशानां महाकाशादनन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं, दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्, स्वरूपेणानुपाख्यत्वादेवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभावइति द्रष्टव्यमि"त्यादि श्रीभगवत्पादैर्भाष्यकारैश्चोक्तत्वात्कथं प्रलापइति चेन्न, एवं तर्हि ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मैव ज्ञातं भवतीत्यर्थ उक्तः स्यात् । तच्चायुक्तं, सर्वमिति साधारणश्रवणात्स्वस्य स्वहेतुत्वायोगात्, "येनाश्रुतमिति" श्रुतिगताश्रुतादिपदवैयर्थ्याच्च । किञ्च तत्त्वं नाम स्वासाधारणं स्वरूपं, स्वासाधारणधर्मोवा, नतु भ्रमाधिष्ठानं, श्रौतदृष्टान्तानां मृत्पिण्डादीनां घटाद्यधिष्ठानत्वाभावात्, अन्यथा रजतादिवत् घटादीनामपि बाधप्रसक्तेः बाधाभावान्यथानुपपत्तेरप्यत्र प्रामाण्यात् । एवं दार्ष्टान्तेऽपि ब्रह्मज्ञानात्प्रपञ्चाबाधदर्शनस्याप्यनध्यस्तत्वे मानत्वं बोध्यम् । अन्यथा शुक्तितत्त्वज्ञानाद्रूप्यनाशवद्ब्रह्मज्ञानात्सर्वनाशापत्त्या सर्वविज्ञानासम्भवादिति भावः । अपि च वाचारम्भणशब्दस्य मिथ्यार्थकत्वे योगरूढ्योरभावात्, वाचारब्धकाव्यादेर्मिथ्यात्वादर्शनात्, वागालम्बनमात्रमिति व्याख्यानेऽश्रुतकल्पनात्, त्वया नामधेयमित्यस्यापि नाम मात्रं ह्येतदिति व्याख्यात-

त्वेन पौनरुक्त्याच्च। ननु "कोभवानिति निर्देशोवाचारम्भोह्यनर्थक" इति स्मृत्या वाचारम्भशब्दस्य मिथ्यापरत्वदर्शनात्तथाऽत्रापि बोध्यमिति चेन्न, स्मृतावपि पूर्वोक्तरूढ्याद्यभावेन त्वदिष्टपरत्वाभावात्। तथा हि देहानां प्रकृत्युपादेयत्वेन प्राकृतत्वाविशेषात् "कोभवानिति निर्देशो" देहविषयकप्रश्नोऽनर्थकः प्रकृतेः स्वतन्त्रभिन्नतया निर्धारणरूपार्थशून्यः, किन्तु वाचारम्भोवाग्व्यवहारयोग्यइति स्मृत्यर्थः। अन्यथा शब्दमात्रस्यापि वागिन्द्रियारभ्यत्वसाम्यात् वाचेति वैयर्थ्यापत्तेः। अर्थासत्त्वेन वागादिप्रयोगस्य त्वयैवानुभूतत्वात्, न तु त्वदन्यैः कैश्चिदिति भावः। ननु वाचारम्भणनामधेयपदाभ्यां विचारासहत्वं विवक्षितं, तथा हि भूविकारस्य घटादेः स्वरूपविचारे विकारोमिथ्या भूःसत्या, तत्स्वरूपविचारे च साऽपि मिथ्या, तद्धेतुभूतापञ्चीकृतभूतान्येव सत्यानि, तत्स्वरूपविचारे च तेषामपि मिथ्यात्वं, किन्तु तत्परमकारणं ब्रह्मैव सत्यमिति मृत्तिकेत्येव सत्यमिति, सत्यमित्यत्र हेतुर्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं वाङ्मात्रं विचारासहं, तस्मान्निर्विकारं ब्रह्मैव सत्यमिति चेन्न, विपरीतत्वात्। तथा च विकारस्य कारणात्पृथक्सत्त्वासिद्ध्या स्वतन्त्रसत्ताभावमेव बोधयति श्रुतिः, न तु स्वरूपेण मृषात्वम्, अन्यथा विचारासहत्वमात्रेण मिथ्यात्वकल्पनायां ब्रह्मणोऽपि "न सत्तन्नासदुच्यते" इति स्मृतेः सदसद्भ्यां विचारासहत्वेन मिथ्यात्वप्रसक्तेर्दुर्वारत्वात्, ब्रह्म मिथ्या, सदसद्भ्यां विचारासहत्वात्, तव मते पृथिव्यादिवदिति प्रयोगात्। किञ्च विकारोनामधेयमित्यत्र साक्षात्कण्ठरवेण विकारशब्दपाठादपि विवर्त्तासिद्धेः, यदि श्रुतेर्विवर्त्तोऽभिप्रेतः स्यात्तर्हि विकारइति मृत्पिण्डादिदृष्टान्तांश्च न श्रावयेत्। अपि तु भ्रान्तिर्नामधेयमिति ब्रूयात्, शुक्तिरजतादिदृष्टान्तांश्चोपन्यसेत्। नहि विवर्त्तकार्यं विकारोऽपि तु भ्रममात्रमन्यथा विवर्त्तएव न

स्यात् । किञ्च यदि नामरूपात्मकं कार्यमनृतमेव तर्हि वेदान्तशास्त्रस्य तद्विचारस्य चापि मृषात्वाविशेषेण तस्मात्सद्रूपब्रह्मभावापत्तिलक्षणमोक्षस्यापि कथमिव सिद्धिरिति मनीषिभिर्वैदिकम्मन्यैर्विचारणीयमेकाग्रमनसा, "कथमसतः सज्जायेते"ति श्रुतेः "साधनं चेदवश्यं च परमार्थास्तिता भवेत् । सिद्धिर्नापरमार्थेन परमार्थस्य युज्यते" इति भट्टपादैरुक्तत्वाच्च ॥ १४ ॥

# सू० भावे चोपलब्धेः । २।१।१५

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तदनन्यत्वं कारणसद्भावे कार्य्योपलब्धेः॥१५॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

इतोऽपि कारणानन्यत्वं कार्य्यस्येत्याह —

भावे चोपलब्धेः ।

कार्य्यस्य कारणादनन्यत्वं कुतोऽवगम्यते? कारणसद्भावे च सति कार्यस्योपलब्धेः । "सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः" इत्यादिश्रुतेः॥ १५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वसत्यमपि प्रतिबिम्बं बिम्बस्य रेख्यारोपितोवर्णश्चार्थस्य वर्णदैर्घ्यादिकं नगोनागइत्यर्थभेदस्य शङ्काविषं मरणस्य सवितृसुषिरादिश्चारिष्टादेः रज्जुसर्पोभयकम्पादेः स्वाप्निकः स्त्री-

सङ्गमः सुखस्य स्वाप्नोऽर्थः शुभाशुभयोः साधकं दृष्टम्, आह च भगवान्भाष्यकारः "नैष दोषः शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः, स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात्। तथा च श्रुतिः "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शनः"इत्यसत्यस्वप्ननिदर्शनेन सत्यसमृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति, तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषु चिदनिष्टेषु जातेषु न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यादित्युक्त्वा, अथ "स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ती"त्यादिना तेन तेनासत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यते इति दर्शयति, प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यते, ईदृशेनासाध्वागमः"इति "तथाऽऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टारेखानृताक्षरप्रतिपत्तेरि"त्यादिनेति चेत्तत्राह भगवान्सूत्रकारः —

भावे चोपलब्धेः।

कारणस्य सद्भावे सत्येव कार्योपलब्धिर्दृष्टचरा। यथा मृदादिभावे एव घटादिकार्योपलम्भोनान्यथा, देशान्तरे कालान्तरे वा, तस्मात्सदेवोपदानं, उपादेयस्य तदनन्यत्वं च। ननु चाग्निकार्ये धूमे गोमयादिकार्ये वृश्चिकादौ चानन्यत्वं न दृश्यते, तत्रोच्यते, अग्निर्हि निमित्तकारणं पितेव पुत्रस्य, विनष्टेऽप्यग्नौ धूमस्थितिदर्शनात्, अग्निसंयुक्तार्द्रेन्धनाद्धि धूमोजायते गन्धैक्याच्चार्द्रेन्धकार्यमेव धूमः, वृश्चिकादौ चाद्यकारणपृथिवीद्रव्यत्वेनान्यत्वोपलब्धेः। नापि पूर्वोक्तव्यभिचारकल्पना युक्ता, सर्वत्र कारणस्य सत्त्वात्। तथा हि बिम्बाभाववद्वृत्तिरूपव्याप्तेः प्रतिबिम्बे सत्त्वात् तज्ज्ञानस्यैव सतो बिम्बानुमितिजनकत्वाच्च न व्यभिचारः, रेखायाश्च वर्णो पदस्यार्थे इव

सङ्केतितत्वेन रेखास्मारितवर्णस्यैव बोधकत्वात्, रेखाभेदज्ञानवतामपि तथा बोधात्, दीर्घत्वादिकं वर्णगतं सत्यमेव, तार्किकमते नानादीर्घादयोऽनित्यावर्णाः, सिद्धान्ते तु नित्याएव, त्वन्मते त्वनित्याएव, शास्त्रयोन्यधिकरणे वेदानित्यत्वस्य त्वयाङ्गीकारात्, दीर्घत्वादिज्ञानस्यैव हेतुत्वेन मतान्तरेऽप्यनुपपत्त्यभावात्, शङ्कानिमित्तभयजन्यधातुव्याकुलतैव मरणहेतुर्नविषं पुत्रमरणश्रवणावत्, भारतयुद्धादौ घटोत्कचादिभिः शक्तिविशेषात्सृष्टमर्थक्रियाकारिगजादिकं सत्यमेव, सवितृसुषिररज्जुसर्पज्ञानमेवारिष्टभयादिहेतुः सत्यप्यर्थे तदज्ञाने भयाद्यभावात्, स्वाप्नस्त्रीज्ञानस्यैव सुखहेतुत्वं, न तु तत्सङ्गमस्य तदज्ञानां तदभावात्, स्वाप्निकपदार्थानामपि परमात्मसृज्यत्वेन सत्कार्यजनकत्वात्, नासतः क्वापि कार्यकारित्वमिति भावः। किञ्चैकत्र सतएवान्यत्रारोपोनियतः स्वरूपेणासतः खपुष्पादेः कचिदप्यारोपादर्शनात् ।नचारोपे तद्विषयकप्रतीतिमात्रमेवापेक्षितं, नतु विषयसत्त्वमपीति वाच्यं, असतः प्रतीतेरेवासम्भवात्। ननु शुक्तौ रजतप्रतीतिवत् रज्जौ सर्पप्रतीतिवच्च भेदप्रतीतेरपि दोषमात्रकारणमपेक्षितं, न विषयसद्भावइति चेन्न, त्वन्मते दोषमात्रकारणस्यापि तुच्छत्वसाम्येन ततः प्रतीतिरूपकार्योत्पत्तेरसम्भवात्, कार्यस्य कारणसत्तापेक्षत्वनियमात् । न चासत्यस्याप्यारोपितसर्पस्य भयकम्पादिजनकत्वदर्शनात् उक्तहेतोर्व्यभिचारइति वाच्यं, स्वरूपेणासतः कार्योत्पत्त्यनुकूलशक्तिमत्त्वाभावात्, आरोपितसर्पस्थलेऽपि सर्पज्ञानस्यैव भयादिहेतुत्वं मारोपितविषयस्येति पूर्वमेवोक्तम्, अन्यथा सर्पज्ञानाभाववतोबालस्य भ्रमोभयादिश्च भवेत्, न नु तदस्ति, प्रत्युत सत्यसर्पस्यापि बालैः स्वहस्तस्पर्शदर्शनात् । न चासतोऽपि रज्जुसर्पादेः स्वज्ञानजनकताइव भयकम्पादिजनकतापि किं न

स्यादिति वाच्यं, तत्रापि दोषस्यैव ज्ञानजनकत्वान्नारोपितविषयस्य। अन्यथाऽसत्यपि तमोदोषे रज्जौ सर्पज्ञानोत्पत्तिः केन वार्यते तवाभिप्रेतासतः कारणस्य विद्यमानत्वात्। एवं च मृगतृष्णाजलेन मृगादीनां तृष्णानिवृत्तिः, गुञ्जारोपिताग्निना शीतनिवृत्तिः, विषारोपितामृतेन मरणाभावः, शूद्रात् ब्राह्मण्यां जातस्य चाण्डालस्य ब्राह्मणत्वेन ज्ञातस्य वेदाधिकारः, तत्कृतयज्ञस्य ज्योतिष्टोमादेः स्वर्गादिजनकत्वम्, आरोपितात्मत्वादेश्च देहादेः श्रवणादितोमुक्तिः, स्वाप्निकयज्ञादेश्च स्वर्गादिप्राप्तिश्च स्यादिति भावः। तस्मात्सद्वोपादानमिति सिद्धम्॥ १५॥

## सू०सत्वाच्चावरस्य २।१।१६॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

"ब्रह्म वा इदमग्रआसीदि"ति सामानाधिकरण्यनिर्देशेनावरकालीनस्य कार्य्यस्य कारणे सत्त्वात्तदनन्यत्वम्॥ १६॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

इतोऽपि तदनन्यत्वमित्याह—

सत्त्वाच्चावरस्य।

"सदेव सौम्येदमग्रआसीदि"ति"ब्रह्म वा इदमग्रआसीदि"ति सामानाधिकरण्यनिर्देशादवरस्य

कार्य्यस्येदम्पदवाच्यस्य कारणे सत्त्वात्तदनन्यत्वं निश्चीयते ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तथैव कार्यमपि सदेवोत्पद्यते इत्याह—

सत्त्वाच्चावरस्य ।

अवरस्य कार्यस्य कारणे सत्त्वात् यत्र यस्याभावोन नत्ततः उत्पद्यते, यथाऽग्नेर्व्रीह्यङ्कुरादिः सिकताभ्यस्तैलमित्यर्थः। यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति, तथा कार्यरूपं विश्वमपि त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरतीति परैरपि तथैवोक्तेः। अन्यथा "सदेव सौम्येदमग्रआसीदात्मा वा इदमग्रआसीदि"त्यादाविदं शब्दगृहीतस्य कार्यस्य भूतकालीनसत्तायोगश्रवणस्य बाधात्, अत्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽवस्तुत्वेन कालसम्बन्धासम्भवात्। ननु स्वाप्नरथादिसृष्टिदर्शने विषयस्य दुर्निरूपत्वेन मृषात्वं सुप्रसिद्धं, तद्वज्जाग्रत्प्रपञ्चस्यापि मृषात्वमेव। तथा च विषयासिद्ध्या तज्ज्ञानमपि मृषैवेति चेन्न, विषयस्य तत्रापि सत्त्वात्। तथा हि स्वाप्नपदार्थस्येश्वरसृज्यत्वेन याथात्म्यसद्रूपत्वात् आकाशादिवत्। एवं च तद्विषयकज्ञानयाथार्थ्यस्य विवादोनिरवकाशः। ननु यदि स्वाप्नसृष्टिः पारमेश्वरीया तर्हि तात्कालिकबाधोन स्यात्, तत्समीपवर्त्तिभिरन्यपुरुषैश्चानुभूयेत, नतु तदस्ति, तस्माज्जीवसृष्टिरेवातस्तन्मिथ्यात्वस्य सुतरां सिद्धिरिति चेन्न, तावदीश्वरसृष्टेः सर्वस्या अप्याकाशादिवद्बहुकालावस्थायित्वानियमोवक्तुं शक्यः, तत्सङ्कल्पानुसारित्वात्, तत्कार्यस्य तत्र कस्य चिदाकाशादेर्महाप्रलयावसानावस्थितिरितरस्य देवदत्तपुत्रादेर्यत्किञ्चित्कालावस्थायित्व-

नियमः कस्य चित्पदार्थस्य तात्कालिकोत्पत्तिविनाशयोगश्च प्रत्यक्षादिप्रमाणासिद्धः, तस्मात् स्थितिकालस्य तत्कर्तृपरमेश्वरसङ्कल्पाधीनत्वेन बह्वल्पकालावस्थानानियमान्नोक्तदोषावकाशः, । नापि समीपवर्त्तिभिरननुभूयमानत्वं मिथ्यात्वे नियामकं, देवदत्तादिमनोगतसुखदुःखादेरन्यैरननुभूयमानत्वेऽपि तस्य मिथ्यात्वाभावात्, तथा प्रकृतेऽपि बोध्यम् । नच मनोगतसुखादेर्जीवजन्यत्वमिति शङ्कनीयम् ईश्वरसृज्यत्वस्य श्रीमुखगीतत्वात् "सुखं दुःखमि"त्यारभ्य, "भवन्ति भावाभूतानां मत्तएवे"ति वाक्येन । किञ्च तत्तत्प्राणिपुण्यापुण्यानुरूपतत्तत्पुरुषानुभाव्यतावत्कालावस्थानानुकूलभगवत्सङ्कल्पसृष्टाएव, स्वाप्नपदार्थान जीवसृष्टास्तेषां बद्धावस्थायां सत्यसङ्कल्पत्वाभावात् । अन्यथा तेषां सुखमेव सर्वदा स्यान्नकदाचिदपि दुःखयोगः, जाग्रत्समयेऽपि स्वसङ्कल्पानुसारेणसृष्टिं कुर्युः, न तु तथा दृश्यते, प्रमाणाभावादसम्भवाच्च । किञ्च "एषु जाग्रति कामं कामं पुरुषोनिर्मिमाणस्तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते, तस्मिन्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चने"ति स्वाप्नसृष्टिश्रुत्युक्तलिङ्गानि न कथमपि जीवात्मन्यन्वेतुं शक्यानि परमेश्वरासाधारणधर्मत्वाद्विशेषार्थस्तु तृतीयाध्याये तत्प्रकरणे वक्ष्यते, तस्मात्परमेश्वरसृज्याएव स्वाप्नपदार्था इति सिद्धम् । किञ्च तत्कार्यकारित्वान्यथानुपपत्तिरपि तत्सत्यत्वे मानत्वेनानुसन्धेया, किञ्च ब्रह्मणः सर्वकारणत्वान्यथानुपपत्तिश्चापि स्वाप्नपदार्थानां तत्सृज्यत्वे प्रमाणम् । ननु ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वाऽनुपपत्तिः तथा ह्यचेतनस्य परिणामिसत्तायोगाद्भवतु तत्कारणत्वं ब्रह्मणः, चेतनस्य तु कूटस्थसत्ताश्रयत्वेन जन्माद्यसम्भवात् कथं तत्कारणत्वमन्यथाऽनित्यत्वापतेः । प्रत्यगात्मानोऽनित्याः जन्मादिमत्त्वात् घटादिवदिति प्रयोगात् "न जायते म्रियते वा विपश्चिदि"त्यादि शास्त्रव्याकोपात् कृतना-

शादिप्रसङ्गश्चेति चेन्न, प्रामादिकोक्तेः, स्नानादिकर्मणां मध्ये फलं दातुमुन्मुखस्य प्रबलस्यैकतमस्य कर्मविशेषस्य फलानुभूतये तदनुकूलदेहादिसंयोगे सति तद्भोगार्हज्ञानशक्त्यादिविकाशस्य जीवजन्मपदार्थत्वात् अत्यन्तविस्मृतिपूर्वकस्थूलदेहादिवियोगेन भोगाद्यनर्हतापत्तेश्च मृत्युनाशादिपदार्थत्वान्नोक्तदोषावकाशः। वस्तुतस्तु अस्याः शङ्कायाउन्मत्तप्रलापत्वमेव। श्रुतेस्तावत्सर्वकार्यं प्रत्येव ब्रह्मणः कारणत्वप्रतिपादकत्वेन जीवे तत्प्रसङ्गाभावात्, यदि प्रत्यगात्माकार्यं स्याद्ब्रह्मणश्च तदुपादानत्वाभावे सर्वकारणत्वे न्यूनताप्रशक्तिः स्यान्नतु तदस्ति, तस्यानाद्यनन्तकूटस्थत्वश्रवणादिति भावः। ननु "अनादिनिधनानित्ये"ति वेदस्याप्यनाद्यनन्तत्वश्रवणात्तत् कारणत्वं ब्रह्मणोऽनुपपन्नं, तथात्वे च ब्रह्मणः समस्तकारणत्वेऽव्याव्याप्तिरिति चेन्न, तस्यापि निःश्वसितन्यायेनाविर्भावकारणत्वस्य ब्रह्मगतत्वेनोक्तदोषानवकाशात्, "अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदोयजुर्वेदसामवेद" इति श्रुतेरुक्तन्याये मानत्वात्। "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे" इति श्रुतेश्च तदाविर्भावे मानत्वात्। "वेदानां जन्मादयस्तु निर्विकारित्वेनैवाविर्भावतिरोभावमात्रत्वं, नत्वानुपूर्व्यन्यथाभाव" इति - सिद्धान्तसेतुकायां - "श्रीसुन्दरभट्टपादोक्तेः"। अचेतनप्राकृतवर्गस्याकाशादेस्तु परिणामिसत्ताकत्वेन स्थूलसूक्ष्मावस्थान्तरव्यक्ताव्यक्तनामरूपान्तरविभागेनावस्थितिरेवोत्पत्तिलयशब्दाभ्यां प्रतिपाद्यते, नतु तार्किकवत् असतोजन्मनाशौ शशशृङ्गादावतिप्रसङ्गात्, नाप्यन्येषामिवारोपापवादौ श्रुतिप्रमाणशून्यत्वादिति संक्षेपः। एवं मिथ्यात्वे प्रमाणासिद्ध्या कार्यं सदेव स्वोपादानब्रह्मापृथक्सिद्धं चोपादानात्मकत्वादुपादेयमात्रस्येति सिद्धम् "सदेव सौम्य! एतदात्म्यमित्यादि"श्रुतेरिति राद्धान्तः। "सदसच्छब्दयोः पञ्चमहाभूतपरत्वस्य श्रुत्यैव कण्ठरवेणव्याख्यातत्वात् "यदन्यद्वा-

योरन्तरिक्षाच्चैतत्सद्वायुरन्तरिक्षं चासदि"ति श्रुतेः । अन्यथा "न सत्तन्नासदुच्यते" इति स्मृत्याऽऽत्मनोऽप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गा दितिपूर्वमेवोक्तमलं विस्तरेण ॥ १६ ॥

## सू० असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्म्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दान्तराच्च २।१।१७॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"असद्वाइदमग्रआसीदि"त्यसद्व्यपदेशात्कार्यस्य सृष्टेः प्राक् न सत्त्वमिति चेन्न, सूक्ष्मत्वेन तादृग् व्यपदेशोऽस्ति । कुतोऽवगम्यते ? "तत्सदासीदि"तिवाक्यशेषात् । यद्यसदेव कार्यमुत्पद्यते तर्हि वन्हेर्यवाद्यङ्कुरोत्पत्तिः कुतो नास्तीति युक्तेः "सदेव सौम्येदमग्रआसीदि"ति शब्दान्तराच्च ॥ १७ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दान्तराच्च ।

ननु सत्कार्य्यवादोन युक्ततरः, कुतः ?

"असद्वाइदमग्रआसीदि"त्यादिनोत्पत्तेः प्रागसत्त्वव्यपदेशादिति चेन्न,कुतः? धर्मान्तरेण तादृशव्यपदेशात् । अभिव्यक्तनामरूपत्वलक्षणाद्धर्मादनभिव्यक्तनामरूपत्वलक्षणं धर्मान्तरं, तेन धर्मान्तरेण"असद्वाइदमग्रआसीदि"ति जगद्व्यपदिश्यते, नासत्स्वरूपतोऽभिधीयते। नन्वेवं कुतोऽवगम्यते ? इत्यत्रोच्यते, वाक्यशेषादिति। वाक्यशेषे हि "तत्सदासीदि"ति तत्पदेन प्रकृतपरामर्शोऽस्ति, ततः उपक्रमगतोऽसच्छब्दोऽनभिव्यक्तनामरूपभूत—सूक्ष्मवस्तुवाचकइति गम्यते ।कार्यस्य सत्त्वे हेत्वन्तरमाह, युक्तेरिति। युक्तेरपि कार्यस्य सत्त्वं निश्चीयतइत्यर्थः । का सा युक्तिर्यया सत्त्वं निश्चीयते कार्यस्य, इत्यत्रोच्यते, अस्मत्पक्षे सर्वं नामरूपं प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यं सत्यमेवोपलब्धेः । सद्रूपत्वान्मृत्पिण्डात्कर्त्रा घटः संपाद्यते, तत्र मृत्पिण्डस्येव घटस्यापि सत्त्वं प्रत्यक्षतोऽवगम्यते । अतः कारकव्यापारोऽपि सार्थकोभवति। ननु मृत्पिण्डवद्घटस्य सत्त्वात्कारकव्यापारोऽनर्थकइति चेन्न, तस्याभिव्यक्त्यर्थत्वात्। प्रागनभिव्यक्तोऽपि घटोऽभिव्यक्तः क्रियतेऽतोन कारकव्यापारोऽनर्थकः ।

वेदोक्तानि नामरूपाणि यथा पूर्वाणि व्यवह्रियन्ते, नास्मत्पक्षे नामरूपव्यवहारोऽभूत्पूर्व इति बोध्यम् । असत्कार्य्योत्पत्तिस्तु न सङ्गच्छते, अग्नेः सकाशाद्यवाङ्कुरोत्पत्त्यदर्शनात् । नच तत्र तादृशकार्यजनने शक्तिर्नास्ति, विस्फुलिङ्गोत्पादनशक्तिरस्तीति वाच्यम्, परिज्ञातपरिमाणात्सुवर्णादेरुत्पन्ने कार्येऽधिकस्य परिमाणान्तरस्या*नुपलब्धेः । तथा अग्निविकारभूतास्तत्कणाः‡ प्रत्यक्षप्रमाणगम्याः सर्वैरुपलभ्यन्ते । कपोलकल्पिताभूतपूर्ववस्तूत्पादकशक्तिवादे प्रमाणाभावात् । तस्मादसत्कार्यवादोऽयुक्तः, कारकव्यापारोऽपि तन्मतेऽनर्थकः, घटार्थमृत्खननमर्दनारोपणादिकारकव्यापारस्योपादाना×दविषयत्वात् उपादानाभावे किमाश्रित्य कर्त्ता तथा कुर्यात्, कार्यस्य घटादेस्तदानीमनुत्पन्नत्वात् । विनापि मृत्पिण्डं व्यापारमात्रेण घटोत्पत्तिप्रसङ्गाच्चेति

---

* असत्कार्योत्पत्तिवादिमते तु सुवर्णपरिमाणात्कुण्डलादिपरिमाणस्य पार्थक्यापत्तिः स्यादितिभावः ।

‡ नहि काचित्शक्तिरग्निभिन्नाम्कणानुत्पादयतीतिभावः ।

× उपादानाविषयत्वात्, इत्यपि पाठः ।

सुधीभिश्चिन्त्यम् । अत्र बहुविधोविवादोमुमुक्षुपरि-
श्रमभयान्नोद्धाट्यते । प्रकृते तु जगत्कारणस्य
ब्रह्मणोऽनन्तशक्तिमत्त्वात्सर्वमनवद्यम् । पुनः कार्यस्य
सत्यत्वे हेत्वन्तरमाह, "शब्दान्तराच्चेति" पूर्वो-
दाहृतात् "असद्वाइदमग्रआसीदि"त्यस्माच्छब्दा-
दन्यः सुष्ठुसत्कार्यबोधकः शब्दः शब्दान्तरः, "सदेव
सोम्येदमग्रआसीदि"ति तस्मादपि सदेव कार्य-
मुत्पद्यते इत्यर्थः ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु माऽस्तु कार्यस्याध्यस्तत्वासिद्ध्या मिथ्यात्वमनिर्वचनीय
त्वे प्रमाणाभावात्, किन्त्वसत्त्वमेवास्तु प्रपञ्चस्य, तत्र श्रुति-
प्रमाणस्य सत्त्वादित्याक्षिप्योतिष्ठन्त्यसत्कार्यवादिनोवैशेषिकादयः—

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः
शब्दान्ततराच्च ।

तथा चायं तेषामभिप्रायः कार्यमसदेव कारणवैलक्षण्यात् ।
तथा हि नहि कार्यकारणविषयकज्ञानस्यैकरूपत्वनियमः शब्द-
भेदात्, घटः पटइति शब्दात्कार्यप्रत्ययः. मृत्तन्तव इति शब्दा-
त्कारणप्रत्ययः, जलाहरणादिदेहाच्छादनादिच घटपटादेः कार्यस्य
फलं कुड्यनिर्माणादि रज्जुनिर्माणादि च मृत्तन्त्वादिकारणस्य
फलम् । नहि घटादिना कुड्यनिर्माणादिसम्भवोनाऽपि मृदादिना
जलाहरणादिसम्भवश्चेत्यन्वयव्यतिरेकेण फलभेदाच्च । कालभेदा-

ऽपि प्राक्कालीनं कारणमुत्तरकालीनं च कार्यं आकृतिसङ्ख्याभेदाच्च पिण्डाकारमेकसङ्ख्याकं च कारणं, कम्बुग्रीवपृथुबुध्नोदराकारमनेकसङ्ख्याकं च कार्यं किञ्च कार्यस्य सत्त्वे कारकव्यापारवैयर्थ्यांचेत्यादिभ्योहेतुभ्यः कार्यस्यासत्त्वमिति तात्पर्येण शङ्क्यते कणभक्षादिभिः। ननु "असदेवेदमग्रआसीत्, असद्वाइदमग्रआसीदि"-त्यादिश्रुतिभिः कार्यस्योत्पत्तेः प्राक्कालेऽसत्त्वव्यपदेशात्कथं सत्त्वमिति चेत्तत्रोत्तरमाह भगवान्सूत्रकारः। नेति। प्रागपि कार्यस्यासत्त्वं व्यपादिश्यते इति नाशासनीयम्। तत्र हेतुमाह, धर्मान्तरेणेति। अभिव्यक्तनामरूपात्सत्त्वधर्माद्धर्मान्तरमनभिव्यक्तनामरूपमसत्त्वं, तेन योगादियं श्रुतिरसत्त्वं व्यपदिशति। ननु स्वरूपासत्त्वं, सत्त्वासत्त्वे हि द्रव्यधर्मौ अनभिव्यक्तनामरूपकमतिसूक्ष्ममासीदित्यर्थः। तत्र हेतुः। वाक्यशेषादिति। उपक्रमे जाते संशये वाक्यशेषाद्धिनिर्श्चीयते तात्पर्यमिति प्रेक्षावतां प्रक्रिया, यथा- "अक्ताशर्कराउपदध्यादि"त्युपक्रमे केनाक्ताइति सन्देहे तेजोवै घृतमिति वाक्यशेषादघृतेनेति निश्चयः। एवमत्राप्युपक्रमे "असदेवेदमग्रआसीदि"त्यादिना असदिति निर्दिष्टे तस्यैव पुनः "तत्सदासीदि"ति वाक्यशेषेण तच्छब्देन परामृश्य, सत्त्वाभिधानादसत्त्वसंशयं वारयति। असतः कालत्रयसम्बन्धायोगात्तथात्वे चासीदिति प्रयोगानुपपत्तेः, सच्छब्देन परामर्शानुपपत्तेश्च, अपिच "असद्वाइदमित्यत्रापि "तदात्मानं स्वयमकुरुते"ति वाक्यशेषे विशेषश्रवणान्न स्वरूपासत्त्वं, किन्त्वव्यक्तनामरूपकत्वादतिसूक्ष्मं अस्त्यसच्छब्देनोच्यतइत्यर्थः। तस्मात्कार्यं सदेवोपलभ्यमानत्वात्, नह्यत्यन्तासतः खपुष्पादेः काऽप्युपलब्धिर्दृष्टा चोपपन्ना वा। यदुक्तं कारणवैलक्षण्यादिति कार्यासत्त्वेहेतुः सोऽपि स्वरूपासिद्धत्वेनाभासरूपएव। नहि कारणान्वयहीनं कार्यं काऽप्युपलभ्यते, नापि कालभेदात्तयोरत्यन्तभेदोवक्तुं शक्यः, तत्सावस्था-

भेदविषयकत्वान्न द्रव्यपरत्वमसम्भवात्, कारणावस्थाभेदेनैवाकार-सङ्ख्याफलादिभेदस्याप्युपपद्यमानत्वेनोक्तदोषायोगात् । अन्यथा बालस्याप्यवस्थाभेदेन स्वरूपभेदोऽङ्गीक्रियतां, तर्कनिपुणैस्तथात्वे च योऽहं पितुरुत्सङ्गेऽक्रीडं सोऽहं वृद्धौ बालांल्लालयामीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः, कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च । नापि तस्य भावे कारकव्यापारवैयर्थ्यं, पूर्वानभिव्यक्तस्याभिव्यञ्जनेनैव तस्य सार्थक्योपपत्तेः । अन्यथाऽसतोऽभिव्यक्त्यङ्गीकारे कारकादिव्यापारेणाग्नेर्यवादीनां, जलमन्थनात् घृतादेः, सिकताभ्यस्तैलस्याप्यभिव्यक्तिप्रसङ्गात् । किन्त्वसत्कार्यवादिनामपि कारकव्यापारोऽनुपपन्नएव । प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वेन कार्यादन्यत्रैव कारकव्यापारेण भवितव्यं, तत्रान्यत्वाविशेषात्तन्तुगतकारकव्यापारेण घटादीनामुत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः । तस्मान्नासत्त्वं कार्यस्येति भावः । किञ्च युक्तेः शब्दान्तराच्चेति हेतुद्वयेन कार्यस्य सत्त्वं निर्णीयतइत्युत्तरार्थः । तत्र युक्तिर्नाम अनुपपत्तिनिरासेनोपपत्ति समर्थनेन वस्तुनिर्णायकवाग्विसर्गः । तथा हि यद्यसदेव कार्यं तर्हि दध्यर्थिभिः क्षीरस्यैव घटार्थिभिर्मृदएव च ग्रहोन स्यात्, प्रत्युत विपर्ययश्च स्यात्, दध्यर्थिभिर्मृदादिग्रहः, घटार्थिभिश्च क्षीरादिग्रहः स्यादसत्त्वाविशेषात्सर्वत्र, नतु तदस्ति, तस्मान्न तथा, अतः कारणे व्यक्ताव्यक्तोभयावस्थायां कार्यस्य सद्भावः स्थूलसूक्ष्मव्यवस्थया सदसत्पदाभ्यां श्रुत्या व्यपदिश्यते इत्यर्थः । अन्यथा सर्वत्र सर्वाभावाविशेषेणाग्न्यादेरप्यङ्कुराद्युत्पत्तिः कथं न जायते ? ननु साम्येऽप्यसत्त्वे क्षीरे एव दधिघृतादेः कश्चिदतिशयोन मृदादौ मृद्येव घटस्य कश्चिदतिशयोन क्षीरादावेति चेन्न, अतिशयाङ्गीकारे प्रागवस्थायामसत्कार्यवादहानिः, सत्कार्यवादसिद्धिश्च, तद श्रीमुखे-

नैव सिद्धेति। नच सत्कार्यवादे कारकव्यापारवैयर्थ्यं शङ्क्यं, तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्, कारणस्य कार्याकारव्यवस्थापकत्वेनैव तस्य सार्थकत्वात्। कारणमेव हि कार्याकारं प्रतिपद्यमानं कार्यमित्युच्यते कार्याकाराणां कारणात्मकत्वनियमात् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति श्रुतेः "वासुदेवात्मकान्याहुरि"ति स्मृतेश्चेत्यादियुक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वनिश्चयात्। किञ्च शब्दान्तराच्चेति सत्त्वनिश्चयइति योज्यं पूर्वोदाहृतादसत्प्रतिपादकादसच्छब्दादन्यस्तद्विपर्ययप्रतिपादनपरः शब्दः शब्दान्तरः "सदेव सौम्येदमि"त्यादिस्तस्मादपीति यावत्। यद्वा "तद्धैक आहुः असदेवेदमग्रआसीदि"त्यसद्व्यपदेशपरस्ततोवैलक्षण्यपरः "कथमसतः सज्जायेते"ति शब्दान्तरस्तस्मादप्युत्पत्तेः प्राक्कार्यस्येदंशब्दाभिधेयस्य सत्त्वनिश्चयात्। अन्यथा तस्येदंशब्दव्यपदिष्टस्य कार्यस्य सच्छब्दवाच्येन कारणेन सह श्रूयमाणसामानाधिकरण्यस्यासम्भवोदुर्वारः, सदसतोरितरेतरात्यन्तविरुद्धयोः सामानाधिकरण्यसम्भवात्। एतेन "स्थाणुरेव चौर"इतिवत् "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"ति जगत्कारणयोः सामानाधिकरण्यं मूपपन्नमित्युक्तिर्निरस्ताऽश्रौतत्वादन्यथाऽसत्कार्यवादप्रसङ्गात्,। स्थाणुचौरयोरुपादानोपादेयत्वाभावेन दृष्टान्तासिद्धेश्च "तज्जलानिती"ति वाक्यशेषात्। एतेन कार्यकारणयोरत्यन्तभेदपक्षोऽपि निरस्तः। अत्यन्तभिन्नयोर्गवाश्वयोरिव सामनाधिकरण्यासम्भवात् "गौरनाद्यन्तवती ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाखएषोऽश्वत्थः सनातनः, तत्सदासीत्, अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणावै सत्यं, अथैनमाहुः सत्यंकर्मेति, सत्यं ह्येवेदमसौ सृजते, अष्टरूपामजां ध्रुवामि"त्यादिश्रुतिभ्यः "ऊर्ध्वमूलमधः शाखमि"त्यादिस्मृतेश्च। ननूक्तश्रुत्यादीनां भेदपराणां व्यावहारिकसत्तापरत्वेन नैराकांक्ष्यान्न पारमार्थिकत्वमभेदपरश्रुत्यादीनां तु परमार्थसत्त्वपरत्वात्प्राबल्यमिति चेन्न, कपोलकल्पनां

विना प्रमाणान्तराभावात् । नच* षड्लिङ्गोपेतत्वेन प्राबल्यमिति वाच्यं, भेदपरश्रुत्यादीनामपि तथात्वस्य पूर्वाचार्यैः प्रतिपादितत्वाद्विस्तरभियाऽत्रोपरम्यते । नचाभेदपराणां निरवकाशत्वेन प्राबल्यं, भेदपराणामपि तथात्वात् । नच तद्विविषयभेदस्य प्रत्यक्षप्राप्तत्वेन तासामनुवादपरत्वमिति वाच्यं, निर्विशेषाधिष्ठानरूपसत्तायाश्चभेदशास्त्रविषयाया अपि घटोऽस्ति घट स्फुरति पटोऽस्तीति प्रत्यक्षप्राप्ततयाऽभेदश्रुतीनामपि तदनुवादपरत्वसाम्यात् । किञ्चाभेदश्रुतिगम्यं निर्विशेषाद्वितीयं ब्रह्म तासां विषयोन वेति ? नाद्यः, तस्य पदार्थत्वेन भेदशास्त्रवदभेदश्रुतीनामपि व्यवहारपरत्वं भवतां श्रीमुखेनैव सिद्धं, निर्विशेषाद्वितीयं ब्रह्म व्यावहारिकमभेदश्रुतिविषयत्वात्पदार्थत्वाच्च, तव मते व्योमादिवदिति प्रयोगात् । नाद्वितीयः, इदमर्थत्वेन शब्दादिप्रमाणागोचरे भेदशास्त्रवदभेदशास्त्रस्यापि व्यवहारविषयत्व सूपपन्नम् । किञ्च सर्वप्रमाणाविषयस्य शशशृङ्गायमाणत्वेन द्वितीयपरशास्त्रस्यापि निर्विषयत्वेन बाधप्रसक्तेर्दुर्वारत्वात् । तव पक्षेऽभेदशास्त्रस्य निर्विषयत्वेनैव बाधः । अस्मत्पक्षे तस्य सर्वज्ञसर्वशक्तेर्विश्वकारणस्यैक्यप्रतिपादनपरत्वेनैव नैराकाङ्क्ष्यान्नोक्तदोषयोगः इत्यलं विस्तरेण । ननु यदि विवर्त्तपक्षानङ्गीकारस्तर्हि कोवापक्षोऽभिप्रेतः सङ्घातवादोवा ? आरम्भवादोवा ? परिणामवादोवा ? इति, नाद्यः, बाह्यपक्षप्रवेशात् । न द्वितीयः, तार्किकपक्षावलम्बनप्रसङ्गात् । नापि चरमः, आनुमानिकसाङ्ख्यमतप्रवेशात्, पक्षान्तराभावाच्चेति चेन्न, चरमपक्षस्यैवास्मदभिप्रेतत्वात्सूत्रकाराभिमतत्वाच्च,

---

* उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥ १ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् । "स्वयमात्मानमकुरुते"ति श्रुतिसूत्राभ्यां, ननु आकाशकल्पस्य विभोर्वस्तुनः परिणामोऽसम्भवएव । तथा च ब्रह्म परिणामानर्हं भवितुमर्हं विभुपरिमाणकत्वात्, निरवयवत्वाच्चाकाशवत्, इति चेन्न, परिणामस्वाभाव्यात् क्षीरवत् सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तिमत्वाच्च स्वेच्छयापरिणामयेदात्मानमिति शक्यते वक्तुं, ननु सावयवस्यैव क्षीरादेः परिणामदर्शनान्न निरवयवस्येति तादवस्थ्यमेवास्य दोषस्येति चेन्न, क्षीरपरमाणवादौ तद्व्यभिचारात् । तथा हि नहि सावयवत्वं वस्तुपरिणामे प्रयोजकमपि तु वस्तुगता तादृशी शक्तिरेव । अन्यथा जलस्यापि सावयवत्वाविशेषेण दधिभावे परिणामापत्तेर्दुर्वारत्वात्, क्षीरावयवानां निरवयवत्वाच्च । अयम्भावः द्रव्यपरिणामेऽवयविगता शक्तिः कारणमवयवगता वा ? नाद्यः, नहि द्रवद्रव्ये व्यतिरिक्तस्यावयवित्वं त्वयाऽभ्युपगम्यते । द्वितीये तु क्षीरावयवाः सावयवा?निरवयवावेति ? आद्ये, अनवस्थापत्तिः क्षीराब्धिः कुण्डे स्यादवयवानामानन्त्यात्, तस्मान्निरवयवाएवेत्यकामेनापि त्वयाऽभ्युपगन्तव्याः । एवं निरवयवस्य परिणामाभाववत्त्वनियमभङ्गात् विरुद्धोहेतुर्निरवयवत्वादिति, नापि विभोः परिणामाभावनियमः आकाशस्यापि वाय्वात्मना शब्दात्मना च परिणामदर्शनात् । "आकाशाद्वायुरि"ति श्रुतेः । एतेन द्वितीयस्यापि हेतोः सत्प्रतिपक्षत्वं दृष्टान्तविकलत्वं चोक्तं भवति । तथा च ब्रह्मपरिणामयोग्यं विभुत्वादाकाशवदिति, नच तस्यापि सावयवत्वं जन्यत्वादिनावगम्यते इति वाच्यं, अपञ्चीकृतस्यात्र विवक्षितत्वात् । "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः"इति श्रुतेः । ननु स्यादेतन्निरवयवस्यापि विभोस्तादृशशक्तियोगादेव परिणामस्तथापि तत्र कृत्स्नस्य ब्रह्मणः परिणामोऽभिप्रेत, ? तदेकदेशस्य वा ? आद्ये, सर्वस्यापि परिणतत्वान्मुक्तोपसृप्यब्रह्माभावप्रसङ्गः विकारित्वानित्यत्वप्रशक्तिश्च,

तथात्वे "नित्यं विभुं सर्वगतमि"त्यादिश्रुतिव्याकोपश्च । किञ्च विकारापन्नस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मणोजगदाकारतया प्रत्यक्षगोचरत्वेन सर्वेषामपि प्राप्तत्वात् सर्वमोक्षप्रसङ्गः, साधनतत्प्रतिपादकशास्त्र-तदुपदेष्टॄणामानर्थक्यं च, न द्वितीयः, सदेशत्वापत्त्या सावयव-त्वयोगेन "निष्कलं निष्क्रियं शान्तमि"त्यादिनिरवयवत्वप्रतिपादक-शास्त्रव्याकोपाच्चायोग्यएव परिणामपक्षइति चेन्न, उदाहृतेष्वा-काशादिषु निरवयवत्वविभुत्वसाम्येऽपि निर्विकारित्वदर्शनेन निर्दोषत्वात् । तस्मान्निरवयवस्यापि विभोर्ब्रह्मणः परिणामेऽपि तादृशशक्तियोगाद्देवाविकारित्वमपीति ध्येयं, सोऽयं परिणामोन्य-ग्रोधधानादृष्टान्तेन षष्ठे*श्रुत्या वर्णितः । वस्ततस्तुशक्तिविक्षेपस्यैव परिणामशब्दवाच्यत्वाद्ब्रह्मस्वरूपपरिणामानभ्युपगमएवेति पूर्वमे-वोक्तम् ॥ १७ ॥

## सू० पटवच्च । २।१।१८ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यथा च पूर्वं संवेष्टितः पश्चात्प्रसारितः पटस्तद्वद्विश्वम् ॥ १८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

पटवच्च ।

यथा च संवेष्टितः पटः पटत्वेनागृह्यमाणो-

---

*छान्दोग्ये षष्ठे प्रपाठके ।

ऽपि नासद्भवति, किन्तु प्रकारान्तरेण स्थितः सदेव भवति, पुनः प्रसारितस्तु पटत्वेन गृह्यते। एवं खलु सृष्टेः प्रागनभिव्यक्तनामरूपत्वाद्विश्वत्वेनागृह्यमाणमपि विश्वं सदेव भवति। सृष्टिवेलायामभिव्यक्तनामरूपत्वात्स्पष्टमिदं विश्वं गृह्यते इत्यर्थः। यथा च कूर्माङ्गानि सङ्कुचितानि सद्रूपाण्यपि न दृश्यन्ते, एतावता नासद्रूपाणि भवन्ति, पुनः प्रसार्यमाणानि गृह्यन्ते। यथा च बीजे सूक्ष्मरूपेण सदेव स्थितोन्यग्रोधः स्थूलत्वेनाविर्भवति, एवमिदं जगत्सदेव जायते। "प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः। एवं भूतानि भूतात्मा सृष्ट्वा संहरते पुनः" इति महाभारतात् "न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा बीजे व्यवस्थितः। संयमे विश्वमखिलं बीजभूते तथा त्वयी"ति विष्णुपुराणात् ॥ १८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं च न कश्चन दोषइत्यादितात्पर्यं बुद्धौ कृत्वा सूत्रयति भगवान्बादरायणः —

### पटवच्च ।

यथा सङ्कुचितः पटः पटत्वेनागृह्यमाणोऽपि पटएव, प्रसारणे

तु स्पष्टं प्रत्यक्षतया गृह्यते, तथा तिरोभावसमयेऽनभिव्यक्तं विश्वं नामरूपाभ्यामगृह्यमाणमपि सदेवाविर्भावसमये तु प्रत्यक्षागमादिना स्पष्टं नामरूपाभ्यां गृह्यते इति सूत्रार्थः। तथोक्तं वैष्णवे श्रीध्रुवेण "न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा बीजे व्यवस्थितः। संयमे विश्वमखिलं बीजभूते तथा त्वयि ॥ बीजादङ्कुरसम्भूतोन्यग्रोधः ससमुत्थितः। विस्तारं च यथा याति त्वत्तः सृष्टौ तथा जगदि"त्यादिना ॥ १८ ॥

# सू० यथा च प्राणादिः २।१।१९॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

यथा च प्राणापानादिवायुः प्राणायामादिना निरुद्धः स्वरूपेणावतिष्ठते, विगतनिरोधश्चाञ्जसा तत्तद्रूपेणावगृह्यते तथेदमपि ॥ १९ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

यथा च प्राणादिः।

यथा च खलु प्राणायामादिना निरुद्धोहि प्राणापानादिवृत्तिर्वायुः प्राणापानादिविशेषरूपेणागृह्यमाणोऽपि सदेव भवति, ततोमुक्तायामश्च तत्तद्विशेषरूपेण स्पष्टतया गृह्यते, तद्वत्सृष्टेः प्रागनभिव्यक्तनामरूपं कार्यं तत्तन्नामरूपाभ्यामगृह्यते

इत्यर्थः। तस्माद्ब्रह्मोपादानकत्वाद्ब्रह्मवत्सत्यं, ब्रह्म-भिन्नत्वेऽपि ब्रह्माभिन्नं जगदिति सिद्धम्॥ १६॥

इत्यारम्भणाधिकरणम्॥ ६॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

उक्तसिद्धान्तसिद्धये तदुपोद्बलनरूपं दृष्टान्तान्तरमाह भगवान्सूत्रकारः —

यथा च प्राणादिः।

यथा प्राणायामसङ्कुचितशक्तिः प्राणः प्राणापानादिना विशेषरूपेणागृह्यमाणोऽपि सूक्ष्मसद्रूपप्राणापानादिविशेषज्ञानेन। मुक्तायामस्तु तत्तद्विशेषरूपेणाकुञ्चनप्रसारणादिकार्यान्यथानुपपत्त्या स्पष्टं गृह्यते, तद्वत्सृष्टेः प्राक् अनभिव्यक्तनामरूपकं कार्यं तत्तन्नामरूपाभ्यामगृह्यमाणमपि स्वोपादाने सदेव, सृष्टिसमये तु व्याकृतनामरूपत्वात् स्पष्टं गृह्यतइत्यत्तरार्थः। ननु कार्यस्य सत्त्वमनुपपन्नं, तथाहि। "सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयं, नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः समृत्युमाप्नोति, यइह नानेव पश्यती"त्यादिश्रुतिभिः सावधारणाभिरन्वयव्यतिरेकेण कारणैकत्वनिश्चायिकाभिः कारणेतरवस्तुमात्रस्य निषिध्यमानत्वान्मृषात्वमेव, तस्माद्रज्जुज्ञानेन सर्पादिबाधवत् ब्रह्मात्मत्वज्ञानेन शारीरत्वस्य बाधे तत्कृतसर्वव्यवहारस्यापि बाधः स्यादिति, "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदिति श्रुतेः। तथैवाह च भगवान्भाष्यकारः, "मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति, प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात् वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात्। दार्ष्टान्तिकेऽपि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमि"ति च परमकारणस्यैकस्य सत्यत्वावधारणात्।

"सन्नात्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो !" इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात् स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते नयत्नान्तरसाध्यमतश्चैवं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरत्वस्य बाधकं सम्पद्यते--रज्ज्वादिबुद्धयइव सर्पादिबुद्धीनां बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविकोव्यवहारोबाधितोभवतीत्यादिनेति चेन्न, एकत्वावधारणश्रुतीनां जगत्कारणसार्वज्ञ्यादिमत्परब्रह्मैकत्वपरत्वेन "नेहनाने" त्यादिश्रुतीनां च कारणागतस्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नवस्तुमात्रनिषेधपरत्वेन चास्मत्पक्षे स्वार्थे एव प्रामाण्यात्, न तावत्कारणैकत्वावधारणं निषेधश्चेतरस्य वस्तुजातस्यानृतत्वे नियामकम् । अपि तु स्वविषयसमसत्ताकत्वनिषेधमात्रएव । यथा चोलराजा एकोऽद्वितीयोऽभूदिति वाक्यं न तद्राजान्तरमात्रस्य तत्सेनादीनां वा निषेधपरं, किन्तु तत्तुल्यनृपान्तरस्य निषेधमात्रपरमेव । एवं प्रकृतेऽपि समञ्जसम् । किञ्च कार्यजातस्यानृतत्वेऽसत्कार्यवादापत्त्या वैदिकत्वं दत्ततिलाञ्जलिः स्यात् "असत्यमप्रतिष्ठं च जगदाहुरनीश्वरमि"ति आसुरपक्षाभ्युपगमश्च, "सदेव सौम्येदमग्रआसीत्, सत्त्वाद्यावरस्ये"त्यादिशास्त्रव्याकोपश्च । नापि "यत्र त्वस्ये"ति श्रुतिः प्रपञ्चबाधपरा, किन्तु कारकजातस्य स्वतन्त्रसत्तानिषेधेन तस्य ब्रह्मात्मकत्वविधानपरेति सर्वं समञ्जसम् । अन्यथा "सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः"इत्यादिश्रुतिविरोधात् । श्रुत्यर्थस्तु सदेवेत्यत्र स्वतन्त्रसत्ताश्रयः सत्पदार्थः । "आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः"इति श्रुतेः, एकपदं ब्रह्मणः चराचराभ्यामुत्कर्षरूपप्राधान्यं विधत्ते "एके मुख्यान्यकेवलाः" इत्यमरोक्तेः । एकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहायसङ्ख्याप्रथमसमानवाचीति "एकोगोत्रे"इति सूत्रे

कैयटोक्तेश्च। सहायान्तरशून्यत्वोत्कर्षपरो वा "ष्णान्ताः षडि"ति सूत्रे एकशब्दोऽत्र बह्वर्थः। अस्ति सङ्ख्यार्थेऽस्त्यसहायवाची, "अस्त्यन्यार्थ"इति महाभाष्यकारोक्तेश्च। तथा च त्वराक्षराभ्यामुत्कृष्टमन्यसहायहीनमेकसङ्ख्याकमेकपदार्थः। "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः, अक्षरात्परतः परः"इत्यादिश्रुतेः। यस्मात्क्षरमतीतोऽहं, मत्तः परतरं नान्यदि"ति श्रीमुखोक्तेश्च, अयोगव्यवच्छेदार्थः प्रथम एव शब्दः, तदधिकोत्कृष्टव्यवच्छेदपरोद्वितीयः, स्वातिशयवस्तुशून्यइत्यर्थः। अद्वितीयशब्दश्च समाननिषेधपरः। "नतत्समश्चाभ्यधिकश्चे"ति श्रुतेः। "न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः" इति स्मृतेश्च। यद्वा एकशब्दः सङ्ख्यापरः, एवाद्वितीयशब्दयोश्चेतनाचेतननिषेधपरत्वम्, उभयोरपि ब्रह्मसमस्वतन्त्रसत्ताकत्वाभावात्। किञ्च स्वगतानन्तासंख्येयज्ञानादिकारुण्यादिकल्याणधर्माणामपि स्वरूपेतरस्वतन्त्रसत्ताभावेन तद्गतस्वतन्त्रसत्तानिषेधोऽप्यविरुद्धः। "यदासीत्तदधीनमासीदि"ति श्रुतेः। तथाच चेतनाचेतनानां स्वगतधर्माणां च तदात्मकत्वाद्यविशेषेण तदपृथक्सिद्धत्वात् "एतदात्म्यमिदं सर्वमि"त्यग्रिमवाक्यात् "वासुदेवात्मकान्याहुरि"ति स्मृतेश्च। एषएव स्वतन्त्रसत्ताश्रयः सत्पदार्थः आत्मा यस्य स तदात्मा तस्य भावस्तत्त्वमिति श्रुत्यर्थः। सदात्मकमिति यावत्। नन्वस्य वाक्यस्य सजातीयादिभेदशून्यपरत्वमेव, तत्र चेतनवृत्तिभेदः सजातीयभेदः, जडभेदोविजातीयभेदः धर्मभेदः स्वगतभेदस्तथा च त्रिविधभेदस्य श्रुत्यैव निषिद्धत्वेन तद्विषयस्य कथं पारमार्थिकत्वमिति चेन्न, स्वप्राङ्गणेऽश्वधावनमात्रत्वात्। तथा हि अद्वितीयपदेनैव द्वितीयपदार्थमात्रस्य निषेधसिद्धौ पदान्तरवैयर्थ्यात्, ब्रह्मेतरस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वदन्तोऽत्र प्रष्टव्याः, श्रुत्याभिहितद्वितीयमात्राभावः कालत्रयेऽस्ति ?

न वा ? नाद्यः, स्वो*क्तव्याघातात् । अन्त्ये, द्वितीयस्य सत्त्वापत्तेः ।
नच नाभावोद्वितीयोऽद्वैतविरोधीति वाच्यम्, अभावत्वाधेयत्वाधार-
त्वादि भावैरविनाभूतेनातिशयोऽप्यद्वैतभङ्गात्, अभावत्वरूपप्रवृत्ति-
निमित्तसम्भवेन वेदान्तानां सखण्डार्थत्वापत्तेश्च । किञ्च कोवा
सत्पदार्थः ? शुद्धोवोपहितोऽव्याकृतोवा ? नाद्यः, "तदैक्षत बहु स्या-
मि"तिश्रुत्येक्षणबहुभवनसंकल्पयोगश्रवणादन्यथा शुद्धत्वभङ्गात्,
त्वया शुद्धस्य पदार्थत्वानङ्गीकाराच्च । अन्यथा मिथ्यात्वप्रसङ्गात् ।
शुद्धं ब्रह्म मिथ्या पदार्थत्वात्तव मते घटादिवदित्यनुमानात् ।
द्वितीये, ततोमायाभूतोपाधिर्भिन्नोऽभिन्नोवा ? नाद्यः, द्वैतापत्तेः ।
नान्त्यः, उपाधिर्ब्रह्मेति सिद्धान्तापत्तेः, उपहितस्य पारमार्थिक-
सत्ताऽसम्भवाच्च । अन्यथा तस्यैव मुक्तगम्यत्वेन शुद्धस्याप्रयोज-
कत्वापत्तेश्च । नाप्यव्याकृतः, सिद्धान्तभङ्गादस्मदिष्टत्वाच्च । अव्या-
कृतस्य जीवादिभेदेऽपि नास्माकं हानिः, जीवादीनां तादात्म्यस-
म्बन्धाभ्युपगमात्, ब्रह्मणः सविशेषत्वाङ्गीकाराच्च । अव्याकृतं नाम
भूतसूक्ष्माणि कर्मसंस्कारसहिताश्च जीवास्तदन्तर्यामी परमेश्वर-
श्चाधिष्ठाता एतेषां समुदायः तस्य चानेकविशेषत्वात्सुतरां तव
सिद्धान्तभङ्गः, उक्तव्याख्याविरोधश्च । अन्यथा भूतसूक्ष्माभावे-
ऽसत्कार्यवादापत्तिः, जीवानङ्गीकारे कृतनाशादिप्रसङ्गः, सृष्टिवै-
चित्र्यहेतुभूतकर्माभावे सृष्ट्यभावप्रसङ्गः, तस्याः साम्यप्रसङ्गश्च,
ब्रह्मणि वैषम्यनैर्घृण्यप्रसक्तिश्च । परमेश्वरानङ्गीकारे स्रष्ट्रभावेन
सृष्ट्यसम्भवः, बाह्यपक्षाङ्गीकारप्रसङ्गाच्च । किञ्च द्वितीयमात्र-
निषेधे श्रुतावग्रपदवैयर्थ्यम् । किञ्च कोवाऽद्वितीयपदार्थः, न द्वितीयो-
ऽद्वितीयइति नञ्समासे नञर्थस्तु॰ षड्विधः । तत्र न तावत्सा-

---

* श्रुतेः सजातीयादिभेदनिषेधपरत्वप्रतिपादनव्याघातात् ।

॰ तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ॥
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

दृश्यं द्वितीयसदृशमिति पदार्थापत्तेः, निर्विशेषे सादृश्यधर्मासम्भवाच्च । नाप्यभावः, "असदेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेदि"ति निन्दाश्रवणात् । नापि तदन्यत्वं, द्वैतापत्तिप्रसङ्गात् । नापि तदल्पता, ईषद्द्वितीयइति पदार्थः स्यात् । नाप्यप्राशस्त्यं अप्रशस्तद्वितीयइत्यर्थः स्यात् । नापि विरोधोऽनङ्गीकारात् । किञ्चाद्वितीयपदस्य द्वितीयाभावमात्रसङ्कोचापेक्षया सकलकल्पनाऽविरोधाच्च स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नद्वितीयनिषेधपरत्वस्यैवौचित्यात् । नचावान्तरतात्पर्येण द्वितीयाभावसिद्धिर्महातात्पर्येण चाखण्डार्थसिद्धिरिति वाच्यं, द्वितीयाभावस्य सत्त्वेऽद्वैतहानिः । मृषात्वे द्वैतस्य सत्यत्वापत्तिः । द्वितीयाभावविशिष्टतया ज्ञाते ब्रह्मणि विशेष्यमात्रे सन्देहाद्यभावेन तत्र तात्पर्यकल्पनस्याप्रामाणिकत्वात् । अन्यथा शब्दमात्रस्य तात्पर्यद्वयं स्वीकृत्याखण्डार्थकत्वापत्तिरिति सङ्क्षेपः । एतेन "आत्मा वा इदमग्रआसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्, एकोह वै नारायणआसीदि"त्यादिश्रुतयोपि व्याख्याताः, तुल्यार्थत्वात् । अथ "नेह नाने"ति, इह जगत्कारणे ब्रह्मणि नानात्वं नास्ति, तस्य सर्वास्वप्युपनिषत्स्वेकत्वावधारणात् । कारणनानात्वदर्शनस्य फलमाह । "मृत्योः समृत्युमाप्नोतीति नित्यसंसारी भवति परमेश्वरे नानात्वदर्शित्वात्" इव शब्दोऽल्पार्थः "इवोपमायामल्पे चे"ति कोशात् । स च कैमुत्यन्यायपरः, कारणे ब्रह्मणि यद्यल्पनानात्वदर्शनस्येदृक्फलं किं पुनर्बहुत्वेनेत्यर्थः । एतेन "द्वितीयाद्वै भयं भवती"त्यपि श्रुतिर्व्याख्याता तुल्यार्थत्वात् । ननु कारणे ब्रह्मणि भेदाप्रसक्तिरप्रसक्तस्य च निषेधायोगादिति चेन्न, जगत्कारणेऽनेकत्वप्राप्तेः, शास्त्रसिद्धत्वात् "जीवाद्भवन्ति भूतानि जीवे तिष्ठन्त्यचञ्चलाः । जीवे प्रलयमृच्छन्ति न जीवात्कारणं परमि"ति "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव, विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता, न सन्नचा-

सच्छिव एव केवलः, स्वभावमेके कवयोवदन्ति, कालं तथाऽन्ये" इत्यादिश्रुतिभिः कारणनानात्वस्य सुप्रशक्तत्वात् । इहेति । विशेषणान्नानात्वमात्रनिषेधसम्भवः निषेधतदाधारब्रह्मणोर्निषेध्यनिषेध्ययोर्नानात्वतद्भावयोश्च भेदावश्यकत्वादिति संक्षेपः । अथ नाना शब्दोऽत्र विनार्थकः "विनञ्भ्यां नानाञौ न सहे"ति सूत्रे महाभाष्यकारैर्नानाविनाशब्दयोरेकार्थत्वोक्तेः । तथा चैवं योजना, इह जगति नाना स्वोपादानं परमेश्वरं विना किञ्चनापि वस्तुजातं नास्ति, सर्वकार्यत्वावच्छिन्नस्य स्वोपादानाविना भूतत्वात् । "यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन । न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरमि"ति श्रीमुखोक्तेः । अन्यत्स्पष्टं, "सर्वं तं परादाद्यआत्मनोऽन्यत्सर्वं वेदे"तिश्रुत्यन्तराच्च। एतेनैव "नाना विष्णुं मोक्षदोनान्यदेवः"इत्यपि श्रुतिर्व्याख्याता, विष्णुं विनाऽन्यदेवोब्रह्मादिर्मोक्षदोनास्तीत्यर्थः । "बन्धकोभवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः । कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः" इति स्मृतेः "संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरि"ति श्रुत्यन्तराच्चेति । अथ "यत्र त्वस्ये"ति यत्र यस्यां ध्रुवास्मृत्याख्यावस्थायामस्य विदुषः सर्वं कर्त्तृकरणकर्मादिकारकजातमात्मैवाभूदिति आत्मशब्दोऽत्र विश्वात्मभूतपरब्रह्मपरः ब्रह्मात्मकत्वेन तदपृथक्सिद्धत्वात्तत्ताविधानमविरुद्धं ब्रह्मैव ब्रह्मापृथक्सिद्धमेवाभूत् तर्हि केन स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नकरणेन कं वा स्वतन्त्रत्वेन पृथक्वस्तुजातं कर्मकारकरूपं, कोवा स्वतन्त्रभूतोद्रष्टा कर्त्तृकारकरूपःपश्येदिति योजना, सर्वकारकजातस्य तत्प्रयोज्यतया केषु चिदपि कर्त्रादिषु स्वातन्त्र्याभावेन "स्वतन्त्रः कर्त्ते"ति सूत्रोक्तकर्त्रादिकारकलक्षणासमन्वयेन तत्ताभावात् तदात्मकतत्प्रयोज्यतदाध्येयतद्व्याप्यत्वाद्यवच्छिन्नैस्तत्तत्कारकैस्तत्तत्कर्मकारयिता श्रीपुरुषोतमएव "एषएव साधु कर्म कारयति, तं

यमेभ्योलोकेभ्यउन्निनीषते, स कारयेत्पुण्यमथापि पापमि"त्यादिश्रुतेः । तस्मात्तदात्मकेन करणेन तदात्मकं वस्तुजातं तदात्मको द्रष्टेत्यर्थः । ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति श्रुतेरिति संक्षेपार्थः । तस्मात्कार्यं सदेव, कारणादनन्यं चेति सिद्धम् ॥ १६ ॥

इत्यारम्भणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

## सू० इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।२।१।२०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आक्षेपः, ब्रह्मकारणवादे "अयमात्माब्रह्मे"ति जीवस्य ब्रह्मत्वनिरूपणात्सर्वक्लेशालयजगज्जननेनात्मनोहिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र कार्य्यकारणयोरत्यन्तभेदोनिराकृतः । इदानीं चेतनाचेतनयोरत्यन्ताभेदशङ्काभावाद्विशेषतोब्रह्मजीवयोरत्यन्ताभेदमाशंक्य निराकरोति —

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।

ननु ब्रह्मणोजगत्स्रष्टृत्वे त्रिविधतापभूमिजगदुत्पा-

दनेनात्मनोहिताकरणदोषप्रसक्तिः स्यात् । आदिशब्देनाहितकरणादिदोषप्रसक्तिर्गृह्यते । कुतः ? "इतरव्यपदेशात्" इतरस्य जीवस्य "तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मत्वव्यपदेशात् । शुभाशुभकर्मकृद्दुःखत्रयभोक्ता संसारी ब्रह्मेतरोनास्त्यतउक्तदोषप्रसङ्गोऽसंसारिणि ब्रह्मणि स्यादित्यर्थः ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथाक्षिप्यते —

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।

ननु ब्रह्मणोजगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने इतरस्य जीवस्य "तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्मे"त्यादिवाक्यैर्ब्रह्मत्वोपदेशात्, इतरस्य ब्रह्मणोवा "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्ये"त्यादिना शारीरत्वव्यपदेशात् । तथा च ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यसर्वशक्त्याद्याश्रयस्यात्मनोहितरूपजगदकरणमहितरूपजगत्करणमित्यादिदोषप्रसक्तिः स्यात् ॥ २० ॥

# सू० अधिकं तु भेदनिर्देशात्

॥ २ । १ । २१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्परिहारः, सुखदुःखभोक्तुः शारीरादधिकमुत्कृष्टं

ब्रह्म जगत्कर्तृ ब्रूमः, "आत्मानमन्तरोयमयती"ति भेदव्यपदेशान्न तयोरत्यन्ताभेदोऽस्ति यतोहिताकरणादिदोषप्रसक्तिः स्यात् ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इतिपूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह,—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।

तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति । यतः शारीरात्सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सर्वेश्वरं समानातिशयशून्यं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणमाधिकमुत्कृष्टं ब्रह्म ब्रूमः । अतोहिताकरणादिदोषप्रसक्तिर्नास्ति । आधिकत्वे हेतुः "भेदनिर्देशादि"ति "आत्मा वाअरे ! द्रष्टव्यः, ब्रह्मविदाप्नोति परं, यआत्मानमन्तरोयमयती"ति ब्रह्मजीवयोर्भेदनिर्देशात् । अयमर्थः, यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यत्राचिद्वर्गस्य स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वासम्भवात्तज्जत्वादिना ब्रह्माभिन्नत्वमङ्गीक्रियते, तथा शारीरस्योक्तभेदश्रुतिप्रामाण्यात्स्वरूपतोब्रह्माभिन्नत्वासम्भवाद्ब्रह्मनिरपेक्षस्थितिप्रवृत्त्यभावाद्ब्रह्माभिन्नत्वं " तत्त्वमस्या "दिवाक्यैरभिधीयते, नतु स्वरूपतः । एवमभेदे ऽपि

## भेदव्यपदेशान्नेह हिताकरणादिदोषप्रसक्तिरिति ॥ २१ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नह्याध्यात्मकादिविविधदुःखहेतुरूपे कार्ये स्वाधीनोबुद्धिमान्प्रवर्त्तते, जीवब्रह्मणोर्भेदवादिन्यः श्रुतयोजगतोब्रह्मणोऽनन्यत्वं वदद्भिर्भवद्भिरेवपरित्यक्ताः भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः, तस्माद्ब्रह्मणोजगत् कारणत्वमनुपपन्नमिति प्राप्ते समाधत्ते —

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।

तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । यत्सार्वज्ञ्याद्यनन्ताचिन्त्यासङ्ख्येयकल्याणधर्माश्रयं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणं तत्तस्माच्छारीरादधिकमुत्कृष्टं तदत्यन्तविलक्षणं परं ब्रह्मेति नोक्तदोषावकाशः । कुतः ? "भेदनिर्देशात्" "आत्मा वाऽरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासितव्यः"इति कर्त्तृकर्मादिभेदस्य"ब्रह्मविदाप्नोति परमि"ति प्राप्तृप्राप्तव्यभेदस्य,"यआत्मानमन्तरोयमयती"ति नियन्तृनियम्यभेदस्य, च निर्देशात् । अयं भावः, यदि चेतनस्य शारीरस्य जगत्कारणत्वं सूत्रकृतोऽभिप्रेतं स्यात्तर्हि तस्य सार्वज्ञ्यादिसर्वशक्त्ययोगेन हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः स्यान्नतु तदस्ति, प्रत्युत तदत्यन्तविलक्षणस्य सर्वज्ञानशक्तिबलैश्वर्यादिकल्याणधर्मार्णवस्य परब्रह्मणः समस्तदोषगन्धाघ्रातमाहात्म्यस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य स्वतन्त्रसत्ताश्रयस्य कारणत्वनिर्देशान्नोक्तदोषयोगः । एतेन वक्ष्यमाणोभेदाभेदलक्षणसिद्धान्तोऽपि सूत्रकृता सूचितः, तादात्म्यादभेदोक्तेः, ब्रह्मणः स्वरूपेण भेदनिर्देशात् । तथा च पर-

तन्त्रसत्तावच्छिन्नस्वरूपेण भिन्नत्वेऽपि तदात्मकत्वादिना तदपृथक्त्वाद्भिन्नाभिन्नत्वमिति भावः ॥ २१ ॥

# सू० अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः

॥ २ । १ । २२ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

भूविकारवज्रवैदूर्य्यादिवद्ब्रह्माभिन्नोऽपि क्षेत्रज्ञः स्वस्वरूपतोभिन्नएवातः परोक्तस्यानुपपत्तिः ॥ २२ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः

अपि च यथा खलु लोके भूमिविकाराणामश्मनां वज्रवैदूर्यपद्मरागादीनां भूम्यात्मकत्वेन भूमित्वाविशेषेऽपि स्वरूपेण भिन्नत्वमेवास्ति, आदिशब्देन द्रुमादिविकाराणां पत्रादीनां ग्रहणं, यथा पत्रस्य द्रुमाभिन्नत्वेऽपि न द्रुमत्वम्, यद्वादिशब्देन वज्रादिप्रभा गृह्यते, सा हि वज्राद्यभिन्नाऽपि भिन्ना दृश्यते । अतस्तस्याः प्रभावतोयथाऽभिन्नत्वेऽपि भिन्नत्वं, तथा शारीरस्य ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि स्वरूपेण तद्भिन्न-

त्वं युज्यते, तत्तस्माज्जीवपरब्रह्मभेदेन संसार्य्य-संसारिव्यवस्थासिद्धौ विरोधाभावादनुपपत्तिः न परोक्तहिताकरणादिदोषप्रसक्तेरुपपत्तिरित्यविरोध-सिद्धिः ॥ २२ ॥ इतीतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।

यथा लोके पृथिवीविकाराणामश्मनां वज्रवैदूर्यपद्मरागसूर्य-कान्तादीनां प्रहीणपाषाणादीनां च पृथिव्यात्मकतया पृथिवी-त्वाविशेषेऽपि नपृथिवीस्वरूपैक्यमुपपद्यते। आदिना लोष्टकाष्ठतृणा-दिग्रहः । तथा जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वादिना ब्रह्मत्वाविशेषेऽपि न स्वरूपैक्यमिति परब्रह्मैव जीवकर्मानुगुणसुखदुःखहेतुजग-त्सर्गकर्त्तृइति तदनुपपत्तिः परकल्पितदोषानुपपत्तिः ॥ २२ ॥

इतीतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥

## सू० उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न, क्षीरवद्धि ।२।१।२३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

कुम्भकारादीनामनेकोपकरणोपसंहारदर्शना द्बाह्योपकरणरहितं ब्रह्म न जगत्कारणमिति

चेन्न, यतः क्षीरवत्कार्यकारेण ब्रह्म परिणमते स्वासाधारणशक्तिमत्त्वात् ॥ २३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र चिदचिच्छक्तेः सर्वात्मनः समानातिशयशून्यस्य सर्वेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वे हिताकरणादिदोषप्रसक्तिर्निराकृता जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वात्तदभिन्नस्याप्यनादिकर्मवशगस्य स्वरूपतो भिन्नत्वेन संसारार्हत्वादिदानीं ब्रह्मणोन जगत्कर्तृत्वं, बाह्यकारककलापाभावादित्याक्षिप्य, समाधत्ते —

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न, क्षीरवद्धि ।

पूर्वसूत्रादादिशब्दोऽनुवर्त्तते । हिशब्दोहेतुवचनः । ननु लोके घटादिकार्यजनने मृद्दण्डादिबाह्योपकरणोपादान*दर्शनान्न ब्रह्मजगत्कर्तृ तस्यासहायत्वात् । कुतोऽवगम्यते ? इति चेदुच्यते । "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्, एकोह वै नारायणआसीद्विष्णुस्तदासी-

* उपानयनदर्शनात् ।

च्छरिरेव केवलः" इत्यग्रे कारकप्रकारासम्भवबोधक-
वाक्येभ्योब्रह्मणोऽसहायत्वं निश्चीयते इति चेन्न,
कुतः ? हि यस्मात् क्षीरादिवत् ब्रह्मास्ति, यथा
खलु लोके क्षीरनीरादिदधिहिमादिरूपकार्य्या-
त्मना परिणमते, तत्र बाह्योपकरणाभावो-
ऽस्ति, तथा चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्म जगदभिन्ननि-
मित्तोपादानकारणं स्वाभाव्याद्भवितुमर्हति । न
तस्य जगज्जनने कारककलापापेक्षा “ पराऽस्य
शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया-
चे"त्यादिश्रुतेः, *आतञ्चनं तु रसविशेषार्थम्, न
दधिभावसम्पादकं, तदभावेऽपि दधिभावदर्शनात्,
तत्सद्भावेऽपि जलादेर्दधिभावादर्शनाच्च। कुलालादे-
र्निमित्तमात्रत्वान्मृदाद्यपेक्षा जायतेऽसामर्थ्याद्दण्ड-
चक्राद्यपेक्षा घटादिजनने जायते। वेदोक्तेऽर्थे
नित्यनिष्पन्नेऽप्याधिकारिसंशयनिरासायप्रतिवादि-
मुखापिधानाय निःसंशयतया वेदार्थबोधाय च
पुनः पुनराक्षेपः क्रियते ॥ २३ ॥

---

* जामण इति लोके ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न, क्षीरवद्धि ।

ननु पुनरपि ब्रह्मणोजगत्कारणत्वं न सम्भवति, कुतः?उपसंहारदर्शनादिति । बाह्यकारकोपादानमुपसंहारः । लोके हि घटपटादिकार्य्यजननशक्तियुक्ताअपि कुलालतन्तुवायादयस्तदुपकरणमृद्दण्डचक्रसूत्रतन्तुतूरीवेमाद्यनेककारकाण्युपसंहृत्यैव तत्तत्कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते, सृष्टेः प्राक्च बाह्यसाधनसामग्री नास्ति । "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयमि"त्यादिश्रुतेस्तत्कथमसहायं ब्रह्म जगत्सृष्टौ प्रवृर्त्तेत ? अतोन ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत्, समाधत्ते, नेति । नहि कार्यजनिशक्तानां सर्वेषां बाह्यकारकोपादानसापेक्षत्वं दृश्यते, यथा हि क्षीरं दधिभावाय, नीरं हिमभावाय, स्वयमेव परिणमते तत्स्वाभाव्यात्, तथा ब्रह्मापि । नच क्षीरादावातञ्चनाद्यपेक्षतइति वाच्यं, तत्रातञ्चनस्य दधिभावानुपयोगित्वात्, किन्तु शैघ्र्याय, रसविशेषाय, च तदुपयुज्यते पयसः स्वतएव परिणामशक्तिः, कुलालादीनां त्वनीश्वरत्वेन स्वतः सामर्थ्याभावादुपसंहारसापेक्षत्वं युक्तं, ब्रह्म तु सर्वज्ञं सर्वशक्तिः "यः सर्वज्ञः सर्ववित्, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी"-त्यादिश्रुतेः ॥ २३ ॥

# सू० देवादिवदपि लोके॥२।१।२४

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यथा देवादयः संकल्पमात्रेण स्वापेक्षितं

सृजन्ति तथा भगवानपि ॥ २४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

ननु क्षीराद्यचेतनं, ब्रह्म च चेतनमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोर्विसमत्वमस्तीत्यत्राह —

देवादिवदपि लोके ।

अपि शब्दश्चेतनसादृश्यं सम्भावयति, न केवलं खलु जड सादृश्यं, चेतनैः शास्त्रावगतशक्तिभिरपि सादृश्यमस्ति । यथा लोके देवलोकादौ सर्वार्थावलोकनहेतौ शास्त्रे वा प्रसिद्धप्रभावाः देवाः पितरः ऋषयो नागाद्याबाह्यसाधनमनपेक्ष्य सङ्कल्पमात्रेण स्वापेक्षितानि वस्तूनि यथाकालं यथोपयोगं सृजन्ति, तन्तुनाभश्च स्वयमेव प्रवर्त्तते, तथा सर्वलोकवेदप्रथितप्रभावः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सत्यसङ्कल्पः श्रीपुरुषोत्तमः सर्वकर्मजातं सङ्कल्पमात्रेण करोति, न कश्चित्प्रसिद्धोपकरणदर्शननिबन्धनोविरोधइति सिद्धम् ॥ २४ ॥

इति उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

देवादिवदपि लोके ।

अपि शब्दश्चेतनसादृश्यं सम्भावयति । यथा देवापितरऋषयः स्वेस्वे लोके बाह्यसाधनमनपेक्ष्याभिध्यानमात्रेण स्वापेक्षितानि वस्तूनि सृजन्ति, तन्तुनाभश्च स्वयमेव प्रवर्त्तते, बलाका च रेतः सेकमन्तरेण गर्भं धत्ते, तथाऽसौ पुरुषोत्तमः स्वसङ्कल्पमात्रेण सर्वं सृजतीति ॥ २४ ॥

इति उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥ ८ ॥

## सू० कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्व-शब्दकोपोवा ।२।१।२५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आक्षिपति, ब्रह्मणोजगत्प्रकृतित्वे तन्निरवयवत्वाङ्गीकारे कृत्स्नप्रसक्तिः, सावयवत्वे निरवयवत्ववादिशास्त्रविरुध्येत ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु यदि बाह्योपकरणमनपेक्ष्यैव जगदाकारेण ब्रह्म परिणमते, तर्हि स्वगतशक्त्यपेक्षाऽपि माऽस्तु? स्वरूपमात्रस्य तु विकल्पासह-

त्वादुपादानत्वानुपपत्त्या प्रधानमेवोपादानं भवत्वितीदानीमाक्षिप्य, बाह्योपकरणस्यानुपादेयत्वं निर्मूलत्वात्सापेक्षजगत्कर्त्तृत्वापादकत्वाच्च स्वशक्तीनां स्वानन्यानां शब्दमूलकत्वादुपादेयत्वमिति समाधत्ते·—

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपोवा ।

ननु "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्, आत्मा वा इदमेकएवाग्रआसीदि" त्यादिश्रुतिवेद्यं जगत्कारणं ब्रह्म किं निरवयवम्? उतसावयवं? कार्य्याकारेण परिणमते, निरवयवमिति चेत्, तर्हि क्षीरवत्कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यत्वप्रसक्तिर्भवेत्, कार्यभिन्नं संसारातीतं मुक्तगम्यं ब्रह्म नावशिष्येत्, दुर्ज्ञेयत्वादिविषयकशास्त्रव्याकोपप्रसङ्गः, सर्वमोक्षप्रसङ्गश्च भवेत्, जडत्वादिधर्मकं ब्रह्मापद्येत । तस्य सावयवत्वाङ्गीकारे तु कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषाः न भवन्ति । किं तु "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः" इत्यादिजगत्कारणस्य ब्रह्मणोनिरवयवत्वविषयकः

शब्दोविरुध्येत, तस्मात्प्रधानमेव जगदुपादानकारणं भवत्विति पूर्वः पक्षः ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपोवा ।

पुनरप्याक्षिपति। ननु निरवयवं सावयवं वा ब्रह्म कार्याकारेण परिणमते ? आद्ये, कृत्स्नस्य ब्रह्मणः क्षीरवत् कार्यरूपतापत्तौ कार्यातिरिक्तं ब्रह्म न स्यात्, कार्यस्य च सर्वप्रत्यक्षत्वात्सर्वमोक्षप्रसङ्गः। द्वितीये, निरवयवत्ववाचकः शब्दः "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" इत्यादिः कुप्येद्विरुध्येत, अतो ब्रह्मणः परिणामानुपपत्तेर्जगदुपादानत्वं न सम्भवति, किन्तु प्रधानमेवैष्टव्यमित्याक्षेपे प्राप्ते ॥ २५ ॥

## सू० श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥

२ । १ । २६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

समाधत्ते, नोक्तदोषोऽस्ति "सोऽकामयत बहु स्यां, स्वयमात्मानमकुरुत, सच्च त्यच्चाभवदेतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पुरुषः, यथो-

र्णनाभिः सृजते तथा पुरुषाद्भवति विश्वमि"-त्यस्यार्थस्य, शब्दमूलत्वादन्यं निर्मूलम् ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

सिद्धान्तमाह —

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः। न हि कृत्स्न-प्रसक्तिर्निरवयशब्दकोपश्च, कुतः ? " श्रुतेः " जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वजगद्विलक्षणत्वपरिण-तशक्तिमत्त्वविषयकश्रुतिकदम्बादित्यर्थः । तथा च श्रुतयः। "सोऽकामयत बहु स्यां, स्वयमात्मानम-कुरुत, सच्च त्यच्चाभवदिति, "तत्सृष्ट्वा तदेवानु-प्राविशत्, सेयं देवतैक्षत, हन्ताहमिमास्तिस्रो-देवता, अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य, यः पृथिव्यां-तिष्ठन् यं पृथिवी न वेद, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामेतावानस्य महिमा, ततोज्यायांश्च पुरुषः" इत्याद्याः । स्मृतिश्च "प्रकृतिं पुरुषं चापि प्रवि-श्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास संप्राप्ते सर्ग-काले व्ययाव्ययावि"ति ऊर्णनाभिरिवबाह्यकार-कमनपेक्ष्य, ब्रह्मजगदाकारेण परिणमते । ततोन

निरवयवशब्दकोपोऽपि।तथा च श्रुतिः "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि यथा पृथिव्याः औषधयः सम्भवन्ति, तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वमि"ति । स्मृतिश्च "प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः । एव भूतानि भूतात्मा सृष्ट्वा संहरते पुनरि"ति । पटस्य तन्तव इव स्वरूपोपादानभूताः कलाः भागा अवयवा यस्य न सन्ति तेन निष्कलं निरवयवं चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्म पठन्ति । ननु शक्तिविक्षेपलक्षणपरिणामाङ्गीकारे स्वरूपपरिणामाभावात्साङ्ख्यादिभ्यः कोविशेषः ? इति चेच्छ्रूयतां, ते हि कुलालान्मृत्पिण्डवत् पुरुषाद्भिन्नमतदात्मकं स्वाधीनस्थितिप्रवृत्त्यादिमद्द्रव्यं जगदुपादानकारणमङ्गीचक्रुः । औपनिषदं ब्रह्म तु एकमेव भोग्यशक्तिं विक्षिप्याकाशाद्यचेतनरूपेण परिणामयते, भोक्तृशक्तिं चेतनां देवादिरूपेण विक्षिप्य, तदन्तर्य्यामितयाऽनुप्रविष्टं स तत्तत्कर्मफलं भोजयति – उपसंहरति च । प्रलयसमये कूर्मोऽङ्गानीव सूर्योरश्मीनिव । ननु बाह्यकारकसङ्ग्रहेऽपि प्रकृते विरोधाभावात्तन्त्रसिद्धं

प्रधानं घटजनने मृद्वत् बाह्योपकरणं जगज्जननानुरूपं भविष्यति ? किं शक्तिविक्षेपलक्षणेन परिणामेनेत्यत्र शब्दविरोधोभवतीत्याह, "शब्दमूलत्वादि"ति । शक्तिविक्षेपलक्षणः परिणामोगृह्यते शब्दमूलत्वात्, प्रधानाद्युपकरणस्वीकारे निर्मूलतापत्तिः, इतरसापेक्षजगत्कर्त्तृत्वप्रसङ्गः । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं खल्विदं ब्रह्म, यद्विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवती"त्यादिश्रुतिव्याकोपश्च भवेदित्यर्थः ॥ २६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

समाधत्ते —

### श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ।

तुशब्दः आक्षेपनिरासार्थः । ब्रह्मणोजगदुपादानत्वेऽपि न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिः । कुतः ? श्रुतेः यथा जगदुपादानत्वं ब्रह्मणः श्रूयते, तथा कार्यवैलक्षण्येन सत्त्वं चापि श्रूयते "सोऽकामयत बहु स्यां स्वयमात्मानमकुरुत, सच्च त्यच्चाभवदि"त्यादिना "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमि"त्यादि, "एतावानस्य महिमाततोज्यायांश्च पुरुषइत्यादिना च । नापि निरवयवत्वशब्दकोपः, ऊर्णनाभेरिव शक्तिविक्षेपलक्षणपरिणामाङ्गीकारस्य पूर्वमुक्तत्वात्स्वरूपे परिणामानङ्गीकारात् ब्रह्म ह्यनन्तशक्तिभोग्यशक्तिं विक्षिप्याकाशाद्यचेतनरूपेण परिणमयते, भोक्तृशक्तिं चेतनाख्यां देवादिरूपेण

विचिन्त्य, तदन्तर्यामितया तत्फलं भोजयति-उपसंहरति चेति, सूर्योयथा स्वरश्मीन्। ननूपमानमात्रेण कथं निर्दोषत्वसिद्धिरिति चेत्तत्राह। शब्दमूलत्वादिति। उक्तवैदिकासिद्धान्तस्य शब्दमूलत्वान्निर्दोषत्वमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति, तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वमि"ति "प्रसार्य्य च यथाऽङ्गानि कूर्मः" इति भीष्मोक्तेश्च। एवं च यद्यचेतनानामेव परस्परं परिणामवैचित्र्यं पृथिव्यामोषध्यादिलक्षणः परिणामः अन्नस्य केशनखदन्तपिशितादिलक्षणः, चेतनोर्णनाभेश्चोर्णापरिणामोऽप्रच्युतस्वरूपतयैव प्राण्यन्तरेष्वत्यन्तासंभाव्यमानोदृश्यते, किमुत चेतनस्य, सर्वज्ञस्य, सर्वाचिन्त्यशक्तेः, स्वतन्त्रस्य, शास्त्रैकसमधिगम्यस्य, जगत्कारणस्य, ब्रह्मण इति भावः। नहि भावानां शक्तयः केन चित्प्राकृतबुद्धिना परिच्छेत्तुं शक्यन्ते, तर्काणामप्रतिष्ठत्वात् ॥ २६ ॥

## सू० आत्मनि चैवं विचित्रा-श्च हि ॥ २।१।२७ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

देवादिशरीरक्षेत्रज्ञे यदा नानाविकृतयः सङ्गताः सन्ति, तदा सर्वशक्तौ सर्वेश्वरे जगत्कारणे काऽनुपपत्तिः ॥ २७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

उक्तार्थं कैमुत्यकन्यायेनोपबृंहति —

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।

सत्यसङ्कल्पस्याचिन्त्यानन्तशक्तेरप्रच्युतस्वभावस्य जगज्जनने कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषा न सन्तीति किमाश्चर्यं, हि यस्माद्धेतोः आत्मनि च जीवे प्राप्तैश्वर्ये एवं कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषाभावेऽपि आत्मप्रभावानुरूपाः विचित्राः सृष्टयोदृश्यन्ते। द्वितीयश्चशब्दः कैमुत्यद्योतकः । श्रुतिषु तावद्धंसादिसृष्टयोजीवकृताः सुप्रसिद्धाः । देवराजप्रभावसूचकाः स्मृतयः "तांस्तान्विकुरुते भावान्बहूनथ मुहुर्मुहुः । किरीटवज्रभृद्धन्वी मुकुटी वद्धकुण्डलः । भवत्यथ मुहूर्त्तेन चण्डालसमदर्शनः ॥ शिखी जटी चीरवासाः पुनर्भवति पुत्रक !। बृहच्छरीरः सूक्ष्मश्च पीवरोऽथ कृशस्तथा । गौरं श्यामं तथा कृष्णं वर्णं विकुरुते पुनः । विरूपोरूपवांश्चैव युवा वृद्धस्तथैव च । प्राज्ञोजडश्च मूर्खश्च ह्रस्वोदीर्घस्तथैव च। प्रातिलोमानुलोमश्च भवत्यथ शतक्रतुः । शुकवायसरूपी

च हंसकोकिलरूपवान् । सिंहव्याघ्रगजानां च रूपं धारयते पुनः" इत्याद्याः ॥ सूर्यसामर्थ्यपराः स्मृतयश्च "आश्चर्य्याणामनेकानां प्रतिष्ठा भगवान्रविः । यतोभूताः प्रजायन्ते सर्वे त्रैलोक्य संमताः इत्याद्याः । एवमन्येषामपि देवानां सृष्टिसामर्थ्यं शास्त्रादेवावगन्तव्यम् । "अदैवं दैवतं कुर्युर्दैवतं चाप्यदैवतम् । लोकपालान्सृजेयुश्च लोकानन्यांश्च कोपिताः" इति मुनीनां सामर्थ्यबोधिनी-स्मृतिः, "अहो प्रभावोब्रह्मर्षेश्च्यवनस्य महात्मनः । इच्छन्नेव तपोवीर्याल्लोकानन्यान्सृजेदपी"ति च्यवनप्रभाववादिनी स्मृतिः । वशिष्ठधेनुसामर्थ्यपराः स्मृतयः "ऊर्ध्वाञ्चिताशिरोग्रीवा प्रबभौ-रौद्रदर्शना । क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर्हंभारवघन-स्वना । आदित्यइव मध्याह्ने क्रोधदीप्तवपुर्बभौ । अङ्गारवर्षं मुञ्चन्ती मुहुर्वालधितोमहत् । असृजत्पल्हवान्पुच्छात्प्रस्रवात् द्राविडाञ्छकान् । योनिदेशाच्च यवनान् शकृतः शबरान्बहून् । चिचुकांश्च पुलिन्दांश्च चीणान् हूणान्सकेरलान् । ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान्बहुविधानपी"त्याद्याः । एवमन्यास्मिन्नपि विशिष्टे आत्मनि

विचित्राः सृष्टयः सन्ति, विस्तरभयादनुपयोगाच्च नोदाहृताः । विशिष्टजीवेऽपि स्वसामर्थ्यानुरूपं भगवद्दत्तमेव किञ्चित्कार्य्यकर्त्तृत्वं, कृत्स्नजगत्कर्त्तृत्वं मुक्तजीवस्यापि नास्तीति जगद्व्यापारवर्ज्जमित्यत्र स्फुटीभविष्यति ॥ २७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।

न चैतदाश्चर्य्यं, ब्रह्मणोविचित्रजगत्स्रष्टृत्वेऽपि स्वरूपाप्रच्युतित्वमिति, हि यतआत्मनि जीवात्मनि च देवादिशरीरेऽप्रच्युतस्वरूपतयैव एवं विचित्राहस्त्यश्वादिसृष्टयोदृश्यन्ते, किमुत ब्रह्मणइति द्वितीयश्चशब्दः कैमुत्यद्योतकः ॥ २७ ॥

## सू० स्वपक्षे दोषाच्च । २।१।२८।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अस्मत्पक्षास्तिष्ठतु, स्वपक्षेऽपि भवदुक्तदोषापातान्मूकीभावोयुक्तः ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

स्वपक्षे दोषाच्च ।

चकारोवेदान्तविरुद्धवादनिराकरणार्थः । वे-

दान्तप्रतिकूलवादिनोहि साङ्ख्यादयोजगत्कारण-निर्णये वक्तुं नार्हाः। कुतः? "स्वपक्षे दोषात्"। तत्र सांख्यास्त्रिगुणं निरवयवं प्रधानं महदा-द्याकारेण परिणमते इत्यङ्गीचक्रुः। एवं सति कृत्स्नप्रसक्त्यादयोदोषास्तत्रापि भवेयुः। निरवय-वस्य परिणामित्वासम्भवात्कारणत्वं च न सम्भ-वति, अन्यथा पुरुषस्यापि परिणामित्वापत्तेः। ननु सत्त्वरजस्तमांसि अवयवावर्त्तन्ते ऽतोनोक्त-दोषप्रसङ्गः? इति चेत्तदा पटस्येव प्रधानस्य कार्य्यत्वमवयवभूतानां तन्तूनामिव सत्त्वादीनां कारणत्वं भवतां मते भवेत्। ननु च तन्तुभिः पटवदपूर्वसंस्थानतया सत्त्वाद्यवयवैरारब्धं प्रधानं नाङ्गीक्रियते, किन्तु स्वासाधारणसंस्थानवत्सा-म्यावस्थापन्नसत्त्वादिसमुदायं प्रधानमित्युच्यते-इतिचेन्नैवमपि युक्तम्, तथात्वेऽपि सत्त्वादयः साम्यावस्थापन्नाः प्रधानं विसमाश्च जगच्चो-त्पादयन्तीति तन्मतेंऽगीकार्यं स्यात्। किञ्च तेषा-मपि प्रत्येकं सावयवत्वेऽनवस्थादोषप्रसङ्गः स्यान्निरवयवत्वे तु कार्य्यकारणव्यवस्थाबाधप्रसङ्गः स्यात्, निरवयवानां सत्त्वादीनां समूहस्य कार्यत्वे

कारणत्वे विशेषाभावात् । एतेन परमाणुकारण-वादोऽपि निरस्तोबोध्यः ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्वपक्षे दोषाश्च ।

प्रधानकारणवादेऽपि त्रिगुणस्य प्रधानस्य निरवयवत्वाभ्युपगमान्महदाद्याकारेण परिणामे कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वप्रतिज्ञाहानिर्वेति दोषः समानः । गुणाएव तस्यावयवाइति चेत्, तत्रापि गुणसमूहस्य प्रधानत्वे गुणानां निरवयवत्वेन प्रदेशभेदमनपेक्ष्य संयुज्यमानानां तेषां स्थूलमहदाद्यारम्भकत्वासिद्धिः । गुणैरारब्धस्य प्रधानत्वे प्रधानं कारणमिति सिद्धान्तविरोधइति वैशेषिकमतेऽप्येवं दोषाः, परमाणूनां निरवयवत्वाभ्युपगमात् ॥ २८ ॥

## सू०सर्वोपेता च सातद्दर्शनात् ।

२ । १ । २९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"त्यादिश्रुतेः सा देवता सर्वशक्त्युपेता सर्वं कर्त्तुं समर्था भवति ॥ २९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

परमपुरुषस्य सर्वशक्तिमत्त्वं दर्शयति —

सर्वोपेता च सा तद्दर्शनात् ।

साङ्ख्यादिभिरभ्युपगतं विविधविचित्रजगज्जननानुरूपनानाशक्तिहीनं प्रधानादिलक्षणं जगत्कारणमयुक्तमाभाति, प्रकृते तु सानन्यशरणैरुपास्या देवता सर्वोपेता सर्वशक्त्युपेता चातो-जगत्कारणं सैव भवितुमर्हति, न प्रधानादि, कुतः ? "तद्दर्शनात्" । तत्तां सर्वशक्त्युपेतां देवतां दर्शयतीति दर्शनं श्रुतिः । देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, सत्यकामः सत्य-सङ्कल्पः"इत्यादिश्रुतेः, शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्य-ज्ञानगोचराः । शतशोब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याभावशक्तयः ॥ भवन्ति तपतांश्रेष्ठ ! पावकस्य यथोष्णते" त्यादिस्मृतेश्च ॥ २९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सर्वोपेता च सा तद्दर्शनात् ।

पूर्वमुपादानस्य ब्रह्मणः सर्ववैलक्षण्येन सर्वशक्तियोगात् कृत्स्नप्रसक्त्याद्योदोषानिरस्ताः । तत्र न केवलं सर्ववैलक्षण्येन सर्वशक्त्युपेता सा परा देवतेत्युच्यते, अपि तु तद्दर्श-

नाद्य, दर्शयतीति दर्शनं श्रुतिः सर्वशक्तियोगश्रुतेश्चेत्यर्थः । "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, सत्यकामः "सत्यसङ्कल्पः" इत्यादिश्रुतेः ॥ २९ ॥

# सू० विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।

२ । १ । ३० ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इति करणनिषेधात्सर्वशक्त्युपेतस्यापि जगत्कर्त्तृत्वं न सङ्गच्छते, इति चेदत्र वक्तव्यमुत्तरं यत्तत्पूर्वत्रोक्तमेव ॥ ३० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।

नन्वस्तु सर्वशक्त्युपेतं ब्रह्म, तथापि तस्याधारपात्राद्युपकरणवर्ज्जस्य क्षीरस्येव भूमिजलाद्युपकरणरहितस्य बीजस्येव तत्तद्देशकालोचितोपकरणरहितानां देवादीनामिव शक्तिमत्त्वेऽपि कार्यकर्त्तृत्वं न सङ्गच्छते, "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इत्यादिना तस्य विकरणत्वात्,

विगतकरणत्वावगमादितिचेत् ? यदत्र समाधानं वक्तव्यं तच्छब्दमूलत्वादित्यत्रोक्तम् । नित्य-सिद्धानन्दैकरसस्यास्य परमात्मनः सर्वेश्वरस्य जगत्कर्तुः क्रियासाध्यानन्दार्थं कार्य्यं, यथेष्ट-कार्य्यजनने करणं च न विद्यते, सङ्कल्प-मात्रेणैव नित्यानन्ताचिन्त्यशक्तियोगाद्विविध-विचित्रकार्यकर्त्तृत्वादिति श्रुत्यर्थः । तथा च श्रुतयः । "आत्माऽऽनन्दमयः स्वेनैव पूर्णः रसोवै सः, सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः, अपाणिपादोजवनोगृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणो-त्यकर्णः" इत्याद्याः । न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त-एव च कर्मणी"ति श्रीमन्मुखोक्तेश्च । तस्मा-त्परपक्षे एव पूर्वोक्तादोषाः सन्ति, न वेदान्त-सिद्धान्ते इति सिद्धम् ॥ ३० ॥

इति कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।

सर्वशक्तिमत्त्वेपि "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इति

करणरहितस्य तस्य न कार्यारम्भः सम्भवति, लोके हि देवादयः सर्वशक्तिमन्तोऽपि करणसम्पन्नाएव कार्याय प्रभवन्तीति चेन्नदत्र वक्तुं योग्यं तदुक्तं "शब्दमूलत्वादि"ति, श्रुत्यवगाह्ये तर्काप्रवेशात् । तथा च श्रुतिः, "अपाणिपादोजवनोगृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इति ॥ ३० ॥

इति कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

## सू० न प्रयोजनवत्त्वात् ।२।१।३१।।

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ननु नित्यावाप्तसमस्तकामः परः कर्त्ता न, कुतः ? कर्त्तुः प्रवृत्तेः प्रयोजनवत्त्वादिति ॥ ३१ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु स्यादेवं तथापि ब्रह्मणः स्वतोनित्याप्तकामस्य जगज्जनने प्रयोजनाभावान्न तत्कर्त्तृकमिदमितीदानीं शङ्कते —

न प्रयोजनवत्त्वात् ।

ननु ब्रह्मणोन जगत्कर्त्तृत्वं सङ्गच्छते, कुतः ? कर्त्तुः प्रवृत्तेः प्रयोजनवत्त्वात्तस्य नित्या-

वाप्तकामत्वात्, जगज्जनने प्रयोजनाभावादिति पूर्वः पक्षः ॥ ३१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

न प्रयोजनवत्त्वात् ।

पुनरप्याक्षिपति । न ब्रह्मणः कारणत्वं सम्भवति, सर्वप्रवृत्तीनां प्रयोजनवत्त्वात् । तस्य चाप्तसमस्तकामत्वेन प्रयोजनाभावादन्यथा स्वार्थप्रवृत्तौ पूर्णकामत्वहानिः, परार्थप्रवृत्तौ अनन्तदुःखबहुलं जगत्सृजतः करुणावत्तादिहानिः ॥ ३१ ॥

## सू० लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।

२ । १ । ३२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्रोच्यते, परस्यैतद्रचनादिलोकप्रसिद्धनृपत्यादिक्रीडामात्रमिव युज्यते ॥ ३२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

सिद्धान्तमाह —

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । यथा खलु

लोके प्राप्तैश्वर्यस्य सार्वभौमस्य फलसङ्कल्पं विनैव विचित्रमक्षकन्दुकादिभिर्विक्रीडनं लीलामात्रं दृश्यते, तथा ब्रह्मणोऽपि लीलाकैवल्यं, केवलं विश्वोत्पादनादिक्रीडामात्रमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इति चेत्तत्राह —

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।

तुशब्द आक्षेपनिरासार्थः । आप्तसमस्तकामस्यापि परब्रह्मणो विचित्रविश्वसृष्टौ प्रवृत्तिर्लीलैव केवला, न तत्र प्रयोजनोद्देशः, लोकवत् । यथा लोके राजादीनां परिपूर्णकामानामपि क्रीडाप्रवृत्ति र्दृश्यते, यथा वा सुखोन्मत्तस्य सुखोद्रेकात्फलनिरपेक्षनर्तनादि ॥ ३२ ॥

सू० वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ।२।१।३३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विषमसृष्टिसंहारादिनिमित्तवैषम्यनैर्घृण्ये जीवकर्मसापेक्षत्वात्पर्जन्यस्येव जगज्जन्मादि-

कर्त्तुर्न स्यातां, तथैव दर्शयति “पुण्योवै पुण्येन कर्मणा, पापः पापेने”ति श्रुतिः ॥ ३३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति।

ननु ब्रह्म यदि लीलामात्रेण विश्वसृष्ट्यादि करोति तर्हि तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम्। देवमनुष्यतिर्य्यगादीन्विषमान्सृजतोवैषम्यं विषमसृष्टिकर्त्तृत्वं प्रसज्येत, त्रिविधतापालयं विश्वं सृजतस्तत्र तत्र विसक्तान् जीवान् प्रलयवेलायां प्रकृतौ विवेशयतः जरामरणादिदुःखदत्वेन च नैर्घृण्यं निर्दयत्वं प्रसज्येतेति चेन्न, वैषम्यनैर्घृण्ये नैव स्याताम्। कुतः? “सापेक्षत्वात्” ब्रह्मणोहि देवादिरूपविषमजनोत्पादने विश्वसृष्ट्यादौ च पर्जन्यस्य विषमाङ्कुरोत्पादनादौ तत्तद्बीजसापेक्षवत्त्ववत्तत्तत्कर्मसापेक्षत्वात्। नन्वेतदपि कुतोऽवगम्यते? इत्यत्राह, दर्शयतीति “एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्योलोकेभ्यउन्निनीषते, एष एवाऽसाधु कर्म कारयति, तं यम-

धोनिनीषते, पुण्योवै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पानेन कर्मणा, साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापोभवती"ति भगवती श्रुतिर्दर्शयतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ।

ननु लीलयापि ब्रह्मणोविश्वसृष्टिप्रवृत्तौ वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयातां, वैषम्यं नाम देवमनुष्यादीनामुत्तममध्यमादिरूपविषमसृष्टिकर्तृत्वं, नैर्घृण्यं नाम दुर्विषहदुःखगर्भजगन्निर्मातृत्वेन तत् संहर्तृत्वेन च निर्दयालुता । तत्रोत्तरमाह, नेति । नेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्ज्येते, कुतः?सापेक्षत्वात् । तत्तत्प्राणिपुण्यापुण्यकर्मसापेक्षत्वादीश्वरस्य व्रीहियवाम्रादिसृष्टिवैचित्र्ये तत्तद्बीजगतासाधारणसामर्थ्यसापेक्षपर्जन्यवत् । न च सापेक्षत्वेऽप्राधान्यं, भृत्यादिसेवानुसारेण फलदातूराज्ञोऽप्राधान्यादर्शनात् । तथाहि दर्शयति श्रुतिः "पुण्योवै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन कर्मणा, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवती"-त्यादिः ॥ ३३ ॥

## सू० न कर्माऽविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।२।१।३४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

ननु "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमि"ति सृष्टेः प्रागविभागश्रवणात् कर्मसापेक्षत्वं परस्य न सङ्गच्छते, इति चेन्न, कर्मणां पूर्वसृष्टिस्थजीवकृतानामनादित्वात्तदानीमपि सत्त्वात्पूर्वसृष्टिरपि, अकस्मादुत्तरसृष्ट्यनुपपत्त्योपपद्यते च। "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयादि" त्यादावुपलभ्यते चापि॥ ३४॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

**न कर्माऽविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च।**

ननु सापेक्षत्वादिति हेतुर्न सङ्गच्छते, कुतः? "कर्माऽविभागात्" "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयमि"त्यादिना सृष्टेः प्राक् सर्वस्य जगतोऽविभागे निश्चिते सति क्षेत्रज्ञकर्मणामप्यविभागावधारणात्। सृष्टेः प्राक्कर्माणि सृज्य वैचित्र्यहेतुभूतानि न सन्तीत्यर्थः। यत्सापेक्षत्वं ब्रह्मणोभवेदिति चेन्न, कुतः? सर्वस्यानादित्वात्। पूर्वसृष्टौ क्षेत्रज्ञैः कृतानि पुण्या-

पुण्यमिश्राणि कर्माण्युत्तरसृष्टिगतवैचित्र्यनिमित्तानि भवन्तीत्यर्थः । सृष्टिप्रवाहोबीजाङ्कुरन्यायेन पूर्वोक्तयाऽभिव्यक्ताऽनभिव्यक्तकार्य्यविवस्थयोपपद्यते च । चकारात्पूर्वसृष्टिं विनाऽकस्मादुत्तरसृष्टेरनुपपत्तेश्च । उपलभ्यते चापि शास्त्रे "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदि"त्यादौ पूर्वसृष्टेः सद्भावोपदेशात्सृष्टिप्रवाहस्यानादित्वमुपलभ्यते इत्यर्थः । ऊर्द्ध्वमूलोऽवाक्शाखएषोऽश्वत्थः सनातनः । ऊर्द्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययमि"त्यादिश्रुतिस्मृतिषु च संसारस्य सन्मूलत्वेन प्रवाहरूपतयासत्यत्वं चोपलभ्यते । पूर्वत्र सत्यत्वेन कार्य्यं निरूपितमेव । "अनाद्यन्तवती न जायते म्रियते वा विपश्चित्, प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपी"ति चिदचित्पदार्थयोःपरमकारणशक्तिभूतयोरनादित्वं चोपलभ्यते ॥ ३४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

न कर्माऽविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।

ननु "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवे"ति सृष्टेः पूर्वं चेत्रज्ञ-

तत्कर्माविभागश्रवणात् कथं कर्मापेक्षया वैषम्याद्यप्रसक्तिरिति चेन्न, कुतः ? क्षेत्रज्ञानां तत्कर्मणां चानादित्वात्, संसारस्य हेतुहेतुमद्भावोपपत्तेः, पूर्वसृष्टिसम्पादितधर्माधर्मप्रपञ्चस्यात्यन्तिक-नाशाभावात्, तदपेक्षयोत्तरसृष्टौ न किञ्चिद्बाधकमिति भावः । ननु कुतस्तेषामनादित्वमित्यतआह । उपपद्यते च । क्षेत्रज्ञाणां तत् कर्मप्रवाहाणां चानादित्वं, क्षेत्रज्ञानां स्वरूपतोऽनादित्वेऽप्यविभाग-श्रवणं च नामरूपविभागाभावादन्यथा कृतनाशादिप्रसङ्गात् । उप-लभ्यते च क्षेत्रज्ञानामनादित्वं श्रुतिस्मृत्योः । "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते, प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपी"ति ॥ ३४ ॥

## सू० सर्वधर्मोपपत्तेश्च।२।१।३५

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्वेषां कारणधर्माणां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्चा-विरोधसिद्धिः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते वेदान्तपारि-जातसौरभे द्वितीयाऽध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।

सर्वेषामुक्तानामनुक्तानां च जगत्कारणानुरूपाणां प्रधानादावनुपपन्नानां धर्माणां ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे उपपत्तेश्च ब्रह्मणि शास्त्रसमन्वयो न कुतोऽपि विरुध्यते इति सिद्धम् ॥ ३५ ॥

इति प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीश्रीनिवासाचार्य्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमःपादः ॥ १ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।

प्रधानपरमाण्वादिष्वनुपपन्नानां सार्वज्ञ्यादीनां सर्वेषां धर्माणां कारणत्वोपपादकानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्च ब्रह्मैव कारणं, न प्रधानादिः; परिमितशक्तित्वात् । ब्रह्मणश्चाचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वात् सर्वमनवद्यमिति ॥ ३५ ॥

इति प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टविरचितायां वेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायप्रथमपादविवरणम् ॥ १ ॥

---

श्रीमते नियमानन्दाय नमः ।

## द्वितीयाऽध्याये द्वितीयपादारम्भः ।

## सू० रचनाऽनुपपत्तेश्च नाऽनुमानम् ॥२।२।१॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रधानमनुमानगम्यं न जगत्कारणं, कुतः? सृज्यरचनानभिज्ञात्ततोविविधरचनानुपपत्तेश्च ॥१॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं हि पूर्वत्र मुमुक्षून्पपरमपुरुषगुणस्वरूपादिश्रवणमननादौ प्रवर्त्तयितुं भगवता सूत्रकृता श्रीपुरुषोत्तमस्य सर्वशक्तेः सर्वेश्वरस्य परमकारणस्य श्रीवासुदेवस्य जगज्जन्मादिकारणत्वं सुदृढं प्रतिपादितम् । "ईक्षतेर्नाशब्दमि"त्यादिना परपक्षाणामश्रौतत्वञ्च, दर्शितमिदानीमौपनिषदसिद्धान्तस्यैवोपादेयत्वसिद्धयेऽस्मिन्पादे भगवान्सूत्रकारः परोक्तयुक्तीनामाभासत्वं दर्शयति । न चौपनिषदसिद्धान्तप्रका-

शनेनैव मुमुक्षूणामुपकारे जाते किं परपक्ष-
दूषणेनेति वाच्यम् ? यथा हिततममन्नमुत्सृज्या-
हिते विषादौ प्रवृत्तं जनं तद्दोषकथनादिना-
ततोनिषेधयित्वा तत्रैव तं नियोजयन्ति । तथा
वेदविरुद्धात्पक्षान्निवारणाय स्वसिद्धान्ते मुमुक्षु-
प्रवृत्तये च परपक्षदूषणसूचनस्य युक्तत्वात् ।
साङ्ख्या हि श्रुतिप्रोक्तं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं
श्रीपुरुषोत्तमं जगज्जन्मादिकारणमतिहाय,
तत्सम्बन्धवर्जितामचेतनां गुणत्रयसाम्यभूतां
प्रकृतिं जगत्कारणमाहुः । तदुक्तं षष्ठिसंहिता-
याम् । "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-
विकृतयः सप्त । षोडकश्च विकारो न प्रकृति-
र्न विकृतिः पुरुषः" इति प्रकृतिसत्त्वे पञ्चहेतूनाहुः ॥
भेदानां परिमाणा१त्समन्वयात्२ शक्तितःप्रवृतेश्च
३ कार्य्यकारणविभागाद४विभागा५द्वैश्वरूप्यस्य
कारणं प्रधानमिति, विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यं वि-
चित्रसन्निवेशं जगत्तस्य ये च परिमितास्ते सामा-
न्यकारणपूर्वका यथा घटादयः । एवं परिमिता-
महदहंकारौ पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्च-
महाभूतानीति भेदास्तेषामेकं देशकालापरिमितं

गुणत्रयसामान्यं कारणमस्ति। ये च यदन्विता दृश्यन्ते, ते तदेककारणपूर्वकाः। यथा मृदन्विताः शरावादयस्तत्पूर्वकाः, तथा सुखदुःखमोहान्विता बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति। तथा घटादिकार्य्याणां कारणशक्तितः प्रवृत्तिवन्महदादिकार्याणामपि कारणशक्तितः प्रवृत्तिर्वाच्या, एवं सति तादृशशक्तिमत्कारणं प्रधानम्। किञ्च कार्य्यस्य कुण्डलादेः सदृशात्कारणात्सुवर्णादेर्विभागस्तस्मिन्नेवाविभागश्च दृश्यते। एवं वैश्वरूप्यस्यापि विभागाविभागौ ताभ्याम*धिभूतं गुणत्रयसाम्यरूपं कारणमव्यक्तमनुमीयतइति प्राप्ते आह —

रचनाऽनुपपत्तेश्च नानुमानम्।

अनुमीयते इत्यनुमानमब्रह्मात्मकं प्रधानं न जगत्कारणम्, कस्मात्? रचनाऽनुपपत्तेः, अब्रह्मात्मकादानुमानिकादचेतनात्स्रष्टव्यज्ञानहीनात्प्रधानात् विचित्रकर्मानुरूपविविधभोग्यसंस्थान-

---

*भूतमात्रमभिक्रम्य वर्त्तमानम्।

विभिन्नजगद्रचनाऽनुपपत्तेः। लोके स्रष्टव्यज्ञानवतोविविधविचित्रप्रासादरथालङ्कारादिरचनादर्शनात्। चकारः प्रधानसत्त्वसाधकानां हेतूनां सत्प्रतिपक्षत्वं बोधयति। अब्रह्मात्मकं साङ्ख्याभिमतं प्रधानमसत्, तदनुपलब्धेः, यदेवं तदेवं खपुष्पवत्, यन्नैवं तन्नैवं, द्युमणिवत्, इति साध्याभावसाधकप्रयोगात् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

साङ्ख्यतार्किकबौद्धैश्च जैनैः पाशुपतादिभिः।
दुर्विज्ञेयं गुरुं कृष्णं निम्बार्कं समुपाश्रये ॥ १ ॥

एवं परोद्भावितदूषणपरिहारपूर्वकं परब्रह्मणोविश्वजन्मादिकारणत्वमुक्तम्। इदानीं परपक्षान्निराकर्तुं परपादः प्रवर्त्त्यते। *अन्यथा परतन्त्रप्रज्ञाः प्राणिनस्तेषांॐ परपक्षाणां प्रामाणिकत्वशङ्कया तेष्वेवावलम्बेरन्नतु वैदिकपक्षमाद्रियेरन्, पूर्वंतु-"ईक्षतेर्नाशब्दं, कामाच्च नानुमानापेक्षा, एतेन सर्वे व्याख्याता-व्याख्याताः" इत्यादिना तदुदाहृतवैदिकवाक्यानामतत्परत्वमुक्त-

---

* परपादप्रवर्त्तनाभावे।

ॐमहाजनपरिग्रहीतत्वाद्युक्तिगाढत्वसम्भावनात् सर्वज्ञभाषितत्वाच्च।

मिह तु वाक्यान्यनपेक्ष्य स्वातन्त्र्येण तद्युक्तयः प्रतिषिध्यन्ते इति न पुनरुक्तिः। तत्र साङ्ख्या मन्यन्ते, त्रिगुणमचेतनं प्रधानं जगत्कारणं, तस्य सत्त्वे पञ्चहेतूनाहुस्तथा हि भेदानां परिमाणात्, समन्वयाच्छक्तितः, प्रवृत्तेश्च कार्यकारणविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्येति, विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यं विचित्रसन्निवेशं जगत्तस्य ये च परिमितास्ते सामान्यकारणपूर्वकाः यथा घटादयः। एवं परिमितामहदादिपृथिव्यन्ताभेदास्तेषामेकं देशकालापरिमितं गुणत्रयसामान्यं कारणमस्ति। ये च यदन्विताद्दृश्यन्ते, ते तदेककारणपूर्वकाः, यथा मृदन्विताः शरावादयस्तत्पूर्वकाः। तथा सुखदुःखमोहान्विता बा*ह्याध्यात्मिकाभेदाः सुखदुःख‡मोहात्मकसामान्यकारणपूर्वकाभवितुमर्हन्ति। तथा घटादिकार्याणां कारणशक्तितः प्रवृत्तिवन्महदादिकार्याणामपि कारणशक्तितः प्रवृत्तिर्वाच्यातच्छक्तिमत्कारणमव्यक्तम्। किञ्च कारणात्कार्यस्य विभागोजन्म, अविभागोलयश्च, तत्र दृश्यते। एतौ विभागाविभागौ वैश्वरूप्यस्य विचित्रसन्निवेशस्य जगतोदृश्यमानौ क्वचित्कारणे विश्रान्तौ विभागत्वादविभागत्वाच्च, मृदि घटविभागाविभागवदिति त्रिगुणस्य जगतोगुणत्रयसाम्यरूपप्रधानादुत्पत्तिस्तस्मिन्नेव लयश्चेत्यनुमीयते इति प्राप्ते तत्राह —

रचनाऽनुपपत्तेश्च नानुमानम्।

जगद्धेतुतयाऽनुमीयते इत्यनुमानं प्रधानं न जगत्कारणं, कुतः? रचनाऽनुपपत्तेः तत्स्वभावाभिज्ञचेतनानधिष्ठितं प्रधानं

---

*सुखदुःखमोहात्मकानि सत्वरजस्तमांसि।

‡ बाह्यंपृथिव्यादिभोग्यंअध्यात्मिकंशरीरादिचभोगाधिष्ठानं।

न विचित्रजगद्रचनासमर्थमचेतनत्वात् रथप्रासादादिरचनाहेतुभूतकेवलदार्वादिवदिति । च शब्देनान्वयानुपपत्तिः समुच्चीयते । न हि बाह्यारूपादयःसुखदुःखमोहान्विता अवभासन्ते, सुखादीनां चित्तधर्मत्वेन प्रतिपुरुषमन्तरेव सम्पद्यमानत्वात् । न बाह्यार्थाकारतयाऽनुगताः सुखादयः सम्पद्यन्ते चेतनस्यात्मीयवासनानुसारेण बाह्यविषयनिमित्तास्तूत्पद्यन्ते, इति सत्त्वादेश्चान्वितस्य द्रव्यगुणत्वेन शौक्ल्यादेरिवोपादानकारणत्वासम्भवात् । नच सत्त्वादीन्यपि द्रव्याणि तेषां द्रव्यगुणतया प्रसिद्धेः शक्तितः प्रवृत्तेरित्यादिहेतवस्तु ब्रह्मण्युपपद्यन्ते, तस्याप्यपरिमितत्वात्, जगतस्तदधीनस्थितिप्रवृत्तित्वात् जगदुत्पत्तिलयवत्त्वादिति ॥ १ ॥

## सू० प्रवृत्तेश्च ॥ २।२।२॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ २ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रवृत्तेश्च ।

अनुपपत्तेरित्याद्यनुवर्त्तते । अचेतनस्यानुमानिकस्य प्रधानस्य स्वतोगुणत्रयसाम्यावस्थाप्रच्युतिरूपायाः प्रवृत्तेरनुपपत्तेश्चाऽनुमानगम्यं प्रधानं न जगत्कारणम्, लोके चेतनाधिष्ठितानामेव रथादीनां कार्य्येषु प्रवृत्तिदर्शनात् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्रवृत्तेश्च ।

अनुपपत्तेरिति वर्त्तते । अचेतनस्य प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च न कारणं तत्, मृदादीनां रथादीनां वा चेतनाऽधिष्ठितानामेव स्वकार्य्येषु प्रवृत्तिदर्शनात् ॥ २ ॥

## सू० पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ।२।२।३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ननु क्षीरादिवत्स्वयं प्रधानं जगज्जन्मादौ प्रवर्त्तते इति चेत्तत्रापि परः प्रेरको "योऽप्सु तिष्ठन्नि"त्यादिना श्रूयते ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ।

ननु किमिदमुच्यते ? स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणमिति ? पयो यथाऽचेतनमेव दध्यात्मना स्वतः परिणमते, वत्सवृद्धये स्वयं प्रवर्त्तते च, यथा चाम्बु पार्जन्यं विविधभौमरसरूपेण, हिमबुद्बुदादिरूपेण च परिणमते,

वृक्षादिविवृद्धये स्वयं प्रवर्त्तते, स्पन्दते च । तथैव चेतनानपेक्षं प्रधानमपि विसमगुणं सन्नानाकारेण परिणमते इतिचेत्तत्रोच्यते । तत्रापीति । क्षीरादावपि चेतननिरपेक्षा प्रवृत्तिर्नोपपद्यते, अपि तु ( चेतनाऽधिष्ठितमेव पयआदिकं दध्याद्याकारमापद्यते, ) वत्सवत्सला धेनुः स्नेहात्पयः प्रवर्तयति द्रवत्वाच्च क्षरति । ननु च मृतेऽपि वत्से पयसोभावोदृश्यते, वत्सस्नेहात्पयः प्रवर्तयतीत्ययुक्तमिति चेन्न, तदा वत्सानुस्मृतेः । अथवा स्वामिस्नेहात्तथात्वोपपत्तेः । अम्बु च चेतनाधिष्ठितमेव हिमबुद्बुदाद्याकारं भवति, भूसंसर्गान्नानारसाकारं प्रतीयते च, निम्नदेशापेक्षया द्रवत्वात्स्यन्दते च, सर्वस्य चेतनाधिष्ठितत्वाच्च, सर्वं यथा सम्भवं सर्वत्रोपपद्यते । "योऽप्सु तिष्ठन्नेतस्य वा ऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दते" इत्यादिश्रुतेः । तस्मान्नानुमानं जगत्कारणम् ॥ ३ ॥

( ) एतच्चिन्हाङ्कितपाठोऽधिकोदृश्यते पुस्तकान्तरे ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि।

ननु पयोयथा चेतनानऽधिष्ठितमेव दध्यात्मना स्वतः परिणामभानं दृश्यते, वत्सविवृद्धये प्रवर्त्तते च, अम्बु च जलधरविमुक्तमेकरसं जम्बीराम्रनारिकेरादिविचित्ररसरूपेण स्वतः परिणमते, स्यन्दते च, लोकानुग्रहाय, तथा प्रधानमपीति चेत्तत्परिहरति। तत्राऽपीति। क्षीरादावपि चेतनाऽनधिष्ठिते प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तयोश्चेतनाधिष्ठितत्वं चान्तर्यामिब्राह्मणे "योऽप्सु तिष्ठन्नि"त्यादिऽश्रुतिसिद्धम्। वत्सवृद्ध्यर्थे च धेनुः पयः प्रवर्त्तयति द्रवत्वाच्च वत्सचूषणेन क्षरति। अम्बु च चेतनाधिष्ठितमेव निम्नदेशापेक्षया द्रवत्वात्स्यन्दते ॥ ३ ॥

## सू० व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥२।२।४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

प्राज्ञेनाऽनधिष्ठितं प्रधानं न जगत्कारणं, कुतः? तद्व्यतिरिक्तस्य सहकार्य्यन्तरस्यानवस्थितेर्यतस्तव तदनपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

———

वेदान्तकौस्तुभः ।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ।

इतोऽपि जगत्कारणं नानुमानम् । कस्मात् ? "व्यतिरेकानवस्थितेः" प्राज्ञानधिष्ठितस्य स्वतन्त्रस्याचेतनस्यानुमानिकस्य प्रधानस्य जगत्कारणत्वे सर्वदा कार्य्यप्रसक्तौ कदाचिदपि कार्य्यव्यतिरेकस्यावस्थित्यभावापत्तेः । यद्वा प्रधानव्यतिरिक्तस्य प्रवर्त्यस्य प्रवर्त्तकस्य वाऽवस्थित्यभावादित्यर्थः । तत्रापि हेतुः । अनपेक्षत्वादिति । तव मते प्रधानस्य जगत्कर्त्तृत्वे सहकार्य्यनपेक्षत्वात् नच विचित्रं कर्म प्रधानप्रवर्त्तकमस्तीति वाच्यम्, कर्मणोजगत्कारणत्वापत्तेः, प्रधानस्य जगज्जनने स्वातन्त्र्यभङ्गापत्तेश्च, असम्भवाच्च । कर्म तु पुण्यमपुण्यं च सुखं दुःखं च फलमपि दातुं न शक्नोति । तत्कर्त्ताऽपि स्वतः फलं न प्राप्नोति । प्रकृतिसंसर्गदूषितक्षेत्रज्ञानुष्ठितं तत्कथं प्रधानं प्रवर्तयितुं शक्नुयात् । भगवदिच्छया तु कर्माणि फलन्ति, तत्कर्त्ता च फलं प्राप्नोति । "सुखं दुःखं भवोभावोभयं चाभयमेव च । अहिंसा समता तुष्टिस्तपोदानं

यशोऽयशः। भवन्ति भावा भूतानां मत्तएव पृथग्विधाः" इतिश्रीमुखवचनात्। नच पुरुषसान्निधिमात्रतः प्रधानं प्रवर्त्तते इति वाच्यम्, पुरुषसन्निधेर्नित्यत्वात्प्रवृत्तेरापि नित्यत्वापत्तेः। विशेषतस्तु "पुरुषाश्मवदि"त्यत्र स्फुटीभविष्यति ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्।

प्रधानव्यतिरिक्तस्य प्रवर्त्तकस्य निवर्त्तकस्य वा हेत्वन्तरस्य सृष्टेः प्रागनवस्थितेरवास्थित्यभावात् प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्तिः, सा च नित्या स्यादनपेक्षत्वात्। ततश्च सर्वदा सृष्टिरेव स्यात्। पुरुषसन्निधिरूपहेत्वन्तरस्वीकारेणापेक्षणादपि न केवलं प्रधानं परिणामकर्त्तृ सन्निधिसातत्येन प्रवृत्तिसातत्यापत्त्या प्रलयाभावोऽपवर्गाभावश्च ॥ ४ ॥

## सू० अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।२।२।५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

अनडुहाद्युपभुक्ते तृणादौ क्षीराकारेण परिणामाभावाद्धेन्वाद्युपभुक्तं तृणादि यथा स्वतः

क्षीरीभवति, तथाऽव्यक्तमपि महदाद्याकारेण परिणमते इति न वक्तव्यम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।

ननु यथा खलु तृणोदकादिक्षीरभावेन परिणमते, तथा निमित्तान्तरनिरपेक्षमेवाऽव्यक्तं महदाद्याकारेण परिणमते, तत्राह । नेति । नैवं वक्तुं शक्यम्, कुतः ? "अन्यत्राभावात्" अन्यत्र धेन्वादेरन्यत्रानडुहादौ तदुपभुक्तस्य तृणोदकादेः क्षीराकारेण परिणामाभावात् । चकारात् धेन्वाद्युपभुक्ततृणादिक्षीराकारपरिणामस्य प्राज्ञकर्तृकत्वाभ्युपगमात् । तथा प्रधानमपि प्राज्ञाऽधिष्ठितमेव महदाद्याकारेण परिणमते, न तु स्वतः इति भावः ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।

नच यथा धेन्वाद्युपभुक्तं तृणोदकपल्लवादि स्वयमेव क्षीराद्याकारेण परिणमते, तद्वत्प्रकृतिरपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति वक्तुं शक्यमन्यत्राभावात्, अन्यत्रानडुहाद्युप-

भुक्तेषु तेषु क्षीराकारेण परिणामाभावात्। अतः प्राज्ञाधिष्ठितमेव तृणादि क्षीरीभवति तथा प्रधानमपि ॥ ५ ॥

# सू० अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्

॥ २।२।६ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

कथं चित्प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि प्रधानं कारणं न भवति, तस्याचेतनत्वेन प्रवृत्तिप्रयोजनासम्भवात् ॥ ६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्।

प्रवृत्तेश्चेत्यादिना प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्तिसामर्थ्यं नास्त्यतोन तज्जगत्कारणमित्युक्तमथ हठात्प्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि न प्रधानं कारणं भवितुमर्हति, कुतः? "अर्थाभावात्" सृष्टेः प्राक् स्वानन्दभूतानां पुरुषाणां भुक्तिमुक्तिनिरपेक्षतया स्वपरप्रयोजनानभिज्ञस्य प्रधानस्य जडत्वेन भोगाद्यनर्हतया वा प्रयोजनाभावात्। नचाप्तसमस्तकामस्य पुरुषोत्तमस्यापि जगज्जनने

किं प्रयोजनमिति वाच्यम्, "लोकवत्तु लीला-कैवल्यमि"त्युक्तत्वात् । यद्वा प्रधानं स्वतः प्रवर्त्तते, इत्येवं हठेन प्रयुक्तस्य वाक्यस्य स्वतआकाशो-धावतीतिवदर्थशून्यत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ।

एवं तावत्प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्तिर्नास्ति जडत्वादित्युक्तम्, सा-चेत्तव हर्षायाऽस्माभिरभ्युपगम्येत, तथापि तया न किञ्चित्प्र-योजनं सिध्यति । तथाहि प्रधानप्रवृतेः किं प्रयोजनं भोगो वा ? अपवर्गो वा ? उभयं वे ? ति । आद्ये, प्रधानस्याचेतनत्वात्पुरुष-भोगार्था सेति चेत्प्रवृत्तेः प्राक्चैतन्यमात्रवपुषोनिर्विकारस्य निष्क्रि-यपुरुषस्य प्रकृतिदर्शनरूपभोगासंभवात्, सन्निधिमात्रं भोगहेतु-रितिचेत्सान्निध्येर्नित्यत्वात् सन्ततभोगप्रसङ्गादनिर्मोक्षप्रसङ्गः । द्वितीये, प्रवृत्तेः प्रागप्यपवर्गस्य सिद्धत्वादनर्थका सा । तृतीये, भोक्तव्यानामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गएवेति ॥ ६ ॥

## सू॰ पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥

॥ २।२।७ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यथा पङ्गुरन्धमश्मापः प्रवर्त्तयति तथा पुरुषः प्रधानमिति चेत्तथात्वे निष्क्रियत्वाऽभ्युपगम-

विरोधः। प्रधानस्य परप्रेर्यत्वेन जगत्कारणत्वेऽप्राधान्यप्रसङ्गः ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथाऽपि।

ननु दैववशात्क्वचित्कदाचित्सार्थपरिभ्रष्टः स्वेष्टदेशगमनकामः गमनशक्तिहीनः दकृशक्तिमान् पङ्गुः दृकृशक्तिहीनं गमनशक्तिमन्तमन्धमुपलभ्य, तमधिष्ठाय यथा प्रवर्त्तयति, यथाच अयस्कान्तोऽश्मायः प्रवर्त्तयति, तथा खलु क्रियाशक्तिहीनोऽपि दकृशक्तिमान्पुमान् दृक्शक्तिवर्ज्जं प्रधानं सन्निधिमात्रेण प्रवर्त्तयति, तस्मात्प्रधानस्याचेतनत्वेऽपि सर्गादिप्रवृत्तेरुपपत्तिरिति चेदत्रोत्तरम्। तथाऽपीति। एवं भूताभ्यां दृष्टान्ताभ्यामपि दार्ष्टान्ते प्रवृत्तेरनुपपत्तिरेवेत्यर्थः। तथाहि पुरुषस्य प्रधानप्रवर्त्तकत्वाङ्गीकारे पुरुषोऽकर्त्तेति प्रतिज्ञाहानिः, प्रधानस्य पुरुषप्रवर्त्यत्वे प्रधानं स्वतन्त्रं जगत्कर्तृ हीति प्रतिज्ञाहानिः। पङ्गोर्हि चरणवर्ज्जितत्वाद्गमनशक्तिरनाविर्भूतापि स गमनशक्तिमन्तं वाचा प्रेरयति।

अन्धत्वादनाविर्भूतदृक्शक्तिरपि प्रेर्य्यः पुरुषस्तद्वचनानुसारेण चेतनत्वात्प्रवर्त्तते । अश्मात्तु पुरुषेणायसा संयोज्यमानोऽयः प्रवर्त्तयति । अयोऽपि स्वभावतोनैव प्रवर्त्तते । किञ्च सर्वत्र सर्वप्रेरकः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वदा वर्त्तते इत्युक्तं "पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापी"ति । प्रकृतिपुरुषसन्निधेस्तु नित्यतयाऽपूर्वतत्सान्निध्यभावात्सृष्टिसंहारप्रक्रिया प्रकृतिपुरुषसान्निधिनिबन्धना बन्धमोक्षव्यवस्था च नोपपद्यते । नित्यप्रवृत्तिप्रसङ्गः प्रलयाभावप्रसङ्गश्च स्यात्प्रकृते तु "सर्वोपेता च से"त्युक्तत्वान्न कोऽपि दोषः ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथाऽपि ।

ननु यथा पङ्गुपुरुषोऽन्धपुरुषमधिष्ठाय, प्रवर्त्तयति, अश्मावाऽयस्कान्तोऽयः प्रवर्त्तयति, एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्त्तयिष्यतीति चेत् तत्रोच्यते । तथाऽपीति । तेनापि प्रकारेण नैव दोषान्निर्मोक्षः, त्वया पुरुषस्य निष्क्रियत्वाभ्युपगमेन प्रवर्त्तकत्वासम्भवात्, तदभ्युपगमे च स्वसिद्धान्तविरोधः । पङ्गुर्हि वागादिभिरन्धं प्रवर्त्तयति, अयस्कान्तश्च सामीप्यात् । तव पुरुषस्य तु निष्क्रियनिर्गुणत्वान्न कश्चित्प्रवर्त्तनव्यापारोऽस्ति सन्निधिमात्रेण

प्रवर्त्तकत्वे प्रलयाभावोऽपवर्गाभावश्च सन्निधेर्नित्यत्वादित्युक्तमेव ॥ ७ ॥

# सू० अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ८ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रलये वेलायां साम्येनावस्थितानां गुणानां परस्पराङ्गाङ्गिभावासम्भवाच्च नानुमानं जगत्कारणम् ॥ ८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।

इतोऽपि नानुमानं जगत्कारणम् । कुतः ? अङ्गित्वानुपपत्तेः । तथा हि प्राज्ञानधिष्ठितमनुमानसिद्धं भवदभिमतं गुणत्रयसाम्यभूतं प्रधानं जगदाकारेण किमङ्गाङ्गिभावमाश्रित्य परिणमते ? आहोस्वित्तन्नैरपेक्षेण ? आद्ये, सृष्टेः प्राक्साम्येनावस्थितानामन्योऽन्यनिरपेक्षाणां सत्त्वरजस्तमसामेकतमस्याङ्गित्वानुपपत्तेः प्रधानस्य जगत्कारणत्वं नोपपद्यते । द्वितीये गुणत्रयसाम्यभूतं कूटस्थं प्रधानं जगदाकारेण सुतरां नैव परि-

णंस्यते, अङ्गाङ्गिभावलक्षणवैषम्याभावात् । न च सृष्टिवेलायां साम्यावस्थाप्रच्युतिर्जायते, तया च गुणानामङ्गाङ्गिभावे सति जगदुत्पद्यते इति वाच्यम् ? विकल्पासहत्वात् । तदानीं स्वतः एव साम्यावस्थाप्रच्युतिर्भवद्भिरभ्युपगम्यते ? उत सर्वज्ञकृता ? नाद्यः पक्षः साधुः, निमित्तं विना स्वतः प्रच्युतेरसम्भवात् । यद्यत्सनिमित्तं तत्तत्प्रच्युतिमत्, बीजादिवत् । न यत्सनिमित्तम्, नतत्प्रच्युतिमत्, पुरुषवदिति प्रयोगाच्च । नापि द्वितीयः, अनभ्युपगमात्, परपक्षप्रवेशाच्च ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।

इतश्च प्रधानस्याप्रवृत्तिः प्रलये सत्त्वादीनां साम्येनावस्थितानां स्वरूपनाशभयात्परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेर्बाह्यस्य च कस्य चिद्वैषम्यहेतोरभावात् । "प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशुमहेश्वरः । क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः" इत्युक्तौ चेश्वराभ्युपगमेन वेदान्तवादएवेति नात्र नोविवादः "सदेवे"ति श्रुतेः ॥ ८ ॥

## सू० अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥२।२।९॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

प्रकारान्तरेण प्रधानानुमितौ च प्रधानस्य ज्ञातृत्वशक्तिवियोगान्न तत्कर्तृकं जगत् ॥ ९ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्।

उक्तप्रकारादन्यथाऽङ्गाङ्गिभावपूर्वककार्य्योत्पत्तिर्यथा सम्भवेत्तथा प्रधानानुमितौ च क्रियमाणायां सत्यां ज्ञशक्तिवियोगात् प्रधानस्य ज्ञातृत्वशक्तिहीनत्वात् रचनानुपपत्त्यादयोदोषाः पूर्वोदाहृताः स्युः। तस्मान्नानुमानं जगत् कारणम् ॥ ९ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्।

नन्वन्यथा दूषितप्रकारभिन्नप्रकारान्तरेण गुणानानुमास्यामहे। तथाहि चलं गुणवृत्तमित्यभ्युपगमात्साम्यावस्थिता अपि गुणायथा कार्य्यं वैषम्योपगमयोग्याएवेति चेदेवमपीदमहमेवं करिष्यामीति प्रधानस्य ज्ञातृत्वशक्तिवियोगात्पूर्वोक्तारचनानुपपत्त्यादयोदोषादुष्परिहराएव। वैषम्योपगमयोग्यत्वेऽपि तेषां साम्यावस्थायां वैषम्यहेतोरभावेन वैषम्यासम्भवः। हेत्वभावेऽपि वैषम्यभाजश्चेत्सर्वदा वैषम्यं स्यादिति ॥ ९ ॥

# सू० विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ।

॥ २ । २ । १० ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

असमञ्जसं कापिलं मतं, वेदान्तविरुद्धत्वात्पूर्वापरविरुद्धत्वाच्च ॥ १० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ।

सर्वथा कापिलं मतमसमञ्जसं भवति, कुतः ? विप्रतिषेधात्, वेदान्तविरोधात् । वेदान्ताः सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सर्वेश्वरं जगज्जन्मादिकारणं सर्वप्रमाणनिरपेक्षाः स्वतः प्रमाणभूताः अनादिसिद्धाः प्रतिपादयन्ति, तद्विरुद्धत्वादचेतनकारणवादाभ्युपगमस्येत्यर्थः । "नैषा मतिस्तर्केणापनेये"ति श्रुत्या हेतुवादमात्रस्य प्रतिषेधितत्वाच्च पूर्वापरविरोधाच्च । ते हि सर्वगतं निर्धर्मकं चैतन्यमात्रं कैवल्यस्वरूपं पुष्करपलासवदसङ्गं निष्क्रियं पुरुषमाहुः । तस्मिन्पुनः प्रकृतिपुरुषसन्निधिमात्रतः प्रकृतेः कर्त्तृत्वमध्यस्याज्ञाना-

स्कर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्मकं तापत्रयसन्तप्तं संसारिणमपि तमेवाहुः। पुनः प्रकृतिपुरुषविज्ञानात्पुरुषस्यापवर्गमुपदिशन्ति। एवं पूर्वापरविरोधबाहुल्यं तत्र द्रष्टव्यम्। प्रकृते तु "न मां दुष्कृतिनोमूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञानाआसुरं भावमाश्रिताः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। बहवोज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः"इति स्मृतेः। बन्धनकारणस्य बद्धस्य बन्धविमोचकस्यापूर्वस्य तच्चरणभावापत्तिलक्षणस्यापवर्गस्य च सूपपन्नत्वात्, न पूर्वापरविप्रतिषेधगन्धलेशोऽपि। तस्मात् श्रुतिसमन्वयस्य वेदविरुद्धेन युक्त्याभासविलशितेन कपिलपक्षेण नास्ति विरोधइति सिद्धम्॥ १०॥

इति रचनाऽनुपपत्त्यधिकरणम्॥ १॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्।

पूर्वापरविरोधाच्चासमञ्जसं कापिलमतं, तथा ह्येवं ते वदन्ति, प्रकृतिः परार्था, दृश्या, भोग्या, पुरुषस्तु तस्याद्रष्टा, भोक्ताधिष्ठाता,

साक्षी चेति, सा च तस्य भोगापवर्गार्थतया प्रयोजनवती, तयैव साधनभूतया स भोगमपवर्गं च लभते, इति च सत्त्व नित्यनिर्विकारचैतन्यमात्रस्वरूपेण द्रष्टा, न भोक्ता, न कर्त्तेत्यत एव न स बध्यते, न मोक्षार्थं यतते, न मुच्यते इति च । पुरुषसन्निधानमात्रेण पुरुषस्य चैतन्यं स्वस्यां स्वस्याश्च कर्तृत्वं पुरुषे चानुसन्धायाचेतना प्रकृतिरेव बध्यते, मोक्षार्थं यतते, मुच्यते चेति, पुरुषस्यानुपकारिणोभोगापवर्गरूपप्रयोजनं साधयन्ती, प्रकृतिरुपकारिणीति च वदन्ति, अध्यासरूपबन्धादयः पुरुषस्यापि सन्त्यन्यथा कस्तस्योपकारइत्येवमाद्यनेके विप्रतिषेधास्तत्स्मृतौ द्रष्टव्याः ॥ १० ॥

इति रचनाऽनुपपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

# सू० महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ २ । २ । ११ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सावयवत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गान्निरवयवत्वे परिणामान्तरोत्पादकत्वासम्भवात् परिमाणुभ्यां द्व्यणुकोत्पत्तेरसामञ्जस्यं, तेभ्यस्त्र्यणुकोत्पत्तेश्च सुतरामसामञ्जस्यं तद्वत्परमाणुकारणवाद्यभ्युपगतं सर्वमसमञ्जसं भवति ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

ननु प्राज्ञाऽनधिष्ठितं प्रधानं माऽस्तु जगत्कारणं, परमेश्वरेच्छावशवर्त्तिपरमाणुपूगोऽस्तु जगतः कारणमित्याशङ्क्येदानीं परमाणुकारणवादस्याप्यासामञ्जस्यमाह —

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरमण्डलाभ्याम्।

एषा हि परमाणुकारणवादिनां प्रक्रिया, द्रव्यं द्रव्यान्तरं गुणश्च गुणान्तरमारभते, कार्य्यनिष्पत्तिश्च समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्येभ्यः कारणेभ्यः खलु भवति, यथा तन्तुभिः समवायिकारणैस्तेषामितरेतरसंयोगेनासमवायि*कारणेन च तुरीवेमकुविन्दादिभिश्च निमित्तकारणैः पटनामकं कार्य्यमारभ्यते, तथा खलु पार्थिवाप्यतैजसवायवीयभेदाच्चतुर्विधाः परमाणवस्ते च नित्यानिरवयवारूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाः प्रलयेऽनारब्धकार्य्याअवतिष्ठन्ते। सृष्टिसमये कार्यनिष्पत्तौ परमाणवः समवायिकारणं, तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्, अदृष्टमीश्वरेच्छा च

---

* असमवायिना च तुरी- इत्यपि पाठः।

[ ६४ ]

निमित्तकारणं भवति, तत्रेश्वरेच्छावशेनाद्यं कर्म वायवीयेषु परमाणुषूत्पद्यते, ततः संयोगस्तेन द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकं कार्य्यमुत्पद्यते, त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमारभ्यते, चतुर्भिस्त्र्यणुकैश्चतुरणुकमित्येवं क्रमेण महान्वायुरुत्पद्यते, खेदोधूयमानस्तिष्ठति । तथैव तैजसेभ्यः परमाणुभ्योऽग्निरुत्पद्यते, भौमादिरूपेण जाज्वल्यमानस्तिष्ठति । एवमेवाप्येभ्यः परमाणुभ्योमहान् जलार्णवउत्पद्यते, पोप्लुयमानस्तिष्ठति । तथैव खलु पार्थिवेभ्यः परमाणुभ्योमहती पृथिव्युत्पद्यते, सा हि मृत्पाषाणादिरूपा निश्चला तिष्ठति । कारणगुणैश्च कार्य्यगुणाआरभ्यन्ते । यथा तन्तुगतगुणेन पटगतगुणः अरुणेभ्यस्तन्तुभ्योऽरुणपटदर्शनात् । तथा परमाणुगतशुक्लादिगुणेभ्यो द्व्यणुकगतशुक्लादिगुणआरभ्यते परमाण्वोर्द्व्यणुकारम्भकयोर्द्वित्वसङ्ख्या च द्व्यणुकेऽणुत्वं ह्रस्वत्वं च परिमाणान्तरमारभते, परमाणुपरिमाणरूपपारिमाण्डल्यं तु न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यान्तरमारभते, ततोऽप्यातिसौक्ष्म्यापत्तेः । एवं संहारावसरेऽपि परमेश्वरेच्छावशात्परमाणु-

षु कर्म, तेन संयोगनाशस्तेन द्व्यणुकनाशः इत्येवं क्रमेण पृथिव्यादिनाशइति । सा निराक्रियते । सूत्रे वाशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । असमञ्जसमिति पूर्वतोवर्त्तते । ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यामिति पदं यथा सम्भवं विभज्य योजनीयम् । एवं सति परिमण्डलद्वयाद्ध्रस्वद्व्यणुकोत्पत्तिवादवत् ह्रस्वेभ्योमहद्दीर्घत्र्यणुकोत्पत्तिवादवच्चान्यदपि तदुक्तं सर्वमसमञ्जसमिति सूत्राक्षरयोजना । अयमर्थः । परमाणुभ्यां द्व्यणुकोत्पत्त्यसम्भवस्तदसम्भवे सुतरां द्व्यणुकेभ्यस्त्र्यणुकोत्पत्त्यसम्भवः । एवमेव परमाणुकारणवादिभिर्यदुक्तं तदन्यदपि सर्वमसमञ्जसमेव । तथाहि इह तन्त्वाद्यवयवानां स्वांशैः षड्भिः* पार्श्वैः संयुज्यमानानामेव पटाद्यवयव्युत्पादकत्वं दृश्यते दिक् षट्कयोगात्परमाणोः षडंशसिद्धिस्तथोक्तम् "षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता"ति । तस्मात्परमाणवोऽपि सावयवाएव कार्यजनकाः स्युस्तेषां तथात्वे सति

---

* तन्त्वादेरवयवानां त्र्यणुकानां षड्भिः पार्श्वैः परमाणुभिः ।

कार्य्यत्वापत्तिः द्व्यणुकवदवयवित्वात् परमाण्व-वयवा अपि स्वांशैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमानाः परमाणोः सावयवत्वसमर्थकाः सावयवाभवेयुरेवं तदवयवा अपीत्येवमनवस्था स्यात् । परमाणूनां निरवयवत्वाङ्गीकारे निष्प्रदेशस्य परमाणुशत-स्यापि संयोगे पारिमाण्डल्यानतिरिक्तपरिमाणतया-ऽणुत्वह्रस्वत्वाद्यसिद्धिर्भवेदेवं द्व्यणुकोत्पत्त्यसम्भव-स्तदभावे त्र्यणुकाद्युत्पत्त्यसम्भवाज्जगदुत्पत्त्य-सम्भवोभवेत् ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ परमाणुकारणवादं निराकरोति । तथा चायं तेषां सिद्धान्तः पार्थिवाप्यतैजसवायवीयभेदात् चतुर्विधाः परमाणवस्ते च नित्यानिरवयवारूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाः प्रलये-ऽनारब्धकार्याअवतिष्ठन्ते । सर्वत्र त्रिभ्यः कारणेभ्यः समवाय्य-समवायिनिमित्ताख्येभ्यः कार्यनिष्पत्तिः यथा पटरूपकार्यस्य तन्तवः समवायिकारणं तेषामितरेतरसंयोगोऽसमवायिकारणं, तुरीवेमकु-विन्दादिनिमित्तकारणं, तत्रेश्वरेच्छावशेनाद्यं कर्म वायवीयेषु परमाणुषूत्पद्यते, ततः संयोगस्तेन द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकं ह्रस्वमुत्पद्यते, त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकं महदुत्पद्यते, चतुर्भिस्त्र्यणु-कैश्चतुरणुकमित्येवं क्रमेण महान्वायुरुत्पद्यते, एवं तैजसपर-माणुभ्योमहानग्निः, आप्येभ्योमहान् जलाभिः, पार्थिवेभ्योमहती

पृथिव्युत्पद्यते । कारणगुणेभ्यश्च कार्ये गुणान्तरमुत्पद्यते । यथा परमाणुगतशुक्लादिभ्योद्व्यणुकशुक्लादिः तद्गतद्वित्वसङ्ख्यातश्च द्व्यणुके ह्रस्वत्वाणुत्वे परिमाणे चोत्पद्येते, परमाणुपरिमाण-रूपपारिमाण्डल्यं तु न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यान्तरमारभते, ततोऽप्यतिसौक्ष्म्यापत्तेः द्व्यणुकगतत्रित्वसङ्ख्यातस्त्र्यणुके महत्त्व-दीर्घत्वपरिमाणे चोत्पद्येते, द्व्यणुकगतह्रस्वत्वाणुत्वे तु महत्त्वा-देर्नारम्भके प्रथमानुपपत्तेः, संहारे चेश्वरेच्छया परमाणुषु कर्म, तेन संयोगनाशस्तेन द्व्यणुकनाशइत्येवं क्रमेण पृथिव्यादि-नाशइति तस्याप्यसामञ्जस्यं प्रतिपाद्यते ——

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।

पूर्वतोऽसमञ्जसमिति वर्त्तते । वेति चार्थे । अनुक्तं ह्रस्वद्व्य-णुकवदिति समुच्चिनोति । ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणु-भ्यां महद्दीर्घवत् त्र्यणुकोत्पत्तिवादवत् अणुह्रस्वद्व्यणुकोत्पत्ति-वादवच्चान्यदपि काणादमतं सर्वमसमञ्जसमिति । तथाहि तन्त्वाद्यवयवानां स्वांशैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमानानामेव पटाद्यवयव्युत्पादकत्वदर्शनात्परमाणवोऽपि सावयवा एव द्व्यणुकाद्युत्पादकाःस्युः । अन्यथा परमाणुसहस्रस्यापि संयोगे-पारिमाण्डल्यानतिरिक्तपरिमाणतयाऽणुत्वह्रस्वत्वमहत्त्वाद्यसिद्धि-र्भवेत्, कारणबहुत्वेन कार्यमहत्त्वोत्पत्तेश्च कल्पनामात्रत्वात् । तेषां सावयवत्वाङ्गीकारे चानवस्था ॥ ११ ॥

## सू० उभयथाऽपि न कर्मातस्त-दभावः ॥ २ । २ । १२ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अदृष्टस्य परमाणुवृत्तित्वाऽसम्भवादात्मसम्बन्धिनस्तस्य परमाणुगतकर्मप्रेरकत्वासम्भवाच्चेत्येवमुभयथाऽप्याद्यं कर्म परमाणुगतं न सम्भवत्यतः कर्मनिबन्धनसंयोगपूर्वकद्व्यणुकादिक्रमेण जगदुद्भवस्याभावः ॥ १२ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

महद्दीर्घवदन्यदपि तदुक्तं सर्वमसमञ्जसमिति यदुक्तं तद्विवृणोति —

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ।

उभयथाऽपि परमाणुषु सृष्टिवेलायां कर्म न सम्भवत्यतोहेतोः कर्मासम्भवात्तदभावः परमाणुसंयोगपूर्वकद्व्यणुकाद्युद्भवक्रमेण जगज्जन्माद्यभावइत्यर्थः। उभयथेति। आद्यं कर्म स्वत उत्पद्यते ? उत परमाणुप्रभावात् ? नाद्यः पक्षः, असम्भवात् । नह्यपि स्वतआविर्भूय कर्म जलमानेतुं घटेन प्रवर्त्तते, न च वाच्यं किञ्चिन्निमित्तमाश्रित्योत्पद्यते इति, तदा जीवप्रयत्न-

प्रकम्पाभिघाताद्यभावात्। न द्वितीयः, अचेतनत्वेन कर्मप्रवर्त्तकत्वानुपपत्त्या परमाणूनां चेतनत्वापत्तेः। न खलु प्रासादादिनिर्माणे पाषाणादयोऽन्योऽन्यकर्मभिरेकीभूय प्रवर्त्तन्ते। यद्वाऽदृष्टहेतुकं परमाणुषु तदा हि कर्म जायते, तत्रोभयथा कर्मनिषेधः। तथाहि परमाणुनिष्ठकर्मबोधकमदृष्टं परमाणुवृत्ति ? किम्वा जीववृत्ति ? नाद्यः पक्षः, जीवपुण्याऽपुण्याऽनुष्ठानजनितत्वेनादृष्टस्याचेतनवृत्तित्वासम्भवात्। अदृष्टस्याप्यचेतनतया कर्मबोधकत्वासम्भवाच्च, परमाणुषु पुण्यापुण्यानुष्ठानासम्भवात् अगत्या स्वभावसिद्धमदृष्टमङ्गीकार्यं स्यात्। तदा सर्वदा कर्मोद्भवप्रसङ्गाच्च। न द्वितीयः, जीववृत्तेरदृष्टस्य सुतरां जडगतकर्मचोदनाऽसम्भवात्, एवमुभयथाऽपि न कर्म। यद्वा जीवप्रयुक्तमीश्वरप्रयुक्तं वा कर्म न सम्भवति, तथा हि किं जीवः आद्यं कर्म स्वगतादृष्टतः सन्निधितश्चैतन्यगुणतोवा जनयति ? नाद्यः, पूर्वोक्तदूषणात्। न सन्निधितश्च, जीवपरमाणुसन्निधेर्नित्यतया नित्योत्पादकत्वप्रसङ्गात्। नैव चैतन्यतः, तदा चैतन्याभावात्।

नचेश्वरप्रयुक्तं कर्म प्रवर्त्तते, किं भवन्मते ईश्वरोवेदप्रोक्तः? उतानुमानादिसिद्धः?। वेदप्रोक्तइति चेत्तर्हि "एतदात्म्यमिदं सर्वं, सच्च त्यच्चाभवदि"त्यादिश्रुतिप्रक्रियायां कृतविश्वासस्तच्चरणानुरागरसमत्तः सन् विज्वरोभव । किं तव परमाणुकारणवादेन अनुमानादिसिद्धश्चेदीश्वरस्तर्हि तस्य स्वरूपसिद्धिरेव नास्तीति पूर्वत्रोपपादितम् ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

किमत्रान्यदसमञ्जसं तत्राह —

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ।

आद्यकर्मोत्पत्तिरनुपपन्ना प्रलये यत्नाभिघातादीनां कर्महेतूनामभावात् । शरीरप्रविष्टे हि मनस्यात्ममनः संयोगे सत्यात्मगुणस्य प्रयत्नस्य जायमानत्वात्तदा च शरीराभावात्स न संभवति, ईश्वरेच्छायाश्च नित्यत्वेन नित्यं तत्प्रसङ्गः स्यात्, न चादृष्टस्यात्र हेतुत्वं कल्प्यते इति वाच्यं, विकल्पासहत्वात् । तथाहि परमाणुगतमाद्यं कर्म स्वगतादृष्टप्रयुक्तमात्मगतादृष्टप्रयुक्तं वा ? नाद्यः, अदृष्टस्यात्मासाधारणधर्मविशेषस्य परमाणुवृत्तित्वासम्भवात्, अनभ्युपगमाच्च । अभ्युपगमे च सदोत्पादकत्वप्रसङ्गादपसिद्धान्तापत्तेश्च, अदृष्टस्याचेतनत्वेन प्रवर्त्तकत्वासम्भवाच्च । न द्वितीयः । तस्यात्मगतत्वेऽपि तदात्मनां

चैतन्याभावेन कार्य्योत्पादनयोग्यताऽसम्भवात् । अन्यथा प्रलयाभावप्रसङ्गोदुर्वारः, तदेवं नियतस्य कस्य चित्कर्महेतोरभावान्न कर्मोत्पत्तिस्तदभावाच्च न संयोगः, नापि विभागस्तथात्वे च सर्गप्रलयोरभावएव स्यात् ॥ १२ ॥

## सू० समवायाभ्युगमाच्च साम्यादनवस्थितेः । २ । २ । १३ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

समवायाभ्युपगमाच्च परमाणुकारणपक्षासम्भवः, यथा द्व्यणुकं समवायसम्बन्धेन स्वकारणे समवैत्यत्यन्ताभिन्नत्वात्तथा समवायोऽपि समवायिभ्यां समवायसम्बन्धान्तरेण सम्बध्येतात्यन्तभेदसाम्यात्सोऽपि सम्बन्धान्तरेणेत्यनवस्थानात् ॥ १३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ।

तदभावइत्यनुवर्त्तते । इतोऽपि तस्याः परमाणुसंयोगपूर्वकद्व्यणुकाद्युत्पत्तिक्रमेण जग-

ज्जन्मादिप्रक्रियायाअभावः । कस्मात् ? समवायाभ्युपगमात् । युतसिद्धानां संयोगः सम्बन्धः, यथा रज्जूघटयोः, अयुतसिद्धानां तु समवायः सम्बन्धः, यथेह तन्तुषु पटः, कपालयोर्घटः, गवि गोत्वं, पटे शुक्लादिरूपं, समवायसम्बन्धेन तिष्ठति कार्यकारणादिलक्षणानां पदार्थानां सम्बन्धः समवायएव, सचैकोनित्यः सर्वगतोऽव्योमवदिष्यते, इदृक् समवायाभ्युपगमादित्यर्थः । ननु समवायाभ्युपगमे कोदोषोऽस्ति ? इत्यत्राह "साम्यादनवस्थितेरि"ति यथा द्व्यणुकं समवायिकारणादत्यन्तं भिन्नं तत्समवायमवश्यमपेक्षते, तथा समवायोऽपि समवायिभ्यामत्यन्तं भिन्नः सन्नितरेण समवायलक्षणेन सम्बन्धेन समवायिभ्यामवश्यं सम्बध्येतात्यन्तभिन्नत्वसाम्यात् । असम्बद्धस्य सम्बन्धत्वादर्शनाच्च । सोऽपि समवायान्तरेण सोऽप्यन्येनेत्यनवस्थितेरपसिद्धान्तापत्तिदोषः स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अथायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिह प्रत्ययहेतुः समवायः, यथेह तन्तुषु पटः, गवि गोत्वं, पटे शुक्लादिरूपमिति कार्यकारणा-

योः सामान्यविशेषयोर्गुणगुणिनोश्च सम्बन्धः समवायएव, स चैकोनित्यः सर्वगतोव्योमवदिष्यते युतसिद्धानां तु संयोगः सम्बन्धः, यथा पृथक्सिद्धयोरज्जूघटयोरित्यपि तत्सिद्धान्तस्तत्र समवायसम्बन्धं निराकरोति —

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः।

तदभावइत्यनुवर्त्तते। कार्यकारणयोः समवायाभ्युपगमाच्च प्रकृतकणभुक्प्रक्रियाऽसम्भवः। कुतः? साम्यात्, समवायस्यापि सम्बन्धित्वसाम्यात्। तथाहि यथा द्व्यणुकं समवायसम्बन्धेन स्वकारणे समवैत्यत्यन्तभिन्नत्वात्, तथा समवायोऽपि समवायिभ्यां समवायसम्बन्धान्तरेण सम्बध्येत, अत्यन्तभेदसाम्यात्। सोऽपि सम्बन्धान्तरेणेत्यनवस्थानात्। अतोन समवायाभ्युपगमः प्रामाणिकः। नच समवायस्य स्वयं सम्बन्धरूपत्वान्न सम्बन्धान्तरापेक्षेति वाच्यं, संयोगस्यापि सम्बन्धरूपत्वसाम्येन समवायाऽनपेक्षत्वापत्तेः। तथात्वे च संयोगस्य संयोगिभ्यां सम्बन्धः समवायपूर्वकइति प्रतिज्ञाभङ्गापत्तेः। न च संयोगोगुणत्वात्समवायमपेक्षतइति वाच्यं, पारिभाषिकमात्रत्वात्, समवायस्यापि गुणत्वं वक्तुं शक्यते, न च कार्यकारणयोरयुतसिद्धत्वं कारणस्य पूर्वसिद्धत्वात्कार्यस्योत्तरकालीनत्वात्, तथात्वेऽपृथक्सिद्धत्वासम्भवात्। न चान्यतरापेक्षयमयुतसिद्धत्वमिति वाच्यं, तथापि द्वयोः सतोः सम्बन्धइति कृत्वोत्पन्नं कार्यं क्षणमात्रं पृथगवस्थाय समवायेन सम्बध्यतइति दूषणस्य तादवस्थ्यात्। अथोत्पत्तिरेव समवायइत्यप्ययुक्तं, तथात्वे समवायस्य नित्यत्वासम्भवात्, उत्पत्तिनित्यत्वयोरत्यन्तविरोधात्, उत्पत्तेर्नित्यत्वाङ्गीकारे कार्यत्वावच्छिन्नस्य नित्यत्वापत्तेः, कारक-

व्यापारानर्थक्याच्च । तस्मात्तादात्म्यलक्षण एव सम्बन्धोन सम-वायकृत इति ॥ १३ ॥

## सू० नित्यमेव च भावात् ॥

२ । २ । १४ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे प्रवृत्ते भावान्नित्यसृष्टिप्रसङ्गादन्यथा नित्यप्रलयप्रसङ्गात्तदभावः ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

नित्यमेव च भावात् ।

इतोऽपि परमाणुकारणवादिप्रक्रियायाअभाव एव । कुतः ? परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वेऽङ्गीकृते प्रवृत्तेर्नित्यमेव भावप्रसङ्गात् प्रलयोन स्यादित्यर्थः । तेषां निवृत्तिस्वभावत्वे निवृत्तेर्नित्यमेव भावात्सृष्ट्यभावप्रसङ्गः स्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नित्यमेव च भावात् ।

परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे प्रवृत्तेर्भावान्नित्यसृष्टिप्रसङ्ग-

इत्यक्षरार्थः । अयमभिप्रायः, परमाणवः प्रवृत्तिस्वभावाः ? निवृत्तिस्वभावाः ? उभयशीलाः ? अनुभयशीलावा ? । आद्ये, सृष्टेर्नित्यत्वं प्रलयाभावश्च । द्वितीये, सर्गाभावोनित्यप्रलयप्रसक्तिश्च । न तृतीयचतुर्थौ, उभयस्वभावत्वस्येतरेतरविरोधात्सर्वथाऽनुपपत्तिरिति ॥ १४ ॥

## सू० रूपादिमत्त्वाच्च विपर्य्ययोदर्शनात् ॥ २ । २ । १५ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परमाणूनां कार्य्यानुसारेण रूपादिमत्त्वाच्च नित्यत्वविपर्य्ययोऽनित्यत्वं स्यात्, रूपादिमतां घटादीनामनित्यत्वं दर्शनादन्यथा कार्य्यं रूपादिहीनं स्यात् ॥ १५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्य्ययोदर्शनात् ।

कार्य्यस्य रूपादिमत्त्वात् परमाणवोऽपि रूपादिमन्तोऽभ्युपगम्यन्ते, तथा चतुर्विधानां परमाणूनां रूपादिमत्त्वात् रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वान्नित्यत्वादिविपर्य्ययोऽनित्यत्वादिः प्रसज्येत,

रूपादिमतां घटादीनामनित्यत्वादिदर्शनात् । तेषां रूपादिमत्त्वानङ्गीकारे कार्य्यस्य रूपादिमत्त्वं विरुद्धमापद्येत, "रूपादिमन्तोनित्याश्चे" ति प्रतिज्ञाहानिश्च प्रसज्येत । अतोऽपि तदभावएवेति चकारार्थः । नहि दृष्टानुसारेणादृष्टोऽर्थोनिर्णेतुं शक्यः । अतोयथाश्रुतिजगत्कारणं प्रतिपत्तव्यमिति भावः ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययोदर्शनात् ।

परमाणवोरूपादिगुणवन्तोन वा ? आद्ये, रूपादिमत्त्वाच्च परमाणूनां नित्यत्वविपर्ययोऽनित्यत्वं स्यात्, रूपादिमतां घटादीनामनित्यत्वदर्शनात् । परमाणवोऽनित्यारूपादिमद्द्रव्यत्वात्,घटादिवदिति प्रयोगात् । द्वितीये, सिद्धान्तभङ्गात्, कार्यस्यापि रूपादिशून्यत्वापत्तेश्च । अथ रूपादिर्नेष्येत कार्यं रूपादिमन्न स्यादतोरूपादिमन्तोनित्याश्चेति तव वचनात् ॥ १५ ॥

## सू॰ उभयथा च दोषात् ॥

॥ २ । २ । १६ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यद्युपचितगुणाः परमाणवस्तदा पृथिव्य-

प्तेजोवायूनां तुल्यतापत्तिरपचितगुणाइत्यत्रापि सर्वेषां परमाणूनां प्रत्येकमेकैकगुणयोगेन पृथिव्यादीनामपि कारणगुणानुगुण्येन प्रत्येकमेकैकगुणयोगः स्यादित्युभयथाऽपि दोषात्तदभावएव ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

उभयथा च दोषात्।

इतोऽपि परमाणुकारणवाद्यभिमतप्रक्रियाया अभावएव। कुतः? परमाणूनामुपचितगुणवत्त्वाङ्गीकारेऽपचितगुणवत्त्वाङ्गीकारे चेत्युभयप्रकारेऽपि दोषात्। तथाहि तेषामुपचितगुणवत्त्वाङ्गीकारे सर्वेषां तुल्यत्वापत्तेः, कार्य्यगुणानां कारणगुणपूर्वकत्वात्सर्वे रूपरसादयोहि कारणगुणाः सर्वेषु कार्य्येषु प्रसज्येरन्। अप्स्वपि गन्धप्रसङ्गः, तेजसि गन्धरसयोः प्रसङ्गः, वायौ रूपरसगन्धानाञ्च प्रसङ्गः, परमाणूनां स्थूलत्वप्रसङ्गश्च स्यात्। उपचितगुणायाः भूमेः स्थूलत्वदर्शनात्, अपचितगुणवत्त्वे च सर्वेषामेकैकोगुणः स्यात्। एवं सति तेजसि स्पर्शोन स्यादप्सु रूपस्पर्शौ न

स्यातां, पृथिव्यां रूपस्पर्शरसा न स्युः । तत्तत्परमाणुषु तत्तद्गुणाभावात् । इतरथा सर्वत्र सर्वप्रसङ्गापत्तेः । ननु रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी दृश्यते, रूपरसस्पर्शगुणयुता आपश्च दृश्यन्ते, रूपस्पर्शवत्तेजश्च, स्पर्शवान्वायुश्च, दृश्यते । तदानुगुण्येन केचिदुपचितगुणाः केचिदपचितगुणाः परिकल्प्यन्ते ऽतोनोक्तदोषइति चेन्न, तथाप्युपचितगुणानां परमाणूत्वव्याघातात् । प्रकृते श्रुतिमूले सिद्धान्ते तु न कोऽपि दोषः, जगतः सर्वज्ञसार्वशक्तिसर्वेश्वरोपादानकत्वात् ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उभयथा च दोषात् ।

परमाणूनामुपचितगुणवत्त्वाङ्गीकारे सर्वेषां तुल्यत्वापत्तेः अप्स्वपि गन्धउपलभ्येत, तेजसि गन्धरसौ, वायौ रूपरसगन्धाश्च, तेषां स्थौल्यहेतुत्वात्, परमाणूनामपि स्थूलत्वापत्त्याऽपरमाणुत्वप्रसङ्गात् । अपचितगुणवत्त्वे च सर्वेषामेकैकोगुणः स्यात्तथात्वे च तेजसि स्पर्शोनस्यादप्सु रूपस्पर्शौ, पृथिव्यां रूपस्पर्शरसा न स्युः, कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्य्यगुणानामित्युभयथापि दोषादिति सूत्रार्थः । ननु केचिदुपचितगुणाः केचिदपचितगुणा इति विचित्रत्वाङ्गीकारइति चेन्न, तथाऽप्युपचितगुणानां परमाणुत्वहानि-

प्रसङ्गात्, ह्रस्वाह्रस्वादिमूर्त्तामूर्ताद्यवान्तरविचित्रतायागुणोपचय-निबन्धनत्वात्, चतुर्विधपरमाणूनां स्वतोभेदात् । सिद्धान्ते तु महाभूतवृत्तिगुणानां नियमश्रुतिसिद्धत्वेन दोषाभावादिति भावः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिव्यागुणास्तेषु गन्धहीनाश्च-त्वारोऽपांगुणास्तेषु रसहीनास्त्रयोगुणाअग्नेः, शब्दस्पर्शाविति वायोः "शब्दएकआकाशस्ये"ति लौकिकोपानिषच्छ्रुतेः "आकाश-वायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा । शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मन्संयुक्ता-न्युत्तरोत्तरैरि"ति विष्णुपुराणोक्तेश्च, सर्वज्ञसर्वशक्तिब्रह्माधिष्ठित-त्वाच्च महाभूतादिप्रपञ्चस्येत्यलं प्रासङ्गिकेन ॥ १६ ॥

## सू० अपरिग्रहाच्चात्यन्त-मनपेक्षा ॥२।२।१७॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परमाणुकारणवादस्य शिष्टैः परित्यक्तत्वाद-त्यन्तमुपेक्षा मुमुक्षुभिः कार्या ॥ १७ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ।

प्रधानकारणवादस्य श्रुतिविरुद्धत्वेन युक्ति-विरुद्धत्वेन च परित्यक्तस्यापि कश्चित्सत्कार्य-वादाद्यंशोहि वैदिकैर्गृहीतः । अस्य तु वैशेषिकपरि-

कल्पितपरमाणुकारणवादस्य केनाऽप्यंशेनापरिग्रहात् शिष्टैः परित्यक्तत्वात्, युक्तिविरुद्धत्वाद्वेदबाह्यत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षा श्रेयस्कामैरनादरणीयः परमाणुकारणवादइत्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मकारणवादस्य दूरतोहेयेन परमाणुकारणवादेन न कोऽपि विरोधइति सिद्धम् ॥ १७ ॥ इति महद्दीर्घाधिकरणम् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ।

प्रधानकारणवादस्य कश्चित्सत्कार्यवादाद्यंशोमन्वादिभिरौपनिषदैर्गृहीतः, असत्कार्यवादस्य, वैशेषिकादिपरिकल्पितपरमाणुकारणवादस्य च केनाऽप्यंशेनापरिग्रहादत्यन्तमनपेक्षाऽतिशयेनानादरणीयोऽयं पक्षः श्रेयोऽर्थिभिरिति सूत्रकृतोऽभिप्रायः ॥ १७ ॥

इति महद्दीर्घाधिकरणम् ॥ २ ॥

## सू० समुदाये उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ २ । २ । १८ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सुगतमतं निराकरोति, भूतभौतिकाचित्तचैत्तिके समुदायेऽभ्युपगम्यमानेऽपि समुदायि--

नामचेतनत्वादन्यस्य संहतिहेतोरनभ्युपगमाच्च समुदायासम्भवः ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

कपिलोहि सत्कार्यवाद्यब्रह्मात्मकं प्रधानं जगत्कारणं मन्यते। स च ब्रह्मकारणवादाद्वैदिकात्प्रातिकूलवादित्वेन निराकृतः । ततोऽपि निकृष्टबुद्धिः कणादोऽसत्कार्यवादी जगत्कारणं च बहुविधं मन्यतेऽतोमहाद्विरुद्धवादित्वेन निराकृतः। इदानीं ततोऽप्यतिनिकृष्टस्तत्साहश्या द्बौद्धपक्षोनिराक्रियते —

समुदाये उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।

बुद्धोपदिष्टआगमे बुद्धिभेदाच्चतुर्भिस्तदनुगैश्चत्वारः पक्षाः कृताः, ते च बुद्धानुयायिनो—वैभाषिक१ सौत्रान्तिक२ योगाचार३ माध्यमिक४ संज्ञकाः, तत्र बाह्यार्थास्तित्ववादिनाऽवाद्यौ, तत्रापि ब्रह्मार्थप्रत्यक्षवादी . पूर्वः× तन्मते घटादयोबाह्यार्थाः प्रत्यक्षप्रमाणगम्याः। विज्ञानानुमेयबाह्यार्थवाद्यपरः, तन्मते घटाद्या-

* वैभाषिकसौत्रान्तिकौ । × वैभाषिकः ।

कारेणोत्पन्नेन विज्ञानेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षाघटादयो-बाह्यार्था अनुमीयन्ते। निरालम्बनविज्ञानास्तित्व-वादी त्रि*तीयः। सबाह्यार्थाः स्वप्नार्थकल्पाइति वदति। एते हि स्वाभिमतं वस्तु क्षणिकमाहुः। सर्वं शून्यमिति चतु‡र्थस्य मतम्। साहि संस्कार-मालम्ब्य ग्राह्यग्राहकाकारविमुक्तासंवित्सन्तति-र्निर्वातस्थप्रदीपवत्क्षणपरम्परयाऽवतिष्ठते, नष्टे तु संस्कारे सा प्रदीपवदेव निर्बाणमृच्छति। सेयमाभवप्राप्तिरपवर्गइति मन्यते। अन्येतु सन्तत्यविच्छेदमिच्छन्ति। तत्र योगाचारस्य माध्यमिकस्य च मतमग्रे निरसिष्यते, अस्मि-न्नधिकरणे तु बाह्यार्थास्तित्ववादिनोर्वैभाषिक-सौत्रान्तिकयोर्मतमेकीकृत्य निरस्यते, एवं तावा-हतुः, रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कारा-ख्याः पञ्च-स्कन्धाः। तत्र रूपस्कन्धोनाम पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, भौतिकं च शरीरेन्द्रियाविषय-रूपम्। तत्र रूपरसगन्धस्पर्शाः खरस्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः पृथिवीरूपेण संहन्यन्ते,

---

* योगाचारः। ‡ माध्यमिकस्य।

रूपरसस्पर्शाः स्नेहस्वभावाआप्याः परमाणवः सलिलात्मना संहन्यन्ते, रूपस्पर्शाउष्णस्वभावा-स्तैजसास्तेजोरूपेण संहन्यन्ते, तथा स्पर्शा-ईरणस्वभावावायवीयावायुरूपेण संहन्यन्ते । पृथिव्यादिचतुष्टयं च शरीरेन्द्रियविषयरूपेण संहन्यते, इत्येवमेते चतुर्विधाः क्षणिकाः परमाणवोभूतभौतिकसङ्घातहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते। सोऽयं परमाणुहेतुकोभूतभौतिकलक्षणोरूप--स्कन्धोबाह्यसमुदायः, विज्ञानस्कन्धोनामाभ्य-न्तरोऽहम्प्रत्ययसमारूढोघटज्ञानं पटज्ञानमित्येव-मविच्छेदेन वर्तमानोविज्ञानप्रवाहः। अयमेव-कर्त्ता भोक्ता चात्मा च अस्मादेव सर्वोहि लौकिकोव्यवहारः प्रवर्त्तते । वेदनास्कन्ध-श्च सुखवेदना दुःखवेदना चेति । संज्ञा-स्कन्धोनाम उपलक्षणप्रत्ययोयथा स्वस्तिमती गोरिति स्वस्तिमत्तया गौरुपलक्ष्यते, संस्कारस्क-न्धोनाम रागद्वेषमोहमदमात्सर्य्यभयशोकविषादा-दयश्चैतासिकाधर्माः, ते चामी चतुर्विधाः *

---

* विज्ञान१ वेदना२ संज्ञा३ संस्काराख्याः४ ।

स्कन्धाश्चित्तचैत्तिकाउच्यन्ते । तत्र विज्ञानस्कन्धश्चित्तमात्मेति चोच्यते । अन्ये चैत्याइति सर्वव्यवहारास्पदंभावेनान्तः संहन्यन्ते । सोऽयं विज्ञानादिचतुःस्कन्धीहेतुक आभ्यन्तरः समुदायः, समुदायद्वयादन्यदात्माकाशादिस्वरूपतएव नास्ति, तावेतौ लोकयात्रामावहतः सिद्धे च लोकव्यवहारे नित्येनात्मना नास्ति प्रयोजनमिति मन्येते×। तत्रेदमभिधीयते, उक्तप्रकारेणोभयहेतुकेऽपि समुदाये समूहेऽभ्युपगम्यमाने तदप्राप्तिः, तस्योभयहेतुकस्याप्यप्राप्तिरसम्भवएव । अचेतनानां समुदायिनामन्योऽन्यनिरपेक्षत्वेन स्वतः समुदायासम्भवात् । क्षणिकत्वाच्चातोभूतभौतिकः समुदायश्चित्तचैत्तिकसमुदायश्च नोपपद्यतेइत्यर्थः । नित्यस्य भोक्तुश्चेतनस्य प्रशासितुः संहन्तुः सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्यानभ्युपगमाच्च । परमाणूनामतीन्द्रियत्वेन लोकस्याप्यतीन्द्रियत्वप्रसङ्गाच्च लुप्येत लोकयात्रा । अनादिवेदबोधितब्रह्मत्यागादद्दष्टाश्रुतपरमाण्वादिसमुदायाङ्गीकारात्तत्सं-

× वैभाषिकसौत्रान्तिकौ ।

हतिहेत्वसम्भवाच्च दुष्टमिदं मतमिति भावः ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

बौद्धसिद्धान्तस्याप्यसत्कार्यवादिवैशेषिकसिद्धान्तसादृश्यात्तद-नन्तरं तन्निरासायाह —

समुदायउभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।

बौद्धसिद्धान्तग्राहिणोहि चत्वारस्तत्र बाह्यार्थास्तित्ववादिनौ वैभाषिकसौत्रान्तिकौ, तयोरपि बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी आद्यः, विज्ञानानुमेयबाह्यार्थवादी द्वितीयः, निरालम्बनविज्ञानास्तित्व-वादी योगाचारः, त्रयोऽप्येते स्वाभ्युपगतं वस्तु क्षणिकं वदन्ति । सर्वशून्यवादी माध्यमिकः, सचाऽऽसंस्कारक्षयात् ग्राह्यग्राहका-कारविमुक्तासंवित्सन्ततिर्निर्वातस्थदीपवत् क्षणपरम्परयाऽव-तिष्ठते, संस्कारक्षये सा प्रदीपवदेव निर्वाणमृच्छति, सेयम-भावप्राप्तिरपवर्गइति मन्यते । अन्ये तु सन्तत्यविच्छेदमिच्छन्ति । तत्र बाह्यार्थास्तित्ववादिमतं भूतभौतिकचित्तचैत्यभेदेन समु-दायद्वयं, तथाहि रूप- विज्ञान- वेदना- संज्ञा- संस्काराख्याः-पञ्चस्कन्धाः । तत्र रूपस्कन्धोनाम पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, भौतिकं च शरीरेन्द्रियविषयरूपम् । तत्र रूपरसगन्धस्पर्शाः खरस्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः पृथिवीरूपेण संहताः पृथिवीव्यापारायावतिष्ठन्ते, रूपरसस्पर्शाः स्नेहस्वभावाआप्याः परमाणवः सलिलात्मना संहन्यन्ते, रूपस्पर्शाउष्णस्वभावा-स्तैजसातेजोरूपेण संहताः, तथा स्पर्शाईरणस्वभावावायवीया-

वायुरूपेण संहन्यन्ते, पृथिव्यादिचतुष्टयं च शरीरेन्द्रियविषय-रूपेण संहन्यते, इत्येवमेते चतुर्विधाश्चणिकाः परमाणवो भूतभौतिकसंघातहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते । सोऽयं परमाणुहेतुकोभूत-भौतिकरूपोरूपस्कन्धोबाह्यसमुदायः । विज्ञानस्कन्धोनामाभ्य-न्तरोऽहं *प्रत्ययसमारूढोघटज्ञानं पटज्ञानमित्येवमविच्छेदेन वर्त्त-मानोविज्ञानॐसन्तानः, अयमेव कर्त्ता, भोक्ता, चात्मा, नाऽन्यो-नित्योऽस्तीति । वेदनास्कन्धश्च सुखवेदना दुःखवेदना च, संज्ञा-स्कन्धोनामोपलक्षणप्रत्ययोयथा स्वस्तिमती गौरिति स्वस्ति-मत्तया गौरुपलक्ष्यते । ध्वजेन गृहं दण्डेन पुरुषइति, संस्कार-स्कन्धोनाम रागद्वेषमोहमदमात्सर्यभयशोकविषादादयश्चैतासिका-धर्माः, ते चामी चतुर्विधाः स्कन्धाश्चित्त×चैतिकाउच्यन्ते, सर्व-व्यवहारास्पदभावेनान्तः संहन्यन्ते । सोऽयं विज्ञानादिचतुः-स्कन्धीहेतुकआन्तरः समुदायः सर्वं वस्तुजातं समुदायद्वयरूपं, यदतोऽन्यत्तत्सर्वमवस्तु कालाकाशादि, तावेतौ लोकयात्रामावहतः सिद्धे च लोकव्यवहारे नित्येनात्मना नास्ति प्रयोजनमिति मन्येते । तत्रेदमभिधीयते, उभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभ्युपगम्यमाने तदप्राप्तिः समुदायासम्भवः, न तावत्स्वतः समुदायापत्तिः, समुदायिनामचेतनत्वात्, क्षणिकत्वाच्च, नाप्यन्यतः, नित्यस्य भोक्तुः प्रशासितुः संहन्तुश्चेतनस्यानभ्युपगमात् । समुदायासिद्धौ स्थूलाभावेन व्यवहारोन सिध्येत्परमाणूनां च क्षणध्वंसित्वा-तीन्द्रियत्वान्न तैर्व्यवहारोऽस्तीति लुप्येत लोकयात्रा ॥ १८ ॥

---

* ग्राहकाभिमानं ।

ॐ आलयविज्ञानधारा ।

× विज्ञानस्कन्धश्चित्तमात्मेति चोच्यते अन्ये चैत्याः

सू० इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न, सङ्घातभावाऽनिमित्तत्वात् ॥ २।२।१६॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अविद्यासंस्कारविज्ञाननामरूपषडायतनादीनामितरेतरहेतुत्वेन सङ्घातादिकमुपपन्नमित्यपि न, तेषामपि संघातं प्रत्यकारणत्वात् ॥ १६॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न, सङ्घातभावाऽनिमित्तत्वात् ।

ननु चेतनस्य सर्वज्ञस्य संहन्तुरनभ्युपगमेऽपि क्षतिर्नास्ति । यतोऽस्मदीयपक्षे अविद्यादीनामितरेतरप्रत्ययत्वात् । कार्य्यं प्रतिहेतुतयाऽयते गच्छतीति प्रत्ययोहेतुस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्सर्वं सङ्घातादिकमुपपन्नं भवति । तथाहि विज्ञानसन्तानस्यानादिकालप्रवृत्ताअविद्यादयोहेतवोऽभ्यु-

पगम्यन्ते, तत्राविद्याशब्दोभ्रान्तिवचनः, अस्थिरे स्थिरबुद्धिरमार्गे मार्गबुद्धिरिति । तया विषयेषु रूपादिषु रागादिलक्षणः संस्कारोजन्यते । तेनैव प्रवृत्तिकाले प्रवृत्तिर्भवति, प्रवृत्तिः पुण्यापुण्य-कर्मात्मिका "अस्ति कर्माऽस्ति विपाक"इतिबुद्धवच-नात्। तेनैव च विज्ञानं जा*यते । ततः पृथिव्यादि-चतुष्टयं शरीरसमुदायकारणभूतमुत्पद्यते, तदेव नामाश्रयत्वेन नामेत्युच्यते । ततः शरीरं, ततः पञ्च-८बुद्धीन्द्रियमनोरूपं षडायतनं, ततः स्पर्शः, ततो-वेदना सुखादिका, ततः पुनरविद्यादयः, एवं घटीयन्त्रवदावर्त्तमानेषु भावेषु, अर्थात्सङ्घातउप-पद्यते, अतः खलु सर्वमस्मद्दर्शनमुपपन्नमिति चेन्न, कुतः ? सङ्घातभावानिमित्तत्वात् । अविद्यादीनां सङ्घातभावं प्रति अनिमित्तत्वात् । नहि दूरस्थे पुरुषे जायमानास्थाणुरयमिति भ्रान्तिभूताऽविद्या पूर्वसिद्धस्य पुरुषस्य संहतिकारणमिति वक्तुं शक्यम् । तथा तन्निमित्तानां रागादीनामपि सङ्घातभावं प्रति अनिमित्तत्वं बोध्यम् ॥ १९ ॥

---

* ज्ञायते । ८ पञ्चज्ञानेन्द्रियमनोरूपम् ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इततरेरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न सङ्घातभावाऽनिमित्तत्वात् ।

कार्यं प्रत्ययते गच्छतीति व्युत्पत्तेः प्रत्यय*शब्दोहेतुवाची । मन्वितरेतरहेतुत्वादुपपन्नमस्मद्दर्शनम् । तथाहि योऽयं विज्ञानस्कन्धोऽहं प्रत्ययसमारूढः सन्ततिरूपेण वर्त्तते तस्याविद्यादयोऽनादिकालप्रवृत्ताहेतवः, सच तेषामिति अविद्यानामविपरीतबुद्धिः, अस्थिरे स्थिरदृष्टिरमार्गे मार्गदृष्टिरिति । तथा रागद्वेषादिलक्षणसंस्कारस्कन्धोजन्यते, ततः पुण्यापुण्यकर्मलक्षणाप्रवृत्तिः, ततोजन्मशरीरग्रहणम्, ततः पञ्चबुद्धीन्द्रियमनोरूपं षडायतनं, ततः षड्विज्ञानानीन्द्रियमनोविषयेषु रूपादिषूत्पद्यन्ते, तदेवं प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवहारसिद्धेः सर्वमुपपन्नमिति चेत्तत्परिहरति । नेति । कुतः ? " सङ्घातभावाऽनिमित्तत्वात् " नह्यविद्यादीनां भूतभौतिकसङ्घातापत्तौ निमित्तत्वमुपपद्यते पूर्वपूर्वक्षणस्योत्तरोत्तरहेतुत्वेऽपि न सङ्घातापत्तिहेतुत्वं, विज्ञानस्य क्षणिकत्वात् । कर्मणोऽपि क्षणिकत्वादुत्पत्तिनिरोधमात्रं सर्वत्र भवेत् । न सङ्घातापत्तौ सामर्थ्यं शक्यं कल्पयितुं, प्रमाणाभावात् ॥ १९ ॥

## सू० उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २ । २ । २० ॥

---

* प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुष्विति नानार्थवर्गः ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

इतोऽपि न तद्दर्शनं युक्तमुत्तरोत्पादे पूर्वस्य क्षणिकत्वेन विनष्टत्वात् ॥ २० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ।

ननूत्तरस्योत्पादे कर्त्तव्ये पूर्वस्य हेतुत्वादुपपन्नमस्मद्दर्शनमिति चेन्न, उत्तरोत्पादे च क्रियमाणे पूर्वस्य निरोधात्ॐलोके उत्तरस्य घटस्योत्पत्तिवेलायां पूर्वस्य मृत्पिण्डस्य सतएव हेतुत्वं दृश्यते। भवन्मते तु भावानां सर्वेषां क्षणिकत्वात् पूर्वक्षणस्य विनष्टत्वादुत्तरक्षणं प्रति हेतुत्वं न घटते। तथाहि, क्षणिकः पदार्थः क्ष*णइत्युच्यते, पूर्वस्तावद्धटक्षणः स्वसमकालमुत्तरं कार्य्यमुत्पादयति, अनुत्पन्नोवा? विनष्टोवा? नाद्यः पक्षः। तदपि स्वसमका×लं कार्य्यान्तरं तदप्यन्यमिति सर्वस्य युगपत्क्षणमात्रस्थायित्वापत्तेः, पूर्वोत्तरव्यवहारोच्छेदापत्तेश्च। नद्वितीयःपक्षः,

ॐ नाशात् इत्याधिकपाठः पुस्तकान्तरे।

* तन्मते क्षणाऽनङ्गीकारात्। × स्वद्यपेपद्य।

असम्भवात् ।. किञ्चानुत्पन्नोनाम तदभावएव । तस्य हेतुत्वे सर्वस्य सर्वत्रोत्पत्तिप्रसङ्गः स्यात्प्रतिबन्धकाभावात् । नापि त्रितीयः, पुनः सर्वस्य सर्वत्रोत्पत्त्यापत्तेः पूर्वस्य विनष्टत्वात् । न च वाच्यमुत्तरक्षणोत्पत्तिपर्य्यन्तं पूर्वक्षणोऽवतिष्ठतइति, क्षणिकत्वहानिप्रसङ्गात् ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ।

एवं पूर्वक्षणस्योत्तरहेतुत्वमभ्युपगम्यापि सङ्घातानुपपत्तिरित्युक्तमथेदानीं हेतुत्वस्याप्यसम्भवउपपाद्यते । उत्तरक्षणस्योत्पत्तिवेलायां पूर्वक्षणस्य निरोधात् विनष्टत्वात् उत्तरक्षणं प्रतिहेतुत्वानुपपत्तिरेव । तथाहि पूर्वस्तावद्धटक्षणः, स किमुत्पन्नः सन्नुत्तरहेतुरनुत्पन्नोवा ? नानुत्पन्नः, शशविषाणतुल्यत्वात् । नाप्युत्पन्नः, अभाववस्तुच्छत्वात्, उत्पन्नविनष्टस्यानुत्पन्नस्य चाभावत्वाविशेषात् । अभावस्य हेतुत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येत । ननु पूर्वक्षणविनाशउत्तरक्षणोत्पत्तिश्च युगपद्भवेतां, तुलान्तयोर्नामोन्नामवदिति चेन्न, तत्र मध्ये सूत्रधारणादन्तयोश्च युगपदुपस्थितयोरेकस्य गुरुत्वान्नामस्तद्रहितस्योन्नामइति, न चात्रोत्तरोत्पत्तिकाले पूर्वस्य स्थितिरिष्यते, येनासौ तद्धेतुत्वं प्रतिपद्येत, अवतिष्ठते चेत् क्षणिकत्वहानिः । किञ्च कारणधर्मानुविधायित्वमन्तरेणेदं कार्यमिदं कारणमिति कल्पनायामतिप्रसङ्गोमृदन्विताः शरावादयोदृश्यन्ते सुवर्णान्विताश्च कुण्डला-

दयो, नचाकारसमर्पणो सामर्थ्यं क्षणिकत्वात्तस्मान्नित्यपक्षे एव कार्यकारणव्यवस्था युज्यते प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानाच्च कुम्भादीनां नित्यत्वम् । ननु च नित्यत्वेऽपि कार्यकारणाभावोनोपपद्यते, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ क्रियाविरोधात् । किंकुशू*लस्थोव्रीहिरङ्कुरजननस्वभावः ? अतत्स्वभावोवा ? यद्यतत् स्वभावोन कदाचिदपि जनयेत् । अथ तत् स्वभावस्तदानीमेवोत्पादयेत्ततश्च यानि कर्माणि व्रीहिणा कर्तव्यानि तानि सर्वाणि युगपत्कुर्यात् । नच सामग्रीवशेनाङ्कुरं जनयेदतत्स्वभावत्वे सामग्र्या अकिञ्चित्करत्वात् । यच्चोक्तं प्रत्यभिज्ञानाच्च नित्यत्वमिति तदनैकान्तिकं, प्रदीपज्वालादिष्वदर्शनात् । यदि च नित्योभावः स्यादन्ते विनाशदर्शनं न प्राप्नुयात् । अथ मुद्गरादिना घटस्य विनाशः क्रियतइति चेत्तदयुक्तं, तथाहि विनाशः किं द्रव्यभिन्नोऽभिन्नोवा क्रियते ? आद्ये, घटस्य किमापातं यथा घटे कृते पटस्य न किञ्चिद्भवति, तथा विनाशेऽपि भिन्ने । द्वितीये घटस्वरूपमेव विनाशस्तच्च कुलालेन कृतमिति मुद्गरः किमपरं करोति । अथ मन्यसे घटस्य सम्बन्धी विनाशः क्रियते इति, तत्र कः सम्बन्धः, किन्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणोवा ? आद्ये पूर्वोक्तमेव दूषणं तादात्म्यं तत्स्वभावता सा च कुलालेन कृतेति । द्वितीये घटमुद्गराभ्यां विनाशउत्पाद्यतइति घटस्य न किञ्चिदिति । तस्मात्स्वाभाविकोविनाशएष्टव्यइति । अत्रोच्यते, योऽयं विकल्पकृतः स तवैव सिद्धान्तं बाधते, कथं विसदृशसन्तानोत्पत्तिप्रतिनिरोधाय योऽयमन्त्योघटक्षणोऽभिमतोयतः कपालोत्पत्तिरिष्यते, स सदृशसन्तानजननस्वभावोघटक्षणत्वादतीतानन्तरघटक्षणवदित्यसावेव विसदृशसन्तानजननस्वभावोऽप्यभ्युपेयेत । अन्यथा कुम्भकारा-

* मृन्मयस्थूलपात्रम्, धान्यरक्षापात्रं वा ।

दारभ्य, कपालपङ्क्तिरेव स्यादेवं सति मुद्गरेण घटक्षणस्य सदृशसन्तानजननस्वभावता विनाश्यते विसदृशसन्तानजननस्वभावता चोत्पाद्यते इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा कपालोत्पत्त्यसम्भवात् । ततश्च भवता सहेतुकं विनाशमभ्युपगच्छता विकल्पः परित्यक्तः, यदि विकल्पोऽङ्गीक्रियते तर्हि विसदृशसन्तानस्यक्तव्यइति सिद्धहानिर्दृष्टविरोधश्च । तत्र यथा तव सदृशसन्तानजननस्वभावविनाशोमुद्गरेण क्रियते, तथा ममापि घटविनाशएव क्रियतइति स्थितः सहेतुकोविनाशः प्रत्यभिज्ञानाच्च कालान्तरावस्थायित्वं, ज्वालादिष्वपि सामान्यं समाश्रित्य प्रत्यभिज्ञावृद्धिह्रासदर्शनात् व्यक्तीनामनित्यतैव, यद्यवस्थापिनी व्यक्तिः स्यात् गृहदाहादिष्वपि सामान्यं समाश्रित्य प्रत्यभिज्ञाप्रसङ्गइत्यव्यभिचारः प्रत्यभिज्ञायाः । नहि क्षणिकत्वं प्रत्यक्षमनुभूयते, प्रथमोत्पन्ने निर्विकल्पज्ञाने विशेषापरामर्शात् । यच्चोक्तं क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति ससमानोयोसावन्त्योव्रीहिक्षणोयस्मादङ्कुरोत्पत्तिरिष्यते, सोऽप्यङ्कुरजननस्वभावोन भवति व्रीहिक्षणत्वादनन्तरातीतव्रीहिक्षणवत् । नहि समानसन्ततावकस्माद्विलक्षणक्षणान्तरोत्पत्तिसम्भवः, अथ सहकारिवशादुत्पादकइति चेन्ममापि तदविशिष्टमिति । किञ्च विनाशोत्पादौ भावव्यतिरिक्तावव्यतिरिक्तौवा ? आद्ये, भावस्य क्षणत्रयप्रसङ्गः, उत्पत्तिक्षणः स्थितिक्षणोनाशक्षणश्चेति । द्वितीये तूत्पादविनाशयोरभावाद्भावोनित्यः स्यात् । किञ्च विनाशोनामाभावः, सच किं भावस्य पूर्वभावी ? सहभावीवा ? पश्चाद्भावी वा ? इति । आद्ये भावोत्पत्तिर्न स्यात् । द्वितीयेऽप्यविरोधाद्भावस्य शाश्वतत्वप्रसङ्गः । तृतीये सहेतुकोविनाशः प्राप्नोतीति दिक् ॥ २० ॥

———

# सू० असति प्रतिज्ञोपरोधो-यौगपद्यमन्यथा ॥ २।२।२१ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

असति हेतौ कार्य्योत्पत्त्यऽभ्युपगमे चतुर्भ्यो-हेतुभ्यइन्द्रियालोकमनस्कारविषयेभ्यो विज्ञानो-त्पत्तिरित्यस्याः प्रतिज्ञायाबाधः स्यात्, सति हेतौ कार्योत्पादाङ्गीकारे पूर्वस्मिन् क्षणे स्थिते सति क्षणान्तरोत्पत्तिर्भवेदिदं यौगपद्यं भवतां क्षणिक-वादिनां मते स्यात् ॥ २१ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

निर्हेतुकोत्पत्तिं दूषयति —

असति प्रतिज्ञोपरोधोयौगपद्यमन्यथा ।

ननु हेतुं विनैवास्तूत्तरोत्पादएवं सति नोक्तदोषइति चेदत्रोच्यते, असत्यपि हेतौ यदि कार्योत्पादोऽभ्युपगम्यते तदा प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्। तथाहि, चक्षुरादीन्द्रियलक्षणोऽधिपतिप्रत्ययः

प्रकाशलक्षणःसहकारिप्रत्ययः, मनस्कार*लक्षणः समनन्तरप्रत्ययः, विषयलक्षण×आलम्बनप्रत्ययश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ भवतां कारणचतुष्टयप्रतिज्ञायाः उपरोधोहानिः स्यात्किञ्च निर्हेतुककार्य्योत्पादाङ्गीकारेऽपि पूर्वोक्तः सर्वत्र सर्वोत्पत्तिदोषोदुर्वारः स्यात् । अथैतद्दोषपरिहारायान्यथाङ्गीकारे कार्य्यं सति हेतौ उत्पद्यते इत्यङ्गीकारे यौगपद्यं स्यात्, हेतुहेतुमतोरेकस्मिन् काले युगपत्स्थितिः स्यात् । पूर्वोक्तोदोषस्तदवस्थः स्यादित्यर्थः । तथाहि । किं पूर्वः घटक्षणः अपरस्य घटक्षणस्य स्वकाले हेतुर्भवति ? किम्वा जायमानस्योत्तरक्षणस्योत्पत्तिवेलायां स्थितः सन्तद्धेतुर्भवति ? उभयथाऽपि यौगपद्यम्, आद्ये सर्वेषां क्षणानामेकस्मिन् काले उपलब्धिः प्रसज्येत । पूर्वापरव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गश्च, द्वितीये क्षणिकत्वहानिः, क्षणद्वयस्थायित्वात् । एकत्र यौगपद्येन क्षणद्वयोपलब्धिप्रसङ्गः स्यात् ॥ २१ ॥

---

* मनसा विषयसङ्कल्पः ।

× विषयलक्षणोघटादिरालम्बनप्रत्ययश्चेत्यपि पाठः ।

‡ कार्यकारणयोर्घटक्षणयोर्यौगपद्यं स्यात् ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं क्षणिकवादिमते पूर्वक्षणस्य निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरक्षण-हेतुत्वं सम्भवतीत्युक्तमथासतः उत्पत्तिर्निरस्यन्ते —

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।

असति हेतौ कार्यमुत्पद्यते चेत्प्रतिज्ञाया उपरोधो हानिः स्यात् । चतुर्भ्यः कारणेभ्यः कार्योत्पत्तिरितीयं प्रतिज्ञा हीयेत । अधिपतिप्रत्ययः, सहकारिप्रत्ययः, समनन्तरप्रत्ययः, आलम्बनप्रत्यय-श्चेति, विज्ञानोत्पत्तौ कारणचतुष्टयमिति वः प्रतिज्ञा, तत्र चक्षुरादिरिन्द्रियमधिपतिप्रत्ययः, प्रकाशसहकारिप्रत्ययः, मन-स्कारः समनन्तरप्रत्ययो घटादिरालम्बनप्रत्यय उच्यते, निर्हेतु-कोत्पत्तौ च प्रतिबन्धाभावात्सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत । अन्यथा हेतौ सत्येव कार्यं जायते चेत्तर्हि द्वयोः कार्यकारणयोर्घटक्षणयोर्यौगपद्यं स्यात् । कार्योत्पत्तिकालं यावत्कारणस्यावस्थानात् । क्षणवादहानिः नैहि विनष्टस्य पितुः पुत्रोत्पत्तौ सामर्थ्यं दृष्टम् ॥ २१ ॥

## सू० प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या-निरोधाऽप्राप्तिरविच्छेदात् ॥

२ । २ । २२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सहेतुकनिर्हेतुकयोर्निरोधयोरसम्भवः, सन्तान-

विच्छेदस्यासम्भवात्सन्तानिनां च प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं तावत्पराभ्युपगतउद्भवोनिराकृतस्तदभ्युपगतोनिरोधोऽपि निरस्यते —

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाऽप्राप्तिरविच्छेदात् ।

बुद्धिपूर्वकोनिरोधः प्रतिसङ्ख्यानिरोधः । अतत्पूर्वकोनिरोधोऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधइति द्विविधोनिरोधस्तैरभ्युपेतः, तत्र मुद्गराभिघातादिहेतुकः सदृशसन्तानावसानरूपउपलब्ध्यर्हः स्थूलोभावविनाशोबुद्धिपूर्वकइत्युच्यते। उपलब्ध्यनर्हः सूक्ष्मोनिर्हेतुकः सदृशसन्ताने प्रतिक्षणभावी भावविनाशोऽबुद्धिपूर्वकइत्युच्यते । तयोर्निरोधयोः सन्ताने सन्तानिषु चाप्राप्तिः असम्भवः, कुतः? सन्तानस्याविच्छेदात् । नहि तावत्सहेतुकोविनाशः सन्तानस्य सम्भवति । तथाहि भवद्भिः पूर्वस्मिन्सन्तानिनि प्रतिक्षणभाविभावविनाशाङ्गीकारात्, विनष्टेऽपि उत्तरस्य तद्धेतुकस्यासतोह्येवोत्पादोऽङ्गीक्रियते, एवं मुद्गराभिघातादिना

तत्क्षणे क्षणिके सन्तानिनि विनष्टेऽपि बाधकाभावादुत्तरसन्तान्यु‡त्पत्तिसिद्ध्या सन्तानसिद्धौ सन्तानस्य सहेतुकनिरोधोन सम्भवतीत्यर्थः। सिद्धान्ते तु सतएव मृदादेरवस्थाभेदौ उत्पत्तिनिरो*धौ उच्येते। भवन्मते तु सर्वदा मुद्गरशताभिघातेनापि सन्तानविच्छेदानुपपत्तिरिति भावः। किञ्च चर्मसन्तानिनोयदि हेतुना विनाशस्तर्हि हेतुं विनेतरेषामपि विनाशायोगात् घटस्थानेऽनेकघटोपलब्धिप्रसङ्गः। नच सदृशसन्ताने प्रतिक्षणभाविनिर्हेतुकोविनाशस्तेषां जायतेऽतोनायं दोषइति वाच्यम्, चरमसन्तानिनोऽपि तादृशे विनाशे सिद्धे सहेतुकविनाशस्य वैयर्थ्यापत्तेः। नच मुद्गरादिनापि विसदृशसन्तानोत्पत्तिरस्तीति नोक्तदोषइति वाच्यम्, मुद्गरादिनापि विनष्टे पूर्वस्मिन् सन्तानिनि तत्सदृशोत्तरोत्पादे बाधकाभावात्प्राप्ते सति विसदृशसन्तानासम्भवात्,

---

‡ सन्तानोत्पत्तिसिद्ध्या इत्यपि पाठः।

* अवस्थाविषयकौ उत्पत्तिनिरोधौ, नतु सत्ताविषयकौ इति भावः, अतोनित्यप्रलये ऽपि अस्मन्मतेन वस्तुसत्ताहानिरिति बोध्यम्।

विसदृशोत्पत्तौ हेत्वभावाच्च । सन्तानस्य निर्हेतुक-विनाशोऽपि न सम्भवति, सर्वप्रपञ्चादर्शनप्रसङ्गा-त् । एवं सन्तानिषु तयोरप्राप्तिः, तत्र निर्हेतुके तत्तत्सन्तानिविनाशे स्वीकृते पुनः क्षणिक-स्य सन्तानिनोमुद्गरादिना नाशासम्भवात् । निर्हेतुकोऽपि विनाशोवस्तूच्छेदकोन सम्भवति, सन्तानिनां घटादीनां प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवमाद्यसूत्राभ्यां समुदायं निरस्य, द्वाभ्यां कार्यकारणभाव-क्षणिकत्वे च निरस्य, सम्प्रति तदभिमतोद्विविधविनाशो निर-स्यते ——

प्रतिसङ्ख्या*ऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ।

मुद्गराभिघातादिहेतुकः सदृशसन्तानावसानरूपः स्थूलोयो-भावविनाशः स प्रतिसङ्ख्यानिरोधः, सूक्ष्मस्वाभाविकोनिर्हेतुकः, स-दृशसन्ताने प्रतिक्षणभावी योभावविनाशः सोऽप्रतिसङ्ख्यानिरो-धस्तयोरप्राप्तिरसम्भवः, कुतः ? अविच्छेदात्, उत्पत्तिविनाशधर्म-भाविनोद्रव्यस्याविच्छेदात्, एतौहि सन्तानगोचरौ स्यातां, ? सन्तानिगोचरौवा ? नाद्यः, सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नत्वेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात्, तस्यावस्तुत्वाभ्युपगमात् । न द्वितीयः,

---

* प्रतिकूलासंख्यासन्तं भावमसन्तं करोतीत्येवं रूपा संख्या बुद्धिः प्रतिसंख्या तया विरोधोनाशः ।

सन्तानिनां घटादीनां प्रत्यभिज्ञानाच्च सूक्ष्मोन स्थूलोविनाशः,त्वत्पक्षे विनाशस्य भावाव्यतिरेकाच्च हेतुना विनाशः क्रियते, यस्य तु व्यतिरिक्तोविनाशस्तस्य सहेतुकोविनाशः ॥ २२ ॥

# सू० उभयथा च दोषात् ।

॥ २।२।२३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सन्तानस्य सन्तानिव्यतिरिक्तवस्तुत्वाभावात्सन्तानिनां च क्षणिकत्वादविद्यादिनिरोधो-मोक्षइत्यपि तन्मतमसङ्गतम् ॥ २३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

उभयथा च दोषात् ।

इतोऽपि सौगतमतमसङ्गतम् । कुतः ? तदभिमतेऽपवर्गे उभयथाऽपि दोषात् । तथाहि अविद्यादिनिरोधस्तैर्मोक्षोऽभ्युपेतः, स सन्तानस्य सन्तानिनां वा ? नाद्यः । सन्तानिव्यतिरिक्तस्य सन्तानस्यावस्तुत्वेन मोक्षानर्हत्वात् । न द्वितीयः । सन्तानिनां क्षणिकत्वात् । किञ्च स अविद्यादिनिरोधलक्षणोमोक्षः सहेतुकोनिर्हेतुकोवा ? आद्ये, अथ सत्यचतुष्टयाभ्यासान्मुक्तिः, समुदायसत्यं,

निरोधसत्यं, दुःखसत्यं, मार्गसत्यं, चेति, सर्व-मुत्पत्तिमदिति यन्निर्णयज्ञानं तत्समुदायसत्यं, सर्वं क्षणिकमिति निरोधसत्यं, सर्वं दुःखात्मकमिति दुःखसत्यं, सर्वं शून्यं, सर्वं निरात्मकमिति मार्गसत्यमित्येवं भावयतोरागादिनिवृत्तावभ्युपगम्यमानायां निर्हेतुकोविनाशइतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । द्वितीये, साधनोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गइत्युभयथा दोषः ॥ २३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उभया च दोषात् ।

अविद्यादिनिरोधस्तैर्मोक्षोऽभिमतः, स निरोधः सहेतुकः ? निर्हेतुको वा ? आद्ये, अथ सत्यचतुष्टयाभ्यासान्मुक्तिः, समुदायसत्यं, निरोधसत्यं, दुःखसत्यं, मार्गसत्यं, चेति, सर्वमुत्पत्तिमदिति यन्निर्णयज्ञानं तत्समुदायसत्यं, सर्वं क्षणिकमिति निरोधसत्यं, सर्वं दुःखात्मकमिति दुःखसत्यं, सर्वं शून्यं सर्वं निरात्मकमिति मार्गसत्यं, इत्येवं भावयतोरागादिनिवृत्तावभ्युपगम्यमानायां निर्हेतुकोविनाशइतीयं प्रतिज्ञा हीयेत । द्वितीये, साधनोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गइत्युभयथाऽपि दोषादसमञ्जसं सौगतमतम् ॥ २३ ॥

## सू० आकाशे चाविशेषात् ॥

२ । २ । २४ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आकाशे च तैरभावप्रतिज्ञा कृता, सा न युक्ता, पृथिव्यादिभिरविशेषात् ॥ २४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ते च बुद्धिपूर्वकनाशोभावानामबुद्धिपूर्वकनाशआकाशं चेति त्रयमवस्तु सन्निरूपाख्यं निर्हेतुकं तुच्छमित्याहुस्तत्रोभयप्रकारकोनिरोधो निराकृतः । प्रसङ्गादविद्यादिनिरोधलक्षणोमोक्षो दूषितोऽवशिष्टमाकाशस्य निरूपाख्यत्वं दूषयति श्रुत्युक्तसिद्धान्तवादी भगवान्सूत्रकारः—

आकाशे चाविशेषात् ।

आकाशेऽवस्तुत्वप्रतिज्ञा न* युक्ता, आकाशस्य भूम्यादिभिर्वस्तुत्वाविशेषात् । भूचराभुवि यथा, जलचराजले यथा धावन्ति, तथा खगमाः खे धावन्ति, च शब्दाद्वस्त्वन्तरवदाकाशस्यापि जन्यत्वश्रवणात् । "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी"ति "आकाशस्य

---

* नासतोऽदृष्टत्वादिति वक्ष्यमाणात् नकारः आकृष्यते ।

स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः । तावन्मम स्थितिर्भूयाज्जगद्दुःखानि निघ्नतः” इति दयापरेण वदता बुद्धेनाप्याकाशस्य भावत्वमभ्यनुज्ञातम् ॥ २४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आकाशे चाविशेषात् ।

आवरणाभावमात्रमाकाशमिति तन्मतम् । तत्राह, आकाशे अभावप्रतिज्ञा न युक्ता, कुतः ? “अविशेषात्” वाय्वादेरिव तस्यापि भावरूपत्वेन प्रतिपत्तेरविशेषात् । “आत्मनआकाशः सम्भूतः”-इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात् “आकाशस्य स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः । तावन्मम स्थितिर्भूयात् जगद्दुःखानि निघ्नतः” इति दयापरेण वदता बुद्धेनाप्याकाशस्य भावत्वभ्यमनुज्ञातम् । किञ्च चक्षुषा विशिष्टमाकाशं गृह्यते, पञ्चीकरणेन तस्य रूपवत्त्वात् रोहित-शुक्लकृष्णवर्णतेजोवन्न रूपिद्रव्यसमवायित्वाच्च । ये पुनः शब्द-गुणानुमेयमाकाशमिच्छन्ति, तेषां तन्न सिध्यति, शब्दस्याकाशेन सह सम्बन्धाग्रहणात्, असत्यपि शब्दे नभसि बुद्ध्युत्पत्तेः श्रूयमाणेऽपि शब्दे तद्द्वारेणाकाशे बुद्ध्यनुत्पत्तेश्च ॥ २४ ॥

## सू० अनुस्मृतेश्च ॥ २ । २ । २५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

इदं तदिति प्रत्यभिज्ञा च तद्दर्शनमसत् ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अनुस्मृतेश्च ।

इतोऽपि क्षणिकवादो न युक्तः, कुतः? "अनुस्मृतेः" स्वानुभूतवस्तुविषयकानुस्मरणात् । अतो नित्यानुभवितात्मावश्यमाश्रयणीयः । अन्यथा सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनुस्मृतेश्च ।

अनुस्मृतेश्चाप्ययुक्तं सौगतमतम् । अनुभूते वस्तुनि पश्चादुत्पद्यमानं विज्ञानमनुस्मृतिः प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः । अहमिदमदर्शमिति यः पूर्वेद्युरनुभूतवान्सोऽहमिदानीमिदमनुभवामीति क्षणभङ्गवादिनोऽनुस्मृतिर्नोपपद्यते तदभावात्सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः । सर्वश्च लोकोऽहमस्मीति प्रत्यभिजानाति । नाहं, नास्मीति, कश्चिद्वेत्ति आजन्मन आमरणादेतस्मिन्नन्तराले सोऽहमस्मीत्यनुसन्दधानः, कथमिव बौद्धो नापत्रपते । य एवात्मा नास्तीति निराकरोति स एवास्तित्वमात्मा निराकरणस्य प्रमाता, न ह्यात्मानमात्मा निराकरोति । नच सादृश्यनिबन्धनोऽयं व्यवहारः, क्षणिकवादे सदृशयोर्वस्तुनोर्गृहीतुरेकस्य स्थायिनोऽभावात्सादृश्यनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानमिति मिथ्यालाप एवान्यथा क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिः । आत्मव्यतिरिक्ते हि पदार्थे भावाभावप्रत्ययौ भवतो नात्मन्यभावप्रत्यय आत्मानं लभते । न चैकसन्तानत्वे सतीति विशेषणं सम्भवति, सन्तानिव्यतिरिक्तस्य सन्तानस्यानभ्युप-

गमेन सएवात्मा स्यान्नास्ति विवादः। तस्मात्त्वत्पक्षे सन्तानिनोविज्ञानक्षणाः परस्परं भिन्नाएव सन्ति तत्प्रातर्दृष्टे वस्तुनि मध्यान्हे स्मृतिर्नोपपद्यते। तत्र द्रष्टुः स्मर्तुश्च कार्यकारणभावाभावात्। नच विज्ञातरि नष्टे पूर्वोपलब्धेः स्मरणं युक्तं, नचान्यदृष्टमन्यः स्मरति स्मरणं खलु पूर्वज्ञातस्य समानेन ज्ञात्राग्रहणं, नच विज्ञानसन्तानस्य परलोकगमनं सम्भवति, यत् "अन्तराभवदेहमनुप्रविश्य, विज्ञानसन्तानपरलोकं गच्छती"ति मन्यते, अन्तराभवदेहकल्पनायां प्रमाणाभावात्। नच मरणवेलायां मण्डुकवदुत्प्लुत्यविज्ञानक्षणः "प्रविशत्यमूर्त्तत्वात्"। नच प्रेरकोऽस्ति कर्म प्रेरकमि"ति चेत्तादृशकर्मणि प्रमाणाभावात्। ततश्च स्वर्गनरकगमनाभावात्तत्रागत्यगर्भप्रवेशासिद्धेरुत्पत्तिभावानुपपत्तिरिति दिक्। एतेन परानभिमतोदृष्टिसृष्टिवादोऽपि निरस्तः। तत्राप्यर्थतः क्षणिकत्वाविशेषात् ॥ २५ ॥

## सू० नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २।२।२६॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

अभावाद्भावोन जायते ऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

नासतोऽदृष्टत्वात्।

सौगतैरभावाद्भावोत्पत्तिरभ्युपेता, सा न युक्ता। कस्मात्? "असतः" मृदाद्यभावात्

घटाद्युत्पत्तेरदृष्टत्वात् । सतस्तुमृत्पिण्डादेस्तदुत्पत्तेर्दृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यच्चतैरभ्युपगतमभावाद्भावोत्पत्तिरिति तत्राह —

नासतोऽदृष्टत्वात् ।

असतोऽभावाद्भावउत्पद्यते इति तत्परिहरति, नेति । कुतः ? "अदृष्टत्वात्" असतः शशविषाणादेरङ्कुरोत्पत्त्यदर्शनात् । अभावस्य निरूपाख्यत्वाच्छशविषाणबीजाभावयोः कोविशेषः । ततश्च कारणनियमानुपपत्तिरिति सर्वं सर्वस्मादुपपद्येत । ननु बीजमनुपमृद्य नाङ्कुरः प्रादुर्भवति, क्षीरमुपमृद्य, दधीव । मृत्पिण्डमुपमृद्य घटइव च बीजमुपमृद्यैवाङ्कुरउत्पद्यते, इत्यतोभावाद्भावोत्पत्तिरिति चेन्न, तत्र बीजसंस्थानमात्रं निवर्त्ततेऽविरोधिबीजद्रव्यमेव त्वङ्कुराकारेणावस्थान्तरतया परिणमतइति प्रत्यक्षमेतन्न प्रत्याख्यातुं शक्यम् ॥ २६ ॥

सू० उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२।२।२७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अन्यथाऽनुपायतोविद्याद्यर्थसिद्धिः स्यात्॥२७॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।

अपि च भवद्भिर्यथाऽभावाद्भावोत्पत्तिरङ्गीकृता, एवमुदासीनानां स्वाभिमतकार्य्यसाधकोपकरणत्यागिनामुपकरणाभावमात्रतः स्वाभिमतकार्य्यसिद्धिः प्रसज्येत, नच निर्यत्नस्य विद्यादिलाभः, न चाकृतदारोनैष्ठिकः पुत्रमौरसं प्राप्नोति । तस्माद्वैभाषिकसौत्रान्तिकमतेन युक्त्याभासमूलेन श्रुतिसिद्धान्तस्य न विरोधइति सिद्धम् ॥ २७ ॥ इति समुदायाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।

अभावाद्भावोत्पत्तावुदासीनानां प्रयत्नशून्यानामप्यैहिकामुष्मिकसर्वार्थसिद्धिः स्यादभावस्य सुलभत्वादिति ॥ २७ ॥

इति समुदायाधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० नाऽभावउपलब्धेः ।२।२।२८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ॥

विज्ञानमात्रास्तित्ववाद्यभिमतोबाह्यस्याभावो

न, किन्तु भावएव । कुतः ? उपलब्धेः ॥२८॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं योगाचारपक्षोनिरस्यते —

नाऽभावउपलब्धेः ।

विज्ञानमात्रास्तित्ववादी योगाचारोबौद्धो-विज्ञानव्यतिरिक्तानां भावानामभावं मन्यते । तथाहि विचित्रोबाह्योऽर्थोस्तीति भ्रमः, क्षणिकं विचित्रं विज्ञानं साकारं प्रत्यक्षं चास्ति, नीलं पीतमिति साकारं विज्ञानमेव प्रकाशते, बहिष्टार्थास्तित्ववादिभिरपि तत्तद्विचित्रविषयेन्द्रिय-सन्निकर्षजन्यस्य ज्ञानस्य तत्तद्विषयाकारत्वम-वश्यमङ्गीकरणीयं, एवं सति तेनैवाकारेण सर्व-व्यवहारासिद्धौ किम्बहिष्टार्थकल्पनया, प्रदीप-वत्स्वप्रकाशकत्वात्प्रत्यक्षश्च तत्, अप्रत्यक्षस्योप-लम्भे तस्य स्वपरोत्पन्नयोर्विज्ञानयोरविशेषप्रसङ्गः स्यात् । अस्ति च विशेषः खलु स्वोत्पन्नेन विज्ञानेन पुरुषः प्रवृत्तौ निवृत्तौ च प्रवर्त्तते निवर्त्तते च, उक्तं च विप्राभिक्षुणाऽपि “अप्रत्यक्षोप-लम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति । अविभागोऽपि

बुद्ध्यात्मा विपर्य्यासितदर्शनैः*ग्राह्यग्राहकसम्वित्ति भेदवानिव लक्ष्यत" इति । तत्र ग्राह्याकारः प्रमेयं, ग्राहकाकारः प्रमाणं, स्वसंवित्तिः फलमिति त्रयमेकस्मिन्विज्ञानेऽवकल्पते, तस्मान्नास्ति बाह्यार्थः । इतश्च सहोपलम्भनियमान्न भेदो नीलतद्धियोः, यदैव नीलज्ञानं तदेव नीलमुपलभ्यते । तस्मादनयोरभेदः इति । इतश्च बाह्यार्थशून्यो जाग्रत्प्रत्ययः प्रत्ययत्वात्स्वप्नादिप्रत्ययवत् । ननु कथं बाह्यार्थाभावे प्रत्ययवैचित्र्यमित्यत्रोच्यते, वासनावैचित्र्यात्, बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योऽन्यं निमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यस्योपपन्नत्वादिति प्राप्ते ब्रूमः । बाह्यार्थस्याभावो न घटेत । कस्मात् ? " उपलब्धेः " विज्ञानव्यतिरिक्तस्य बाह्यार्थस्य प्रत्यक्षत उपलब्धेः । यद्यपि उक्तलक्षणो जीवो नित्यज्ञानस्वरूपः सूर्य्यस्य प्रभेव तद्धर्मभूतं ज्ञानं च नित्यमेव । तथापि अनादिमायानिबन्धनेनाज्ञानेनावृतज्ञानत्वाज्जन्मनि जन्मनि एकस्मिन्नपि

---

* विपर्ययदर्शनैः इत्यपि पाठः ।

जन्मनि च पदार्थावधारणे मुह्यति । तत्र परमात्मना स्थापितान्सूर्यादीन् पितृपितामहादिसंश्रितांश्चार्थान् पूर्वसिद्धान् पुनः परिजनवचनाद्वेत्ति च, अतोनाभावोऽस्ति ज्ञानभिन्नस्य पदार्थस्य सूर्याचन्द्रमसौ पावकः पर्वतः पृथिवी जलं गौरश्वइत्याद्यनुभवसिद्धत्वादित्यर्थः । यदुक्तं वहिष्टार्थास्तित्ववादिभिरपि तत्तद्विचित्रविषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यस्य ज्ञानस्य तत्तद्विषयाकारत्वमवश्यमङ्गीकरणीयमेवं सति तेनैवाकारेण सर्वव्यवहारसिद्धौ किम्वाहिष्टार्थकल्पनयेति, तन्न । विषयं विना विषयिनस्तत्सारूप्यात्मकतदाकारत्वासिद्धेः । एवं ज्ञानव्यतिरिक्तोबाह्यार्थस्तद्व्यतिरिक्तं तद्विषयकं ज्ञानं यच्चोक्तं सहोपलम्भनियमाच्च । न भेदोनीलतद्धियोरिति तदपि न, सहोपलम्भकथनमात्रेणैव भेदाङ्गीकारात् ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ विज्ञानवादियोगाचारपक्षोनिरस्यते —

नाभावउपलब्धेः ।

शमथविपश्यना युगनद्धवाही मार्गोयोगः । तत्र शमथेति समाधिरुच्यते । विपश्यना सम्यग्दर्शनलक्षणोयथा युगनद्धौ

बलीवर्दौ वहतस्तथा योमार्गः सम्यग्दर्शनवाही स योगस्तेमाचरतीति योगाचारउच्यते। किं पुनः सम्यग्दर्शनं सर्वं बाह्यार्थशून्यं विज्ञानं सर्वं क्षणिकं सर्वं निरात्मकमिति कथं पुनर्विज्ञानमात्रं प्रतिज्ञायते, साकारं प्रत्यक्षं च विज्ञानं नीलं पीतमिति हि साकारं विज्ञानमेव प्रकाशते, प्रत्यक्षं च तत्प्रदीपवत्प्रकाशकत्वादप्रत्यक्षस्योपलम्भे तस्य* स्वपरोत्पन्नयोर्विज्ञानयोरविशेषप्रसङ्गः । अस्ति च विशेषः स्वोत्पन्नोन विज्ञानेन प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणं व्यवहारं पुरुषोनिर्वर्त्तयति । तथा चोक्तं विप्रभिक्षुणा । "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति । अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसम्वित्तिभेदवानिव लक्ष्यते" इति तत्र ग्राह्याकारः प्रमेयं ग्राहकाकारः प्रमाणं स्वसम्वित्तिः फलमिति त्रयमेकस्मिन्विज्ञानेऽवकल्पते । तस्मान्नास्ति बाह्यार्थः । इतश्च सहोपलम्भनियमाच्च भेदोनीलतद्धियोः, यदैव नीलज्ञानं तदैव नीलमुपलभ्यते तस्मादनयोरभेदइति, इतश्च बाह्यार्थशून्योजाग्रत् प्रत्ययः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवत् । कथं बाह्यार्थाभावे प्रत्ययवैचित्र्यमिति चेद्वासनावैचित्र्यात् । बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योऽन्यं निमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यस्योपपन्नत्वात्वादिति प्राप्ते, अत्रोच्यते, न बाह्यार्थस्याभावः । कुतः ? उपलब्धेः । सहि बहिर्देशसम्बन्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, पावकः पर्वतः पृथिवी सलिलमित्याकारवान्निराकारं च विज्ञानमन्तर्देशेऽहङ्कारसमारूढं विज्ञानमात्मापरोक्षमुत्पद्यते, तयोर्ज्ञानज्ञेययोर्भिन्नदेशयोरनुभूयमानयोः कथमेवैकत्वमाश्रीयते, क्षीरोदकयोस्तु परसंसर्गात्स्यादेकत्वाभिमानः, प्रत्यक्षत्वं तु विज्ञानस्यास्माकमप्यभीष्टमेव । न पुनः

---

* अप्रत्यक्षत्वस्य ।

पूर्वमेव विज्ञानं प्रत्यक्षमनुभूयते । ग्राह्याकारोपश्लेषमन्तरेण ग्राह्याकारपुरःसरमेव हि सम्वेदनं सम्वेदयितुरपरोक्षीभवति । घटसम्वेदनं पटसम्वेदनमिति हि वेद्याकारपूर्वकमेव निर्दिश्यते । यदुक्तं सहोपलम्भनियमादिति तदनिरूपिताभिधानं साहित्यस्यार्थभेदहेतुकत्वात् । सहत्वं नामैकदेशवर्त्तित्वमेककालवर्त्तित्वं वा, द्वयोर्भिन्नयोः पदार्थयोस्ततश्च भिन्नोपलम्भनियमादिति हेत्वर्थोऽभेदइति प्रतिज्ञा, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । प्रतिज्ञायां सत्यां हेतुर्बाध्यते, तस्मिन्प्रतिज्ञा बाध्यते इति, नच दृष्टान्तोऽस्ति ग्राह्यग्राहकयोरभेदे द्विचन्द्रज्ञानादिष्वपि ग्राह्यग्राहकयोर्भेदोदृष्टो-मीमांसकैरिति सङ्क्षेपः ॥ २८ ॥

# सू० वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२।२।२९॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स्वप्नादिप्रत्ययदृष्टान्तेनापि न जाग्रत्प्रत्ययार्थाभावः प्रतिपादयितुं शक्यः, दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोर्वैषम्यात्स्वप्नज्ञानस्यापि सालम्बनाच्च ॥ २९ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

यदुक्तं बाह्यार्थशून्योजाग्रत्प्रत्ययः प्रत्ययत्वात् स्वप्नादिप्रत्ययवदित्यत्रोच्यते --

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।

स्वप्नादिवत्स्वप्नप्रत्ययवत् मनोरथप्रत्ययवच्च जाग्रत्प्रत्ययोनिरालम्बनइति न वक्तव्यम् । कुतः? "वैधर्म्यात्" जागरितस्वप्नप्रत्यययोरवहितकरणजन्यत्वानवहितकरणजन्यत्वरूपवैधर्म्यात् । चकारात्स्वप्नप्रत्ययस्यापि सालम्बनत्वात् ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यच्चोक्तं स्वप्नप्रत्ययवदिति तत्राह —

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।

स्वप्नमनोरथज्ञानवद्भवितुं जागरितज्ञानानि नार्हन्ति । कुतः ? वैधर्म्यात् । निद्रादिदोषदुष्टकरणजन्यानि बाधितानि च स्वप्नज्ञानानि, जागरितज्ञानानि तु तद्विलक्षणानि इति न तत्साधर्म्यं, न च प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययत्वं मिथ्यात्वे हेतुरभिप्रेयेत । स्वप्नज्ञानस्य मिथ्यात्वासिद्धेः प्रबोधप्रत्ययस्य बाधकस्यापि मिथ्यात्वाद्दृष्टान्ताभावः, तस्माज्जाग्रत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमनुमानेन साधयितुमशक्यं, प्रत्यक्षानुभवस्य बलीयस्त्वात् । ये तु बौद्धमतावलम्बिनोमायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्तावेदितव्याः । यदि बाह्योऽर्थोनाभिप्रेतः स्यात्, किमर्थमित्थं यतेत सूत्रकारः । अतोऽर्थवैचित्र्यकृतमेव ज्ञानवैचित्र्यं, तत्तदर्थव्यवहारयोग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसम्बन्धाधीनं, न स्वतोनिराकारत्वात्सम्बन्धश्च संयोग-

स्वगुणाः, ज्ञानमपि हि द्रव्यमेव, प्रभाद्रव्यस्य प्रदीपगुणभूतस्येव ज्ञानस्याप्यात्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वे विरोधाभावात् ॥ २९ ॥

# सू० न भावोऽनुपलब्धेः ॥

२ । २ । ३० ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

किञ्च ज्ञानवैचित्र्यार्थो वासनानां भावोऽभिप्रेतः, स न सम्भवति, तव मते बाह्यार्थानामनुपलब्धेः ३० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

न भावोऽनुपलब्धेः ।

किञ्च ज्ञानस्य निरालम्बनत्वे घटज्ञानं नीलज्ञानं पीतज्ञानमित्यादिवैचित्र्यं न घटेत । वासना ज्ञानवैचित्र्यकारणमिति चेत् ? वासनानां भावोहि तव मते न सम्भवति । कुतः ? "अनुपलब्धेः" वासनाकारणानुपलब्धेः । बाह्यार्थानुभवः वासनाहेतुः । स न सम्भवति, बाह्यार्थानभ्युपगमात् ॥ ३० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यदप्युक्तं बाह्यार्थाभावेऽपि वासनानिबन्धनं ज्ञानवैचित्र्यं स्यादिति तत्राह —

न भावोऽनुपलब्धेः ।

वासनानां भावो न, कुतः ? अनुपलब्धेः निर्हेतुकविनाशिनां ज्ञानानामनुवर्त्तमानस्थिराकारस्याप्राप्तेः विनष्टेन पूर्वज्ञानेन उत्पन्नमुत्तरज्ञानं कथं वास्यते । बाह्यार्थानुपलब्धेरपि प्रत्यर्थं नानारूपवासनानां ह्यर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात् । किञ्च वासना नाम अनुभवजनितः स्मृतिहेतुः संस्कारः । तस्य चाश्रयं विना ज्ञेयाकारवैचित्र्ये सामर्थ्यं कल्पयितुं न शक्यम् । ननु आलयविज्ञानमहं प्रत्ययाख्यं तेन घटादिज्ञानैर्वासनाआधार्यन्ते, ताभ्यश्च घटादिज्ञानानीति परस्परहेतुहेतुमद्भावेन विज्ञानवासनाचक्रं प्रवर्त्तते इति चेन्न, विज्ञानस्कन्धमात्रवादिनः कुतोऽव्यतिरिक्तावासनास्तदभ्युपगमे विज्ञानवादहानिः ॥ ३० ॥

## सू० क्षणिकत्वात् । २।२।३१।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

न वासनाभावआश्रयस्य तव मते क्षणिकत्वात् ॥ ३१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

क्षणिकत्वात् ।

इतोऽपि वासनाभावो न सम्भवति, कुतः ?

आश्रयस्य अहमित्यालयविज्ञानस्य सन्तानिनां च क्षणिकत्वात् । अतोऽर्थवैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यं, तस्माद्योगाचारमतेन बालभाषितेन न श्रुतिसिद्धान्तस्य विरोधइतिसिद्धम् ॥ ३१ ॥

इत्युपलब्ध्यधिकरणम् । ४ ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

क्षणिकत्वात् ।

नेति वर्त्तते । आलयविज्ञानस्य चाधारत्वं नोपपद्यते । कुतः ? क्षणिकत्वात् प्रवृत्तिविज्ञानवदिति सङ्क्षेपः ॥ ३१ ॥

इत्युपलब्ध्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

## सू० सर्वथानुपपत्तेश्च । २।२।३२।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

शून्यवादोऽपि भ्रान्तिमूलः । सर्वथानुपपन्नत्वात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात् ॥ ३२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं माध्यमिकाभिमतः सर्वशून्यवादो निरस्यते —

सर्वथानुपपत्तेश्च ।

शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थाः सर्वज्ञप्रोक्तागमस्थाः सर्वेऽर्थाः नतु वस्तुतः सन्ति, उत्पत्तिनाशासम्भवात् । अभावात्तावद्भावोत्पत्तिर्न सङ्गच्छते, भावाद्भावोहि विलक्षणः ? सदृशः ? वा जायते । आद्ये सर्वतः सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः। द्वितीये पिष्टपेषणवन्नैष्फल्यं स्यादुत्पत्तेर्दुर्निरूप्यत्वान्निरोधोदुर्निरूप्यः। तस्माच्छून्यवादोवरीयानतोहि शून्यापत्तिर्मोक्षः, इत्येव बुद्धाभिप्रायः ।युक्तं चैतत्, शून्यस्यानन्यासिद्धत्वात् । द्रष्टृदृश्यादिव्यवहारस्तु भ्रममात्रमित्यत्र ब्रूमः । सर्वशून्यवादोन युक्तः । कुतः ? सर्वशून्यवादिनोऽसत्यत्वे सर्वस्य सत्यत्वप्रसङ्गात्सत्यत्वे प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात्, शून्यवादस्य सर्वथानुपपत्तेश्चानुपपन्नं सर्वं शून्यमिति दर्शनम्, वादिप्रतिवादिभ्यां सर्वस्य जगतः सत्यत्वेनोपलम्भात्, शून्यत्वे प्रमाणाभावाच्च, क्षणिकत्वादिभावप्रतिपादकबुद्धागमविरोधाच्च।सर्वं शून्यमिति वदतोमाध्यमिकस्य कार्योत्पत्तिविनाशानभिज्ञस्य चक्षुर्दोषेण भास्करमपश्यत उलूकस्येव मतं सर्वथा दुष्टमिति भावः। तन्मतेन श्रुतिमार्गस्य न विरोध-

गन्धोऽपीति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इति सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ सर्वशून्यवादिमाध्यमिकपक्षोनिरस्यते —

सर्वथानुपपत्तेश्च ।

शून्यवादएव बुद्धमतस्य पराकाष्ठा, शिष्यबुद्धिवैशद्याय बाह्यार्थाद्यभ्युपगमेन तत्र क्षणिकत्वादयस्तेन कल्पिताः । नच बाह्यार्थाघटादयोविज्ञानं च सर्वे भावाः सन्ति उत्पत्त्यनिरूपणात्तेषां शून्यापत्तिरेव च मोक्षइत्येव बुद्धाभिप्रायः, स्वतः सिद्धं हि शून्यं, न हेतुसाध्यं, सतएव हि हेतुरपेक्ष्यतेऽसतश्च पदार्थस्य न भावादभावाद्वोत्पत्ति सम्भवति । घटादिर्हि पिण्डादिकमनुपमृद्य नोत्पद्यते पश्चादभावादुत्पद्यमानश्चाभावात्मकएव स्यात्, स्वतः परतोवाप्युत्पत्तिर्न सम्भवति । स्वतश्चेत् आत्माश्रयदोषापत्तेः प्रयोजनाभावाच्च । परतश्चोत्पत्तौ परत्वाविशेषात्सर्वतः सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः जनेरभावादेव न विनाशः, अतोजनिनाशसदसदादिकं भ्रान्तिरेवेति शून्यमेव तत्त्वमिति प्राप्ते आह । सर्वथेति । नेत्यनुवर्त्तते । त्वदभिमतं सर्वशून्यत्वं न सम्भवति, सर्वं शून्यमिति वादे सर्वस्य सत्त्वंवा ? असत्त्वं वा ? सदसत्त्वं वा ? प्रतिजानतस्तव सर्वथा नाभीष्टसिद्धिः, कुतः ? "अनुपपत्तेः" । सर्वशून्यत्वानुपपत्तेः । लोके भावाभावशब्दयोस्तद्बुद्ध्योश्च विद्यमानवस्त्ववस्थाविशेषएव भावाभावरूपोविषयः प्रमाणेनोपलभ्यमानघटाद्यवस्थाविशेषोभावबुद्धिविषयः, तद्विरोधि-

पिण्डकपालाकाराद्यवस्थाविशेषोऽभावबुद्धिविषयः । ततश्च सर्वं सदिति सर्वमसदिति वा प्रतिजानता विद्यमानवस्त्ववस्थाविशेषयोगितैव प्रतिज्ञातास्तीति न त्वदभिमततुच्छतासिद्धिः । किञ्च येन प्रमाणेन शून्यत्वं साध्यते तस्यासत्यत्वे सर्वस्य सत्यत्वापत्तिरिति सर्वथा शून्यवादोऽनुपपन्नएवेति ॥ ३२ ॥

इति सर्वथाऽनुपपत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

# सू० नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥

२ । २ । ३३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जैनावस्तुमात्रेऽस्तित्वनास्तित्वानादिविरुद्धधर्मद्वयं योजयन्ति, तन्नोपपद्यते । एकस्मिन् वस्तुनि सत्वासत्वादेर्विरुद्धधर्मस्य छायातपवद्युगपदसम्भवात् ॥ ३३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

मुक्तकच्छबौद्धमतं निरस्तमिदानीं विवसनानां जैनानां मतं निराक्रियते —

नैकस्मिन्नसम्भवात् ।

ते हि जीवाजीवात्मकं निरीश्वरं जगदाहुः । परमाणूनां जगत्कारणत्वञ्चाहुः । अस्तित्वनास्तित्वा-

दिविरुद्धधर्म्मद्वयं पदार्थेषु कल्पयन्ति । तथाहि जीवाजीवाश्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाइति तेषां शास्त्रसङ्ग्रहभूताः सप्त पदार्थाः । तत्र जीवाश्चेतनाः ज्ञानदर्शनसुखवीर्य्यगुणैर्युक्ताः । तत्र जीवाऽजीवविवेकेन पदार्थावगमोज्ञानम् । रागद्वेषशून्यतया पदार्थावलोकनं दर्शनम् । बद्धानां वैषयिकं, मुक्तानां स्वात्मभूतं सुखम् । एवं वीर्य्यं च यथायथमूह्यम् । ते च जीवाः सावयवाः देहपरिमाणाः, तत्र केचिद्बद्धात्मानः, केचिन्मुक्तात्मानः, केचिन्नित्यासिद्धाः, ये मुक्तात्मानस्ते सर्वज्ञाः निरतिशयसुखाश्चासते । जीवभोग्यवस्तुजातमजीवः, सच धर्माधर्मपु*द्गलकालाकाशभेदभिन्नः । तत्र च सम्यक् प्रवृत्त्युनुमेयोद्रव्यविशेषोधर्मः, अमुक्तानां स्थितिहेतुरधर्मः, वर्णगन्धरसस्पर्शवद्द्रव्यं पुद्गलः । स द्विधा परमाणुतत्सङ्घातभेदात् । पृथिव्यादिहेतवः परमाणवस्ते च न तार्किकादीनामिव चतुर्द्धा, किन्त्वेकस्वभावाः । पृथिव्यादिभेदस्तु परिणामकृतः । पृथिव्यादि-

* शरीरम्

चतुष्टयं तनुभुवनादिकश्च तत्सङ्घातः । कालस्तु चिरक्षिप्रभूतादिव्यवहारहेतुरणुरूपोद्रव्यविशेषः । आवरणाभावः आकाशः । स द्विधा, अलोकाकाशः, सांसारिकः । अलोकाऽऽकाशोमुक्ताश्रयः । आश्रावयति पुरुषं विषयेष्वितीन्द्रियप्रवृत्तिराश्रवः, कर्त्तारमभिव्याप्याश्रवत्यनुगच्छतीत्याश्रवं कर्मेति वा । इन्द्रियवृत्तीः संवृणोतीति संवरइन्द्रियनिरोधः समाधिरूपः । पूर्वसाश्रितं कल्मषं निर्जरयतीति निर्जरोनामास्नानमौनवीरासननिष्ठ्यूतभोजनतप्तशिलारोहणकेशोपलुञ्चनादिलक्षणमर्हदुपदेशावगतं तपः । बन्धस्त्वष्टविधः कर्मलक्षणः । तत्र ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीयमन्तरीयमिति चत्वारि घातिकर्माणि जीवगुणानां ज्ञानदर्शनसुखवीर्याख्यानां प्रतिघातकराणि, वेदनीयं नामिकं गोत्रिकमायुष्कमिति चत्वार्यघातिकर्माणि, शरीरतदभिमानतन्निबन्धनसुखाद्यपेक्षोपेक्षाहेतुभूतानि । बन्धनिवृत्तौ नित्यसिद्धार्हदनुग्रहात्स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावोमोक्षोभवतीति । तेषामेवापरः प्रपञ्चः पञ्चास्तिकायोनाम । तथाहि, जीवास्तिकायः । पुद्गलास्ति कायः । धर्मास्ति कायः । अधर्मास्ति-

कायः । आकाशास्तिकायश्चेति । अनेकदेशवर्त्ति-साङ्केतिकपदार्थवाची अस्तिकायशब्दः, जीवश्चासावस्तिकायश्चेत्येवं सर्वत्र कर्मधारयः । इमञ्च सप्तभङ्गीनयं सर्वत्र योजन्ति । स्यादस्ति,स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्तिच नास्तिच, स्यादस्तिचावक्तव्यश्च, स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च, स्यादस्तिच नास्तिचावक्तव्यश्चेति, अस्तित्वादि-सप्तभङ्गानां समाहारः । सप्तभङ्गीतन्नयोयुक्तिः । स्यादिति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम् , किञ्चिदर्थे वर्त्तमानं बोध्यम् । किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्तीत्येवं योजनीयम् । अयं भावः । सर्वं वस्तुजातं द्रव्यपर्यायात्मकमनैकान्तिकं द्रव्यरूपस्य चैकत्वात्स्थिरत्वात्सद्बुद्धिबोध्यत्वात्तदात्मना सत्त्वैकत्वनित्यत्वाद्युपपद्येत । पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्था-विशेषाः घटत्वपटत्वादिरूपास्तेषां चानेकत्वादस्थिरत्वादसद्बुद्धिबोध्यत्वात्तदात्मना हि असत्त्वाऽनित्यत्वादिकमुपपद्येतेत्यत्र ब्रूमः, नैवं वाच्यम् । कस्मात् ? एकस्मिन्पदार्थे किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्तीत्यादिसप्तभङ्ग्युक्तेरसम्भवात् । नहि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्रोपलम्भोदृष्टः श्रुतोवा ? एव-

मेकत्रास्तित्वनास्तित्वादिविरुद्धधर्म्मद्वयस्यासम्भवएव । ननु भवन्मतेऽपि एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मद्वयाङ्गीकारोऽस्ति । तथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे" त्यादिषु एकत्वं प्रतिपाद्यते "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः द्वासुपर्णे" त्यादावनेकत्वं च प्रतिपाद्यतइति चेन्न, अस्यार्थस्य युक्तिमूलत्वाभावात्, श्रुतिभिरेव परस्पराविरोधेन यथार्थं निर्णीतत्वात् । तथा सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः स्वरूपतोब्रह्माभिन्नत्वासम्भवात्तज्जत्वादिना तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्तयैव खलु ब्रह्माभिन्नत्वम् । स्वरूपतस्तु चिदचिद्ब्रह्मपदार्थानां भेदएव द्वैतश्रुतिप्रामाण्यात्, यथा पत्रपुष्पादीनां स्वरूपतोभिन्नानां पृथक् प्रवृत्त्याद्यभावात् वृक्षाभिन्नत्वं, यथा चेन्द्रियाणां स्वरूपतः प्राणभिन्नानामपि प्राणायत्ततया प्राणाभिन्नत्वमविरुद्धम् । इत्थं जगद्ब्रह्मणोर्भेदाभेदौ स्वाभाविकौ श्रुतिस्मृतिसूत्रसाधितौ भवतः । कोऽत्र विरोधः । एवमेव भिन्नाभिन्नलक्षणं जगद्ब्रह्मसम्बन्धं वाक्यशेषोद्दृढयति "तज्जलानिती"ति, इति शब्दोहेतुवचनः । यतस्तस्मात्परमकारणाज्जायतइति तज्जं, तस्मिँल्लीयतइति तल्लं,

तस्मिन्नानिति चेष्टतइति तदनं, तज्जश्च तल्लश्च-तदनश्च तज्जलान् । अवयवलोपश्छान्दसः । किञ्च एकस्मिन् जगत्कारणे प्रमाणप्राप्ते बहूनां परमाणूनां कारणत्वं नोपपद्यते, गौरवात्तेषां जड-त्वेन कारणत्वासम्भवाच्च । एकस्मिन्वेदवेद्ये मोक्षप्रदे सति सिद्धानुग्रहान्मोक्षोदुर्घटः, अस-म्भवात् । सिद्धानुग्रहः आराधनसापेक्षः ? न वा ? आद्ये, सिद्धानां समानस्वभावानामेकतम-स्याराधनेन मोक्षोन भवेत् । बहूनां सिद्धाना-मुपेक्षादोषात्सर्वेषामाराधने गौरवः स्यात् । अस्ति चेदेकोमहान् तर्हि सेश्वरपक्षे प्रविष्टोभवान् । द्वितीये सर्वमोक्षप्रसङ्गः । किञ्च सिद्धसत्त्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावात्सिद्धानुग्रहान्मोक्षो—दुर्घटः ॥ ३३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं मुक्तकच्छबौद्धमतं निरस्याथेदानीं विवसनजैनमतं निर-स्यते —

नैकस्मिन्नसम्भवात् ।

सप्त चैषां निरीश्वरवादिनां पदार्थाः शास्त्रसंग्रहभूताः, जीवा१

ऽजीवा२ऽऽश्रव३ संवर४ निर्जर५ बन्ध६ मोक्षा७ इति, तत्र जीवाश्चेतनाज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणाः सावयवादेहपरिमाणास्ते त्रिविधा बद्धात्मानोमुक्तात्मानोनित्यसिद्धाश्चेति, ये मुक्तात्मानस्ते सर्वज्ञानिरतिशयसुखाश्चासते । जीवभोग्यवस्तुजातमजीवः, सच धर्माधर्मपुद्गलकालाकाशभेदभिन्नः । सम्यक् प्रवृत्त्यनुमेयोद्रव्यविशेषोधर्मः, अमुक्तानां स्थितिहेतुरधर्मः, वर्णगन्धरसस्पर्शवद्द्रव्यं पुद्गलः । सद्द्विधा परमाणुतत्सङ्घातभेदात्, पृथिव्यादिहेतवः परमाणवस्ते च न तार्किकानामिव चतुर्विधाः, किन्त्वेकस्वभावाः। पृथिव्यादिभेदस्तु परिणामकृतः । पृथिव्यादिचतुष्टयं तनुभुवनादिकश्च तत्सङ्घातः, कालस्तु भूतादिव्यवहारहेतुरणुरूपोद्रव्यविशेषआवरणाभावआकाशोद्विधाऽलोकाकाशः, सांसारिकः, अलोकाकाशोमुक्ताश्रयः, आश्रावयति पुरुषं विषयेष्वितीन्द्रियप्रवृत्तिराश्रवः, कर्त्तारमभिव्याप्याश्रवत्यनुगच्छतीत्याश्रवं कर्मेति वा, इन्द्रियवृत्तीः संवृणोतीति संवरइन्द्रियनिरोधः समाधिरूपः। पूर्वसञ्चितं कल्मषं निर्जरयतीति निर्जरोनाम अस्नानमौनवीरासननि÷ष्ठ्यूतभोजनतप्तशिलारोहणकेशोपलुञ्चनादिलक्षणमर्हदुपदेशावगतं तपः। बन्धस्त्वष्टविधः कर्मलक्षणः।तत्र *ज्ञानावरणीयं ꣸दर्शनावरणीयं+मोहनीयमन्तरीय×

÷ थूत्कारभावः।

* ज्ञानान्मोक्षोनास्तीति ।

꣸ अर्हन्तमते मोक्षोनास्तीतिदर्शनं शास्त्रम्।

+ स्वस्य शास्त्रस्य परशास्त्रेण समत्वदर्शनम्।

× परोक्षज्ञानादपि कृतकृत्यबुद्धिः।

मिति चत्वारि ८घातिकर्माणि, वेदनीयं१नामिकं२गोत्रिकमा३ युष्क-मिति४चत्वार्यघातिकर्माणि*। बन्धनिवृत्तौ नित्यसिद्धार्हदनुग्रहा-त्स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावोमोक्षोभवतीति। तेषामेवापरः प्रपञ्चः पञ्चास्तिकायोनाम जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः, धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः। आकाशास्तिकायश्चेति, अनेकदेशवर्त्तिसाङ्के-तिकपदार्थवाची अस्तिकायशब्दः, जीवश्चासावास्तिकायश्चेत्येवं सर्वत्र कर्मधारयः, इमञ्च सप्तभङ्गीनयं सर्वत्रावतारयन्ति। स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्यः स्यादस्तिच नास्ति च स्यादस्ति चावक्तव्यश्च स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च स्यादस्तिच नास्ति चावक्त-व्यश्चेति। अतः सर्वं वस्तुजातं द्रव्यपर्यायात्मकमनैकान्तिकं, द्रव्यस्वरूपस्य चैकत्वात् स्थिरत्वात्सद्बुद्धिबोध्यत्वात्तदात्मना सत्त्वैकत्वनित्यत्वाद्युपपद्येत। पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्थाविशेषाः घटत्वपटत्वादिरूपास्तेषां चानेकत्वादस्थिरत्वादसद्बुद्धिबोध्यत्वा-त्तदात्मनाऽसत्त्वानित्यत्वादिकमुपपद्येतेति, तत्रेदमुच्यते। नैकस्मि-न्निति। एकस्य द्रव्यस्यास्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वादिभि-रनैकान्तिकत्वं न युक्तम्। कुतः? एकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वाऽसत्त्वादे-र्विरुद्धधर्मस्य छायातपवत् युगपदसम्भवात्। कथमेकोभावोऽस्ति नास्ति च स्यात् विरोधात्। ननु पटरूपेण घटोनास्ति स्वेन रूपेणा-स्तीति न विरोधइति चेन्न, स्वरूपेऽपि सप्तभङ्गीनयस्याविशेषा-त्स्वरूपमस्तीत्यपि स्यान्नास्तीत्यपि तत्रानध्यवसानमेव स्यात्। किञ्च ये सप्तपदार्थास्ते तथैव स्युरन्यथा वेत्यनिश्चितज्ञानम-

---

८ मोक्षघातित्वात्पापविशेषरूपाणि यैर्जीवस्य ज्ञानादि हन्यन्ते।

नोट— १ देहाकारपरिणामोवेदनीयम्। २ कठिनावस्था-नामिकं। ३ तयोः कललावस्था गोत्रिकं। ४ शोणितसंयोग-आयुष्कं। * आत्मप्राप्त्यविघातकत्वात्।

प्रमाणमेव स्यात्। ननु सर्वमनैकान्तिकमित्यवधारणज्ञानं निश्चितमेवेति चेन्न, अवधारणमप्यनैकान्तिकमेव स्यात्। अवधारणं स्यान्नास्ति चावधारणमिति न क्वचिन्निश्चयः स्यात्। मोक्षोऽस्ति नास्तीत्यवधारणादप्रवृत्तिरेव स्यात्तत्रैवं शास्त्रं प्रणयन्नुन्मत्ततुल्यस्तीर्थंकरः स्यात्। यच्चोक्तं पुद्गलसञ्ज्ञकपरमाणुसङ्घाताः पृथिव्यादयस्तत्पूर्वोक्तेश्वरानधिष्ठितपरमाणुवादनिरासेनैव निरस्तमिति ज्ञेयम्। तथा पञ्चास्तिकायानामपि पञ्चत्वसङ्ख्याऽस्ति? न वेति? विकल्पे, आद्ये स्यात्। द्वितीये न स्यादिति न्यूनाधिकसङ्ख्यात्वमेव स्यादिति सङ्क्षेपः॥ ३३॥

# सू० एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्।

२।२।३४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

एवं शरीरपरिमाणत्वेनाङ्गीकृतस्यात्मनो बृहद्देहप्राप्तावपूर्णता स्यात्॥ ३४॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

एवं चाऽऽत्माऽकार्त्स्न्यम्।

तन्मते यथैकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मासम्भवरूपो दोषएवं तदभिमते देहपरिमाणे जीवेऽपि दोषोऽस्ति। को दोषः? शृणु! देहपरिमाणः आत्मा कर्मवशात्पिपीलिकाशरीरं विहाय

गजशरीरं यदाऽऽप्नोति तदा तस्याऽकात्स्न्र्यं स्यात्। गजशरीरानुरूपं परिपूर्णत्वं न स्यात्। गजाकाराद्देहान्निर्गतस्य चात्मनः सूक्ष्मशरीरे प्रविष्टस्य तदनुरूपं सूक्ष्मत्वं च न स्यादि-त्यर्थः ॥ ३४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम्।

एवमेकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धधर्मसमावेशासम्भवदोषवदात्मनोऽपि यदिष्टं देहपरिमाणत्वं तदपि पक्षे स्यात्पक्षे नेत्यकात्स्न्र्यमपरिपूर्णत्वं च दोषः प्रसज्ज्येतेत्यर्थः। तत्र शरीरैकदेशे जीव इत्येकदेशोऽजीवशून्यः स्यात्। किञ्च मनुष्यदेहपरिमाणोजीवः केन चित्कर्मविपाकेन पिपीलिकादेहे प्रविशन्नसम्मीयेत ॥ ३४ ॥

## सू० न च पर्य्यायादप्यविरोधो-विकारादिभ्यः ।२।२।३५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

उपचयापचयार्हाऽवयवा नात्माऽतोन विरोधः इति च न वक्तुं शक्यं, विकारित्वादिदोषप्रसक्तेः ॥ ३५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

न च पर्य्यायादप्यविरोधोविकारादिभ्यः।

न च वाच्यं सावयवोहि खल्वस्माकमात्मा तस्यावयवानां गजशरीरेउपचयः सूक्ष्मशरीरेऽपचयश्चेत्येवं पर्य्यायादविरोधइति। कुतः? "विकारादिभ्यः" विकारादिदोषप्रसङ्गात्। यदि भवन्मते आत्मा सावयवस्तर्हि देहादिवद्विकारी स्यादनित्यश्च स्यात्। एवमादयोदोषाः स्युः॥ ३५॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

नच पर्य्यायादप्यविरोधोविकारादिभ्यः।

ननु मनुष्यदेहे परिमाणस्य जीवस्य हस्तिशरीराद्यवकात्स्न्र्यं परिहर्तुं शक्यं कथमनन्तावयवआत्मा महति शरीरे तदवयवानामुपचयोऽर्भकशरीरेऽपचयइत्येवं पर्यायादविरोधइति चेन्नेति। कुतः? विकारमूर्त्तत्वादिदोषप्रसङ्गात्। अवयवोपगमापगमाभ्यामनिशमापूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य च जीवस्य विकारित्वं स्यात्तथात्वे चर्मादिवदनित्यत्वप्रसङ्गस्ततश्च बन्धमोक्षौ कस्य स्याताम्। यदि सावयवोजीवः स्याद्देहवद्विनाशी स्यान्मूर्त्तत्वाच्च, नचोपचयापचयौ कल्पयितुं शक्यौ प्रमाणाभावात्। येऽपगतास्तेऽपगताएव, न तेषां पुनरात्मसम्बन्धोनिरूपयितुं शक्यते इति॥ ३५॥

# सू० अन्त्यावस्थितेश्चोभय-नित्यत्वादविशेषः॥२।२।३६॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

अन्त्यस्य परिमाणस्य नियततामङ्गीकृत्यादि-मध्ययोरपि नित्यत्वमस्तीति चेत्तर्हि सर्वत्रा-विशेषः स्याद्विनष्टोदेहपरिमाणवादः॥ ३६॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः।

चरमदेहविनाशानन्तरं यन्मोक्षदशायां परिमाणं स्वरूपं च तद्धि नित्यं भवति। तदा सूक्ष्मस्थूलशरीरपरिग्रहाभावात्तस्य सङ्कोचविकाशा-भावोभवति। एवं भूतस्यान्त्यस्य परिमाणस्य स्वरूपस्य चावस्थितेरुभयोराद्यमध्ययोरवस्थ--योरपि नित्यत्वमीष्यते आर्हतैस्तस्माच्च सर्वत्रा-विशेषः स्यादित्यर्थः। स्थूलशरीरे सूक्ष्मशरीरे बद्धावस्थायां मोक्षावस्थायां च नित्यानियत-परिमाणआत्मा स्यात्, शरीरपरिमाणप्रतिज्ञा

बालभाषिता स्यादिति संक्षेपः । अतोभ्रान्तिमूलेन दिगम्बरपक्षेनापि नास्मत्सिद्धान्तस्य विरोधइति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

इत्येकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।

अन्त्यस्य चरमदेहगतस्य परिमाणस्यावस्थितिरिष्यते वि*सिग्भिः । भिन्ने देहे मुक्तः सर्वगतोदेहान्तरावच्छेदाभावात्तन्नित्यं परिमाणं, ततश्चाद्यमध्ययोरप्यवस्थयोर्नित्यत्वं स्यादतोऽविशेषः । सर्वदाऽणुर्वा महान्वा जीवोन शरीरपरिमाण इति वक्तुं शक्यते । एवं चोपचयापचयप्रतिज्ञाहानिरतोदिगम्बरमतमपि सौगतमतवदत्यन्तमनादरणीयमिति ॥ ३६ ॥

इत्येकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥ ६ ॥

## सू० पत्युरसामञ्जस्यात् ॥२।२।३७।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पाशुपतं शास्त्रमुपेक्षणीयं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणप्रतिपादकवेदविरोधित्वादुपधर्म्मप्रवृत्तकाच्च ॥ ३७ ॥

---

* सिग्वस्त्रं विगतं येभ्यस्तैर्दिगम्बरैः ।

वेदान्तकौस्तुभः।

## इदानीं पशुपतिमतं निरस्यते —

पत्युरसामञ्जस्यात् ।

वेदविरुद्धवादिनः पूर्वत्र निराकृता माहेश्वरा-अपि तादृशाएव, ते चतुर्विधाः, कापालाः, कालामुखाः, पाशुपताः, शैवाश्चेति, तत्प्रवृत्तिकारणं पशुपतिप्रणीतं शास्त्रम् । महेश्वरेण पशुपतिना प्रणीता पञ्चाध्यायी प्रसिद्धा, तत्र पञ्च पदार्थाः सन्ति । कारणं कार्य्यं योगोविधिर्दुःखान्तइति । कारणं प्रधानमीश्वरश्च, तत्र प्रधानमुपादान-कारणमीश्वरं निमित्तकारणं मन्यन्ते । कार्यं महदादि योगः "ओंकारमभिध्यायात्सकृदिति कुर्योद्धारणमि"त्येवमुक्तः । विधिस्त्रिषवणस्नानादि-गूढचर्य्यावसानः, मोक्षोदुःखान्तइति । तत्र पाशु-पताः कापालाश्च मोक्षावस्थायामात्मा पाषाण-कल्पोभवतीत्याहुः । शैवाश्चैतन्यमात्मानमुक्तमाच-क्षते । तेषामन्येऽप्युपनिबन्धाः सन्ति तत्तद्विशेष-बोधकाः । ते च माहेश्वराः भगवन्मायामोहित-बुद्धयोवेदविरुद्धं श्रेयः साधनं शिष्टैरनाचरितं यथेच्छं वदन्ति कुर्वन्ति च । यथाहुः कापालाः ।

"मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः । भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्बाणमृच्छति। कण्ठिकारुचकं चैव कुण्डलं च शिखामणिः । भस्मयज्ञोपवीतञ्च मुद्राषट्कं प्रचक्षते । आभिर्मुद्रितदेहस्तु न भूयइहजायते" इत्यादि । तथा कालामुखाः । कपालपात्रशवभस्मस्नानतत्प्राशनलगुडधारणसुराकुम्भस्थापनतदाधारदेवतापूजादिकमैहिकामुष्मिकसकलफलसाधनमि"त्याचक्षते । शैवागमेऽपि "रुद्राक्षं कङ्कणं हस्ते जटा चैका च मस्तके। कपालं भस्मना स्नानमि"त्यादि । किञ्च गर्दभीवाग्बाणपीडितमतङ्गाद्युपाख्याने महाभारते इतरजातीयस्य ब्राह्मण्यं सम्वत्सरसहस्रसंञ्चितैरपि तपोभिर्दुर्लभमिति निपुणं प्रपञ्चितम् । तदितरजातीयस्य "दीक्षाप्रवेशमात्रेण ब्राह्मणोभवती क्षणात्कापालं ब्रतमास्थाय यतिर्भवति मानवः" इत्यादिना सुलभं वदन्ति । तत्रेदमुच्यते, पत्युरित्यादि, नेत्यनुवर्त्तते । पत्युः पशुपतेर्मतं नोपपद्यते । कुतः ? असामञ्जस्यात् । "तदैक्षत बहु स्यां सच्च त्यच्चाभवदैतदात्म्यमिदमि"त्यादिश्रुतिविरुद्धकारणद्वय-

प्रतिपादनात्तन्मतस्यासामञ्जस्यात् । किञ्च प्रणवपूर्वकध्यानशवभस्मस्नानादेः परस्परविरुद्धत्वादसामञ्जस्यमेव तन्मतस्य ॥ ३७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ पशुपतिपक्षनिरासउपक्रम्यते —

पत्युरसामञ्जस्यात् ।

इयं तावत्पशुपतिमतानुगामिनां प्रक्रिया, पशुपतिनेश्वरेण प्रणीतं पञ्चाध्यायिशास्त्रं, पञ्च तत्र पदार्थानिर्णीयन्ते । कारणं, कार्यं, योगो, विधि,ः दुःखान्तः, इति । कारणं प्रधानमीश्वरश्च, कार्यं महदादि, योगोऽ"प्योङ्कारमभिध्यायात्सकृदि"ति कुर्याद्धारणामित्येवमुक्तोविधिपदार्थः, विधिस्त्रिषवणास्नानादिगूढचर्यावसानः, मोक्षोदुःखान्तः, सच तार्किकादिवत्पाषाकल्पावस्थितिः । पाशुपतकापालिकयोः शैवानां तु साङ्ख्यवच्चैतन्यात्मानस्तिष्ठन्तीति विशेषः । ते चतुर्विधाः । कापालाः कालामुख्याः पाशुपताः शैवाश्च । सर्वेऽपि वेदविरुद्धाचारान् निःश्रेयः साधनतया मन्यन्ते । निमित्तोपादानयोर्भेदं निमित्तकारणं पशुपतिं मन्यन्ते । तथैव साधनमपि मुद्रिकाषट्कधारणादि । तथा चाहुः कापालाः । मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः । भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति । कण्ठिकारुचकं चैव कुण्डलं च शिखामणिः । भस्मयज्ञोपवीतं च मुद्रापट्कं प्रचक्षते । आभिर्मुद्रितदेहस्तु न भूयइह जायते"इत्यादि । तथा कालामुखा अपि "कपालपात्रशवभस्मस्नानतत्प्राशनलगुडधारणसुराकुम्भस्थापनतदाधारदेवतापूजादिकमैहिकामुष्मिकसकलफलसाधनमि"ति मन्यन्ते "रुद्राक्षं

कङ्कणं हस्ते जटा चैक च मस्तके। कपालं भस्मना स्नानमि"-त्यादिकं शैवागमे प्रसिद्धम्"। तथा केन चित्क्रियाविशेषेणेतर-जातीयानामपि ब्राह्मणत्वप्राप्तिमुत्तमाश्रमप्राप्तिं च विदधाति। "दीक्षाप्रवेशमात्रेण ब्राह्मणोभवति क्षणात्। कापालं व्रतमास्थाय यतिर्भवति मानवः" इति, तन्निराकरोति। पत्युरिति। नेत्यनुवर्त्तते। पशुपतेः पक्षः श्रेयोऽर्थिभिर्नादरणीयः। कुतः ? असामञ्जस्यात्, वेदबाह्यत्वात्। मुद्राषट्कधारणभगासनस्थात्मध्यानसुराकुम्भस्थापन-तत्स्थदेवतार्चनगूढाचारश्मसानभस्मस्नानप्रणवपूर्वाभिध्यानादे---रन्योऽन्यविरुद्धत्वाद्वेदबाह्यधर्मत्वाच्च। तदुक्तसाधनानां वेदोक्त-वेदान्तश्रवणादिभगवदुपासनादीनां च परस्परात्यन्तविरोधाच्च। पाषाणकल्पावस्थितिरूपमोक्षस्याप्यवैदिकत्वात्, तथा पशुपते-रपि जन्यत्वेन जगत्कारणत्वासम्भवाच्च। "एको ह वै नारायण-आसीन्न ब्रह्मा नेशानः, तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षः शूल-पाणिः पुरुषोऽजायते"त्यन्वयव्यतिरेकश्रुतेस्तस्य जन्यत्वावगमात्। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय नारायणात्प्राणोजायते मनः सर्वे-न्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रः" इत्यादिश्रुतयः परब्रह्म-श्रीपुरुषोत्तमं जगदभिन्ननिमित्तोपादानं वदन्त्योऽन्यस्य वस्तु-जातस्य तदुपादेयत्वं निश्चिन्वन्ति। क्वचित् श्रूयमाणाः शिवा-दिशब्दाअपि आकाशशब्दवद्ब्रह्मपराएव। तच्च "सिद्धान्तजाह्नव्यां" श्रीदेवाचार्यपादैर्विशदं निर्णीतम्॥ ३७॥

## सू० सम्बन्धानुपपत्तेश्च॥

२।२।३८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पशुपतेरशरीरस्य प्रेरकस्य प्रेर्य्यप्रधानादिभिः सम्बन्धानुपपत्तेश्च न पशुपतिर्जगद्धेतुः ॥ ३८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ।

इतोऽपि पशुपतेर्मतं नोपपद्यते । कुतः ? पशुपतेर्निमित्तकारणस्य प्रेरकस्य प्रेर्य्यप्रधानादिभिः सम्बन्धोवाच्यस्तदनुपपत्तेः । तथाहि, माहेश्वराः पृष्टव्याः ! किं भवन्तः श्रुत्यनुसारिणः ? दृष्टानुसारिणोवा ? आद्ये, उक्तसिद्धान्तपरित्यागप्रसङ्गस्तस्य श्रुतिविरुद्धत्वात् । द्वितीये सशरीरस्यैव कुलालादेर्मृदादिसम्बन्धोदृष्टस्ततोन भवद्भिर्दृष्टानुसारिभिरशरीरस्य पशुपतेः प्रधानादिसम्बन्धः प्रतिपादयितुं शक्यः । तस्मादशरीरस्य प्रधानादिसम्बन्धतत्प्रेरकत्वाद्यसम्भवान्न जगद्धेतुत्वम् ॥ ३८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ।

पशुपतेरदेहस्य प्रधानादिसम्बन्धानुपपत्तेरपि जगद्धेतुत्वं न

सम्भवति, लोके सशरीरस्यैव कुविन्दादेस्तन्त्वादिसम्बन्धदर्शनात् ॥ ३८ ॥

# सू० अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥

२ । २ । ३९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ॥

दृष्टविरुद्धत्वान्नित्यस्योत्तरभावित्वादनित्यस्य च शरीरस्यानुपपत्तेश्च न पशुपतिर्जगद्धेतुः ॥ ३९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु सशरीरस्तर्हि स भवतु, नात्रोक्तदोष इत्यत्राह —

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।

सर्वव्यवहाराधिष्ठानं शरीरं तदनुपपत्तेस्तन्मतं नोपपद्यते । तथाहि पशुपतिशरीरस्य न तावन्नित्यत्वं सम्भवति, दृष्टविरोधात् । अन्यथा कुलालादिशरीराणामपि नित्यत्वापत्तिः स्यात् । न चानित्यत्वं तच्छरीरस्य सम्भवति, जगत्कारणस्यानित्यशरीरानर्हत्वात् । निखिलस्यानित्य-

पदार्थस्य कार्यत्वेनोत्तरभावित्वात्कारणस्य पशुपतेः पूर्ववर्त्तित्वाच्च ॥ ३९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।

पशुपतेः कुलालादिवत्प्रधानाधिष्ठातृत्वं नोपपद्यते, अशरीरत्वात्सशरीरस्यैव कुलालादेर्मृदाद्यधिष्ठातृत्वदर्शनाच्च ॥ ३९ ॥

## सू० करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः । २।२।४०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीववत्करणकलेवरकल्पनापि न सम्भवति । भोगादिप्रसक्तेः ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।

ननु यथाऽनादिसिद्धस्य जीवस्याशरीरस्य पूर्वपूर्वकरणकलेवरनिबन्धनः उत्तरोत्तरकरण-कलेवरसम्बन्धोऽस्ति, तद्वत्पशुभर्तुरपि भवतु, नेह कश्चिद्दोषइति चेन्न, भोगादिभ्योदोषेभ्यः। अयमर्थः,

यदिजीववदीश्वरस्य तादृशशरीरसम्बन्धस्तर्हि सुखदुःखभोक्तृत्वतन्निदानपुण्यापुण्यकर्मकर्त्तृत्वा-दयोदोषाः सर्वे तस्यापि भवेयुरिति ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

करणावच्चेन्न भोगादिभ्यः ।

यथाऽशरीरस्यैव जीवस्य करणकलेवराद्यधिष्ठातृत्वं, तथा पशुपतेरपि प्रधानाद्यधिष्ठातृत्वं सम्भवतीति चेन्न, कुतः ? भोगादिभ्यः स्वार्जितपुण्यादिरूपकर्मफलभोगनिमित्तं पुण्यादि-रूपादृष्टकारितं च जीवस्याधिष्ठातृत्वं, तथा पशुपतेरपि पुण्या-दियोगादीश्वरत्वासम्भवस्तस्मान्नाधिष्ठातृत्वं सम्भवति ॥ ४० ॥

## सू० अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥

२ । २ । ४१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तस्य पुण्यादिरूपादृष्टयोगेऽन्तवत्त्वमज्ञत्वं च स्यात् ॥ ४१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।

नच वाच्यमीश्वरस्य भोगादिप्रसङ्गेऽपि कोदोषः

भास्करस्योपरि प्रपतितोहिमकणः किं करिष्यतीति, अयुक्तत्वात् । अज्ञाननिबन्धनसंसारहेतुभूतपुण्यापुण्यकर्माचरणतद्विपाकभोगयोगादन्तवत्त्वं सृष्ट्यन्तःपातित्वमज्ञत्वं चेश्वरस्याप्यवश्यं स्यात् । इतरथा जीवानामप्यसंसारित्वं प्रसज्येतेति संक्षेपः । तस्मान्माहेश्वरैर्नोक्तसिद्धान्तस्य विरोधइति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

इति पशुपत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।

वाशब्दश्चार्थे । पशुपतेः पुण्यादिरूपादृष्टयोगे जीववदन्तवत्त्वं, सृष्ट्याद्यन्तःपातित्वमसर्वज्ञता च स्यादिति सङ्क्षेपः ॥ ४१ ॥

इति पशुपत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

## सू० उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ २ । २ । ४२ ।

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पुरुषमन्तरेण शक्तेः सकाशाज्जगदुत्पत्त्यसम्भवान्न तत्कारणवादोऽपि साधुः ॥ ४२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं प्रसङ्गाच्छक्तिरेव जगज्जनयित्रीति शाक्तानां भ्रान्तिं निराकरोति —

उत्पत्त्यसम्भवात् ।

नेत्यनुवर्त्तते । शक्तिर्न विश्वस्य कारणम् । कुतः ? पुरुषसंसर्गं विनाशक्तेः सकाशाद्विश्वोत्पत्तेरसम्भवात् । शक्तीनां सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गः प्रसज्येत, तासां पुरुषतन्त्रत्वाभावात् । यद्वा जगतोनित्यत्वेनोत्पत्त्यसम्भवान्न शक्तेस्तत्तद्धेतुत्वम्, जगतोजन्यत्वे प्रमाणाभावात् । वेदः प्रमाणं चेत्तर्हि तत्प्रमाणकं जगत्कारणं ब्रह्माप्यस्त्येव, निर्मूलः शक्तिकारणवादः उपेक्षणीयः ॥ ४२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उत्पत्त्यसम्भवात् ।

श्रीभगवत्प्रणीतपरमश्रेयोबोधकस्यापि भगवच्छास्त्रस्य कपिलादिशास्त्रवदप्रामाण्यमाशङ्क्य, तत्परिहरति । तत्र शङ्कते, परमात्मनः परब्रह्मणोजगदभिन्ननिमित्तोपादानाच्छ्रीवासुदेवात् सङ्कर्षणोनाम जीवोजायते, सङ्कर्षणात्प्रद्युम्नसंज्ञं मनोजायते । ततोऽनिरुद्धाख्योऽहङ्कारोजायते" इति पाञ्चरात्राणां प्रक्रिया । तत्र जीवस्योत्पत्त्यसम्भवात् श्रुतिविरुद्धैव सेति प्रतिभाति "अजोह्येकोजुषमाणः, न जायते म्रियते वे"त्यादिश्रुतेः ॥ ४२ ॥

## सू० नच कर्त्तुः करणम् ।२।२।४३॥।

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पुरुषसंसर्गोऽस्तीति, चेत्पुरुषस्य करणं नास्ति तदानीम् ॥ ४३ ।

### वेदान्तकौस्तुभः ।

न च कर्त्तुः करणम् ।

शक्त्यनुग्राहकः कर्त्ताऽस्ति, जगतोजन्यत्वमपि दृष्टानुसारेणानुमीयतेऽतोनोक्तदोषस्तर्हि कर्त्तुः करणं न सम्भवति, सृष्टेः प्राक्करणाभावात् । तदभावे पुरुषस्यानुग्राहकत्वं न सम्भवति । आकाशादेर्घटादिसादृश्याभावेन जन्यत्वं च न सिध्यति । चकारात्सति पुरुषे कर्त्तरि, न शक्तेः कारणत्वम् ॥ ४३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

न च कर्त्तुः करणम् ।

नापि कर्तुः सङ्कर्षणाख्यजीवात्सकाशात्प्रद्युम्नाख्यस्य मनसः करणस्योत्पत्तिः सम्भवति, विरुद्धत्वात् । नहि कुलालादेर्दण्डा-

दीनामुत्पत्तिः कस्य चिद्दृष्टचरोपपन्ना वेति । "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च"त्यादिश्रुतिविरोधाच्चाप्रमाणमिदमपि तन्त्रमिति प्राप्ते ॥ ४३ ॥

# सू० विज्ञानादिभावे वा तद्प्रतिषेधः ॥२।२।४४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स्वाभाविकविज्ञानादिभावे खलुजगत्कर्तृत्वकः प्रतिषेधः, स्वतोविनष्टः शक्तिवादः, ब्रह्मस्वीकारात् ॥ ४४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

विज्ञानादिभावे वा तद्प्रतिषेधः ।

वाशब्दस्त्वर्थे । स्वाभाविकज्ञानबलादिगुणगणनिकेतभूताऽन्यानिरपेक्षस्वभावास्वाश्रयाशक्तिरित्येवं भूते विज्ञानादिभावेऽङ्गीकृते तु तद्प्रतिषेधः, विश्वहेतुत्वं न प्रातिषिध्यते, सर्वोपेता चेत्यत्र सर्ववेदान्तवेद्यादेवतोक्ता सा भवद्भिः स्वीकृता, न सा कस्य चिज्जाता, सा परा देवता

ब्रह्मादिपदाभिधेयास्वत एव परास्तः शक्तिवाद-इति भावः ॥ ४४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

राद्धान्तः —

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।

वाशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । सङ्कर्षणादीनां विज्ञानादिभावे विज्ञानं च तदादि चेति विज्ञानादिब्रह्म "विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"ति श्रुत्युक्तब्रह्मभावे सति तत्प्रतिपादनपरस्यास्य तन्त्रस्य प्रमाणत्वाप्रतिषेधः । तत्प्रामाण्यं न प्रतिषिध्यते इत्यर्थः । अयमत्राभिप्रायः । प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोः शास्त्रमेकं नियामकं, तदेकगम्यत्वात्तयोः तत्र श्रुतिमूलं च प्रामाण्यं शिष्टग्राह्यं, श्रुतिविरुद्धं चाप्रामाण्यं हेयं चेति सर्वप्रमाणविदां समानम् । एवं च पञ्चरात्रस्य श्रुतिमूलत्वं, तत्तुल्यत्वेन मोक्षधर्मे श्रीसूत्रकारेणैव निर्णीतम् । "गृहस्थोब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽप्यभिक्षुकः । यइच्छेत्सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत स" इत्यादि युधिष्ठिरप्रश्नानां पञ्चरात्रोक्तप्रक्रियया ह्युत्तरं दत्त्वाह, "इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात् । आविध्यमतिमन्थानं दध्नोघृतमिवोद्धृतं । नवनीतं यथा दध्नोद्विपदां ब्राह्मणोयथा । आरण्यकं च वेदेभ्यः औषधिभ्योयथाऽमृतम् । इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितं । साङ्ख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितं इदं श्रेयइदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम । ऋग्यजुःसामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा । भविष्यति प्रमाणं वा ह्येतदेवानुशासनमिति । तथा चास्याप्रामाण्यं प्रमाणाभावाद्वा, ? निषेधाद्वेति ? नाद्यः, उक्तप्रमाणस्य सत्त्वात् । न

द्वितीयः, भारतादौ क्वाप्यदर्शनात्। नच "कापालं पञ्चरात्रञ्च यामलं वाममार्हतम्। एवं विधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि त्वि"त्यादिः। क्वचित् कूर्मपुराणादौ निषेधोदृश्यते, इति शङ्कनीयं, भारतादिविरुद्धस्मृतेरनङ्गीकारात् "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचिदि"ति सूत्रकारप्रतिज्ञावचनात्। भारतस्य तु सर्वैरपि शिष्टैर्निःसंशयेन परिग्रहान्नतत्राप्रामाण्यशङ्कावकाशः। अन्यथा भगवद्गीतायामपि तथात्वापत्तिर्दुर्वारेति तस्मान्मोहनादिशास्त्रसाहचर्य्यपाठानुपपत्त्या पञ्चरात्रशब्देन पञ्चरात्रान्तरं किमपि तन्त्रं कल्पनीयम्। किञ्च नारायणीये पञ्चरात्रप्रतिपाद्यविषयस्य निर्णयौपयिकषड्लिङ्गोपेतवाक्यसिद्धत्वादप्यस्य प्रमाणतमत्वम्। तथाहि "गृहस्थो-ब्रह्मचारी चे" त्यादिना राज्ञः प्रश्नोपक्रमः, सर्वाश्रमिणां स्वानुरूपपुरुषार्थापत्तये कोदेवोयजनीयवैश्वदेवं पैत्र्यं च कर्म कथं कर्तव्यं? विष्णुनिवेदितान्नेनेतरेण वा? किमात्मको-मोक्षः? किं सर्ववेदसारः?" इत्युपक्रमः "एष एकान्तधर्मस्ते कीर्तितोनृपसत्तम!। मया गुरुप्रसादेन दुर्विज्ञेयो-ऽकृतात्मभिरि"ति। वैशम्पायनः। एवं हि स महाभागो-नारदोगुरवे मम। श्वेतानां यतीनां चाह ह्येकान्तगतिमव्ययाम्। व्यासश्चाकथयत्प्रीत्या धर्मं पुत्राय धीमते। पञ्चरात्रविदोये च यथाक्रमपरान्नृप!"इति। भीष्मश्च "मत्तोऽन्यानि च ते राजन्नुपाख्यानशतानि वै। यानि श्रुतानि सर्वाणि तेषां सारोऽयमुद्धृतः" इत्युपसंहारः।१। ये च तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समाश्रिताः। नारायणः शाश्वतधर्मगोप्ता काम्यं नैमित्तिकं राजन्! यज्ञीयाः परमक्रियाः। सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समाहितः। पञ्चरात्रविदोमुख्यातस्य गेहे महात्मनः। प्रापणं भग-

त्प्रोक्तं भुञ्जते चाग्रभोजनमि"ति शतशोऽभ्यासः। २। नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससङ्ग्रहः। एषधर्मोजगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप ! सात्वतं विधिमास्थाय प्राक्सूर्यमुखनिःसृतमि" त्यादिनाऽपूर्वता। ३। एतदभ्यधिकं तेषां यत्तेजः प्रविशन्त्युत। अहोह्येकान्तिनः श्रेष्ठान्प्रीणाति भगवान्स्वयम्। विधिप्रयुक्तां पूजां च गृह्णाति भगवान्स्वयम् एकान्तिनस्तु पुरुषागच्छन्ति परमं पदम्। नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठोनारायणप्रियः। सहोपनिषदान्वेदान् ये विप्राः सम्यगाश्रिताः। पठन्ति विधिमास्थाय, ये चापि यतिधर्मिणः। तेभ्योविशिष्टं जानामि गतिमेकान्तिनां नृणाम्। एकान्तिनोहि पुरुषादुर्लभाबहवोनृप !। यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत्स्यात्कुरुनन्दन! अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः। भवेत्कृतयुगप्राप्तिराशीः कर्मविवर्जितैः। नारायणात्मकं मोक्षे ततोयाति परां गतिमि"त्यादिशतशः फलोक्तिः। ४। इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितं साङ्ख्ययोगेन तुल्योहि धर्मएकान्तिसेवितः सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ! ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते। यथागमं यथान्यायं निष्ठानारायणः प्रभुः। न चैनमेवं जानन्ति तमोभूताविशांपते !। तमेव शास्त्रकर्त्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः। निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति वचोमम। निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिरि" त्यादिनाऽर्थवादः। ५। किञ्च जन्मेजयेन पृष्टोवैशम्पायनः प्रतिकल्पं पञ्चरात्रं श्रीनारायणादाविर्भवति तिरोभवति च पाषण्डप्राचुर्यादिति सम्पूर्णाध्यायेनाह। "यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतं। ब्रह्मणः पृथिवीपाल ! तदानारायणः स्वयं। तेन धर्मेण कृतवान्दैवं पैत्र्यं च भारत !। फेनपाऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे। वैखानसाः फेनपेभ्योधर्ममेतं प्रपेदिरे। वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः। सोऽन्तरदधे पुनरि"त्यादिना कल्पेकल्पे सम्प्रदायपूर्वकप्रवृत्त्युक्तयो-

ऽत्रोपपत्तयः* ।६। अथ तन्निष्ठावतां ह्यन्यक्रियावद्भ्यः स्वरूपवैलक्षण्योक्तेरपि श्रेष्ठत्ववर्णनात् । "सहोपनिषदान्वेदानि" त्यादिजन्मेजयोक्तेः । एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः । इदं मे समनुप्राप्ताममदर्शनलालसाः । नतु मां ते ददृशिरे नतु द्रक्ष्यति कश्चिन । ऋते ह्येकान्तिकं चैषां त्वं च ह्येकान्तिकोममे"ति नारदं प्रतिश्वेतद्वीपपतिवचनात् । किञ्च "पञ्चरात्रविदोये च यथाक्रमपरानृप ! एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै । यद्ब्रह्मा-ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत् । शेषाश्च विबुधश्रेष्ठादैत्यदानवराक्षसाः । नागाः सुपर्णागन्धर्वाः सिद्धाराजर्षयस्तथा । हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते । कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठते । याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च एकान्तगतिबुद्धिभिस्ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् । तत्रैवाशरीरिणी वागेकतादीन्ब्रह्मपुत्रान्प्रति दृष्टावः पुरुषाः श्वेताः पञ्चेन्द्रियविवर्जिताः । दृष्टोभवति देवेश ! एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमाः । गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथा गतमितोऽचिरात् । न स शक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथञ्चन । कालं कालेन महता एकान्तत्वं समागतैः । शक्योद्रष्टुं स भगवान्प्रभामण्डलदुर्दर्श"इति श्रीनारायणोनारदं प्रति "तं देवाश्चाश्रमाश्चैव नानातनुसमाश्रिताः । भक्त्या सम्पूजयन्त्येमं गतिं चैषां ददाति स । ये तु तद्भाविताल्लोके ह्येकान्तित्वं समाश्रिताः । एतदभ्यधिकं तेषां तत्तेजः प्रविशान्त्युत । इति गुह्यसमुद्देशस्तव नारदकीर्तितः । भक्त्या प्रेम्णा च विप्रर्षे ! अस्मद्भक्त्या च ते श्रुतइति" किञ्च वेदोपबृंहणाय "भारतसंहितां" कुर्वता श्रीबादरायणेन बहुषु स्थलेषु पञ्चरात्र-

---

* उपक्रमोपसंहारअभ्यासोऽपूर्वताफले ।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

प्रामाण्यं प्रतिष्ठापितवता तर्कपादे तत्प्रामाण्यं निराक्रियते, इत्यस्यासङ्गतत्वमेव भ्रान्तत्वापत्तेः । ननु "परं तत्त्वमिदं कृत्स्नं साङ्ख्यानां विदितात्मनाम् । यदुक्तं यतिभिर्मुख्यैः कपिलादिभिरीश्वरैः । यस्मिन्नविभ्रमाः केचिद्दृश्यन्ते मनुजर्षभ ! । गुणाश्च यस्मिन्बहवोदोषहानिश्च केवले"ति कपिलमतस्यापि भारते भ्रमादिदोषाभावप्रतिपादनम् । "तथा सर्वेषु च नृपश्रेष्ठे"त्यनेन साङ्ख्यपाशुपतादीनामपि नारायणनिष्ठत्वप्रतिपादनं । "तथातमेव शास्त्रकर्त्तार"इति तच्छास्त्रकर्तॄणामपि नारायणप्रतिपादकत्वप्रतिपादनम् "साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिरि"ति साङ्ख्यादीनामात्मप्रमाणत्वप्रतिपादनं सर्वे प्रमाणं हि तथा "यथैतच्छास्त्रमुत्तममि"ति पञ्चरात्रदृष्टान्तेनेतरशास्त्राणामपि प्रामाण्यप्रतिपादनं च दृश्यते । तथात्वेऽपि शारीरके साङ्ख्यपाशुपताद्यागमानां निषेधदर्शनात्तन्न्यायेनास्यापि निषेधोयुक्तएव । नच साङ्ख्यादौ वेदविरुद्धभागस्यापि सत्त्वात्तन्मात्रनिषेधइष्टइति वाच्यं, श्रुतिविरुद्धभागस्य सङ्कर्षणाद्युत्पत्तिरूपस्यात्रापि सत्त्वात्तन्मात्रनिषेधोऽत्रापि युक्तइति चेन्न, भगवच्छास्त्रविचारशून्यानां पदवाक्यप्रमाणत्वनिर्णयाशक्तानां स्वाङ्गणोऽश्वधावनमात्रत्वात्तथा हि साङ्ख्यादीनां पौरुषेयत्वेन वेदविरुद्धांशस्यापि सम्भवात्तन्मात्रनिषेधः सूपपन्नः । प्रकृते तु "पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयमि"ति श्रीमुखनिर्गतत्वेन श्रीभगवद्गीतावत्कृत्स्नस्यापि वेदार्थरूपत्वेन प्रामाण्यतमत्वान्नोक्तन्यायस्यात्रावकाशः । नहि साङ्ख्यादीनां तत्पठनमात्रेण तत्तुल्यत्वं वक्तुं शक्यं, उक्तरीत्या तेषां षड्लिङ्गोपेतवाक्यैर्निर्णयाभावेनोक्तन्यायस्य महद्वैषम्यात् । किञ्च साङ्ख्योक्ततत्त्वानामब्रह्मात्मकतैव शारीरके निराकृता, न स्वरूपम् । योगपाशुपतादिषु चेश्वरस्य केवलं निमित्तकार-

णाता परतत्त्वविपरीतकल्पना, वेदबाह्याचारश्च, निराकृतः। न योगस्वरूपं, पशुपतिस्वरूपं, चेत्यतः, "परं तत्त्वमि"त्यादिना "साङ्ख्यं योग" इत्यादिना च तत्तदभिहिततत्त्वस्वरूपमात्रंग्राह्यं, नतु बुद्धयाद्यभिहिततत्त्ववत्सर्वं त्याज्यमित्युच्यते। नापिसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां जीवमनोऽहङ्काररूपत्वं सम्भावनार्हमपि तु श्रीवासुदेवाख्यस्य परब्रह्मणोव्यूहात्मत्वमेव। तदुक्तं पौष्करसंहितायां "कर्त्तव्यत्वेन वै यत्र चातुरात्म्यमुपासते। क्रमागतैः स्वसंज्ञाभिर्ब्राह्मणैरागमं तु तदि"ति। तच्च चातुरात्म्योपासनं परब्रह्मोपासनमेवेति। "ब्राह्मणानां हि सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनां। विवेकदं परं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदं महदि"ति सात्वतसंहितोक्तेः। "यस्मात्सम्यक्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययं। अस्मादवाप्यते शास्त्राज्ज्ञानपूर्वेण कर्मणे"ति पौष्करोक्तेर्यस्तदेव वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म यथाधिकारं भक्तैर्ज्ञानपूर्वेण कर्मणा समाराधितं सत्सम-वाप्यते। तस्मात्सङ्कर्षणादीनामपि श्रीवासुदेवस्यैव स्वेच्छाव्यूहरूपत्वम्। "अजायमानोबहुधा व्यजायत" इति श्रुतेः। "धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे" इतिगीतोक्तेः। "चतुर्विभक्तः पुरुषः स क्रीडति यथेच्छती"ति कूर्मोक्तेश्च। जीवमनोऽहङ्कारतत्त्वाधिष्ठातृत्वाच्च तेषां जीवादिशब्दैः कथनस्याविरोधः। "यथा तामापऐक्षन्त तत्तेजऐक्षते"त्यत्राबाद्यचेतनेष्वीक्षणादिचेतनासाधारणधर्मादेरनुपपत्त्याऽबादिशब्दानां तदधिष्ठातृपरत्वंतदन्तरात्मब्रह्मपरत्वं चाभ्युपगम्यते। तथा वा आकाशप्राणज्योतिरादिशब्दानां भूताकाशादौ तत्रोक्तलिङ्गानुपपत्त्या च ब्रह्मपरत्वं सूत्रितं तद्वत्प्रकृतेऽपि सूपपन्नम्॥ ४४॥

## सू० विप्रतिषेधाच्च॥२।२।४५।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

श्रुतिस्मृतिविप्रतिषेधाच्च शक्तिपक्षोऽप्रमाणिकः ॥ ४५ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

विप्रतिषेधाच्च ।

"पुरुषएवेदं सर्वं परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, अहं सर्वस्य प्रभवो-मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते " इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च शक्तिकारणवादोन मुमुक्षुभिरादरणीयः । तस्मात्सर्वेश्वरे सर्वात्मनि ब्रह्मणि श्रीकृष्णे श्रुतिसमन्वयोन कुतोऽपि विरुद्ध्यत इति सिद्धम् ॥ ४५ ॥

इत्युत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ८ ॥

# हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्तति- प्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे द्वितीयाऽध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नाप्युक्तप्रक्रिया श्रुतिविरुद्धेत्याह —

विप्रतिषेधाच्च ।

विप्रतिषिध्यते हि जीवोत्पत्तिरस्मिन्नपि शास्त्रे "अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया । त्रिगुणं कर्मणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते । व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च । सह्यनादिरनन्तश्च । परमार्थेन निश्चितः" इति परमसंहितोक्तेः । ननु तर्हि पूर्वापरविरोधादुभयविधिवाक्यानामपि हेयत्वमिति चेन्नोक्तन्यायस्य वेदे व्यापनात्तत्रापि निषेधः सावकाशः । तथाहि "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, यथाऽग्नेः क्षुद्राविस्फुलिङ्गा" इत्यारभ्य "सर्व एवात्मानोऽव्युच्चरन्ती" तीतरेतरविरोधस्य साम्यात् । न चोत्पत्तिश्रुतेर्देहयोगमात्रविधानपरत्वे तात्पर्यादविरोधः । अन्यथा "नात्मा श्रुते-रि"त्यादिवक्ष्यमाणशास्त्रबाधादिति वाच्यं, उक्तन्यायस्यात्रापि साम्यात् । किञ्च सर्वसंहितासु जीवस्य नित्यत्वनिर्णयाज्जीव-

स्वरूपोत्पत्तिः पञ्चरात्रशास्त्रनिषिद्धैव । नापि सङ्कर्षणाख्यजीवात्प्रद्युम्नाख्यस्य मनसः करणस्योत्पत्तिर्विरुद्धेति पूर्वोक्तदोषावकाशः शङ्कनीयः । सङ्कर्षणादीनां ब्रह्मत्वे सिद्धे ततोमनआदीनामुत्पत्तेः सूपपन्नत्वात् "एतस्माज्जायते प्राणः" इति श्रुतिरपि स्वार्थपरत्वेन सूपपन्ना चेति । एतेन यदुच्यते कैश्चित्प्राप्नोत्येवायमुत्पत्त्यसम्भवोदोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः । कथं यदि तावदयमभिप्रायः परस्परभिन्नाएवैते वासुदेवादयश्चत्वारईश्वरास्तुल्यधर्माणोनैषामेकात्मत्वमस्तीति ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यमेकेनेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः, सिद्धान्तहानिश्च । "भगवानेकोवासुदेवः परमार्थतत्त्वमि"त्यभ्युपगमात् । अथायमभिप्रायः, एकस्यैव भगवतएते चत्वारोव्यूहास्तुल्यधर्माणइति, तथापि तदवस्थएवोत्पत्त्यसम्भवोदोषः । नहि वासुदेवात्सङ्कर्षणोत्पत्तिः सम्भवति, सङ्कर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्यातिशयाभावात् । भवितव्यं च कार्यकारणयोरतिशयेन । यथा मृद्घटयोर्न ह्यसत्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते । नच पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिषु एकैकस्मिन्सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतः । कश्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते, वासुदेवाएव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषाइष्यन्ते । न चैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसङ्ख्यायामेवावतिष्ठेरन्, ब्रह्मादेःस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतोभगवद्व्यूहत्वावगमादिति, तन्निरस्तम् । वासुदेवस्यैकत्वेऽपि व्यूहावतारादिनावस्थाने तत्तद्रूपेण प्रादुर्भावे च विरोधाभावात्स्वरूपेणैकत्वं मूर्त्यात्मनाऽनेकत्वं च शास्त्रसम्मतमेव "अजायमानोबहुधा विजायते" इति श्रुतेः । नापि सङ्कर्षणाद्युत्पत्तिप्रकारोविरुद्धः । अधिष्ठेयानामधिष्ठातृपरत्वस्य तेजआदिदृष्टान्तेन पूर्वमेवोक्तेस्तद्वत्प्रकृतेऽपि सङ्कर्षणादिशब्दानां तदधिष्ठेयपरत्वव्याख्याने विरोधाभावात् । तथा चैवमभिप्रायः । श्रीवासुदेवात्सङ्कर्षणाधिष्ठेयसमष्टिजीव-

गतास्थूलदेहादियोगरूपोत्पत्तिः । "यथाऽग्नेः क्षुद्राविस्फुलिङ्गाः" इत्यादिश्रुतेर्नतु स्वरूपेणैव जन्म, अनित्यत्वापत्तेः । कृतनाशादिप्रसङ्गादजत्वबोधकश्रुतिविरोधाच्च । तथैव सङ्कर्षणाख्याद्ब्रह्मण एव प्रद्युम्नाधिष्ठेयमनोवर्गोत्पत्तिः, प्रद्युम्नाख्याच्च ब्रह्मण एवानिरुद्धाधिष्ठितसमष्ट्यहंकारस्येति सर्वसामञ्जस्यात् । "नारायणाज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च" तिश्रुतेः । सङ्कर्षणादिरूपादपि नारायणात्तत्तत्कार्योत्पत्तेः सम्भवात् । नचैवं श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनाप्रसङ्गइति शङ्कनीयम् । "यथाऽग्नेः क्षुद्राः" इति श्रुतिव्याख्याने सर्वेषां तुल्यत्वेन तव मतेऽप्यविशेषात् । तस्माच्छास्त्रवाक्यानामितरेतरविरोधे तद्व्यवस्थायामुक्तदोषस्यायोगात् । नापि ब्रह्मादीनां व्यूहत्वोक्तिः सुवचा, प्रमाणशून्यत्वात् । ब्रह्मेशानादीनां तज्जन्यत्वतदुपदिष्टत्वतद्दत्तैश्वर्यादिभिर्जीवत्वाविशेषात् । यच्चोच्यते "प्रतिषेधश्चास्मिञ्छास्त्रे बहुविधउपलभ्यते । गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणोज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाआत्मानएवैते भगवन्तोवासुदेवाः" इत्यादिदर्शनादिति, तन्नुच्छं, गुणादीनां श्रुतिसिद्धत्वेन स्वाभाविकत्वात् । "परास्य शक्तिरि" ति श्रुतेः । यदप्युक्तं "चतुर्वेदेषु परंश्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्यइदं शास्त्रमधीतवान्" इत्यादिवेदनिन्दादर्शनादप्यस्याप्रामाण्यमिति । तत्प्रमादिकं, तस्य तत्प्रशंसामात्रपरत्वात् । यथा श्रीनारदेन "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चममि" त्यादिना "सोऽहं भगवोमन्त्रविदेवास्मि नात्मविदि" त्यन्तेन वाक्यसमुदायेन सर्वविद्यास्थानमभिधाय, भूमविद्यातिरिक्तसर्वविद्यास्वात्मवेदनालाभोक्तिःप्रकृतभूमविद्याप्रशंसार्थकैव । सर्वविद्यास्वधीयमानासु सतीष्वपि तत्प्रतिपाद्यपरतत्त्वनिर्णयालाभनिमित्तका वा । यद्वा श्रीनारदस्य भगवतः सार्वज्ञ्ययोगेऽपि सर्वलोकोपकारार्थकावतारत्वादन्येषां गुर्वभिगमनप्रकारसंग्राहणार्थका वा, न तद्विरुद्धप्रख्यापनार्था ।

अन्यथा सर्वविद्यास्थानानां वेदादीनां सर्वेषां बाधप्रसङ्गात् । भूमविद्यायाअपि साम्नएवैकदेशत्वेन तदन्तर्भूततया तन्निषेध्यत्वविरोधाच्च । यथा वा "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति । पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रमि" त्यनुदितहोमनिन्दोदितहोमप्रशंसार्थेति । तथा प्रकृतेऽपि शाण्डिल्याख्यानवचनस्य तत्प्रशंसार्थत्वान्न वेदविरुद्धता स्फोटनार्थत्वमिति तात्पर्यार्थः । तथा च परमसंहितायां "अधीताभगवन् वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः । श्रुतानि च मयाङ्गानि वाकोऽनुवाक्ययुतानि च । न चैतेषु समस्तेषु संशयेन विना क्वचित् । श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि येन सिद्धिर्भविष्यति । वेदान्तेषु यदा सारं सङ्गृह्य भगवान्हरिः । भक्तानुकम्पया विद्वान्सञ्चिक्षेप यथा सुखमि"ति । एषामर्थः हे भगवन्साङ्गोपाङ्गावेदामया श्रुतास्तदङ्गान्यपि श्रुतानि । तथापि संशयेन विना येन सिद्धिर्भविष्यति तच्छ्रेयोमार्गं न पश्यामि निर्णेतुं न शक्नोमि । तेषां दुरवगाहत्वेन दुर्बोधनार्थकत्वात् । अतोयथा श्रीभगवान्स्वभक्तानुकम्पया तान्संशयनिरासपूर्वकं सौकर्येण वेदोक्ततत्त्वं ग्राहयितुं यथा सुखं येन सिद्धिर्भविष्यतीति विद्वान् सर्वज्ञः वेदान्तेषु यत् आसमन्ततः सारं सर्ववेदार्थतत्त्वं सङ्गृह्य, स्वासाधारणानुग्रहवशात्सञ्चिक्षेप, तद्वदस्वेति शेषः । एवं च सर्ववेदान्तवेद्योजगज्जन्मादिहेतुर्ब्रह्मेशादिकिरीटकोटीडितपादपीठोहेयधर्मास्पृष्टमहिमदिक्तटः सार्वज्ञ्यवात्सल्यकारुण्याद्यपरिमितस्वाभाविकानित्यकल्याणगुणार्णवोमुमुक्षुध्येयोभगवान्परब्रह्माख्यः श्रीवासुदेवएव परमश्रेयोज्ञापकानां ऋग्यजुःसामाथर्वसंज्ञकानां विधिनिषेधादिपञ्चविधवाक्यकदम्बरूपाणां शब्दतोऽर्थतश्च मन्निःश्वासरूपत्वेन दुर्ज्ञेयत्वान्मया विना तद्याथात्म्यस्य वेत्तुमशक्यत्वात् सुरादिभिरपि तद्याथात्म्यज्ञानाभावे श्रेयसस्तत्साधनादीनां चासिद्धेरिति निश्चित्य

तदर्थयाथात्म्योपपत्तये तत्तदधिकारीणां पुंसां स्वानुरूप-पुरुषार्थसिद्धये च स्वाश्रितानन्यजनजातमधिकृत्य, तेषां स्व-स्वरूपगुणादिविषयैकतत्त्वज्ञानोपलब्धये स्वयं तान्वेदान्पञ्च-रात्राख्यशास्त्रार्थरूपेण विषदं व्याचकार। तथा चात्र सर्वस्यापि वेदार्थस्य स्वयमेव श्रीमुखेन निर्णीतत्वात्सर्वांशेनापि तस्य प्रमाणतमत्वं सिद्धमिति सङ्क्षेपः। वस्तुतस्तु शक्तिवादनिरा-करणपरमिदमधिकरणं, न पञ्चरात्राप्रामाण्यशङ्कागन्धोऽपि। तथा हि सर्वस्यापि कर्मजातस्य तत्तच्छक्तिमत्तयैव तत्तत्कार्यकर्तृत्वं दृश्यते, न शक्तिं विना। यत्र यत्कर्तृत्वं, तत्र तच्छक्तिहेतुकं, यथा-ऽग्नेर्दाहकर्तृत्वं दाहकशक्तिहेतुकं मणिमन्त्रादिना शक्त्यवरोधे तददर्शनादतः शक्तिरेव जगज्जनयित्रीति शाक्ताआहुस्तत्राह। उत्पत्त्य-सम्भवात्। नेत्यनुवर्त्तते। नशक्तेर्विश्वहेतुत्वं सम्भवति। कुतः? उत्प-त्त्यसम्भवात्। पुरुषसंसर्गं विना तस्याः सकाशात् विश्वोत्पत्तेर-सम्भवात्। तस्याः पुरुषसंसर्गोऽस्तीति चेत्तत्राह। न च कर्त्तुःकर-णम्। तस्यापि शरीरेन्द्रियादिकरणाभावेनानुग्राहकत्वानुपपत्तेः। करणाङ्गीकारे च पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः। ननु प्राकृतकरणाभावेऽपि तस्य स्वाभाविकज्ञानबलक्रियेच्छादिकरणमस्तीति चेत्तत्राह। विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः। वाशब्दस्त्वर्थे। तस्य विज्ञाना-दिभावे तु तदप्रतिषेधः। ब्रह्मवादान्तर्गततया विश्वहेतुत्वं न प्रतिषिध्यते, ब्रह्मणोविश्वोत्पत्त्यङ्गीकारात् केवलशक्तिकारण-वादस्तु तुच्छइत्युपसंहरति, विप्रतिषेधाच्च। श्रुतिस्मृतिविरोधाच्च शक्तिवादोन श्रेयोऽर्थिभिरादरणीयइति सङ्क्षेपः॥ ४५॥

इत्युत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम्॥ ८॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां

द्वितीयध्यायस्य द्वितीयपादविवरणम्॥ २॥

श्रीमते निम्बमानन्दाय नमः ।

द्वितीयाऽध्याये तृतीयपादारम्भः ।

## सू० न वियदश्रुतेः ।२।३।१॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परपक्षेण स्वपक्षस्याऽविरुद्धत्वं निरूपित-मधुना श्रुतीनामन्योऽन्याविरोधाऽभावोनिरूप्यते । वियन्नोत्पद्यते । कुतः ? छान्दोग्ये तदुत्पत्त्यश्रव-णादिति पूर्वपक्षः ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं परपक्षाणां युक्त्याभासमूलत्वं प्रदर्श्ये-दानीं मुमुक्षूणां ब्रह्मणि जगत्कारणे श्रद्धाति-शयसिद्धये तत्कार्यभूतवियदाद्युत्पत्तिं श्रुतीनाम-न्योऽन्यतोऽविरोधं च दर्शयति —

न वियदश्रुतेः ।

वियदुत्पद्यते ? न वा ? इति संशये पूर्वपक्षः* । वियदाकाशं नोत्पद्यते, कुतः ? " अश्रुतेः "

---

* एकसूत्रेण ।

तथाहि छान्दोग्ये सृष्टिप्रकरणे आकाशवायू विना "तत्तेजोऽसृजत" त्यादिना तेजोऽबन्नानां त्रयाणामेव सृष्टिः श्रूयते इति ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

वियदादिकहेतुं च कारुण्यादिगुणार्णवम् ॥
स्वभावतोऽणुचिच्छक्तेर्भिन्नाभिन्नं हरिं भजे ॥ १ ॥

एवं सर्वस्य जगतः परब्रह्मैककारणत्वं प्रतिष्ठापयता श्रीबादरायणेन साङ्ख्यादिवेदबाह्यप्रधानादिवादानां युक्त्याभासमूलतया विप्रतिषेधाच्चासङ्गतत्वमभिधायाथेदानीं वैदिके स्वपक्षे विप्रतिषेधादिदोषगन्धस्पर्शाभावप्रदर्शनायायं परः प्रपञ्च आरभ्यते । तत्र तावदाकाश उत्पद्यते न वेति संशये पूर्वपक्षमाह —

न वियदश्रुतेः ।

न खल्वाकाश उत्पद्यते । कुतोऽश्रुतेः । छान्दोग्ये हि सृष्टिप्रकरणे "तत्तेजोऽसृजत"त्यादिना तेजोऽबन्नानां त्रयाणामेव सृष्टिरुक्ता, नाकाशस्य ॥ १ ॥

## सू० अस्ति तु २।३।२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्रोच्यते "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इति तैत्तिरीयके ऽस्ति वियदुत्पत्तिरिति ॥ २ ॥

———

वेदान्तकौस्तुभः ।

तत्राह् —

अस्ति तु ।

तुशब्दः सिद्धान्तपक्षपरिग्रहे । छान्दोग्ये आकाशोत्पत्तिश्रुत्यभावश्चेत्तैतिरीयके आकाशस्योत्पत्तिश्रुतिरस्ति "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः"इति ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इति प्राप्ते-आह —

अस्ति तु ।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । अस्ति तु वियदुत्पत्तिः "आत्मन-ः आकाशः सम्भूतः"इति तैत्तिरीयकश्रुतेः ॥ २ ॥

## सू० गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च ।

॥ २ । ३ । ३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

शङ्कते, निरवयस्याकाशस्योत्पत्त्यऽभावात् "वायुश्चान्तरिक्षश्चैतदमृतामि"ति शब्दाच्च"आकाशः सम्भूतः" इति श्रुतिर्गौणी ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं वियदुत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्योः प्राप्तं विरोधाभासं निराचिकीर्षुर्भगवान् ये केचिदाकाशोत्पत्तिं न मन्यन्ते तन्मतमाश्रित्य, शङ्क*ते —

गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च ।

ननु "तस्माद्वा एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतः" इत्याकाशोत्पत्तिवादिनी श्रुतिर्गौणी भवितुमर्हति, यथा लोके "आकाशं करोती" त्यादिप्रयोगः गौणस्तद्वत् । तत्र हेतुः । उत्पत्त्यसम्भवादिति । निरवयवस्याकाशस्योत्पत्तेरसम्भवात् । समानजातीयैः परमाणुभिः सावयवस्य भूम्यादेरुत्पत्तेरेव सम्भवात् । द्वितीयोहेतुः । शब्दादिति । "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमि" त्याकाशेऽमृतशब्दाच्च ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वेवं सत्याकाशस्योत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्योर्विरोधस्तत्र चावश्यमेकाश्रुतिर्गौणी कल्पनीयोभयोः प्रामाण्यतुल्यत्वादिति वैशेषिकमतमनुसृत्य पुनश्चोदयति —

* द्वाभ्यां सूत्राभ्यां ।

गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च ।

आकाशस्योत्पत्तिश्रुतिर्गौणी, यथा लोके "आकाशं कुरुजातमाकाशमि"त्युच्यते तद्वत्। कुतः? असम्भवात्। समानजातीयैरनेकैर्हि द्रव्यैः परमाणुसङ्घैरेकं भूम्यादिद्रव्यमारभ्यते, न च निरवयवस्य विभोराकाशस्यानेकद्रव्यमारम्भकमवयवभूतं सम्भवति, "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमि"ति वियतोऽमृतत्वशब्दाच्चाप्यजत्वम्। किञ्चाकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे "आकाशशरीरं ब्रह्मआकाशात्मे"ति तस्य ब्रह्मविशेषणत्वं न स्यात् ॥ ३ ॥

## सू० स्याच्चैकस्य ब्रह्म-शब्दवत् ॥ २।३।४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एकस्य सम्भूतशब्दस्याकाशे गौणत्वमुत्तरत्र मुख्यत्वं तु "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपोब्रह्मे"ति वत्स्यात् ॥ ४

वेदान्तकौस्तुभः ।

नन्वेकस्य सम्भूतशब्दस्याकाशे गौणत्वमुत्तरत्र मुख्यत्वं च कथं सम्भवतीत्यत्राह —

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।

यथा "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपोब्रह्मे"-

ति ब्रह्मशब्दस्य तपसि गौणत्वं, जिज्ञास्ये मुख्यत्वं, तथा सम्भूतशब्दस्याकाशे गौणत्वमुत्तरत्र मुख्यत्वमेकस्यैव स्यात् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वेकस्मिन्नेव वाक्ये सम्भूतशब्दस्याकाशोत्पत्तौ गौणत्वमुत्तरत्र मुख्यत्वमिति कथं भावनार्हमर्द्धजरतीयन्यायप्रसङ्गादिति चेत्तत्राह —

स्याच्चैकस्यापि ब्रह्मशब्दवत् ।

चशब्दः सम्भावनायाम् । एकस्यापि सम्भूतशब्दस्याकाशे गौणत्वं वाय्वादिषु च मुख्यत्वं स्यात्, ब्रह्मशब्दवत् ॥ ४ ॥

## सू० प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः । २।३।५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

शङ्का निराक्रियते, आकाशादिवस्तुजातस्य ब्रह्माऽव्यतिरेकाद्ब्रह्मविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः अनुपरोधोभवति । आकाशस्यानुत्पन्नत्वे तु सर्वविज्ञेयव्यतिरेकः स्यात्, तस्मात्सा

बाध्येत सर्वस्य ब्रह्मापृथक्त्वं च "ऐतदात्म्यमिदमि"त्यादि शब्देभ्यः ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

समाधानमाह —

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः।

आकाशोत्पत्तिवादिनी तैत्तिरीयादिश्रुतिर्मुख्या भवति, नतु गौणी। यतः आकाशादेः प्रपञ्चस्योत्पत्त्यभ्युपगमे उपादानभूताद्विज्ञेयाद्ब्रह्मणः उपादेयभूतस्य कृत्स्नस्याकाशादेः प्रपञ्चस्याव्यतिरेकाद्घटशरावादेरिवापृथक्त्वात्। "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमि" त्यादि, एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः अहानिर्भवति। अन्य*था प्रतिज्ञा हीयेत। अव्यतिरेकत्वे हेतुः। "शब्देभ्यः" इति। "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयमैतदात्म्यमिदं सर्वमि"त्यादिशब्देभ्यः। यच्चोक्तं गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्चेत्यत्र निरवयवस्योत्पत्त्यसम्भवादाकाशोत्पत्तिवादिनी श्रुतिर्गौणीति तन्न, श्रुतिनिर्णीतेऽतीन्द्रियेऽर्थे तर्काप्रवृत्तेः। कथं तर्हि

---

* आकाशादेः प्रपञ्चस्योत्पत्त्यनभ्युपगमे।

"वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतामि"त्यमृतत्वं सङ्गच्छते ? "अमरादेवाः"*इत्यादिवत् आकाशस्य चिरकाल-स्थायित्वं प्रतिपाद्यतेऽतोऽमृतत्वं संङ्गच्छते । यदप्युक्त स्याच्चकस्यापि ब्रह्मशब्दवदिति तदपि न, ब्रह्मशब्दस्य द्विप्रयुक्तत्वेन दृष्टान्तस्य वैष-म्यात् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यथा "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपोवै ब्रह्मे"त्यत्र ज्ञान-साधने तपसि ब्रह्मशब्दोगौणोजिज्ञास्ये ब्रह्मणि च मुख्यस्तद्वत् प्रकृतेऽपि सम्भाव्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते ——

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ।

"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि"ति "आत्मनि खल्वरे ! दृष्टे श्रुते मते ज्ञाते" इति सर्वं विदितमिति प्रतिवेदान्तं प्रतिश्रुता या प्रतिज्ञा, तस्याश्च प्रतिज्ञायाआकाशादि-सर्वप्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादेयत्वेजोत्पत्त्यभ्युपगमेऽनुपरोधः स्यात्, उपादेयस्योपादानाऽव्यतिरेकात्, स्वतन्त्रसत्ताभावात् । व्यतिरेके प्रतिज्ञाहानिः । प्रतिज्ञानुपरोधान्यथानुपपत्त्याकाशाद्युत्पत्तिर्मुख्यैव । प्रतिज्ञाहानौ वेदस्याप्रामाण्यप्रसङ्गादिति भावः । नाप्युक्तदृष्टान्तः साधीयान् वैषम्यात् । दृष्टान्ते ब्रह्मशब्दस्य पाठभेदादेकस्य मुख्यत्वं द्वितीयस्य च गौणत्वं सूपपन्नम् । प्रकृते तु "सम्भूत"

---

* अमरानिर्जरादेवाः ।　　इत्यमरः ।

इति शब्दस्य सकृत्पाठादुभयार्थकत्वं महद्भिरुद्धमिति सिद्धं दृष्टान्तस्य वैषम्यमित्यर्थः । किञ्च शब्देभ्यः "सदेव सौम्येदमग्र आसीदि"ति सृष्टेः प्रागेकत्वमवधार्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति चेतनाचेतनवस्तुजातस्य तदात्मकतया तदपृथक् सिद्धताविधायकशब्देभ्यः सर्वस्यापि कार्यत्वेन मुख्योत्पत्तेः सम्भवात् ॥ ५ ॥

## सू० यावद्विकारं तु विभागो-लोकवत् ॥ २ । ३ । ६॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उपसंहरति, "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"त्यादिवाक्यैराकाशादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनेन विकारत्वं निश्चीयते । तथा च यावद्विकारमुद्भवएव गम्यते। "तत्तेजोऽसृजते" त्याद्याकाशस्यानुक्तिस्तेजआदेः सृज्यत्वेनोक्तिश्च लोकवदुपपद्यते । लोके देवदत्तपुत्रपूगं निर्दिश्य, तत्र कतिपयानामुत्पत्तिकथनेन सर्वेषामुत्पत्तिरुक्ता भवति ॥ ६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु छान्दोग्ये "आकाशस्योत्पत्त्यभावादुत्पत्ति-

श्रुतिर्गौणी भवितुमर्हतीत्यत्राह —

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्।'

तुशङ्कानिवृत्तये। यावद्विकारं प्रपञ्चस्य विभाग एव गम्यते। "सदेव सौम्येदमग्र आसीदि"तीदम्पदवाच्यमाकाशादिकं सर्वं सृष्टेः प्राक्कारणात्मकं "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि"ति कारणविज्ञानेन विज्ञेयश्च छान्दोग्यश्रुतयोवदन्ति। तस्मादाकाशादिप्रपञ्चस्य छान्दोग्ये कारणाद्विभागउद्भवउक्तएव। कथं तर्हि आकाशं वायुश्चानुक्त्वा तेजआद्युद्भवउक्तस्तत्रोच्यते। "लोकवत्" लोके यथा कस्य चित्पुत्राणां मध्ये केषां चिदुत्पत्त्युक्त्या सर्वेषामुत्पत्त्युक्तिः स्यात्तथा तेजआद्युत्पत्तिवचनेनाकाशाद्युत्पत्तिरुक्तैव। तस्माद्ब्रह्मोपादानकं वियदिति सिद्धम्॥ ६॥ इति वियदधिकरणम्॥ १॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

नन्वाकाशस्यामृतत्वश्रवणादुत्पत्त्यश्रवणाच्चोत्पत्तिरनुपपन्नेति चेत्तत्राह —

यावद्विकारं तु विभागोलोकवत् ।

तुशब्दउत्पत्त्यसम्भवशङ्कानिवृत्त्यर्थः । यावद्विकारं प्रपञ्चमात्रस्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति श्रुत्या विभागउत्पत्तिरवगम्यते । लोकवदिति । यथा लोके "देवदत्तस्यैते पुत्रा" इति प्रतिज्ञाय तेषां मध्ये त्रयाणामुत्पत्तिकथने सर्वेषामुत्पत्तिलाभस्तद्वदाकाशोत्पत्तिरपि । यच्चोक्तं निरवयवस्येत्यादि तन्न, अतीन्द्रियार्थविषयया श्रुत्याऽभिहितेऽर्थे निरवयवत्वादिहेतुकस्यानुत्पत्त्यनुमानस्योदेतुमशक्यत्वात् । प्रत्युताकाशउत्पत्तिविनाशवान्, भूतत्वादनित्यगुणाश्रयत्वाच्चाग्निवत्, व्यतिरेके आत्मवच्चेत्यनुमातुं शक्यत्वात् । अमृतत्वश्रुतेरपि "अमरादेवाआयुर्घृतमि"ति वत् गौणतया बहुकालावस्थितिपरत्वमिति सङ्क्षेपः ॥ ६ ॥ इति वियदधिकरणम् ॥ १ ॥

## सू० एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ २।३।७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अनेन वियदुत्पत्तिन्यायेन वायुरपि व्याख्यातः ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं " वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतं सैषा

अनस्तमिता देवता यद्वायुरि"त्यादिवाक्यैर्वायौ नित्यत्वबुद्धिः कस्य चित्स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमाह —

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।

एतेन वियदुत्पत्तिप्रतिपादनेन मातरिश्वनो-वायोरप्युत्पुत्तिर्व्याख्याता वेदितव्या, पूर्वपक्ष-समाधानयोस्तुल्यत्वात् । अनस्तमितेतिलयप्रति-षेधस्त्वापेक्षिकः । अतोवायुरुत्पत्तिमानिति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इतिमातरिश्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।

एतेनाकाशोत्पत्तिप्रतिपादनेन वायोरुत्पत्तिरपि प्रतिपादिता भवतीत्यर्थः । "आकाशाद्वायुरि"ति श्रुतेरिति सङ्क्षेपः ॥ ७ ॥

इति मातरिश्वाधिकरणम ॥ २ ॥

## सू० असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः

॥ २ । ३ । ८ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सतोब्रह्मणोऽसम्भवोऽनुत्पत्तिरेव । जगत्कारणो-

त्पत्त्यनुपपत्तेः ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

ननु अमृतत्वेन श्रुत्युक्तयोर्वियद्वाय्वोरपि जनिर्यदस्ति तर्हि ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिरस्त्वितीमां शङ्कामिदानीं निराकरोति —

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।

सतोब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य असम्भव-एव जन्माभाव एव । कुतः ? अनुपपत्तेः। सर्वकारणस्योत्पत्त्यनुपपत्तेरन्यथा तस्यापि कारणा-न्तरं तस्यान्यत्कारणमित्यनवस्था स्यात् । "स-कारणं कारणाधिपाधिपः" इति सर्वकारणत्वश्रव-णात् "नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः" इति कारणान्तरस्य निषेधाच्च। "अतएवाजायमानोबहु-धाभ्यजायत" इति नित्यसिद्धस्याजस्यैव परम-पुरुषस्य कार्यार्थं बहुधा प्रादुर्भावे श्रूयमाणेऽपि सम्भवाभावइति सिद्धम् ॥ ८ ॥

इत्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अथाकाशवाय्वोरमृतत्वश्रवणेऽपि यद्युत्पत्तिरभ्युपगता, तर्हि

ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिः किं स्यादिति सम्भाव्याह —

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।

तुशब्द उत्पत्तिसम्भावनाव्यावृत्त्यर्थः । सतो ब्रह्मणोऽसम्भवः । जन्माभावः । कुतः ? अनुपपत्तेः उत्पत्त्यश्रवणात् । प्रत्युत "सकारणं कारणाधिपाधिपः, नचास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इति ब्रह्मणः सर्वकारणत्वमुक्त्वा तदन्यकारणस्य निषेधश्रवणादन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात्सर्वश्रुतिव्याकोपाच्च ॥ ८ ॥

इत्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ३ ॥

# सू० तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥

॥ २ । ३ । ९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पूर्वपक्षयति "मातरिश्वनस्तेजोजायते वायोरग्निरि" ति श्रुतेः ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र ब्रह्म व्यतिरिक्तस्य सर्वस्योत्पत्तिमत्त्व, ब्रह्म च जन्यत्वादिदोषास्पृष्टमित्युक्तमिदानीं क्रमतः उत्पद्यमानस्य वस्तुनस्तत्पूर्ववर्त्तिवस्तुकारणमुत तदन्तरात्मभूतं ब्रह्मेति विचार्य्यते —

तेजोऽतस्तथा ह्याह ।

तेजः वायोरुत्पद्यते, किं वा ? तदन्तरात्मभूताद्ब्रह्मणइति संशये ※ पूर्वः पक्षः । तेजः कार्यम्, अतः सन्निहितात् कारणाद्वायोरुत्पद्यते । तत्र प्रमाणमाह पूर्वपक्षी । "वायोरग्निरि"ति तैत्तिरीयकश्रुतिस्तथैवाह ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं प्रश्नान्तरेण सर्वस्योत्पत्तिमत्त्वं श्रावितमिदानीं वियदादीनि वाय्वादिकार्यं स्वयमेव स्वतन्त्रत्वेन सृजन्ति ? उत परमेश्वरएव तत्तदन्तरात्मतया सर्वं कार्यं सृजतीति ? संशये स्वयमेव स्वतन्त्रत्वेन सृजन्तीति "आकाशाद्वायुरि"त्यादिश्रुतेः परमेश्वराधिष्ठितत्वाश्रवणाच्चेति पूर्वपक्षयति —

तेजोऽतस्तथा ह्याह ।

अतोवायोस्तेजउत्पद्यते । हि निश्चये । कुतः ? श्रुतिस्तथैवाह "वायोरग्निरि"ति ॥ ६ ॥

## सू० आपः ॥ २ । ३ । १० ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तेजसआपोजायन्ते "अग्नेराप"इति श्रुतेः ॥ १० ॥

---

※ चतुर्भ्यः सूत्रेभ्यः

वेदान्तकौस्तुभः।

आपः।

अतस्तथा ह्याहेत्यनुवर्त्ततेऽतः सन्निहिता-देव तेजसआपोजायन्ते "अग्नेरापः" इति श्रुतिस्थैवाह ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

आपः।

अतइत्युनुवर्त्तते। अतस्तेजसआपउत्पद्यन्ते "अग्नेरापः" इति श्रुतेः ॥ १० ॥

## सू० पृथिवी ॥२।३।११॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

"अद्भ्योभूर्भवति "ताअन्नमसृजन्ते"ति श्रुतेः ॥ ११॥

वेदान्तकौस्तुभः।

पृथिवी।

अद्भ्यः पृथिव्युत्पद्यते "ताआपऐक्षन्त बह्व्यः प्रजायेम ही"ति "ताअन्नमसृजन्त" इति श्रुतिस्तथाह। एवं सर्वत्राव्यवहितात्कारणात्कार्योत्पत्तिर्ज्ञेयेति ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

पृथिवी ।

"अद्भ्यः पृथिव्युत्पद्यते "ताअन्नमसृजन्त" इति श्रुतेः ॥ ११ ॥

## सू० पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ २।३।१२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अन्नपदेन भूरुच्यते, महाभूताधिकारात् । "यत्कृष्णं तदन्नस्ये"ति रूपश्रवणात् "अद्भ्यः पृथिवी"ति शब्दान्तराच्च ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।

" ताअन्नमसृजन्ते"ति श्रुतिगतस्यान्नशब्दस्य प्रसङ्गात्पूर्वपक्षिमुखेनैवार्थः प्रकाश्यते । "यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवती"ति वाक्यशेषाद्व्रीहियवादिप्रकृतेनान्नशब्देन नोच्यते, किन्तु पृथिव्येवान्नशब्दवाच्या । कुतः ? " अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः " तत्र " तत्तेजोऽसृजत

तदपोऽसृजते"ति महाभूतोत्पत्त्यधिकारात् । वाक्यशेषे "यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्ये"ति पृथिव्या(दि)रूपाच्च । समानप्रकरणे "अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवीति च तद्यदपां शरः आसीत्तत्समहन्यत्सा पथिव्यभवदिति शब्दान्तराच्च ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वन्नशब्दस्यादनीये व्रीहियवादौशक्तत्वात्कथं पृथिवीवाचकत्वमित्याशङ्क्याह —

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ।

अधिकारश्च रूपं च शब्दान्तरं चेति तेभ्योहेतुभ्यः अन्नशब्दस्य पृथिवीपरत्वं निश्चीयते इत्यर्थः । तत्र "तत्तेजोऽसृजत तदपोऽसृजते"ति महाभूताधिकारदर्शनात् क्रमप्राप्तां पृथिवीमेव बोधयत्यन्नशब्दः । किञ्च "यत्कृष्णं तदन्नस्ये"ति रूपश्रवणात्, कृष्णं रूपं पृथिव्याएव । यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्ये"ति रूपविभागश्रुतेरित्यर्थः । शब्दान्तराच्च "अग्नेरापमद्भ्यः पृथिवी"ति तद्यदपां शरआसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवदि"ति श्रुतेः ॥ १२ ॥

## सू॰ तदभिध्यानात्तु तल्लिङ्गात्सः ॥ २ । ३ । १३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

सिद्धान्तयति, "बहु स्यामि"ति "तदभिध्याना-त्, तदात्मानं स्वयमकुरुते"त्यादि तज्ज्ञापकात् शास्त्राच्च परमपुरुषस्तदन्तरात्मा तत्कार्य-स्रष्टेति ॥ १३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

सिद्धान्तमाह —

तदभिध्यानात्तु तल्लिङ्गात्सः।

तुशब्दात्पूर्वपक्षोव्यावृत्तः। सएवतेजआदि-कार्य्याणां वाय्वाद्यन्तरात्मा परमकारणः सर्वेश्वरः श्रीवासुदेवः स्रष्टा। कुतः? "तदभिध्यानात्" तस्य पुरुषोत्तमस्याभिध्यानात् "बहु स्यामि"ति सङ्कल्पात्। "तल्लिङ्गात्" तज्ज्ञापकाद्वाक्यकदम्बात्। "पृथिव्यां तिष्ठन्, योऽप्सु तिष्ठन्, यस्तेजसि तिष्ठ-न्योवायौ तिष्ठन्, यआकाशे तिष्ठन्, तदात्मानं स्वयमकुरुते"त्यादेः। एतेन "तत्तेजऐक्षत ताआप-ऐक्षन्ते"त्यादावपि परस्यैवेक्षणं ज्ञेयम्। तस्मा-न्नान्यस्य वस्तुनः स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वं, सर्वत्र

मुख्योहेतुः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ १३ ॥

इति तेजोऽधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

किञ्च पृथिव्याञ्चान्नोत्पत्तिश्रवणादपि कार्यकारणयोरभेदविवक्षया तद्व्यपदेशः सूपपन्नः । "पृथिव्या ओषधय ओषधिभ्योऽन्नमि"ति श्रुतेरिति प्राप्ते राद्धान्तः —

तदभिध्यानात्तु तल्लिङ्गात्सः ।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये"ति तदीक्षणबहुभवनसङ्कल्पस्तदभिध्यानपदार्थः । तदेव तत्कारणं लिङ्गं तस्मात्स परमेश्वरएव तत्तदन्तरात्मा तत्तत्कार्यस्य स्रष्टेति निश्चीयते "यआकाशे तिष्ठन्नि"त्यादिश्रुतेः । एतेन "ततोऽपस्तृजते"त्यादिश्रुतेरपि मुख्यार्थपरत्वं निरूपितम् । तत्रापि पूर्वोक्तरीत्या परस्यैवेक्षणविधानात् ॥ १३ ॥

इति तेजोऽधिकरणम् ।

सू० विपर्ययेण तु क्रमोऽतउपपद्यते च ।२।३।१४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अतउक्तसृष्टिक्रमात्प्रातिलोम्येन प्रलयक्रमोऽ-

स्ति "पृथिव्यप्सु प्रलीयते" इत्यादिश्रुतेः । जललवणन्यायेनोपपद्यते च ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं भूतानामुत्पत्तिक्रमः संक्षेपतोनिरूपितः । अथेदानीं प्रसङ्गात्तेषां प्रलयक्रमोनिरूप्यते —

विपर्ययेण तु क्रमोऽतउपपद्यते च ।

किमुत्पत्तिक्रमेण लयक्रमः ? आहोस्विदुत्पत्तिक्रमाद्विपर्ययेण ? इति संदेहे पूर्वजस्य पदार्थस्य नाशोऽपि पाश्चात्यासम्भवादुत्पत्तिक्रमेणैवेति प्राप्ते, सिद्धान्तमाह । "विपर्ययेण तु क्रमोऽतः" इति "तस्माद्वा एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतआकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी किं तदासीत्तस्मै सहोवाच न सन्नासन्न सदसदिति तस्मात्तमः सञ्जायते तमसोभूतादिर्भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी तदण्डमभवादि"त्यादिश्रुतिप्रोक्तात् । "अनादिनिधनोदेवस्तथाऽभेद्योऽजरामरः । अव्यक्तइति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽ-

व्ययः । यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च । "सोऽसृजत्प्रथमं देवोमहान्तं नाम नामतः । महान्ससर्जाहङ्कारं सचापि भगवानथ । आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः । आकाशादभवद्वारि सलिलादग्निमारुतौ । अग्निमारुतसंयोगात्ततः समभवन्मही"त्यादिस्मृतिसहस्रप्रतिपादिताच्च । अतस्तत्त्वानामुत्पत्तिक्रमात् विपर्ययेण प्रातिलोम्येन प्रलयक्रमोबोध्यः । "पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि प्रलीयन्ते, तेजोवायौ प्रलीयते, वायुराकाशे प्रलीयते, आकाशमिन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ, भूतादिर्महति, महानव्यक्ते"इत्यादिश्रुतेः "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पथिव्यप्सु प्रलीयते, ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ विलीयते" इत्यादिस्मृतेश्च । लवणहिमादेर्जलभावदर्शनाच्चोपपद्यते च । प्रकृतिमहदहङ्काराकाशाद्युत्पत्तिक्रमे सृष्टिवाक्यैर्यदनुक्तं तत्प्रलयवाक्यादनुसंन्धेयम् । आकाशमिन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादावि"त्यस्येयं योजना । आकाश तन्मात्रेषु लीयते, तन्मात्राणि भूतादौ ताम-

साहङ्कारे लीयन्ते, इन्द्रियाणीन्द्रियेषु राजसाहङ्कारे कार्यकारणयोरभेदविवक्षयेन्द्रियशब्देनाहङ्कारस्य ग्रहणात् । पृथिव्यादीनां गन्धादितन्मात्रद्वारा लयप्रदर्शनार्थं तन्मात्रेष्विति बहुवचनम् । अहङ्कारस्य त्रिविधत्वादिन्द्रियेष्विति बहुवचनमिति । इति व्युत्क्रमेण प्रलयो न कुतोऽपि विरुध्यते इति सिद्धम् ॥ १४ ॥

इति विपर्ययाधिकरणम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ लयप्रकारमाह —

विपर्ययेण तु क्रमोऽतउपपद्यते च ।

तुशब्दः कारणलयपूर्वककार्यलयवादितार्किकादिपक्षव्यावृत्त्यर्थः । उपादानलये उपादेयस्थित्यसम्भवात् सृष्टिक्रमाद्विपर्ययेण प्रातिलोम्येन लयक्रमोबोध्यः । तत्र हेतुरतउपपद्यते चेति । अतः कार्यस्य हिमकरकादेरम्भआपत्तेर्दर्शनात्, उपपद्यते च । यस्माद्यस्योत्पत्तिस्तस्मिन्नेव तस्य लयउपपद्यते, नान्यथेति । "अन्नेन सोम्य ! शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छे"त्यादिश्रुतेः "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते । ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते, खे वायुः प्रलयं याति । मनस्याकाशमेव च । मनोहि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते । अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते । नास्ति तस्मात्परतरः पुरुषाद्वै सनातना"दित्यादिस्मृतेश्च । एतेन तदाहुः "किं तदासीत्तस्मै सहोवाच न सन्नासन्न सदसादि"ति "तस्मात्तमः सञ्जायते तमसोभूता-

दिर्भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी तदण्डमभवदि"ति सुबालोपनिषच्छ्रुतिस्तत्र तमआकाशयोर्मध्येऽक्षराव्यक्तमहदहङ्कृतादितन्मात्रेन्द्रियाणि क्रमतोज्ञेयानि । पृथिव्यप्सु प्रलीयते आपस्तेजसि प्रलीयन्ते, तेजोवायौ विलीयते, वायुराकाशे विलीयते, आकाशमिन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु. तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते, भूतादिर्महति विलीयते, महानव्यक्ते विलीयते, अव्यक्तमक्षरे विलीयते, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति, "परस्मान्न सन्नासन्न सदसदि"त्यग्रिमलयवाक्यानुरोधात् । "सहोवाच तं ह वै पूर्वं ह्येकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत्तस्मादव्यक्तमव्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरान्महान्महतोवा अहङ्कारस्तस्मादहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि तेभ्योभूतानि तैरावृतमक्षरं भवतीति गोपालोपनिषच्छ्रुतिश्च व्याख्याता । तथा हि सृष्टेः पूर्वमविनाशिवस्तु किमासीदिति शिष्यवर्गेण पृष्टोगुरुस्तस्मै ह स्फुटमुवाच । सृष्टेः प्राक् यद्वस्त्वासीत्तत्सत्स्थूलं तेजोऽबन्नरूपं नासीत्, असत्सूक्ष्मं प्रधानादिरूपं च नासीत्, सदसद्वायुरूपं च नासीत्, तर्हि किमासीदिति चेत् ? तत्तद्विलक्षणं सूक्ष्मशक्तिकं ब्रह्मैवासीदिति शेषः । तस्माद्ब्रह्मणस्तमः संजायते गुणसाम्यावस्थं प्रधानं समजायतेत्यर्थः । ततोऽक्षरं सञ्जायते, गुणसाम्यावस्थं प्रधानमेव गुणक्षोभावस्थमभवत्, ततोऽव्यक्तं सञ्जायते, गुणक्षोभावस्थं प्रधानमेव कार्योन्मुख्यावस्थमभवत्, गुणसाम्यगुणक्षोभकार्योन्मुख्यावस्थाभेदेन तमोऽक्षरमव्यक्तमिति प्रकृतेरेवावस्थात्रयं "प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययावि"ति स्मृतेः । "अव्यक्तात्त्रिविधोमहान्महतस्त्रिविधोऽहङ्कारः, सात्त्विकात्तस्मादिन्द्रियाधिष्ठात्र्योदेवता मनश्च राजसादिन्द्रियाणि तामसात्तन्मात्रद्वाराखादीनि संहतैरेतैरण्डं, तत्र हिर-

ययमर्मैपुरुषस्तत्र तदन्र्यामिनारायणस्तत्राभिपद्मे वैराजस्य भोग-विग्रहश्चतुर्मुखः, ततः चेत्रज्ञानां स्थूलदेहसंयोगेन यथावसरं जन्मेति सृष्टिक्रमस्तद्विपर्ययेण 'लयक्रमोज्ञेयः। तथाहि पृथिवी गन्धतन्मात्रद्वारा अप्सु प्रलीयते, आपोरसतन्मात्रद्वारा तेजसि, तेजोरूपतन्मात्रद्वारा वायौ, सच स्पर्श---तन्मात्रद्वारा व्योम्नि, आकाशमिन्द्रियेषु इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादावि"त्यत्र पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वेनाकाशस्तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ तामसाहङ्कारे इत्यन्वयः। तन्मात्रेष्विति बहुवचनं पृथिव्यादीनां गन्धादितन्मात्रद्वारालयप्रदर्शनार्थं, इन्द्रियाणि इन्द्रियेषु कार्यकारणयोरभेदेनेन्द्रियेषु राजसाहङ्कारे दशेन्द्रियाणि लीयन्ते। इन्द्रियेष्विति बहुवचनात्सात्त्विकाहङ्कारे तदधिष्ठात्र्योदेवता मनश्च लीयते, भूतादिस्त्रिविधोऽहङ्कारोमहति, महानव्यक्ते प्रधाने, अव्यक्तमक्षरे, प्रधानमेव कार्योन्मुखावस्थां परित्यज्य गुणक्षोभावस्थं भवति। अक्षरं तमसि प्रधानमेव गुणक्षोभावस्थां परित्यज्य गुणसाम्यावस्थं भवति, तमः परे देवे एकीभवति, तमः प्रकृतिः पुरुषेण सह परे ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे लीयतइत्यर्थः। "प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनी"ति वैष्णवात्। गोपालोपनिषच्छ्रुत्यर्थस्तु तस्माद्ब्रह्मणोऽव्यक्तं प्रधानमासीत्, अव्यक्तमेवेति एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः, यदव्यक्तं तदेवाक्षरशब्दवाच्यं, यद्वा यदव्यक्तं तदक्षरं ब्रह्मैव शक्तितद्वतोरभेदात्। तस्मादक्षराद्ब्रह्माधिष्ठितात् व्यक्तान्महानिति शेषं प्राग्वत्। तैः पञ्चीकृतैः भूतैरक्षरं जीवरूपमावृतं भवति तन्निमित्तस्थूलशरीरवान्भवतीति सृष्टिक्रमस्तद्व्युत्क्रमेण लयक्रमइति सङ्क्षेपः ॥ १४ ॥

इति विपर्ययाधिकरणम् ॥ ५ ॥

## सू० अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।२।३।१५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विज्ञानमनसी "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि चे"त्यादिलिङ्गात्परमात्मनः भूतानां चान्तराले स्यातामेवं प्राप्तेन क्रमेण पूर्वोक्तस्य क्रमस्य विरोधइति चेन्न, वाक्यस्य क्रमविशेषपरत्वाभावात् " एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि चे "त्यनेन ब्रह्मणः सकाशादेव विज्ञानमनसोः खादीनां चोत्पत्तेरविशेषात् । प्रकृते भूतोत्पत्तिक्रमप्रतिपादके वाक्ये "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुरि" त्यादौ आत्मनआकाशस्य चान्तराले सृष्टिसंहारक्रमबोधकवाक्यान्तरप्रसिद्धानि विज्ञान मनसीत्यनेनोपलक्षितानि अव्यक्तमहदहङ्कारा-

दीनि तत्त्वानि ज्ञेयानीति संक्षेपः ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

जगन्निर्गमप्रवेशस्थानभूते ब्रह्मणि श्रीवासुदेवे ध्यानश्रद्धोत्पादनाय जगद्विरागाय च जगत्सृष्टिसंहारक्रमौ निरूपितौ । इदानीं ध्यानप्रयोजकयोर्विज्ञानमनसोरुत्पत्तिक्रमोभूतक्रमाविरोधेन निरूप्यते —

अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।

ननु पूर्वोक्तोभूतोत्पत्तिक्रमः विज्ञानमनसोरुत्पत्तिक्रमेण विरुध्यते । तथाहि विज्ञायते अनेनेति विज्ञानमिन्द्रियाणि विज्ञानमसी ब्रह्मणो भूतानां चान्तराले स्यातां, कुतः? " तल्लिङ्गात् " लिङ्ग्यते ज्ञायते येनेति लिङ्गं तस्यास्तयोः सृष्टेर्लिङ्गं तल्लिङ्गं तस्मात् । " एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिःरापश्च पथिवी विश्वधारणी" ति तत्सृष्टिगमकाद्वाक्यात्, अतअनेन क्रमेणोक्तक्रमस्य विरोध इति चेन्न, कुतः? "अविशेषा-

त्" ब्रह्मणः सकाशादेव विज्ञानमनसोः खादीनां चोत्पत्तेरविशेषात् । "एतस्माज्जायते प्राण"इत्यादिवाक्यं ब्रह्मणः सकाशात्सर्वेषामुत्पत्तिमात्रं ब्रूते, न पूर्वोक्तेन क्रमेण विरुध्यते । तथैव "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियमनोऽन्नमि"त्यादयः श्रुतयोऽपि सर्वस्य ब्रह्मजन्यत्वं वदन्ति । ननु क्रमविशेषम् "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च"ति वाक्यस्थप्राणशब्दार्थस्त्वग्रे स्फुटीभविष्यति । एवं चास्ति त्वित्यनेन सूत्रकारैरेकदेशग्रहणेन संग्रहीतेष्वात्मनआकाशः सम्भूतः इत्यादिषु भूतोत्पत्तिक्रमवादिवाक्येषु सृष्टिसंहारविषयकवाक्यान्तरसिद्धस्य "विज्ञानमनसी" त्यनेनोपलक्षितस्य प्रकृतिमहदादेरनुक्तांशस्यावश्यकत्वाद्योगोऽस्ति, नतु भूतोत्पत्तिक्रमवादिवाक्यानां वाक्यान्तरेण कोऽपि विरोधोऽस्तीति सिद्धम् ॥ १५ ॥

इत्यन्तराविज्ञानमनस्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं ब्रह्मणः सकाशाद्भूतानामनुलोमप्रतिलोमाभ्यां सृष्ट्यप्य-

यक्रमौ निरूपिताविदानीमिन्द्रियमनोबुद्धीनां क्रमोभूतक्रमाविरोधेन प्रतिपाद्यते —

अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।

विज्ञानशब्देन विज्ञानसाधनत्वादिन्द्रियं बुद्धिश्च गृह्यते, तदुभयं मनश्चेति विज्ञानमनसी । ब्रह्मणोभूतानां चान्तराले विज्ञानमनसी स्यातां, तयोरपि क्रमेण तत्रैवोत्पत्तिलयावुपसंग्राह्यौ, सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वाभ्युपगमात्, तल्लिङ्गात् "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च"त्यादिलिङ्गात् । ततोभूतानां पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्गइतिचेत्तत्परिहरति । नाविशेषादिति । "एतस्माज्जायते प्राण"इत्यनेन ब्रह्मणः सकाशादेव विज्ञानमनसोः खादीनां चोत्पत्तेरविशेषात् । तथा च दर्शयति श्रुतिः "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियमन्नोन्नमि"ति सादृश्यमात्रपरा हीयं श्रुतिः"एतस्माज्जायते" इति न श्रुत्यन्तरसिद्धक्रमपरा, भूतानुग्रहसापेक्षत्वाच्चेन्द्रियाणां क्रमोन विरुद्ध्यते, भूतानुग्रहं च दर्शयति "अन्नमयं हि सौम्य मनआपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि"ति सङ्क्षेपः ॥ १५ ॥

इत्यन्तराविज्ञानमनस्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

# सू० चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ २।३।१६॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवात्मा निर्णीयते "देवदत्तोजातोमृतः" इति व्यपदेशोगौणोऽस्ति । यतः, चराचरव्यपाश्रयः । शरीरभावे जन्ममरणयोर्भावित्वात् ॥ १६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अजात् परस्माद्ब्रह्मणोवियदादेर्जनिरुक्ता, तद्वज्जीवस्य अन्यत्वमस्ति ? न वेति ? इदानीं चिन्त्यते —

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भाव-
भावित्वात् ।

अग्रिमसूत्रादात्मेतिपदं लभ्यते । आत्मा जीवात्मोत्पद्यते न वेति संशये देवदत्तोजातो-मृतइति व्यपदेशादात्मा जायते विनश्यति चेति पूर्वः पक्षस्तुः शब्देनापनीयते । यो-ऽयमात्मनउत्पत्तिविनाशयोर्व्यपदेशोलौकिकः स भाक्तः स्यात् । जीवविषये गौणोऽस्तीत्यर्थः । क तर्हि मुख्यइत्यत आह "चराचरव्यपाश्रयः" इति जङ्गमाजङ्गमशरीरविषयइत्यर्थः । कुतः ? "तद्भावभावित्वात्" तद्भावे शरीरभावे उत्प-

त्तिविनाशयोर्भावित्वात् । " अयं पुरुषोजायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः सउत्क्रामन् म्रियमाणः" इति श्रुतेः ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ जीवात्मनोजन्मादयः सन्ति ? न वा ? किं तावत्प्राप्तं, सन्तीति । कुतः ? देवदत्तोजातः अस्ति मृतइत्यादि प्रतीतेः । अत्र राद्धान्तः —

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भाव भावित्वात् ।

तस्य जीवस्योत्पत्त्यादिव्यपदेशोभाक्तः, भाज्यैकदेशे भज्यते इति तथा औपचारिकइत्यर्थः । तर्हि किं विषयकोऽयं मुख्यो-व्यपदेशइत्याशङ्क्याह । चराचरव्यपाश्रयइति । चराचरशरीरमाश्रित्य जन्मादिव्यपदेशस्य प्रवृत्तिर्नात्मस्वरूपमुपादिश्येत्यर्थः । कुतः ? तद्भावे शरीरभावे जन्ममरणयोर्भावित्वात् । "स वा अयं पुरुषो-जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन्म्रियमाण"इति स्थूलशरीरसंयोगवियोगयोरेव जन्मादिपदार्थत्वश्रवणादि-त्यर्थः ॥ १६ ॥

सू० नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ २ । ३ । १७ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

जीवात्मा नोत्पद्यते। कुतः? स्वरूपतस्तदुत्पत्तिवचनाभावात् "नजायते म्रियते वा विपश्चित् नित्योनित्यानां अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते" इत्यादिश्रुतिभ्योजीवस्य नित्यत्वावगमाच्च ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः।

ननु "स्वर्गकामोयजेते" त्यादिवाक्यात् लोकान्तरगतैश्वर्योपायादिलक्षणात् "देवदत्तोजातोमृतः" इति व्यपदेशः शरीरजन्मनाशविषयोभवतु, किन्तु सृष्टिसंहारकालिकौकिलाकाशादेरिव जीवस्यापि जन्मनाशौ स्यातां, न तथा केनापि वाक्येन कश्चिद्विरोधइत्यत्र ब्रूमः। नाऽऽत्माश्रुतेरिति आत्मेत्येकवचनं जात्यभिप्रायम्। "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामि"ति जीवबहुत्वबोधकश्रुतेः। "असन्ततेश्चाव्यतिकर"इति वक्ष्यमाणाच्च आत्मा न जायते न च म्रियते। कुतः? "अश्रुतेः" सृष्टिसंहारकालिकात्मजन्मनाशविषयकश्रुत्यभावात्। प्रत्युत ताभ्यः "अविनाशी वा अरे!

अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा, न जायते वा विपश्चित्, नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां योविदधाति कामान्, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्य आत्मनः नित्यत्वावगमाच्च। नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः । न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् । अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणोन हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ वेदाविनाशिनं नित्यं यएनमजमव्ययम् । कथं स पुरुषः पार्थ ! कं घातयति हन्ति कमि"त्यादिस्मृतिभ्यश्च । ननु "सर्वे एते आत्मानोव्युच्चरन्ति, यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिस्तोयेन जीवान्विससर्ज भूम्यां, प्रजापतिः प्रजाअसृजत स मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इत्याद्याः सचेतनजगदुत्पत्तिवादिन्यः श्रुतयः सन्ति, तस्माज्जीवस्य जन्मनाशनिषेधोन युक्तः । अतएवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धिरिति चेन्न, उक्तश्रुतीनां

प्रलयकालिकस्वास्थ्यपरित्यागपूर्वकदेहादिसंयोग-हेतुकज्ञानविकाशलक्षणजीवोद्भवबोधकत्वादेवं-सति जीवस्यापि ब्रह्मकार्यत्वात्तादृशप्रतिज्ञासिद्धे-श्च"सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयमि"त्य-विभक्तनामरूपशक्तिकं स्वसमानातिशयशून्यं कारणावस्थं ब्रह्म कार्यकालेऽभिव्यक्तनामरूप-शक्तिमत्तया स्वयमेव भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपेण त्रिधावस्थितं भवतीति, नेह केन चिद्वाक्येन विरोधः इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

इत्यात्माधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

नन्वग्निविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तैरात्मजन्मादेः श्रूयमाणत्वात्कथं भाक्तत्वमित्याशङ्क्य समाधत्ते —

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः।

आत्मा जीवात्मा स्वरूपेण नोत्पद्यते। कुतः? "अश्रुतेः" सृष्टिप्रकरणेषु तज्जन्मादेरश्रवणात् उक्तश्रुतेः पूर्वोक्तरीत्या भाक्तत्वमेव। किञ्च तस्य ताभ्यः श्रुतिभ्यएव नित्यत्वावगमात्। "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानां अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः, अजो-नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः"इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। न चैवमेक-विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्गइति वाच्यं, तस्य तदात्मकत्वा-

विना तदपृथक्सिद्धत्वाभ्युपगमात्स्वतन्त्रसत्तानश्रयत्वाच्चेति सङ्क्षेप ॥ १७ ॥ इत्यात्माधिकरणम् ॥ ७ ॥

## सू० ज्ञोऽतएव ॥ १ । ३ । १८ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अहमर्थभूतआत्मा ज्ञाता भवति ॥ १८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं वियदादिवज्जीवोनोत्पद्यते श्रुतिभ्यो-नित्यत्वादित्युक्तमिदानीं प्रसङ्गात्तत्स्वरूपादि-निर्णीयते —

ज्ञोऽतएव ।

पूर्वसूत्रादात्मेत्यनुवर्त्तते । अतइत्यनेन ताभ्यइति हेतुः परामृश्यते । किमात्मा ज्ञान-गुणकोजडस्वरूपः ? किम्वा चिन्मात्रमथवा-ज्ञानस्वरूपोज्ञातृत्ववानिति ? संशये वैशेषिकादय-श्चाहुः, ज्ञानगुणकोजडइति । साङ्ख्यादयश्चिन्मात्र-मात्मेति वदन्तीत्यत्रोच्यते, "ज्ञ" इति जीवा-त्मा ज्ञएव ज्ञानस्वरूपत्वे सति ज्ञातृत्ववा-नेव । कुतः ? "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः

भवति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्यतेऽविनाशित्वात्, विज्ञातारमरे ! केन विजानीयात्, जानात्येवायं पुरुषः, एषहि द्रष्टा श्रोता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मे"त्यादिश्रुतिभ्यः। जडात्मवादस्तु गुणभूतस्य ज्ञानस्यैव सर्वव्यवहारनिर्वाहकत्वेन प्राधान्यप्रसङ्गाज्जडस्य गुणिनोमोक्षबन्धगुणदोषानर्हत्वेनाजागलस्तनवदप्राधान्यप्रसङ्गात्, श्रुतिविरुद्धत्वाच्चोपेक्षणीयः । चैतन्यमात्रवादोऽपि चैतन्यमात्रस्य सर्वगत्वे सर्वशरीरगतसुखाद्यनुभवानुपलम्भात् । अणुपरिमाणत्वे च करचरणादिगतसुखाद्यनुभवाभावप्रसङ्गाच्चोपेक्षणीयः । तस्मादहंप्रत्ययगोचरोऽयमात्मा ज्ञानस्वरूपोज्ञातेति सिद्धम् ॥ १८ ॥

इति ज्ञाधिकरणम् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ किं प्रत्यगात्मस्वरूपमित्यपेक्षायां तन्निर्णीयते, तथाहि सकिंश्चार्वाकाभिमतदेहरूप ? उत दिगम्बराभिमतदेहातिरिक्ततत्परिमाणकोवा ? लोकायतिकाभिमतभूतचतुष्टयसमुदायोवा ? वैभाषिकाभिमतक्षणिकवाह्यार्थोवा ? योगाचाराभिमतक्षणिक-

विज्ञानमेव वा ? माध्यमिकाभिमतशून्यमेववा ? इन्द्रियाण्येव वा ? मनोबुद्धिर्वा ? प्राणोवा ? तार्किकाभिमतदेहेन्द्रियादिभिन्नोज्ञानेच्छादिप्रयत्नाद्याश्रयोविभुः प्रतिदेहं भिन्नआगन्तुकचैतन्यगुणोवा ? साङ्ख्याद्यभिमतचिन्मात्रमेव वा ? देहादिभिन्नोज्ञानस्वरूपोज्ञातृत्वादिधर्म्माश्रयोवेति । तत्र नाद्यः देहे मृते चैतन्यानुपलब्धेः । देहोनात्मा भौतिकत्वात् घटादिवदित्यनुमानात् । न द्वितीयः अनित्यत्वापत्तेः, देहपरिमाणकोनात्मा, सावयवत्वात् घटादिवत् । न तृतीयः सङ्घातत्वात्, भूतचतुष्कसमूहोनात्मा सङ्घातत्वात्, व्रीह्यादिराशिवत् । न तुर्य्यः भौतिकत्वात्, क्षणिकबाह्यार्थोनात्मा जडत्वात् घटादिवत् । न पञ्चमः क्षणिकत्वात् क्षणिकविज्ञानं नात्मा क्षणिकत्वात् शब्दादिवत् । न षष्ठः शून्यं नात्मा जडत्वादाकाशवत् । न सप्तमः स्वापादौ तल्लयात्, इन्द्रियवर्गोनात्मा सर्वावस्थाऽननुगतत्वात् देहवत् करणत्वाद्वास्यादिवच्च । नाष्टमः मनोबुद्धिश्च नात्मान्तःकरणत्वाद्वाह्यकरणवत् । न नवमः जडत्वात् सुषुप्तौ चौरादिभिर्भूषणादौ मुषिते चैतन्याभावेनाऽननुभूयमानत्वात्, प्राणोनात्मा वायुत्वात् व्यजनजन्यवायुवदित्यनुमानेभ्यः देहादिबुद्धिपर्यन्तः पदार्थोयद्यनात्मा न स्यात्तर्हि घटादिवद्ध्वंसाभावप्रतियोग्यपि न स्यात्, प्रत्यक्षगृहीतध्वंसाभावप्रतियोगित्वान्यथानुपपत्त्यापि देहादेरनात्मत्वं, एवमग्रेऽप्यूह्यं, इन्द्रियमनोबुद्ध्यादयोयद्यनात्मभूता न स्युस्तर्हि वास्यादिवज्जाग्रदादिसर्वावस्थाननुगतानस्युः, प्राणोयदि बाह्यवायुवज्जन्यो न स्यात् तर्हि घटादिवदचेतनोऽपि न स्यादित्याद्यर्थापत्तिभ्यश्च । नापि दशमोऽसम्भवात् । तथाहि आत्मनोविभुत्वे चैत्रचरणप्रविष्टकण्टकादिजन्यदुःखानुभवकाले सर्वेषामप्यात्मनां तत्रसत्त्वेन वेदनानुभवप्रसक्तस्तत्र विनिगमनाभावेनासम्भावितत्वाऽवगमात् । न च यस्य शरीरे कण्टकवेधादितस्यैव वेदनानुभवोनान्येषामिति

व्यवस्थाङ्गीकारान्नोक्तदोषप्रसङ्ग इति वाच्यम्, सर्वेषां सान्निध्याविशेषे एकस्यैवानुभवो नान्येषामिति नियन्तुमशक्यत्वात् । न च यदृष्टोत्पादितं शरीरं तत्तदीयमिति नियम इति वाच्यम्, अदृष्टस्याप्युक्तन्यायेन नियामकत्वासम्भवात् । यदा हि तादृशादृष्टोत्पादनार्थेकेन संयुज्यते मनस्तदान्यैरपि मनोयोगस्याविशेषात् । कथमिव कारणासाधारण्ये क्वचिदेवादृष्टोत्पत्तिर्नान्यत्रेति । ननु मनः संयोगासाधारण्येऽपि अहमिदं फलं प्राप्स्यामीत्यभिसन्धिरदृष्टोत्पादककर्मानुकूलकृतिरित्येवमादिव्यवस्थानमिति तत एवादृष्टनियमो भविष्यतीति चेन्न, अभिसन्ध्यादीनामपि साधारणमनः संयोगनिष्पाद्यतया व्यवस्थित्यसिद्धेः । ननु स्वकीयमनस्संयोगोऽभिसन्ध्यादिकारणमिति　　ममस्संयोगएवासाधारणो भविष्यतीति चेन्न, नित्यं सर्वात्मसंयुक्तं मनः कस्य चिद्वेति नियन्तुमशक्यत्वात् । नचादृष्टविशेषादात्मविशेषेण मनसः स्वस्वामिभावसिद्धिरिति वाच्यम्, तस्याप्यदृष्टस्य पूर्ववद्व्यवस्थित्यसिद्धेः।नचात्मनां विभुत्वेऽपि तेषां प्रदेशविशेषा एव बन्धभाज इत्यात्मान्तराणां चैत्रशरीरे तत्र प्रदेशविशेषाभावात् सुखदुःखादिव्यवस्था भविष्यतीति वाच्यम्, यस्मिन्प्रदेशे चैत्रः सुखाद्यनुभूयस्तस्माद्देशादपक्रान्तस्तस्मिन्नेव मैत्रे समागते सति तस्यापि तत्र सुखादिदर्शनेन शरीरान्तरे आत्मान्तरप्रदेशविशेषस्याप्यन्तर्भावात् । तस्माद्विभुत्वात्म-वादितार्किकादीनां व्यवस्था सुदुर्घटेति सङ्क्षेपः । नाप्यागन्तुकचैतन्यगुणः एवं हि ते मन्यन्ते आत्मनश्चैतन्यमात्ममनः संयोगजं अग्निघटसंयोगजरोहितादिगुणवत् नित्यचैतन्यत्वे हि सुप्तमूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैतन्यं स्यादतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्यआत्मेति तन्न, "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवती"ति "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वादि" त्यादिश्रुतिविरोधात्, सुप्तिमूर्च्छादौ तु सदेव--

ज्ञानं कर्मणा सङ्कुचितमनभिव्यक्तमपि जागरादौ विका-शितमभिव्यज्यत इति न विरोधः । यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात्, तद्वत् प्रत्यगात्मा ज्ञानस्वरूपः चेतनत्वात् स्वप्रकाशत्वादचिद्भिन्नत्वाच्च ब्रह्म-वत्, प्रत्यगात्मा यदि ज्ञानस्वरूपो न स्यात्तर्हि देहादिप्रकाश-कोऽपि न स्यात् "योऽयं विज्ञानघनः" इति श्रुतेः, एतेन मीमां-सकपक्षोऽपि निरस्तः दोषतुल्यत्वात्, इयांस्तु विशेषः तन्मते आत्मवन्मनसामपि विभुः परिमाणकत्वमिति तथा च तत्रापि सर्वैर्मनोभिः सर्वेषां जीवात्मनां संयोगादेः साम्यम् । किञ्चा-त्मवत् सर्वैरपि चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः साकं मनस्संयोगस्य साम्यात्, श्रवणस्पर्शनादिज्ञानानां युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गोदुर्वारइति दोषविशेषश्चिन्तनीयः, दुग्धादिभिर्द्रव्यैर्मनोयोगस्य युगपत्सद्भा-वात् । नच श्रावणादिज्ञाने श्रवणादिभिरिन्द्रियैः शब्दादि-योगस्यासाधारणहेतुत्वात् मनोभिर्विषयसन्निकर्षेऽपि ज्ञानानु-त्पत्तिः सुवचेति वाच्यम्, मनसामिन्द्रियैर्नित्यसंयोगस्य सत्वे-नेन्द्रियसंयुक्तमनसां विषयसन्निकर्षाविशेषात् । किञ्च अस्तु वा कयाचित्कूटकल्पनया सुषुप्त्यादौ बाह्यश्रवणादिज्ञाना-नुत्पत्तिः मनोविषयसंयोगस्य सत्त्वेऽपि तत्रेन्द्रियसंन्निकर्षाभावात् तथापि जाग्रदादौ इन्द्रियसंयुक्तमनसां शब्दादिभिर्नित्यसंयोगस्य दुर्वारत्वेन शब्दादित्वावच्छिन्नशब्दादिमात्रविषयकज्ञानस्योत्पत्ते-रवश्यं भावात्, मनस्त्वावच्छिन्नैर्मनइन्द्रियसंयोगाभावेऽपि शब्दा दित्वावच्छिन्नविषयस्मरणस्य सदासद्भावापत्तेश्चेत्यलं विस्तरेण । नापि चिन्मात्रत्वेति पक्षः सम्भवति "विज्ञातारमरे! केन विजा नीयात्, जानात्येवायं पुरुषः, एषएव हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" इत्यादिश्रुति-व्याकोपात् । तस्माच्चरमएव पक्षः सूत्रकाराभिमतइत्याह —

ज्ञोऽत एव ।

अयमात्मा ज्ञएव ज्ञानस्वरूपत्वे सति ज्ञातृस्वरूपएव, न पाषाणकल्पः नापिगानमात्रं कुतः ? अतएव श्रुतिभ्यएवेत्यर्थः । श्रुतयस्तु पूर्वमुदाहृताबोध्याः । प्रत्यगात्मा ज्ञाता आत्मत्वात्, ब्रह्मवत्, प्रत्यगात्मा यदि ज्ञानाश्रयो न स्यात्तर्हि तदुपदेशशास्त्र-स्य सार्थक्यमपि न स्यात् "जानात्येवायमि"ति पूर्वोक्तश्रुतेः । ननु ज्ञानाख्यधर्मस्य स्वरूपज्ञानतोऽत्यन्तसाजात्यात् कथमिवा-धाराधेयभावः ? जलेक्षिप्तस्य जलान्तरस्याधाराधेयभावादर्शना-दिति चेन्न, विषमदृष्टान्तत्वात् । जलयोर्द्रव्यत्वाद्भेदानुपलब्धि-रिष्टापन्नाअत्यन्तसाजात्यात् । परन्तु सावयव द्रव्यत्वेन भेदस्य तत्राप्यनुमेयत्वात् । अन्यथा वृद्धिह्रासानुपपत्तेः । प्रकृते तु धर्मत्वधर्मित्वयोरवच्छेदकत्वान्नोक्तदोषावकाशः । मणिद्युमण्या-दिष्वाधाराधेयभेदस्य प्रत्यक्षोपलभ्यमानत्वात्, प्रकृष्टप्रभावान् सूर्यइत्यादिप्रतीतेश्च । नच मण्याद्यवयवेष्वेव प्रभात्वव्यवहारः, सूर्यस्यावयवाएव विशीर्य्यमाणालोके व्याप्नुवन्तीति वाच्यम्, कालान्तरेद्रव्यनाशप्रसङ्गात् । नच तत्रावयवान्तरोत्पत्तिः कल्पनी-येति वाच्यम्,*(त्वदुराशेतर)प्रमाणाभावात् । प्रभातद्वतोर्भेदस्य च प्रमाणसिद्धत्वात् । "रामेणानुगता सीता भास्करेण प्रभा यथे"ति सर्वज्ञश्रीवाल्मीक्युक्तेः । अन्यथा रजतादिसम्पुटनिहि-तायाः कस्तूरिकायाअवयवनाशे कालान्तरे सर्वस्याअप्यनुपलब्धि-प्रसङ्गः स्यात् । तस्माद्यथा सूर्यतत्प्रभयोस्तैजसत्वाविशेषेऽपि सूर्यत्वप्रभात्वावच्छिन्नतयाऽऽधाराधेयभावः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः तथा प्रकृतेऽपि उभयोर्ज्ञानत्वसामान्येऽपि धर्मत्वधर्मित्वावच्छिन्न-तया तथात्वस्य सामञ्जस्यादिति उपलक्षणं चैतदहमर्थस्यापि

---

* ( तदुत्पादे प्रबलतर ) इति पाठो भाति । पुस्तक चतुष्ट-येतु यथा मुद्रितमेव ।

ज्ञात्रभिन्नाहमर्थस्वरूपइत्यर्थः । अहं जानामि अहं करोमि अहं वै त्वमसि देवते? त्वं वा अहमस्मी"त्यादिभ्यः । यत्तु कैश्चिदुच्यते सत्यमनिदं चैतन्यम् अनृतं युष्मदर्थोचेतनस्तयोर्मिथुनी करणमध्यासः । तत्राहमित्याध्यात्मिककार्याध्यासेषु प्रथमोध्यासइतिसत्यानृतेमिथुनीकृत्याहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारइति श्रीभगवत्पादभाष्यकारोक्तेस्तस्मादहमर्थोनात्मा सुषुप्तौ स्वप्रकाशस्यात्मनः सत्वेऽप्येवंविधस्याहमर्थस्याभावात् "अथातोहङ्कारादेशः अथातआत्मादेशः" इत्यादिश्रुत्योभयोः पार्थक्योपदेशात्, "अहङ्कारइतीयं मे भिन्नाप्रकृतिरष्टधे"ति स्मृत्या च क्षेत्रान्तःपातित्वोपदेशादहमर्थोनात्मा, सुषुप्त्याद्यवस्थाननुगतत्वात्, स्थूलदेहादिवत् करणत्वाच्च, चक्षुरादिवदित्यनुमानाद्धेत्यादि तन्न सम्यक्, असम्भवात् । तथाहि इदं रजतमिदं जलमयं सर्पइत्यादिवदध्यासमात्रस्याधिष्ठानारोप्यांशद्वयभानवत्त्वात् । अहमर्थेऽशद्वयभानाभावात् । नन्वयोदहतीति वदहमुपलभे इति दृक्दृश्ययोरुपलम्भादस्त्यंशद्वयभानमिति चेन्न, उक्तवाक्यस्याग्निना सिञ्चेदिति वद्वाक्याभासत्वेन त्वदीयकल्पनामात्रत्वात् । किञ्चायोदहतीत्यस्य वाक्यत्वेन तत्राप्यंशद्वयस्य न भानम्; अन्यथाग्निना सिञ्चेदित्यत्राप्यध्यासोऽभ्युपगन्तव्यः पण्डितम्मन्यैः । किं चास्तु वा अयोदहतीत्यस्य प्रामाण्यं तत्रायःशब्दोऽजहल्लक्षणया दाहाश्रयाग्निविशिष्टायोऽर्थे वर्त्तमानतया लाक्षणिकएव । शोणोधावतीतिवत् अग्निर्माणवकइति वद्वा तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वात् । अन्यथात्राप्यध्यासः कल्पनीयोमनीषिभिः । अननुभूयमाने हि द्व्यंशताकल्पने मानाभावात् । अन्यथात्मेत्यत्रापि द्व्यंशताकल्पनापत्तेः, नाप्यहमुपलभे इत्यत्र द्व्यंशताभानसम्भवः ब्रह्म स्फुरति आत्मास्ति चैतन्यं भातीत्यादावपि द्व्यंशतापत्तेः । तस्माद्द्व्यंशताभानाभावादहमर्थ आत्मैवेति सिद्धम् द्व्यंशतापि

न च भाति चेतनेऽहं प्रतीतिविषयेऽहमर्थके इति पूर्वाचार्यो-क्तेः । ननु यद्यात्मस्वरूपमेवाहमर्थोऽभिप्रेतश्चेत्तर्हि सुषुप्त्यादौ किमिति न स्फुरतीति चेन्मैवं, अहमर्थस्तावदिच्छादिविशिष्ट एव स्फुरतीत्यावयोर्निर्विवादत्वात्समम् । सुषुप्तौ चेच्छादेरभावादहमर्थस्य विशेषाऽननुभवोऽविरुद्ध इति ब्रूमः । एवमहं सुखीच्छामी"ति प्रतीतिभिन्नात्मविषयकप्रतीतेरसत्त्वेनात्मनोऽपीच्छादिविशिष्टतयैव ग्रहणम्, इच्छादिग्रहं विनात्मग्रहाङ्गीकारश्चेदहमर्थस्याप्यङ्गीकारस्ततेरभावात्, सुखत्वेनात्मनोऽनुभव इति चेत्तर्हि " सुखमहमस्वाप्समि "त्यहमर्थस्यैव सुखत्वेनानुभवादात्मत्वमविरुद्धमिति "न किञ्चिदवेदिषमि"त्यज्ञानाश्रयत्वेनानुभवाच्च । ननु सुषुप्तौ नाहमर्थानुभवः, नच परामर्शानुपपत्तिरिति वाच्यम्, परामृश्यमानश्चात्मा इदानीं जातेनान्तःकरणेनाहमर्थेनावच्छेदादहं त्वं गतस्तथात्वे नानुभूयते तथाच नोक्तपरामर्शानुपपत्तिरितिचेन्न, न किञ्चिदहमवेदिषमित्याद्यावज्ञानाद्यंशेऽप्यपरामर्शत्वप्रसङ्गात् । नह्यज्ञानादिकं निराश्रयमन्याश्रयं वा परामृश्यते, किन्त्वहमर्थाश्रयं एतावन्तं कालं स्वप्नं पश्यन्नासं जाग्रद्वासमित्यत्रेवाहमस्वाप्समित्यत्राप्यहमंशे परामर्शानुभवाच्च । अन्यथा यः पूर्वं दुःखी सोऽधुना सुखीजातइति यद्यः पूर्वं मदन्यः सुप्तः सोऽधुनाहं जातइति धीः स्यात् । ननु जागरे समुत्पन्नेऽनुभूयमानेऽहमर्थे परामृश्यमानात्माऽभेदारोपात्परामर्शत्वोपपत्तिरिति चेन्न, इदं रूप्यमित्यादावारोप्याभिन्नतयेदमर्थस्येवाहमित्यत्राहमर्थाभिन्नतयात्मनोप्रतीतेः, अन्यथैतावन्तं कालं सुप्तोहमन्योवेति कदाचित्संशयः स्यान्नत्वहमेवेति निश्चयः । नच सुषुप्तिकालानुभूतात्मैक्याध्यासान्निश्चयोपपत्तिरिति वाच्यम्, अहमर्थातिरिक्तात्मानुभवस्यालीकत्वात् । नच परामृश्यमानात्मैक्यारोपात्तदुपपत्तिरिति वाच्यम्, अपरा-

मर्शे परामर्शारोपस्य काप्यदर्शनात् सिद्धेऽहमर्थस्यात्मान्यत्वे परामृश्यमानात्मैक्यारोपः, सिद्धे च तस्मिन्सुषुप्तावप्रकाशेनाहमर्थस्यात्मान्यत्वमित्यन्योन्याश्रयापत्तेश्च । एतेन सुषुप्तावहमर्थप्रकाशे स्मर्येत-ह्यस्तनइवाहमर्थइति निरस्तम्, अहंशब्दोल्लेखितपरामर्शापादने सुषुप्तौ तदुल्लेख्यनुभवाभावादेव तदभावोपपत्तेः । तावन्मात्रे च ह्यस्तनवैषम्यात् अहमर्थविशेष्यकस्याहम्प्रकारस्य च परामर्शापादने इष्टापत्तेः । "एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्समि"ति सुषुप्तिकालीनसुखावच्छिन्नोऽहमर्थइति स्मृतेश्च, अन्यथास्मर्येत-ह्यस्तनइवाहमर्थइति चोद्यं निरुत्तरं स्यात् । ननु तथाप्येतावन्तं कालमहमित्यभिमन्यमानआसमिति परामर्शः स्यादिति चेन्न, कर्णौ स्पृष्टः कटिं चालयसि अहमर्थप्रकाशेन तदभिमानपरामर्शापादनस्य व्यधिकरणत्वात् । अन्यथा तवापि आत्मेत्यभिमन्यमानआसमिति परामर्शः स्यात्, तस्मात्सुषुप्तावहमर्थः प्रकाशत एव, अपि च सुषुप्तावहमर्थाभावेऽहं निर्दुःखस्यामितीच्छया सुषुप्त्यर्थप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । योऽहं सुप्तः सएव जागर्मीति प्रत्यभिज्ञा न स्यात् । योऽहं पूर्वं द्युरकार्षं सोहमद्य करोमीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिश्च । ननु कृशोऽहं स्थूलः स्यामिति वत्प्रवृत्त्युपपत्तिरिति चेन्न, काश्र्यस्य परम्परासम्बन्धेनारोपितस्यानारोपितस्य वाहमर्थस्य विद्यमानत्वे प्रवृत्त्युपपत्तावपि सुषुप्तावहमर्थस्य नाशात्तदानींतनसुखादिसम्बन्धाभावेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । विवेकिनां मम देहः स्थूलः स्यादितीच्छयैव प्रवृत्तेश्च । नहि ममात्मा निर्दुःखः स्यादितीच्छया कस्यापि सुषुप्तौ प्रवृत्तिर्दृश्यते, तस्माद्दृष्टान्तानुपपत्तिरेव वैषम्यात् । अहंव्यक्तिभेदात् कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च । कर्तुर्भोक्तुश्चाहमर्थस्य भेदात् । अभिन्ने च चैतन्ये कर्तृत्वाद्यभावात्, कर्तृत्वाद्यारोपस्य च देहादावपि सत्त्वात्, अहं करोमीत्येव प्रतीत्याहमर्थोऽन्यात्मनि कर्तृत्वाद्यारोपस्याप्य-

भावाच्च । अन्यथाऽऽत्माकरोतीति प्रतीतिः स्यात् । नच सुषुप्तौ कारणात्मना स्थि...त्पत्त्यङ्गीकाराज्ज्ञानुपपत्तिरिति वाच्यम्, कर्तृभोक्तृकारणस्य क...आदिशून्यस्य स्थितावपि कृतहान्यादेरनुद्धारात् । किञ्च त्वन्मतेऽहङ्कारएव क्रियाशक्त्याप्राणः विज्ञानशक्त्या मनइति, तथा च सुषुप्तौ लये प्राणकार्यं निःश्वासादिनस्यात् । ननु प्राणस्याहङ्काराद्भेदपक्षेऽहङ्कारस्य लयोयुक्तः । अभेदपक्षेऽपि प्राणांशविहीनस्य लयाङ्गीकारान्नोक्तदोषइति चेन्न, प्राणस्याहमर्थत्वाभावे कर्तृत्वस्य प्राणोपाधिकत्वेनाहङ्कर्त्तेति बुद्धचयोगात् । अहमर्थत्वे तु सुषुप्तावप्यहमुल्लेखापातात् । ननु पूर्वोक्तयोः श्रुतिस्मृत्योरनुमानस्य च विरोधस्तदवस्थएव शास्त्रबाधस्तु तवाप्यनिष्टइति चेन्न, श्रुत्यादेरन्यविषयत्वेन बाधाभावात्, तत्र "अथातोऽहङ्कारादेशः" इत्यादि श्रुतिस्मृत्योः "सर्वोऽभिमानोऽहङ्कार" इत्यभिधानात् । गर्वादिवाचकाहङ्कारोविषयः सतु प्राकृतएव "अहङ्कारश्चाहं कर्त्तव्यश्चे"ति श्रुत्यन्तरात् । सच मान्तोऽव्ययरूपः कारप्रत्ययान्तः, आत्मवाच्यहंशब्दस्तु दकारान्तोऽस्मच्छब्दस्तस्मादुभयोरर्थतः शब्दतश्च भेदान्नोक्तदोषावकाशः । नचोभयोरप्यहङ्कारे एव शक्तिरिति वाच्यम्, अहङ्कारस्यानेकप्रयोगदर्शनेनैकत्रशक्तेर्नियन्तुमशक्यत्वात् । अहंशब्दस्त्वहङ्कारशब्दवदात्मभिन्ने प्रयोगप्राचुर्याभावादात्मपरएवेति भावः । एवमहमर्थस्य सर्वावस्थानुगतत्वसिद्ध्या परोक्तानुमानवृत्तिर्हेतोः स्वरूपासिद्धत्वेनाप्रमाणत्वं सुप्रसिद्धम् । ननु ज्ञातुस्सद्भावे किमिति विशेषज्ञानं न स्यादिति चेन्न, तत्र विषयाभावात्, नहि ज्ञातुः सत्त्वमात्रं विषयानुभवे प्रयोजकम्, अपितु विषयसत्त्वसहकृतमेव तस्माज्ज्ञातुः सत्त्वेऽपि विषयाभावाद्विशेषज्ञानानुदयोविरुद्धइति भावः । नचैतावन्तं कालं मामप्यहन्नावेदिषमित्यस्मदर्थाभावविषयकप्रत्ययस्य "नजानात्ययमहमस्मी"ति श्रुतेश्च सुषुप्तावहमर्थाभावेमानत्वात् । कथमस-

त्प्रयुक्तहेतोः स्वरूपासिद्धत्वं तस्मादननुगमस्य तादवस्थ्यमिति वाच्यम्, उक्तप्रत्ययेऽप्यहमर्थस्यानुवृत्तिदर्शनात् । तथाहि तत्र मामिति द्वितीयान्तस्य कर्म्मरूपाहमर्थस्य जाग्रदनुभूतानादिकर्म्म-संस्कारप्रयुक्तात्मत्वाभिमतदेहाद्यवच्छिन्नोविषयः, अहमिति प्रथ-मान्तस्य कर्त्तुरस्मदर्थस्य देहादिविलक्षणशुद्धब्रह्मात्मकप्रत्यगात्मा ज्ञाता विषयः, तथाच मामित्युक्तलक्षणस्य देहेन्द्रियादिसम्बन्धस्य तत्राभावान्निषेधविषयत्वं सूपपन्नम्, तथैवाहमिति देहादिवियुक्तस्य तद्विशिष्टाभावविषयकानुभूत्याश्रयाभिन्नस्य तत्रापि सत्त्वेन ज्ञातृ-तया भानमपि सूपपन्नतरम्, तथाचाहमर्थस्यानुभवितुस्सर्वावस्था-नुगतत्वेन हेत्वसिद्धेः सूपपन्नतमत्वादप्रामाण्यमनुमानस्य, एते-नोक्तायाः श्रुतेरपि व्याख्यानमुक्तम्भवति । तस्याअप्युक्तलक्षणा-विशिष्टप्रतियोगिकाभावविषयकज्ञानविधानपरत्वेन तुल्यार्थकत्वात् ।

नन्वहमर्थो नात्माऽहंप्रतीतिविषयत्वात् शरीरादिवदिति प्रयो-गात्तस्यानात्मत्वावगमइति चेन्न, त्वन्मतेऽहमर्थान्तर्गताधिष्ठानभू-तचितोऽपि तत्प्रत्ययविषयत्वेन तत्र व्यभिचारात् । नच येन रूपेणाहन्धीविषयत्वं तेन रूपेणानात्मत्वं, स्वरूपेणात्मत्वमिति न व्यभिचारइति वाच्यम्, "अहमात्मागुडाकेश"त्यात्मत्वेनाप्यहं-प्रतीतिविषयत्वात् स्वरूपेणात्मत्वे मानाभावाच्च । नचाहमर्थ-आत्मान्यः अहंशब्दाभिधेयत्वात् अहङ्कारशब्दाभिधेयवदित्यत्र-मानमिति वाच्यम्, "अहमात्मा गुडाकेश"त्यहंशब्दाभिधेये विश्वा-त्मनि श्रीवासुदेवे परब्रह्मणि व्यभिचारात् । अथ यत्त्वया आत्म-नोगौरोऽहमित्यनात्मारोपाधिष्ठानत्वं मानभूवं भूयासमित्यादिना परमप्रेमास्पदत्वम्, अहमर्थस्य स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकवैधु-र्येणात्मनः प्रकाशत्वं चोक्तं तत्सर्वमहमर्थस्यानात्मत्वेऽयुक्तं स्यात् उक्तस्य सर्वस्याहमर्थएव पर्यवसानात् । नच प्रेमास्पदा-त्मैक्यारोपादहमर्थे तथा प्रतीतिरिति वाच्यम्, अन्योन्याश्रयापत्तेः ।

अहमर्थप्रेम्णोऽन्यस्यात्मप्रेम्णोऽनुभवाभावाच्च । अहितेहितबुद्ध्या प्रेमोत्पत्तावपि अप्रेमास्पदे प्रेमास्पदत्वस्यारोपादर्शनाच्च । "समारोप्यस्य रूपेण विषयोरूपवान्भवेत् । विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवदि"ति वाचस्पत्युक्तेः । अध्यस्तान्तःकरणगताऽप्रेमास्पदत्वस्यैवात्मनि प्रतीत्यापत्तेश्च । अनिदमि रूप्ये शुक्तिनिष्ठेदन्तादिभानवदधिष्ठाननिष्ठसाधारणधर्मस्यारोप्ये भानेप्यसाधारणधर्मस्य प्रेमास्पदत्वादेर्भानासम्भवात् । आरोप्यासाधारणधर्माणां भीषणत्वादीनां रज्ज्वामिवारोप्यासाधारणानामप्रेमास्पदत्वादीनामेवात्मनि भानापत्तेरित्यर्थः । त्वद्रीत्या सुखानुभवरूपस्यात्मनः अहंसुखमनुभवामीति सुखानुभवाच्छेदेनैव प्रतीतेश्च । किञ्च मोक्षेऽहमर्थाभावे आत्मनाशोमोक्षइति बाह्यमतापत्तेः । प्रेमास्पदाहमर्थस्य त्वन्मतेऽपि नाशात् । तदतिरिक्तशून्यस्य तन्मतेप्यनाशात् । नह्यहमर्थभिन्ने आत्मनि प्रेमधीः कदाचिदस्तीति भावः । किञ्च "माऽमृतं कृन्धि ज्योतिरहं विरजाविपाप्मा भूयासमि" ति श्रुत्याहमर्थस्यैवामृतत्वोक्तेः अहम्मुक्तः स्यामितीच्छा च न स्यात् तस्यास्तद्विषयत्वात्, नन्वात्मन एव मुक्तिरिष्यते अहङ्कारेतरारोपात् मुक्तः स्यामितीच्छापि सूपपन्ना, यथा शरीरस्यैव पुष्टीच्छायामप्यात्मनि तदैक्यारोपात् पुष्टः स्यामितीच्छा यथात्मनएव सुखेच्छायामपि तदैक्यारोपाच्छरीरं सुखि स्यादितीच्छा चेति चेन्न, अन्योऽन्याश्रयापत्तेः । तत्र शरीरं पुष्टंस्यादितीच्छावत् अहंसुखि स्यामितीच्छावच्चेह चिन्मात्रं मुक्तं स्यादितीच्छायाः कदाप्यदर्शनेन मुक्तेरनिष्टत्व प्रसङ्गाच्च । यः कश्चिदात्मा मुक्तः स्यादितीच्छाचेन्नकदापि मुमुक्षुप्रवृत्तिः स्यात् ममात्मा मुक्तः स्यादितीच्छायाः अदर्शनात् । ननु यद्यपीच्छासमयेऽन्तःकरणाध्याससम्भवेनात्ममात्रमुक्तीच्छा नास्तीति सत्यम्, तथापि विशिष्टगतमुक्तीच्छायाएव विशेष्यगत-

मुक्तिविषयत्वपर्यवसानाभ्युपगमइति चेन्न, अहमर्थभिन्नतथात्मनोभानस्य क्वाप्यदर्शनेनैतत्कल्पनाया अप्रामाणिकत्वात् । अपि चाहमर्थोयद्यन्तःकरणागर्भितस्तर्हि मम मनइति प्रत्ययोनस्यात्तदवच्छिन्नस्य पुनस्तदनन्वयात् । किञ्चैवं मनः स्फुरति मनोऽस्तीति ज्ञानादहमिति ज्ञानस्य वैषम्यानुभवो न स्यात्, चिदचित्सम्वलनविषयत्वाविशेषात् । तस्मादहमर्थस्यानात्मत्वे किमपि मानं नास्तीति सिद्धम् । आत्मत्वे तु प्रत्यक्षानुमानश्रुत्यादीनां सत्त्वात्तस्यात्मत्वं सुतरां सिद्धम्, तथाहि जानाम्यनुभवामीच्छामीत्यादिप्रतीतिभ्यः अहमर्थोमोक्षान्वयी तत्साधनकृत्याश्रयत्वात्सम्मतवदिति । नच स्वर्गसाधनकृत्याश्रये ऋत्विजव्यभिचारइति वाच्यम्, उद्देश्यतासम्बन्धेनहि यत्र कृतिस्तत्रैव फलमिति नियमः । ऋत्विजां तु दक्षिणायाएवोद्देश्यत्वान्नोक्तव्यभिचारयोगः । अहमर्थोऽनर्थनिवृत्त्याश्रयः अनर्थाश्रयत्वात्सम्मतवत् । नचासिद्धः अहमज्ञोऽहमनुभवामीत्यबाधितानुभवात् देहस्यानर्थाश्रयत्वाभावान्न व्यभिचारः, अनात्मत्वं नाहमर्थवृत्तिअनात्ममात्रवृत्तित्वात् घटत्वादिवदित्याद्यनुमानेभ्यः "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय नामरूपे व्याकरवाणि त्रिवृतं करवाणि, ब्रह्मवेदमग्रआसीत्सचात्मानं वेदाहं हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवता" इत्यादिभ्यः । किञ्च प्राकृतप्रलये विश्वलयात्मकेऽवशिष्यमाणस्यैकाद्वितीयादिशब्दाभिधेयस्य परब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्यापि प्राणमनोभूतादिसृष्टेः प्रागपि ज्ञात्रात्माहमर्थस्वरूपत्वमेवेत्यवगम्यते तस्य नित्यमुक्तत्वं तावन्निर्विवादम्, एवं तत्साम्यापन्नानां "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती" त्यादिश्रूयमाणानामप्यहमर्थस्वरूपत्वमेवेति मुक्तावपि तथात्वसिद्धेः । "अभयं वै जनक ! प्राप्तोऽसि यदात्मानमेवावेदाहं ब्रह्मास्मीती" त्यत्रावधारणेनाहमर्थाभिन्नब्रह्मतादात्म्योपदेशात् । तथाभूतवेदनस्यात्मभावप्राप्ति-

रूपमोक्षफलकत्वोपदेशाच्च, अनविद्यस्यापि ब्रह्मणोऽहमुल्लेखोक्तेश्च । "अहमित्येव योवेद्यः सजीवइति कीर्तितः । सदुःखी स सुखी चैव सपात्रं बन्धमोक्षयोरि"ति कण्ठरवेणाहमर्थस्य मोक्षान्वयित्वश्रवणाच्च "अहं मनुरभवं सूर्यश्चे"ति मुक्तत्वावगम्यस्य वामदेवस्यानुभवाच्च "अहमात्मा गुडाकेशे"ति सर्वात्मत्वम् "नत्वेवाहं जातु नासमि"त्यादिना कालत्रयाबाध्यत्वम् "ददामि बुद्धियोगं तमि"ति मोक्षोपयिकज्ञानदातृत्वम् "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतामि"ति मायातरणासाधारणोपायरूपशरणापत्तिविषयत्वम् "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे"ति जगत्कारणत्वं । "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य"इति शास्त्रविषयत्वम् "ततोमां तत्त्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तरमि"ति मुक्तोपसृप्यत्वम्, मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते"इत्यपुनरावृत्तिलक्षणफलत्वम्, "मामेकं शरणं व्रजे"ति सर्वशरण्यत्वम्, "अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामी"ति सर्वपापनिवर्त्तकत्वम्, चाहमर्थस्यैव श्रीमुखेन निर्णीतं भगवता श्रीपुरुषोत्तमेन । किञ्चाहमर्थादन्यआत्मा यदि स्यात्तर्हुपलभ्येत, नतु तथोपलभ्यते इति योग्यानुपलब्धेरप्यत्रमानत्वात् । अपिचास्मदर्थान्यात्मप्रतीत्यभावान्यथानुपपत्तेरप्यत्र प्रामाण्यम् । किञ्च परैरपि भाष्ये सर्वोह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहस्मभीति, यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्सर्वोलोको नाहमस्मीति प्रतीयादिति न तावदयमेकान्तेनाविषयोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वाद्दिति चान्वयव्यतिरेकेणात्मनोहमर्थत्वस्यैव प्रतिपादनात् । अन्यथास्वोक्तिबाधइत्यर्थस्तस्मादहमर्थाभावाभावएवात्मेत्यलं पल्लवनेन ॥ १८ ॥

इति ज्ञाधिकरणम् ॥ ८ ॥

---

# सू० उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।

२ । ३ । १६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवोऽणुः अनेनप्रद्योतनेन " एष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषोवा मूर्ध्नो वा अन्येभ्योवा शरीरदेशेभ्यः ये वै केचनास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति तस्माल्लोकात् पुनरेत्याऽस्मै लोकाय कर्म्मणे" इत्युत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं जीवात्मनोनित्यत्वं ज्ञातृत्वं च निरूपितमिदानीं तत्परिमाणं निरूप्यते —

उत्क्रान्तिगत्याऽऽगतीनाम् ।

अयमात्मामध्यमपरिमाणकः ? उत विभुपरिमाणकः ? आहोस्विदणुपरिमाणकः ? इति संशये मध्यमपरिमाणको भवतु, शरीरे सर्वत्र सुखाद्युपलब्धेः । अथवाविभुपरिमाणकइति प्राप्तेऽभिधीयते "जीवात्मोत्क्रान्तिगत्यागतीनां योग्यो-

ऽस्ति, एतत्रयं तस्य विभुत्वेनोपपद्यते। किञ्च विभुत्वे सर्वत्र सुखाद्युपलब्धिः प्रसज्येत, मध्यमपरिमाणकत्वे त्वनित्यतास्यात्तस्मादात्मनोऽणुत्वं परिशिष्यते "स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामतीत्युत्क्रान्तिः श्रूयते येकेचास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव तेगच्छन्तीति गतिः श्रूयते तस्माल्लोकात्पुनरेत्याऽस्मैलोकायकर्म्मणे इत्याऽगतिः श्रूयते ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अथतत्परिमाणं निर्णीयते। तथाहि स किं मध्यमपरिमाणको? विभुपरिमाणको? ऽणुपरिमाणकोवे? त्याकाङ्क्षायामाह —

उत्क्रान्तिगत्याऽऽगतीनाम्।

प्रत्यगात्माऽणुपरिमाणकएव? कुतः "स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामतीति ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते गच्छन्तीति तस्माल्लोकात्पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्म्मणे"इत्यादिना तस्योत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणादिति शेषः। न मध्यमपरिमाणकोविभुपरिमाणकोवा तत्र दोषाणामुक्तत्वात्। ननु स्यादेतत् मनसामात्मनां च विभुत्वबहुत्वयोगे उक्तदोषाणां योगो न तु एकत्वविभुत्वयोगे,तथाचैकएव विभुरात्माऽनेकोपाधिभिरवच्छिन्नोघटावच्छिन्नाकाशवत् भिन्नतया भाति स्वस्वोपाधिप्रयुक्ताश्च स्वीयसुखदुःखानुभूतयउपाधीनामेवेतरेतरभिन्नानां

भेदनियामकत्वेन सुखाद्यनुभवसाङ्कर्याभावाद्व्यवस्थासामञ्जस्यम् । यद्वा विम्बस्थानीयमेकं ब्रह्मजलादिस्थानीयेऽन्तःकरणाद्युपाधौ प्रतिविम्बितं सञ्जीवत्वमापद्यते, उपाधेश्चाऽऽविद्यकत्वात्तत्प्रयुक्तभेदोऽप्याविद्यकः । यथा सूर्यस्य जलपरिपूरितघटेषु तत्र तत्र प्रतिघिम्बविशेषोघटोपाधिकृतोभेदश्च तत्रैकस्मिन्नश्चाल्यमाने घटजले घटे नष्टे च तद्गतस्यैकस्यैव प्रतिविम्बस्य चाञ्चल्यविम्बभावापत्तिर्नान्येषां तथैकस्मिन्नेवान्तःकरणे सुखादिवृत्तिरूपपरिणामे सति तद्गतैकस्यैव चेतनप्रतिविम्बस्य तत्तद्दुःखाद्यनुभवोनान्येषां, तथाचैकस्मिन्नेवोपाधौ तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणजन्यजीवब्रह्मैक्यज्ञानान्नष्टे सति तस्यैव ब्रह्मभावापत्तिर्नान्येषामिति सर्वस्यामपि सुखदुःखभोगसाङ्कर्याभावव्यवस्थायाबन्धमोक्षव्यवस्थायाश्च सुवचत्वमिति चेन्न, उभयपक्षेऽपि बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तेः सुखादिभोगसाङ्कर्यापत्तेश्च पूर्वमेव विस्तृतत्वात्, परमतप्रयोजननिराकरणप्रकरणे । यस्य ब्रह्मभावापत्तिलक्षणोमोक्षः प्रयोजनत्वेनाभ्युपगम्यते इत्यारभ्य, जीवब्रह्मैक्यं वक्तुमशक्यमित्यन्तेन ग्रन्थेन । किञ्च सर्वगताद्वितीयात्मवादे उपाधेर्विभुत्वाङ्गीकारश्चेत् सर्वस्यापि चेतनस्यावृतत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गः प्रकाशकाभावात्, गत्याद्यनुपपत्तिर्मुक्तोपसृप्यब्रह्मोच्छेदप्रसङ्गश्च "ब्रह्मविदाप्नोति परम्, पूतामद्भावमागताः" इत्यादिमोक्षशास्त्रबाधश्च । उपाधिपरिच्छिन्नानेकात्मत्ववादे च पदे पदे बन्धमोक्षापत्त्यादिदोषाणां पूर्वमेव विस्तृतत्वात् । किञ्च मोक्षस्योक्तन्यायेनाकस्मात्पदे पदे सिद्धौ "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा" इत्याद्यन्वयव्यतिरेकावधारणयुक्तमोक्षसाधनबोधकश्रुतीनां बाधप्रसङ्गः । मोक्षोद्देशेन जिज्ञासाशास्त्रारम्भवैयर्थ्यञ्च । किञ्च उभयपक्षेऽप्यावरकोपाधेः सत्यत्वं ? मिथ्यात्वं वा ? नाद्यः द्वैतापत्तेः सत्यस्य

ज्ञाननाश्यत्वानङ्गीकारेणानिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च, परमतप्रवेशाच्च । न द्वितीयः, अनुपपन्नत्वात् तथाहि यथाबिम्बस्य सावयवत्वरूपवत्वादिना सजातीयसमसत्ताकोपाधौ प्रतिबिम्बननियमस्तथावच्छेदकस्याप्युपाधेः समसत्ताकस्यैवावच्छेदकत्वनियमः, अन्यथा स्वप्नरज्ज्वाजाग्रदवस्थायां राजभटानिगृहीतचौरादीनां बन्धनापत्तेर्मृगमरीचिकाजले सूर्यादेः प्रतिबिम्बनापत्तेश्च, नतु तदस्ति दृष्टश्रुतागोचरत्वात् । किञ्च तत्त्वज्ञानाज्जीवोपाधिनाशे सति जीवोनश्यति न वा ? आद्ये स्वरूपनाशस्यैव मोक्षत्वापत्तिः । द्वितीयेऽविद्यानाशेऽप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ब्रह्मातिरिक्तजीवस्वरूपावस्थानात्, नच दर्पणादिगूपलभ्यमानमुखमालिन्यादिवत्कुब्जादिव्यवस्थोपपत्तिरिति वाच्यम्, आपातोक्तेः, मालिन्यादयऔपाधिकादोषाः कदा नश्येयुः दर्पणाद्युपाध्यपगमइति चेत्, किन्तदा मालिन्याद्याश्रयः प्रतिबिम्बास्तिष्ठति ? न वा ? आद्ये तत्स्थानीयस्य जीवस्यापि स्थितत्वादनिर्मोक्षप्रसङ्गः । द्वितीये तद्वदेवं जीवनाशात्स्वरूपनाशएव मोक्षः स्यात्, किञ्च यस्यापुरुषार्थरूपदोषप्रतिभासस्तदुच्छेदः पुरुषार्थः । तत्र किमौपाधिकदोषप्रतिभासोबिम्बस्थानीयस्य ब्रह्मणउतप्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्य ? वाभिप्रेतस्तदितरस्य वा ? आद्ययोः कल्पकदृष्टान्तासिद्धिः मुखस्य तत्प्रतिबिम्बस्य वा मालिन्यादिदोषशून्यत्वात् । नहि मुखं प्रतिबिम्बं वा चेतयते उभयोर्जडत्वात्, तदुभयेतरद्रष्टुरभावाच्च तृतीयः । किञ्चाविद्याकल्प्यस्य जीवस्य कोवा कल्पकः, अविद्येति चेन्न, तस्या अचेतनत्वात् । नापि जीवः, आत्माश्रयापत्तेः, शुक्तिरजतवदविद्याकल्पितत्वाच्च, जीवस्य ब्रह्मैव कल्पकमितिचेन्न, ब्रह्मणि अज्ञानस्यैवापातात्, किञ्च ब्रह्मण्यज्ञानानङ्गीकारे किं ? ब्रह्मजीवान्पश्यति न वा ?, न पश्यति चेदीक्षादिपूर्विकाविचित्रसृष्टिर्नामरूपस्य व्याकरणादि च ब्रह्मणोन स्यात् । अथ पश्यति चेदखण्डैकरसं

ब्रह्म नाविद्यामन्तरेण जीवान्पश्यतीति ब्रह्मण्यज्ञानप्रसङ्गः। अतएव मायाविद्याविभागवादोऽपि निरस्तः। अज्ञानमन्तरेण हि मायिनोब्रह्मणोजीवदर्शित्वाऽसम्भवात्। नहि मायावी परानदृष्ट्वा मोहयितुमलं, नापि मायाऽमायाविनोदर्शनसाधनं द्रष्टृषु परेषु तन्मोहनसाधनमात्रत्वात् तस्याः, अथ ब्रह्मणोमायाजीवदर्शित्वं कुर्वन्ती जीवमोहनस्य हेतुरितिचेन्न, तर्हि परिशुद्धस्याखण्डैकरसस्व स्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः परदर्शित्वं कुर्वन्ती मायाऽपरपर्यायाऽविद्यैव स्यात्। ननु विपरीतदर्शनहेतुरविद्या मायातुमिथ्याभूतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्यात्वेन दर्शयन्ती न ब्रह्मणोविपरीतहेतुः अतस्तस्याअनादित्वमिति, मैवं एकत्वे ज्ञायमाने द्विचन्द्रदर्शनहेतोरप्यविद्यात्वात्। यदि च ब्रह्ममिथ्यात्वेनैव स्वव्यतिरिक्तं जानाति तर्हि कथं तान्मोहयति ? नानुन्मत्तोमिथ्यात्वेन ज्ञातान्मोहयितुमीहते, अथपुरुषार्थापरमार्थ...हेतुरविद्या, माया तु ब्रह्मणोनापुरुषार्थदर्शनहेतुरतोऽस्या अनादित्वमिति मतम्, तन्न द्विचन्द्रदर्शनस्य दुःखहेतुत्वाभावेनापुरुषार्थत्वाभावेऽपि तद्धेतुरविद्यैव, तन्निरसने प्रयासदर्शनात्। यदि च नापुरुषार्थदर्शनकरी माया, तर्ह्यनुच्छेद्यतया ब्रह्मस्वरूपानुबन्धिनी स्यात्। अस्तु कोदोषइति चेत्? द्वैतदर्शनमेव दोषः, "यत्र द्वैतमिवभवति तत्रेतर इतरम् पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदि"त्याद्यद्वैतश्रुतिव्याकोपात्, परमार्थविषया अद्वैतश्रुतयः मायायास्त्वपरमार्थत्वान्न विरोधइति चेत्, अपरिच्छिन्नानन्दैकरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमार्थभूतमायादिदर्शनं तद्वत्त्वं चाविद्यामन्तरेण नोपपद्यते, तव मते ह्याविद्यकमेव ब्रह्म मायादिदर्शित्वादिति, ननु "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्ये"ति श्रुतेर्न जीवब्रह्मणोर्वास्तवोभेदः, किन्तु कल्पितभेदाश्रयणेनैवेयं व्यवस्थोच्यते, नच कस्य कल्पना ? न तावद्ब्रह्मणः, तस्य परिशुद्धज्ञानात्मनः कल्पना--

शून्यत्वात्, नापि जीवानाम्-अन्योन्याश्रयापत्तेः, कल्पना-धीनोहि जीवभावोजीवाश्रया च कल्पनेति वाच्यम्, अविद्या-जीवत्वयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनानादित्वात् जीवानां भ्रमस्यानादित्वान्न-तद्धेतुरन्वेषणीयइति चेन्न, स्वकपोलकल्पनाविजृम्भितत्वात्। तथाहि जीवस्याकल्पितस्वरूपेणाविद्याश्रयत्वे ब्रह्मणएवाविद्या-श्रयत्वमुक्तं स्यात् तदतिरिक्तेन तस्मिन् कल्पितेनाकारेणाविद्या-श्रयत्वे जडस्याविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात्। नहि मायावादे तदुभ-यातिरिक्ताकारस्याङ्गीकारः, नच कल्पिताकारविशिष्टेन स्वरूपेणावा-विद्याश्रयत्वमिति वाच्यम्, अखण्डैकरसस्य स्वरूपस्याविद्यामन्तरेण-विशिष्टत्वासम्भवात्। किञ्च जीवाज्ञानाश्रयणे किं प्रयोजनमिति वक्तव्यं? बन्धमोक्षव्यवस्थासिद्धिरेवेति चेन्न, सातु तन्पक्षेऽपि न सम्भवति, अविद्यायाविनाशोहिमोक्षस्तत्रैकस्मिन्मुक्तेऽविद्याविना-शात् सर्वे मुच्येरन्। अन्येषां ह्यमुक्तत्वादविद्यास्तिप्रतीति चेत्तर्हि न कस्यापि मुक्तिः स्यात् अविद्याया अविनष्टत्वात्, प्रतिजीवम-विद्याभेदः कल्प्यते चेत्, भेदः स्वाभाविकोवा? उतकल्पितः? नाद्यः, अनङ्गीकारात् भेदसिद्धयेऽविद्याकल्पनस्य वैयर्थ्यप्रस-ङ्गात्। न द्वितीयः अन्योऽन्याश्रयात् जीवभेदसिद्धौ तासां सिद्धि-स्तासु च जीवभेदसिद्धिरिति। नच बीजाङ्कुरन्यायेन तस्या-दोषत्वमुक्तमेवेति वाच्यम्, उक्तन्यायस्यात्रानवसरात्। तथाहि-बीजाङ्कुरेषु तावदन्यदन्यद्बीज.....न्यस्यान्यस्याङ्कुरस्योत्पादकं प्रत्य-क्षादिप्रमाणसिद्धम्, इह तु या....विद्याभिर्ये जीवाः कल्प्यन्ते तानेवाश्रित्य तासां सिद्धिः, अथ बीजाङ्कुरन्यायेन पूर्वपूर्वजीवा-श्रयाभिरविद्याभिरुत्तरोत्तरजीवकल्पनां मन्यसे? उतविज्ञानवादि-वज्जीवोत्पत्तिं?, आद्ये असम्भवः कल्पनायाः प्राक् कल्पकस्या-भावात्। द्वितीये जीवानां भङ्गुरत्वं कृतनाशाकृताभ्यागम-प्रसङ्गश्चेति। अतएव ब्रह्मणः पूर्वपूर्वजीवाश्रयाभिरविद्याभिरुत्त-

रोत्तरजीवभावकल्पनमित्यपि निरस्तं, अविद्याप्रवाहेऽभ्युपगम्यमाने तत्कल्पितजीवभावस्यापि तद्वत्प्रवाहानादिता स्यान्न ध्रुवरूपता, तथात्वे चामोक्षाज्जीवभावस्य ध्रुवत्वमपि तवेष्टं न सिद्ध्येत् । ननु प्रासादनिगरणादिवदनुपपन्नैकवेद्यायामविद्यायामवस्तु भूतायांनितरेतरादिदोषा अनवक्लृप्तिमावहन्तीति चेन्न, तथात्वे च सति मुक्तानपि परं ब्रह्म चाश्रयेदविद्येति मन्तव्यं पण्डितम्मन्यैः, तेषां शुद्धज्ञानरूपत्वादशुद्धाविद्या न तत्र सज्जतीति चेत्तर्ह्युक्तोपपत्तिभिर्जीवानपि नाश्रयेत्तेषामपि स्वरूपतोब्रह्माभिन्नत्वेन शुद्धत्वाऽविशेषात् । अन्यथा तव मते शुद्धस्य ब्रह्मणो विद्याश्रयत्वाङ्गीकारेण मुक्तानां शुद्धानां पुनरविद्याश्रयणेऽपि कियान्दोषः, तथोक्तं विवरणे " आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विशेषचितिरेव केवले " त्यादिना, अतः प्रतिबिम्बवादः श्रेयोऽर्थिभिः सर्वथोपेक्षणीयः । श्रुत्यादिमानशून्यत्वात् । न"न्वे कएव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदि " ति श्रुतिसिद्धत्वात्कथमश्रौतत्वमिति चेन्न, उक्तश्रुतेरन्तर्यामिणोनिर्लेपत्वप्रतिपादनपरत्वेन प्रतिबिम्बविषयकत्वाभावात्तस्मिन्वाक्ये प्रतिबिम्बशब्दादर्शनात्, काल्पनिकार्थस्य बुद्धिकौशलमात्रत्वात् । श्रुत्यर्थस्तु भूतात्मा भगवान्वासुदेव एकएव भूते भूते चेतनाचेतनवर्गे, यद्वा--ऽभूतइति छेदः भूते कार्यवर्गे अभूते कारणवर्गे, यद्वा भूते सृष्टिं गते बद्धचेतनवर्गे, अभूते सृष्ट्यनन्तर्गते नित्यमुक्तचेतनवर्गे तदन्तर्यामितया व्यवस्थितः, विशेषेण सदैकरसानन्दरूपेणावस्थितोऽपि तद्गतदोषासंस्पृष्टमाहात्म्यएव दृश्यते महात्मभिस्तदनुग्रहभाजनैरुपनिषच्चक्षुर्भिरित्यन्वयः । ननु गुणदोषसम्पृक्ते वस्तुनि वर्त्तमानस्य कथमिव तन्निर्लेपत्वमित्याशङ्कां दृष्टान्तेन निराकरोति । चन्द्रवदिति । यथा चन्द्रः श्रीगङ्गादिपुण्यजलेषु

शूकरादिविलोडितदुर्गन्धिगर्त्तादिजलेषु च स्वकरनिकरैर्व्याप्त्यावर्त्तमानोऽपि तद्गतगुणदोषैर्न युज्यते, एवं ब्रह्मादिश्वपाकान्तेषु चेतनाचेतनेषु साम्येन स्वरूपव्याप्त्या तिष्ठन्नपि परमेश्वरोन तद्गतगुणदोषैर्युज्यते ऽस्पृष्टस्वभावत्वात् "सूर्योयथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य" इत्यग्रिमवाक्यात्, तत्रैकधासमष्ट्यन्तर्यामितया बहुधा व्यष्ट्यन्तरात्मतयेति सङ्क्षेपः । किञ्च तवाभिप्रेतं बिम्बभूतं ब्रह्मउपाध्यन्तःस्थं ? तदनन्तर्गतं वा ? नाद्यः जलान्तस्स्थस्य मत्स्यकूर्मादेः प्रतिबिम्बादर्शनात्, नान्त्यः तव पक्षे ब्रह्मणोऽविद्यावहिःस्थत्वासम्भवात् । अन्यथा सदेशत्वापत्तेः, परिच्छिन्नत्वप्रसङ्गाच्च, तथात्वे च मिथ्यात्वं दुर्वारम्, ब्रह्ममिथ्या सदेशत्वात् पृथिव्यादिवत्परिच्छिन्नत्वाद्घटादिवच्चेत्यनुमानादित्याद्युक्तं पूर्वमेव, एवमवच्छेदवादेऽप्युक्तदोषा ऊह्या अविशेषात् । नाप्येकजीववादस्य सम्यक्त्वम् पूर्वमेव निरस्तत्वात्प्रमाणशून्यत्वाच्च । नच "पुरत्रये क्रीडति देवएकः, एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः" इत्यादिश्रुतीनां तत्र मानत्वमिति वाच्यम्, तासामेकजीवपरत्वाभावात् श्रुत्यर्थस्तु पुरत्रये जाग्रदाद्यवस्थावच्छिन्नदेहत्रये एकएव जीवः देवः प्रकाशरूपत्वात् क्रीडनशीलत्वाद्वा, नत्ववस्थाभेदाज्जीवभेदः, अन्यथा कृतनाशादिप्रसङ्गादिति प्रथमवाक्यार्थः । एकोदेवइत्यादिवाक्यं तु ब्रह्मपरं, सर्वव्यापित्वसर्वभूतान्तरात्मत्वकर्म्माध्यक्षत्वसर्वसाक्षित्वादीनां ब्रह्मासाधारणलिङ्गानां जीवे कथमप्यसम्भवात्, तस्मादेकजीववादोऽश्रौतएवेति सिद्धम् । "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानां, नत्वेवाहं जातु नाऽऽसं नत्वंनेमे जनाधिपाः, बहवोज्ञानतपसा पूता" इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधात् । शास्त्रे क्वचिदेकवचनोक्तिर्जातिपरा "ब्राह्मणोन हन्तव्य" इत्यादिवत्, औपाधिकभेदवादे तु कायव्यूहस्थले योगिनः सर्वदेहेषु भोगइवैकजीवस्य

सर्वदेहगतसुखाद्यनुभवापत्तिः, ब्रह्मणएव जीवत्वेन नित्यमुक्तत्वादिश्रुतिव्याकोपश्च, एकस्यानेकदेहेषु प्रत्यक्त्वपराक्त्वासम्भवश्च, न चान्तःकरणभेदस्यात्र नियामकत्वमिति वाच्यम्, योगिनः कायव्यूहानामन्तःकरणभेदेऽपि प्रत्यक्त्वपराक्त्वदर्शनात्प्रत्युताहमित्येव सर्वत्र प्रतीतिदर्शनाच्च । अवच्छेदवादोक्तदोषाणामत्र तुल्यत्वं किन्तूपाधिसत्त्वमिथ्यात्वयोरेव विशेषइत्यलं विस्तरेण । तस्मादणुपरिमाणकएवेति प्रकृतमनुसरामः ॥ १९ ॥

# सू० स्वात्मना चोत्तरयोः ॥

२ । ३ । २० ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उत्क्रान्तिः कदाचित् स्थिरस्यापि ग्राम्यसाम्यनिवृत्तिवत्स्यादुत्तरयोःस्वात्मनैव सम्भवाज्जीवोऽणुः ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

स्वात्मना चोत्तरयोः ।

ग्राम्यस्वाम्यनिवृत्तिवदुत्क्रान्तिदेहस्वाम्यनिवृत्तिरूपा कदाचित् स्थितस्याप्यात्मनः स्यात् । उत्तरयोर्गत्याऽऽगत्योऽस्तु आत्मना स्वरूपेणैव साध्यत्वाज्जीवोऽणुरिति गम्यते ॥ २० ॥

———

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

स्वात्मना चोत्तरयोः।

चशब्दोऽवक्लृप्त्यर्थः यद्यप्युत्क्रान्तेः शरीरवियोगरूपत्वेन सा कथञ्चित्स्थितेनापि सम्पाद्या स्यात् उत्तरयोर्गत्याऽऽगत्योस्तु स्वात्मनैव सम्पाद्यत्वमिति विशेषः॥ २०॥

## सू० नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्॥ २।३।२१॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

जीवं प्रस्तुत्य, "सवा एषमहानि"त्यतद्वचनात्। न जीवोऽणुरिति चेन्न, मध्येपरमात्मनोऽधिकारात्॥२१॥

वेदान्तकौस्तुभः।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्।

ननु जीवोनाणुः कुतः? अतच्छ्रुतेः तदणुत्वमतदनणुत्वं तस्य श्रुतेः "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिरि"ति जीवप्रस्तावे "सवा-एषमहानजआत्मे"ति महत्त्वश्रुतेरिति चेन्न, कस्मात् इतराधिकारात् उपक्रमे प्रस्तुताज्जी-

वादितरस्य यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्धआत्मे"ति मध्ये प्रतिपाद्यस्य परमात्मनोऽधिकारात् ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।

ननु नायमणुः कुतः ? अतच्छ्रुतेः अणुभिन्नविभुत्वश्रुतेरित्यर्थः "योऽयं विज्ञानमय"इति जीवप्रस्तावे "सवाएषमहानजआत्मे"ति महत्त्वश्रुतेरिति चेत्तत्परिहरतिनेति । कुतः ? इतरस्य परमात्मनोऽधिकारात् "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्धआत्मे"ति मध्ये परमात्मप्रतिपादनात्तस्यैव परामर्श इत्यर्थः ॥ २१ ॥

## सू० स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च ॥

२ । ३ । २२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"एषोऽणुरात्मा, बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागोजीव"इतिस्वशब्दोन्मानाभ्यां जीवोऽणुः ॥२२॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च ।

स्वस्याणुत्वस्यवाचकः शब्दः स्वशब्दः सर्वेभ्यः

स्थूलपरिमाणेभ्यः उद्धृत्यमानमुन्मानमत्यल्पं परिमाणम्, ताभ्यां च जीवोऽणुः "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्योयस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेशे" ति स्वशब्दः "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागोजीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" इति "आराग्रमात्रोह्यवरोऽपि दृष्टः" इति चोन्मानम् ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च ।

इतश्चायमणुरात्मा "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो-यस्मिन्प्राणः पञ्चधा सम्विवेशे" ति कण्ठरवेणाणुत्वश्रवणात्। अणुसदृशं वस्तूद्धृत्य यन्मानं तदुन्मानं "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागोजीवः स विज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते, आराग्रमात्रोह्यवरोऽपि दृष्टः" इतिचोन्मानश्रवणात् प्रत्यगात्माऽणुपरिमाणक उत्क्रान्त्यादिमत्त्वात्। यन्नैवं, तन्नैवं, परमात्मवत्। जीवोयद्यणुपरिमाणकोन स्यात्तदा गत्याद्युपदेशोऽपि न स्यादिति "ते धूममभिसम्भवन्ती" त्यादिश्रुतेरिति सङ्क्षेपः ॥ २२ ॥

## सू० अविरोधश्चन्दनवत् ॥

२ । ३ २३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

देहैकदेशस्थोऽपि कृत्स्नं देहं चन्दनबिन्दुर्यथाल्हादयति तथा जीवोऽपि प्रकाशयति, अतःकृत्स्नशरीरे सुखाद्यनुभवोन विरुध्यते ॥ २३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

अविरोधश्चन्दनवत् ।

नन्वात्मनोऽणुपरिमाणकत्वे कृत्स्नदेहव्यापिसुखाद्यनुभवः कथमुपपद्यते ? इत्यत्रोच्यते। नायं विरोधः, यथा हरिचन्दनबिन्दुर्देहैकदेशस्थः स्वगुणेन सकलदेहाह्लादं जनयति, तथा जीवोऽपि देहैकदेशस्थः स्वगुणेन कृत्स्नदेहव्यापिसुखादिकमनुभवति "अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्लुषः"इति स्मृतेः। अतएव भगवताप्युक्तम् "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ! इति ॥ २३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

ननु तर्हि सर्वावयवगतसुखदुःखाद्यनुभवयौगपद्यव्यवस्थानु-

पपत्तिः, स्वरूपस्याणुमात्रदेशवृत्तित्वादित्यत आह —

अविरोधश्चन्दनवत् ।

यथा हरिचन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशे निपतितः कृत्स्नं शरीरमाल्हादयति तथेति । धर्मिणोऽणुत्वेऽपि तद्धर्मभूतज्ञानस्य विभुत्वात् । "अणुनश्चक्षुषः प्रकाशोव्याप्तएवमेवास्य प्रकाशोव्याप्तोऽव्याप्तोवै पुरुष"इति श्रुतेः । "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत! "अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति । यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्रुषः"इत्यादिस्मृतेश्च "यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते । एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतनः"इत्यश्वमेधपर्वणि । नच प्रकाशादेर्धर्मस्य स्वाश्रयं विना व्याप्त्यसम्भव इति शङ्कनीयम् ? दीपं विना तत्प्रभायाः वन्हिं विना तदौष्ण्यादेः, पुष्पं विना तद्गन्धस्य व्याप्तिः प्रत्यक्षागमाभ्यां सिद्धतरा, धर्मिणं विना जातिसमवायादीनां व्याप्तिरन्यैरपि स्वीकृता च, एतेन . क्वचिद्विभुपरं शास्त्रमपि व्याख्यातं, विभुधर्माश्रयाणां तथात्वस्य शक्त्यैवावगमान्मुख्यत्वमेवेति । नन्वात्मनोऽणुत्वाङ्गीकारेऽपि सुखादिव्यवस्थादुरुपपादा, आत्मवृत्तिविभुपरिमाणकधर्म्मभूतज्ञानेन स्वशिरःपाण्यादिगतसुखाद्यनुभूतिवत्परशरीरगतसुखाद्यनुभवोऽपि दुर्वारः, ज्ञानव्याप्तेस्तत्रापि सत्त्वात्, सर्वजीवनिकायवृत्तिसुखादिसर्वेषामप्यवश्यमनुभाव्यमेव,' विभुवादे कल्पितदोषाणां भोगसाङ्कर्यस्य च तवापि दुर्वारत्वेन व्याप्तिसाम्यादिति चेन्न, आपातोक्तेः । तथाहि अस्मत्सिद्धान्ते "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति, आवृतं ज्ञानमेतेने"त्यादिमानाद्रात्मज्ञानस्य विभुत्वेऽपि बद्धावस्थायां कर्म्मात्मकाज्ञानावृतत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षसापेक्षत्वात्, यत्रेन्द्रियसन्निकर्षस्तस्यैवानुभवोनान्यस्येति ।

एवं देवदत्तस्य स्वशरीरगतसुखादिभिः स्वान्तःकरणसन्निकृष्टत्वात्तेषामेवानुभवोन यज्ञदत्तशरीरगतसुखादीनां, स्वकरणासन्निकर्षाभावात् । मोक्षावस्थायान्तु तदावरकाज्ञानस्य ध्वंसात्सर्वविषयकानुभवस्येष्टापत्तिः । " सर्वं हि पश्यः पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वशः" इत्यादिश्रुतेः । परमते तु स्वरूपस्यैकत्वादुक्तदोषोद्धारासम्भवः, सिद्धान्ते तु प्रतिदेहं स्वरुपभेदान्नोक्तदोषावकाशइति संक्षेपः ॥ २३ ॥

## सू० अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाऽभ्युपगमात् हृदि हि॥

२ । ३ । २४ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अवस्थितिविशेषभावाद्दृष्टान्तवैषम्यमिति चेन्न, देहैकदेशे हरिचन्दनवत् हृदि ह्ययमात्मेति जीवावस्थित्यभ्युपगमात् ॥ २४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ।

ननु चन्दनदृष्टान्तोन युक्तः, अवस्थितिवैशेष्यात्, चन्दनबिन्दोरवस्थितिर्देहैकदेशे प्रत्यक्षतो-

दृश्यते, जीवस्यावास्थितिस्तु देहैकदेशे न ज्ञायते, सर्वत्र चैतन्योपलब्धेरित्येवमुभयोरवास्थितिवैलक्षण्यादिति चेन्न, कुतः? अणुपरिमाणस्य जीवस्यावास्थितेर्देहैकदेशे हृदि "योऽयम्विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिरि"त्यादिश्रुतिभिरभ्युपगमात्। सकलशरीरेऽवास्थितिस्तु धर्म्मभूतस्य ज्ञानस्येति हि शब्दार्थः ॥ २४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि।

ननु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं, हरिचन्दनबिन्दोर्हि देहैकदेशविशेषेऽवस्थितेर्विशेषभावाच्छरीरैकदेशावस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्तथाभावः। आत्मनस्तु न तथेति चेन्न, आत्मनोऽप्यवस्थितेर्देशविशेषाभ्युपगमात्। तथाह्याह श्रुतिः "हृदि ह्येष आत्मा सवा एष आत्मा हृदी" ति "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिरि" त्यादि ॥ २४ ॥

## सू० गुणाद्वा-लोकवत्। २।३।२५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

देहे प्रकाशोजीवगुणादेव, कोष्ठे दीपालोकादिवत् ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु धर्म्मधर्म्मिवादोन युक्तः स्वरूपमात्रेणै-वेष्टसिद्धेरत्राह —

गुणाद्वा-लोकवत् ।

वाशब्दः शङ्कानिराकरणार्थः । देहैकदेशस्थ-स्याणुपरिमाणकस्यात्मनोऽव्यापकात् ज्ञानलक्षणा-द्गुणात्सकलशरीरगतसुखाद्युपलब्धिसिद्धिर्नान्यथे-त्यर्थः “ लोकवत् ” लोके मणिद्युमणिदीपादयः एकदेशस्था अपि गुणैरेव स्वस्वानुरूपान्वहून्दे-शान् प्रकाशयन्ति “आलोकवदिति” वा छेदः, मण्यादीनामालोकवत्, साङ्ख्याद्यभिमतोनिर्धर्म्म-कात्मवादः प्राग्निराकृतएव ॥ २५॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आत्मनोदेशविशेषे स्थितिव्यापनाय चन्दनदृष्टान्तं प्रदर्श्य-एकदेशवर्त्तिनोऽपि सकलदेहं व्याप्यकार्यकरत्वे प्रकार-माह —

गुणाद्वा-लोकवत् ।

वाशब्दोमतान्तरव्यावृत्त्यर्थः । आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन सकल-देहं व्याप्यावस्थितः । आलोकवत्, यथा मणिद्युमण्यादीनामेक-देशस्थितानामप्यालोकोऽनेकदेशव्यापी दृश्यते, तद्वदात्मज्ञान-मपि ॥ २५ ॥

सू० व्यतिरेकोगन्धवत्तथा हि दर्शयति ।२।३।२६॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

गुणभूतस्य ज्ञानस्य व्यतिरेकस्तु गन्ध-वदुपपद्यते एतादृशगुणाश्रयं जीवं "स एष प्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः" इति श्रुतिर्दर्शयति ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

व्यतिरेकोगन्धवत्तथा हि दर्शयति ।

हृद्गतजीवाद्गुणिनस्तद्गुणभूतस्य ज्ञानस्य व्यतिरेकः अधिकदेशवृत्तित्वं गन्धवत्, अल्पदेशस्थात्पुष्पाद्गन्धस्याधिकदेशवृत्तित्ववदित्यर्थः । अधिकदेशवृत्तिज्ञानगुणेन सकलशरीरवृत्तित्व-मात्मनोदर्शयति श्रुतिः । "स एष प्रविष्ट-आलोमभ्यः आनखेभ्यः"इति ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु ज्ञानस्य व्यापकत्वेऽणुजीवव्यतिरेकेणावस्थानं वक्तव्यम्, तच्चायुक्तं, गुणिव्यतिरिक्तदेशे गुणस्यावस्थानादर्शनात् । नच

दीपप्रभान्यायेनेति वाच्यम् , प्रभाया दीपसंयुक्तद्रव्यान्तरत्वादित्यतआह —

व्यतिरेकोगन्धवत्तथा हि दर्शयति ।

यथा गुणस्यापि गन्धस्य गुणिव्यतिरेकेण वृत्तिः पुष्पपेटिकातोदूरस्थितस्य गन्धोपलम्भदर्शनात्तद्वद्गुणिव्यतिरेकेण ज्ञानस्येत्यर्थः । अतएवात्मनश्चैतन्यगुणेनैव देहे व्याप्तिरित्यत्र श्रुतिमाह, तथा चेति, ज्ञानगुणेन सर्वदेहव्यापित्वमात्मनोदर्शयति श्रुतिः "स एष इह प्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः"इति ॥ २६ ॥

## सू० पृथगुपदेशात् २।३।२७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवतद्ज्ञानयोर्ज्ञानत्वाविशेषेऽपि धर्म्मधर्मिभावोयुक्तएव । कुतः ? "प्रज्ञया शरीरमारुह्ये"त्यादिपृथगुपदेशात् ॥ २७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु ज्ञानमात्मतत्त्वमस्तु तत्राणुर्धर्मी व्यापकोधर्मइति भेदोन युक्त इत्याशङ्क्याह —

पृथगुपदेशात् ।

धर्मिणोजीवाद्धर्म्मस्य प्रज्ञया शरीरं समारुह्येति तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादायेति च

पृथगुपदेशात् ज्ञानत्वाविशेषेऽपि श्रुत्युक्तत्वात् धर्मधर्मिणोर्भेदो युक्तइत्यर्थः। नहि साजात्यमभेदे नियामकम्, प्रभातद्वतोस्तेजस्त्वाविशेषेऽपि भेददर्शनात् ॥ २७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

पृथगुपदेशात्।

इतश्च आत्मगुणोव्यतिरिक्तः। कुतः? "प्रज्ञया" शरीरं समारुह्ये"ति "सर्वेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये"ति च जीवाद्विज्ञानस्य पृथगुपदेशात्। "अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मे"त्यादिना तस्य नित्यत्वप्रतिपादनाच्च। तथा च स्मृतिः "यथा न क्रियते ज्योत्स्नामलप्रक्षालनान्मणेः। दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा। यथोदपानखननात् क्रियते न जलान्तरम्। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः। तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयोगुणाः। प्रकाशन्ते न जन्यन्ते नित्याएवात्मनोहि ते" इति ॥ २७ ॥

सू० तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२।३।२८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

बृहन्तोगुणायस्मिन्निति ब्रह्मेति प्राज्ञवदात्मा

विभुगुणत्वान्नित्यं विभुमिति व्यपदिष्टः दृष्टान्ते बृहदेव प्राज्ञोगुणैरपि बृहद्भवति, दार्ष्टान्ते तु जीवोऽणुपरिमाणकोगुणेन विभुरिति विशेषः ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु जीवोयादि स्वरूपतोऽणुस्तर्हि "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं नित्यः सर्वगतः स्थाणुरि" त्यादिविभुत्वप्रतिपादकवाक्यव्याकोपः स्यान्नेत्याह —

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । विभुगुणसारत्वात् जीवस्य तद्व्यपदेशः "नित्यं विभुमि"त्यादिविभुत्वव्यपदेशउपपद्यते " प्राज्ञवत् " प्राज्ञस्य बृहन्तोगुणाअस्मिन्निति ब्रह्मेति श्रुत्या गुणयोगादपि बृहत्वमुच्यते प्राज्ञस्य स्वतोऽपि बृहत्वादेकदेशिदृष्टान्तः । एवं विभुगुणत्वाद्विभुत्वव्यपदेशोनतु स्वरूपेण ।अत्रेदं बोध्यम्, समानातिशयशून्योविभुः श्रीपुरुषोत्तमोवासुदेवः । " न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इति श्रुतेः । अन्येषां प्रकृतिकालजीवगुणादीनां विभुत्वं सापेक्षम् । एवं

भूतस्य जीवासाधारणधर्मस्य नित्यस्यापि शङ्कोच-विकाशौ भवतः "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति भारत!" इति श्रीमुखवचनात्॥ २८॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

ननु "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं नित्यः सर्वगतः स्थाणु-रि"त्यादिविभुत्वप्रतिपादकश्रुतिस्मृतिविरोधस्तदवस्थएवेत्याशङ्कायामाह —

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। स विभुज्ञानगुणएव, सारोविभुत्व-व्यपदेशोमुख्योयस्य तस्य भावस्तस्मात्तद्व्यपदेशः विभुत्वव्यपदेशः। तत्रैकदेशिदृष्टान्तमाह। प्राज्ञवदिति। यथा प्राज्ञस्य ब्रह्मणः बृहन्तोगुणाअस्मिन्निति ब्रह्मेति श्रुत्युक्ता निरुक्तिः। एवं प्रत्यगात्मनोऽपि विभुगुणत्वाद्विभुत्वव्यपदेशोन स्वरूपेण, अन्यथा पूर्वोदाहृतानि श्रुतिस्मृतिसूत्राणि बाध्येरन्॥ २८॥

सू० यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्॥२।३।२९॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

जीवस्य गुणनिबन्धनोविभुत्वव्यपदेशोन

विरुद्धः, गुणस्य यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् । "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्यते, अविनाशित्वादविनाशी वा अरे ! अयमात्मे" ति तद्दर्शनात् ॥ २९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु जीवगुणस्यागम*मापायित्वे तन्निमित्तकविभुत्वापगमादणोर्विभुत्वव्यपदेशोदोषएवात्राह —

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ।

चकारः शङ्काव्यावृत्त्यर्थः । नित्यएव आत्मा, तद्गुणस्यापि यावदात्मभावित्वात् आत्मानुबन्धिनित्यधर्मत्वाद्विभुत्वव्यपदेशोन दोषः । "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्यते, अविनाशित्वात् । अविनाशी वा अरे ! अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मे" ति यावदात्मभावित्ववादिवाक्यदर्शनात् ॥ २९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ।

यावदात्मवृत्तित्वान्नित्यत्वाच्च गुणस्य अतस्तेन प्रत्यगात्मनो-

* अभिव्यक्तानभिव्यक्तत्वे ।

विभुत्वव्यपदेशोन विरुद्ध इत्यर्थः । खण्डोगौरित्यादिषु तथा दर्शनात् ॥ २९ ॥

## सू० पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ २।३।३०।

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्यादौ सतएव जाग्रदादावभिव्यक्तिसंभवाद्यावदात्मभावित्वमेव । यथा पुंस्त्वादेर्बाल्ये सतएव यौवनेऽभिव्यक्तिः ॥ ३० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु जीवगुणभूतस्य ज्ञानस्य नित्यत्वं चेत्तर्हि सुषुप्त्यादौ कुतस्तदप्रतीतिरित्यत्राह —

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ।

तुशब्दोऽवधारणे । जीवधर्मभूतस्य ज्ञानस्य यावदात्मभावित्वमेव । कुतः ? सतोऽभिव्यक्तियोगात् । अस्य धर्मभूतस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्यादिषु सतएव, अनभिव्यक्तरूपेण विद्यमानस्यैव जागरादिषु अभिव्यक्तियोगात् । यथा बाल्ये सतएव पुंस्त्वादेर्यौवनेऽभिव्यक्तियोगः । औदार्यसौशील्या-

दयः सहजागुणाआदिशब्देन गृह्यन्ते ॥ ३० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु तस्य नित्यत्वे सुषुप्त्यादौ विषयानुभवापत्तिरिति चेत्तत्राह —

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ।

तुशब्दोऽवधारणे । सुषुप्त्यादौ सतएव, तस्यानभिव्यक्तस्य जाग्रदादावभिव्यक्तिसम्भवाद्यावदात्मभावित्वमेव, प्रत्यगात्मज्ञानस्य पुंस्त्वादिवत् । यथा बाल्ये विद्यमानस्यैव पुंस्त्वस्य सप्तमधातोर्यौवनेऽभिव्यक्तिः, अन्यथा पुंस्त्वादेरागन्तुकतापत्तेस्तथात्वे च पुंस्त्वक्लीबत्वविभागासिद्धिरित्यर्थः ॥ ३० ॥

सू० नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमोवाऽन्यथा । २।३।३१ ।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्वगतात्मवादे आत्मोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्बन्धमोक्षयोर्नित्यं प्रसङ्गः स्यान्नित्यबद्धोवा नित्यमुक्तोवाऽऽत्मेत्यन्यतरानियमोवा स्यात् ॥ ३१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमोवाऽन्यथा।

चेतनभूतात्मविभुत्ववादिमते दोषकथनार्थं सूत्रम्। अन्यथा ज्ञातृत्वाद्यात्मधर्मकोज्ञानस्वरूपोऽणुपरिमाणकआत्मेत्यस्मत्पक्षादन्यप्रकारके ज्ञानमात्रसर्वगतात्मवादे नित्यमुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः प्रसङ्गः स्यात्। व्यापकस्यात्मनोऽनावृतत्वादुपलब्धिः, संसारसद्भावादनुपलब्धिरेवं युगपद्बन्धमोक्षौ प्रसज्येयाताम्, अन्यतरानियमोवा। अस्माकं तु जीवात्मनोऽणुपरिमाणत्वात् गत्यागत्योः आवृतत्वानावृतत्वयोर्गम्यगन्त्रोश्च सम्भवात् बन्धमोक्षव्यवस्थोपपद्यते। तव तूक्तलक्षणयोर्बन्धमोक्षयोरन्यतरएव प्रसज्येत। ज्ञानमात्रस्याचलस्यात्मनोनित्यं बन्धएव स्यात्। अथवाऽपवर्गएव स्यात्, इति नियमः प्राप्नोति। तस्मात् ज्ञातृत्ववान् ज्ञानस्वरूपोऽणुपारिमाणोजीवइति सिद्धम्॥ ३१॥ इत्युत्क्रान्त्यधिकरणम्॥ ६॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमोवाऽन्यथा।

अन्यथा प्रत्यगात्मनोज्ञानमात्रत्वे सर्वगतत्वे च नित्यमेवो-

पलब्ध्यनुपलब्धी प्रसज्ज्येयातां, तयोरन्यतरानियमोवा उपलब्धि-रेव वा नित्यं स्यादनुपलब्धिरेव वेति । अयम्भावः उपलब्धिर-नुपलब्धिश्च तावल्लोकसिद्धा तयोरयं सर्वगतोज्ञानात्मा चेत्कारणं तर्हि सर्वलोकस्य सर्वदा सर्वत्र ते प्राप्नुयाताम् । यद्युपलब्धेरेव हेतुस्तदा सर्वदा सर्वत्र कस्याप्यनुपलब्धिर्न स्यात् । अनुपलब्धे-रेव चेद्धेतुस्तर्हि कस्यापि कुत्राप्युपलब्धिर्न स्यादिति । नच कर-णायत्ता तयोर्व्यवस्था, सर्वात्मनां विभुत्वेन सर्वकरणैः सर्वदा संयोगस्याविशेषादित्यादि पूर्वमेव विस्तृतम् । सिद्धान्ते तु तस्य शरीरान्तरेऽवस्थितत्वात्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यवस्था सिध्यति ॥ ३१ ॥ इत्युत्क्रान्त्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

## सू० कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥

२ । ३ । ३२ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आत्मैव कर्त्ता "स्वर्गकामोयजेत मुमुक्षुर्ब्रह्मो-पासीते" त्यादेर्भुक्तिमुक्त्युपायबोधकस्य शास्त्र-स्यार्थवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं प्रसङ्गाज्जीवात्मनः कर्तृत्वं विचा-र्यते —

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ।

जीवात्मा कर्त्ताऽस्ति ? न वेति ? सन्देहे, "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्, उभौ तौ न विजानीतोनाऽयं हन्ति न हन्यते" इतिकठवल्लीषु जीवात्मकर्तृत्वप्रतिषेधात् । "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते" इति भगवद्वचनाच्च गुणानां कर्त्तृत्वमस्ति, आत्मा त्वकर्तैवेति पूर्वपक्षे, ब्रूमः, आत्मैव कर्त्ताऽस्ति । कस्मात् ? । शास्त्रार्थवत्त्वात् । "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः यजेत्स्वर्गकामोमुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेत्सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्यः, मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत, शान्तउपासीते"त्यादेर्मुक्तिभुक्त्यर्थचेतनापेक्षितसाधनबोधकस्य शास्त्रस्यार्थवत्त्वादचेतनानां तेषां कर्त्तृत्वे उपायबोधकशास्त्रस्यानर्थक्यं स्यात् । श्रुतिस्तु आत्मनोनित्यत्वेनाहन्तव्यत्वं दर्शयति । नतु कर्त्तृत्वनिषेधविषया सा स्मृतिरपि प्राकृतगुणसम्मूढस्यात्मनः सांसारिकप्रवृत्तौ कर्त्तृत्वं प्राकृतगुणप्रयुक्तमिति दर्शयति, एतच्च श्रीमुखेनैवोक्तं "प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुण-

कर्मस्वि"ति गुणानां कर्त्तृत्वे आत्मनश्चाकर्त्तृत्वे "अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताजनकादयः । लोकसङ्ग्रहमेवापि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसि । यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव"इत्यादिवाक्यानाञ्च बाधः स्यात् ॥ ३२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ।

आत्मनोज्ञातृत्ववत्कर्तृत्वमप्यस्ति ? न वेति संशये, आत्मा कर्त्तैव । कुतः ? "यजेत्स्वर्गकामः मुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेत् सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"इत्यादिभोगमोक्षसाधनोपदेशशास्त्रस्यार्थवत्त्वात् । नन्वकर्तैवात्मा, तथाहि "न जायते म्रियते वे"ति तस्य जन्मादिविकारं प्रतिषिध्य, "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्, उभौ तौ न विजानीतोनायं हन्ति न हन्यते" हननक्रियायाव्यापाराश्रयत्वं फलाश्रयत्वं वा मन्यमानोऽज्ञइति कठवल्ल्युक्तेः, "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते । नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति । कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च प्रकृतेरेव कर्तृत्वेन पुरुषस्य भोक्तृत्वमात्रमेव, यथा जपाकुसुमस्थं लो-

हित्यं स्फटिके भाति तद्वन्मनोवृत्तिकृत्यादिकमात्मन्यध्यस्तं भासते, नतु तात्त्विकं, तथात्वे ह्यात्मनोविकारित्वापत्तेः सुषुप्तौ मनसोऽभावे कृत्यादीनामदर्शनात्, अकर्त्रात्मबोधकश्रुतिव्याकोपश्चेति चेन्न, असम्भवादिति ब्रूमः । तथाहि यथाप्रत्येकं स्फटिके जपाकुसुमे च लौहित्यं भेदेन भाति प्रत्यक्षप्रमाणेन, तथात्मनि मनसि च प्रत्येकं कर्तृत्वं भायात्, आत्मा कृत्याद्याश्रयत्वेनाध्यस्तत्वात्, कर्तेति मनः स्वतः कर्त्रिति कदापि साक्षात्काराभावात् दृष्टान्तवैधर्म्यं, अन्यथा मनः कर्त्रिति आत्माऽकर्तेति कदाचिद्भेदेनापि भानं स्यादित्यर्थः, विकल्पासहत्वाच्च । तथाहि सोपाधिकोऽयमध्यासः ? निरुपाधिकोवा ? नान्त्यः, नेदं रजतमिति वत् सकृदेव नायं कर्तेति अकर्तृत्वयाथात्म्यज्ञानेन तन्निवृत्त्यापत्तेः, कुसुमस्येवोपाधेः प्रतिबन्धकस्याभावात् । नाप्याद्यः रक्तं पुष्पमिति प्रमावत् कदाचिन्मनः कर्त्रिति प्रमया लोहितः स्फटिकइति भ्रमवच्चैतन्यं कर्त्रिति भ्रमेण चावश्यं भाव्यमानत्वात् । ननु कुसुमस्य स्फटिकात्मनाऽनध्यस्तत्वात् मनसस्तु चिदात्मनाऽध्यस्तत्वादिति वैषम्येन तज्ज्ञानाऽभावोऽविरुद्धइति चेन्न, अधिष्ठानात्मनानध्यस्तं जपाकुसुमादिस्थानीयमुपाधिं विना भीषणत्वयुक्तसर्पस्य रज्ज्वात्मनेव कर्तृत्वादियुक्तमनसश्चिदात्मनाध्यासे रज्जौ भीषणत्वान्तरस्येवात्मनि कर्तृत्वान्तरस्याध्यासस्य सोपाधिकत्वायोगात् । न चात्मनि कर्तृत्वान्तरमेवाध्यस्तमिति वाच्यं, अध्यस्यमानधर्माश्रयस्याभेदारोपे औपाधिकत्वासम्भवात् । ननु रज्जुसर्पादावध्यस्यमानभीषणत्वादिविशिष्टसर्पापेक्षयाधिकसत्ताकसर्पान्तरस्य सम्भवेनास्य निरुपाधिकत्वं, अत्र त्वध्यस्यमानान्तःकरणापेक्षया कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टेतरस्याधिकसत्ताकस्यात्यन्ताभावात् । अन्तःकरणमात्रस्योपाधित्वमिति चेन्न, स्फटिकेऽध्यस्यमानप्रातिभासिकलौहित्यापेक्षयाऽधिकसत्ताकलौहित्यान्त-

रस्य सत्त्वेन तस्यापि निरुपाधिकत्वापत्तेः । नच यत्र धर्मी तादात्म्येनारोपितस्ततोऽधिकसत्ताकोऽतिरिक्तश्चास्ति स निरुपाधिकोऽध्यासः रज्जुसर्पादिवत्, लोहितः स्फटिकइत्यत्र तु न धर्मिणस्तादात्म्येनारोपइति सोपाधिकलोहितोपपत्तिरिति वाच्यं, मम मनोमम बुद्धिर्ममान्तःकरणमिति भेदधिया प्रतिबन्धाद्भेदारोपासम्भवेन धर्ममात्रस्यैव वक्तव्यतया लौहित्यादेरिव कर्तृत्वादेरुभयत्र प्रतीतेर्दुर्वारत्वात् । सोपाधिकस्थले धर्मारोपेणैवोपपत्त्या धर्म्यारोपस्याप्रामाणिकत्वाच्च । समीपे स्थितउपदधाति स्वीयं धर्ममन्यत्रेत्युपाधिलक्षणत्वात् । अभेदग्रहणदशायामप्ययं भीषणः सर्पो भीपणः अहं गौरः शरीरं गौरमिति वन्मनः कर्तृ चैतन्यं कर्त्रिति प्रतीत्यापत्तेः । अपि चास्मिन्नेवाधिकरणे भवद्भिरपि साङ्ख्यरीत्या बुद्धेः कर्तृत्वे प्राप्ते जीवस्यैवेति सिद्धान्तितत्वेन स्वोक्तविरोधाच्च । बुद्ध्यात्मनोरविवेकनिबन्धनस्य जीवनिष्ठकर्तृत्वस्य साङ्ख्यमतेऽपि सत्त्वेनाविशेषात् । किञ्च बन्धतन्निवृत्त्योर्पर्यायकत्लोः स्वध्वंसाभावस्वफलभात्काभ्यां सामानाधिकरण्यनियमेन बुद्धेः कर्तृत्वायोगात् । कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थरूपोबन्धोबुद्धिगतश्चेत्तोमोक्षोऽपि तद्गतः स्यात् । बन्धमोक्षयोः सामानाधिकरण्यनियमात् अज्ञानमपि दुःखादिभोगद्वारेणैवानर्थइति तव सिद्धान्तादित्यर्थः । नच बुद्धिगतं सद्रूपं भोक्तृत्वादिकं तद्धर्मत्वात् नानर्थरूपं, किन्तु तदुपाधिकं मिथ्याभोक्तृत्वादिकमिति वाच्यं, एतत्कल्पनायाः कर्तृत्वाध्याससिद्ध्यधीनत्वेनान्योऽन्याश्रयात् । मोक्षस्यापि सत्यस्यैव पुरुषार्थत्ववत्, भोक्तृत्वादिबन्धस्यापि सत्यस्यैवानर्थत्वाच्च । तदुक्तं वार्तिके बौद्धं प्रति "नहि स्वप्नसुखाद्यर्थं पुमान्कश्चित्प्रवर्त्तते । यादृच्छिकत्वात् स्वाप्नस्य तूष्णीमासेत पण्डितैरि"ति स्थूलोभुञ्जे स्थूलः करोमीत्यादिना देहस्यानर्थान्वयापाताच्च । नापि बुद्ध्युपाधिकं ह्यात्मस्थभोक्तृत्वा-

दिकमनर्थः, नतु देहस्थमिति वाच्यं, अनर्थाश्रयस्यात्मनोऽनर्थकोटित्वायोगात्, भ्रमसमये ऽहम्भोक्तेति प्रमाकाले बुद्धिर्भोक्त्रीति प्रतीत्यापत्त्या शुद्धात्मनि कदापि तत्प्रतीत्यभावापत्तेश्च । अपि च मनसः श्रवणादिसाधनकर्तृत्वेन तत्फलमोक्षस्यापि तत्रैवापतेः शास्त्रफलं प्रयोक्तरीतिन्यायात् । यत्र साधनकृतिस्तस्यैव फलभाक्त्वात् । अन्यथा कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तेश्च, नच शुद्धोपहितयोः स्वाभाविकभेदाभावेन बन्धमोक्षयोः सामानाधिकरण्यं सूपपन्नमिति वाच्यं, उपहितगतानर्थस्य शुद्धगतत्ववत्तद्गतदृश्यत्वमिथ्यात्वादीनामपि शुद्धगतत्वापत्तेः । नच जातेष्टिपितृश्राद्धादौ व्यभिचारइति वाच्यं, कृतिफलयोः सामानाधिकरण्योपपादकोद्देश्यतासम्बन्धस्य फलाधिकरणे पुत्रपित्रादौ सत्त्वात् जातेष्टावपि पित्रर्थं पुत्रगतपूतत्वादि तदनुष्ठातुः पितुरेव फलमित्यर्थः । तथैव श्राद्धेऽपि बोध्यम् । आरोपितानारोपितसाधारणकर्तृत्वस्य फलं प्रति प्रयोजकत्वे बुद्धिदेहयोर्मोक्षान्वयापत्तिः । किञ्च "तन्मनोऽनुकुरुत"इत्यादिश्रुतौ मनसः कृतिकर्मत्वस्य श्रृण्वन्तः "श्रोत्रेण विद्वांसोमनसे"ति करणत्वस्य "मनउत्क्रामन्मीलितइवाश्नन्पिबन्नास्त"इत्यादौ मनउत्क्रमणेऽप्यात्मनः कर्तृत्वस्य, "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्रममाण"इत्यादौ स्वरूपाविर्भावे परमुक्तावपि कर्तृत्वस्य, "विज्ञानं यज्ञं तनुते विज्ञानात्मा योऽयं वेदजिघ्राणी"ति "सम्रात्मा आनन्दभुक् चेतोमुखप्राज्ञ"इत्यादिश्रुतौ विज्ञानात्मनिष्ठकर्तृत्वस्य श्रवणात् । न चात्र विज्ञानशब्दोबुद्धिपरइति वाच्यं, "विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्च न प्रमाद्यति शरीरे पाप्मनोहित्वा सर्वान्कामान्समश्नुत"इति वाक्यशेषात् । किञ्चाहं करोमीत्यादिप्रत्यक्षेण आत्मा मोक्षसाधनकृतिमान् फलान्वयित्वात्सम्मतवत् । अज्ञानं ज्ञानस-

मानाधिकरणं बन्धरूपत्वात्सम्मतवदित्याद्यनुमानैश्च "कर्ता विज्ञानात्मा योऽयं वेदाजिघ्राणी"त्यादिश्रुतिभिश्च, यद्यात्मा कर्त्ता न स्यात्तर्हि भोगमोक्षसाधनोपदेशोऽपि न स्यादित्यर्थापत्त्या च सिद्धस्यात्मकर्तृत्वस्य बाधकादर्शनात् । नच श्रुतिरनुवादपरा अहमर्थान्यात्मकर्तृत्वस्य "नामरूपे व्याकरोत्स हि सर्वस्य कर्ते"ति श्रुत्युक्तेश्वरकर्तृत्वस्य च प्रत्यक्षेणाप्राप्तत्वात् । नच निर्धर्मकत्वं बाधकं निर्धर्मकत्वरूपधर्मस्य भावाभावाभ्यां व्याघातात् । नापि निष्क्रियत्वं बाधकं क्रियायाधात्वर्थत्वे ह्यात्मन्यप्यस्त्यादिधात्वर्थसत्तादेः सत्त्वेन तत्त्वासिद्धत्वात् परिस्पन्दादिपरत्वे चेष्टापत्तेः । कृतिपरत्वे च "रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिमि"त्यादिश्रुत्या कर्तृत्वस्य चेतने विहितत्वेनासिद्धेः । नच निष्क्रियत्वश्रुतिविरोधः, तस्याब्रह्मणि परतन्त्रक्रियायाः प्रत्यगात्मनि स्वतन्त्रकर्तृत्वस्य निषेधकत्वात् । अन्यथा "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"ति श्रुतेः "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपोविद्यतेऽविनाशित्वात्, नहि श्रोतुः श्रुतेः, नहि मन्तुर्मतेरि" त्यादिश्रुतेश्च बाधस्य तवापि साम्यात् । नापि निर्विकारत्वं बाधकं, आकाशस्य संयोगाद्याश्रयत्वेऽपि निर्विकारित्ववदात्मनोऽज्ञानतद्ध्वंसाश्रयत्वेऽपि निर्विकारित्ववच्च ज्ञानादिगुणाश्रयत्वेऽपि विकारित्वायोगात् । "अविकार्योऽयमुच्यते" इत्यादि शास्त्राच्च । ननु सुषुप्तौ मनसोऽभावे कर्त्तृत्वादि दर्शनं बाधकमिति चेन्न, तत्रापि श्वासादिकर्त्तृत्वदर्शनात् । तदसिद्धेः, "सुप्तोभूर्भूरित्यादिश्वसिती"त्यादिश्रुतेः देहादिवन्मनसोनिमित्तरूपत्वेनापि तदुपपत्तेश्च "कामः सङ्कल्पः" इत्यादिश्रुतिरपि मनसः करणत्वबोधनविषयकैव- "मनसैवाग्रे सङ्कल्पयती"ति श्रुत्यन्तरात् । अत्र स्पष्टम् कण्ठरवेण करणपाठदर्शनाच्च । "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" इति श्रुतेस्तु ह्यात्मनोभोक्तृत्वे देहादिवन्मनसोऽपि

सहकारित्वमात्रमित्येतत्परत्वात्। किञ्च "ध्यायतीव लेलायतीवे" ति श्रुताविवशब्दः परतन्त्रप्रभौ प्रभुरिवेति वत् जीवकर्तृत्वस्येश्वरपारतन्त्र्यप्रदर्शनपरः। नापि "प्रकृतेः क्रियमाणानी"ति स्मृतिर्बाधिका, तस्या अपि स्वतन्त्रकर्तृत्वनिषेधपरत्वाविशेषात्. सांसारिकप्रवृत्तावस्य कर्तृत्वं प्राकृतगुणप्रयुक्तं न स्वरूपप्रयुक्तमिति विवेचनाय गुणेषु कर्तृत्वं, तथा च "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" इति "तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिरि"ति केवलशब्दः स्वातन्त्र्यपरः, उक्तार्थे मानं सांसारिकप्रवृत्तावधिष्ठानादिपञ्चकस्य हेतुत्वात् केवलं स्वातन्त्र्येण स्वात्मानं कर्तारं मन्यमानो दुर्मतिरित्यर्थः। अन्यथा गुणानां कर्तृत्वे तेषामेव भोक्तृत्वापत्तिः, तयोः सामानाधिकरण्यनियमात्। नह्यन्यकर्तृककर्मणाऽन्येषां भोक्तृत्वं लोकवेदयोः प्रसिद्धम्,। किञ्च गुणकर्तृकप्रवाहस्य नित्यत्वेनानिर्मोक्षप्रसङ्गो मुक्तानामपि पुनर्भोक्तृत्वप्रसङ्गश्च दुर्वारः, इतरकर्तृकत्वप्रसङ्गात्। किञ्च भोक्तृत्वमात्रस्वीकारे भुजिक्रियायाव्यापाराश्रयत्वेनावश्यम्भावात् कथमकर्तृत्वमात्मनइति पण्डितं मन्यैर्विचारणीयम्। "दैवं चैवात्र पञ्चममि"त्यत्र दैवशब्दः परमात्मपरः। तथा च परमात्माधीनमेव प्रत्यगात्मनः कर्तृत्वमिति वक्ष्यते सूत्रकारः "स कारयेत पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीशितापी"त्यादिश्रुतेः "केनापि देवेन हृदि स्थेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" इत्यादिस्मृतेश्च बद्धावस्थायामनादिप्रकृतिसम्बन्धरूपया कर्मरूपया वाऽविद्यया संकुचितज्ञानक्रियाशक्तिकानां ज्ञानक्रियादौ मनआदिपारतन्त्र्यात् तत्सहायापेक्षा, मुक्तावस्थायां तु स्वपरस्वरूपयोराविर्भावेन बुद्धीन्द्रियादिनिरपेक्षत्वमिति विवेकः। "सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति श्रुतेः

"यः सर्वज्ञः सहि सर्वस्य कर्त्ता, तदैक्षत,बहु स्यां प्रजायेये" त्यादिश्रुतिभ्यईश्वरस्य तावन्नित्यक्रियाश्रयत्वं निर्विवादमेव, तथैव मुक्तानामपि ज्ञानक्रियादियोगोऽविरुद्धः । "स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्नममाणः सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती" त्यादिश्रुतेः । "विहारोपदेशात् सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेरि"ति वक्ष्यमाणसूत्राच्च । ननु ज्ञानेच्छाकृत्यादीनां नित्यत्वे सदा सृष्ट्याद्यापत्तिः । नच कालस्य तत्र निमित्तत्वात्तद्भावाभावयोस्तत्र नियामकत्वेन नोक्तदोषावकाशइति वाच्यं, प्रधानादाविच्छादिसम्बन्धापादककालादेरपि सदा सत्त्वादिति चेन्न, सृष्टिप्रलयकालाभ्यां सम्बद्धायाईश्वरेच्छायाएव सिसृक्षात्वजिहीर्षात्वसम्भवात् । यथा परेषां वृत्तिश्चेदुपरागार्थेति मते व्यापकस्यापि चैतन्यस्य वृतिद्वारकएव घटादिसम्बन्धः । यथा च तार्किकमते सर्वगतस्यापि गोत्वादेः सास्नादिमत्येव सम्बन्धोनान्यत्र, यथा चास्मत्पक्षे विश्वात्मनः श्रीपुरुषोत्तमस्य परब्रह्मणः सर्वदेशकालवस्तुपरिच्छिन्नपदार्थेतरतया व्यापकत्वेन सर्वत्र सत्त्वेऽपि कस्मिंश्चिच्चरमजन्मन्येवाधिकारिविशेषे साक्षात्कारोनान्यत्र, तद्वत्पारमेश्वरीयेच्छादेरपि सृष्टिकालादिविशेषावच्छिन्नप्रधानादिसम्बन्धोनान्यदेति नोक्तदोषसम्बन्धावकाशइत्यनवद्यम् । नच कर्त्तृत्वस्य क्लेशावहत्वान्न तत्र श्रौतं तात्पर्यमिति वाच्यं, दर्शपौर्णमासादावपि श्रवणमननादावपि चातात्पर्यप्रसङ्गात्, श्वासादेरकरणएव क्लेशदर्शनाच्च । "यदा करोत्यथ निस्तिष्ठती"ति श्रुत्यैव कर्त्तृत्वस्य फलसम्बन्धविधानाच्च । एतदुक्तं भवति, कर्त्तृत्वं बुद्धिगतं वा ? शुद्धगतं वा ? अहमर्थगतं वा ? नाद्यः, तस्याजडत्वेन तत्र कर्त्तृत्वाङ्गीकारे घटादावतिव्याप्तेः । नापि द्वितीयः, अहमर्थभिन्नात्मासिद्धेः पूर्वमेव विस्तृतत्वात् परिशेषादहमर्थाभिन्नात्मनिष्ठमेव सिद्धम् । ननु माऽभूत्कोचलयोर्बुद्ध्यात्मनोरेकतरस्य

कर्त्तृत्वमुक्तदोषात् तथाप्युपाधिसम्पर्कादकर्तुरप्यात्मनएव कर्त्तृत्वमिति चेन्न, तथात्वे षण्डस्याऽपि स्त्रीसम्बन्धमात्रेण प्रजोत्पादकत्वप्रसङ्गात् । तस्मात्स्वाभाविककर्त्तृत्वाद्याश्रयस्यैवाहमर्थाभिन्नज्ञातुरात्मनोबद्धावस्थायां करणविषयसम्बन्धनिमित्तकमेव कर्त्तृत्वं स्वाभाविकदाहकत्वाश्रयाग्नेः काष्ठादिसम्बन्धनिमित्तकदाहकत्ववत्सूपपन्नं, सुषुप्तिमूर्च्छादौ करणविषयादेरभावेन विशेषकर्त्तृत्वाभानस्यापि सूपपन्नत्वात्सामान्यश्वासादिकर्त्तृत्वस्योक्तश्रुत्या तत्रापि सत्त्वाच्च सर्वावस्थानुगतत्वमपि पूर्वोक्तरीत्या सूपपन्नतरम् । ननु तर्हि कर्तृत्वपक्षे जाग्रदवस्थायां कदापि तदुपरमोन स्यात्करणकलापस्य तदा सत्त्वादिति चेन्न, कर्मक्रियाभावस्य तदुपरमे प्रयोजकत्वात् । किञ्च सर्वस्यापि सचेतनस्य कर्मकर्त्रादिकलापस्य सर्वान्तरात्मश्रीपुरुषोत्तमपरतन्त्रत्वात् तन्नियन्तृत्वस्य च बद्धजीवानाद्यदृष्टफलभोगानुरूपदेशकालसापेक्षत्वेन तत्प्रेरणसङ्कल्पस्य भावाभावौ तद्धानोपरत्योर्नियामकौ भवतः, तथात्वे च तत्प्रयोजकसत्त्वे तद्धानं, तदभावे चोपरतिरित्यर्थः । बद्धजीवेत्याद्युक्त्या ब्रह्मणि वैषम्यादिशङ्कापि दूरतोनिरस्ता, तस्य स्वस्वादृष्टवृत्तितया तत्प्रयोजके ब्रह्मणि तदस्पर्शात् । "बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः" इत्यादिश्लोकद्वयेन श्रीमुखगानात् । "फलमतउपपत्तेरि"ति वक्ष्यमाणन्यायाच्च । न चैवं शास्त्राचार्योपदेशस्य निर्विषयत्वेन वैयर्थ्यापत्तिरिति वाच्यम्, उपदेशस्य श्रीहरिप्रयोजकताज्ञानप्राक्कालीनप्रवृत्तिविधायकत्वेन नैराकाङ्क्ष्यादिति भावः । एवं भोक्तृत्वादयोऽप्यूहनीयाः । तथाहि सुषुप्त्यादौ "सुखमहमस्वाप्समि"ति "योऽहं जागर्मि सएवाहं सुखी सुप्तः"-इति स्मरणप्रत्यभिज्ञानप्रमाणसिद्धम्, मोक्षे च "जक्षत् क्रीडन्नि"ति श्रुतिप्रमाणसिद्धं भोक्तृत्वमिति सङ्क्षेपः ॥ ३२ ॥

# सू० विहारोपदेशात् ॥२।३।३३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते" इति विहारोपदेशात्स कर्त्ता ॥ ३३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

विहारोपदेशात् ।

"सईयतेऽमृतोयत्र काममि" ति "स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते" इति च जीव-कर्त्तृकविहारस्य सञ्चरणस्योपदेशाज्जीवः कर्त्ते-त्यर्थः ॥ ३३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विहारोपदेशात् ।

इतश्चाप्यस्य कर्तृत्वं विहारः सञ्चरणं "सईयतेऽमृतोयत्र काममि"ति "स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते" इति च विहार-मुपदिशाति श्रुतिः ॥ ३३ ॥

# सू० उपादानात् । २।३।३४।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"एवमेवैष एतान्प्राणान् गृहीत्वे "ति

उपादानश्रवणात् ॥ ३४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

उपादानात्।

"स यथा महाराजः" इति प्रकृत्य "एवमेवैष एतान्प्राणान्गृहीत्वे"ति "तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये"ति चोपादानात् श्रूयमाणाज्जीवः कर्त्ता ॥ ३४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

उपादानात्।

इतश्चास्य कर्त्तृत्वं "स यथा महाराजः" इति प्रकृत्य "एवमेवैष एतान्प्राणान्गृहीत्वे"ति "तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये"ति चोपादानं सङ्कीर्त्यते, प्राणानामिन्द्रियाणां विज्ञानेन बुद्ध्यादिना विज्ञानं ग्राहकसामर्थ्यमादायेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

सू० व्यपदेशाच्च क्रियाया न चेन्निर्देशविपर्य्ययः ।२।३।३५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

क्रियायां "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इतिकर्तृत्वव्यपदेशाच्चात्मा कर्ताऽस्ति, यदि विज्ञानपदेन

बुद्धिर्गृह्यते नतु जीवस्तर्हि करणविभक्तिप्रसङ्गः स्यात् ॥ ३५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।

लौकिकवैदिकक्रियायां "विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि चे"ति विज्ञानशब्दोदितस्य जीवात्मनः कर्तृत्वव्यपदेशाच्च जीवात्मा कर्त्ता । ननु विज्ञानशब्देन बुद्धिर्ग्राह्या, नतु जीव-इत्यत आह । नचेदिति । विज्ञानपदेन जीवोन गृह्यते बुद्धेर्ग्रहणं चेत्तर्हि निर्देशविपर्ययः स्यात्, बुद्धेः करणत्वात् । विज्ञानेनेति करणव्यपदेशः स्यात्, सतु नास्ति, तस्माद्यथोक्तविभक्त्या कर्तृत्वव्यपदेशोऽयं विज्ञानमिति । तस्माज्जीवः कर्त्तेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इतश्चाप्यस्य कर्तृत्वमित्याह —

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।

यतोऽस्य लौकिकवैदिकक्रियासु "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि चे"ति श्रुत्या कर्त्तृत्वं व्यपदिश्यते । विज्ञानशब्देन जीवस्य न व्यपदेशः, अपि तु बुद्धेरिति चेत्तर्हि निर्देशविप-

येयः स्यात्, बुद्धेः करणत्वेन विज्ञानेनेति करणविभक्त्या निर्देशः स्यात् ॥ ३५ ॥

## सू० उपलब्धिवदनियमः ।२।३।३६।

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

फलोपलब्धिक्रियायां नियमोनास्ति ॥ ३६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

नन्वयं जीवः कर्त्ता चेत्तर्हि पुण्याऽपुण्यक्रियाफलभूतमिष्टमनिष्टं चालोच्यानिष्टान्निर्विण्णोभूत्वेष्टसिद्धये तत्प्रदां क्रियामेव कुर्यादिति चेन्नेत्याह —

उपलब्धिवदनियमः ।

उपलब्धिवत् ( यथा* च ) प्रागनुष्ठितपुण्यापुण्यक्रियाफलभूतयोरिष्टाऽनिष्टयोर्नियमेनोपलब्धिस्तद्वत्क्रियायां नियमोनास्ति, दैवयोगाच्छुभायां क्वचिदशुभायां च प्रवृत्तिदर्शनात् ॥ ३६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु जीवस्य कर्तृत्वे सदा स्वात्मनोहितमेव कुर्यान्नत्वहित-

---

* यथाऽस्य इति पाठो भाति क्वचित्पुस्तके ।

मित्यत्राह —

उपलब्धिवदनियमः ।

तस्य परतन्त्रत्वाद्यथेष्टानिष्टयोरुपलब्धिस्तथा क्रियायामनियमः ॥ ३६ ॥

## सू० शक्तिविपर्ययात् ॥ २।३।३७ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

बुद्धेः कर्तृत्वे करणशक्तिर्हीयेत, कर्तृशक्तिः स्यादतोजीवएव कर्त्ता ॥ ३७ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यत्र विज्ञानशब्देन बुद्धेरेव ग्रहणं, सा च कर्त्री ततोन करणविभक्तिप्रसङ्गोऽत्राह —

शक्तिविपर्ययात् ।

जीवएव कर्त्ता । बुद्धेः कर्तृत्वाङ्गीकारे शक्तिविपर्ययात् करणशक्तिर्हीयेत कर्तृशक्तिः स्यात् । किञ्च बुद्धेः कर्तृत्वे भोक्तृशक्तिरपि बुद्धेरेव स्यात् । एवं सति बन्धमोक्षौ बुद्धेरेव प्रसज्येयाताम् ॥ ३७ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

शक्तिविपर्ययात् ।

यदि विज्ञानशब्दो बुद्धिपरः स्यात्तर्हि बुद्धेः करणशक्ति-र्हीयेत, कर्तृत्वादिशक्तिश्च स्यादतश्चापि जीवस्य कर्तृ-त्वम् ॥ ३७ ॥

## सू० समाध्यभावाच्च ॥ २।३।३८ ।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आत्मनोऽकर्तृत्वेऽचेतनमात्राव्यतिरिक्तकर्तृक-समाध्यभावप्रसङ्गादात्मा कर्त्ता ॥ ३८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

समाध्यभावाच्च ।

चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वकदेहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादि-विलक्षणस्वरूपचिन्तनानन्तरं ब्रह्मात्मकत्वेना-वस्थानं समाधिरेवं लक्षणस्य मोक्षोपायभूतस्य समाधेर्जीवस्याकर्तृत्वेऽभावप्रसङ्गाच्च जीवएव कर्त्तेति गम्यते ॥ ३८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इतश्च प्रत्यगात्मनः कर्तृत्वमित्याह —

समाध्यभावाच्च ।

जीवस्य कर्तृत्वाभावे मोक्षसाधनभूतसमाध्यभावश्च स्यात्,

बुद्ध्यादेरन्योऽस्मीति समाधौ बुद्धेः कर्तृत्वायोगात् ॥ ३८ ॥

## सू० यथा च तक्षोभयथा ॥

॥ २ । ३ । ३९ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आत्मेच्छया यथा तक्षा तथा करोति न करोतीत्युभयथा व्यवस्था सिध्यति, बुद्धेः कर्तृत्वे इच्छाभावाद्व्यवस्थाऽभावः ॥ ३९ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

यथा च तक्षोभयथा ।

प्रवृत्तिनिवृत्तिस्वभावोयावदात्मवृत्तिकर्तृत्वादि-गुणोवागादिकरणकलापसंयुतोऽपि इच्छयां कार्यं करोति न करोति चेत्यात्मनः कर्तृत्वे उभ-यथाऽपि व्यवस्था सङ्गच्छते । यथा तक्षा वास्या-दिकरणसंयुतोऽपि रथादिकमिच्छया करोति न करोति वा, बुद्धेस्तु वास्यादिवत् करणभूतायाः जडत्वात्प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा नोपपद्यते । चेतन-सन्निधेश्च नित्यत्वेन प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतेच्छा-द्यभावेन च सर्वदा प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा स्यात्तस्मादा-

त्मैव कर्तेति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

इति कर्त्रधिकरणम् ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यथा च तक्षोभयथा ।

आत्मनः कर्तृत्वे हि स्वस्य भोगवाञ्छायां करोति तदभावे न करोतीत्युभयाथापि व्यवस्था सिध्यति । बुद्धेः कर्तृत्वे तस्या इच्छायाअभावाद्व्यवस्था न सिध्येत् । यथा तक्षा स्वकार्ये इच्छया-व्यवस्थितः ॥ ३६ ॥    इति कर्त्रधिकरणम् ॥ १० ॥

## सू० परात्तु तच्छ्रुतेः ॥२।३।४०।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तज्जीवस्य कर्त्तृत्वं पराद्धेतोऽस्ति । "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामि"त्यादिश्रुतेः ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीमुक्तं जीवस्य कर्त्तृत्वं परमात्माऽऽयत्तमुत स्वायत्तमिति ? विचार्यते —

परात्तु तच्छ्रुतेः ।

उक्तं यज्जीवस्य कर्त्तृत्वं तत्स्वायत्तमुत परायत्तमिति संशये स्वायत्तमेवेति, लोके कृष्यादिषु रागादिना स्वतएव जनः प्रवर्त्तते, नहि

परमपेक्षते इति × पूर्वपक्षे, उच्यते ×। परात्तद्धेतुभूताज्जीवस्य कर्तृत्वमस्ति। तुशब्दः पूर्वनिषेधार्थः। न स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः। कुतः? "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्योलोकेभ्यः उन्निनीषते, एष एवाऽसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्योलोकेभ्योऽधोनिनीषते, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां यआत्मानमन्तरोयमयती"त्यादिश्रुतेः। "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः। मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं चे"ति स्मृतेश्च ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

परात्तु तच्छ्रुतेः।

तत्पुनर्जीवस्य कर्तृत्वं किं स्वायत्तं? परमात्मायत्तं वा? इति विषये स्वायत्तमेवेति विधिनिषेधशास्त्रस्य सार्थक्यात्। यः स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिनिवृत्तिशक्तः सएव विधिनिषेधविषयोनिग्रहानुग्रहास्पदं च भवतीति प्राप्ते ब्रूमः। परादिति। तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। जीवस्य कर्तृत्वं परमेश्वराधीनमेव। कुतः? तच्छ्रुतेः। कर्तृत्वादेरीश्वराधीनत्वश्रुतेः। "एषह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्योलोकेभ्यउन्निनीषते एषएवासाधु कर्म कारयति

---

× पूर्वपक्षे सिद्धान्त उच्यते-इत्यपि पाठः।

तं यमेभ्योलोकेभ्योऽधोनिनीषते, अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां यम्रात्मानमन्तरोयमयती"त्यादिश्रुतेः पूर्वमेव विस्तृतमेतत् ॥ ४० ॥

## सू० कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित-प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः।२।३।४१॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

वैषम्यादिदोषनिरासार्थस्तु शब्दः। जीवकृत-कर्मापेक्षः परोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि धर्मादिकं कारयति विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः॥ ४१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

ननु परमात्मनः कारयितृत्वे वैषम्यादि-स्यादित्यतआह —

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः।

तुशब्दउक्तशङ्कानिरासार्थः। जीवेन कृतोयः प्रयत्नः धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्षः परमात्माऽन्य-स्मिन्नपि जन्मनि धर्मादिकं कारयति, तदनुरूपं सुखादिकं च ददाति। अतोन वैषम्यादिप्रसङ्गः। ननु परस्य कुतएतत् कृतप्रयत्नापेक्षत्वमि-त्यतआह । "विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः"

इति । श्रीपुरुषोत्तमस्य कृतप्रयत्नसापेक्षत्वे "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामोयजेत, ब्राह्मणोन हन्तव्यः" इत्यादिविहितप्रतिषिद्धयोरवैयर्थ्यं भवति । धर्मकृतोदुःखमधर्मकृतश्च सुखं सम्पादयेदित्यादिदोषआदिशब्दार्थः । परमात्मनः कर्मसापेक्षत्वाद्विधिप्रतिषिद्धकारयितृत्वेन निग्रहानुग्रहकर्तृत्वेन खलु वैषम्यादि नास्ति । "वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वादि" त्यत्र तु विचित्रजगज्जननेन परस्य वैषम्यादि नास्तीत्युक्तमिति विवेकः । तस्माद्धि सर्वशक्तिः सर्वेश्वरः श्रीपुरुषोत्तमः पूर्वकृतधर्माधर्माद्यनुसारेण धर्मादिकारयिता तदनुरूपफलदाताऽतोजीवस्य कर्तृत्वं परायत्तमिति सिद्धम् ॥ ४१ ॥ इति परायत्ताधिकरणम ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वीश्वरस्य कारयितृत्वे धर्ममेव कारयेन्नाधर्ममन्यथा केन चित्पुरुषेण धर्मं, केन चिदधर्मं, कारयतोवैषम्यादिप्रसक्तिरित्यतआह —

कृतयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।

तुरुक्तशङ्कानिरासार्थः । जीवेन कृतोयोधर्माधर्मलक्षणः प्रयत्नस्तमपेक्ष्यैवान्यस्मिन्नपि जन्मनि परमेश्वरोधर्मादिकं कारयति,

तदपेक्ष्य सुखादिफलं च ददातीति। कुतएवमिति चेत्तत्राह। विहितेति। ईश्वरस्य कर्मसापेक्षत्वे हि "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो-यजेत ब्राह्मणोन हन्तव्यः" इत्याद्योर्विहितप्रतिषिद्धयोरवैयर्थ्यं भवति। अन्यथा तच्छास्त्रमनर्थकमेव स्यात्। धर्मकृतोदुःखमधर्म-कृतश्च सुखं सम्पादयेदित्यादिदोषआदिशब्दार्थः॥ ४१॥

इति परायत्ताधिकरणम्॥ ११॥

# सू० अंशोनानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।२।३।४२॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

अंशांशिभावाज्जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति, परमात्मनोजीवोंऽशः "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावि"त्यादिभेदव्यपदेशात् "तत्त्वमसी"त्याद्यभेदव्यपदेशाच्च। अपि च आथर्वणिकाः "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मकितवा" इति ब्रह्मणोहि कितवादित्वमधीयते॥ ४२॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

जीवस्य कर्तृत्वं ब्रह्माधीनमित्युक्तमिदानीं भेदाभेदश्रुत्यविरोधेन तयोः सम्बन्धमाह —

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयते एके ।

किमयं जीवोब्रह्मणोभिन्नः ? उताभिन्नः ? आहोस्वित् ब्रह्मणोंऽशोऽतोभिन्नाभिन्नः ? इति संशये राज्ञः सकाशात्पुरुषइव परमात्मनः सकाशाज्जीवोभिन्नोऽस्तु । अभेदवाक्यानां गौणत्वादज्ञसर्वज्ञयोरभेदासम्भवाच्च । अथवाऽभिन्न-एवास्तु, भेदश्रुतीनां गौणत्वात् । भेदाभेदयो-रन्योऽन्यविरुद्धत्वादभेदश्रुतीनां भेदश्रुतीनां वावश्यं गौणत्वमङ्गीकर्त्तव्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते । नायं जीवः श्रीपुरुषोत्तमादत्यन्तभिन्नः, नाप्यत्यन्ताभिन्नः, किन्तु परमात्मनोंऽशः । "अंशोह्येषपरस्ये"ति श्रुतेः । अंशोहि शक्तिरूपोग्राह्यः "एषपरस्य शक्तिः जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रः" इति श्रुतेः । खण्डरूपोधनादिवद्धांशोनेह गृह्यते, जीवस्य ब्रह्मखण्डत्वे "निष्कलमि"त्यादिवाक्यविरोधाद्धन-वदंशत्वे केवलभेदापत्तेः, "तत्त्वमसी"त्यादि-

वाक्यव्याकोपप्रसङ्गाच्च । अंशित्वावच्छिन्नात्परमपुरुषस्वरूपात्सार्वज्ञ्यादिगुणगणनिधेरंशत्वावच्छिन्नेन बन्धमोक्षार्हेण स्वरूपेण भिन्नोऽप्यंश्यधीनस्थितिप्रवृत्त्यादिमत्त्वात्तदभिन्नः। कुतः ? "नानाव्यपदेशात् । भेदव्यपदेशात् । अन्यथा च। अभेदव्यपदेशाच्च"। उभयविधवाक्यानां तुल्यबलत्वात् जीवपरमात्मनोः स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवतइत्यर्थः। "यआत्मानमन्तरोयमयाति, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्, आत्माहि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः, जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इत्यादिभेदव्यपदेशः। "तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मी"त्याद्यभेदव्यपदेशः। अपि चैके शाखिनः आथर्वणिकाः ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा"इत्येवं ब्रह्मणोदाशकितवादित्वमधीयते ॥ ४२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।

जीवस्य कर्त्तृत्वमीश्वराधीनमिति निरूपितमिदानीं तस्य "अंशोह्येष परस्ये"ति श्रुत्या ब्रह्मांशत्वाभिधानात् "निष्कलं

निष्क्रियमि"ति श्रुत्या च ब्रह्मणोनिरवयवत्वाभिधानादित्युभय-श्रुतिविरोधसन्देहे तदविरोधप्रकारोऽत्र मीमांस्यते । तथाच किमत्यन्तभिन्नांशोऽयं ? किंस्वित्सदुपाध्यवच्छिन्नोब्रह्मप्रदेशः ? ब्रह्मैवाऽविद्यया कल्पितांशइति वा ? उतशक्तिमतः शक्तिरिव स्वाभाविकभिन्नाभिन्नः? इति संशये किन्तावत्प्राप्तं, स्वामिभृत्यपुत्रभ्रातृसखिवदत्यन्तभिन्नएवांशोऽयमिति । कुतः ? नानाव्यपदेशात् "द्वासुपर्णा सयुजा सखायाज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् अनीशया शोचति मुह्यमानः"इत्यादिश्रुतिभ्यः । अभेदश्रुतयस्तु नरपतिरेव सर्वलोकइति वदौपचारिक्यइति, नैतद्युक्तं ब्रह्मणोनिरवयवत्वेनात्यन्तभिन्नांशत्वासम्भवात्, अभेदश्रुतीनामपि प्राबल्येनौपचारिकत्वायोगात् भेदनिन्दाश्रवणाच्च । अथोपाध्यवच्छिन्नस्यानन्यभूतस्य वाचकोऽयमंशशब्दः प्रयुक्तोयथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गस्य, कथं तर्हि निरवयवस्य परमात्मनोंऽशः सम्भवति, आगमादित्यवगम्यते । "यथाऽग्नेः क्षुद्राविस्फुलिङ्गाव्युच्चरन्तीति दृष्टान्तप्रणयनात् । यथा चाकाशस्य पार्थिवाधिष्ठानावच्छिन्नकरणच्छिद्रं, यथा च वायोः पञ्चवृत्तिः प्राणः, यथा च मनसः कामादयोवृत्तयः । सच भिन्नाभिन्नरूपोऽभिन्नरूपं स्वाभाविकमौपाधिकं तु भिन्नरूपमुपाधीनां च बलवत्त्वात् । "तत्सम्मूर्छितस्तन्मयः संसरती"त्यभेदोऽभ्युपगम्यते । "सएव किं नेष्यते नानाव्यपदेशात्, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"इति तत्र तत्र जीवपरयोर्भेदव्यपदेशादस्तु तर्हि भेदएवातआह । "तत्त्वमसि नान्योऽतोस्ति द्रष्टे"त्याद्यभेदव्यपदेशाच्चेत्यपि न सङ्गतं, विकल्पासहत्वात् । तथा हि नतावदुपाधिनाछिन्नोब्रह्मखण्डोजीवः, ब्रह्मणोऽच्छेद्यत्वात्, जीवस्य सादित्वापत्तेश्च । नाप्यच्छिन्नएवाणुरूपोपाध्यवच्छिन्नोब्रह्मप्रदेशविशेषोजीवोंऽशः, ब्रह्मैकप्रदेशे उपाधिसम्बन्धापत्त्या सर्वे दोषास्तस्यैव स्युः ।

किञ्चोपाधौ गच्छति सति ब्रह्मप्रदेशाकर्षणानर्हत्वेनानुक्षणमुपहितब्रह्मप्रदेशभेदेन क्षणे क्षणे बन्धमोक्षौ स्याताम्। आकर्षणपक्षाभ्युपगमे चाच्छिन्नत्वात्कृत्स्नस्याप्याकर्षणं स्यात्। तदसम्भवाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषस्य तादवस्थ्यम्। अविच्छिन्नब्रह्मप्रदेशेषु सर्वोपाधिसंसर्गेण सर्वजीवानां ब्रह्मण एव प्रदेशत्वेनैकत्वप्रतिसन्धानं स्यात्प्रदेशभेदादप्रतिसन्धानाङ्गीकारे चैकस्यापि स्वोपाधौ गच्छति सति स एवाहमिति प्रतिसन्धानं न स्यात्। किञ्चोपाधिना ब्रह्मणो जीवभावे सार्वज्ञ्यादिधर्मा आच्छादिताः? स्वरूपं वा? नाद्यः, असम्भवात्। तथाहि सार्वज्ञ्यादयः स्वाभाविका धर्मा औपाधिका वा? नान्त्यः, औपाधिकत्वे उपाधेः सत्त्वमसत्त्वं वा? सत्त्वेऽपि ब्रह्मभिन्नत्वमभिन्नत्वं वा? भिन्नत्वेऽपि स्वप्रयुक्तमन्यप्रयुक्तत्वं ब्रह्मप्रयुक्तत्वं वा? नाद्यः, आत्माश्रयात्। न द्वितीयः, अनवस्थानात्। न तृतीयः, अन्योऽन्याश्रयात्, प्रयोजकस्य नित्यत्वेनानिवृत्तिप्रसङ्गाच्च। अभिन्नत्वे चौपाधिकभेदासिद्धिः, उपाधिर्ब्रह्मेति समानाधिकरणघटितप्रतीत्यापत्तिश्च। नाप्यसत्यः, परमतप्रवेशापत्तेरनङ्गीकाराच्च। अथ स्वाभाविकत्वपक्षे तेषां×स्वरूपं भिन्नमभिन्नं×वा? भिन्नाभिन्नत्वं वा? अत्यन्तभेदे शास्त्रविरोधः। "एवं गुणान्पृथक्पश्यन्नि"त्यादिनिषेधश्रवणात्। अभिन्नत्वे ब्रह्मणा तेषां सामानाधिकरण्यापत्तिस्तथात्वे "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" "पराऽस्य शक्तिरि"ति व्यधिकरणश्रुतिव्याकोपः। अन्त्ये स्वाभाविकभिन्नाभिन्नानां ह्यावरणासम्भवोऽस्मत्पक्षप्रवेशश्च। अन्यथा स्वरूपस्यावरणापत्तिस्तदङ्गीकारे सार्वज्ञ्यादिहानिः। किञ्चोपाधिः सहेतुको निर्हेतुको वा? नाद्यः, अनवस्थानात्। नान्त्यः, मुक्तस्यापि पुनर्बन्धप्रसङ्गात्। किञ्च ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यादयो व्याप्यवृत्तयः? उतै-

×स्वरूपभिन्नमभिन्नत्वं इत्यपि पाठः।

कदेशवृत्तयः? आद्ये सर्वज्ञस्य सर्वस्यापि बन्धयोगेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गो-जगदान्ध्यापत्तिश्च। द्वितीये तद्गुणानां परिच्छिन्नत्वेनाकिञ्चित्करत्वापत्तिः, मायावादपक्षप्रवेशापत्तिश्च। किञ्च मुक्तावस्थायां जीवः स्वरूपेण तिष्ठति? नवा? आद्ये, उपाधिविगमेऽपि जीवस्वरूपस्य विद्यमानताङ्गीकारे औपाधिकभेदवादोदत्ततिलाञ्जलिः स्यात्स्वरूपेणैव भेदाङ्गीकारात् । द्वितीये, स्वरूपनाशएव मुक्तस्वरूपः स्यात्। तथात्वे च प्रच्छन्नबाह्यान्मायावादिनः कोवा विशेषइति त्वयैव चिन्तनीयः । नाप्युदाहृतदृष्टान्तानामग्निविस्फुलिङ्गप्राणमनोवृत्तीनामत्र प्रामाण्यं वैषम्यात्। अग्निवाय्वोः सावयवद्रव्यत्वेन तत्रांशानां स्वाभाविकानामेव सत्त्वेनोपाधिकल्पनायाअप्रयोजकत्वात् । कामादिवृत्तीनां च मनःपरिणामत्वादेवं जीवस्य ब्रह्मपरिणामत्वापत्तेस्तथात्वे चोभयोरनित्यत्वं स्यात्। तस्मान्न जीवस्योपाधिकृतांशत्वम्। नचोक्तश्रुतेर्निर्विषयत्वेन व्याकोपप्रसङ्ग-इति वाच्यं, तस्याः प्रत्यगात्मनोऽजत्वेऽपि जन्मप्रतिपादकश्रुतिसार्थक्याय देहसम्बन्धाज्जन्मप्रतिपादनपरत्वेन नैराकाङ्क्ष्यात्। वस्तुतोऽत्यन्ताभेदएव पर्यवसानाद्भेदाभेदाङ्गीकारस्य वैयर्थ्यमेव । किञ्च परैरपि विवरणे न तावद्ब्रह्मणोजातिव्यक्तिभावोगुणगुणिभावः कार्यकारणभावोविशिष्टस्वरूपत्वमंशांशिभावोवा विद्यते, मानाभावात्। नच तदभावे भेदाभेदौ दृश्येते, नच "ममैवांशोजीवलोके"इतिस्मृतेरंशांशितेति वाच्यं, "निष्कलं निष्क्रियमि"ति निरंशत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात् । "पादोऽस्य विश्वाभूतानी"ति श्रुतिर्नांशांशिभावं ब्रूते। किन्तु ब्रह्मानन्त्यप्रतिपादनाय जीवस्याल्पमात्रत्वमाह, अन्यथा सांशस्य ब्रह्मणोघटादिवदवयवारभ्यत्वप्रसङ्गात् । ननु स्वाभाविकी निरवयवता बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं सांशत्वमिति नोक्तदोषइति चेन्न, एवमपि वास्तवाभेदो न सिध्येत् । नहि निरवयवमाकाशं खड्गधारादिभिर्वस्तुतो-

भेत्तुं शक्यम् । अथान्तःकरणोपाधीनां वस्तुब्रह्मदारणसामर्थ्यमस्ति तर्हि ब्रह्म स्वस्यानर्थाय कथमुपाधीन् सृजेत् ? नच जीवार्था तत्सृष्टिः, तत्सृष्टेः प्राग्जीवविभागासिद्धेः । नच कर्माविद्यासंस्कारा अन्तःकरणोत्पत्तेः प्राग्विद्यमानाजीवं विभजन्ते, अन्तःकरणद्रव्यस्यैव जीवोपाधित्वाङ्गीकारादित्यादिना बहुशोनिरस्तत्वाच्च । तस्मादुरुपपादोऽयमौपाधिकभेदाभेदवादइति संक्षेपः । ननु स्यादेतदौपाधिकभेदवादे उक्तदोषाणां सम्भवात् तदनङ्गीकारः । अपितु निरंशत्वश्रुतिविरोधात्स्वाभाविकांशत्वाभावेऽपि सूर्यप्रतिबिम्बयोरिव जीवपरयोः कल्पितोंऽशांशिभावः भेदस्याविद्यकत्वात्स्वरूपैक्यमेव परमार्थइति चेन्न, तुच्छत्वादुक्तसिद्धान्तस्य सूर्यप्रतिबिम्बदृष्टान्तेन जीवस्य ब्रह्मांशत्वकल्पनायादृष्टान्तवैषम्येनासम्भवात् । तथाहि यथा सूर्यजलयोर्बिम्बोपाध्योः सावयवत्वरूपादिमत्वात्तत्र प्रतिबिम्बसम्भवः, न तथा दार्ष्टान्ते ब्रह्मरूपबिम्बस्याविद्यारूपोपाधेश्च निरवयवत्वनीरूपत्वाभ्यां तत्सम्भवइति पूर्वमेवोक्तम् । ननु यज्जन्यं तत्सावयवं कार्यत्वाद्घटादिवदित्यनुमानादन्तःकरणस्य सावयवत्वाङ्गीकारान्नोक्तदोषयोगइति चेन्न, "तद्गुणसारत्वादि" त्यस्य भाष्ये भवद्भिरेव जीवस्य स्वरूपेण विभुत्वं निरूप्य अणुत्वोत्क्रान्त्यादिप्रतिपादकसूत्रश्रुतयश्च बुद्ध्यणुत्वपरिमाणपरत्वेन व्याख्यातास्तद्बाधापत्तेः । उपाधेर्निरवयवत्वे प्रतिबिम्बानुपपत्तिः । सावयवत्वे चाणुत्वप्रतिपादकश्रुतिसूत्रभाष्याणां बाधइत्युभयथा पाशारज्जुइत्यलं विस्तरेण । एवं च नैतेषु पक्षेषूभयश्रुत्यविरोधः सम्भवति, अतः परिशिष्टपक्षएव सूत्रकृतामभिप्रेतइति निश्चीयते । तथा च परमात्मनोंऽशोऽयं जीवः । कुतः ? नानाव्यपदेशात् । कथं तर्ह्युक्तविरोधपरिहार इति चेत्तत्राह । अन्यथा चापीति । अनानात्वेनापि अभेदेनापि व्यप-

देशादित्यर्थः । तथा च भेदाभेदव्यपदेशएवं सर्वविरोधपरिहार-हेतुरिति भावः । न चौपाधिकपक्षेऽपि तेनैव सर्वाविरोधसम्भव इति वाच्यम्, उक्तदोषयोगात् । अत्र तूभयोः स्वाभाविकत्वाङ्गीकारात् । नानाव्यपदेशस्तावत् नियन्तृत्वनियम्यत्वस्वतन्त्रत्व-परतन्त्रत्वसर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वाधारत्वाधेयत्वोपास्यत्वोपासकत्वानु-ग्राहकत्वानुग्राह्यत्वप्राप्यत्वप्राप्तृत्वोपकारकत्वोपकार्यत्वैकत्वाने-कत्वविभुत्वाणुत्वादिभिः श्रूयते । " यआत्मानमन्तरोयमयति अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्, आत्माहि परमः स्वतन्त्रोऽधि-गुणः जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे आत्मावा अरे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो-मन्तव्योनिदिध्यासितव्यः यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ब्रह्मविदाप्नोति परं नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां योविदधाति कामान् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अणुर्ह्येष आत्मा चेतसा वेदि-तव्यः"इत्यादिश्रुतिषु । अभेदव्यपदेशश्च " तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मी"त्यादिश्रुतिषु । अपि चैके शाखिनआथर्वणिकाः ब्रह्मणोदाशकितवादित्वमधीयते ब्रह्मसूक्ते "ब्रह्म दाशा ब्रह्मदासा-ब्रह्मेमे कितवाः" इत्यादिना । दाशाः कैवर्ताः प्रसिद्धाः ये चामी दासाः स्वामिष्वात्मानमुपक्षिपन्ति, ये चान्ये कितवाः द्यूत-कृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेत्यर्थः । तथा चोभयोः स्वरूपस्वभावया-थात्म्यप्रतिपादनेन भेदव्यवहारोमुख्यः "एषसर्वभूतान्तरात्मा एत-दात्म्यमिदं सर्वमि"त्यादिश्रुत्या । ब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन सर्वस्य तदपृथक्सिद्धत्वादभेदव्यवहारश्च मुख्यः । एवं च शक्तिमतः शक्तेरिवांशत्वेन भिन्नत्वेऽपि तदपृथक्सिद्धत्वादभिन्नत्वमिति-वत् प्रकृतेऽपि जीवस्य ब्रह्मशक्तित्वाद्ब्रह्मांशत्वेन भिन्नत्वं, तद-पृथक्सिद्धत्वेन चाभिन्नत्वं मुख्यमेवेति राद्धान्तः, उभयविध-वाक्यानां तुल्यबलत्वात् । तथाहि वेदान्तशास्त्रे विविधानि

वाक्यानि दृश्यन्ते, तत्र "नित्योनित्यानां जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः, पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः अक्षरात्परतः परः". इत्यादीनि भेदपराणि। "आत्मावा इदमेकएवाग्रआसीत्, एकोह वै नारायणआसीत् सदेव सोम्येदमग्रआसीत् तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म आत्मैवेदं सर्वं सर्वं, खल्विदं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मी"त्यादीन्यभेदपराणि। "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे"त्यादीनि भेदनिषेधपराणि। "अस्थूलमणिव" त्यादीनि च स्थौल्यादिसामान्यनिषेधपराणि, तत्र भेदवाक्यानां परतन्त्रसत्त्वविषयकत्वेन स्वार्थाभिधायित्वं तस्य बहुत्वात् । स्वतन्त्रसत्त्वविषयका चाभेदवाक्यप्रवृत्तिः तस्यैकत्वात्, तथैव तेषां नैराकाङ्क्ष्यम्। सत्ताहि द्विधा, स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात् । आत्माश्रितत्वे सति स्वायत्तस्थितिप्रवृत्तिकता प्रथमा, नियन्तृत्वादिवत्तत्समानाधिकरणासाधारणधर्मविशेषस्तस्य च भगवद्ब्रह्मादिशब्दवाच्ये श्रीकृष्णे एवान्वयः, तस्यैव सर्वनियन्तृत्वात्, नियन्तृत्वस्वतन्त्रसत्त्वयोः सामानाधिकरण्यनियमात्। "आत्माहि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः, सत्त्वं स्वातन्त्र्यमुद्दिष्टं तच्च कृष्णे न चापरे "इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। परायत्तस्थितिप्रवृत्तिकता द्वितीया, सा च चिदचिदात्मकनियम्यवर्गवृत्तिस्तदसाधारणधर्मत्वात् । "यदासीत् तदधीनमासीत् जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः, अस्वातन्त्र्यात्तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारते"त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। परतन्त्रसत्त्वं द्विविधं, कूटस्थं विकारशीलं च, तत्र कौटस्थ्यं नाम जन्मादिविकारशून्यत्वे सति नित्यत्वं, तच्च जीववर्गाश्रितं, तदाश्रयोजीवप्रत्यगक्षरपुरुषक्षेत्रज्ञादिशब्दाभिधेयः । विक्रियायुक्तत्वे सत्यनाद्यनन्तत्वं द्वितीयं, तच्च प्रकृतिवर्गाश्रितं, तदाश्रयश्च कार्यकारणात्मकप्रधानप्रकृत्यादिशब्दवाच्योऽचिद्वर्गः। तथैव भेदनिषेधपराणां चिदचिद्वस्तुवृत्ति-

स्वतन्त्रसत्त्वनिषेधपरत्वेन स्वार्थे प्रामाण्यम्। भिन्नत्वं नाम स्वतन्त्रसत्तावत्त्वेन स्थितिप्रवृत्त्यर्हत्वं, तच्च नियम्यवर्गे नास्त्येव । तस्य ब्रह्मापृथक्सिद्धत्वादिति भेदनिषेधस्य तात्पर्यार्थः । सामान्य--निषेधपराणाश्च ब्रह्मणः सर्ववैलक्षण्यज्ञापनेन स्वार्थे प्रामाण्यमिति सर्वेषामपि तुल्यबलत्वान्न परस्परं बाध्यबाधकभावः । ननु कथं तुल्यबलत्वं, श्रौतत्वादिति चेत्तर्ह्यर्थवादानामपि स्वार्थे प्रामाण्यापत्तिस्तेषामपि तदविशेषादतोभेदवाक्यानां प्रत्यक्षसिद्धभेदविषयकत्वेनानुवादपरत्वादग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादिवाक्यवत् स्वार्थहीनत्वेन श्रुतिनिन्दितभेदविषयकत्वाच्च दुर्बलत्वमभेदवाक्यानां तु प्रमाणान्तराप्राप्ताभेदविषयकत्वादुपक्रमादिषड्लिङ्गोपेतत्वाच्च प्राबल्यमिति चेन्न, जीवेशयोः प्रतियोग्यनुयोगिनोः प्रत्यक्षागोचरतया तद्भेदस्यापि प्रत्यक्षाविषयत्वात्, निन्दायाश्च पृथक् स्थितिप्रवृत्तियोग्यभेदविषयकत्वेन नैराकाङ्क्ष्यात् । तव सिद्धान्ते प्रत्यक्षप्रमाणस्य सन्मात्रानुभूतिग्राहित्वेनाभिन्ननिर्विशेषसन्मात्रानुभूतेः प्रत्यक्षप्राप्तत्वादभेदवाक्यानामेव तदनुवादपरत्वस्य वक्तुं सुशक्यत्वात् । भेदवाक्यानामपि षड्लिङ्गोपेतत्वाच्च पूर्वोक्तहेतूनामाभासत्वमेव । ननु कोऽयं भेदः स्वरूपं वा ? धर्मोवा ? नाद्यः, स्वरूपवद्भेदस्यापि प्रतियोगिनिरपेक्षव्यवहारापत्तेः हस्तः करइत्यादिवत् भेदोघटइत्यादीनां पर्यायत्वापत्तेश्च । नापि धर्मस्तथात्वे स्वरूपाद्भेदोऽप्यवश्यं भावी । अन्यथा स्वरूपमेव स्यात् । भेदे च तस्यापि भेदस्तद्धर्मस्तस्यापीत्यनवस्था । धर्मिग्रहे भेदग्रहोभेदग्रहे च धर्मिग्रहइत्यन्योऽन्याश्रयश्च । तस्माद्भेदस्यैवासिद्धेः कुतस्तद्विषयकवाक्यानां प्राबल्यमिति चेन्न, तव पक्षेऽपि साम्यात् । तथाहि अभेदः स्वरूपं वा ? धर्मोवा ? नाद्यः, स्वरूपवदभेदस्यापि ग्रहापत्त्या अयं घटः अयं पटइत्यादिप्रतीतिविषयाणां घटादीनामलीकत्वापत्तेः। सर्वप्रत्यक्षाणां सन्मात्रनिर्विशेषानुभूतिग्राहकत्वा-

विशेषे घटाद्यनुभवेनैव सत्तानुभवापत्त्या वेदान्तविचारोद्धत्तिलाञ्जलिः स्यात् । नापि धर्मः, त्वदुत्प्रेक्षितदोषाणामत्रापि तौल्यात् । द्वैतापत्तेर्निर्विशेषत्वप्रतिज्ञाहानेरपसिद्धान्ताच्च । वस्तुतस्तु भेदोजातिवद्धर्मविशेषएव गोत्वादिवत्प्रतीत्यपेक्षया वस्तुनः स्वस्य च भेदव्यवहारहेतुत्वान्नोक्तदोषावकाशइति संक्षेपः । तत्सिद्धं सर्वेषामपि वाक्यानां तुल्यबलत्वं, तेषां सर्वेषां स्वार्थसिद्धये विश्वभिन्नाभिन्नं ब्रह्म सूत्रकृतामभिप्रेतम् । ततश्चैवं तेषां समन्वयः, अभेदवाक्यैर्जगद्ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्यं निरूप्यते, तद्द्विविधं, यथार्थायथार्थभेदात् । अयथार्थमपि द्विविधमध्यासोबाधश्च । तत्राध्यासोनाम प्रमाणबलादन्यत्रान्यस्योपासनाद्यर्थं तत्ताविधानं, यथा "नाम ब्रह्मेत्युपासीते"त्यादिश्रुत्या नामादिप्रतीकेष्वतद्वस्तुषु ब्रह्मत्वेनोपासनविधानम् । बाधितत्वं चोत्तरविरोधिज्ञानविषयत्वं, यथा स्थाणुरेव चौरः स्थाणुज्ञानाच्चौरस्य बाधितत्वात् । उभयोरप्यनयोः सामानाधिकरण्यलक्षणहीनत्वेन गौणत्वादयथार्थत्वम् । यथार्थं च विविधं, कार्यकारणव्याप्यव्यापकाधाराधेयविशेष्यविशेषणात्मात्मीयादिभेदात् । तत्र न तावदध्यासः, विरुद्धत्वात्प्रयोजनाभावेन प्रतीकादिवदत्र प्रमाणाभावाच्च । नापि बाधः, ज्ञानाबाध्यत्वादन्यथा शुक्तिरूप्यवदाकाशादेरपि बाधापत्तिः, सा चादृष्टचराऽनुपपन्नाच । नापि विशेषणविशेष्यता, तदनुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् । परिशेषात्कार्यकारणभावादिरूपमेव ग्राह्यं, तथा च सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णः स्वाश्रितात्मसत्तया स्वनियम्यव्याप्यात्मीयादिरूपात् विश्वस्मादभिन्नः, तथैव चिदचिन्नियम्यवर्गवृत्तिपरतन्त्रसत्त्वाभावरूपेणास्थूलादिवाक्यप्रतिपाद्येन विश्व-विलक्षणत्वापरपर्यायेण सार्वज्ञ्यादिवद्भावरूपेण स्वासाधारणधर्मेण विश्वस्माद्भिन्नइति स्वभावतोविश्वभिन्नाभिन्नः श्रीपुरुषोत्तमः सर्ववेदान्तार्थः । एतदभिप्रायं पुरस्कृत्य तत्त्वमस्यादिवाक्या-

र्थोऽनुसन्धेयः । तथाहि सर्वज्ञः सर्वशक्तिः स्वतन्त्रसत्ताश्रयः श्रीपुरुषोत्तमस्तत्पदार्थः, तदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रयचेतनस्त्वं पदार्थः । असिशब्दश्च तयोस्तादात्म्यसम्बन्धाभिधायकः । एवं च विश्वात्मपरब्रह्मसर्वज्ञसर्वशक्तिस्वतन्त्रसत्त्वावाच्छिन्नतत्पदार्थाभिन्नतदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रयचेतनस्त्वमसीति वाक्यार्थः । पूर्वाचार्यैस्तु सर्वज्ञसर्वशक्तिस्वतन्त्रसत्ताश्रयश्रीपुरुषोत्तमस्तत्पदार्थः । तदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रयजीवान्तरात्मभूतः सएव च त्वंपदार्थः, ब्रह्मणः सर्वात्मत्वस्वतन्त्रसत्त्वाश्रयत्वाभ्यां सर्वशब्दवाच्यत्वात् तयोस्तादात्म्योपदेशार्थोऽसिशब्दः । इत्थं च विश्वात्मपरब्रह्मसर्वज्ञसर्वशक्तिस्वतन्त्रसत्ताश्रयतत्पदार्थाभिन्नतदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रयत्वंपदार्थजीवावच्छिन्नसर्वान्तरात्मा वासुदेवस्त्वं पदार्थोऽसीति वाक्यार्थउक्तः । तत्र ननु त्वंपदस्य जीवपरतया प्रसिद्धस्य कथं जीवान्तरात्मपरत्वमित्याशङ्क्य ब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वादेवेति समाधानं "सर्वाणि नामानि यमाविशन्ति सर्वे वेदायत्पदमामनन्ति नमामः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"इत्यादिशास्त्रात् । विस्तृतश्चैषोऽर्थोऽन्यादिदृष्टान्तेन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यपादैरिति संक्षेपः । नन्वेवं त्वंशब्दस्य जीवान्तर्यामिपरत्वे त्वमसीति मध्यमपुरुषोन घटेत । नहि त्वदन्तर्यामिपरमात्माऽसीत्यन्वयोयुज्यतइति चेदुच्यते, त्वदन्तर्यामीत्यादिशब्दान्तरेणोपस्थापिते जीवान्तर्यामिणि मध्यमपुरुषान्वयासम्भवेऽपि त्वमिति युष्मत्पदोपस्थापिते तस्मिन् तदन्वयोयुज्यते एव । तथाच पाणिनिसूत्रं "युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः"इति प्रत्यगर्थबोधकयुष्मच्छब्दोपपदे मध्यमपुरुषोभवतीत्यर्थः । न पुनर्युष्मच्छब्दस्य प्रत्यगर्थद्वारा परमात्मपर्यन्तत्वे मध्यमनिवृत्तिरिति । "अधिकं तु प्रविष्टं न तद्धानिरि"ति न्यायात् । एवं "सोऽहमस्मि त्वं वा अहमस्मी"त्या-

दिष्वस्मीत्युत्तमपुरुषोऽपि अहंपदेनाभिमुखचेतनद्वारा तदन्तर्यामिणोऽभिधानाभ्युपगमात्तत्रापि " अस्मद्युत्तमः " इति हि स्मर्यते । नत्वस्मच्छब्दस्य स्वाभिमुखचेतनद्वारा तदन्तर्यामिपर्यन्तत्वे उत्तमनिवृत्तिरिति । येतु "तत्त्वमसि, सोऽहमस्मी"त्यादिषु अहंत्वमादिशब्दैर्युष्मदस्मदर्थत्यागेन निर्विशेषचिन्मात्रस्वरूपैक्यमेव वाक्यवेद्यमाहुस्तान् "तत्त्वमसी"त्यादिवाक्यस्थोऽसि शब्दः "सोऽहमस्मी"त्यादिवाक्यस्थोऽस्मिशब्दश्च खण्डयति । श्रोतरि अनुसंधातरि च युष्मदस्मदी, ते हि तैः परित्यक्ते । नहि तेषामसिना कश्चित्प्रबोधनीयः । न चास्मिना कश्चिद्विशिष्यानुसन्धेयोऽस्ति । ननु "त्वं वा अहमस्मि, अहं वै त्वमसी"त्यादौ त्वमहंपदयोरुभयोरपि श्रवणात्कथं पुरुषव्यवस्थेति चेत् ? उद्देशविषयकमेव युष्मदादिपदमुपपदत्वेन पाणिनिसूत्राभिप्रेतं, तथा चोद्देश्यसमर्पकोपपदवशादेवात्र मध्यमोत्तमयोर्व्यवस्था सिध्यति । एवं "तत्त्वमसी"त्यत्रापि त्वंपदार्थ उद्देश्य एव, ततश्चोद्देश्यविषयकं त्वंपदमेव पुरुषनिमित्तं, नतु तत्पदमपीति न प्रथमपुरुषप्रसङ्ग इति ॥ ४२ ॥

## सू० मन्त्रवर्णात् ॥ २ । ३ । ४३ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"पादोऽस्य विश्वाभूतानी"ति मन्त्रवर्णाज्जीवो ब्रह्मांशः ॥ ४३ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

मन्त्रवर्णात् ।

परमात्मनोंऽशएव जीवः । कुतः ? "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी"ति मन्त्रवर्णाच्च पादोंऽशः ॥ ४३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

मन्त्रवर्णात् ।

मन्त्रवर्णादप्युक्तार्थस्य निश्चयः । "एतावानस्य महिमाऽतोज्यायांश्च पूरुषः, पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी"ति भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि दर्शयति । पादशब्दोंऽशवाची चिच्छक्तेरेवांशत्वाभिधानं चात्र ॥ ४३ ॥

## सू० अपि च स्मर्यते ॥ २ । ३ । ४४ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ममैवांशोजीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति जीवस्य ब्रह्मांशत्वं स्मर्यते ॥ ४४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अपि च स्मर्यते ।

"ममैवांशोजीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति जीवस्य स्वांशत्वं श्रीपुरुषोत्तमेनैव

स्मर्यते ॥ ४४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

कुतश्चायमर्थोऽवगम्यतेऽतआह —

। अपि च स्मर्यते ।

भगवद्गीतासु श्रीमुखेनेति शेषः। "ममैवांशोजीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति। चकाराच्छक्तित्वपरामर्शः। तथा च "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतामि"त्यनेन जीवस्य शक्तित्वोक्तस्तस्यैवांशत्वगानादिति भावः। "एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी। यथा परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्। विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता चेतनाख्या तथापरा" इति वैष्णवे जनकवाक्याच्चास्य शक्तित्वनिश्चयः। तस्माच्चिच्छक्तेरेव स्वाभाविकभिन्नाभिन्नांशत्वमिति सिद्धम् ॥ ४४ ॥

## सू० प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ॥

॥ २ । ३ । ४५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

जीवस्य परमपुरुषांशत्वे अंशी सुखदुःखं नानुभवति। यथा प्रकाशादिः स्वांशगतगुणदोषवर्जितोभवति ॥ ४५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु तर्हि जीवगतगुणदोषाः परमात्मनोऽपि स्युरंशस्यांशिपृथक्स्थित्यभावादित्यत आह —

प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ।

परः परमात्मा नैवं भवति, जीवगतगुणदोषभागी न भवतीत्यर्थः । दृष्टान्तमाह । "प्रकाशादिवत्" प्रकाशः सूर्यादिः स यथांशभूतप्रकाशधर्मैः शुद्धाशुद्धपदार्थसंसर्गित्वादिभिर्न स्पृश्यते । आदिशब्देनाकाशादयो गृह्यन्ते । आकाशो यथा शंखकोकिलादिशब्दगतगुणैः, काकादिशब्दगतदोषैश्च, न लिप्यते । तुशब्दोंऽशांशिधर्मसाङ्कर्याऽभावसूचकः । परस्य कर्मवश्यजीवहृदयसम्बन्धात्कर्मवश्यत्वशङ्कया प्राप्तादोषाः "सम्भोगप्राप्ति"रित्यादिना भगवतोऽकर्मवश्यत्वान्निराकृताः । "न स्थानतोऽपी"त्यत्र स्थानस्वभावतोऽकर्मवश्यस्यापि प्राप्तान्निराकरिष्यामः । इह तु स्वांशद्वाराप्राप्तादोषानिराकृता इति बोध्यम् ॥ ४५

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्यादेतत्तथापि जीवस्य स्वाभाविकाभिन्नांशत्वे जीवगताः दोषाब्रह्मण्यप्येव स्युरित्याशङ्क्याह —

प्रकाशादिवत्तु नैवं परः।

यथा जीवः कर्मवशात्सुखदुःखमनुभवति, नैवं परः परमात्मा, तस्य तद्धेतोरभावात्। दृष्टान्तमाह। प्रकाशादिवदिति। यथा प्रकाशस्य सूर्यादेरंशः प्रभा रूपा शक्तिरेवाभ्रादिभिरुपरुध्यते, न सूर्यादिः। यथा वाऽग्नेर्दाहकत्वशक्त्यंशएव मणिमन्त्रादिना निरुध्यते, यथा वा देहिनोमनुष्यादेर्देहरूपांशएव शस्त्रव्याध्यादिभिः छिद्यते विक्रियते च, न देही चेतनः। "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इति गानात्। तथा ब्रह्मांशस्यापि जीवस्यानादिकर्मात्मिकाविद्यापरियुक्तत्वात्तत्कृतसुखदुःखानुभवितृत्वं, न परस्य तद्योगोदोषास्पृष्टस्वभावत्वात्॥ ४५॥

## सू० स्मरन्ति च॥ २।३।४६॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

"तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्योनिर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा। कर्मात्मा त्वपरोयोऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते" इत्यादिना स्मरन्ति च॥ ४६॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

स्मरन्ति च।

"तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्योनिर्गुणः

स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवा-म्भसा । कर्मात्मा त्वपरोयोऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥ स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुन-रि"त्यादिना मुनयोंऽशकृतकर्मफलैरंशएव युज्यते, अंशी तु नेति स्मरन्ति । "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशी"ति श्रूयते च ॥ ४६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्मरन्ति च ।

यथा जीवदुःखेनेश्वरस्यादुःखित्वं तथा ऋषयः स्मरन्ति । "तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्योनिर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ कर्मात्मा त्वपरोयोऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते । स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनरि"ति । चका-रात्समामनन्ति चेति ज्ञेयम् । "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न-न्योऽभिचाकशी"ति । येषां तु जीवोवास्तवोनास्ति, ब्रह्मैवाविद्यया जीवभावं प्राप्तं तेषां कदापि कथंचिदपि नोक्तदोषोद्धारः सम्भवति । कर्मवश्यस्य वस्तुतोऽभावात् ब्रह्मणएव सर्वदोष-प्रसङ्गः । अतएवोदाहृतश्रुतिस्मृत्योरपि न तत्र प्रामाण्यमस्ति । यदि तस्य स्वप्रकाशत्वेन निर्लेपत्वाङ्गीकारस्तर्हि सुखदुःखा-त्मककर्मसम्बन्धस्य तत्फलभोक्तुश्चाभावात्सर्वं शास्त्रं दत्त-तिलाञ्जलिः स्यात् । केचित्तु यथा शुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिविशि-ष्टानां गवादिवस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः यथा वा

देहिनोदेवमनुष्यादेर्देहोंऽशस्तद्वत् एकवस्त्वेकदेशत्वं ह्यंशत्वं विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनोविशेषणमंशएव । तथा च विवेचकाः विशिष्टे वस्तुनि विशेषणांशोऽयं विशेष्यांशोऽयमिति व्यपदिशन्ति । विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते, एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चोपपद्यते इति सिद्धान्तयन्ति । तदसमीचीनं, दृष्टान्तदार्ष्टान्तवैधर्म्यात् । तथाहि यदुक्तं "गोत्वादिविशिष्टानां शुक्लकृष्णादीनां गवादिवस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाइत्यारभ्यांशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते"इत्यन्तं तत्सत्यं, नात्र विवादः, गोत्वादेर्देवमनुष्यादेर्देहस्य च विशेषणत्वसम्भवात्, व्यावर्त्यानां सत्त्वेन व्यावर्त्तकत्वात् । परन्तु यत्पुनरुक्तमेवं "जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चे"ति तदयुक्तं, जीवपरयोर्विशेषणविशेष्यत्वासम्भवात् । चिदचितोर्ब्रह्मविशेषणत्वे ब्रह्मणश्च विशेष्यत्वे चिदचिद्ब्रह्मेतरतत्त्वानङ्गीकारात् । व्यावर्त्याभावेन व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वमिति विशेषणलक्षणसमन्वयाभावात् । नापि विशेष्यरञ्जकविशेषज्ञानहेतुत्वं विशेषणत्वं, "यथा स्वरूपसत्त्वमात्रेण नहि किञ्चिद्विशेषणम् । स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणमि"ति वचनात् । "अतसीपुष्पसङ्काशोगोविन्दः"इत्यत्रातसीपुष्पसादृश्यविशेषणजन्यज्ञानेन गोविन्दपदार्थोरज्यते ध्यातृबुद्धावुपस्थाप्यते, तथा चेतनाचेतनयोरेकतरज्ञाने तदुभयज्ञाने वा विशेष्यभूतस्य ब्रह्मणोरञ्जकत्वाभावात् उपस्थापकत्वासम्भवएव । अन्यथाऽहमर्थतया ज्ञातजीवस्य देहादिरूपेण ज्ञाता ऽचेतनस्य च पुंसो ब्रह्मज्ञानोपस्थितिप्रसङ्गात् । ननु स्वाभाविकभेदाभेदपक्षोऽपि दोषबाहुल्यादसम्भवएव । तथा हीश्वरः स्वरूपेणैव देवासुरनरतिर्यगादिभेदेनावस्थितइति तदात्मकत्ववर्णनात् । तथा च सत्येकमृत्पिण्डारब्धघटशरावादिगतान्युदका-

हरणादिसर्वकार्याणि यथा तस्यैव भवन्ति, एवं सर्वजीवगतसुखदुःखादिकं सर्वमीश्वरगतमेव स्यात् । घटशरावादिसंस्थानानुपयुक्तं मृद्द्रव्यं यथा कार्यान्तरानन्वितमेवं सुरासुरपशुमनुजादिजीवत्वानुपयुक्तेश्वरांशः सार्वज्ञ्यादिगुणाकरः । नच सर्वेश्वरएकांशेन कल्याणगुणाकरः, सएवान्यांशेन हेयगुणाकरः इति युक्तं, द्वयोरंशयोरीश्वरत्वाविशेषात्कस्तेन लाभः? एकस्यैवैकांशेन नित्यदुःखित्वमंशान्तरेण सुखित्वम् । किञ्चांशान्तरेण सुखित्वमपि नेश्वरत्वाय कल्पते । यथा देवदत्तस्यैकस्मिन्हस्ते चन्दनागुरुलेपके पूराद्यलङ्कारएकस्मिन्हस्ते मुद्गरादिपातोज्ज्वालाप्रवेशश्च तद्वदीश्वरस्येद स्यादिति ब्रह्माज्ञानवादादपि महत्पापीयानयं पक्षः । अपरिमितदुःखस्य पारमार्थिकत्वाभ्युपगमात्संसारिणामनन्तत्वेन दुस्तरत्वादिति चेन्न, उक्तशंकायाः महद्भ्रान्तिकल्पितत्वात् अस्माभिः स्वरूपभेदस्य स्वाभाविकत्वाभ्युपगमात् नोक्तदोषसंपृक्तवातलेशस्पर्शावकाशः, श्रुत्यादिषु स्वाभाविकभेदाभेदपक्षस्यैव राद्धान्तत्वात् । यदि जीवपरयोः स्वरूपेणाभेदोऽङ्गीकृतः स्यात्तर्हि भवदुक्तदोषकल्पनावकाशः, सतु नास्त्येवेत्यर्थः । न चैवं परपक्षप्रवेशः, उत्तरभाविनामेव पूर्वसिद्धसिद्धान्तोपजीवित्वनियमात् । युष्मत्पक्षस्यैवास्मत्पक्षानुगामित्वसिद्धिरित्यर्थः । किञ्चाहोमनीषा पूर्वपक्षारोपकाणां स्वप्रयुक्तवज्रस्य स्वसिद्धान्तपर्वते पातोनालोचितः श्रीमद्भिः, सार्वज्ञ्यादिगुणाढ्ये भगवति परब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे चेतनाचेतनयोः पापाविजाड्यादिसंपृक्तयोर्वैशिष्ट्याङ्गीकारात् । तथाहि सार्वज्ञ्यादिविशिष्टस्य ब्रह्मणश्चेतनाचेतनविशेषणे अभिप्रेते? केवलस्य? वा नान्त्यः, निर्विशेषत्वानभ्युपगमात्, इतरथा सार्वज्ञ्यादीनामव्याप्यवृत्तित्वप्रसङ्गात्, मायावादप्रवेशाच्च । किञ्च सार्वज्ञ्यादिविशिष्टस्य चेतनाचेतनविशिष्टस्य चेतरेतराभिन्नत्वे विशिष्टद्वय-

सिद्धया विशिष्टाद्वैतभङ्गात्, चेतनादिविशिष्टप्रदेशस्य सार्वज्ञ्यादिहीनत्वापत्त्या नियन्तृत्वभङ्गाच्च । तथात्वे च त्वत्सिद्धान्त एव त्वदुक्तिवज्रनिपातः । तथाहि यथा कस्य चिन्मानवस्य देहैकदेशे चंदनागुरुलेपादिदेशान्तरे क्षारकर्दमादिलेपनं परिहासार्थं बालैर्लीलया क्रियते, तथा प्रकृतेऽपि परमेश्वरस्यैकदेशे मङ्गलगुणगणादिविविधभूषणयोगः, देशान्तरे सर्वदोषसंपन्नजीवादियोगस्तस्मान्महाबीभत्सितोऽयं भवतां सिद्धान्तः । नाप्याद्यः, विशिष्टवैशिष्ट्यापत्त्या विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तभङ्गात् । किञ्च सार्वज्ञ्यादिसमस्तकल्याणगुणाढ्यस्यैव यदि चेतनादिवैशिष्ट्याभ्युपगमोऽभिप्रेतस्तर्हि सर्ववस्त्रभूषणागुर्वादिदिव्यालङ्कारसंपन्नस्य पुंसोऽतिजीर्णबीभत्सितनीलवस्त्रायोभूषणादिवेष्टनवत्सर्वदिव्यगुणगणाद्यलङ्कृतस्य भगवतः परब्रह्मणउपर्यपरिमितदुःखाद्यवच्छिन्नजीववैशिष्ट्यमभ्युपगतं स्यात् । तस्मान्मायावादादपि महद्दुष्टोऽयं पक्षः, तत्पक्षे सार्वज्ञ्यादिविशिष्टस्य भिन्नत्वाङ्गीकारात् । भवन्मते तूत्तमगुणभूषणस्यैव पापावच्छिन्नजीववैशिष्ट्याङ्गीकारात् । किञ्च तन्मते कल्पितत्वाङ्गीकारेण कदा चिन्निवृत्तिसम्भावनाऽपि भवति । भवन्मते तु कदाचिदपि कथमपि निवृत्तिमनोरथस्याप्यसम्भवः, यावदात्मवृत्तित्वाङ्गीकारात् । तस्मान्महत्पापीयानयं पक्षः, श्रेयोऽर्थिभिरुपेक्षणीयः । अपि च ब्रह्मणोविशिष्टाद्वैतत्वाङ्गीकारेऽपि तस्य चेतनाचेतनाभ्यां स्वभावतोभेदस्तयोश्च परस्परं भेदः स्वाभाविक एवाभ्युपगम्यते भवद्भिः, अन्यथा स्वभावसाङ्कर्यप्रसङ्गात् । एवं च भेदस्याभेदस्य च स्वाभाविकत्वमङ्गीकृत्य पुनर्विशिष्टाङ्गीकारे गौरवमात्रत्वाद्वरीयस्त्वं स्वाभाविकभेदाभेदपक्षस्यैव लाघवादिति संक्षेपः ॥ ४६ ॥

---

# सू० अनुज्ञापरिहारौ देह-सम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥

२ । ३ । ४७ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"स्वर्गकामोयजेत शूद्रोयज्ञे नावक्लृप्तः" इत्याद्यनुज्ञापरिहारावुपपद्येते जीवानां ब्रह्मांशत्वेन समत्वेऽपि विसमशरीरसम्बन्धात्। यथा श्रोत्रियागारादग्निराह्रियते, श्मशानादेस्तु नैव। यथा वा शुचिपुरुषपात्रादिसंस्पृष्टं जलादिकं गृह्यते, नेतरं तद्वत् ॥ ४७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।

ब्रह्मांशत्वादिना जीवानां समत्वे प्राप्ते तत्र किमाश्रित्यानुज्ञापरिहारौ स्याताम्? शृणु! "स्वर्गकामोयजेत, तस्माच्छूद्रोयज्ञे नावक्लृप्त" इत्याद्यनुज्ञापरिहारौ तेषां समत्वेऽपि विसमदेह-सम्बन्धात्सङ्गच्छेते, ज्योतिरादिवत्। यथाऽग्निकणानां

समत्वेऽपि श्रोत्रियागारादग्निकण आह्रियते, श्मशानादेस्तु 'परिह्रियते'। यथा वा मूत्रपुरीषादि गवां पवित्रतयाऽनुज्ञायते, तदेव जात्यन्तरात्परिवर्ज्यते, तद्वत् ॥ ४७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्मांशत्वेन ज्ञानस्वरूपत्वेन च सर्वेषां समानत्वे केषां चिद्वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानाद्यनुज्ञा, केषाञ्चित्तत्परिहारः, केषां चिद्दर्शनस्पर्शनाद्यनुज्ञा, केषां चित्तत्परिहारश्च, शास्त्रेषु कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह —

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञानस्वरूपत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिरूपशुच्यशुचिदेहसम्बन्धनिबन्धनावनुज्ञापरिहारावुपपद्येते, ज्योतिरादिवत् । यथाऽग्नेरग्नित्वेनैकरूपत्वेऽपि श्रोत्रियागारादग्निराह्रियते, श्मशानादेस्तु परिह्रियते। यथाऽन्नादि श्रोत्रियादेरनुज्ञायते, अन्त्यजादेस्तु परिह्रियते। यथा वा मूत्रपुरीषादि गवां पवित्रतयाऽनुज्ञायते, तदेव जात्यन्तरात्परिवर्ज्यते, तद्वत् ॥ ४७ ॥

## सू० असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥

२ । ३ । ४८ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विभोरंशत्वेऽपि गुणेन विभुत्वेऽपि चात्मनां स्वरूपतोऽणुत्वेन सर्वगतत्वाभावात्कर्मादिव्यतिकरोनास्ति ॥ ४८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु विभोरंशत्वाद्विभुगुणत्वाच्च तव मतेऽपि सर्वेषां जीवानां सर्वेषु शरीरेषु सुखादिभोक्तृत्वापत्त्या कर्मव्यतिकरस्तत्फलभोगव्यतिकरश्च प्राप्नोति तस्माद्विभोर्ब्रह्मणोंऽशः, स्वतोऽणुः गुणतोविभुरिति पक्षस्य गौरवात् आत्मा विभुरिति कपिलाद्यात्मवादोवरीयानित्यतआह —

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ।

अणुत्वेनान्योऽन्यभिन्नानां अंशत्वावच्छिन्नेन रूपेणांशिस्वरूपाद्विलक्षणानामात्मनामसन्ततेः सर्वत्राव्याप्तत्वादव्यतिकरः । चशब्दोबद्धास्थायां ज्ञानसङ्कोचं सूचयति ॥ ४८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु सर्वेषामेकरूपत्वे देहसम्बन्धादनुज्ञापरिहारौ चेदेकेनाश्वमेधे कृते सर्वैः कृतं स्यादेकेन सुरापाने कृते सर्वैः कृतमिति कथं

नोच्यते, आत्मनोवास्तवैकत्वादित्याशङ्क्याह —

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ।

ब्रह्मांशत्वेनैकरूपत्वे सत्यपि न व्यतिकरः । कुतः ? असन्ततेः, अव्याप्तेः । सर्वजीवात्मनामणुपरिमाणकत्वात्प्रतिशरीरं स्वरूपेणैव भिन्नत्वाच्च न कर्मसङ्करः, फलभोगसाङ्कर्यं वा । कर्तुर्भोक्तुः स्वस्वे शरीरे स्वरूपेणैव वैलक्षण्यादित्यर्थः । अविद्याकल्पित-जीववादे सत्योपाध्यवच्छिन्नब्रह्मजीववादे वा जीवब्रह्मणोः परस्परं जीवानां च कर्मतत्फलभोगव्यतिकरादयः सर्वे दोषाः सन्ति, नास्मन्मते इति यावत् ॥ ४८ ॥

## सू० आभासा एव च ।२।३।४९॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परेषां कपिलादीनां व्यतिकरप्रसङ्गात्सर्व-गतात्मवादाश्चाभासाएव ॥ ४९ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

आभासा एव च ।

कपिलकणादादीनां सर्वगतात्मवादास्तु आभासा एव, निर्मूलत्वात् । तत्र सर्वव्यवहार-व्यतिकरप्रसङ्गाच्च । च शब्देन तेषां जगद्व्या-मोहकत्वं सूचितम् ॥ ४९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वविद्याकृतजीवपक्षेऽपि उपाधितन्त्रोहि जीव उपाध्यसन्तानाच्च, नास्ति जीवसन्तानस्ततश्च कर्मतत्फलभोगस्य व्यतिकरादयोदोषा न सन्तीत्यत आह —

आभास एव च ।

अखण्डस्वप्रकाशचिन्मात्रशुद्धस्य स्वरूपतिरोधानपूर्वकोपाधिभेदोपपादनरूपोहेतुराभास एव प्रकाशैकस्वरूपस्य प्रकाशातिरोधानं प्रकाशनाश एवेति धर्मान्तरानङ्गीकारात् । आभासाइति पाठे हेतवइति बहुवचनं ज्ञेयम् । चकारः श्रुत्यादिप्रमाणाभावं समुच्चिनोति । सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यतत्त्ववादिनां मते ब्रह्मण्युपाधिकल्पने युक्तयआभासाएव, शास्त्रप्रमाणाभावश्चेति यावत् । चकारात् "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा ज्ञाज्ञौ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ती"त्यादिश्रुतिविरोधश्चेति । अविद्यापरिकल्पितोपाधिभेदेऽपि सर्वोपाधिभिरुपहितस्वरूपस्यैक्याभ्युपगमाद्भोगव्यतिकरस्तदवस्थएव । किञ्चापरे त्वाभासएवेत्येकवचनान्तं सूत्रं पठित्वाऽन्यमर्थं वर्णयन्ति, परमात्माभासोजीवः प्रतिबिम्बात्मा संसार्यविद्याकल्पितः । तस्य परिमितत्वादसन्ततेरव्यतिकरइति, तदयुक्तमाभासस्यावस्तुत्वाभ्युपगमात् । अवस्तुनः शशविषाणकल्पस्याचेतनस्य कुतोबन्धोमोक्षोवा कर्माधिकारोवा । न च परमात्मनः संसारित्वमस्तीत्यादिनाऽन्यैरपि निरस्तत्वात् ॥ ४६ ॥

## सू० अदृष्टानियमात् ॥ २ । ३ । ५० ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्वगतात्मवादेऽदृष्टमाश्रित्यापि व्यतिकरोदुर्वारो-

ऽदृष्टाऽनियमात् ॥ ५० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु नास्त्यस्माकमपि सर्वव्यवहारव्यतिकरो-ऽदृष्टस्य नियामकत्वादित्यत आह —

अदृष्टानियमात् ।

परमते व्यतिकरः प्राप्नोत्येव । सर्वगतानां सर्वेशामात्मनां सन्निधौ उत्पद्यमानमदृष्टं कस्य स्यात्कस्य तु न स्यादित्यदृष्टानियमात् ॥ ५० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु पारमार्थिकोपाध्यवच्छिन्नब्रह्मजीववादेऽनाद्यदृष्टप्रवाहेणोपाधिप्रवाहस्यानादित्वात्तत्सम्बन्धिनि जीवे ये दोषाः, न ते ब्रह्मणि प्रसज्यन्त इत्यतआह —

अदृष्टानियमात् ।

अदृष्टैरपि नियमो न सम्भवति । अदृष्टैस्तत्कृतोपाधिभिश्च ब्रह्मणश्छेदनासम्भवात्तत्कृता दोषा ब्रह्मण्येव स्युः ॥ ५० ॥

सू० अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।

॥ २ । ३ । ५१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अहमिदं करिष्ये, इदं नेति संकल्पादि-

ष्वप्येवमनियमः ॥ ५१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु अहमिदं करिष्ये, इदं नेति यस्याभिसन्धिस्तस्याऽदृष्टमिति नियमोभविष्यतीत्यत आह —

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।

अभिसन्धिः सङ्कल्प आदिशब्देन श्रद्धादेः परिग्रहः । सङ्कल्पश्रद्धादिष्वप्यदृष्टाऽनियमवदनियमएव ॥ ५१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।

अदृष्टहेतुभूताऽभिसन्ध्यादिषु सङ्कल्पादिष्वपि चैवं नियमासम्भव उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावात् पूर्वपूर्वोपाधिसंयुक्तं ब्रह्मैव संकल्पादयस्तद्गताएवेति न कश्चिद्विशेषः । आदिना श्रद्धादिपरिग्रहः ॥ ५१ ॥

सू० प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ २ । ३ । ५२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स्वशरीरस्थात्मप्रदेशात्सर्वं समञ्जसमिति

चेन्न, तत्र सर्वेषामात्मप्रदेशानामन्तर्भावात् ॥ ५२ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते
शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजात-
सौरभे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः
पादः ॥ ३ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ।

नन्वभिसन्ध्यादिषु नियम उपपद्यते प्रदेशात् स्वशरीरस्थे एव खल्वात्मप्रदेशे सङ्कल्पश्रद्धादि-हेतुभूतमनःसंयोगोभवति । तथाभूतादात्मप्रदेशा-दिति चेन्न, तत्रान्येषामप्यात्मप्रदेशानामन्त-र्भावात् । अयमर्थः एकस्मिन्मनसि सर्वात्मनां समवेतत्वान्मनःसंयोगनिमित्ताः सङ्कल्पादयःसाधा-रणा भवितुमर्हन्ति, तन्निमित्तमदृष्टं साधारणमेव । तथासति सर्वव्यवहारव्यतिकरस्तदवस्थः। तस्मा-द्ब्रह्मणः श्रीवासुदेवस्यांशोऽणुपरिमाणोज्ञानस्वरूपो-ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिधर्म्मवान् प्रतिशरीरं भिन्नो-

जीव इति सिद्धम् ॥ ५२ ॥

इति अंशाधिकरणम् ॥ १२ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे द्वितीयाऽध्यायस्य तृतीयपादः ॥३॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ।

ननूपाधिसम्बन्धिब्रह्मप्रदेशादनुपहितब्रह्मप्रदेशोभिद्यते ऽतोव्यवस्थोपपद्यते इति चेन्न, उपाधीनां तत्र तत्र गमनात्सर्वप्रदेशानां सर्वोपाध्यन्तर्भावाद्भोगादिव्यतिकरस्तदवस्थ एव । प्रदेशभेदेन सम्बन्धेऽपि सर्वस्य ब्रह्मप्रदेशत्वात्प्रदेशसम्बन्धिदुःखं ब्रह्मण्येव स्यात् ॥ ५२ ॥ इति अंशाधिकरणम् ॥ १२ ॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां द्वितीयाध्यायतृतीयपादविवरणम् ॥ ३ ॥

---

श्रीमते निम्बार्काय नमः।

अथ द्वितीयाध्याये, चतुर्थपादारम्भः।

# सू०तथा प्राणाः। २।४।१॥।

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

करणोत्पत्तिश्चिन्त्यते खादिवदिन्द्रियाणि जायन्ते ॥ १ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

पूर्वस्मिन्पादे वियदादिश्रुतीनां जीवश्रुतीनां च विरोधाभावोदर्शितः। इदानीं जीवकरणश्रुत्यविरोधप्रकारं दर्शयति —

तथा प्राणाः।

प्रा*णाउत्पद्यन्ते न वा? इति संशये "एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्याद्युत्पत्तिप्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्त्यश्रवणात्। "असद्वा इदमग्रआसीत्" तदाहुः "किं तदसदासीदि"ति "ऋषयोवावते अग्रेऽसदासीत् तदाहुः केते ऋषयः"

---

* इन्द्रियाणि।

इति "प्राणावावऋषयः" इत्यत्रोत्पत्तेः प्राक् प्राणानां सत्त्वश्रवणाच्च नोत्पद्यन्ते इति पूर्वः पक्षः । तत्र ब्रूमः, यथा "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरि"त्यादिवाक्यस्थानि खादीनि भूतानि जायन्ते, तथा प्राणाः इन्द्रियाणि च जायन्ते ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथेन्द्रियाणां सृष्टिविप्रतिपत्तिं परिहरति । तत्र "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, तत्तेजोऽसृजत "इत्यादिसृष्टिप्रकरणे प्राणोत्पत्त्यश्रवणात् "असद्वाइदमग्रआसीत्तदाहुः किं तदसदासीदिति, ऋषयोवावते ऽग्रे ऽसदासीत्तदाहुः केते ऋषयइति प्राणावावऋषयः" इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सत्त्वश्रवणाच्च, "यथाऽग्नेः क्षुद्राविस्फुलिङ्गाव्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वेप्राणा" इति "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि चे"ति "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादि "ति स प्राणमसृजत प्राणात् श्रद्धामि "त्यादिपूत्पत्तिश्रवणाच्च किं प्राणाजायन्ते? न वा? इति संशये किन्तावत्प्राप्तं, न जायन्ते इति। कुतः? "असद्वाइदमि"ति सर्वाभावकथनपूर्वकतत्सद्भावश्रवणादत्र राद्धान्तः ।

तथा प्राणाः ।

यथा आकाशादिभूतानामुत्पत्तिस्तथा प्राणपदाभिधेयेन्द्रियाणामुत्पत्तिर्बोध्या उक्तश्रुतिभिः । "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं

वायुर्ज्योतिरापः, पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमि"त्युत्पत्तिश्रुतीनां बाहुल्यात् ॥ १ ॥

## सू० गौण्यसम्भवात् ॥ २।४।२॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

न च "एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतः इत्यादि-सृष्टिप्रकरणे करणोत्पत्त्यऽश्रवणात्करणोत्पत्तिश्रुति-गौणीति वाच्यम्, उत्पत्तिश्रुतिभूयस्त्वादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधाच्च गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "असद्वा इदमग्रआसीदि"त्यादिश्रुति-विरोधादिन्द्रियोत्पत्तिवादिनी श्रुतिर्गौणीति शङ्कां निराकुर्वन् "प्राणाजायन्ते" इत्यत्र हेतुमाह —

गौण्यसम्भवात् ।

गौण्याः असम्भवोगौण्यसम्भवइन्द्रियोत्पत्ति-श्रुतिर्गौणी न भवति । तस्मात्प्राणाजायन्त एवे-त्यर्थः । कुतोऽसम्भवइति चेत् उत्पत्तिश्रुतेर्मुख्यार्थसम्भवात् । उत्पत्तिश्रुतिबाहुल्यात्, प्रतिज्ञावि-

रोधाच्च । " एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वे-न्द्रियाणि च, यथाऽग्नेः क्षुद्राविस्फुलिङ्गाव्युच्चरन्त्ये-वमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सप्तप्राणा प्रभ-वन्ति " तस्मादित्याद्युत्पत्तिश्रुतिबाहुल्यात् । "कस्मिन्नु भगवोविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भ-वती"ति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय-तात्सिद्धये "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रिया णि चेत्यद्याभिधीयते। सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः सर्वविकारजातस्य तदुपादेयत्वाङ्गीकारे एव सि-ध्यति । "असद्वाइदमग्र आसीदि"ति श्रुतिस्तु कारणपरत्वेन व्याख्येयाऽतोन विरोधः ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु सद्भावश्रवणाविरोधादुत्पत्तिर्गौणीति चेदत्राह —

गौण्यसम्भवात् ।

गौण्याअसम्भवोगौण्यसम्भवस्तस्मात् । प्राणोत्पत्तिश्रुतेर्गौणत्वं न सम्भवति, प्रतिज्ञाविरोधात् । " कस्मिन्नु भगवोविज्ञाते सर्व-मिदं विज्ञातं भवती"ति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये इदमुच्यते " एतस्माज्जायते प्राणः "इत्यादि । सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः सर्वविकारजातस्य तदुपादेयत्वाङ्गीकारे एव सिध्यति, नान्यथा, उपादानापृथक्सिद्धत्वादुपादेयस्येत्यर्थः ।

तथा "आत्मनोवा अरे ! दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितमि"त्याद्यन्यत्रापि श्रवणात् ॥ २ ॥

## सू०तत्प्राक् श्रुतेश्च । २।४।३॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

तस्मिन्वाक्ये खादिषु मुख्यस्य क्रियापदस्येन्द्रियेष्वपि श्रुतेरिन्द्रियोद्भवोमुख्यः ॥ ३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

इतोऽपीन्द्रियाणां मुख्यं जन्मेत्याह —

तत्प्राक् श्रुतेश्च ।

तत्तस्मिन्वाक्ये "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुरि"त्यादौ जायते इति पदस्य खादिषु मुख्यस्य खाद्यपेक्षया प्रागेव निर्दिष्टेष्विन्द्रियेषु श्रुतेरिन्द्रियाणामुत्पत्तिवादिनी श्रुतिर्मुख्यैव । जायते इति पदस्येन्द्रियेषु गौणत्वं खादिषु मुख्यत्वं च न सम्भवत्यपि तूभयत्र मुख्यत्वमेव ॥ ३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तत्प्राक् श्रुतेश्च ।

तस्य जायतइति पदस्याकाशादिषु मुख्यस्य प्रागपि प्राणादिषु

श्रवणादाकाशादिवत्प्राणानां मुख्यैव जन्मश्रुतिः । "एतस्मा- ज्जायते प्राणः" इति सकृदुच्चरितोबहुभिः सम्बध्यमानोजायते इति शब्दः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद्गौणइति निर्णेतुमशक्यत्वात् वैरूप्यप्रसङ्गात् । तथा "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धामि"त्या- दावपि प्राणे श्रुतः सृजतिः परेष्वपि श्रद्धादिष्वनुषज्यते । तथा "आत्मनोऽभ्युच्चरन्ति" इत्यादावप्येष न्यायोबोध्यः ॥ ३ ॥

# सू० तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥२।४।४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्राणाः खादिवदुत्पद्यन्ते वाक्प्राणमनसाम् "अन्नमयं हि सौम्य ! मनः आपोमयः प्राणस्तेजो- मयी वागि"त्यनेन तेजोऽबन्नपूर्वकत्वाभिधा- नात् ॥ ४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

यदुक्तं सृष्टिप्रकरणे इन्द्रियोत्पत्तिर्न श्रूयते इति तत्राह —

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।

छान्दोग्ये वाक्प्राणमनसाम् । "अन्नमयं हि सौम्य ! मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि"त्य- नेन ब्रह्मप्रकृतिकतेजोऽबन्नपूर्वकत्वाभिधानात्

अस्त्युत्पत्तिरित्यर्थः । तस्मात्सृष्टिप्रकरणेऽप्युत्पत्तिसद्भावादिन्द्रियोत्पत्तिश्रुतिभूयस्त्वात्सृष्टेः प्राक्सद्भावश्रुतेरन्यविषयत्वादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धेश्चेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते इति सिद्धम् ॥ ४ ॥

इति प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।

यद्यपि सृष्टिप्रकरणे तेजोऽबन्नानां त्रयाणामेवोत्पत्तिः श्रूयते, तथापि वाक्प्राणमनसां ब्रह्मप्रकृतिकतेजोऽबन्नपूर्वकत्वाभिधानात् "अन्नमयं हि सोम्य! मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि" त्यत्र भूताप्यायकत्वादपि मुख्यमेव जन्मेति निश्चीयते। नहि स्वतः सिद्धं वस्तु परानुग्राहकत्वमपेक्षतइति भावः । तस्माद्वागादीनां भूतानुग्राह्यत्वं वदन्ती श्रुतिः । तत्सद्भावमनुवदतीति तात्पर्यार्थः ॥ ४ ॥ इति प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

## सू० सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥

२ । ४ । ५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तानि सप्तैकादश वे? ति संशये "प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती" ति गतेस्तत्र सप्ताना-

मेव"न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशते" इति विशेषितत्वाच्च सप्तैवेन्द्रियाणीति पूर्वपक्षः ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीमिन्द्रियाणां सङ्ख्यानिर्णेतुकामस्तद्विषयकवाक्यविरोधपरिहाराय पूर्वपक्षयति —

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।

तानीन्द्रियाणि सप्त भवन्ति? आहोस्विदेकादशे?ति संशये "प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती" ति सप्तानामेवगतेः सप्तैव भवन्ति । सप्तैवानूत्क्रामन्तीति कथमवगम्यते, विशेषितत्वाच्च । "सयत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथाऽरूपज्ञोभवत्येकीभवति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशते " इति चक्षुरादीनां सप्तानामेव विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ प्राणविषयकसङ्ख्याविप्रतिपत्तिपरिहारायेदमारभ्यते —

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।

कतीतरे प्राणा इति विषयः " अत्र सप्त प्राणाः प्रभवन्ति

तस्मादि"ति अष्टौ ग्रहा" इति "सप्त वै शीर्षण्याः द्वाववाञ्चावि"ति "नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी"ति "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशे"त्यादिश्रुतिषु सप्तादिचतुर्दशपर्यन्तप्राणसङ्ख्या दृश्यते, अतः संशयः कतीतरे प्राणा इति, किं तावत्प्राप्तम्? सप्तैव। कुतः? गतेरिति। "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादि"ति श्रुत्यावगमात्। नच "गुहाशया निहिताः सप्त सप्ते"ति वीप्साश्रुतिविरोधइति वाच्यं, विप्सायाः पुरुषभेदाभिप्रायकत्वात्। तथा च प्रतिपुरुषं सप्तेत्यर्थः। नन्वेवमष्टत्वाद्यधिकसङ्ख्याश्रुतेर्व्याकोपइति चेत्तत्राह। विशेषितत्वाच्चेति। "सप्त वै शीर्षण्याः प्राण"इति तावन्मात्रेण श्रुत्या विशेषितत्वात्, अधिकस्य चात्रैवान्तर्भावादित्यर्थः ॥ ५ ॥

# सू० हस्तादयस्तु स्थिते ऽतो-नैवम् ॥ २।४।६॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

सप्तभ्योऽतिरिक्ते "हस्तो वै ग्रह" इत्यादिना निश्चिते सप्तैवेन्द्रियाणीति नैवं मन्तव्यम्। "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशे"ति श्रुतेः एकादशेन्द्रियाणीति सिद्धान्तः ॥ ६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

सिद्धान्तयति —

हस्तादयस्तु स्थिते ऽतो नैवम् ।

तुशब्दः पूर्वपक्षिणोऽन्धत्वं बोधयति । "हस्तो-वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां कर्म करोती"ति सप्तभ्योऽतिरिक्ता हस्तादयोऽपि श्रूयन्ते, अतोहस्तादिकेऽतिरिक्ते स्थिते सर्वे प्राणा अनूत्कामन्तीति सर्वेन्द्रियाणामुत्क्रान्त्यविशेषाच्च सप्तैवेति, नैवं मन्तव्यम् । किन्तु "दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादश " इन्द्रियाणि दशैकं च" त्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्यामेकादशेन्द्रियाणि भवन्ति । तत्र श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, तेषां शब्दादयः पञ्चविषयाः । वाक्पाणिपादपायू-पस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, तेषां वचनादयः पञ्चविषयाः । सङ्कल्पादिहेतुः अन्तरिन्द्रियं मनः, इत्थमेकादशैवेन्द्रियाणीति सिद्धम् ॥ ६ ॥

इति सप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत्र सिद्धान्तः —

हस्तादयस्तु स्थिते ऽतो नैवं हि ।

हस्तादयस्त्वन्ये प्राणाः सप्तभ्यो भिन्नाः श्रुत्या पठ्यन्ते । "हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्रहेण ग्रहीतोहस्ताभ्यां हि कर्म

करोती"त्यादिश्रुतिषु ज्ञिते सप्तत्वातिविलक्षणो सप्तानां तदधिकसङ्ख्यायामन्तर्भावोऽयुक्तः, न त्वधिकसङ्ख्याया हीनसङ्ख्यायां, अन्याय्यत्वात् । अतः हस्तादीनां सप्तातिरिक्तत्वादेव नैवं, सप्तैवेति न मन्तव्यम् । तथा चैवं व्यवस्था, प्राणास्तावदेकादशसङ्ख्याका एव । कार्यस्यापि तावन्मात्रत्वात्, फलाभावे साधनापेक्षाभावात् । "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशे"ति । अत्रात्मशब्दोऽन्तःकरणरूपमनोवाचकः, करणस्यैवाधिकारात् । तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयकानि पञ्चज्ञानानि तत्करणानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि । वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दरूपाश्च पञ्चकर्मविशेषास्तत्करणानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, वाक्हस्तपादपायूपस्थाख्यानि । सङ्कल्पादिकं चान्तरं कर्म, तत् करणं च मनइति । "इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा"-इति श्रीमुखोक्तेः । तत्र सप्तसङ्ख्याया अन्तर्भावे दोषलेशावकाशोऽपि नास्ति । अधिकसङ्ख्याश्रुतेस्तु मनोवृत्तिभेदमादाय सामञ्जस्यं बोध्यम् । तथाहि मनसएव वृत्तिभेदेन चातुर्विध्यात् तस्यैव द्वित्वविवक्षया द्वादशत्वं, त्रित्वविवक्षया त्रयोदशत्वं, चतुष्कविवक्षया च चतुर्दशत्वं, श्रुतिभिरुच्यते । तथात्वे च सर्वश्रुतीनां स्वार्थपरत्वेन नैराकांक्ष्यात्सामञ्जस्यमेव । अधिकसङ्ख्याकल्पनस्य वैयर्थ्यादेकादशैव प्राणा इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

इति सप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

# सू० अणवश्च ॥२।४।७॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ती"त्युत्क्रान्तिश्रुतेः

प्राणा अणवः ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीमिन्द्रियाणां परिमाणं दर्शयति —

अणवश्च ।

प्राणा अणवः ? उत विभवः ? इति संशये अपरिच्छिन्नाहङ्कारकार्य्यत्वाद्विभव इति साङ्ख्या आहुः । "ते एते समा अनन्ता" इति श्रुतेश्च विभव एवेति पूर्वः पक्षः "प्राणमनूत्क्रामन्तामि"त्याद्युत्क्रान्तिश्रुतेः अणव इति सिद्धान्तः । अपरिच्छिन्नादपरिच्छिन्नं कार्यं जायते इति नियमो नास्ति, बृहतो वृक्षादेरल्पस्य पुष्पादेरुत्पत्तिदर्शनात् । श्रुतिस्त्वसङ्ख्येयत्वविषया "अथ यो हैतानन्ताानुपास्ते" इति श्रुत्युक्तोपासनार्थावा । तस्मादिन्द्रियाण्यणूनीति सिद्धम् ॥ ७ ॥

इति प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथेन्द्रियाणां परिमाणविवादं परिहरति —

अणवश्च ।

प्रकृताः प्राणा इन्द्रियाणि विभवः ? अणवोवा ? किन्तावत् प्राप्तं, विभव इति । कुतः ? "ते एते सर्वे समा अनन्ता" इति अनन्तत्वश्रुतेः ।

अत्र राद्धान्तः। अणवश्च, चोनियोगे। प्रकृताप्राणाअणवएव। कुतः? प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणाअनूत्क्रामन्ती"ति उत्क्रान्त्यादि-श्रवणात्। तेषामुत्क्रान्त्यादिषु पार्श्वस्थैरनुपलभ्यमानत्वाच्च न स्थौल्यमपीति भावः। नचानन्तविधायकवाक्यविरोधः शङ्कनीयः, तस्यासङ्ख्यातत्वविधानपरत्वात्। यद्वा "अथ यो हैताननन्ता-नुपास्ते" इति श्रुत्युक्तोपासनार्थत्वात्। नच मनसोऽणुत्वे सर्व-देहगतसुखदुःखाद्यनुभवाभावप्रसङ्ग इति वाच्यं, तस्य सङ्कोच-विकाशशीलत्वात्। अन्यथा ध्रुवादिविषयपर्यन्तानुभवानुपपत्तेः। अन्येषां चक्षुरादीनां तेन विनाऽकिञ्चित्करत्वादिति भावः॥ ७॥

इति प्राणाणुत्वाधिकरणम्॥ ३॥

## सू० श्रेष्ठश्च॥ २।४।८॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

"श्रेष्ठोमुख्यः प्राणो वाव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्चे"ति श्रुतिप्रोक्तः प्राणोमहाभूतादिवदुत्पद्यते। कुतः? "एतस्माज्जायते प्राणः" इति समानश्रुतेः॥ ८॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

इदानीं प्रसङ्गान्मुख्यस्य प्राणस्योत्पत्त्यादिविचा-र्यते —

श्रेष्ठश्च।

"प्राणो वाव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्चे"ति श्रुतिप्रोक्तः

शरीरस्थितिहेतुर्मुख्यः प्राणोमहाभूतादिवदुत्पद्यते न वे ? ति सन्देहे, नोत्पद्यते । कुतः ? "न मृत्यु-रासीदमृतं न तर्हि न हि रात्र्या अह्नः आसी-त्प्रकेतः आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धा-न्यन्न परः किञ्च नास" तिवाक्ये आनीत् आसीदि-त्यर्थकेन आनीच्छब्देन प्राणसञ्चारस्य महा-प्रलयवेलायां श्रुतत्वात् । इति प्राप्ते ऽभिधीयते । श्रेष्ठश्च मुख्यः प्राणोऽपि भूतादिवदुत्पद्यते "एत-स्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुरि"त्यत्र महाभूताद्युत्पत्तिवन्मुख्यप्राणोत्पत्तेरपि श्रुतत्वात्, सृष्टेः प्रागेकत्वावधारणाच्च । "न मृत्युरि"त्यादिवाक्यार्थस्तु तर्हि तस्मिन्महाप्रलय-समये मृत्युर्मारकोनासीत्, स्वधया सह अमृतं पितृणामन्नेन सह देवानामन्नं नासीत्, रात्रे-रह्नश्च प्रकेतश्चिह्नभूतः चन्द्रोरविश्च नासीत्, तद्विश्वस्य बीजभूतमेकं ब्रह्मैव आनीत्, आसीत् कथं भूतं अवातं वाय्वाद्यादिकार्य्यरहितं कारणावस्थ-मित्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्किञ्चिदपि नासन-बभूवेति । तस्मात् खादिवन्मुख्यप्राणोऽप्युत्पद्यते इति सिद्धम् ॥ ८ ॥ इति मुख्य प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

श्रेष्ठश्च।

प्राणसम्वादे शरीरधारणहेतुतया निश्चितोमुख्यः प्राणः श्रेष्ठ-शब्दाभिधेयः "प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चे"ति श्रुतेः। स च जायते? न वे ति? संशये, न जायते। कुतः? "न मृत्युरासीद-मृतं न तर्हि न रात्र्या अन्हआसत्प्रकेतः आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्च नास"ति श्रुतौ आनीदिति प्राणकर्मोपादानात् प्रागुत्पत्तेः प्राणस्य सद्भावावगमादिति प्राप्ते राद्धान्तः। श्रेष्ठश्चेति। श्रेष्ठः मुख्यः प्राणोऽपि भूतादिवदु-त्पद्यते। कुतः? "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि चेत्यत्र मनसइन्द्रियेभ्यश्च तस्य पार्थक्येनोत्पत्तिश्रवणात्। न चोक्तश्रुति-विरोधइति वाच्यं, तस्याः परमकारणब्रह्मपरत्वात्। नाप्यानी-दिति पदं प्राणसद्भावे मानम्, अवातमिति विशेषणश्रवणात्। "अप्राणोह्यमना"इति श्रुत्यन्तरोक्तब्रह्मलिङ्गत्वादवातस्य अवातम-प्राणमित्यर्थः। अन्यथाऽद्वितीयादिश्रुतिव्याकोपादित्यर्थः। पूर्वन्याय-सिद्धेः पृथग्योगकरणमुत्तरचिन्तार्थम्॥ ८॥

इति मुख्यप्राणोत्पत्त्यधिकरणम्॥ ४॥

# सू० न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्।

२। ४। ६॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

वायुमात्रं करणं क्रिया वा प्राणो न

भवति, किन्तु वायुरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः इत्युच्यते । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुरि"ति पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं तत्स्वरूपमाह —

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।

स च ज्येष्ठः प्राणो महाभूतविशेषोवायुः ? उतेन्द्रियाणां सामान्यावृत्तिः ? किम्वा महाभूतविशेषोवायुरेव कश्चन विशेषमापन्नः प्राणः ? इत्युच्यते इति संशये "यः प्राणः स वायुः सएष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानोव्यान उदानः समान" इति वचनात् वायुरेव, यद्वा साङ्ख्याभिमतइन्द्रियाणां सामान्यावृत्तिः पञ्चप्रकारः प्राण इति प्राप्तेऽभिधीयते । न वायुमात्रं प्राणः, न चेन्द्रियव्यापारलक्षणासामान्यावृत्तिः प्राणपदार्थः । कुतः ? पृथगुपदेशात् । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुरि"त्यत्र महाभूतद्वितीयाद्वायोरिन्द्रियेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशात् ।

प्राणस्य वायुमात्रत्वे पृथग्व्यपदेशबाधप्रसङ्गः । करणसामान्यवृत्तित्वे च वृत्तिमद्भयः पृथग्व्यपदेशो व्यर्थः स्यात् । पृथगुत्पन्नस्य सुतरां द्रव्यत्वे सिद्धे द्रव्यान्तररूपकरणव्यापारत्वासम्भवात् । परिशेषान्महाभूतविशेषोवायुरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः । एतेन "यः प्राणः स वायुरि"त्यादिवाक्यविरोधोऽपि परिहृतः ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।

स पुनः स मुख्यः प्राणः किं वायुस्तत्करणव्यापार अथ वायुरेव कश्चन विशेषमापन्नइति संशये राद्धान्तमाह । प्राणः वायुतत्त्वान्तर्गतइन्द्रियव्यापाररूपातत्क्रिया च न भवति । कुतः ? पृथगुपदेशात् । न चैवं "यः प्राणः स वायुः सएष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानोव्यानउदानः समानः" इति श्रवणविरोधइति वाच्यं, "प्राणएव ब्रह्मणश्चतुर्थपादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति चे"ति श्रुतेः । नहि वायुरेव सन्वायोः पृथगुपदिश्येत इत्यर्थः । तथा क्रियाख्यः करणव्यापारोऽपि पृथक्त्वेनोपदिश्यते, "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि चे"त्यत्र प्राणस्य करणेभ्यः पृथगुपदेशात् । नहि सर्वेषां कारकाणामेकव्यापारत्वसम्भवः, प्रत्येकं तेषां भिन्नव्यापारत्वनियमात् । अन्यथा सर्वेषामपि सर्वव्यापारकत्वापत्तेः । नच "यः प्राणः स वायुरि"त्यादिश्रुतिविरोधस्य तादवस्थ्यमिति वाच्यं, वायुरेवायमध्यात्म-

भावात्मकावस्थापन्नः पञ्चरूपात्मना वर्त्तमानः प्राणाख्ययोच्यते न द्रव्यान्तरं, "न वा वायुमात्रमित्यविरोधादुभयश्रुतेः । एतेन "सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्चे"ति करणानां सामान्या वृत्तिः प्राणइति साङ्ख्यपक्षो निरस्तः ॥ ६ ॥

## सू० चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥२।४।१०॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

श्रेष्ठोऽपि प्राणश्चक्षुरादिवज्जीवोपकरणविशेषः । कुतः ? प्राणसम्वादादिषु चक्षुरादिभिः सह प्राणस्य शिष्ट्यादिभ्यः शासनादिभ्यः ॥ १० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

प्राणस्य जीवं प्रति चक्षुरादिवदुपकारकत्वं जीवाधीनतया दर्शयति —

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।

प्राणस्येन्द्रियापेक्षया श्रेष्ठत्वेऽपि जीववत् स्वातन्त्र्यं नास्तीति तु शब्दार्थः । प्राणश्चक्षुरादि-

वद्भवति, यथा चक्षुरादीनि जीवोपकरणानि, तथा जीवोपकरणविशेषः प्राण इत्यर्थः । कुतः ? अस्य जीवं प्रत्युपकरणत्वं गम्यते । तत्राह । तत्सहशिष्ट्यादिभ्य इति । तैश्चक्षुरादिभिः सह प्राणस्य प्राणसम्वादादिषु शिष्ट्यादिभ्यः शासनादिभ्यः । आदिना ऽचेतनत्वस्वातन्त्र्यानर्हत्वादिहेतुसङ्ग्रहः ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु "सुप्तेषु वागादिषु प्राण एकोजागर्ति प्राणएकोमृत्युना ऽनाप्तः प्राणः सम्वर्गो वागादीन्सम्वृङ्क्ते प्राण इतरान् प्राणान्रक्षति मातेव पुत्रानि"ति प्राणस्य शरीरेन्द्रियादीन् प्रति स्वातन्त्र्यश्रवणात् स्वतन्त्रः प्राण इत्यभ्युपगन्तव्यमित्याशङ्क्य समभत्ते —

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।

तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । यथा चक्षुरादीनि जीवकर्तृत्वादिव्यापारं प्रति करणानि तथा मुख्यप्राणोऽपि राजमन्त्रिवदुपकरणभूतएव, न स्वतन्त्रः । कुतः ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । शिष्टिः शासनं चक्षुरादिभिः सह तस्यापि शासनश्रवणात्प्राणसम्वादे । तत्सजातीयत्वे हि तैः सह शासनं युज्यते, प्राणशब्दपरिगृहीतकरणेष्वस्य विशिष्याभिधानमादिशब्देन ग्राह्यम् । अथ "य एवायं मुख्यः प्राणः योऽयं मध्यमः प्राणः" इत्यादिषु विशिष्याभिधानाज्जीवं प्रति चक्षुरादिवदुपकारकत्वमिति सिद्धम् ॥ १० ॥

# सू० अकरणत्वाच्च न दोष-स्तथाहि दर्शयति॥ २।४।११॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ननु प्राणस्य जीवोपकरणत्वे तदनुरूप-कार्य्याभावेनाकरणत्वाद्दोष इति न, यतो देहे-न्द्रियविधारणं प्राणासाधारणं कार्य्यम्। "अहमेवै-तत्पञ्चधात्मानं विभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारया-मी"ति श्रुतिर्दर्शयति ॥ ११ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति।

ननु यथा दृश्यसद्भावे द्रष्टृत्वं सङ्गच्छते, तथा करणसाध्यकार्य्यसद्भावे करणत्वं स्यात्तच्च न दृश्यते ऽतः प्राणस्याकरणत्वमस्तु । तस्माद-करणत्वात् प्राणस्य जीवोपकरणत्वे नैष्फल्य-रूपोदोषो ऽस्तीत्यत्राह। नेति । उक्तलक्षणोदोषो-नास्ति। हि यतः यथा प्राणस्य जीवोपकर-णत्वे साफल्यं स्यात्तथा भगवती श्रुतिः

प्राणस्यापीन्द्रियान्तरेष्वसम्भावितं देहेन्द्रिय-धारणलक्षणं प्रयोजनं दर्शयति प्राणसम्वादे। "तान्वरिष्ठः प्राणउवाच मा मोहमापद्येथा ऽहमे-वैतत्पञ्चधात्मानं विभज्यैतद्बाण*मवष्टभ्य विधा-रयामीति ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

ननु यदि चक्षुरादिवदस्य जीवं प्रत्युपकरणत्वं तर्ह्यस्य विषयरूपकार्यमपि द्वादशमङ्गीकार्यं, तथा चैकादशसङ्ख्याककार्या-भ्युपगमसिद्धान्तभङ्ग इत्याशङ्कायां समाधानमाह —

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति।

चः शङ्कोच्छेदार्थः। नोक्तदोषप्रसङ्गावकाशः। चक्षुरादिवत् मुख्यप्राणस्य अकरणत्वात् जीवव्यापारं प्रति तस्य करण-त्वाभावात्। तर्हि किमर्थोऽस्याङ्गीकारस्तत्राह। तथाहि दर्शयति। हीति निश्चयार्थः। श्रुतिस्तस्य भिन्नमसाधारणं कार्यान्तरं दर्श-तीत्यर्थः। तथाहि प्राणसम्वादे "अथ ह प्राणा अहं श्रेयसे व्यूदिरे" इत्युपक्रम्य, "यस्मिन्नुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठः" इत्युक्ते वागादीनां प्रत्येकमुत्क्रान्तौ प्रव-चनादिवृत्तिमात्रहीनं यथापूर्वं जीवनं दर्शयित्वा, प्राणस्योच्चि-क्रमिषायां वागादिशैथिल्यापत्तिं शरीरपातप्रसक्तिं च निरूप्य, प्राणाधीनां देहादिस्थितिं प्राणासाधारणकार्य्यभूतां दर्शयति।

---

*शरीरम्।

"तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथा ऽहमेवैतत्पञ्चधात्मानं विभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामी "ति । किञ्च "प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायमि "ति चक्षुरादीनां लये प्राणकृतदेहादिरक्षां दर्शयति । किञ्च "कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तोभविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामी "ति " स प्राणमसृजते "त्यादिना प्राणाधीनां जीवस्य स्थितिमुत्क्रान्तिं च दर्शयतीति ॥ ११ ॥

## सू॰ पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते २ । ४ । १२ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यथा बहुवृत्तिर्मनः स्ववृत्तिभिः कामादिभिः जीवस्योपकरोति, तथा अपानादिवृत्तिभिः पञ्चवृत्तिः प्राणोऽपि जीवोपकारकत्वेन व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

एकएव प्राणः वृत्तिभेदाद्बहुधा व्यपदिश्यते, न तत्र तत्त्वान्तराणि सन्ति, सच न केवलं देहेन्द्रियधारणमात्रेण जीवस्योपकरोति, किन्त्वन्यैरपि कर्मभिरित्याह —

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ।

"कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनएवे"ति वचनात् । यथा मनएव कामादिवृत्तिमत्स्ववृत्तिभिर्जीवस्योपकरोति, न कामसङ्कल्पाद्यस्तत्त्वविशेषाः । तथा प्राणापानव्यानोदानसमानाइत्येतत्सर्वं प्राणएवेत्यनेन वचनेन प्राणएव पञ्चवृत्तिर्व्यपदिश्यते, अपानादयः प्राणस्यैव वृत्तयः, न तत्त्वान्तराणि स्ववृत्तिभिः स एव जीवस्योपकरोतीत्यर्थः । एवं सति वायुरेवास्थान्तरापन्नः जीवोपकरणभूतोबहुवृत्तिमान् श्रेष्ठः प्राणइति सिद्धम् ॥ १२ ॥

इति वायुक्रियाधिकरणम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु तथापि नैकत्वं प्राणस्यानेकत्वश्रवणात् । तथाहि प्राणोऽपानोव्यान उदानः समानश्चेति तत्र प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा नासादिसञ्चारी प्राणः । अपानोऽर्वाग्वृत्तिः । निःश्वासादिकर्मा व्यानस्तयोः सन्धौ वर्तमानोवीर्यवत् कर्महेतुः उदानः । ऊर्द्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः समानः । "समं सर्वेष्वङ्गेषु रसान्नयती"ति । एवं संज्ञासङ्ख्याकार्यभेदात्तत्त्वान्तरत्वमेव तेषामिति चेदत्राह —

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ।

प्राणादिसंज्ञकाः पञ्चपञ्चवृत्तिः प्राण एव, न तत्त्वान्तरम्, "एतत्सर्वं प्राणएवे "ति वचनात् । तत्र दृष्टान्तः । मनोवदिति । "कामः सङ्कल्पोविचिकित्सा श्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनएवे"ति वत् । यथा सङ्कल्पादयोमनोवृत्तिविशेषास्तथा प्राणापानादयोऽपि प्राणवृत्तय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

इति वायुक्रियाधिकरणम् ॥ ५ ॥

## सू० अणुश्च ।२।४।१३॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

उत्क्रान्तिश्रुतेः प्राणो ऽणुश्च ॥ १३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं मुख्यप्राणस्य परिमाणश्चिन्त्यते —

अणुश्च ।

श्रेष्ठः प्राणोमहापरिमाणः ? उताणुपरिमाणः ? इति संशये " प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितं सर्वं हीदं प्राणेनावृतमि"ति श्रुतेर्महापरिमाण इति प्राप्तेऽभिधीयते। श्रेष्ठः प्राणो ऽणुश्च ज्ञेयः " तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती " त्युत्क्रान्तिश्रुतेः ।

उक्तश्रुतिस्तु समष्टिप्राणपरा तस्माच्छ्रेष्ठो ऽणुरिति सिद्धम् ॥ १३ ॥इति श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा

स चाणुरित्याह —

अणुश्च ।

व्याख्यातप्रायमिदं इतरप्राणोक्तन्यायस्यात्राप्यवतरणीयत्वात् । ननु "समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समो ऽनेन सर्वेण प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितं प्राणेनावृतमि"ति विभुत्वश्रवणाद्विभुत्वमेव । अन्यथोक्तशास्त्रविरोधो दुःपरिहर इति चेन्न, उक्तश्रुतेः समष्टिप्राणपरत्वेनाविरुद्धत्वात् ॥ १३ ॥　इति श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥ ६ ॥

## सू० ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥२।४।१४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

वागादिकरणजातमग्न्यादिदेवताप्रेरितं कार्य्ये प्रवर्तते "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदि"त्यादिश्रुतेः ॥ १४ ॥

———

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीमिन्द्रियाणां प्रवृत्तिर्विचार्य्यते —

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।

चक्षुरादीनीन्द्रियाणि स्वस्वविषये स्वमहिम्नैव प्रवर्त्तन्ते ? उत स्वस्वाधिष्ठातृदेवताप्रेरितानीति ? संशये स्वमहिम्नैव । "चक्षुषा हि रूपाणि पश्यती "ति श्रुतेरिति प्राप्ते उच्यते । ज्योतिरित्यादीति । तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । ज्योतिराद्यैभिः अग्न्यादिभिर्देवताभिरधिष्ठितमेव वागादिकं चेष्टते । अधिष्ठीयते प्रेर्यते इत्यधिष्ठानं प्रवर्त्यमित्यर्थः । यथा रथादिकं सारथ्यादिभिरधिष्ठितं प्रवर्त्तते, तद्वत् । कुतः ? तदामननात् । तस्याग्न्याद्यधिष्ठितत्वस्य आमननात् । आम्नायोक्तत्वात् । " अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणोभुत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा ऽक्षिणी प्राविशदि"त्यादिना प्रेर्य्यप्रेरकभावं विनाऽग्न्यादिप्रवेशस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गः स्यात् । चक्षुषा हीत्यादिश्रुतेस्तु

## चक्षुरादेः करणत्वप्रतिपादनमात्रेण चरितार्थत्वं बोध्यम् ॥ १४ ॥

### वेदन्तकौस्तुभप्रभा ।

अथेन्द्रियाणि स्वतन्त्रतया स्वयमेव स्वकार्ये प्रवर्तन्ते ? स्वस्वाधिष्ठातृदेवताप्रेरितानि वा ? किन्तावत्प्राप्तं, स्वयमेव प्रवर्तन्त इति। कुतः ? तेषां तादृक्शक्तिमत्त्वात् । अत्र ब्रूते —

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।

ज्योतिरादिभिरग्न्यादिभिरधिष्ठानमधिष्ठितं वागादिककरणजातं देवताप्रवर्तितं सत् स्वकायार्थे प्रवर्तते, न स्वातन्त्र्येण । कुतः ? तदामननात् । "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशदि "त्यादिश्रवणात् । अध्यात्माधिभूताधिदैवैः सर्वज्ञानक्रियाव्यवहारसिद्धिरिति तात्पर्यार्थः । तत्राध्यात्मशब्दः करणपरः । अधिभूतशब्दोविषयपरः, अधिदैवशब्दश्च करणाधिष्ठातृदेवतावर्गवाचकः । "चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतं श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं नासाऽध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं जिह्वाऽध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतमि "त्यादिश्रुतिभ्यः । अत्र पृथिवीशब्देनाश्विनौ लक्ष्येते, शास्त्रान्तरविरोधपरिहारार्थं जडायाः प्रेरकत्वासम्भवात् । "वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणाः तत्त्वदर्शिनः । वक्तव्यमधिभूतं च वह्निस्तत्राधिदैवतमि"त्यादिस्मृतेश्च । उक्तहेतोराभासत्वनिर्णीतं भवति, रथादीनां शक्तिमत्त्वेऽपि अनुडुहादिकं विना प्रवृत्त्यदर्शनात् ।

अप्रयोजकत्वं जडत्वेन सत्प्रतिपक्षत्वं च । इन्द्रियाणि न स्वातन्त्र्ययोग्यानि, जडत्वात्, करणत्वाद्वा रथादिवत्, वास्यादिवच्चेति । तस्माच्छास्त्रादिप्रमाणबलेन पराधिष्ठितत्वसापेक्षत्वमेवेति सिद्धम् ॥ १४ ॥

## सू० प्राणवता शब्दात् २।४।१५ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवेनैवेन्द्रियाणां स्वस्वामिभावः सम्बन्धः स भोक्ता "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषणं चक्षुषः पुरुषोदर्शनाय चक्षुरि"त्यादिशब्दात् ॥ १५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

यद्येवं तर्हि भोक्तृत्वमपि देवानामेव स्यादित्यत आह —

प्राणवता शब्दात् ।

देहेन्द्रियधारणहेतुः प्राणोऽस्यास्तीति प्राणवान् तेन प्राणवता जीवेनेन्द्रियाणां स्वस्वामिभावः सम्बन्धोऽस्ति । एवं सति प्राणवानेव करणसाध्यभोगभागीत्यर्थः । कुतः ? शब्दात् । "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषणं चक्षुः स चाक्षुषः

पुरुषो दर्शनाय चक्षुः अथ यो वेदेऽदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमि"त्यादिश्रुतेः ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु यदि देवताधिष्ठितत्वमेव तेषामङ्गीक्रियते तर्हि तदधिष्ठातृदेवतानामेव भोक्तृत्वमपि स्वीकार्यं चेतनत्वात्तथात्वे च शरीरिभोक्तृत्वस्याप्रयोजकत्वापत्तिरित्याशङ्क्य तत्परिहारमाह —

प्राणवता शब्दात् ।

प्राणोऽस्यास्तीति प्राणवांस्तेन प्राणवता प्राणोपलक्षितदेहेन्द्रियादिसमुदायस्वामिना शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धो, न देवताभिः । कुतः? शब्दात् । श्रुतिमुखेन तथैवावगमात् । "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषोदर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमि"त्यादिश्रुतिः शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धं दर्शयति । परमपुरुषेणेन्द्रियाधिष्ठातृदेवानां द्वारि द्वारपालानामिव करणप्रवर्तकत्वे निरूपितत्वात् न भोक्तृत्वादिषु, नहि स्वामिभोगे द्वारपालानामधिकारः सम्भवति । तासां तद्भिन्नदिव्यभोगदानाच्च । तस्माद्भगवदाज्ञया शारीरकरणानि स्वस्वकार्ये प्रेरयन्त्योदिव्यभोगान् भुञ्जन्ति, श्रीभगवदाज्ञाभङ्गभिया नान्यत्र भोगे तासां प्रवृत्तिरिति भावः "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः, एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि !

सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादिना देवतानां परनियोज्यत्वश्रवणात् । "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः" इत्यादिस्मृतेश्च ॥ १५ ॥

## सू० तस्य नित्यत्वात् ॥ २।४।१६ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उक्तलक्षणस्य सम्बन्धस्य जीवेनैव नित्यत्वान्न त्वधिष्ठातृदेवताभिः ॥ १६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

तस्य नित्यत्वात् ।

इतोऽपि करणसाध्यफलभोक्ता तत्स्वामी प्राणवानेव । नतु तदधिष्ठातृदेवतानां तादृशफलभोक्तृत्वम्, तस्येन्द्रियसम्बन्धस्य प्राणवतैव नित्यत्वात् । "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"ति शब्दात् । देवतास्तु श्रेष्ठे ऐश्वर्ये स्थिताः, नतु हीने "न ह वै देवानऽघं गच्छती"ति श्रुतेः ॥ १६ ॥

———

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तस्य च नित्यत्वात् ।

तस्य करणसम्बन्धस्य शारीरेणैव नित्यत्वान्न देवताभिरिति सूत्रार्थः । उत्क्रान्त्यादौ तदनुवृत्तिदर्शनात् " तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"तिश्रुतेः । तस्मात्करणाधिष्ठातृदेवतानां सत्त्वेऽपि शारीरस्यैव भोक्तृत्वं, न देवतानामिति सिद्धम् । अत्र केचित् तादिदं जीवस्याग्न्यादिदेवतानां च प्राणविषयमधिष्ठानं किं स्वायत्तं ? परायत्तं ? वेति विषये स्वायत्तमिति प्राप्ते उच्यते । ज्योतिराद्यधिष्ठानमिति । प्राणवता जीवेन सह ज्योतिरादीनामग्न्यादिदेवतानां प्राणविषयमधिष्ठानं तदामननात् तस्य परमात्मनः सङ्कल्पादेव भवतीत्यर्थः । कुतः ? शब्दात् । इन्द्रियाणां साभिमानिदेवतानां जीवात्मनश्च परमपुरुषामननाय तत्त्वं शास्त्रात् इति सिद्धान्तितं, तच्चिन्त्यम् । यद्यपि चेतनाचेतनस्वरूपस्थित्यादिकं परमेश्वराधीनमिति सर्वसम्मतम्, अस्माकं तु अभीष्टतममेव श्रुतिप्रमाणसिद्धत्वात् । तथापि उक्तार्थस्य " परात्तु तच्छ्रुतेरि "त्याद्युक्तशास्त्रेणैव सिद्धतया पौनरुक्त्यदोषस्यावश्यं भावादिति मनीषिभिरनुसन्धेयम् । ननु यथा प्राणापानादयो मुख्यप्राणस्य वृत्तिविशेषास्तथेतरे प्राणाश्चक्षुरादयोऽपि तद्रूपा एव । न तत्त्वान्तराणि । कुतः ? तथैव श्रूयमाणत्वात् " हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्नि "त्यादिना ॥ १६ ॥

---

# सू० त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ २।४।१७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

श्रेष्ठप्राणभिन्नत्वेन तेषां प्राणानाम् "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे"ति व्यपदेशात्ते प्राणा इन्द्रियसंज्ञकानि तत्त्वान्तराणि, नतु श्रेष्ठवृत्तिविशेषाः ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

"हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामे"ति एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्नि"ति श्रुतेः । श्रेष्ठप्राणस्यैवेतरे प्राणाश्चक्षुरादयोवृत्तिभेदाः, न तेषां तत्त्वान्तरत्वं, येन प्राणवता तेषां सम्बन्धान्तरत्वं स्यात्प्राणसम्बन्धेनैव नैराकाङ्क्ष्यादित्याशङ्क्याह —

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।

श्रेष्ठात्प्राणादन्यत्र तत्तेषाम् ". एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च "ति व्यपदेशात्ते श्रेष्ठतरे प्राणा इन्द्रियाणी"ति शब्देन

तत्त्वान्तराणि व्यपदिश्यन्ते। अन्यथा "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यनेनैवाऽपानादिग्रहणवच्चक्षुरादीनामपि ग्रहणे सिद्धे सर्वेन्द्रियाणि चेति पृथक् व्यपदेशोऽव्यर्थः स्यात्। तस्मादिन्द्रियाणां तत्त्वान्तरत्वात्प्राणसम्बन्धात्तेषां सम्बन्धोहि प्राणवता पृथगेव वक्तव्यः। मच वाच्यं पृथग्व्यपदिष्टं मनोऽपीन्द्रियं न स्यादिति, "मनः षष्ठानीन्द्रियाणी"ति "इन्द्रियाणि दशैकं चे"ति स्मृतेः। "दशेमे पुरुषे प्राणाआत्मैकादशे"ति श्रुतेश्च मनसोऽपीन्द्रियत्वाभ्युपगमात्। नापि पृथग्व्यपदेशोमनसो व्यर्थः, "इन्द्रियाणां मनश्चास्मी"ति वचनान्मनसो हीन्द्रियनायकत्वेन पृथग्व्यपदेशस्याप्यर्थवत्त्वात्। "हन्तास्यैवे"त्यादिश्रुत्या तु प्राणाधीनप्रवृत्तिमत्त्वमिन्द्रियाणामुच्यते। प्राणाधीनत्वादपीन्द्रियाणि प्राणाइत्युच्यन्ते। यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"ति जगति ब्रह्मशब्दप्रयोगस्तदधीनत्वादपि ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

किञ्च प्राणैकशब्दश्रवणादपि तत्त्वाभेदोनिश्चीयते इत्याशङ्क्योत्तरमाह —

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।

ते प्रकृताः प्राणावागादयइन्द्रियाण्युच्यन्ते, तानि तत्त्वान्तराण्येव, न मुख्यप्राणस्य वृत्तयः । कुतः ? तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् । श्रेष्ठादन्यत्र मुख्यप्राणं विना तद्भिन्नतयेति यावत् । तेषां वागादीनां श्रुतौ व्यपदेशात् "एतस्माज्जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिना । ननु तर्हि मनसोऽपीन्द्रियत्वं न स्यात्, पृथगुपदेशाविशेषादिति चेन्न, तस्य मनसः श्रुतिव्याख्यारूपस्मृतौ ह्यीन्द्रियत्वाभ्युपगमात् । "इन्द्रियाणि दशैकं च" ति श्रीमुखोक्तेः । "दशेमे पुरुषे प्राणाआत्मैकादशे" तिश्रुतेश्च । समानजातीयत्वमेकां जातिं क्रियां गुणां चाश्रित्य सङ्ख्याप्रयोगाः प्रवर्तन्ते, यथाष्टौ ग्रहारूपादिज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वाच्चेन्द्रियत्वं मनसइति भावः । ननु कथं तर्हि चक्षुरादौ प्राणशब्दप्रयोगइति चेन्न, प्राणाधीनप्रवृत्तिकत्वेनेन्द्रियाणां तत्तानिर्देशस्य गौणत्वेनाविरोधात् "तस्मादेत एतेनाख्यायन्त" इतिश्रुतेः मुख्यप्राणविषयस्यैव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वावगमादित्यर्थः ॥ १७ ॥

## सू० भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ॥

२ । ४ । १८ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वागादिप्रकरणमुपसंहृत्य "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुरि" ति तेभ्योवागादिभ्यः श्रेष्ठस्य प्राणस्य भेदश्रवणात् देहेन्द्रियादिस्थितिहेतोः श्रेष्ठात्

प्राणादिन्द्रियाणां विषयग्राहकत्वेन वैलक्षण्याच्च तानि तत्त्वान्तराणि ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ।

"ते ह वाचमूचुरि"त्युपक्रम्यासुरविध्वस्तवागादीन्द्रियप्रकरणमुपसंहृत्य "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुरि"ति भिन्नप्रकरणेऽसुराविध्वंसिनोमुख्यस्य प्राणस्य वागादीन्द्रियेभ्योभेदेन श्रवणात् देहेन्द्रियधारणहेतुः श्रेष्ठः प्राणः "वचनादिविषयाणि वागादीनीन्द्रियाणी"त्यादिबहुवैलक्षण्याच्च मुख्यप्राणादितरे प्राणास्तत्त्वान्तराणीत्यर्थः । तस्माद्देवताऽधिष्ठिता जीवसम्बन्धिनः इन्द्रियशब्दवाच्याः श्रेष्ठात् प्राणादितरे प्राणास्तत्त्वान्तराणीति सिद्धम् ॥ १८ ॥

इति ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च

मुख्यप्राणस्येन्द्रियाणां च भेदश्रवणादपि मुख्यप्राणादिन्द्रियाणां तत्त्वान्तरत्वमित्यर्थः । "ते ह वाचमूचुरि"त्युपक्रम्य

यागादीनामसुरविध्वस्तानामुपन्यासं कृत्वा तत्प्रकरणोपसंहारे "अथ हममासन्यं प्राणमूचुरि"त्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथक्त्वेनोपक्रमणात् । अत्रैव हेत्वन्तरमाह । वैलक्षण्याच्चेति । मुख्यप्राणादितरेषां वैलक्षण्यादपि तत्त्वान्तरत्वमिति सूत्रार्थः । तथाहि प्राणस्य वागादिषु सुप्तेषु जागरणम्, इन्द्रियाणां मृत्युव्याप्तत्वेन प्राणस्य मृत्युना ऽनाप्तत्वं, तेषां विषयग्रहणहेतुत्वं, प्राणस्य तु देहादिधारणापातनहेतुत्वं, च श्रुतिषु दर्शनाद्वैलक्षण्येन तत्त्वान्तरत्वमित्यर्थः । इन्द्रियेषु श्रवणाद्योधनाद्यसाधारणवृत्तयः, प्राणस्य तु सर्वेन्द्रियेषु परिस्पन्दरूपासाधारणवृत्तिरिति विवेकः । अत्र प्रमाणभूताः श्रुतयस्तु पूर्वमेव पठिता अनुसन्धेया इति संक्षेपः । ननु "तत्तेजोऽसृजत तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः एतस्माज्जायते प्राणः"इत्यादिजगत्सृष्टिविषयश्रुतीनां परस्परविरुद्धसृष्टिक्रमपरत्वदर्शनात् इतरेतरबाध्यबाधकभावापत्त्या ह्येकतमस्यापि क्रमस्य प्रामाणिकत्वं न स्यात्, सर्वेषामपि श्रौतत्वाविशेषादिति चेन्न, गुणोपसंहारन्यायेन न्यूनाधिकसङ्ख्योपक्रमस्य पौर्वापर्यक्रमस्याविरोधेन सर्वस्यापि सामञ्जस्यात् । तथा चोक्तः विवरणकारैः श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणैः "गुणोपसंहारन्यायेन सर्वस्य वाक्यजातस्य सामञ्जस्यमेवे"त्यादिना । एतदुक्तं भवति सृष्टिक्रमश्रुतीनां परस्परविरोधे कथा चिद्व्यवस्थयैव भाव्यम् । अन्यथैकतमस्या अपि श्रुतेर्बाधायामर्धमास्तिकत्वापत्तेः । तत्र प्रलयश्रुतेः प्रबलत्वात् तदनुसारेण सर्वास्वपि सृष्टिविषयकासु श्रुतिषु गुणोपसंहारन्यायेन सृष्टिक्रमोपन्यासः कर्त्तव्यः । तथात्वे तु न कश्चिद्विरोधावकाशः । तथैवाम्नायते सुबालोपनिषदि लयक्रमः "पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि प्रलीयन्ते, तेजोवायौ प्रलीयते, वायुराकाशे प्रलीयते, आकाशइन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ प्रलीयन्ते, भूतादिर्महति

प्रलीयते, महानव्यक्ते प्रलीयते, अव्यक्तमक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवती"त्यादिना। व्याख्याता चेयं श्रुतिर्वैष्णवे श्रीपराशरेण। "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे! पृथिव्यप्सु प्रलीयते। तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजोवायौ प्रलीयते। वायुश्चलीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते" इत्युक्त्वा "प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि। परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः। विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते" इत्यादिनेति संक्षेपः॥ १८॥

इति ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम्॥ ७॥

## सू० संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्। २।४।१९॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी"ति नामरूपव्याकरणमपि त्रिवृत्कुर्वतः परस्यैव कर्म। य एकैकां देवतां त्रिरूपामकरोत्स एव हि अग्न्यादित्यादीनां नामरूपकर्त्ता। कुतः? "सेयं देवते"त्युपक्रम्य"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्र-

विश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति व्याकरणस्य परदेवताकर्तृकत्वोपदेशात् ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं तावज्जिज्ञास्यलक्षणाकांक्षावशाज्जगत्कारणं तदिति पूर्वाऽध्याये निरूपितमिह तु तद्वाढ्यांय परोक्तकारणपरीक्षापूर्वक×स्वाभिमतजगत्कारणप्रतिपत्तये×ब्रह्मकर्तृकं वियदादिकं सुदृढं निरूपितमथेदानीं नामरूपयोर्व्याकरणे परब्रह्मकर्तृके वक्ष्यमाणश्रुतिस्थजीवपदेन जातां शंकां निराकरोति —

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्

छान्दोग्ये सत्प्रकरणे "सेयं देवतैक्षत,हंताहमिमास्तिस्त्रोदेवता, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी"तिं नामरूपव्याकरणं श्रूयते, तद्धि जीवकर्तृकमुत परमात्मकर्तृकम् ? जीवकर्तृकमेव । कुतः ? "अनेन जीवेनात्मनाऽनु-

× एतच्चिन्हान्तरे स्थितोऽधिकः पाठोदृश्यते क्वचित्पुस्तके ।

प्रविश्ये" ति निर्देशात्। इति प्राप्ते उच्यते। तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। सञ्ज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिर्नामरूपव्याकरणं त्रिवृत्कुर्वतो योहि सर्वज्ञः समर्थ एकैकां देवतां त्रिरूपामकरोत्तस्य परमात्मनः कर्म भवितुमर्हति। कुतः? सेयं देवतैक्षते" त्युपक्रम्य नामरूपे व्याकरवाणीति उत्तमपुरुषप्रयोगेण त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी" ति नामरूपव्याकरणं सङ्कल्पः, तत्सिद्धये एकैकां देवतां त्रिरूपामण्डोत्पत्तेः प्राक् संविधाय ततोऽण्डमुत्पाद्य तत्र प्रविश्य नामरूपे कृतवान्। त्रिवृतकरणश्रुतिः पञ्चीकरणोपलक्षणार्था। एवं त्रिवृत्कुर्वतः परस्य ब्रह्मण एव नामरूपव्याकर्तृत्वोपदेशात्, नामरूपव्याकर्णानर्हत्वाच्च जीवस्येत्यर्थः। जीवप्रयोगाभिप्रायस्तु "अरूपवदेव ही" त्यत्र स्फुटीभविष्यति ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

सञ्ज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्।

छान्दोग्ये सत्प्रकरणे "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी"ति नामरूपव्याकरणमाम्नातं, तत्र संशयः, एतन्नामरूपव्याकरणव्यापाराश्रयो जीवः परमात्मा वेति ? किन्तावत्प्राप्तं, जीव एवेति । कुतः ? अनेन जीवेनात्मने"ति विशेषोक्तेः । यथा चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य सङ्कलयानीति प्रयोगे चारकर्तृकमेव परसैन्यप्रवेशकलनं हेतुकर्तृत्वेन राज्ञि उपचर्यते उत्तमपुरुषप्रयोगेणैव । तथा जीवकर्तृकमेव सन्नामरूपव्याकरणं हेतुकर्तृत्वेन परमात्मन्युपचर्यते उत्तमपुरुषप्रयोगेणेति । अत्र राद्धान्तः । सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति । संज्ञा च मूर्त्तिश्च संज्ञामूर्ती, तयोः क्लृप्तिः समर्थनं व्याकरणं, सा च त्रिवृत्कुर्वतः त्रिवृतिकर्तुः परमेश्वरस्यैव कर्म, न जीवस्य । कुतः ? उपदेशात् "सेयं देवतैक्षते"त्यादिना व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव व्याकर्तृत्वोपदेशात् व्याकरणप्रवेशयोः समानकर्तृत्वोपपत्तेश्चेति सूत्रार्थः । ननु "अनेन जीवेनाऽत्मने"ति विशेषश्रवणाज्जीवस्यैव कर्तृत्वं युक्तमिति चेन्न, नामरूपव्याकरणात्प्राक्कर्तृत्वे जीवस्य सामर्थ्याभावात् । अन्यथा प्रलयेऽपि तस्य कर्तृत्वसामर्थ्ययोगे प्रलयाभावप्रसङ्गात् । एतेन समष्टिजीवाभिमानिचतुर्मुखस्यैव नामरूपव्याकरणं कर्मेति पक्षो निरस्तः । तस्यापि त्रिवृत्कृतभूतनिर्मितब्रह्माण्डजन्मानन्तरोत्पत्तिकत्वात् । "तस्मिन्नेवाभवद्ब्रह्मा सर्वलोकपितामह" इति स्मरणात् । किञ्च त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदं नामरूपव्याकरणमित्यवगम्यते । प्रत्येकं नामरूपव्याकरणस्य तेजोऽबन्नोत्पत्तिवचनेनैव निर्णयात् । नामरूपव्याकरणं विना तेजोऽबन्नमित्यादिनाम्ना निर्देष्टुमशक्यत्वात् तेजइत्यादिनामाद्यभावे केन निर्दिशेत् । यथा नामरूपव्याकरणात् प्राक् देवदत्तस्य पुत्राइति सामान्यनिर्देशे सत्यपि देवदत्तस्य त्रयः पुत्रा यज्ञदत्तोऽग्निदत्तो ब्रह्मदत्तश्चेति निर्देशासम्भवः नामादिव्याकरणोत्तरं तु सम्भवत्येव । तथा नाम-

रूपव्याकरणात्प्राक् परमेश्वरसृज्यमिदं जगदिति सामान्येन निर्देष्टुं शक्येऽपि तेजोऽबन्नमिति नामादिविशेषविभागेन वक्तुमशक्यत्वात्। व्याकरणे तु सम्भवतीति भावः। तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु श्रुत्या दर्शितम्, "यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्ये"त्यादिना। तत्राग्निरिति रूपव्याकरणं रूपप्रागभावे नामकरणासम्भवात् रूपाभावे तदनुपलब्धिप्रसङ्गात् रूपव्याकरणमेव विषयोपलब्धेरसाधारणहेतुरित्यर्थः। तथैवाग्निरिति वर्णसमुदायरूपं नामव्याकरणमेवमादित्यादिष्वपि विवेचनीयम्। एतेनैव पार्थिवाप्यतैजसेष्वपि पदार्थेषु त्रिवृत्करणं सूपपन्नम्। उपक्रमोपसंहारसाधारण्यात्तत्र"इमास्तिस्रो देवता त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवती"ति उपक्रमसामान्यात्। यद्रोहितमिवाभूदिति तैजसरूपमित्युपसंहारसाम्याच्चेति संक्षेपः। यच्चोक्तं चारेणापरसैन्यं प्रविश्येत्यादि तत्तुच्छं, दृष्टान्तवैषम्यात्। राजचारयोरत्यन्तभेदेन पृथक् सिद्धत्वात्। प्रकृते जीवस्य ब्रह्मात्मकत्मकत्वेन तदपृथक् सिद्धत्वात्। ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्तिनो जीवस्य तद्बहिर्भूतवर्त्तिपदार्थानां नामरूपव्याकरणासम्भवात्। चतुर्मुखादेः स्वसृज्यानां नामादिव्याकरणे शक्तिसत्त्वेऽपि स्वप्राक् वस्तूनां नामादिव्याकर्तृत्वे न शक्तिरिति ध्वन्यर्थः। किञ्च जीवबुद्ध्यगोचररचनस्य जगतोनामादिव्याकृतौ परमेश्वरस्यैव समर्थत्वान्नान्यस्य। "आकाशोह वै नामरूपयोर्निर्वहिते"त्यादिनोपनिषत्सु तस्यैव तथात्वश्रवणात्। श्रुत्यर्थस्तु इमाः साकल्येनकरनिहितफलवत् परमेश्वरस्य श्रुत्यर्थाभिमानिदेवविशेषस्य प्रत्यक्षगोचरास्तेजोऽबन्नसंज्ञकास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन स्वात्मकसमष्टिजीवावच्छिन्नेन जीवनहेतुना ऽन्तरात्मना ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। देवतिर्यग्मनुष्यादिविचित्रासङ्ख्येयस्वेतरागोचरव्यक्त्यात्मना विभज्य तत्त-

श्रामादिना संयोजयामीति। एतत्सङ्कल्पविषयसंसिद्धये तासा-मन्योऽन्यसंसृष्टानां तत्कार्यासमर्थानां संसर्गलक्षणसामर्थ्यं विधाय एकैकां त्रिवृतमकरोदितिं यावत्। ननु एवं "अनेन जीवे-नात्मने"ति सामानाधिकरण्यस्य मुख्यताभङ्गइति चेन्न, ब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वात्सामानाधिकरण्यं मुख्यमेवेति। अत्र ये जीवब्रह्मणोरत्यन्ताभेदमभ्युपगच्छन्ति ते प्रष्टव्याः? सृष्टेः प्राक्प्रलयसमयेऽनभिव्यक्तनामरूपकस्य जीवस्य जीवात्मना सद्भावो न वेति? नाद्यः, अद्वैतभङ्गात्, ब्रह्मणएवजीवभावापत्त्या प्रवेश-इति सिद्धान्तभङ्गात्। सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं निर्विशेषं ब्रह्म आसीदिति सदेव सोम्येति श्रुत्यर्थः, इतिउपक्रमवाक्यार्थ-सिद्धान्तभङ्गाच्च। न द्वितीयः, जीवस्याजत्वानादित्वभङ्गात्। तद्बोधकशास्त्रव्याकोपाच्च। कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च। किञ्च सदेवेति वाक्यस्योक्तलक्षणनिर्विशेषपरत्वाङ्गीकारे "तदै-क्षत बहु स्यां प्रजायेये"त्यादिश्रुतिप्रतिपादितेक्षणबहुभवनसङ्क-ल्पाश्रयस्य तत्पूर्वकसृष्टिकर्तुरभावेन सृष्ट्यभावप्रसङ्गः, वाक्यस्य निर्विषयत्वापत्त्या बाधप्रसङ्गश्च नालोच्यते वैदिकाभिमानि-भिर्देवानांप्रियैः। यच्च कैश्चित् अनेन जीवेनेत्येतदनुप्रविश्येत्यनेन सम्बध्यते आनन्तर्य्यान्न व्याकरवाणीत्यनेनेति श्रुत्यक्षराणि योजितानि, तदप्यपेशलं, तदानीं तन्मते जीवस्याभावात्। अन्यथाऽद्वैतसिद्धान्तभङ्गात्। किञ्च क्त्वाप्रत्ययेन समानकर्तृकत्व-प्रतीतिबाधप्रसङ्गाच्च। यत्तु चारेणपरसैन्यं प्रविश्येत्यादिव्याख्यानं तन्महत्क्षुद्रं, दृष्टान्तवैषम्योक्त्या पूर्वमेव निरस्तत्वात्। अत्यन्त-भेदपरत्वे ब्रह्मणोजगदुपादानत्वाभावप्रसङ्गात्। तथात्वे च अवैदि-कतार्किकादिपक्षे प्रवेशात्। अन्यैस्तु अनेनजीवेनेत्यस्य जीववि-शिष्टेनेति व्याख्यानमुक्तं तदप्यपेशलं, विशिष्टवादस्य पूर्वमेव निरस्तत्वादित्यलं विस्तरेण॥ १९॥

# सू० मांसादिभौमं यथाशब्द-मितरयोश्च ॥ २। ४। २० ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

तेषां त्रिवृत्कृतानां तेजोऽबन्नानां कार्य्याणि शरीरे शब्दादेवावगन्तव्यानि "भूमेः पुरीषं मांसं मनश्चेति अपां मूत्रं लोहितं प्राणश्चे"ति तेजसोऽस्थिमज्जावाक्के"ति ॥ २० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

त्रिवृत्कृतानां तेजोऽबन्नानां प्रत्येकं कार्य्यत्रयं-शरीरगतं शरीरस्यासारत्वप्रदर्शनार्थं यथाश्रुतं दर्शयति —

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः ब्रीहियवादिरूपायाः शारीरेणाशिताया इदं भौमं मांसादि यथाशब्दं बोध्यम्। आदिशब्देन पुरीषमनसी गृह्येते । शब्दः श्रुतिः

" अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो-धातुस्तत्पुरीषं भवति योऽमध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मन एवे"ति । एवमितरयोः अप्तेजसोश्च कार्यत्रयं प्रत्येकं बोध्यम् । " मूत्रं लोहितं प्राणश्चेत्यपां कार्य्यम्, अस्थिमज्जावाक्कोति तेजसः कार्यम्" । अत्र प्राणस्य जलाधीनस्थितिकत्वमात्रेण तत्कार्यत्वं बोध्यम् । वस्तुतः प्राणस्य वायोरवस्थाविशेषत्वात् । तथा मनसो भौमत्वमन्नभक्षणजन्यस्वास्थ्यमात्राभिप्रायम् । एवं तेजःकार्येष्वपि यथासम्भवं बोध्यम् ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ त्रिवृत्कृतानां तेजोऽबन्नानां कार्यविभागमाह —

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेण भुज्यमानाया इदं भौमं मांसादि कार्यं यथाशब्दं श्रुतिरूपशब्दनिरूप्यमवगन्तव्यम् । " अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठोधातुस्तत्पुरीषं भवति मध्यमं मांसमणिष्ठं तु मन एवे"ति श्रुतेः । एवमितरयोः अप्तेजसोश्च कार्यमपि बोध्यम । मूत्रं लोहितं प्राणश्चेत्यपां कार्यम्, अस्थिमज्जावाक् तेजसः कार्यमित्यर्थः ॥ २० ॥

सू॰ वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २।४।२१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तेषां भेदेन ग्रहणं तु भागभूयस्त्वात् ॥ २१ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु त्रिवृत्कृतानां तेषामिदमस्येदमस्येति भेदे किं मूलमित्यत आह —

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।

तुशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । विशेषस्याधिकभागस्य भावो वैशेष्यं तस्मादिदमस्येदमस्येति वादो युक्त एव । अभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं

द्योतयति । तदित्थं ब्रह्मणि श्रीवासुदेवे समन्वितानां श्रुतिवाक्यानां न कुतोऽपि विरोध इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

इति सञ्ज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्तति-
प्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना
श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरक-
मीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे
द्वितीयाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

समाप्तोऽयं द्वितीयोऽविरोधाख्योऽध्यायः ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु सर्वं भूतभौतिकवस्तुमात्रं त्रिवृत्कृतमेव, तर्हि इदं भूमेः कार्यमिदमपामिदं तेजसइति भेदनिर्देशासम्भवप्रसङ्गो- दुर्वारः, सर्वेषां सर्वत्र सत्त्वादित्याशङ्कां परिहरन्नाह —

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थकः । विशेषस्य भावोवैशेष्यं भाग- भूयस्त्वमिति यावत् । तस्य पृथिव्यादौ दर्शनात्तद्वादः स तेजोऽ- वन्नविशेषवादोभौतिकवस्तुविशेषवादश्च सूपपन्नइत्यर्थः । द्विरुक्ति-

रध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥ २१ ॥

इति सञ्ज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

**अप्रतर्क्याय हरये रमाकान्ताय विष्णवे ॥**
**श्रीकृष्णाय नमस्ते तु निर्दोषगुणशालिने ॥ १ ॥**

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-
श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयि श्रीश्री-
केशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभ-
प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्याय-
चतुर्थपादविवरणम् ॥ ४ ॥

## समाप्तश्चायमविरोधाख्यो द्वितीयो ऽध्यायः ।

अस्याविरोधाऽध्यायस्य प्रथमे पादे सूत्राणि ३५ पञ्चत्रिंशत् ।
अधिकरणानि च १० दश ।
द्वितीये पादे सूत्राणि ४५ पञ्चचत्वारिंशत् ।
अधिकरणानि ८ अष्टौ ।
तृतीये पादे सूत्राणि ५२ द्वापञ्चाशत् ।
अधिकरणानि १२ द्वादश ।
चतुर्थे पादे सूत्राणि २१ एकविंशतिः ।
अधिकरणानि ८ अष्टौ ।
सर्वाणि चैतदध्यायसूत्राणि १३५ पञ्चत्रिंशदुत्तरं शतम् ।
सर्वाण्यधिकरणानि च ३८ अष्टत्रिंशत् ।

॥ *इति* ॥

॥*ॐ श्रीमद्राधागोपालाभ्यां नमः*॥

ॐ मङ्गलमूर्त्तये श्रीमन्नियमानन्दाय नमः

भाष्यत्रयोपेते ।

# श्रीब्रह्मसूत्रे ॥

तृतीयाऽध्यायारम्भः ।

## सू० तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । ३ । १ । १ ॥

श्री६श्रीभगवन्निम्बार्कविरचित-वेदान्तपारिजात-सौरभाख्य-ब्रह्मसूत्र-वाक्यार्थः ।

समन्वयाविरोधाभ्यां साध्ये निश्चिते । अथ साधनानि निरूप्यन्ते । तत्रादौ वैराग्यार्थं स्वर्गादि-गमनागमनादिदोषान् दर्शयति । उक्तलक्षणः प्राणादिमान् जीवो हि सूक्ष्मभूतसम्परिष्वक्त एव

देहं विहाय देहान्तरं गच्छतीति "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती" त्यादिप्रश्ननिरूपणाभ्यां गम्यते ॥ १ ॥

## श्रीश्रीनिवासाचार्य–विरचित–श्रीवेदान्त-कौस्तुभभाष्यम् ।

इत्थमतिक्रान्तेनाध्यायद्वयेनोपेये समस्त-कल्याणगुणगणार्णवे स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषे जिज्ञास्ये ब्रह्मणि श्रीवासुदेवे निर्णीतेऽथ तत्प्राप्त्युपायाकाङ्क्षायां साधनान्यभिधीयन्ते । कतिपयवेदान्तवाक्यार्थप्रकाशकस्य नानासंशयघ्नस्यास्य तृतीयाध्यायस्य प्रथमे पादे संसारस्य दोषनिरूपणेन ततो विरक्तिः । द्वितीये पादे ब्रह्मणो गुणनिरूपणेन तत्रानुरक्तिश्च निरूप्यते । तृतीये पादे च ब्रह्मोपासनाभेदाभेदविचारस्तासु गुणोपसंहाराऽनुपसंहारनिर्णयश्च क्रियते । चतुर्थे पादे तु विद्यातः पुरुषार्थः ? उत कर्मणः ? इत्याशंक्य विद्यातः पुरुषार्थः, कर्म तु फलाभिसन्धिरहितं विद्याऽङ्गमेवेति प्रतिपाद्यते । तत्र तावत् "अथैनमेते प्राण-

अभिसमायन्ति, अन्यन्नवतरं रूपं कुरुत" इति वच-नाज्जीवः प्राणेन्द्रियादिसहितः स्वकृतकर्मफलभो-गार्थं प्राक् शरीरं विहाय शरीरान्तरं प्रतिपद्यते। तत्र किं स देहान्तरबीजरूपैः सूक्ष्मभूतैः संपरि-ष्वक्तो यात्युतासम्परिष्वक्तः? इति संशयः। "स्वर्गे नरके वा यत्र कर्मफलमनुभूयते, तत्रैव कर्मफल-भोगायतनशरीरारम्भकभूतमात्रा लभ्यन्त" इति साङ्ख्यादिपक्षादसम्परिष्वक्त एव यातीति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह —

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्।

प्राणाद्याधारभूतैरुत्तरदेहबीजरूपैः सूक्ष्मैर्भूतैः सम्परिष्वक्तः परिवेष्टित एव तदन्तरप्रतिपत्तौ देहा-न्तरप्रवेशे जीवो रंहति गच्छति। कुतः? प्रश्ननि-रूपणाभ्याम्। प्रश्नस्तावत्पञ्चाऽग्निविद्यायां "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती" ति निरूपणं प्रतिवचनं "तच्च तास्मिन्नेतास्मि-न्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमोराजा सम्भवती" त्यादिना आपएव द्युलोका-दौ प्रक्षिप्तास्तत्तत्पदवाच्या भवन्तीति प्राति-

पाद्य इति "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति । अयमर्थः, तत्र देवाः जीवसचिवभूताः प्राणाः अग्नित्वेन निरूपिते द्युलोके श्रद्धां जुह्वति प्रक्षिपन्ति, सा च सोमराजाख्यामृतमयदेहात्मना परिणमते, तं च देहं ते एव देवाः पर्जन्ये ऽग्नौ जुह्वति, स च देहस्तत्र हुतो वर्षं भवति, तच्च वर्षन्ते एव देवाः पृथिव्यामग्नौ जुह्वति, तच्च तस्यां हुतं सदन्नभावमाप्नोति, तदप्यन्नं ते एव देवाः पुरुषे ऽग्नौ जुह्वति, तत्र हुतं तदन्नं रेतोभावं प्राप्नोति, तद्रेतस्ते एव देवाः योषिदग्नौ जुह्वति, तच्च रेतस्तत्र गर्भात्मना स्थितं सत्पुरुषसञ्ज्ञां लभते । इत्थमापः पुरुषसञ्ज्ञां लभन्ते । तदेतत्सर्वं जानन्नपि राजा प्रवाहनः श्वेतकेतुं प्रति कर्मिणां गन्तव्यदेशादिप्रश्नान्कृत्वेदमपि पृष्टवान् । "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति। एवं पृष्टः श्वेतकेतुः पितरं गौतममागत्योवाच एवमहं राज्ञा पृष्टो ऽस्मि तस्योत्तरं न जानामीति । स च गौतमः स्वयमजानन् राजसमीपं गत्वा तां विद्यां ब्रूहीत्युवाच । ततो गौतमं प्रति

राज्ञा प्रत्युत्तरं दत्तमेवं भूताभ्यां प्रश्ननिरूपणाभ्याम् अनुपलक्षितैः· सूक्ष्मैर्भूतैः सम्परिष्वक्त एव देहान्तरं गच्छतीति निश्चीयते ॥ १ ॥

श्रीश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचितवेदान्त-
कौस्तुभप्रभा ।

साधनोपाययुक्तानां भक्तानां पुरुषोत्तमः ।
ददाति वाञ्छितं सर्वं वर्ण्यन्ते तान्यतस्त्विह ॥

इत्थं द्वितीये ऽध्याये श्रुतिविरुद्धस्मृतीनां तर्काणां च भ्रममूलत्वं प्रदर्शयित्वा श्रुतीनामितरेतरविरोधाभासं निराकृत्य समन्वयाविरोधोनिर्णीतस्तेन च श्रीपुरुषोत्तमस्यैव परब्रह्मणो–मुमुक्षुध्येयस्य निखिलजगदेककारणत्वं वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीति स्थापितमथेदानीमस्मिंस्तृतीयाऽध्याये तत्प्राप्त्युपायभूतसाधनानि निरूप्यन्ते । तानि च कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्त्यादिरूपाणि श्रीपुरुषोत्तमाचार्यपादैर्विस्तरेण भाषितानीत्यत्रोपरम्यते। इयं तावच्छ्रेयः साधनप्रक्रिया, आदौ जन्मसमये पुंसि भगवतः श्रीमुकुन्दस्य कृपाकटाक्षो-मुमुक्षोत्पादनासाधारणहेतुभूतः, ततः सात्त्विकं मुमुक्षार्हं जन्म, मुमुक्षायां सत्यां तत्साधने स्वाधिकारानुरूपं यतते। तत्रादौ यथाधिकारभगवदर्पितनिष्कामकर्मयोगस्तेन भगवदीयानुग्रहसहकृतेन संस्कृतमनस्कस्य मुमुक्षोर्वैराग्यादिपूर्वकाजिज्ञासया श्रवणादिलक्षणाया तत्स्वरूपादिविषयकपरोक्षज्ञानं, ततो ध्यानपरिपाकजन्या पराभक्तिपर्यायरूपा ध्रुवास्मृतिस्तया च तदनुग्रहेण तत्साक्षात्कारस्ततो मोक्ष इति । तत्र मुमुक्षोपायश्च प्राप्यवस्त्वति-

रिक्तवैतृष्ण्यं प्राप्यतृष्णा चेति, तत्सिद्ध्यै प्रथमद्वितीयपादयो-रारम्भः । तत्र प्रथमे पादे पञ्चाऽग्निविद्यामाश्रित्य संसारिजीव-स्य लोकगत्यागतिरूपदोषाः प्रदर्श्यन्ते । "वैराग्यार्थं तस्माज्जुगुप्सेते"ति श्रुतेः । तत्रायं जीवोदेहाद्देहान्तरं गच्छन् देहबीजभूतैर्भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्तो गच्छति ? उतापरिवृतः ? इति संशये, असम्परिष्वक्त इति पूर्वः पक्षः, " स्वर्गे नरके वा यत्र फलमनुभूयते तत्रैव भूतानि लभ्यन्ते "इति साङ्ख्यसिद्धान्तादिति प्राप्ते सिद्धान्तमाह —

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ देहाद्देहान्तरप्रवेशे देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्तः परिवेष्टितो जीवो रंहति गच्छति । कुतः ? प्रश्नेति । प्रश्नस्तावत् छान्दोग्ये पञ्चाऽग्निविद्यायां श्वेतकेतुं प्रति पाञ्चालः प्रवाहणः कर्मिणां गन्तव्यदेशादिप्रश्नान् कृत्वेदमपि पृष्टवान् । "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति निरूपणं नाम प्रतिवचनं "तत् द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषिद्रूपेषु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः पञ्चा*ऽऽहुतीर्दर्शयित्वेति तु "पञ्चम्या-

---

* देवा जीवस्य प्राणा द्युलोकरूपे ऽग्नौ श्रद्धारूपं वस्तु प्रक्षिपन्ति । सा च श्रद्धा सोमराजाख्यामृतमयदेहरूपेण परिणमति । तं चामृतमयदेहं ते एव प्राणा पर्जन्यरूपे ऽग्नौ प्रक्षिपन्ति । सच देहस्तत्र प्रक्षिप्तो वर्षं भवति, तच्च वर्षान्तएव प्राणाः पृथिवीरूपाऽग्नौ प्रक्षिपन्ति। तच्चान्नं भवति । तच्च ते एव प्राणाः पुरुषरूपाऽग्नौ प्रक्षिपन्ति । तच्च तत्र रेतो भवति । तत् तएव प्राणा योषिद्रूपाऽग्नौ प्रक्षिपन्ति । एवं पूर्वाहुतिषु हुतानामेवापां गर्भरूपेण पुरुषसंज्ञा जायते ।

माहुतावापः पुरुषवचसोभवन्ती"ति । अतः प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां देहबीजभूतभूतसूक्ष्मैः सहैव तत्र, तत्र गच्छतीत्यवगम्यते ॥ १ ॥

# सू० त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्

३ । १ । २ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

त्रिवृत्करणश्रुत्या ऽपां त्र्यात्मकत्वादितरयोरपि ग्रहणं, केवलाऽऽपग्रहणं तु तद्भूयस्त्वादुपपद्यते ॥ २ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप" इति प्रश्ने तथेति पञ्चम्यामाहुतावाप इति निरूपणे चाऽऽप् शब्दश्रवणादद्भिः परिवेष्टितो यातीति गम्यते, एवं सति सर्वैर्भूतसूक्ष्मैर्वेष्टितो यातीति वक्तुं न शक्यत इत्याशङ्क्याह —

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।

तुः शङ्कानिरासार्थः । "त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी"ति त्रिवृत्करणश्रुत्या ऽपां त्र्यात्मकत्वादितरयोरपि अन्नतेजसोः परिग्रहः, अन्यथा

केवलाभिरद्भिर्देहान्तरोद्भवासम्भवात् । कथं तर्हि प्रश्ने प्रतिवचने चाऽऽम्मात्रग्रहणमत्राह—भूयस्त्वादिति । अपां भूयस्त्वात्तासामेव ग्रहणमित्यर्थः । यद्यपि शरीरे भूमेर्भूयस्त्वं प्रतीयते काठिन्यदर्शनात्तथापि शुक्रशोणिते ऽपां बाहुल्याच्छुक्रमुक्तं भूयस्त्वादिति ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु "आपः पुरुषवचस" इत्युक्ते केवलाभिरद्भिर्वेष्टनं श्रुतं तत्कथं सर्वभूतसूक्ष्मैर्वेष्टनमित्यत्राह —

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।

चोद्यनिवृत्त्यर्थस्तु शब्दः । त्रिवृत्करणेनापां त्र्यात्मकत्वादन्नतेजसोरपि परिग्रहः । भूयस्त्वाद्बाहुल्यात्पञ्चम्यामाहुतावाप इत्युक्तं शुक्रशोणिते ऽपां बाहुल्यदर्शनात् ॥ २ ॥

## सू० प्राणगतेश्च ॥३।१।३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"तमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती" ति प्राणगतिश्रवणाच्च भूतसूक्ष्मपरिवृत एव गच्छति ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः

प्राणगतेश्च ।

"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"ति श्रुतेः । "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति । शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः । गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानि वाशयादि"ति स्मृतेश्च स मुख्यानां प्राणानां वागीन्द्रियाणां गतेश्च भूतसूक्ष्मसम्परिष्वक्त एव रंहतीति प्रतीयते, निराश्रयाणां प्राणानां गमनासम्भवादिति भावः ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्राणगतेश्च ।

इतश्च भूतसूक्ष्माणां गमनमित्यवगम्यते, प्राणानामिन्द्रियाणां जीवेन सह गमनश्रुतेः "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"ति "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति । शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः । गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानि वाशयादि"ति स्मरणाच्च निराश्रयाणां च तेषां गतिरनुपपन्नाऽतस्तदाश्रयभूतभूतसूक्ष्माणामपि गतिरभ्युपगन्तव्या ॥ ३ ॥

# सू० अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् । ३ । १ । ४ ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

“यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यमि”त्यादिना वागादीनामग्न्यादिषु गतेर्लयस्य श्रवणान्न तेषां जीवेन सह गमनमिति चेन्न, अग्न्यादिगतिश्रुतेः “औषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा”इति सह पाठेन भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।

ननु प्राणानां जीवेन सह गमनं नोपपद्यते । “यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यमि”त्यादिना वागादिप्राणानां देहमरणसमये ऽग्न्यादिषु देवेषु गतेर्लयस्य श्रवणादिति चेन्न, कुतः ? भाक्तत्वात् । भज्यते मुख्यावृत्तिर्यया गोण्या वृत्त्या सा

भाक्तिस्तत्र भवं, भाक्तं, वागादीनामग्न्यादिष्व-प्ययश्रवणमौपचारिकमधिष्ठातृदेवताप्रक्रमणपर-मित्यर्थः । "प्राणमनूत्क्रामन्तमि"त्यादिश्रुते-र्मुख्यार्थपरत्वसम्भवात्। यत्रास्येत्यादिश्रुतेश्चौषधी-र्लोमानि वनस्पतीन्केशा" इति सहपाठेन भाक्त-त्वमवगम्यते । नच मृतस्य लोमादीनामौष-ध्यादिषु लयो दृश्यते ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।

"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षु-रादित्यमि"त्येवं वाक्प्राणादीनामग्न्यादिगतिश्रुतेर्न जीवेन सह प्राणानां गमनमिति चेन्न, भाक्तत्वात् । भज्यते मुख्यावृत्तिर्यया गौण्या वृत्त्या सा भक्तिः, तत्र भवं भाक्तं, वागादीनामग्न्यादि-गमनश्रवणमौपचारिकम्, अग्न्यादीनामधिष्ठातृत्वानिवृत्त्यर्थं, लोम-केशयोर्गत्य*दर्शनात् । "औषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा" इति ॥४॥

## सू० प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ३।१।५॥

---

* नहि लोमानिव केशाश्चोत्प्लुत्य औषधीर्वनस्पतींश्च गच्छन्तीति सम्भवति । नच जीवप्राणैर्विना देहान्तर उपभोगउप-पद्यते, अतो वागाद्यधिष्ठाअग्न्यादिदेवतानां मरणकाले उपकारनि-वृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन् गच्छन्तीत्युपचर्य्यते ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

प्रथमे ऽग्नावपामश्रवणात् कथं पञ्चम्याहुतौ तासां पुरुषभाव इति चेन्न, यतः श्रद्धाशब्देन ता एवोच्यन्ते, उपक्रमाद्यनुपपत्तेः ॥ ५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

प्रथमे ऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।

ननु "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वती"ति प्रथमे ऽग्नौ होम्यत्वेन श्रद्धायाः श्रुतत्वात्, अपामश्रवणात्कथं पञ्चम्याहुतावपां पुरुषभावः, कुतश्च प्रथमतस्तदश्रवणे सति तत् त्र्यात्मकत्वमाश्रित्य भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तस्य गमनं स्वीक्रियते ? इति चेन्न, हिशब्दो हेतौ । यतः याः प्रश्ने उपन्यस्तास्ता एवापः श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते । कस्मात् ? उपपत्तेः। उपक्रमोपसंहारयोरेवमुपपत्तेः। इतरथा प्रश्नप्रतिवचनयोरेकवाक्यता न स्यात् । तथाहि "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति प्रश्नस्य प्रतिवचनोपक्रमे " तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वती"त्यत्र

श्रद्धाशब्देन यदि मनोवृत्तिविशेषरूपाश्रद्धा गृह्यते, तर्हि तथा भूताया मनोवृत्तिरूपायाः श्रद्धायाः इति तु "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो-भवन्ती"त्यत्रान्वयो न स्यात् । तथा चाऽन्यथा प्रश्नः, अन्यथा प्रतिवचनोपक्रमः, अन्यथा च प्रतिवचनं स्यात् । किञ्च मनोवृत्तिरूपायाः श्रद्धायाः होम्यत्वासम्भवः सोमवर्षादीनां च मनोवृत्त्युपादानकत्वासम्भवश्च ज्ञेयः । प्रकृते तु "आपो हास्मै श्रद्धां सन्नमन्ते पुण्याय कर्मणे" इत्यपां श्रद्धाजनकत्वं श्रद्धायास्तज्जन्यत्वं च श्रूयते । इत्यनेन सम्बन्धेनाप्सु श्रद्धाशब्दस्य लक्षणा बोध्या । श्रद्धाशब्दस्याप्सु प्रयोगः श्रूयते । "श्रद्धा वा आपः श्रद्धामेवारभ्य यज्ञेन यजते" इति सोमस्य श्रद्धोपादानकत्वं च श्रूयते "श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा भवती"ति ॥ ५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

**प्रथमे ऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।**

प्रथमे ऽग्नौ द्युलोकाख्ये "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वती"ति प्रत्ययविशेषरूपायाः श्रद्धायाः श्रवणादपामश्रवणा-

त्कथं पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषभाव इति, चेन्नैष दोषः । हि यतस्ता एवापः श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते याः प्रश्ने उपन्यस्ताः । कुतः ? उपपत्तेरुपक्रमोपसंहारयोरेवमुपपत्तेरन्यथा प्रश्नप्रतिवचनयोरेकवाक्यता न स्यात्, सादृश्यप्रयोगोपपत्तेश्च "श्रद्धा वा आपः श्रद्धामेवारभ्य यज्ञेन यजत" इति प्रयोगदर्शनात् ॥ ५ ॥

## सू० अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः।३।१।६॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

भूतसम्परिष्वक्तो जीवो रंहतीति न वक्तुं शक्यमबादिवज्जीवस्याश्रवणादिति चेन्न, "इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूमभिसम्भवन्ती"-त्यादिनेष्टादिकारिणां धूममार्गेण चन्द्रलोकप्राप्तिर्निरूप्यते एव सोमशब्देन श्रुत्या निरूप्यन्ते "एष सोमो राजा सम्भवन्ती"ति अत्रापि सोमो राजा सम्भवतीत्यनेन प्रतीतेः ॥ ६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।

ननु पञ्चम्यामाहुतौ श्रद्धासोमवर्षादिक्रमेणापः पुरुषपदवाच्या भवन्तु, अपां त्र्यात्मकत्वा-

त्तादितरभूतपरिग्रहो ऽपि भवतु, अबादिभूतसम्परिष्वक्तो जीवो रंहतीति तु नैव शक्यते वक्तुं, कुतः? अबादिवदस्मिन्वाक्ये जीवस्याश्रवणादिति चेन्न, कुतः? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः। "इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ती"त्यादिनेष्टादिकर्मकारिणां धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकप्राप्तिं प्रतिपाद्य त एव सोमराजशब्देनाभिधीयन्ते "एष सोमो राजे"ति एवं सति "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवती"ति, प्रकृतवाक्ये ऽपि सोमराजशब्दवाच्यत्वेन तेषामिष्टादिकारिणां प्रतीतेरित्यर्थः। तस्माज्जीवस्य श्रवणमस्त्येव। स अबादिभूतसम्परिष्वक्तो रंहति, नात्र कश्चिद्दोष इति भावः॥ ६॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।

ननु प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषभावं प्रतिपद्यन्ते इति श्रूयते, नतु तत्सम्परिष्वक्तो जीवः श्रूयते। अतस्तत्परिष्वक्तो जीवो गच्छतीति वक्तुमशक्यमिति चेन्न, कुतः? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः। तस्मिन्नेव वाक्ये "द्युतरन्नाथ-

य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ती"-त्युपक्रम्य धूमादिना पितृयानेन यथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति। "आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजेति त इह प्रतीयन्ते तस्मिन्ने-तस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा स-म्भवती"ति भूतसूक्ष्मपरिवेष्टितं जीवं द्युलोके फलभोगाय देवाः प्राणाः प्रक्षिपन्ति। सो ऽयं प्रक्षेपो होम इहाभिप्रेतः ॥ ६ ॥

## सू० भाक्तं वा ऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ।३।१।७।।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

केवलकर्मिणामनात्मवित्त्वाद्देवान्प्रति गुण-भावे सति "तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ती" ति इष्टादिकारिणामन्नत्वेन भक्षत्वं भाक्तम्। "पशुरेव स देवानामि"ति श्रुतेः ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु चेष्टादिकारिणां जीवानां कर्मफल-भोगाय चन्द्रलोकं प्रति रंहणमसमञ्जसं भाति, "तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ती"ति देवान्नत्वेन भक्षत्वश्रवणात्। अतः सोमो राजा सम्भवतीत्य-

नेनेष्टादिकारिणां जीवानां प्रतीतिर्न शक्यते वक्तुं, जीवस्यान्नत्वासम्भवादत आह —

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ।

वेति शङ्कानिरासार्थः । इष्टादिकारिणां देवान्प्रतिपुत्रभृत्यादिवद्भोगोपकरणमात्रत्वात् अन्नत्वं भाक्तम्, औपचारिकं, न तु मुख्यम् । "न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ती"ति चर्वणनिषेधात् । ननु पुत्रभृत्यादिवदप्यस्य देवभावं गतस्य परभोगोपकरणत्वमयुक्तमिति चेन्न, अनात्मवित्त्वात् । तत्रापि केवलकर्मिणामनात्मज्ञत्वाद्विद्यावद्भोगोपकरणत्वं युक्तमेव । स्वनिर्णीतस्यार्थस्य दृष्टानुसारित्वमात्रप्रतिषेधायाह—तथा हि दर्शयतीति । अनात्मज्ञत्वेन देवभोगोपकरणत्वं "पशुरेव स देवानामि"ति श्रुतिर्दर्शयति । तस्मादबादिभूतसम्परिष्वक्तो जीवो रंहतीति सिद्धम् ॥ ७ ॥

इति तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु "तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ती"ति चन्द्रकिरणार-

अदेहानां कथमन्नभाव इत्याशङ्क्याह —

भाक्तं वा ऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ।

वेति चोद्यव्यावृत्त्यर्थः । भाक्तमेषामन्नत्वं, न मुख्यम् । "न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ती"ति चर्वणनिषेधात् । "यथा राज्ञां विशो ऽन्नं विशामन्नं पशव" इति अनात्मवित्त्वाच्च ह्येषां केवलकर्मिणां गुणभावो देवान्प्रति । तथाहि दर्शयति श्रुतिस्तेषां देवोपभोग्यत्वम्, "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते ऽन्योसावन्योऽहमस्मी"ति "न स वेद यथा पशुः पशुरेव स देवानामि"ति स्मृतिरप्यनात्मविदां देवोपभोग्यत्वमात्मविदां च ब्रह्मप्राप्तिं दर्शयति । "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ताः यान्ति मामपी"ति तस्माद्भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव जीवो गच्छतीति युक्तमुक्तम् ॥ ७ ॥

इति तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

# सू० कृता ऽत्यये ऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥

३ । १ । ८ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आमुष्मिकफलप्रदकर्मक्षये सति ऐहिकफल-

प्रदकर्मवान् यथा गतमनेवं च प्रत्यवरोहति "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्निं"त्यादिश्रुतेः । "वर्णाः आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टजातिकुलरूपायुः श्रुत-वृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते" इति स्मृतेश्च ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं कर्मिणामारोहणे ऽबादिसम्परिष्वक्तत्वं निरूपितम् । तत्र भोगेन सर्वकर्मक्षये सति पुन-र्विचित्रदेहप्राप्तिर्न सङ्गच्छत इत्याशङ्क्य तेषामि-दानीमवरोहणे ऽनुशयवत्त्वं निरूप्यते —

कृतात्यये ऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।

"तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वा ऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्त" इत्यादिना स्वर्गिणामवरोहण-माम्नातम् । तत्र स्वर्गी जीवो निरनुशयः प्रत्य-वरोहति ? किम्वा ऽनुशयवान् ? इति संशयः । तत्र सम्पतत्यनेनेति सम्पातं कर्म, यावत्सम्पा-तमुषित्वेति वाक्यात्सर्वकर्मभोगः प्राप्नोति ।

एवं सति सर्वकर्मभोगानन्तरं निरनुशयः प्रत्यवरोहतीति पूर्वः पक्षः, तत्र ब्रूमः । कृतस्य कर्मणः स्वर्गमुद्दिश्यानुष्ठितं यद्यागादि तन्मात्रस्यात्यये भोगेन क्षये ऽनुशयवान् जीवः यथेतं यथागतमारोहणप्रकारेणानेवं प्रकारान्तरेण च प्रत्यवरोहति । स्वर्गप्राप्तिहेतुभूतं कर्मजातं यावत्सम्पातमित्यादिश्रुत्योच्यते। तद्भिन्नमैहिकशरीरादिप्राप्तिहेतुभूतकर्मानुशयशब्देन गृह्यते । तद्वानारोहणमार्गेण धूमरात्र्यपरपक्षदक्षिणायनपितृलोकाकाशचन्द्रक्रमेण चन्द्राकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षक्रमेण च प्रत्यवरोहतीत्यर्थः । कुतः ? दृष्टस्मृतिभ्याम् । दृष्टा प्रत्यक्षा श्रुतिः,सा च तावत्सानुशयानामवरोहं दर्शयति। "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा, अथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वे"ति । ये रमणीयचरणाः पुण्यकर्माणस्ते हि स्वर्गात्प्रत्यवरूढाः इह ब्राह्मणादियोनिमापद्येरन्, ये तु

कपूयचरणाः, कुत्सितकर्माणस्ते संयमनात्प्रत्यागता इह श्वशूकरादियोनिमापद्येरन् । स्मृतिरपि सानुशयानामवरोहणं दर्शयति । वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते इति ॥ ८ ॥

वेदन्तकौस्तुभप्रभा ।

एवमविदुषामारोहणप्रकारो निरूपितः । अथेदानीमवरोहणं तत् प्रकारं चाह —

कृतात्यये ऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।

इष्टादिकारिणां धूमादिवर्त्मना चन्द्रमण्डलमारुह्य तत्र भुक्तभोगानां "तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वा ऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्त "इत्यादिना ऽवरोहः श्रूयते । स किं निरनुशयानां तेषां भवत्युत सानुशयानामिति ? विषये निरनुशयानामिति पूर्वः पक्षः, यावत्सम्पातमित्युक्तेः । सम्पतन्त्यनेनेति सम्पातं कर्म यावत्तदास्ति तद्भुक्त्वेत्यर्थः । "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे"इति श्रवणादित्येवं प्राप्ते ऽभिधीयते । कृतस्य यागादेरत्यये भोगेन क्षये सति अनुशयवान् कर्तारमनुशेते फलोपभोगाय यः सोऽनुशयो भुक्तशिष्टं कर्म, तद्वानवरोहति । कुतः ? दृष्टस्मृतिभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां, श्रुति-

स्तावत् "तद्य इह रमणीयचरणा अ*भ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ,ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा, अथ यइह कपूयचरणा अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वे"ति चरणशब्द आचरणीयकर्मपरः, कपूयचरणाः कुत्सितकर्माणः । स्मृतिरपि वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते । इति सानुशयानामवरोहं दर्शयति । स्वर्गप्राप्तिहेतुभूतज्योतिष्टोमादिकर्मभ्यः कर्मान्तरमनुशयपदवाच्यं, शेषशब्दश्चोपयुक्तात्कर्मणः कर्मान्तराभिप्रायो, नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणः काश्चित् शेषः शक्यते कल्पयितुं, श्रुतिप्रमाणत्वादस्यार्थस्य नानुमानमत्र क्रमते । तस्माद्यावत्सम्पातमिति यत्किञ्चेह करोत्ययमिति चैवं द्रष्टव्यं यावदामुष्मिकफलं कर्म तत्सर्वं तत्रैव क्षपयित्वा ऽवशिष्टेनैहिकफलेन जपहोमादिना ऽवरोहतीति । यथा काश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणैः राजकुलं प्रविष्टश्चिरावस्थानादुपक्षीणबहूपकरणः छत्रपादुकादिमात्रपरिच्छदः स्थातुमशक्नुवन्निवर्तत इत्येवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्रमण्डले स्थातुं शक्नोतीति । यथेतमनेवं च आरोहणप्रकारेण प्रकारान्तरेण च पुनर्निवर्तन्त इत्यर्थः । पितृयाने धूमाकाशयोर्निर्देशेनावरोहश्रवणादारोहणानुसारो ऽवरोहः, तद्विरुद्धवाय्वादिश्रवणाच्चान्यथापीति ॥ ८ ॥

---

* अभ्याशो ऽभिगन्तारः, अभ्याङ्पूर्वादशेः क्विप् । इति स्फुटार्थे यद्वा ।

# सू० चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ३ । १ । ९ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ननु रमणीयचरणा इत्यत्र चरणमाचारस्तस्मादेवेष्टसिद्धौ न सानुशयस्यावरोहः सम्भवतीति चेन्न, यतश्चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्था, इति कार्ष्णाजिनिर्मन्यते ॥ ९ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।

ननु "रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्, कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरनि"-त्यत्र यदि चरणशब्दः पुण्यापुण्यकर्मपरः स्यात्तर्हि पुण्यापुण्ययोनिलाभायाऽनुशयवतो ऽवरोहणं भवतु, नतु तथाऽस्ति । कुतः ? चरणात् आचारात्, पुण्यापुण्ययोन्यापत्तिश्रवणात् । चरण-

शब्दः कर्मपरो नास्ति। किन्तु चरणमाचारः स च वेदे कर्मपदार्थात् पृथगेव सुचरितशब्देनाभिधीयते, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणी"ति तस्मादनुशयवान् प्रत्यवरोहतीत्यसङ्गतामिति चेन्न, यस्मादियं चरणाख्याचारश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते, पुण्यापुण्यलक्षणकर्माभावे केवलादाचारात् शुभाशुभयोनिप्राप्त्यसम्भवात् ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

चरणादिति चेन्न, तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः।

ननु "रमणीयचरणाः कपूयचरणा" इत्यत्र चरणमाचारः शीलं वृत्तमिति नार्थान्तरम्। "अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः" इति स्मृतेः। ततश्च न चरणशब्देन पुण्यापुण्यरूपं कर्मोच्यते, वेदेऽपि चरणकर्मणी भेदेन व्यपदिश्येते। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणीति। अतश्च न कर्मणाऽवरोहो वर्ण्यते, किन्तु चरणाच्छोभनयोनिविशेषप्राप्तिरिति चेन्न। तन्न, चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णा-

जिनिराचार्यो मन्यते स्म । सुखदुःखे हि पुण्यापुण्यरूपकर्मफले, न हि केवलादाचारात्तयोः प्राप्तिः सम्भवति ॥ ९ ॥

## सू० आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ ३।१।१०।

वेदान्तपारिजातसौरभः।

ननु तथात्वे चरणस्यानर्थक्यं स्यादिति चेन्न, कर्मणां चरणापेक्षत्वात् ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।

ननु चरणाख्याचारस्यानर्थक्यं, चरणश्रुतेः कर्मोपलक्षणार्थत्वाङ्गीकारे स्यादिति चेन्न, पुण्यापुण्यकर्मणां सदसदाचारनिर्वर्त्यत्वेन सदसदाचारापेक्षत्वात् । "आचारहीनं न पुनन्ति वेदा" इति स्मृतेः ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।

आचारस्यानर्थक्यमेवं सति स्यादिति चेन्न, तदपेक्षत्वात्सुखसाधनपुण्यकर्माधिकारस्याचारपूर्वकत्वात् । "आचारहीनं

न पुनन्ति वेदाः । सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ”-
इत्यादिस्मृतेः ॥ १० ॥

## सू० सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥३।१।११॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सुकृतदुष्कृते कर्मणी चरणशब्देनोच्यते इति बादरिः ॥ ११ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।

“ रमणीयचरणा ” इत्यत्र चरणशब्दार्थः सुकृतं कर्म, “कपूयचरणा ” इत्यत्र चरणशब्दार्थः दुष्कृतं कर्म, तदित्थं चरणशब्देन सुकृतदुष्कृते उच्यते । ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन पृथग्व्यपदेशोऽर्थवान् इति तु बादरिराचार्यो मन्यते । तस्मादनुशयवान् प्रत्यवरोहतीति सिद्धम् ॥ ११ ॥

इति कृतात्ययाधिकरणम् ॥ २ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।

सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देनोच्येते । चर्यते इति चरणं कर्म, न हि लोकवेदयोश्चरणशब्दः शीले प्रसिद्धः । तुशब्दउपलक्षणार्थनिवृत्त्यर्थो, नहि मुख्ये सम्भवन्ति लक्षणाऽऽश्रयणीया, कर्मचरणयोर्भेदव्यपदेशस्तु ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनेति बादरिराचार्यो मेने ॥ ११ ॥ इति कृतात्ययाधिकरणम् ॥ २ ॥

## सू० अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ ३।१।१२।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अनिष्टादिकारिगातिश्चिन्त्यते । तत्र तावत्पूर्वः पक्षः, निषिद्धसक्तानां विहितविरक्तानां दुष्टानामपि "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसं ते सर्वे गच्छन्ती"ति गमनं श्रुतम् ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवमिष्टापूर्त्तादिकारिणां चन्द्रलोकारोहणावरोहणमुक्तमिदानीमनिष्टादिकारिणो ऽपि चन्द्र-

लोकं यान्ति ? न वेति ? विचार्य्यते —

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।

अनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोकगतिरास्ति ? न वेति ? संशये तावत्पूर्वः पक्षः । अनिष्टं निषिद्धं कर्म, विहितपरित्यागः आदिशब्दार्थः । निषिद्ध-कारिणां विहितपरित्यागकारिणां चापि "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छ-न्ती"ति कौशीतकीवाक्येन गमनं श्रुतम् ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।

जीवस्य गतिस्त्रिधा, अर्चिरादिका, धूमादिका, यमवशगा, च । तत्र विदुषां मोक्षहेतुका प्रथमा । स च फलाध्याये वक्ष्यते । अविदुषां पुण्यकर्मणां च धूमादिका ऽत्र निरूपिता । तदुभय-विधुराणां तु नरकाद्यापत्तिश्चेदानीं निरूप्यते । तथाहि ये विहितं न कुर्वन्ति, ये च निषिद्धं कुर्वन्ति, ते उभयेऽनिष्टादि-कारिणस्ते ऽपि चन्द्रमसं गच्छन्ति ? उत नेति ? संशये, तेषामपि श्रुतं गमनं कौशीतक्याम्नाये "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती"ति सर्वेषामविशेषेण गतिश्रव-णात् ॥ १२ ॥

# सू० संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ।

३ । १ । १३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यमालये दुःखमनुभूयानिष्टादिकारिणां चन्द्रमण्डलारोहावरोहौ, "पुनः पुनर्वशमापद्यते मे वैवस्वतं संयमनं जनानामि"त्यादिषु यमालयगमनदर्शनात् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु धर्मिणामिवाधर्मिणामपि यदि चन्द्रलोकगमनं तर्हि विधिनिषेधरूपस्य शास्त्रस्य वैयर्थ्यं स्यादित्यत आह —

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ।

उक्तदोषनिवृत्तौ तुशब्दः । धर्मिणामिवाधर्मिणां चन्द्रलोकगमनं नास्ति । यत उभयविधशास्त्रवैयर्थ्यं स्यादित्यर्थः । तर्हि को विशेष इत्यत्रोच्यते । "न साम्पराय: प्रतिभाति बालं प्रमा-

द्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यतेमे वैवस्वतं संयमनं जनानां यमं राजानमि"त्यादिषु तद्गतिदर्शनाद्यमलोकगतिदर्शनात् । संयमने यमालये स्वकृतकर्मानुरूपं दुःखमनुभूयेतरेषामनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोकारोहावरोहौ भवतः । तत्राधार्मिका नानायातना अनुभूय, चन्द्रलोकमारुह्य प्रत्यवरोहन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु सुकृतिनां दुष्कृतकर्मणां च समानफलत्वमयुक्तमित्याशङ्क्याह —

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ।

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । संयमने यमालये दुःखमनुभूयेतरेषामनिष्टादिकारिणां चन्द्रारोहावरोहौ । कुतस्तद्गतिदर्शनात् । दर्शयति च श्रुतिस्तेषां यमवश्यतां "न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यतेमे" इति । "वैवस्वतं संयमनं जनानां यमं राजानमि"ति च ॥ १३ ॥

सू० स्मरन्ति च । ३।१।१४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

पराशरादयः यमवश्यत्वं स्मरन्ति ॥१४॥

वेदान्तकौस्तुभः।

स्मरन्ति च।

पराशरादयः सर्वेषां यमवश्यत्वं "सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन्किल "इत्यादिषु स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

स्मरन्ति च।

स्मरन्ति च सर्वेषां यमवश्यत्वं पराशराद्यः। "सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन्किले"त्यादिषु ॥ १४ ॥

## सू० अपि सप्त ।३।१।१५।

वेदान्तपारिजातसौरभः।

रौरवादीन्सप्त नरकानपि स्मरन्ति ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

अपि सप्त।

अपि च पापिनां गन्तव्यत्वेन रौरवा-

दीन् सप्त नरकान् स्मरन्ति ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अपि सप्त ।

अपि शब्दस्मरणस्य समुच्चयार्थः । पापिनां गन्तव्यत्वेन सप्त-नरकान् रौरवमहारौरवप्रभृतीन्स्मरन्ति ॥ १५ ॥

## सू० तत्रापि च तद्व्यापाराद-विरोधः ॥ ३।१।१६।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

रौरवादिष्वपि चित्रगुप्तादीनामधिष्ठातॄणां यमायत्ततया यमस्यैव व्यापारात्तत्रा ऽन्ये ऽप्यधि-ष्ठातार इति नास्ति विरोधः ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः

ननु रौरवादौ चित्रगुप्तादयो ऽपरे ऽपि अधि-ष्ठातारः स्मर्यन्ते, यमस्यैव वशं यान्तीति विरु-द्धमिवाभाति, नेत्याह —

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ।

तत्रापि च रौरवादिष्वपि तद्व्यापारात्

यमव्यापारात् चित्रगुप्तादीनां यमायत्तत्वाद-विरोधः ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु सप्तसु नरकेषु कथं यमयातनाप्राप्तिर्यतो रौरवादिषु चित्रगुप्तादीनामन्येषामधिष्ठातॄणां स्मरणादित्यत आह —

तत्रापि तद्व्यापारादविरोधः ।

रौरवादिष्वपि यमव्यापाराद्राज्ञाकरणादविरोधः ॥ १६ ॥

## सू० विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ३।१।१७।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अथ राद्धान्तः, पञ्चाऽग्निविद्यायाम् "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राणि असकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनाऽसौ लोको न सम्पूर्य्यते" इत्यनिष्टादिकारिणामनवरोहं दर्शयति । पथोरिति च विद्याकर्मणोर्निर्देशस्तयोः प्रकृतत्वात् । तद्य इत्थं विदुरिति देवयानः पन्था इष्टापूर्त्त

दत्तमिति पितृयानस्तयोरन्यतरेणापि ये न गच्छन्ति तानीमानि . तृतीयस्थानभाञ्जिभूतानीति पापिनां चन्द्रगतिर्नास्तीति वाक्यार्थः ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अथ सिद्धान्तमाह —

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः । अनिष्टादिकारिणां चन्द्रलोकगतिर्नोपपद्यते । यस्मात्पञ्चाग्निविद्यायां "वेत्थ यथा ऽसौ लोको न सम्पूर्य्यते" इति प्रश्नस्य प्रतिवचने "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राणि असकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेना ऽसौ लोको न सम्पूर्य्यते" इत्यनिष्टादिकारिणामनवरोहं दर्शयति । पथोरिति च विद्याकर्मणोर्निर्देशः । एतदेवाह सूत्रकारः — विद्याकर्मणोरितीति । अर्थइति शेषः । कुतः ? तयोः प्रकृतत्वात्, एतयोरित्येतत्शब्दस्य प्रकृतवाचकत्वात् । एतयोर्विद्याकर्मणोः पथोः देवयानपितृयानसाधनयोरन्यतरेणान्यतरस्मिन् याने पापिनो-

नाधिकृता भवन्ति । फलितार्थस्तु "तद्ये इत्थं विदुर्ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते" इत्युक्त्वा "ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोहरि"त्यादिना देवयानो विद्याविषयः पन्था "अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्तं दत्तमित्युपासते" इत्युक्त्वा "ते धूममभिसम्भवन्ती"त्यादिना पुण्यकर्मविषयः पितृयानश्च दर्शितस्तयोरन्यतरेणापि ये न गच्छन्ति तानीमानि तृतीयस्थानभाञ्जि भूतानीति "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती"ति श्रुतिरपीष्टादिकारियात्राविषया ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इति प्राप्ते राद्धान्तः —

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।

तुशब्दः पक्षनिवृत्तौ । विद्याकर्मविहीनानां देवयानपितृयानगती न स्तः, कारणाभावात् । पञ्चाग्निविद्यायां "वेत्थ यथा ऽसौ लोको न सम्पूर्यते" इति प्रश्नस्य प्रतिवचने "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेना ऽसौ लोको न सम्पूर्यत"-इत्यनिष्टादिकारिणामनवरोहं दर्शयति । पथोरिति च विद्याकर्मणोर्निर्दिष्टास्तयोः प्रकृतत्वात् । "तद्य इत्थं विदुरिति देवयानः

पन्था इष्टापूर्त्ते दत्तमिति पितृयानस्तयोरन्यतरेणापि ये न गच्छन्ति तानीमानि तृतीयस्थानभाञ्जिभूतानीति ॥ १७ ॥

# सू० न तृतीये तथोपलब्धेः॥
## ३ । १ । १८ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तृतीये स्थाने ऽनिष्टादिकारिदेहारम्भार्थमपि पञ्चमाहुत्यपेक्षा नास्ति, श्रद्धादिक्रमप्राप्तां पञ्चमाहुतिं विना ऽपि जायस्वेति देहारम्भोपलब्धेः ॥ १८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति देहप्राप्तेः पञ्चमाहुतिसापेक्षत्वं श्रूयते। सा चाहुतिश्चन्द्रप्राप्तिपूर्विका ऽतो ऽनिष्टादिकारिणामपि देहप्राप्तये चन्द्रारोहावरोहावङ्गीकर्तव्याविति चेन्नेत्याह —

न तृतीये तथोपलब्धेः ।

मुमुक्षूणामर्चिरादिमार्गः इष्टादिकारिणां पितृयानाख्यो मार्गः । इत्येतन्मार्गद्वयापेक्षया

तृतीयं स्थानमिति स्थानशब्देन सूच्यते श्रुत्याऽनिष्टादिकारिणां यः स तृतीयस्तस्मिन्मार्गे देहप्राप्तेः पञ्चमाहुतिसापेक्षत्वं नास्ति। कुतः? तथोपलब्धेः तृतीये मार्गे प्रविष्टानां पञ्चमाहुतिमनपेक्ष्यैव। "जायस्व म्रियस्वैतत्तृतीयं स्थानमि"ति देहप्राप्तेरुपलब्धेः इष्टादिकारिणां श्रद्धासोमादिक्रमेणास्मिंल्लोके देहप्राप्तिरतस्तेषां देहप्राप्तौ "पञ्चाम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति सङ्ख्यानियमः, अनिष्टादिकारिणां तु विनैवाहुतिसङ्ख्यानियमं भूतान्तरप्रविष्टाभिरद्भिः शरीरमारभ्यते, नतु श्रद्धादिक्रमप्राप्ताभिरित्यर्थः। "पञ्चाम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति श्रुत्या चापां पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषशब्दवाच्यत्वं प्रतिपाद्यते, न चा तासां प्रकारान्तरेण पुरुषवचास्त्वं वार्य्यते। पञ्चाम्यामाहुतावेवापः पुरुषवचासो भवन्ती"त्यवधारणाभावो ऽप्यस्ति ॥ १८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वेवं तर्हि तेषां चन्द्रगमनाभावे शरीरयोगस्यैवासम्भवः पञ्चमाहुत्यभावादित्यत आह —

न तृतीये तथोपलब्धेः ।

तृतीये स्थाने, शरीरारम्भाय न पञ्चमाहुत्यपेक्षा । कुतः ? तथोपलब्धेः । तथा तेनोक्तप्रकारेण "जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनाऽसौ लोको न सम्पूर्यत" इति तृतीयस्थानस्य केवलपापकर्मणो द्युलोकारोहावरोहाभावेन द्युलोकासम्पूर्तिवचनादस्य तृतीयस्थानस्य शरीरारम्भाय न पञ्चमाहुत्यपेक्षा । न चैवं पञ्चमाहुतिवाक्यबाध इति वाच्यं, तस्य पुरुषवचस्त्वप्रतिपादनमात्रेणोपक्षीणतयाऽन्यनिवारकत्वे मानाभावात् । अवधारणादर्शनादन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात् ॥ १८ ॥

## सू० स्मर्य्यतेऽपि च लोके ॥

३ । १ । १९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"जज्ञे द्रोणविनाशाय पावकादिति नः श्रुतमि" त्यादिना इष्टादिकारिणामपि धृष्टद्युम्नप्रभृतीनां पञ्चमाहुतिं विनैव देहोत्पत्तिः स्मर्य्यते ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

स्मर्यतेऽपि च लोके ।

महाभारतादौ पुण्यकर्मणामपि धृष्टद्युम्न-

प्रभृतीनां पञ्चमाहुत्यनपेक्षो देहारम्भः । स्मर्य्यते च " उत्तस्थौ पावकात्तस्मात्कुमारो देवसन्निभः । कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात्समुत्थिता । सुभगा दर्शनीयाङ्गी स्वसितायतलोचने"त्यादिना ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्मर्यते ऽपि च लोके ।

अपि च लोके पुण्यकर्मणां धृष्टद्युम्नद्रौपदीप्रभृतीनां पञ्चमाहुत्यनपेक्षमयोनिजं जन्म स्मर्यते ॥ १९ ॥

## सू० दर्शनाच्च ।३।१।२०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

चतुर्विधेषु भूतेषु स्वेदजोद्भिजयोः स्त्रीपुरुषसङ्गमन्तरेणोत्पत्तिदर्शनाच्च न पञ्चमाहुत्यपेक्षा ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

दर्शनाच्च ।

प्रत्यक्षतः जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिजेषु चतुर्विधेषु स्वेदजोद्भिजयोर्योषित्पुरुषसङ्गं विने-

वोत्पत्तिदर्शनाच्च देहोत्पत्तेः पञ्चमाहुतिसापेक्षत्वं नास्ति ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

दर्शनाच्च ।

इतश्च चतुर्विधो भूतग्रामो जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणा-स्तत्र योषित्पुरुषसम्बन्धमन्तरेण स्वेदजस्थावरयोरुत्पत्तिदर्शनान्न पञ्चमाहुत्यपेक्षा ॥ २० ॥

## सू० तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥३।१।२१॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अण्डजं जीवमुद्भिजमि"त्यत्र तु तृतीय-शब्देन स्वेदजस्य सङ्ग्रहोऽतो न चातुर्विध्य-हानिः ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिजमि"ति श्रुत्या स्वेदजानि भूतानि नोक्तानि, अतो न

चतुर्विधानि तानीत्यत आह —

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।

संशोकजस्य स्वेदजस्योक्तश्रुतिस्थेनाण्डजं जीवजमुद्भिजमिति पाठक्रमापेक्षया तृतीयेनोद्भिजशब्देनावरोधः संग्रहो ज्ञेयः । पृथ्वीं जलं चोद्भिद्य जायते इत्युद्भिजं वृक्षादिकं यूकादिकं च, अतश्चतुर्विधानि भूतानि । तस्मादनिष्टादिकारिणां न चन्द्रलोकारोहणमिति सिद्धम् ॥ २१ ॥ इत्यनिष्टादिकार्य्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु "त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिजमि"त्यत्र त्रिविधो भूतग्रामः श्रूयते, कथं तस्य चतुर्विधत्वमित्यत्राह —

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।

तृतीयेनोद्भिजशब्देन संशोकजस्य स्वेदजस्यावरोधो ऽन्तर्भावः, स्वेदजोद्भिजयोर्भूम्युदकोष्मप्रभवतुल्यत्वात् ॥ २१ ॥

इत्यनिष्टादिकार्य्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ ३ । १ । २२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अवरोहप्रकारश्चिन्त्यते । " अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो-भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षती "त्यत्र देवादिभाव-वदाकाशादिभावः ? उत साद्दश्यप्राप्तिमात्रम् ? इति सन्देहे आकाशादिभाव इति प्राप्ते उच्यते, तत्साद्दश्यापत्तिरिति । कुतः ? साद्दश्यप्राप्तेरेवोप-पन्नत्वात् ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र भूतसूक्ष्मपरिष्वक्ता इष्टादिकारिणः चन्द्रलोकं प्राप्य कर्मफलमनुभूय सानुशयाः यथा-गतमनेवं च प्रत्यवरोहन्तीत्युक्तमिदानीं तदव-रोहप्रकारो विचार्य्यते —

तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।

"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तते यथेतमाकाशमा-काशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षती"ति

वरोहश्रुत्यानुशयिनामवरोहतां देवमनुष्यादि-भाववदाकाशादिभावः प्रतिपाद्यते ? किं वाऽऽका-शादिसादृश्यमात्रमिति ? संशये सोमभाववद-विशेषादाकाशादिभावः प्रतिपाद्यते इति पूर्वः पक्षस्तत्रोच्यते । तत्स्वाभाव्यापत्तिरनुशयिनाम-वरोहतां जीवानां तैराकाशादिभिः सादृश्या-पत्तिः प्रतिपाद्यते । कुतः ? उपपत्तेः आकाशादि-संसर्गकृततत्सादृश्योपपत्तेः । तथाहि लोके क्षीर-काले दध्यभावात् क्षीरस्य दधिभावो युज्यते । अनुशयिनोऽवरोहतः सतः पूर्वं विद्यमानाका-शादिभावो न युज्यते, अन्यस्यान्यभावासम्भवात् सोमाख्यशरीरभावः स्वकृतपुण्यफलभोगाय युज्यते, आकाशादिभावस्तदानीं भोगाभावाच्च नोपपद्यते, नो भवति श्रुतेः सादृश्यपरत्वम् । तस्मात्तत्सादृश्यापत्तिरिति. सिद्धम् ॥ २२ ॥

इति तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तत् स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।

इष्टादिकारिणां भूतसूक्ष्मपरिवेष्टितसानुशयानामवरोह-

उक्तः । अथ तत्प्रकारश्चिन्त्यते । " अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षती "त्यत्र संशयः, किमाकाशादिप्रतिपत्तौ देवमनुष्यादिभाववदाकाशादिभावः ? आहोस्वित्तत्सादृश्यप्राप्तिरिति ? तत्राकाशादिभाव इति पूर्वः पक्षः । राद्धान्तस्तु तत्स्वाभाव्यापत्तिराकाशादिसाम्यप्राप्तिरित्यर्थः । कुतः ? उपपत्तेः । नह्यन्यस्यान्यभाव उपपद्यते, तत्सादृश्यं तु युज्यते ॥ २२ ॥ इति तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

## सू० नातिचिरेण विशेषात् ।

३ । १ । २३ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवोऽल्पेन कालेनाकाशादिवर्षान्तसाम्यं विजहाति पृथिवीं प्रविश्य व्रीह्यादिभावमापद्यते । अतो खलु दुर्निष्प्रपतरमिति विशेषवचनात् । व्रीह्यादिभावाद्दुःखतरानिःसरणवाक्यं पूर्वत्राचिरकालिकमवस्थानं द्योतयति ॥ २३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं तत्तत्सादृश्यपरिच्छेदकः कालश्चिन्त्यते —

नातिचिरेण विशेषात् ।

किमनुशयवान् आकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षप्रतिपत्तौ तत्तत्सादृश्येन चिरं तिष्ठत्युताल्पकालमिति ? संशयः, तत्र तत्तत्सादृश्येनाल्पकालावस्थितौ मानाभावात् पुण्यवद्भिर्लब्धस्य तत्तत्सादृश्यस्यानल्पकालस्थायित्वसम्भवाच्च चिरं तिष्ठतीति प्राप्ते *ब्रूमः— नातिचिरेणेति । अनुशयवान् जीवः अल्पमल्पं कालमेवाकाशादिसादृश्येनावस्थाय वर्षसादृश्यानन्तरं भूमिं प्रविशतीत्यर्थः । कुतः ? विशेषात् "पृथिव्यनन्तरं व्रीह्यादिभावस्ततो निष्क्रमणे अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरमि"ति विशेषश्रवणात् । अतो व्रीह्यादिभावात् दुर्निष्प्रपतरं दुःखतरं निष्क्रमणमनल्पकालसाध्यमित्यर्थः । एतेनाकाशादिभ्यो ऽचिरेण निःसरणं प्रतीयते । दुर्निष्प्रपतरमित्यत्र द्वितीयतकारलोपश्छान्दसः । आकाशादिसादृश्येन जीवस्य चिरं कालावस्थाने प्रयोजनाभावाच्च । तस्मादाकाशादिसादृश्येनाल्पकालं तिष्ठतीति सिद्धम् ॥ २३ ॥

इति नातिचिराधिकरणम् ॥ ५ ॥

---

* सूत्रकारसिद्धान्तं वदामः ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नातिचिरेण विशेषात् ।

आकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षप्राप्तौ किं द्राघिष्ठं कालं सादृश्येनावस्थानमुताल्पकालमिति ? विषये अल्पकाले हेत्वभावाद्द्राघिष्ठमिति प्राप्ते-ब्रूमः । नातिचिरेणाल्पेन कालेनावरोहः यावद्व्रीह्यादिप्राप्तिरित्यर्थः । कुतः ? विशेषश्रवणात् । अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरमिति एकस्तकारश्छान्दसत्वाल्लुप्तो ज्ञेयः । व्रीह्यादिभावादुत्तरं दुःखतरं निःसरणमिति वदन्सर्वत्र पूर्वत्राचिरकालं बोधयति ॥ २३॥

इति नातिचिराधिकरणम् ॥ ५ ॥

## सू० अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ३।१।२४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ते इह व्रीहियवा ओषधीवनस्पतयस्तिलमासा इति जायन्ते" तत्रान्यक्षेत्रज्ञाधिष्ठिते व्रीह्यादौ जायन्ते संसर्गमात्रं प्राप्नुवन्तीत्यर्थो ज्ञेयः । कुतः ? आकाशादिभिरिव तेषां व्रीह्यादिभिरपि संसर्गमात्रकथनात् ॥ २४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः

व्रीह्यादिप्राप्तौ चिरं कालं तिष्ठति चेत्तर्हि व्रीह्यादेरनुशयिशरीरत्वमस्ति किमिति ? सन्देह- मिदानीं निराकरोति —

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ।

अनुशयिनां वृष्टिद्वारा पृथिवीप्राप्त्यनन्तरं श्रूयते "त इह व्रीहियवा औषधिवनस्पतयस्तिल- माषा इति जायन्त" इति तत्र संशयः, किमनु- शयिनो व्रीह्यादिशरीरा जायन्ते ? किं वाऽऽकाशादा- विव व्रीह्यादौ तेषां सश्लेषमात्रमिति ? तत्र व्रीह्या- दिशरीरवत्त्वेनोत्पद्यन्ते जायन्ते इति वचना- दिति प्राप्ते ब्रूमः, स्थावरशरीराधिकारिणाऽनु- शयिजीवादन्येन जीवेनाधिष्ठिते व्रीह्यादौ ते संसर्गमात्रं प्राप्नुवन्ति । कुतः ? पूर्ववदभि- लापात् । यथाऽऽकाशादिषु वर्षान्तेषु तेषां संश्लेष- मात्रमुक्तम्, नतु तत्तच्छरीरित्वम् । तत्र कर्म- परामर्शाभावात् । यत्र शरीरग्रहणपूर्वकं सुख- दुःखभाक्त्वं, तत्र "रमणीयचरणा रमणीयां योनि- मापद्येरान्नि"ति कर्मपरामर्शोऽस्ति । एवं व्रीह्यादि-

ष्वप्यभिलापात् कर्मपरामर्शं विनैव ब्रीह्यादिभावव्यपदेशेन प्रवेशमात्रकथनात् । इष्टादिकर्मकारिणां स्थावरजन्मप्रापककर्मणोऽभावाच्च जायन्ते इति वचनं संसर्गमात्रपरमिति भावः ॥ २४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ।

"त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते" इति श्रूयते । तत्र ते किं ब्रीह्यादिशरीरा जायन्ते ? उत क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठिते ब्रीह्यादौ संसर्गमात्रं प्रपद्येरन्निति ? विषयः ब्रीह्यादिदेहभोक्तारो जायन्ते इति पूर्वः पक्षः । जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेरिति प्राप्ते सिद्धान्तः । अन्याधिष्ठिते ब्रीह्यादिशरीरिजीवविशेषाधिष्ठिते ब्रीह्यादौ संसर्गमात्रं प्राप्नुवन्त्यनुशायिनो, न तु ब्रीह्यादिशरीरत्वं, कुतः ? पूर्ववदिति । आकाशादिवत्तेषामपि कथनात् तत्कर्मजन्यत्वाभावाच्च स्थावरयोनित्वमित्यर्थः ॥ २४ ॥

## सू० अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।

॥ ३ । १ । २५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तेषां ब्रीह्यादिस्थावरयोनिप्रापकं हिंसा-

योगाज्ज्योतिष्टोमाद्यशुद्धं कर्मास्तीति चेज्ज्योतिष्टोमादेरशुद्धत्वं नास्ति, विधिशास्त्रात् ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अशुद्धमिति चेन्न, शब्दात् ।

नन्विष्टादिकारिणामशुद्धमग्निसोमीयपशुहिंसायोगात्पापमिश्रं ज्योतिष्टोमादिकर्मास्ति, तत्र पुण्यांशस्य स्वर्गे फलमनुभूय हिंसांशफलानुभवार्थं व्रीह्यादिषु स्थावरेषु ते जन्म प्राप्नुवन्तीति चेन्न । कुतः ? शब्दात् । ज्योतिष्टोमादेः शब्दात् शास्त्रात्केवलधर्मत्वेन सुखहेतुत्वादित्यर्थः। “न हिंस्यात्सर्वाभूतानी”ति हिंसात्मकाधर्मनिषेधशास्त्रं धर्मविषयेन सुखोदर्कसंज्ञपनशास्त्रेण बाध्यत इति भावः । तत्र हितमेव भवति न हिंसा । “न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यासि देवाउ एषिपथिभिः सुगेभिः यत्र यन्ति सुकृतोनापि दुष्कृतस्तत्र त्वा देवः सविता दधात्वि”ति मन्त्रवर्णात्तस्मान्न तादृशं कर्माशुद्धम् ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अशुद्धमिति चेन्न, शब्दात् ।

अत्र साङ्ख्यश्चोदयति । कर्म द्विविधं शुद्धमशुद्धं च, तत्र शुद्ध-महिंसादि, द्वितीयं ज्योतिष्टोमादि पशुहिंसावत्त्वात् । अनुशयिनां ज्योतिष्टोमादि कर्तृत्वेनाशुद्धव्यामिश्रकर्मफलभोगाय मुख्यमेव स्थावरं जन्मेति प्राप्ते राद्धान्तः । शुद्धमेव ज्योतिष्टोमादि कर्म । कुतः ? शब्दात् । शास्त्रप्रमाणकत्वात् । "धर्माधर्मयोः सामान्य-विधेर्विशेषविधिर्बलीयान्" "न हिंस्यात्सर्वाभूतानी"ति सामान्य-निषेधस्य बाह्यहिंसाविषयकत्वेन सावकाशत्वात् । क्रतुगतहिंसा-विधेस्तु निरवकाशत्वेन बलीयस्त्वात्तेन सामान्यनिषेधस्य बाधो-युक्त एवातो गौणमत्र जन्मेति ॥ २५ ॥

## सू० रेतः सिग्योगोऽथ ३।१।२६।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवती"ति सिग्भाववद्व्रीह्यादिभावोऽपि ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

रेतः सिग्योगोऽथ ।

अथ व्रीह्यादिभावप्रवचनानन्तरम् "यो यो-ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवती-

ती"ति रेतःसिग्योगः श्रूयते । रेतः सिञ्चतीति रेतः सिक्तेनाऽनुशायिनो योगो रेतःसिग्योगस्तत्र तद्भक्षिताऽन्ननिबन्धनो रेतोनिबन्धनश्च तद्भूयो भवतीति तद्भावलक्षणश्च योगस्तत्संसर्गमात्रं प्रतिपादयति, तद्वद्व्रीह्यादिभाववचनमपि संसर्गमात्रविषयम्, तद्भूय एव भवति मनुष्यपश्वादिभूतस्य रेतःसेक्तुः सम्बन्धी सन्सदृशो भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

रेतः सिग्योगो ऽथ ।

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं व्रीह्यादिभाववचनानन्तरं "यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवती"ति श्रुतेः रेतः सिग्योगो यथा तद्योगमात्रं वक्ति, तद्वद्व्रीह्यादिभावो ऽपि तद्योगमात्रमेव भूय एव भवति, तदाकृतिर्भवतीत्यर्थः । मनुष्येण भक्षिता मनुष्यो जायते, पश्वादिना भक्षितः पश्वादिर्भवतीति यावत् ॥ २६ ॥

## सू० योनेः शरीरम् ॥३।१।२७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

योनिमाश्रित्य शरीरी भवति ॥ २७ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजात-सौरभे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

---

वेदान्तकौस्तुभः।

योनेः शरीरम्।

अनुशयी पञ्चमाहुतौ सिग्वियुक्तो योनेः संयोगात् शरीरं प्रतिपद्यते, तस्मात्ततः पूर्व-त्राकाशादिभाववचनानि तत्तत्संयोगमात्रं प्रति-पादयन्तीति सिद्धम् ॥ २७ ॥

इत्यन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥ ६ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तका-चार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्री-निवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसा-भाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे तृतीया-ध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

योनेः शरीरम् ।

योनिप्राप्तेः पश्चादेवानुशयिनां देहप्राप्तिः । तत्रैव सुखदुःखादि-भोगस्य सत्त्वात् । ततः पूर्वं ह्याकाशादिप्राप्तौ तद्योगमात्रमेवेति सिद्धम् ॥ २७ ॥ इत्यन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयि श्रीश्री-केशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभ-प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्याय-प्रथमपादविवरणम् ॥ १ ॥

श्रीमते निम्बार्काय नमः ।

अथ

## तृतीयाऽध्याये द्वितीयपादारम्भः ।

# सू० सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥

३ । २ । १ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एवं जाग्रतो जीवस्य वैराग्यार्थं संसारगतिरुदारिता । अथ स्वप्नादि निरूप्यते । स्वप्नमधिकृत्य "अथ न तत्र रथा रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इत्यादि श्रूयते । तत्र रथादिसृष्टिर्जीवकृता ? उत ब्रह्मकृता ? इति सन्देहे सन्ध्ये स्वप्नस्थाने रथादिसृष्टिर्जीवकृता । हि यतः "सृजते स कर्त्ते"ति श्रुतिराह ॥ १ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं प्रथमे पादे आत्मानात्मविवेकार्थं भूतभौतिकसम्बन्धो वैराग्यार्थं च स्वर्गनरकसम्बन्धो जाग्रतो जीवस्य प्रपञ्चितः । इदानीं

विवेकवैराग्ययोर्दार्ढ्यार्थं स्वप्नाद्यवस्था विचार्य्यन्ते, ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे भक्त्युद्रेकसिद्धये तद्गुणाश्च निरूप्यन्ते —

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।

बृहदारण्यके स्वप्नमधिकृत्य श्रूयते "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दामुदः प्रमोदो भवन्ति, अथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते, न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ते"ति तत्र संशयः किमियं रथादिसृष्टिर्जीव-कर्तृका ? उत ब्रह्मकर्तृकेति ? तत्र हि यतः "सृजते सहि कर्त्ते"ति श्रुतिः रथादिकर्तृत्वेन जीवमेवाह। अतो सन्ध्ये स्वप्नस्थाने रथादिसृष्टिर्जीवकर्तृका, "तृतीयं स्वप्नस्थानमि"ति श्रुतेः ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।

इत्थं जाग्रदवस्थायां जन्ममरणस्वर्गनरकगमनादिदुःखजातं जीवस्य विरागार्थं प्रपञ्चितम् । एतेनात्मानात्मविवेको ऽपि सिद्धः ।

अथेदानीं तयोर्विवेकविरागयोर्दार्ढ्यार्थं स्वाप्नाद्यवस्था निर्णीयते, तत्र स्वप्ने सृष्टिः श्रूयते बृहदारण्यके "न तत्र रथा न रथयोगा-न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान्रथ योगान्पथः सृजते, न तत्रा-नन्दामुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमु*दः सृजते, न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्ते"ति तत्र संशयः सा सृष्टिः किं जीवकृतोत परमेश्वरकृतेति ?। जीवनिर्मितेति । कुतः ? सन्ध्ये स्वप्नस्थाने "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानमि"ति श्रुतेः हि यतः "सृजते स हि कर्ते"ति श्रुतिराह स्वप्नदृग्जीवस्यैव तत्र प्रतीय-मानत्वात् ॥ १ ॥

## सू० निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ ३। २। २ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"य एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो-निर्मिमाण" इति स्वप्ने एके जीवं कामानां पुत्रा-दिरूपाणां कर्त्तारं समामनन्तीति पूर्वः पक्षः ॥ २ ॥

---

* आनन्दाः स्वरूपसुखानि, मुदो वैषयिकसुखानि, प्रमुदः प्रकृष्टविषयानुभवजानि सुखानि ।

वेदान्तकौस्तुभः ।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।

किञ्चैनं जीवात्मानं "य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण" इति स्वप्ने कामानां निर्मिमातारं कर्त्तारमेके शाखिनः समामनन्ति । श्रुतिगतकामपदार्थमाह—पुत्रादयश्चेति । काम्यन्ते इति कामाः पुत्रादयः कामशब्देनोच्यन्ते, नेच्छामात्रम् । "सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्वे"ति प्रक्रमात् । प्रजापतिवाक्ये जीवस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिप्रसिद्धमेवातः सत्यसङ्कल्पत्वादियुक्तजीवस्य रथादिनिर्मातृत्वं युज्यते इति पूर्वः पक्षः ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।

किञ्चैके शाखिनः स्वाप्नार्थानां निर्मातारं जीवमधीयते । य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण " इति । अत्र कामशब्देन काम्यन्ते इति कामाः पुत्रादय एवोच्यन्ते, नेच्छामात्रम् । "सर्वान्कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्वे"ति प्रक्रमात् । अतो जीवनिर्मितैव स्वप्नसृष्टिः । उपकरणाद्यभावे ऽपि तस्य प्रजापतिवाक्ये सत्यसङ्कल्पत्वश्रवणेन सृष्ट्युपपत्तेरिति प्राप्ते ॥ २ ॥

# सू० मायामात्रं तु कार्त्स्न्येना-नभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥

॥ ३ । २ । ३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्राभिधीयते, स्वप्ने सत्यसङ्कल्पसर्वज्ञपरमेश्वर-निर्मितमेव रथादिकार्य्यजातम् । यतो ह्याश्चर्य्य-भूतं तन्न जीवकृतं, तदीयसत्यसङ्कल्पत्वादेर्बद्धा-वस्थायां कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

तत्र सिद्धान्तमाह —

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।

तुशब्दः पक्षनिषेधार्थः । स्वाप्नं रथादिकं मायामात्रमाश्चर्यमात्रम् । अत्र मायाशब्द आश्च-यार्थः । श्रीवासुदेवो निखिलाश्चर्यभूतसृष्टिसंहार-कुशलो जीवानामत्यल्पकालस्थायिसुखादिसिद्धये दुर्विभाव्याभिः स्वशक्तिभिस्तत्तत्कर्मानुरूपं तत्त-

जीवभोग्यमाश्चर्यरूपं रथाद्यर्थजातं करोति । स्वप्नदृशो जीवस्य तूपकरणाद्यभावात्तत्कर्तृत्वं नोपपद्यते । तस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिधर्माणां कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् बद्धावस्थायां तिरोधानात् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

राद्धान्तमाह —

मायामात्रं तु कात्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।

तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। स्वाप्नसृष्टिपरमेश्वरनिर्मितेव, न जीवकृता । कुतो यतो मायामात्रं मायाशब्द आश्चर्यवाची, "जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिते" त्यत्रैवं दर्शनात् । जीवस्योपकरणाद्यभावेन तच्छक्तिशून्यत्वात् तस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिधर्माणां कात्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्, बद्धावस्थायां तिरोधानादित्यर्थः । तस्मात्तत्तज्जीवकर्मानुसारेण तदेकैकजीवानुभवयोग्यमितरसकलपुरुषाननुभूयमानमाश्चर्यरूपं रथादिकं श्रीपुरुषोत्तमेनैव निर्मीयते । तस्य सर्वशक्तिसत्यसङ्कल्पत्वादिस्वाभाविकधर्मयोगात् ॥ ३ ॥

सू० सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥३।२।४ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने" इति "अथ यदा स्वप्नेषु पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ती"ति श्रुतेः स्वप्नः साध्वागमासाध्वागमयोः सूचको ऽवगम्यते, एतदेव स्वप्नफलविद आचक्षते । अतो बुद्धिपूर्वकेष्टागमसूचकस्वप्नादर्शनादेवानिष्टागमसूचकस्वप्नदर्शनाच्च परमात्मैव स्वप्नरथादिनिर्माता ॥ ४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।

इतश्च भगवत्कर्तृकत्वं स्वाप्नरथादेरवगम्यते । हि यतः स्वप्नः शुभाशुभसूचकः परकर्तृकत्वेनैवार्थवान्भवति । "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने " इति । " अथ यदा स्वप्नेषु पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति । स-

एनं हन्ती "ति च श्रुतेः शुभाशुभसूचकत्वं स्वप्नस्य स्वप्नाध्यायविदो ऽप्याचक्षते। "आरोहणं गोवृषकुञ्जराणां प्रासादशैलाग्रवनस्पतीनाम्। विष्ठानुलेपो रुदितं मृतं च स्वप्ने स्वगम्यागमनं च धन्यम्। कृष्णाम्बरधरा नारी कृष्णमाल्यानुलेपना। अवगूहति यं स्वप्ने तस्य मृत्युर्न संशयः" इत्यादि। यदि जीवः स्वप्नसृष्टिकर्त्ता, तर्हि स्त्र्यादिकं शुभसूचकमेव निर्माय सुखमेवानुभूयेत, न त्वात्मविनाशाय कृष्णपुरुषाद्युत्पादकत्वं तस्य घटेत। ते च शाखिनः कामानां निर्मातारं परमात्मानमाहुः। "एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणस्तदेव शुक्रम् तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन"-इति स्वाप्नसृष्टिश्रुत्युक्तलिङ्गानां परमेश्वरविषयानां जीवे ऽन्वयासम्भवात् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः।

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियमि"ति अथ "यदा स्वप्ने पुरुषं

कृष्णां कृष्णदन्तमि"त्यादिना स्वप्नस्येष्टादिसूचकत्वश्रवणात् । तच्च जीवकर्तृकत्वे न सम्भवति । यदि जीवः सृष्टिकर्ता तर्हि शुभसूचकमेव स्वप्नं दृष्ट्वा सदा सुखमेवानुभूयेत, न कदापि दुःखी स्यात् । नहि चेतनः स्वदुःखार्थं कोऽपि यतते इति भावः । स्वाप्नाध्यायविदश्च स्वप्नं शुभाशुभयोः सूचकमाचक्षते । "आरोहणं गोवृषकुञ्जराणां स्वप्ने स्वगम्यागमनं च धन्यमि"ति "खरयानतैलाभ्यञ्जनान्यधन्यानी"ति "कामं काममि"ति च परमेश्वरमेव निर्मातारमाह "य एषु सुप्तेषु जागर्ति तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चने"ति वाक्यशेषे परमात्मासाधारणधर्मश्रवणात् । तेषां च जीवे कथमप्यसम्भवात्तस्माज्जीवानामल्पतरकर्मानुसारिफलभोगाय तावन्मात्रकालीनं तदेकतमेनानुभाव्यं रथादि परमेश्वर एव सृजतीति । विशेषार्थस्तु पूर्वमेवोक्तः ॥ ४ ॥

## सू० पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥

३ । २ । ५ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सत्यसङ्कल्पादिकं स्वाप्नपदार्थनिर्मातृत्वे जीवस्यावश्यमङ्गीकरणीयं तच्च जीवकर्मानुरूपात्परमेश्वरसङ्कल्पाद्बद्धाऽवस्थायां तिरोहितं तस्मादेव

जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः । "संसारबन्धस्थिति-मोक्षहेतुरि"ति श्रुतेः ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु बद्धावस्थायां जीवस्य सत्यसङ्कल्पादिकं कुतस्तिरोहितमित्यत आह —

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।

उक्तशङ्कानिवृत्त्यर्थस्तुशब्दः । ब्रह्मांशस्य अस्य जीवस्यानादिकर्मात्मिकया ऽविद्यया विमोहितस्यात एव भगवत्पराङ्मुखस्य स्वाभाविकमपि सत्यसङ्कल्पादिकं तिरोहितं बद्धावस्थायां भवति । कुतः ? पराभिध्यानात् । परस्य परमपुरुषस्याभिध्यानाज्जीवकर्मानुरूपात्सङ्कल्पात् । हि अवधारणे । तत एव सङ्कल्पादस्य बन्धविपर्ययौ भवतः । "संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येनात्म्ये निरुक्ते निलयने ऽभये प्रतिष्ठां विन्दते ऽथ सो ऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवती"त्यादिश्रुतिभ्यः " बन्धको-

भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः" इत्यादिस्मृति-भ्यश्च ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

ननु जीवस्य सत्यसङ्कल्पादिकं कुतस्तिरोहितमिति चेत्तत्राह —

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।

तुशब्दः शङ्कोच्छेदकः । पराभिध्यानात् अनादितत्कर्मानुगुणपरमेश्वरसङ्कल्पादेव तिरोहितमिति ब्रूमः । ततस्तत्सङ्कल्पादेव ह्यस्य बन्धमोक्षौ श्रूयेते । "संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरि"त्यादिश्रुतेः "बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः" इत्यादिस्मृतेश्च ॥ ५ ॥

# सू० देहयोगाद्वा सोऽपि ॥

३ । १ । ६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स च तिरोभावोऽविद्यायोगद्वारेण भवति ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः

देहयोगाद्वा सोऽपि ।

सोऽपि पराभिध्यानकृतः सत्यसङ्कल्पादितिरोभावः सृष्टिवेलायां देहयोगात् प्रलयवेलायां

प्रकृतियोगाद्भवति । कार्य्यकारणरूपप्रकृतियोग- द्वारेण स्वसङ्कल्पात् जीवकर्मानुसारी भगवान् सत्यसङ्कल्पादियुक्तस्य स्वांशभूतस्य जीवस्य रूपं तिरोधापयतीत्यर्थः । तस्मात्तत्तत्प्राणिकर्मानु- रूपतत्तत्प्राण्यनुभाव्याल्पकालस्थायिनः स्वाप्न- पदार्था भगवत्सृष्टाः, न जीवकृता इति सिद्धम् ॥ ६ ॥　　इति सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

देहयोगाद्वा सो ऽपि ।

सो ऽपि तिरोभावो ऽपि देहयोगाद् वा भवति । वा विकल्पे व्यवस्थितश्च विकल्पः । सृष्टिकाले देहावस्थचिद्वस्तुसंयोगात् । प्रलये च नामरूपविभागानर्हाचिद्वस्तुसंयोगात् । अतो ऽनभिव्यक्त- स्वरूपत्वान्न जीवस्य स्वाप्नसृष्टिकर्तृत्वमिति सिद्धम् ॥ ६ ॥

इति सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥

सू० तदभावो नाडीषु तच्छ्रुते- रात्मनि च । ३ । २ । ७ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स्वप्नसृष्टिनिर्माता परमात्मा । सुषुप्तिरपि

नाडीपुरी तत्प्रवेशानन्तरं खलु परमात्मन्येव भवति "आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवती" ति "ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" इति "य एषो ऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिंच्छेते" इति च श्रवणात् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

एवं स्वाप्नपदार्थानां स्वप्नदृग्भिन्नत्व-सृज्यत्वास्थिरत्वनिरूपणेन विवेकविरागौ दृढी-कृतौ। अथेदानीमस्यैवार्थस्य पुष्ट्यर्थं सुषुप्ति-स्थानं चिन्त्यते —

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च।

"तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सुप्तो-भवती"ति नाडीषु सुषुप्तिः श्रूयते। "अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कश्च वेद तदा हि ता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदया-त्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरी-तति शेते" इति पुरीततिसुषुप्तिः श्रूयते। "य-एषो ऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिञ्छेते यत्रैतत्पुरुषः

स्वपिति नाम सता सौम्य ! तदा सम्पन्नो-भवति प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमि"त्यादिना च ब्रह्मणि सुषुप्तिः श्रूयते, तत्र संशयः, किं सुषुप्तिस्थान-विकल्पः ? आहोस्वित्तत्समुच्चयः ? इति जीवस्य तेषां त्रयाणां मध्ये यत्र कुत्राचिदपि सुषुप्ति-सम्भवात्त्रिषु युगपत्तदसम्भवाच्च विकल्प इति पूर्वपक्षे—ब्रूमः । तदभावः स्वप्नाऽभावः सुषुप्तिः । नाडीषु आत्मनि आकाशादिशब्दोदिते ब्रह्मणि चकारात्पुरीतति नाडीब्रह्मणोरन्तरालवृत्तौ स्थान-विशेषे भवति, नाडीपुरीतदात्मनां समु-च्चय एव, न हि विकल्प इत्यर्थः । कस्मात् ? तत् श्रुतेः । नाडी पुरी तदात्मनां यत्सुषुप्ति-स्थानत्वं तस्य श्रुतेः श्रवणात् । तत्र नाडी-पुरीततोः प्रासादखट्वा स्थानीययोर्गुणत्वात् शय्यास्थानीयस्य परमात्मनः प्रधानत्वात् स-एव साक्षात्सुषुप्तिस्थानमिति फलितोऽर्थः ॥ ७॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ सुषुप्त्यवस्था श्रूयते । "अथ यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः

स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवती”ति छान्दोग्ये तथा “ अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कंचन वेद तदा हि ता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते”इति “य एषो ऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिञ्छेते ”इति च बृहदारण्यके । आकाशशब्दो ऽत्र ब्रह्मवाचकः । तथा “ यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य ! तदा सम्पन्नो भवती”ति “नाड्यः पुरी तद्ब्रह्म चे”ति त्रिविधसुषुप्तिस्थानपराः श्रुतयो दृश्यन्ते । ताः किमन्योन्यनिरपेक्षतया सुषुप्तिस्थानं विकल्पयन्ति ? उत परस्परापेक्षतयैकं सुषुप्तिस्थानं प्रतिपादयन्ति ? इति संशयः । निरपेक्षत्वेन प्रतीतेर्युगपदनेकस्थानवृत्त्यसम्भवाच्च विकल्पयन्तीति प्राप्ते—आह —

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।

चकारः पुरीतत्समुच्चयार्थः । तदभावः स्वप्नदर्शनाभावः सुषुप्तिरिति यावत् । स नाडी पुरी तदात्मसु भवति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । तेषां नाडी पुरी तदात्मनां सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रवणात् । तत्र नाडी पुरीततौ प्रासादखट्वास्थानीयौ, ब्रह्म च पर्यङ्कस्थानीयं, अतो ब्रह्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानमिति ॥ ७ ॥

# सू० अतः प्रबोधो ऽस्मात् ॥

## ३ । २ । ८ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अत एव सत आगम्येत्यादौ श्रूयमाणं

परमेश्वरादप्युत्थानमुपपद्यते ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अतः प्रबोधा ऽस्मात् ।

परमात्मैव जीवानां सुषप्तिस्थानमतो- हेतोः अस्मात्परमात्मनः सकाशादेव तेषां प्रबोधः जाग्रत्स्थानप्राप्तिरुपपद्यते । "सत आ- गम्य न विदुः सत आगच्छामह" इत्यादि- वचनात् । परमात्मनो ऽन्यस्य जीवसुषप्ति- स्थानत्वे सत आगम्येत्यादिवाक्यं बाध्येत, अन्य- स्मिन् शयनमन्यस्मादुत्थानं च न घटेत इति भावः । अत सुषुप्तिस्थानं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥८॥

इति तद्भावाधिकरणम् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अतः प्रबोधो ऽस्मात् ।

यतो ब्रह्मैव सुषुप्तिस्थानम् । अतो ऽस्माद्ब्रह्मणो जीवस्य प्रबधो- जागरितस्थानप्राप्तिरुपपद्यते । "सत आगम्य न विदुः सत आग- च्छामह "इति ॥ ८ ॥ इति तद्भावाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू० स एव तु कर्मानुस्मृति- शब्दविधिभ्यः । ३।२।९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यः सुप्तः स एव जीव उत्तिष्ठति यस्मात्पूर्वेद्युः कर्मणोऽर्द्धं कृत्वा परेद्युरनुस्मृत्य तदर्द्धं करोति ते इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तथा भवन्ती"त्यादिशब्देभ्यः "अग्निहोत्रं जुहुयादात्मानमुपासीते"त्यादिविधिभ्यः ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं सुषुप्तिस्थाने ब्रह्मणि प्रविष्टस्य दुःखालयावस्थाद्वयनिर्मुक्तस्य जीवस्योत्थानं न सङ्गच्छते इत्याशङ्क्याह —

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।

किं यः सुप्तः स एव प्रबोधसमये उत्तिष्ठति? तदन्यो वा ? इति संशयः । तत्र ब्रह्मसम्पन्नस्योत्थानासम्भवादन्य इति प्राप्ते—ब्रूमः । तुशब्दः पक्षनिषेधार्थः । स एव सुप्तः उत्तिष्ठति, नान्यः । कुतः ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यो- हेतुभ्यः । यद्दिनद्वयसाध्यं कर्म तदारम्भं जनः पूर्वेद्युः कृत्वा नक्तं सुप्तो भवति, पुनरुत्था-

यापरेद्युः स एव तत्समापयति । एवं भूतात्कर्मणः यः सुप्तः स एव प्रबुद्ध इति गम्यते । अनुस्मृतेः "यो नक्तं सुप्तः सोऽहं प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽस्मी"ति प्रत्यभिज्ञानाच्च । शब्देभ्यः "इमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्ति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तथा भवन्ती"त्येवमादिभ्यश्च । तथा भुक्तिमुक्तिपरेभ्यः "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामो यजेत शान्त उपासीतात्मानमुपासीते"त्येवमादिभ्यो विधिवाक्येभ्यः । यदि सुप्तेतर उत्तिष्ठति तदैते हेतवो बाध्येरन्, तस्मात्सुप्त एवोत्तिष्ठती"ति सिद्धम् ॥ ९ ॥

इति कर्मानुस्मृतिशब्दविध्याधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दाविधिभ्यः ।

किं यः सुप्तः स एव प्रबोधसमये समुत्तिष्ठति ? तदन्यो वेति ? विषयः, नियमहेत्वभावादनियम इति पूर्वपक्षे प्राप्ते उच्यते - स एव त्विति । तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । यः सुप्तः स एव प्रबोधसमये उत्तिष्ठति । कुतः ? कर्मेत्यादि । पूर्वेद्युरर्द्धं कृतं कर्मानु–

स्मृत्य परेद्युस्तत्समाप्तये प्रवृत्तिदर्शनात् । "यो ऽहमस्वाप्सं स एवाहं जागर्मी"ति प्रत्यभिज्ञानात् । "इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्ति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तथा भवन्ती"त्येवमादिशब्देभ्यश्च । "अग्निहोत्रं जुहुयादात्मानमुपासीते"त्यादिविधिभ्यश्च । अन्यथा ऽग्निहोत्रादिकर्मस्वर्द्धकृतेष्वन्यश्चेदुत्तिष्ठति, तदा ऽग्निहोत्रादिश्रवणादिभोगमोक्षसाधनविधायकाः श्रुतयो ऽनर्थकाः स्युः । कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च । अहरहर्जीवानामुत्पत्तिविनाशौ च स्यातामिति भावः ॥ ९ ॥

इति कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

## सू० मुग्धे ऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥३।२।१०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

मूर्च्छिते मरणार्द्धसम्पत्तिः सुषुप्त्यादिषु मूर्च्छा नैकतमा, अतः परिशेषात् सा तदतिरिक्ता ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं मूर्च्छावस्था विचार्य्यते —

मुग्धे ऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ।

लोकप्रसिद्धा मूर्च्छावस्था किं सुषुप्त्यादावेवान्तर्भवति ? आहोस्वित्तदतिरिक्तेति ? संशये जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्युत्क्रान्तिभेदाच्चतस्रो जीवस्यावस्थाः सुप्रसिद्धास्तास्वेवान्तर्भावो युक्तः । तदतिरिक्ता मूर्च्छेत्यत्र मानाभावादिति प्राप्ते—ब्रूमः । मुग्धे ऽर्द्धसम्पत्तिर्भवति, इह दुःखातिशयेन मूर्च्छितो जनो मुग्ध इत्युच्यते, स मरणस्थानस्यार्द्धं प्राप्नोति । ताभ्यो ऽतिरिक्ता मूर्च्छावस्थेत्यर्थः । कुतः ? परिशेषात् । तथा हि न तावन्मूर्च्छा जाग्रदवस्थायां स्वप्नावस्थायां वाऽन्तर्भवति, ज्ञानाभावात् । नापि मरणे तदन्तर्भावः, प्राणोष्मणोः सत्त्वात् । नच सुषुप्तिरेव मूर्च्छेत्युच्यते, सुषुप्तेः सत्परिष्वङ्गात्सुखस्थानत्वात् । अतः परिशेषात्सुषुप्त्याद्यन्यतमा मूर्च्छावस्था नास्ति, किन्त्ववस्थान्तरमिति सिद्धम् ॥ १० ॥

इति मुग्धाधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

मुग्धे ऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ।

मुग्धो नाम मूर्च्छितः, स किमवस्थ इति चिन्त्यते । चतस्रो-

ऽवस्थास्तावज्जीवस्य प्रसिद्धाः, जागरितं स्वप्नः सुषुप्तिरुत्क्रान्तिरिति । न पञ्चमी कापि प्रसिद्धा ऽस्ति । तत्र केयं मूर्च्छा ? आसामन्यतमा ? उतावस्थान्तरम् ? इति विषये ऽन्यतमेति पूर्वः पक्षः । अवस्थान्तरकल्पने मानाभावादिति प्राप्ते राद्धान्तः । मुग्धे मूर्च्छिते मुषलाद्यभिहते पुरुषे यातस्यावस्थासार्द्धसम्पत्तिः मरणस्थानस्यार्द्धं सम्पद्यते मुग्धः । कुतः ? परिशेषात् । जागरादावनन्तर्भावात् । तथाहि न तावत्स्वप्नजागरौ, विशेषज्ञानाभावात् । नापि मरणं, प्राणोष्मणोर्विद्यमानत्वात् । नापि सुषुप्तिस्तद्वैलक्षण्यात् । सुषुप्तस्य प्रसन्नवदनत्वनेत्रनिमीलनश्वासमुञ्चनादीनामुपलम्भात् । अतः परिशेषान्मरणार्द्धसम्पत्तिर्मूर्च्छा । मरणं च सर्वप्राणादिसम्बन्धोपरतिः । सूक्ष्मप्राणदेहसम्बन्धेनावस्थितिर्मूर्च्छेति विवेकः । यत्तूक्तं न पञ्चमी कापि प्रसिद्धा ऽस्तीति, नैष दोषः । अस्याः कादाचित्कत्वात्, लोकायुर्वेदयोरर्द्धसम्पत्त्याभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यते इति । तस्माज्जन्ममरणस्वर्गनरकादिभोगेन स्वप्नादिदुःखभोगेन च तेषु दोषं निश्चित्य, तेभ्यश्च 'सर्वानात्मवर्गेभ्य आत्मानं विविच्य ततः सर्वतो विरज्य श्रेयसे यतेतेति तात्पर्यार्थः । "परीक्ष्य लोकान् कर्मजितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते "इत्यादिश्रुतेः ॥ १० ॥

इति मुग्धाधिकरणम् ॥ ४ ॥

## सू० न स्थानतो ऽपि परस्योभय लिङ्गं सर्वत्र हि ॥३।२।११॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अकर्मवश्यत्वात्सर्वान्तर्वर्त्तिनो ऽपि परमात्मनस्तत्र तत्र दोषा न सम्भवन्तीत्युपपादितमेव, स्थानतो ऽपि दोषाः परस्य न, यतः सर्वत्र ब्रह्मनिर्दोषत्वस्वाभाविकगुणात्मकत्वाभ्यां युक्तमाम्नातम् ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभः

पूर्वत्र संसाराद्वैराग्योत्पादनाय जीवस्यावस्थाविशेषाः परस्य च ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य स्वप्नसृष्टिकर्तृत्वसत्यसङ्कल्पत्वसुषुप्तिसुखहेतुत्वादयो-गुणाश्च तस्मिन्ननुरागोत्पादनाय संक्षेपतो निरूपिताः । इदानीं परस्मिन्ननुरागजननाय तस्य स्वभावतो ऽपास्तसमस्तदोषत्वं समस्तकल्याणगुणैकराशित्वं च प्रतिपादयितुं भगवानिदमाह —

न स्थानतो ऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।

किं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिषु स्थानेषु स्थितस्य जीवस्य ये तत्तत्स्थाननिबन्धना-

दोषास्ते तदन्तर्यामिणः परमात्मानो ऽपि सन्ति? न वेति? सन्देहे पूर्वः पक्षः। यद्यपि प्रथमाऽध्याये "सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यादि"-त्यादिषु शरीराभिमानिनः कर्मकर्तुर्जीवस्यैव ते दोषाः सन्ति, न त्वकर्मवश्यस्य परमात्मन-इत्युक्तम्। तथापि वह्निविदीप्तशरणसंसर्गात्तत्स्वामिनो यज्ञदत्तस्येव तत्र प्रविष्टस्य तन्मित्रस्य देवदत्तस्यापि वह्नितापप्राप्तिवत्परमात्मनो ऽपि स्थानतो दोषाः सम्भवन्तीति, तत्र ब्रूमः, नेति। परस्य ब्रह्मणः स्वानन्दपूर्णस्य स्वांशभूतजीवनियमनाय कारुण्यवशात्स्वेच्छयैव जीवान्तर्यामितया तत्तत्स्थानेषु प्रविष्टस्यापि तत्तत्स्थानप्रयुक्ता दोषाः नैव सन्ति। हि यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषूभयलिङ्गं स्वभावतो ऽपास्तसमस्तदोषत्वस्वाभाविकगुणगणमन्दिरत्वलक्षणवत्परं ब्रह्म निश्चीयते। "य आत्मा ऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"त्याद्याः

श्रुतयः । “समस्तकल्याणगुणात्मको ऽसौ स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतसर्गः । तेजोबलैश्वर्यमहावबोधः स्ववीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ॥ परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे” इत्याद्याः स्मृतयश्च ॥ ११ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा

न स्थानतो ऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।

दोषदर्शनेन वैराग्योत्पादनाय जीवस्यावस्थाविशेषा निरूपिताः । अथेदानीं ब्रह्मप्राप्तितृष्णोत्पादनाय ब्रह्मणः समस्तहेयसम्बन्धरहितत्वाशेषकल्याणगुणसागरत्वप्रतिपादनाय चेदमारभ्यते । तत्र जागरादिस्थानस्थितस्य जीवस्येव तदन्तर्यामितया स्थितस्य ब्रह्मणो ऽपि तत्तत्स्थानप्रयुक्ता दोषाः सम्भवन्ति ? उत नेति ? संशये सम्भवन्तीति । कुतः ? तत्र तत्र शरीरेऽन्तर्यामितया सर्वावस्थास्ववस्थानात् । अतः स्वेच्छया प्रविष्टस्याकर्मवश्यस्यापि नानाविधाशुचिदेहसम्बन्धः छन्दतो ऽपि पूयशोणितादिमज्जनं चापुरुषार्थ एवेत्यतः सम्भवन्ति सर्वे दोषा इति प्राप्ते आह न स्थानत इति । परस्य ब्रह्मणः सर्वत्र चेतनाचेतनवस्तुमात्रे शुद्धाशुद्धपदार्थे स्वेच्छया प्रविष्टस्यापि स्थानतश्चेतनाचेतनादिस्थानतश्चेतनाचेतनादिस्थानभूतैः पदार्थैर्नापुरुषार्थभूतहेयधर्मसम्बन्धगन्धः । हि यस्मात्सर्वत्र सर्वास्वपि श्रुतिस्मृतिषूभयलिङ्गं ब्रह्माम्नातम् । तत्र “य आत्मा ऽपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् स्वाभाविकी ज्ञान-

बलक्रिया च भीषास्माद्वातः पवते, निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्, अथात आदेशो नेति नेति अस्थूलमनाण्व"त्यादिश्रुतयः । "समस्तकल्याणगुणात्मको ऽसौ स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतसर्गः । तेजोबलैश्वर्यमहावबोधः स्ववीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ॥ परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे । यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरं मया ऽध्यक्ष्येण प्रकृतिः, उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः, सर्वज्ञः सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञानबलादिमान् । अन्यूनश्चाप्यवृद्धश्च स्वाधीनो नादिमान्वशी । कामतन्द्राभयक्रोधकामादिभिरसंयुतः निरवद्यः परः प्राप्तेर्निरधिष्ठो ऽक्षरक्रम" इत्यादिस्मृतयश्च समस्तहेयलेशास्पृष्टमाहात्म्यमशेषकल्याणगुणसागरं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्तीत्यर्थः । एतदभिप्रेत्योक्तं श्रीभगवता ऽऽद्याचार्येण वाक्यकारेण । "स्वभावतो ऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिमि"त्यादिना ॥ ११ ॥

# सू० भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ ३।२।१२॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वस्तुतो ऽपहतपाप्मत्वादियुक्तस्यापि जीवस्य देहयोगेनावस्थाभेददोषाः सन्त्येव, तथा परस्यापि भवन्त्विति चेन्न, प्रत्येकमन्तर्यामिणो- दोषापादकवचनाभावात् "एष ते आत्मान्तर्याम्य-

मृतः" इत्यमृतत्ववचनात् ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।

ननु छान्दोग्यप्रसिद्धप्रजापतिवाक्यप्रतिपादितस्य स्वतोऽपहतपाप्मत्वाद्युपेतस्यापि जीवस्य तत्तद्देहसम्बन्धावस्थाभेदादुक्तदोषाः सन्त्येव, तथा परस्यापि स्वतो ऽपहतपाप्मत्वाद्युपेतस्य सर्वान्तर्यामितया तत्तद्देहसम्बन्धावस्थाभेदात्ते दोषाः स्युरिति चेन्न। कुतः ? प्रत्येकमतद्वचनात् । प्रत्येकं प्रत्यवस्थं परमपुरुषदोषापादकवचनाभावात् । जीवस्याऽपहतपाप्मत्वादियुतस्यापि तत्कर्मानुसारिपराभिध्यानात्तिरोहितस्वरूपस्योक्तदोषाः सन्ति, नतु नित्याविर्भूतस्वरूपस्य परस्य । तथाहि "जागरे कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते" इत्यादिजीवदोषप्रतिपादकवचनानि सन्ति, न परविषयाणि । स्वप्नमधिकृत्याथ "यदा स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ती" त्यादीनि, सुषुप्तिमधिकृत्य "सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्य एनं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन

हि प्रत्यूढा" इत्यादीनि च जीवविषयकानि वाक्यानि सन्ति, न परविषयकानि । एवमुत्क्रान्त्यादावप्यतद्वचनं बोध्यम् । बृहदारण्यके "यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयती" त्युपक्रम्य पृथिव्यबग्न्यन्तरिक्षादिषु त्वग्विज्ञानरेतःपर्य्यन्तेषु नियम्येषु प्रतिपर्यायम् "एष ते आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यन्तर्य्यामिणोनिर्दोषत्वापादकामृतत्ववचनाच्च ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।

ननु यदुक्तं ब्रह्म उभयलिङ्गत्वाच्छुद्धाशुद्धपदार्थेषु स्वेच्छया प्रविष्टस्यापि नापुरुषार्थभूतहेयधर्मसम्बन्धगन्ध इति, तन्न सम्भवति । यथा जीवस्य स्वतो ऽपहतपाप्मत्वादियुक्तस्यापि तत्तद्देहसम्बन्धावस्थाभेदादुक्तदोषास्तथा परस्यापि सर्वान्तर्यामितया तत्तद्देहसम्बन्धित्वावस्थाभेदात्ते दोषाः स्युरिति चेन्न । कुतः ? प्रत्येकमतद्वचनात् । "एष ते आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः" इति प्रतिपर्यायमन्तर्यामिणो निर्दोषत्वाभिधानेन दोषासम्बन्धित्ववचनात् । जीवस्य तु बद्धावस्थायामपहतपाप्मत्वादिकं तिरोहितमित्युक्तं पराभिध्यानादित्यनेन । किञ्च सर्वं वस्तु परमेश्वरसङ्कल्पादेव कालभेदेन सुखदुःखात्मकं भवति । न स्वरूपत-

स्तथाऽस्ति । अन्यथा 'सर्वं सर्वदा सर्वस्य सुखायैव दुःखायैव वा स्यात्' तथोक्तं "नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम! वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु दुःखात्मकं कुतः॥ तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते। तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकमि"ति। अतः कर्मवश्यानां जीवानामेव तत्तत् कर्मानुगुण्येनेश्वरसङ्कल्पेन तत्तद्वस्तुसम्बन्धप्रयुक्तो दोषः, ब्रह्मणस्तु स्वाधीनस्य सर्वत्रान्तर्यामितया ऽवस्थितस्यापि न दोषगन्धस्पर्शः सम्भवति। अपि तु सर्वनियमनरूपलीलारसपोषक एव तत्तद्वस्तुसम्बन्ध इति ॥ १२ ॥

# सू० अपि चैवमेके । ३।२।१३॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अपि च "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशी"ति एके शाखिन अधीयते ॥ १३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अपि चैवमेके ।

अपि च एकत्र स्थितयोरपि जीवपरमेश्वर-

योर्मध्ये कर्मवश्यस्य जीवस्यैव दोषभाक्तमपरस्याकर्मवश्यस्य न तथात्वमिति एके शाखिनोऽधीयते । "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशी" ति ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अपि चैवमेके ।

अपि च जीवपरयोरेकत्र स्थितिमत्त्वेऽपि यदिदं दोषभाक्ताभाक्तमुक्तमेवमेवैके शाखिनो ऽधीयते " द्वासुपर्णा सयुजे " त्यादिना ॥ १३ ॥

## सू० अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् । ३।२।१४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

"नामरूपे व्याकरवाणी"त्यस्मिन् कार्य्येऽपि परस्य नामरूपनिर्वाहकत्वेन प्रधानत्वाद्धेतोः स्वोत्पाद्यनामरूपभोक्तृत्वाभावाद्ब्रह्मारूपवद्भवाति । अतो दोषगन्धाऽनाघ्रातं ब्रह्म ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

नन्वस्तु स्थानतोऽपि ब्रह्मणि दोषाभावः। तथापि नामरूपकर्तृत्वेन ब्रह्मणस्तद्भोक्तृत्वं प्राप्नोति, कर्तुः प्रवृत्तेस्तदभ्युदयार्थत्वात्। "नामरूपे व्याकरवाणी" ति नामरूपयोरुत्तमपुरुष-प्रयोगाद्ब्रह्मकर्तृकत्वमवगम्यते। तस्मात्परस्य ब्रह्मणः कर्मवश्यत्वसिद्धिः, कर्मवश्ये सर्वदोषाः सम्भवन्तीत्यत्राह —

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्।

रूपाणि नामसहितानि देवदेहादीनि जीव-कर्मानुसारिब्रह्मकृतानि भोग्यत्वेन न विद्यन्ते अस्य अतोऽरूपवदेव ब्रह्म नामरूपयोर्व्याकरणे स्वभोगार्थं नैव प्रवर्त्तते इत्यर्थः। आप्तकामत्वात्। हिशब्दः प्राकृतनामरूपनिबन्धनानां सर्वेषां दोषानां ब्रह्मण्यभावं सूचयति। कुतः? तत्प्रधानत्वात्, तस्मिन्कार्य्ये ब्रह्मणो नामरूप-निर्वहितृत्वेन प्रधानत्वात्। "आकाशो ह वै नाम रूपयोर्निर्वहिते "ति श्रुतेः जीवार्थं नामरूप-निर्वहितृत्वं परस्य जीवेनेति पदमपि सूच-

यति । पूर्वोक्तलक्षणो ब्रह्मांशो जीवपदार्थस्त-त्रांशित्वेन ब्रह्मापि वर्त्तते " य आत्मनि तिष्ठन्नि "ति श्रुतेः । तत्र देवादिनामरूपोत्पादनेंऽशाप्रवृत्त्यनुपपत्त्यांशकार्य्यसिध्यर्थं प्रवृत्तेंऽशिनि ब्रह्मणि जीवशब्दप्रवृत्तिर्मुख्यैव । अतो जीवेनात्मनेति सामानाधिकरण्यम्, जीवस्य कर्मवश्यत्वात्त-त्तद्रूपसम्बन्धित्वेन दोषाः सम्भवन्ति । ब्रह्मणो-जीवकर्मानुरूपनामरूपकर्त्तृत्वे ऽपि तत्फलभोक्तृत्वाभावान्नोक्तदोषाः सम्भवन्ति । तस्मादुभयलिङ्गं ब्रह्म ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु यदुक्तं जीवस्य कर्मवश्यतया कर्मफलभोक्तृत्वं, ब्रह्मणस्तु तदभावान्न तद्भोक्तृत्वमिति, नैतदुपपद्यते । यतो "ऽनेन जीवेनात्मना ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी "ति स्वात्मकजीवानुप्रवेशपूर्वकं ब्रह्मणो नामरूपव्याकरणश्रुतेस्तस्यापि तदन्तर्यामितया तदात्मभूतस्य जीववत् देवमनुष्यादिरूपवत्त्वं तन्नामभाक्त्वं चाविशिष्टम् । तथात्वे च विधिनिषेधविषयतया कर्मवश्यत्वमप्यवर्जनीयमिति चेत्तत्राह —

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।

तत्तच्छरीरेंऽन्तर्यामितया ऽनुप्रविष्टमपि तद्ब्रह्म अरूपवदेव

देवमनुष्यादिरूपरहितमेव । कुतः ? देवतिर्यग्मनुष्यादिनामरूपनिर्वोढृत्वेन प्रधानत्वात् । "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्मे"ति श्रुतेः । अयं भावः, जीवस्य कर्मजन्यसुखदुःखभोक्तृत्वेन तत्तद्रूपसम्बन्धित्वं, ब्रह्मणस्तु कर्माभावे तत्फलभोक्तृत्वाभावादरूपत्वं, विधिनिषेधशास्त्रमपि कर्मवश्यमेवाधिकुरुते । अत उभयलिङ्गमेव हि परं ब्रह्म ॥ १४ ॥

## सू० प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥

॥ ३ । २ । १५ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तम अस्पृष्टं प्रकाशवदेवं भूतमुभयलिङ्गं ब्रह्म "आदित्यवर्णं " तमसः परस्तादि"त्यनेनैकेन वाक्येनाभिधीयते, वाक्यस्यावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

उभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणो दृढयति —

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।

प्रकाशवत् प्रकाशः धर्मलक्षणं ज्योतिरस्यातीति प्रकाशवत् । चकारात्प्रकाश्यदोषास्पृष्टं ब्रह्मोभय लिङ्गं भवति । कुतः ? तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति आदित्यवर्णं तमसः परस्तादि "त्यादिवाक्यानाम-

वैयर्थ्यात् । एकैकस्य वाक्यस्योभयलिङ्गब्रह्माभिधायित्वं द्योतयितुमिदं सूत्रम् ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु स्यादेतद्यदि ब्रह्मणः सत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वसर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वसर्वान्तरात्मत्वादिकं सत्यं स्यात्तत्तु शबलगततया नेति नेतीत्यादिश्रुतिप्रतिषिद्धत्वेन मिथ्याभूतमतः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यप्रकाशैकस्वरूपस्य ब्रह्मणः कथमुभयलिङ्गत्वमिति चेत्तत्राह —

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।

यथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यादिवाक्यावैयर्थ्यात्प्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मेत्यभ्युपगतं, तथा सत्यकामत्वादिसमस्तहेयलेशास्पृष्टमाहात्म्यत्वकल्याणगुणसागरत्वाभिधायिवाक्यावैयर्थ्यादुभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण इति ॥ १५ ॥

## सू० आह च तन्मात्रम् ॥

३ । १ । १६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वाक्यं यावान् यस्यार्थस्तावन्मात्रमाह यदा तदा तदेवावैयर्थ्यं बोध्यम् ॥ १६ ॥

———

वेदान्तकौस्तुभः।

वाक्यानामवैयर्थ्यं वैयर्थ्यं च यथा भवति तदाह —

आह च तन्मात्रम्।

यस्याः श्रुतेर्यो वास्तवो ऽर्थस्तन्मात्रं सा आह यदा तदा तस्या अवैयर्थ्यं भवति। चकारा-द्यदि भ्रान्तैरविषये नीयते, तदा तस्या वैयर्थ्यं भवति। (एवं सत्युभयलिङ्गवादिवाक्यानां परस्परा-विरोधेन स्वार्थे प्रामाण्यमस्तीति ध्वनिः) ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

आह च तन्मात्रम्।

"सत्यं ज्ञानमि"ति वाक्यं प्रकाशस्वरूपं ब्रह्मेत्येतावन्मात्र-माह, नतु वाक्यान्तरावगतं कल्याणगुणसागरत्वसत्यकामत्वा-दिकं निषेधति ॥ १६ ॥

सू० दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ३।२।१७।

वेदान्तपारिजातसौरभः।

"य आत्मा अपहतपाप्मा निष्कलं नि-

* एतच्चिन्हस्थपाठो ऽधिको दृश्यते क्वचित्पुस्तके।

ष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं सत्यकामः सत्य-सङ्कल्प"इत्यादिवाक्यगणः उभयलिङ्गं ब्रह्म दर्शयति । अथ स्मर्य्यते ऽपि "यस्मात्क्षर-मतीतो ऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतो ऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः । अहं सर्वस्य प्रभवो-मत्तः सर्वं प्रवर्तते । अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्ज्जुन ! विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकां-शेन स्थितो जगदि"त्यादिना ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।

उभयलिङ्गमेव ब्रह्म श्रुतिगणः दर्शयाति च "य आत्मा ऽपहतपाप्मा निष्कलं निष्क्रियं शातं निरवद्यं निरञ्जनं सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः यः सर्वज्ञः सर्ववित् परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च तमीश्व-राणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतं स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः स एको ब्रह्मण आनन्दः आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्च ने"

त्यादिः । स्मर्यते ऽपि "यस्मात्क्षरमतीतो ऽहमक्ष-रादपि चोत्तमः । अतो ऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरं । न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो-जगत् ॥ मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय !। अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभु-रेव चे" त्यादिना ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते।

दर्शयति च वेदान्तवाक्यगणः परस्य समस्तहेयलेशास्पृष्ट-माहात्म्यत्वं, कल्याणगुणसागरत्वम् । "य आत्मा ऽपहतपाप्मा निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः यः सर्वज्ञः सर्ववित्, परा ऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभा-विकी ज्ञानबलक्रिया च, तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देव-तानां परमं च दैवतं स कारणं कारणाधिपाधिपो, न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्यादिः । अथो स्मर्यते ऽपि "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। मत्तः परतरं नान्य-त्किञ्चिदस्ति धनञ्जय !"इत्यादिना ॥ १७ ॥

# सू०अतएव चोपमा सूर्यका-दिवत् ।३।२।१८॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यतः सर्वगमपि ब्रह्मोभयलिङ्गत्वान्निर्दोषमेव। अत एव "यथा ऽऽत्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमानि"त्यादौ शास्त्रं ब्रह्मणो निर्दोषत्वं ख्यापयितुं सूर्य्यकादिवदुपमोच्यते ॥ १८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ।

यतो विषमेषु स्थानेषु स्थितस्यापि ब्रह्मणः उभयलिङ्गत्वान्न स्थानप्रयुक्तदोषगन्धसम्बन्धः, अत एव कारणात् । यथा जलादौ प्रतिबिम्बितो ऽपि सूर्य्यादिस्तत्प्रयुक्तदोषैर्न स्पृश्यते, तथा चेतने ऽचेतने च स्थितमपि परं ब्रह्म तत्तद्दोषैर्न स्पृष्टमिति शास्त्रे उपमोपादीयते । शास्त्रं तु "आकाशमेकं तु यथा घटादिषु पृथग्भवेत् । तथा ऽऽत्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्वि-

वांशुमान् । एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदि" त्यादि ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ।

यतः सर्वत्रान्तर्यामितया ऽवस्थितस्यापि परस्योभयलिङ्गवत्तया निर्लेपत्वान्न तत्तत्स्थानप्रयुक्तदोषसम्बन्धित्वमत एव शास्त्रे सूर्यकादिवत्सूर्यस्य प्रतिकृतयः सूर्यकास्तद्वत् जलसूर्यादिवदित्युपमोपादीयते । "आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् । तथा ऽऽत्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान् । एक एव हि भूतात्मे"त्यादिषु । श्रुत्यर्थस्तु पूर्वमेव जीवात्मस्वरूपनिर्णये उक्तः ॥ १८ ॥

सू० अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥३।२।१९॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

शङ्कते, सूर्य्यादम्बु दूरस्थं गृह्यते, तद्वद्दशिनः सकाशात्स्थानस्य ग्रहणाद्दृष्टान्तवैषम्यमिति ॥ १९ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

दृष्टान्तवैषम्यं शङ्कते —

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।

तुशब्दः शङ्काद्योतकः । ननु तथात्वं ब्रह्मणः प्रतिबिम्बितसूर्य्यादितुल्यत्वं नास्ति । कुतः ? अम्बुवदग्रहणात् । सूर्य्यादेः सकाशादम्बु दूरस्थं गृह्यते, तत्र प्रतिबिम्बितो ऽपि सूर्य्यादिस्तत्प्रयुक्तैर्दोषैर्न स्पृश्यते । स्वरूपस्य बिम्बस्य दूरस्थत्वात् । ब्रह्मणः सकाशात्तु चेतनाचेतनस्य सर्वस्याम्बुवत् दूरतो ऽग्रहणात् । "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यो ऽप्सु तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन् यस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे" इत्यादिश्रुतिभ्यः । "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे ऽर्जुन ! तिष्ठति । मयि सर्वमिदं प्रोतमि"त्यादिस्मृतिभ्यश्च । तस्मात्प्रकृतस्य परमपुरुषस्य न प्रतिबिम्बितसूर्य्यादितुल्यतेति ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वम्बुन्यनवस्थित एव सूर्यो भ्रान्त्या तत्रस्थ इव गृह्यते, परमात्मा तु "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यो ऽप्सु तिष्ठन् य आत्मनि

तिष्ठन्ति" त्येवमादिश्रुत्या, परमार्थत एव स्थितो गृह्यते, अतो न सूर्यादिदृष्टान्तो ब्रह्मणि सम्भवतीति दार्ष्टान्तवैधर्म्यादित्याक्षिपति —

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।

अम्बुवदिति सप्तम्यन्ताद्वतिः, अम्बुनीव सूर्यस्य ब्रह्मणोऽग्रहणान्न तथात्वं, सूर्यस्येव तत्प्रयुक्तदोषगन्धाभाववत्त्वं नेति ॥ १९ ॥

# सू० वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥

॥ ३ । २ । २० ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्राह, स्थानिनः स्थानान्तर्भावात्तत्प्रयुक्तवृद्धिह्रासभाक्त्वं दृष्टान्तेन निराक्रियते. उभयसामञ्जस्यादेवं विवक्षितांशमात्रं गृह्यते ॥ २० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

तत्रोत्तरमाह —

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ।

नेति वर्त्तते । ब्रह्मणः परस्य स्थानिनः

"यः पथिव्यां तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन्नि"त्यादिश्रुतेः स्थानान्तर्भावात्प्राप्तमपि स्थानप्रयुक्तवृद्धिह्रासभाक्त्वं नेति सूर्यादिदृष्टान्तेन निवार्यते। उभयसामञ्जस्यादेवम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तयोः सामञ्जस्याद्विवक्षितांशमात्रं गृह्यते इत्यर्थः। तत्र यथा आकाशः घटशरावादिषु वस्तुतः प्रविष्टो ऽपि वृद्धिह्रासादिदोषभाग् न भवति, प्रतिघटमस्मिन् घटान्तराले जलमन्यस्मिन् शर्करेत्येवं भेदेन व्यवह्रियते ऽपि तथाप्येक एवास्ति, यथा च जलाधारेषु विषमेषु प्रतिबिम्बितोंऽशुमान् तदीयवृद्धिह्रासादिदोषभाग्न भवति, प्रत्युत जलभाजनजातं प्रकाशयति। तथा परं ब्रह्म चेतनाचेतनवस्तुषु एकमेव तत्तदन्तर्यामितया बहुधा वर्त्तते, न तत्तद्दोषैः संस्पृश्यते। न तत्तद्भेदैर्भिद्यते च। न वृद्धिह्रासभाग्भवतीत्युभयसामञ्जस्यादेवं खलु विवक्षितांशमात्रं गृह्यते। अन्यथा तयोरसामञ्जस्यं स्यात्। येन दृष्टान्तेन दार्ष्टान्ते वैगुण्यं स्यान्न तयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तभाव इति फलितो ऽर्थः। सूर्य्यादिदृष्टान्तद्वयसामञ्जस्यादिति वा ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तत्परिहरति —

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ।

नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाधर्म्यं विवक्षितमसम्भवादपि तु विवक्षितांश एव । तथा च सूर्यादिदृष्टान्तेन ब्रह्मणो निर्लेपत्वमात्रे तात्पर्यं, कथमिदमवगम्यते ? उभयस्य दृष्टान्तद्वयस्य सामञ्जस्यादेवं निश्चीयते । तथाहि यथा सूर्यः शुद्धाशुद्धेषु जलाधारेषु स्वकरनिकरव्याप्तया ऽवस्थितो वस्तुतो ऽनवस्थितस्तत्तद्गुणदोषैर्वृद्धिह्रासादिभिर्न स्पृश्यते, यथा चाकाशो वृद्धिह्रासभाक्षु घटकर्कर्यादिषु विषमेषु वस्तुतोऽवस्थितोऽपि तद्गतवृद्धिह्रासादिदोषैर्न लिप्यते । एवं परं ब्रह्मापि अन्तर्भावात् तत्तदन्तरात्मत्वात्तत्र तत्रावस्थितमपि तत्तद्गतवृद्धिह्रासादिदोषैर्न लिप्यते इति वृद्धिह्रासभाक्त्वमात्रं दृष्टान्तद्वयेन निवर्त्यते ॥ २० ॥

# सू० दर्शनाच्च ॥३।२।२१।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सिंह इव माणवक इति लोके दर्शनाच्चैवम् ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

दर्शनाच्च ।

सिंह इव माणवक इति लोके प्रयोगदर्श-

नाश्चैवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं विवक्षितांशमात्रेण ग्राह्यम् । तस्मादुभयलिङ्गं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ २१ ॥ इत्युभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

दर्शनाच्च ।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वात्मना साम्याभावे ऽपि व्याघ्र इव पुरुष इत्यादिषु दृष्टान्तोपादानदर्शनादप्येवमवगम्यते, ॥ २१ ॥

इत्युभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥

## सू० प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।

३ । २ । २२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

किं "नेति नेती"ति वाक्यं "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं चे"त्यादिना प्रकृतं मूर्त्तामूर्त्तादिरूपं प्रतिषेधत्यथवा प्रकृतरूपयोगात्प्राप्तं ब्रह्मण एतावत्त्वमिति ? सन्देहे रूपं प्रतिषेधतीति प्राप्ते उच्यते—प्रकृतैतावत्त्वमेव प्रतिषेधति

ततो भूयो न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीत्यादिवाक्यशेषो ब्रवीति ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्रोभयलिङ्गं ब्रह्मेत्युक्तमिदानीं ब्रह्मरूपत्वेन प्रमाणान्तराऽनवगतं श्रुतिवेद्यं ब्रह्मात्मकत्वाद्ब्रह्मणो रूपं नेदं ब्रह्मणो रूपमित्येवं श्रुत्यप्रतिषेध्यं चिदचिदात्मकं जगत्सत्यमस्ति तद्योगात्प्राप्तं परिच्छिन्नत्वं चानन्ताचिन्त्यकल्याणगुणशक्तिमतस्तद्रूपवतो ब्रह्मणो निवार्य्यते —

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।

बृहदारण्यके "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं चे"त्युपक्रम्य "तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजतामि"त्यादिना महारजतादीनि रूपविशेषाणि च दर्शयित्वा ऽऽम्नायते, "अथात आदेशो नेति नेती"ति तत्र मूर्त्तं तेजोऽबन्नात्मकं भूतत्रयममूर्तं च वाय्वाकाशात्मकं भूतद्वयं महारजतादीनि रूपविशेषाणि* च प्रकृ-

---

* जीववासनाभूतानि ।

तानि, तत्र संशयः । किं नेति नेतीति श्रुतिः प्रकृतं ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तादिरूपजातं प्रतिषेधति ? किं वा प्रकृतं यद्ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तादिरूपजातं तद्वत्त्वेन प्राप्तं ब्रह्मणो यदेतावत्त्वं तन्निषेधतीति ? तत्र मूर्त्तामूर्त्तादिरूपजातं प्रतिषेधतीति प्राप्ते, उच्यते प्रकृतं यद्यन्मूर्त्तामूर्त्तादिकं ब्रह्मणोरूपं तत्तद्रूपयोगात्प्राप्तं यद्यदेतावत्त्वं तत्तन्नेति नेतीति श्रुतिः प्रतिषेधति । हिशब्दः " द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तञ्च, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं सर्वं खल्विदं ब्रह्म भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मेतदि "त्यादिश्रुतिशतसिद्धं चिदचिदात्मकं सर्वं ब्रह्मात्मकत्वाद्ब्रह्मणो रूपं प्रतिषेधानर्हमिति दर्शयति, इयत्तानवच्छिन्नत्वं परस्य ब्रह्मणो दर्शयति । " ततो ब्रवीति च भूयः " इति । ततः एतावत्त्वनिषेधानन्तरं भूयः पुनः इयत्तानवच्छिन्नं ब्रह्म वाक्यशेषो ब्रवीति । यद्वा पूर्वोक्तान्मूर्त्तामूर्त्तादिकाद्रूपाद्भूयो भूयस्त्वं वाक्यशेषो ब्रवीति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति । " अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वाव सत्यं तेषा-

मेष सत्यमि”ति, ‘अस्यार्थः एतस्मात्पूर्वोक्तादन्य-द्ब्रह्मस्वरूपं ‘न हीति’ न वाच्यम्.। एतस्मा-त्परमुत्कृष्टमियत्तानवच्छिन्नं समानातिशयशून्यं ब्रह्मास्ति, तस्य सर्वोत्कृष्टस्य ब्रह्मणो नामधेय-मप्यस्ति, तदेवाह—सत्यस्य सत्यमिति। ननु कस्य सत्यस्य सत्यमित्याकाङ्क्षायामाह—प्राणा वाव सत्यं तेषां सत्यमिति प्राणाः प्राणवन्तो-जीवास्ते वियदादिवत्स्वरूपान्यथाभावं सृष्टि-वेलायां न प्राप्नुवन्त्यतस्ते सत्यं, ब्रह्मणो हि सर्वकारणत्वाद्वेदा यथा नित्यास्तथा ऽपि सुप्तो-त्थितन्यायेन यत उत्पद्यन्ते । तथा जीवा अप्य-नादिकर्मवशाद्देहयोगेन जन्मभाजः ज्ञानसङ्कोच-विकाशरूपविकारवन्त एतत्परस्य ब्रह्मणो नास्त्य-तस्तद्दर्शित्वाच्च तेषामपि सत्यमित्यर्थः । अत-एवाह श्रुतिः “नित्यो' नित्यानां चेतनश्चे-तनानामिति ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।

पूर्वं ब्रह्मणश्चेतनाचेतनवस्त्वन्तरात्मत्वे ऽपि यथा जीवस्य तत्र तत्रावस्थितस्य तत्तद्दोषयोग उक्तो, न तथा परस्य । यतः

श्रुतिस्मृतिषु स्वभावतो ऽपास्तसमस्तदोषत्वमनन्तकल्याणगुण-गणाकरत्वं चोच्यते, अत उभयलिङ्गमिति निरूपितम्। इदानीं प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्दुर्ज्ञेयस्य ब्रह्मणो ज्ञानाय स्थूलादिरूपोपदेशेन प्राप्तेयत्तानिषेधपूर्वकं सत्यज्ञानाद्यनन्तकल्याणगुणाश्रयमपरिच्छिन्न-स्वरूपं मीमांस्यते बृहदारण्यके। तत्र स्थूलदर्शिनां ज्ञानाय "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं च" त्यादिना तेजोऽबन्ना-त्मकं वाय्वाकाशात्मकं चेति पञ्चभूतात्मकस्थूलरूपमुपदिश्य, महारज*नादीनि रूपाणि चोपदिश्य, पठ्यते "अथात आदेशो-नेति नेति" न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति, "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमि" त्यत्र संशयः। नेति नेतीति श्रुतिः किं पूर्वोपदिष्टं मूर्त्तामूर्तादिरूपमात्रं प्रति-षेधति? उत प्राप्तं ब्रह्मण एतावत्त्वं प्रतिषेधतीति? किं ताव-त्प्राप्तं, ब्रह्मणो रूपादिमात्रं प्रतिषिध्यते श्रुत्येति सामान्य-निषेधश्रवणात्। अतो मूर्त्तामूर्तादिनामरूपं प्रतिषिध्य, नीरूपं नित्य-शुद्धबुद्धं मुक्तस्वभावमद्वितीयं ब्रह्म प्रतिपादयतीदं वाक्यं, तस्य सत्त्वे च ब्रह्मणो ऽद्वितीयत्वादि विरुद्ध्येतेति प्राप्ते सिद्धान्तमाह-प्रकृतैतावत्त्वमिति। हिरवधारणे, अन्ययोगव्यवच्छेदार्थके। प्रकृतै-तावत्त्वमेव ब्रह्मणः प्रतिषेधति। प्रकृतं यन्मूर्त्तामूर्त्तप्रपञ्चमेताव-देव ब्रह्म न भवतीति "अथात आदेशो नेति नेती" त्यत्र प्रति-पाद्यते, नतु प्रपञ्चस्वरूपं निषिध्यते, अतत्परत्वाद्वाक्यस्य। द्वौ नञौ द्वित्वसङ्ख्यावच्छिन्नरूपमेतावत्त्वं प्रतिषेधतः। "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मेतद्" -त्यन्यत्रापि त्रिरूपत्वप्रतिपादनात्। तदेवाह-ततो ब्रवीति च भूयः। ततः पूर्वोक्तान्मूर्त्तामूर्त्तरूपद्वयाद्भूयस्त्वं ब्रवीति च वाक्य-

---

* महारजनी दिव्या हरिद्रा, तया रक्तं वस्त्रं महारजनम्।

शेषः । न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीति एतस्मात्पूर्वोक्तादन्यत् ब्रह्मस्वरूपं न हीति न वक्तव्यं, अन्यत्परमस्तीति । एतस्मात्परमुत्कृष्टमिन्द्रियाग्राह्यमेतन्नियन्तृपुरुषोत्तमाख्यमन्यत्स्वरूपमस्तीत्यर्थः। "यस्मात् क्षरमतीतो ऽहमक्षरादपि चोत्तमः" इति वाक्यात् । यद्वा एवमक्षरयोजना, प्रकृते यत् स्थूलसूक्ष्मादिधर्मवद्वस्तुजडाजडवर्गः ब्रह्मगतं चैतावत्त्वमिदमित्थमियदिति परत्र वृत्तिपरिमितत्वं नेति नेतीतिश्रुतिर्निषेधति । नतु ब्रह्मण उभयप्रकारत्वं, ह्यस्पृष्टाखिलदोषत्वमचिन्त्यापरिमितसार्वज्ञ्यादिधर्मवत्त्वं चेति । कुतः ? ततो ऽनन्तरं भूयो ऽपरिमितं ब्रह्मण उभयगुणादीन्ब्रवीति प्रतिपादयतीति । एवं नेति नेतीति नञ्भ्यां प्राकृतस्थूलसूक्ष्मादिधर्मवज्जडवस्तु तदवच्छिन्नजीववस्तुविलक्षणं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यत इत्यन्यत्समानम् । किं तदित्यपेक्षायामाह । "अथ नाम धेयं सत्यस्य सत्यमि"ति तस्य निर्वचनं "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमि"ति प्राणशब्देन प्राणवन्तो जीवा उच्यन्ते, ते हि वियदादिवदनुत्पाद्याः, अतस्तेषां सत्यशब्दवाच्यत्वं, परन्तु ते ऽप्यनादिकर्मवशाद्देहयोगेन जन्मभाजः ज्ञानसङ्कोचविकाशरूपविकारवन्तश्च, एतत्परमात्मनो नास्तीति तेषामेष सत्यमिति । यद्वा, "यदासीत्तदधीनमासीदि"ति श्रुत्यनुसारात्प्राणास्तदुपलक्षिता चेतनजातं तत्सम्बन्धिनश्चेतनाश्च परतन्त्रसत्ताश्रयास्तेषामपि सत्यं स्वतन्त्रसत्ताश्रयं चेतनादिवर्गादियत्तावच्छेदेन निर्दिष्टादत्यन्तविलक्षणं परं ब्रह्म निखिलहेयगन्धाघ्रातमाहात्म्यं समस्तकल्याणगुणैकार्णवमित्यर्थः । "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः । अक्षरात्परतः परः" इत्यादिश्रुतिभ्यः । एतदभिप्रायमादाय पूर्वाचार्य्यैरप्युक्तं "नेति नेति च निषेधिताश्रयस्तद्विशेषविषयो ऽपि सम्मतः" इत्यादिना ॥ तथैवाह भगवान्

सनत्सुजातः "तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव ! निर्दिश्य सम्यक्प्रचरन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ती"ति विश्ववैरूप्यं स्थौल्यादिधर्मवतो विश्वस्माद्विलक्षणमित्यर्थः। नाप्युक्ताद्वितीयत्वविरोधः साम्याधिकशून्यत्वस्यैवाद्वितीयत्वस्य श्रुतिसम्मतत्वात्। केचित्तु "नेति नेती"ति किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयं प्रतिषेधति ? आहोस्विदेकतरं ? यदाप्येकतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति ? रूपे परिशिनष्टि ? आहोस्विद्रूपे मूर्त्तामूर्तं प्रतिषेधति ? ब्रह्म परिशिनष्टीति ? सन्देहं कृत्वा वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपातिप्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति, तस्माद्ब्रह्मणो रूपं प्रपञ्चं प्रतिषेधति, परिशिनष्टि च ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यमिति स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम् "अथातः आदेशो नेति नेती"ति तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते, तदास्पदं हीदं समस्तं कार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धं युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्यो ऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं नतु ब्रह्मणः, सर्वकल्पनामूलत्वात् इति सिद्धान्तयन्ति, तदसत्। नतावदुक्तसन्देहो युक्तः ब्रह्मणः प्रतिषेधप्राप्तेरभावात्, प्रपञ्चस्यापि स्वरूपनिषेधपरत्वाभावाद्वाक्यस्य। नहि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपं दर्शयित्वा पुनः स्वस्यमेव प्रतिषेधति, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमि"ति न्यायात्। ननु नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति, लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृश्यते प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपावेदनाय चेति चेन्न, तस्य कल्पकाभावेन कल्पितत्वासम्भवात्। तथा हि को वा तस्य कल्पक इति विवेचनीयं, ब्रह्मैव वा ? जीवो वा ? इति। नाद्यः, शुद्धस्य निर्विशेषस्य कल्पनाश्रयत्वायोगात्। अन्यथा शुद्धत्वहानेः। न द्वितीयः, भवन्मते तस्यापि कल्पितत्वेन कल्पकत्वासम्भवात्।

नहि प्रतिबिम्बः कल्पनाश्रयो दृष्टः श्रुतः सम्भवति वा, जड-त्वात् । वास्तवचेतनान्तराङ्गीकारे ऽद्वैतभङ्गः, कल्पितत्वानुपपत्ति-श्चेत्यादिना पूर्वौर्विस्तृतत्वादलमस्माभिरत्र । नापि वाचारम्भण-शब्दः प्रपञ्चासत्त्वपरः, पूर्वमेवारम्भणाधिकरणे निरस्तत्वात् । किञ्च यदि प्रपञ्चासत्त्वमेवाभिप्रेतं तर्हि "तदनन्यत्वमारम्भ-णशब्दादिभ्य" इत्यस्मिन्नधिकरणे ऽसत्कार्यवादं निरस्य किमर्थं सत्कार्य्यवादसमर्थनम् । तस्मात्तत्रोक्तप्रतिज्ञादृष्टान्तविरोधादधिक-रणविरोधः । स्ववाक्यविरोधश्चानिवार्यः । अपि च वाङ्मनसा-तीतमविषयान्तःपातीत्युक्त्वा पुनः शुद्धब्रह्मस्वरूपावेदनायेत्यपि स्वोक्तिविरोधः, सर्वप्रमाणाविषयस्यावेदनासम्भवात् । विषयत्वा-ङ्गीकारे च मिथ्यात्वप्रसङ्गादित्यलं विस्तरेण । तस्मान्नेति नेतीति शब्दो ब्रह्मणः प्राप्तमूर्त्तामूर्त्तरूपेयत्तामेव प्रतिषेधति, वाक्यशेषश्चोक्ताद्भूयस्त्वं तद्वैलक्षण्येन स्वरूपतः सत्यत्वोपलक्षि-तसार्वज्ञ्यादनन्तगुणतश्चानन्तत्वं प्रतिपादयतीति सूत्रकार-तात्पर्यार्थः । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यः सर्वज्ञः सर्वविदि" त्यादिश्रुतिभ्यः ॥ २२ ॥

# सू० तदव्यक्तमाह हि । ३।२।२३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचे" त्यादिशास्त्रं ब्रह्माव्यक्तमाह ॥ २३ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं भूतं ब्रह्म मूर्त्तादिरूपवदपि ततो-भूयस्त्वेन रूपेण वर्त्तमानं सत्साधारणैः करणै-र्न गृह्यते इत्याह —

तदव्यक्तमाह हि ।

तद्ब्रह्माव्यक्तमग्राह्यं हि शास्त्रमाह "न सं-दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्च-नैनं, न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यै-र्देवैस्तपसा कर्मणा वे"त्यादि ॥ २३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यद्येवं तर्हि कथं न गृह्यते इत्याशङ्क्याह —

तदव्यक्तमाह हि ।

हि यस्मात्तद्ब्रह्माव्यक्तं तस्मान्न गृह्यते इति शास्त्रमाह, "न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा, नान्यैर्देवैर्मनसा कर्मणा वे"त्यादि ॥ २३ ॥

सू० अपि संराधने प्रत्यक्षा-नुमानाभ्याम् ॥ ३।२।२४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

भक्तियोगे ध्याने तु व्यज्यते "ब्रह्मज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः, भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधो ऽर्जुन!। ज्ञातुं द्रष्टुं तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे" त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्याम् ॥ २४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

ननु तर्हि "आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः" इत्यादिवाक्यव्याकोपः स्यादित्याशङ्क्य शास्त्रानुसारिभिर्दर्शनेप्सुभिर्महानुभावैः कृते यत्ने तु व्यक्तो भवतीत्याह —

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।

अपि शब्दः सम्भावनायाम्। संराधने सम्यगाराधने निदिध्यासनलक्षणे भक्तियोगे ब्रह्म व्यक्तं भवति। एतच्च प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां गम्यते। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वां ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्याय-

मानः" इत्यादिश्रुतेः । "भक्त्या त्वनन्यया शक्य- अहमेवं विधो ऽर्जुन ! । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! । यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जा- नास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनमि"त्यादिस्मृतेश्च ॥ २४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवमात्मा वा ऽरे ! द्रष्टव्यः मनसैवानुद्रष्टव्यः "इत्यादिश्रुतीनां निर्विषयत्वेन व्याकोपः । दर्शनाभावे ऽनिर्मोक्षप्रसङ्गो दुर्वारः इति चेत्तत्राह —

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

संराधने सम्यग्भक्तियोगे ध्याने परं ब्रह्म व्यक्तं भवति प्रकाशते, ध्यानेन प्रीतः परमात्मा तस्मै मुमुक्षवे स्वयमा- त्मानं दर्शयतीत्यर्थः । कुतः इदमवगम्यते ? इत्यत आह- प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । "ज्ञानप्रसादेन विशु- द्धसत्त्वः ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः " इत्या- दिश्रुतेः । "यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः। ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥ योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनमि"त्यादिस्मृतेश्च ॥ २४ ॥

———

# सू० प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥

३ २। २५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सूर्य्याग्न्यादीनां यथा तदर्थिकृतसाधनाभ्यासादाविर्भावस्तद्वद्ब्रह्मणो ऽप्यवैशेष्यं ब्रह्मप्रकाशो भवति, संराधनलक्षणादुपायाद्ब्रह्मदर्शनं भवतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

नन्विदमसङ्गतं संराधने हि व्यक्तं भवति ब्रह्मेति। सर्वात्मभूतं सर्वगं ब्रह्म सर्वे ऽविशेषेण कुतो न पश्यन्त्यत आह —

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्।

यथा सर्वसाधारणस्यापि सूर्य्यलक्षणस्य प्रकाशस्य कुन्तीयुधिष्ठिरादीनां कर्मण्यभ्यासात् मन्त्रजपाद्यभ्यासात् प्रकाश आविर्भावः। यथा च सर्वसाधारणस्याग्नेर्द्विजानां कर्माणि मन्थनादौ

अभ्यासात् प्रकाशः । यथा च सुवर्णकारस्य सुवर्णप्राप्तिसाधनभूते कर्मण्यभ्यासात् सुवर्णप्रकाशः । एवं खलु प्रकाशादिवत् सूर्य्यादीनामिव ब्रह्मणो ऽप्यवैशेष्यम् । सर्वसाधारणमपि ब्रह्म मुमुक्षूणां संराधनाभ्यासादाविर्भवतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

किमात्मना ब्रह्म प्रकाशते इत्यपेक्षायामाह —

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।

प्रकाशादिवदिति सूर्यवाय्वादिवत् । यथा सूर्यः तमःसीतादिदोषरहितः प्रभासङ्गत्वादिगुणयुक्तश्च, यथा वा वायुः नीचोत्तमादिसङ्गदोषरहितो ऽपि शब्दस्पर्शादिगुणवांश्चेति लोके शास्त्रे च सुप्रसिद्धम्। तद्वद्ब्रह्मणो ऽप्यवैशेष्यं, विशेषो मायिकधर्मस्तत्सम्बन्धराहित्यं, चकाराद्वैशेष्यं च सार्वज्ञ्याद्यनन्तकल्याणविशेषधर्माश्रयत्वं च शास्त्रे प्रसिद्धम् । "य आत्मा ऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युरि"त्यादि "यः सर्वज्ञः सर्ववित् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"त्यादिश्रुतिभ्यः । तस्य प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् । कर्मणि संराधने सम्यग्भक्तियोगे अभ्यासादसकृदावर्त्तमानान्निदिध्यासनाद्भवति, नतु सकृद्ध्यानेनेत्यर्थः । "आवृत्तिरसकृदुपदेशादि"ति वक्ष्यमाणसूत्रात् । "आत्मा वा ऽरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यादिश्रुतेः । "तस्मात्सर्वेषु

कालेषु मामनुस्मरे"ति भगवदुक्तेश्च । "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनरि"ति सूत्रकारवाक्याच्च ॥ २५ ॥

## सू०अतो ऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ ३।२।२६॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

ब्रह्मसाक्षात्काराद्धेतोस्तेन सह साम्यं याति । "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती" ति ज्ञापकात् ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रसङ्गाद्ब्रह्मसाक्षात्कारस्य फलमाह —

अतः अनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।

अतः प्रकाशात् ब्रह्मसाक्षात्काराद्धेतोः अनन्तेन ब्रह्मणा श्रीपुरुषोत्तमेन सह साम्यं गच्छति, तथाहि लिङ्गम्, एतदर्थज्ञापकं वाक्यमस्ति हि । "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्

पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्य-
मुपैतीति ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्रसङ्गात्फलमाह —

अतो ऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।

अतो ऽस्माद्ब्रह्मप्रकाशात्साक्षात्काराद्धेतोः अनन्तेन स्वरूपगुणशक्त्यादिभिरपरिच्छिन्नेन परब्रह्मणा श्रीपुरुषोत्तमेन सह साम्यं गच्छतीति शेषः । तत्र प्रमाणमाह—तथा हि लिङ्गमिति । एतदर्थगमकं श्रौतवाक्यमित्यर्थः । हि निश्चये । "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"ति । केचित्तु* ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादित्याशङ्क्य नेत्युच्यते । यथा सौरप्रकाश आकाशो वाङ्गुल्याद्युपाधौ कर्मणि भिन्न इव वक्र इव भाति । वस्तुतस्त्वेकस्वरूप एव, तद्वत्प्रकाश आत्मा ऽपि ध्यानज्ञानादौ कर्मण्युपाधौ भिन्न इव भाति । वस्तुतस्त्ववैशेष्यमेकरूपत्वमेवात्मनः । कुतः ? अभ्यासात् । "तत्त्वमसी"त्याद्यभेदश्रुत्यभ्यासात् । अतो भेदस्यौपाधिकत्वाद्विद्यया भेदं निरस्य जीवो ऽनन्तेन परमात्मनैकतां गच्छति । तथाहि लिङ्गमपूर्वार्थज्ञापकं "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती"त्यादि । इत्याहुस्तदसङ्गतं, ब्रह्मण्युपाधिसम्बन्धासम्भवात् । तथाहि उपाधिः शुद्धे ऽभ्युपगतः ? ईश्वरे वा ? । नाद्यः, उपाधिसम्बन्धस्यैवाशुद्धत्वहेतु-

---

* मायावादिनः ।

त्वेन शुद्धत्वहानेः । न द्वितीयः, ईश्वरस्याविद्यासम्बन्धोत्तर-भावित्वात्, औपाधिकोनिरूप्य उपाधिस्तन्निरूप्य औपाधिक-भेदमित्यन्योऽन्याश्रयात् । प्रतिबिम्बावच्छेदवादयोस्तत्र तत्र विस्त-रशो निरस्तत्वाच्च । किञ्च न तावत् "तत्त्वमसी"त्यभ्यासो भेद-निरासे हेतुः "एष ते आत्माऽन्तर्यामी"ति ततोऽप्याधिक्येन भेदाभ्यासस्यापि सत्त्वात् । सिद्धान्ते भेदाभेदवाक्ययोस्तुल्यब-लत्वात् । अन्यथा परस्परं बाध्यबाधकभावाभ्युपगमे उभयोरपि प्रामाण्याभावप्रसङ्गेन सर्ववेदान्तो दत्ततिलाञ्जलिः स्यात् । तस्मादभ्यासशब्द उक्तार्थक एव, तस्यैव प्रकरणात् । यदप्युक्तं विद्यया भेदं निरस्य, जीवोऽनन्तेन परमात्मनैकतां गच्छतीति । तदप्यप्रमाणं, स्वरूपभेदस्य स्वाभाविकत्वात्स्वाभाविकस्यापि नाशाङ्गीकारे स्वरूपनाशस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्स्वरूपनाश एव मुक्तिः स्यात् । नापि "ब्रह्मैव सन्नि"ति श्रुतेरत्यन्ताभेदे लिङ्गत्वं, तत्राप्युभयभानस्य सत्त्वात् । ब्रह्मैव सन्निति बृहद्गु-णयोगाद्ब्रह्मत्वस्यापि तत्र सत्त्वेनाभेदप्रत्ययः । "ब्रह्माप्येती"ति प्राप्तृप्राप्यभावश्रवणेन भेदस्यापि भानात्सर्वं समञ्जसं, नैकस्यापि विरोध इत्यलं विस्तरेण ॥ २६ ॥

## मू० उभयव्यपदेशात्त्वहि-कुण्डलवत् ।३।२।२७॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

मूर्त्तामूर्त्तस्याप्रतिषेध्यत्वं दृढयति, मूर्त्तामूर्त्ता-

दिकं विश्वं ब्रह्मणि स्वकारणे भिन्नाभिन्नसम्बन्धेन स्थातुमर्हति, भेदाभेदव्यपदेशादहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

मूर्त्तामूर्त्तादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यतया ब्रह्मरूपत्वेन श्रुत्युक्तस्य नेति नेतीति निषेधानर्हत्वं ब्रह्मणस्ततो भूयस्त्वेन निर्दोषत्वं चोक्तमेतद्दार्ढ्यार्थं प्रपञ्चस्य कार्यस्य कारणेन ब्रह्मणा सह भेदाभेदसम्बन्धं सर्वश्रुत्यर्थनिर्वाहकं स्वकीयं सिद्धान्तं भगवान्सूत्रकार आह —

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।

मूर्त्तामूर्त्तादिसर्वकार्यजातस्य ब्रह्मभिन्नत्वेऽपि तदभिन्नत्वम् । कुतः ? उभयव्यपदेशात् । भेदाभेदव्यपदेशात् । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादिभेदव्यपदेशात् । "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्याद्यभेदव्यपदेशात् । तत्र दृष्टान्तमाह—अहिकुण्डलवदिति । सर्वत्र विवक्षितांशमात्रेण दृष्टान्ता उपादीयन्ते ।

कुण्डलोपादानभूतो रज्ज्वाकार अहिः कारणं, तत्स्थानीयं 'सर्वशक्त्युपेतं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ब्रह्म वलयाकारं कार्यभूतं कुण्डलं तत्स्थानीयं कार्य्यभूतं मूर्त्तामूर्त्तादिकं विश्वम्, तत्र कुण्डलं परतन्त्रं व्याप्यं कार्य्यं च, अहिः तदपेक्षया स्वतन्त्रो व्यापकः कारणं च, अतस्तयोर्भेदः। अहिर्व्यतिरेकेन कुण्डलस्य स्थितिप्रवृत्त्यभावात्ततो ऽभेदश्च। एवं प्रपञ्चस्यापि चिदचिच्छक्तिमद्ब्रह्मकार्य्यस्य कारणेन ब्रह्मणा सह स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवतः। सूत्रानुरूपः श्रुतिपूगः "द्वा सुपर्णा सयुजा पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं ब्रह्मैवेदं सर्वं आत्मैवेदं सर्वमि" त्यादिः। ब्रह्मात्मकत्वान्मूर्त्तामूर्त्तादिकस्य प्रतिषेधत्वं नेति भावः॥ २७॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

एवं ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्तप्रपञ्चैतावत्त्वं रूपं प्रतिषिध्य, ततो भूयस्त्वमनन्तकल्याणविशेषवत्त्वं च निरूप्य, तत्प्रकाशप्रकारं च प्रतिपाद्य, ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिद्ध्यर्थं चिदचिद्रूपप्रपञ्चस्य तेन भेदाभेदप्रकारं निर्धारयति सूत्राभ्याम्। तत्र तावदचेतनस्य ब्रह्मणा

भेदाभेदः सूपपन्न इत्याह —

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।"

अचिद्वस्तुनो ब्रह्मणा भेदाभेद एव सम्बन्धः । कुतः ? उभयव्यपदेशात् । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति ब्रह्मैवेदं सर्वं आत्मैवेदं सर्वमि"त्यभेदव्यपदेशात् "हन्ता हमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मना ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष ते आत्मा ऽन्तर्याम्यमृत" इत्यादिना । "भेदव्यपदेशाच्चे" त्युभयविधशास्त्राविरोधात्स्वाभाविकभेदाभेद एव सिध्यति । अन्यथा चैकतरस्य शास्त्रस्यावश्यं बाधप्रसङ्गात् । ननु भेदाभेदयोरितरेतरविरोधात्कथमेकत्रावस्थानमित्याशङ्क्य तत्साधकदृष्टान्तमाह--अहिकुण्डलवदिति । यथा ऽहिकुण्डयोरहित्वेन कुण्डलत्वेन च भेदः, अह्यात्मकत्वादिना च कुण्डलस्याभेदः । तथा च कुण्डलावस्थापन्नस्याहेः कुण्डलस्य व्यक्तत्वात्प्रत्यक्षप्रमाणगोचरत्वेन भेदः स्वाभाविकः । सर्पात्मकत्वतदाधेयत्वतद्व्याप्यत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वादभेदो ऽपि स्वाभाविकः । लम्बायमानावस्थायां तु सर्वदा सर्पायत्तत्वावच्छिन्नस्वरूपस्य कुण्डलस्य सूक्ष्मरूपेण तत्र सत्त्वे ऽपि अव्यक्तनामरूपतया प्रत्यक्षाग्राह्यत्वमित्युभयोरपि स्थूलसूक्ष्मावस्थयोरनुगतत्वाद्भिन्नाभिन्नत्वम् । अन्यथा तस्य तत्राभावे पुनराविर्भावो न स्यात् । तथा स्थूलावस्थापन्नस्य कार्यस्य कारणापृथक्सिद्धतदायत्तसत्तावच्छिन्नस्वरूपेण व्यक्तनामरूपत्वाद्भेदः श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धः, तदात्मकत्वादिना चाभेदः । अव्याकृतावस्थायां तु बीजे ऽङ्कुरस्येव कार्यस्य कारणे सूक्ष्मरूपेण सद्भावे ऽप्यव्यक्तनामरूप-

त्वात्प्रत्यक्षाग्राह्यत्वमित्युभयावस्थायामपि तदात्मकत्वतदाधेयत्व-तदायत्तसत्ताकत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वेनाभिन्नत्वेऽपि परतन्त्रसत्तावच्छिन्नतदात्मीयस्वरूपेण नामरूपविभागेन च भिन्नत्वमपीति स्वाभाविकभिन्नाभिन्नत्वमेवेति संक्षेपः । के*चित्तु इदं सूत्रं जीवात्मभेदाभेदपरत्वेन व्याख्याय "अहिकुण्डलवदि"ति पक्षे जीवस्यावस्थारूपस्यानित्यत्वप्रसक्तिरित्यनित्यत्वं प्रतिपादयन्तो दूषयन्ति । तत्तुच्छतरं, तस्योक्तरीत्या जीवभेदाभेदपरत्वाभावात् । अचेतनस्यावस्थापत्तिरूपानित्यत्वं सर्वसंमतत्वादस्माकमपीष्टमेवेति ॥ २७ ॥

## सू० प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् । ३।२।२८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जीवपुरुषोत्तमयोरपि तथा सम्बन्धो ज्ञेयः । उभयव्यपदेशात् प्रभातद्वतोरिव । अतो ऽनन्तेनत्यनेन केवलभेदो न शङ्क्य इति भावः ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु भवत्वचेतनवर्गस्यं ब्रह्मणा सह भेदाभेदसम्बन्धः । जीवस्य तु तेन सह भेदाभेदसम्बन्धो न सङ्गच्छते । "अतो ऽनन्तेन तथाहि लिङ्ग-

---

* औपाधिकभेदवादिनः ।

मिं"त्यत्र जीवो ऽनन्तेन सह 'साम्यं प्राप्नोतीति तयोरत्यन्तभेदप्रतीतेरित्यत आह —

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।

उभयव्यपदेशादित्यनुवर्त्तते । वाशब्दश्चोद्यनिवृत्त्यर्थः । नास्ति तयोरत्यन्तभेदः "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः ब्रह्मविदाप्नोति परं परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं, अज्ञोजन्तुरनीशश्च यः सर्वज्ञः सर्ववित्, अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः, एष आत्मा ऽपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः य आत्मनि तिष्ठन्नि"त्यादिस्वाभाविकभेदव्यपदेशात् । "तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि स्वाभाविकाभेददर्शनाच्च जीवस्य ब्रह्मणा सह भेदाभेदः सम्बन्धः । दृष्टान्तमाह —प्रकाशाश्रयवदिति । प्रकाशः सूर्य्यादिप्रभारूपः आश्रयः सूर्यादिः । तत्र हि प्रकाशस्य आश्रयेण सह स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवतः ।तस्य तं विना पृथगवस्थानाभावात् । नन्वत्यन्तभिन्नयोस्तयोरभेदे को ऽयं निर्बन्धः? तत्र

हेत्वन्तरमाह—तेजस्त्वादिति। प्रकाशाश्रययो-स्तेजस्त्वादप्यभेदस्तद्वदंशभूतस्य जीवस्यांशिना सह स्वाभाविकौ भेदाभेदौ*भवत इत्यर्थः। "अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापी" त्यत्रोभय-श्रुतिविरोधपरिहाराय जीवपुरुषोत्तमयोः सम्बन्ध उक्तः। इह तु तार्किकादिपक्षवदत्यन्तभेदनिषेधाय पुनरुक्त इति विवेकः ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

एवमचेतनस्य ब्रह्मभिन्नाभिन्नत्वप्रकारं निरूप्य चेतनस्य तत्त्वं पतिपादयति—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्।

वाशब्दो ऽतिदेशार्थः। पूर्वोक्ताचेतनवच्चेतनस्यापि ब्रह्मणा भिन्नाभिन्नत्वं दर्शयति। कुतः? उभयव्यपदेशादित्यनुवर्त्तते। "तत-स्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इति ध्यातृध्येयत्वेन द्रष्टृ-दृश्यत्वेन च "ब्रह्मविदाप्नोति परं परात्परं पुरुषमुपैति दिव्य-मि"ति प्राप्तृप्राप्यत्वेन च "य आत्मानमन्तरो यमयती"ति नियन्तृनियम्यत्वेन च स्वाभाविकस्य भेदस्य व्यपदेशात्। "तत्त्वमस्यहं ब्रह्मा ऽस्मि, अयमात्मा ब्रह्मे"त्यादिना च स्वाभा-विकाभेदस्य च व्यपदेशाद्भिन्नाभिन्नत्वमिति। अधिकशङ्का तु यदि पूर्वदृष्टान्तेन चेतनस्य भिन्नाभिन्नत्वं, तर्ह्यचेतनवदवस्थाभाक्त्वमक्षी-

---

* पुस्तकान्तरे भेदाभेदो भवतीत्यपि पाठो भाति।

कृतं स्यादिति तन्निरासयन्दृष्टान्तान्तरमाह-प्रकाशाश्रयवदिति । यथा सूर्यमणिदीपादिप्रकाशस्तत्प्रभारूपः स्वाश्रयात्सूर्यादेर्भिन्नतया प्रत्यक्षेणोपलभ्यते, स्वाभाविकभेदवत्त्वात् । सूर्यदीपादेर्दृष्ट्यगोचरत्वेऽपि दूरस्थत्वेऽपि सूर्यप्रभेयं दीपप्रकाशोऽयमिति भेदप्रतीतेः सर्वजनप्रसिद्धत्वात् । तथा तदाधेयत्वतदात्मकत्वादिभिश्च हेतुभिस्तदविनाभावादभिन्नत्वमपि प्रत्यक्षादिमानसिद्धमेव । अतोऽभेदस्यापि स्वाभाविकत्वमिति । तद्वत्प्रत्यगात्मनामपि परतन्त्रसत्तावच्छिन्नब्रह्मात्मीयस्वरूपत्वाणुपरिमाणकत्वाल्पज्ञत्वादिहेतुभिः स्वभावाद्भिन्नत्वेऽपि ब्रह्मात्मकत्वतदाधेयत्वतद्व्याप्यत्वतदधीनस्थितिप्रवृत्तिकत्वादिभिर्हेतुभिस्तदविनाभावादभिन्नत्वमपि स्वाभाविकमेव इति न केनापि वाक्येन विरोधलेशस्य सम्भावनेति । तत्र हेतुमाह-तेजस्त्वादिति । उभयोरपि तेजोरूपत्वाद्गुणतोऽप्यभेदः सम्भवतीत्यर्थः । केचित्तु सवितृप्रकाशपक्षेऽप्याधाराधेयभावः "प्रत्यहमुदयास्तमयौ च भवतः" इत्याहुस्तत्तुच्छम्, आधाराधेयभावस्य शास्त्रप्रमाणसिद्धत्वेनेष्टापन्नत्वात् । यस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन यस्मिन्द्यौश्च पृथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः" इत्यादिश्रुतेः । "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इवे"ति स्मृतेश्च "द्युभ्वाद्यायतनमि"त्युक्तसूत्राच्च नाप्युदयास्तमयौ दोषौ वक्तुं शक्यौ, तयोर्नित्यसम्बन्धात् । नहि सूर्याद्विच्छिद्य प्रकाशस्योदयास्तमयौ भवतो दृष्टश्रुतागोचरत्वात् । नाप्युभयोः सप्रकाशस्य सूर्यस्य लोकान्तरगमनागमनव्यवहारेणैवोदयास्तमयावव्यवहार औपचारिकः, न मुख्यः । किन्तु तस्य लोकान्तरे सप्रकाशस्य सत्त्वेऽपि मनुष्यादेः स्वदृष्ट्यावरणान्न स दृश्यते । तत्रत्यैरनावृतचक्षुभिर्दृश्यते । एवं जीवपरमात्मनोरपि प्रकाशाश्रयवत्सर्वदा वर्त्तमानत्वेऽपि "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इति प्रमाणादज्ञानावृत-

धर्माणां न दर्शनम् । भगवत्प्रसादेन भग्नावरणानां दिव्यदृष्टीनां तद्दर्शनं शास्त्रसिद्धम् । "नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरमि"ति भगवद्वचनात् ॥ २८ ॥

## सू० पूर्ववद्वा ॥३।२।२९॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषाभावश्च पूर्ववद्बोध्यः ॥ २९ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु अहेः कुण्डलवद्ब्रह्मणो ऽवस्थाविशेष एव प्रपञ्चश्चेत्तर्हि कृत्स्नप्रसक्तिनिरवयवशब्दव्याकोपादिदोषपूगश्च प्राप्नोतीत्यत आह —

पूर्ववद्वा ।

वाशब्दश्चोद्यनिषेधार्थः । न कश्चिद्दोषः पूर्ववत् । "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादि" त्यादिवन्निरस्तो वेदितव्यः ॥ २९ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने भेदश्रुतयो ब्रह्मणो-

ऽपरिणामित्ववादिन्यो ऽपि बाधिता भवेयुरित्याशङ्कायां समाधत्ते —

पूर्ववद्वा ।

वाशब्द आक्षेपनिरासार्थः । पूर्ववत् । यथापूर्वं "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवशब्दव्याकोपो वे"त्यनेन ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं न सम्भवतीत्याक्षेपे प्राप्ते समाधत्तं "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादि"ति । तथात्रापि बोध्यम् । तथाहि अनन्तगुणशक्तिमतो ब्रह्मणः परिणामिस्वभावाऽचिच्छक्तेः स्थूलावस्थायां सत्यां तदन्तरात्मत्वेन तत्रावस्थाने ऽपि परिणामस्य शक्तिगतत्वात् स्वरूपे परिणामाभावात् कुण्डलदृष्टान्तो न दोषावहः, अपृथक्सिद्धत्वेनाभेदेऽपि भेदज्ञापनार्थः । उपसंहृतशक्तित्वेन प्रपञ्चस्याविभक्तनामरूपत्वात्कारणैकत्वापत्त्या "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमि"त्यादिश्रुतिभिरेकत्वप्रतिपादनादहिदृष्टान्तोक्तिरपि सम्भवतीति निरवद्यम् । भेदश्रुतयोऽपि कार्यकारणयोः स्वरूपस्वभावविवेचनपराः, नात्यन्तभेदपराः, अनेकतादात्म्यप्रतिपादकवाक्यविरोधात् ॥ २९ ॥

## सू० प्रतिषेधाच्च ॥३।२।३०॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

न लिप्यते लोकदुःखेने" त्यादिप्रतिषेधाच्च न प्रकृतस्य ब्रह्मणो दोषयोगः ॥ ३० ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रतिषेधाच्च ।

किञ्च सर्वान्तःस्थत्वेन सर्वकारणत्वेन च ब्रह्मणः सर्वरूपत्वे ऽपि न दोषयोगः । "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः । वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्चे" त्यादिश्रुतिप्रसिद्धाद्दोषप्रतिषेधाच्च, इति सर्वरूपस्य ब्रह्मणः सर्वदोषास्पृष्टत्वं कल्याणगुणगणनिलयत्वं सर्वतोभूयस्त्वं च सिद्धम् ॥ ३० ॥

इति प्रकृतैतावदधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु दोषवदन्तःस्थत्वे कज्जलागारे इव कथं दोषस्पर्शाभाव इति चेत्तत्राह —

प्रतिषेधाच्च ।

सर्वान्तःस्थत्वेन सर्वरूपत्वेऽपि दोषास्पृष्टस्वभावत्वेन दोषस्पर्शस्य प्रतिषेधात् श्रुत्येति शेषः । "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः । वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्चे"त्यादिश्रुतिभिः । केचित्तु "अहिकुण्डलवत्प्रकाशाश्रयवद्वे"त्युभयसूत्राभ्यां परमतत्वेन भेदाभेदमुपन्यस्य "पूर्ववद्वे"त्यनेन यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमि"ति तथैव भवितुमर्हति । तथा ह्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते इति सिद्धान्तं कृत्वा, यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माहिकुण्डलन्यायेम परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रयन्यायेन वा एकदेशभूतो ऽभ्युपगम्येत, ततः पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्त्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत । न चात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशति, अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन मिर्दिशति, भेदं तु पूर्वमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षयेति दूषयन्ति । तत्तुच्छमसम्भवात् । तथाहि यदुक्तं "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमि"ति पूर्वमुपन्यस्त एव सिद्धान्त इति, तन्न, तदसम्भवस्य तत्रैव निर्णीतत्वात् । यच्चोक्तमविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते इति, तत्सत्यमस्माकमप्यङ्गीकारात् । अविद्याशब्दस्यानादिकर्मपरत्वात् । "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया ऽमृतमश्नुते । अविद्या कर्मसंज्ञा ऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते"इति श्रुतिस्मृतिभ्यः अनादिपुण्यापुण्यात्मककर्मणैव बन्धः । "तस्य च "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते पुण्यपापे विधूय क्षीयन्ते चास्य कर्मणी"त्यादिशास्त्रात् ध्वंसेन मोक्षस्य सम्भवात् । यत्तु पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्त्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्ज्येतेत्युक्तं, तद्दुराग्रहमात्रम् । "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरि"ति श्रुतिबलादेव कर्मनिमित्तकसत्यस्यैव प्रकृतिसम्बन्धतत्कार्यलिङ्गशरीरादेर्निवृत्तिसम्भवात् न कश्चिद्दोष-

स्पर्शावकाशः, सत्यस्य वस्तुनो निवृत्तिर्नास्तीति नियमाभावस्य पूर्वमेव विस्तरश उक्तत्वात् । लोकेऽपि सत्यस्यैव राजकारागृहे पुरुषाणामयोमय शृङ्खलकाष्ठादिबन्धस्य राजाज्ञया निवृत्तिः । सत्यस्यैव पुरुषाङ्गे लिप्तस्य चन्दनपङ्कामेध्यादेर्जलप्रक्षालनादिना निवृत्तिः । सत्यस्यैव भूषणवस्त्रगवादेर्दानेन निवृत्तिर्दृष्टचरा सर्वजनप्रसिद्धा च, तेषां च तत्र सत्त्वदर्शनात् । बन्धस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमे च न कश्चिद्वस्तुतो बद्धः मोक्ष्यते वा भवतामित्यङ्गीकृतं स्यादिष्टमेवेति चेत्तर्हि शास्त्रारम्भो व्यर्थ एव स्यात्प्रयोजनाभावात् । तथाहि शुद्धस्य बन्धो नासीन्नास्ति न भविष्यति । यो बद्धः, स तु मिथ्या, तस्य मोक्षार्थं बुद्धिमन्तो न यतन्ते । सूर्याकाशादीनां जलघटाद्युपाधिषु प्रतिबिम्बत्वेनावच्छिन्नत्वेन च सत्त्वेऽपि क्षत्यभावदर्शनात्, तन्मुक्तये तेषां प्रयत्नस्य चादर्शनात् । एवं भवन्मते ब्रह्मणोऽपि शुद्धबुद्धनित्यमुक्तस्य कल्पिताविद्यारूपोपाधौ प्रतिबिम्बितत्वे ऽवच्छिन्नत्वे वा दोषास्पृष्टत्वेन क्षत्यभावात्तस्य मोक्षाय प्रयत्नस्यासम्भव एव, सर्वदा स्वरूपस्फुरणात् । न चाविद्यासम्बन्धात्स्वरूपास्फुरणमिति वाच्यं, तर्हि द्वितीयस्य तन्मोचकस्य स्वप्रकाशस्याभावान्न कदापि कथमपि तत्सम्बन्धो नंक्ष्यति । अविद्यालक्षणप्रमाणप्रयोजकाद्यभावस्य पूर्वैर्विस्तृतत्वादत्रोपरम्यते । नापि प्रतिबिम्बस्य स्वमोक्षार्थं प्रयत्नः सम्भवति, स्वरूपनाशप्रसङ्गात् । नहि स्वरूपनाशाय कश्चिद्यतते । अपि तु स्वरूपापत्त्यै एवेति । किञ्च तस्य जडत्वेन कृत्याश्रयत्वासम्भवात् । अन्यथा घटादिष्वतिप्रसङ्गात् । प्रतिबिम्बो जडः ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिचेतनधर्मानाश्रयत्वात्सूर्यमनुष्यादिप्रतिबिम्बवत् । तस्माद्बन्धस्य मिथ्यात्वे मोक्षस्यापि तत्त्वं, तस्य मिथ्यात्वे तत्साधनजातस्य

वैयर्थ्यं, तथात्वे तत्प्रतिपादकशास्त्रस्य सुतरां वैयर्थ्यम् । एवं च मोक्षशास्त्रस्य सुतमां वैयर्थ्यमिति तव श्रीमुखेनैव सिद्धम् । अपि च सर्वज्ञा व्यासादयः शास्त्रकाराश्च बन्धोमिथ्या, तत्सापेक्षो मोक्षोऽपि मिथ्या, न कश्चिद्बद्धो वा मुक्त इत्येव ब्रूयुः, किमिति बहुशास्त्रविस्तारेणान्यथा ऽयथार्थोपदेशे तेषां वञ्चकत्वं स्यात् । तथात्वे च बौद्धमतस्वीकारः स्यात् । किञ्च चेतनस्यास्माभिरहेः कुण्डलावस्थावदवस्थात्वं न ह्यङ्गीकृतं, येन त्वदुक्तदोषप्रसङ्गः स्यात् । अपि तु प्रकाशाश्रयन्यायेन तस्य त्वाधाराधेयभाव एव स्पष्टं ज्ञायते, नत्वेकदेशत्वं जीवस्य । तथात्वे च पूर्वोक्तप्रकारेण निर्दोषत्वस्योक्तत्वात् । नापि नचात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशति । अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति । भेदं तु पूर्वसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षयेति वक्तुं शक्यं, प्रतियोगिप्रत्यक्षाभावाद्भेदाप्रत्यक्षत्वेन तस्यानुवादत्वायोगात् । प्रतियोगिनोर्जीवेशयोरप्रत्यक्षत्वं प्रसिद्धमेव । ननु जगदचेतनं तु प्रत्यक्षमेवानुभूयते तदंशेनानुवादत्वमिति चेन्न, ब्रह्मणस्तु प्रत्यक्षाभावात् । नह्येकस्य प्रत्यक्षेण भेदप्रत्यक्षो जायते, अपि तूभयप्रत्यक्षेणैव । तस्मात्प्रत्यक्षादिग्राह्येऽचेतने परिणामादिस्वभावे प्रकाशानन्दापरिच्छिन्नस्वरूपस्यानन्तकल्याणगुणाश्रयस्य ब्रह्मणः श्रुतिज्ञापितो भेदो ऽनुभूयते । यादृशं ब्रह्म श्रुत्याभिधीयते नेदं जगत्तादृशं दृश्यते, अतो भेदो ऽस्तीति ज्ञायते । तस्माच्चिदचिद्ब्रह्मभेदस्य श्रुतिप्रमितत्वमेव नानुवादार्हत्वमिति सिद्धम् । प्रत्युताभेदवाक्यानामेव भवन्मते ऽनुवादपरत्वापातात् । तथाहि भवतां सिद्धान्ते घटः सन्पटः सन्नित्यादिप्रत्यक्षस्य सन्मात्रानुभूतिग्राहित्वेनाभिन्ननिर्विशेषसन्मात्रानुभूतेः प्रत्यक्षप्राप्तत्वादभेदवाक्यानां तदनुवाद-

परत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात् । अभेदवाक्यानि न स्वार्थपराणि, प्रत्यक्षप्राप्तानुभूतिपरत्वेनानुवादपरत्वादग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादिवाक्यवदिति पूर्वमेवोक्तत्वात् । ननु "नान्योऽतो ऽस्ति द्रष्टे" त्यादिश्रुत्या परमात्मनो ऽन्यस्य चेतनस्य "नेति नेती "त्यादिवाक्यैः प्रपञ्चस्य प्रतिषेधादुक्तार्थासिद्धेरद्वैतमेव सिद्धान्तः इति चेन्न, उक्तवाक्यानां त्वदुक्तार्थपरत्वाभावात् । तथाहि "नान्योऽतो ऽस्ति द्रष्टे"त्यस्य स्वतन्त्रद्रष्ट्रन्तरनिषेधपरत्वस्योक्तत्वात् न सामान्यद्रष्टृनिषेधपरत्वं तस्य । अन्यथा "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं, ध्यायमानः"इत्यादिद्रष्टृत्वप्रतिपादकशास्त्रव्याकोपात्। "नेति नेती"त्यादेरपि ब्रह्मण इयत्तानिषेधपरत्वेन प्रपञ्चस्वरूपनिषेधपरत्वाभावस्योक्तत्वादित्यलं विस्तरेण । अन्ये तु ब्रह्मणः संस्थानविशेषा एवाचिद्वस्तुनीति सूत्रं व्याख्याय एकस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषयोगे ऽपि ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्द्रव्यस्वरूपत्वादुक्तदोषादनिर्मोक्षप्रसङ्गः । अथ प्रभातदाश्रययोरिवाचिद्ब्रह्मणोर्ब्रह्मत्वजातियोगमात्रविवक्षितम् । एवं तर्ह्यश्वत्वगोत्ववद्ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोश्चानुवर्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिस्मृतिव्यवहारविरोधः । तस्माद् "अंशो नानाव्यपदेशात्प्रकाशादिवत्तु नैवं परः" इति जीववत् पृथक्स्थित्यनर्हविशेषणत्वेनाचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वं विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपस्वभावभेदेन च भेदव्यवहारो मुख्यः, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितं तदेवं प्रकाशजातिगुणशरीराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मनः प्रति अपृथक्सिद्धलक्षणविशेषणविशेष्यतया यथांशत्वं तथेह जीवस्याचिद्वस्तुनश्च ब्रह्मप्रत्यंशत्वमित्याहुस्तत्प्रामादिकम् । एकस्यैवानन्तविचित्रशक्तिकस्य ब्रह्मणः अवस्थाविशेषयोगे तत्तद्रूपत्वेनावस्थाने

ऽपि दोषाभावात् । तथा हि सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनो ब्रह्मात्मकत्वेन तदाधेयत्वेन तद्व्याप्यत्वेन तन्नियम्यत्वेन तत्तन्त्रत्वेन च तदविनाभावनियमात् । ब्रह्मणश्च वस्तुजातस्यात्मत्वादिना सर्वनामत्वे ऽपि च दोषास्पृष्टस्वभावत्वात्, स्वरूपे परिणमानङ्गीकाराच्च सर्वमनवद्यम् । "ब्रह्मैवेदं सर्वं सर्वं खल्विदं ब्रह्म ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स्वयमात्मानमकुरुत सच्च त्यच्चाभवत् नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति सर्वनामा सर्वकर्मा सर्वलिङ्गः" इत्याद्याः श्रुतयः । "अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः । अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ! वासुदेवः सर्वमि"ति "इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । सर्वं समाप्नोषि ततो ऽसि सर्वः । कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम् । सुरपशुमनुजादिकल्पनाभिर्हरिरखिलाभिरुदीर्य्यते तथैकः । न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् । योऽयं तवागतो देव ! समीपे देवतागणः । स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्" इत्याद्याः स्मृतयश्च चिदचित्प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वे तदपृथक्सिद्धत्वे ब्रह्मणश्च सर्वरूपत्वे प्रमाणम् । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः असङ्गो ह्ययं पुरुषः, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमच्छायमि"त्यादि । अन्यत्र धर्म्मादन्यत्राधर्मादन्यस्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वदे "त्याद्याः श्रुतयः । "परस्तस्मात्तु भावो ऽन्यो व्यक्तो व्यक्तात् सनातनः । यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतो ऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः । स सर्वभूतः प्रकृतिं विकारान् गुणांश्च दोषांश्च मुने ! व्यतीतः

अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनाश्रितं यत् भुवनान्तराले" इत्याद्याः स्मृतयश्च ब्रह्मणो निर्लेपत्वे प्रमाणम्। तस्माद्-हिकुण्डलदृष्टान्तेन भेदाभेदाङ्गीकारेऽपि परिणामादिदोषस्याचि-च्छक्तिगतत्वेन परब्रह्मणो निर्दोषत्वात् उक्तशङ्काया उन्मत्तप्रला-पत्वं सिद्ध्यति। अन्यथा "प्रकृतिश्चे"ति "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दा-दिभ्यः" इत्यधिकरणयोरुदाहृतश्रुतिस्मृतिसमुदायस्य च व्याको-पात्। किञ्च भवद्भिरपि "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि"-त्यस्य सूत्रस्य भाष्ये प्रतिज्ञादृष्टान्ताभ्यां निमित्तमात्रकारणत्वं निरस्य ब्रह्मण एवोपादानत्वे उपादानभूतमृत्पिण्डलोहमणिनख-कृन्तनविज्ञानेन घटमणिकटकमुकुटपरश्वधवाश्यादितत्कार्यवि-ज्ञानवत् निखिलजगदेककारणभूते ब्रह्मणि विज्ञाते तत्कार्यं जगद्विज्ञातमेव स्यात्। कारणमेवावस्थान्तरमापन्नं न द्रव्यान्तर-मिति कार्यकारणरूपेणावस्थितमृद्विकारादिनिदर्शनेन प्रतिज्ञा-समर्थनादिति सर्वचिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूतं परं ब्रह्म कदाचिद्विभक्तनामरूपं, कदाचिच्चाविभक्तनामरूपं, यदा विभक्तनामरूपं तदा तदेव बहुत्वेन कार्यत्वेन चोच्यते। यदा चाविभक्तनामरूपं तदैकमद्वितीयं कारणमिति च। एवं सर्वदा चिदचिद्वस्तुशरीरस्य परस्य ब्रह्मणो विभक्तनामरूपा याऽवस्था, सा "गौरनाद्यन्तवती विकारजननीमजामेकामि"त्यादिभिरभिधी-यते, इति च "आत्मकृतेः परिणामादि"त्यस्य भाष्ये अविभक्त-नामरूप आत्मा कर्त्ता, स एव विभक्तनामरूपः कार्यमिति कर्तृत्वकर्मत्वयोर्न विरोध इत्युक्तम्। तथा च परमात्मन एव सर्वावस्थावत्तया स्थूलादिसर्वकार्यस्वरूपत्वाङ्गीकारात्त्वत्प्रयुक्त-दोषरूपवज्रं त्वदुपर्य्येवापतितम्। ननु परमात्मनश्चिदचि-त्सङ्घातरूपजगदाकारपरिणामे परमात्मशरीरभूतचिदंशगताः

सर्वे एवापुरुषार्थाः, तथा भूताचिदंशगताश्च सर्वे विकाराः परमात्मनि कार्य्यत्वेनावस्थयोः तयोः शरीरभूतयोर्नियन्तृतयाऽऽत्मभूतः परमात्मा तद्गतापुरुषार्थैर्विकारैश्च न स्पृश्यते, इत्युक्तत्वान्न विरोध इति चेत्तर्हि आगतोऽसि नो-मार्गं, अस्माभिरपि दोषाणां सर्वेषां परमात्मीयशक्तिभूतयोश्चिदचितोरेवाङ्गीकारात्स्वरूपे परिणामानङ्गीकारात्। "यत्रोभयोः समो दोषः परिहारो ऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे" यच्चोक्तमथ प्रभातदाश्रययोरिवाचिद्ब्रह्मणोर्ब्रह्मत्वजातियोगमात्रं विवक्षितम्। एवं तर्ह्यश्वत्वगोत्ववद्ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोश्चानुवर्त्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिस्मृतिव्यवहाराविरोध इति, तत्स्ववाग्विलासमात्रं, भ्रान्तिकल्पितं वा, एतत्सूत्रस्य तत्परत्वाभावात्। अचिद्ब्रह्मणोः प्रकाशाश्रयदृष्टान्तासम्भवात्। अचेतनस्य प्रभादृष्टान्तत्वं भवतामेवानुभूतं, नान्येषाम्। किञ्च ब्रह्मत्वजातेः केनाप्यङ्गीकाराभावात् "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवे"ति श्रुत्या ब्रह्मण एकत्वावधारणादेकत्वस्य च जातिबाधकत्वात्। यदप्युक्तं तस्माद् "अंशो नाने"त्यारभ्य; ब्रह्मणो-निर्दोषत्वं च रक्षितमित्यन्तं, तदप्यसम्यक्। व्यावर्त्याभावेन चिदचितोर्विशेषणत्वस्य पूर्वमेवान्यग्रन्थेष्वपि विस्तरशो निरस्तत्वात्। यत्पुनरुक्तं विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपस्वभावभेदेन च भेदव्यवहारो मुख्य इति, तदपि दुराग्रहमात्रम्, भेदाभेदव्यवहारस्यैव मुख्यत्वेन भेदाभेदयोश्च स्वाभाविकतया ऽभ्युपगम्य, भूयो विशिष्टत्वाङ्गीकारस्य गौरवमात्रत्वात्। लाघवाद्भेदाभेदस्यैव वक्तुं सुशक्यत्वाच्च। यच्चाप्युक्तं प्रकाशजातिगुणशरीराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मनः प्रत्यपृथक्सिद्धलक्षणविशेषणविशेष्यतया यथांशत्वं, तथेह जीवस्या-

चिद्वस्तुनश्च ब्रह्मप्रत्यंशत्वमिति, तदप्ययुक्तं, प्रकाशमण्यादि-दृष्टान्तेषु विशेषणविशेष्यभावे सत्यपि अंशांशित्वव्यवहारादर्श-नात्। नच शरीरशरीरिणोर्विशेषणविशेष्यत्वाङ्गीकारे चिदचि-तोरपि ब्रह्मशरीरत्वप्रतिपादनात्तद्वैशिष्ट्यं किमिति नाङ्गीक्रियते, इति वाच्यं, शरीरशरीरिभावे विशेषणविशेष्यभाव इति नियमाभावाच्चिदचितोर्ब्रह्मशरीरत्वे ऽपि विशेषणत्वासम्भवात्। किन्तु व्यावर्त्तकत्वं विशेषणत्वं यत्र व्यावर्त्त्ये सत्येव शरीर-शरीरिभावस्तत्रैव शरीरस्य विशेषणत्वं, नान्यत्रेति नियमात्। प्रकृते तदभावान्न विशेषणत्वमिति सिद्धम्। ननु शक्ति-शक्तिमतोरप्यंशांशिभावाप्रसिद्धेः सिद्धान्ते कथमंशांशिभावाङ्गी-कार इति चेन्न, "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्"-ति शक्तित्वमभिधाय पुनः "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति तस्यैवांशत्वोक्तेः। तत्रापि चेतनशक्तेरेवांशत्वोक्ति-र्नाचेतनस्यानभिधानादिति निश्चीयते। एतेन जीववत्पृथक्स्थित्य-नर्हविशेषणत्वेनाचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वमित्युक्तं निरस्तम्। किञ्च चिद-चितोर्ब्रह्मविशेषणत्वस्य श्रुतिस्मृतिसूत्रेषु क्वाप्यश्रवणादपि सर्वथा विशेषणत्वासिद्धिरेवेति संक्षेपः। तस्माद्ब्रह्मणश्चेतनाचेतनयो-श्चाहिकुण्डलदृष्टान्तेन प्रकाशाश्रयदृष्टान्तेन च स्वाभाविक-भेदाभेद एव सम्बन्धः शास्त्रप्रतिपाद्य इति सिद्धम्। "एकः सन् बहुधा विचचार एको देवो बहुधा, सन्निविष्टः त्वमेको ऽसि बहुधा बहून् प्रविष्टः" इत्याद्याः श्रुतयः। "एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता। अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वेदितुम-र्हती"ति भगवान्मनुः। "एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्" ति भगवद्वाक्यं, हरिवंशे घण्टाकर्णः "केचिद्ब्रह्मत्वेन वदन्ति

देवमेकात्मना केचिदिमं पुरातनम् । वेदान्तसंख्याभिरलस्त्वयुक्तं द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताः स्म ॥ अनेकमेकं बहुधा वदन्ति श्रुतिस्मृतिन्यायनिविष्टचित्ताः । आहुर्यमात्मानमजं पुराणं द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताः स्मे"त्याद्याः स्मृतयश्च प्रमाणत्वेनानुसन्धेया । अलं विस्तरेण ॥ ३० ॥ इति प्रकृतैतावदधिकरणम् ॥ ६ ॥

# सू० परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३।२।३१ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पूर्वपक्षयति । अतः प्रकृताद्ब्रह्मणः परमपि किञ्चित्तत्त्वमस्ति "अथ य आत्मा सेतुरि" ति सम्बन्धव्यपदेशात् । "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयमि"ति भेदव्यपदेशाच्च ॥ ३१ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र सर्वकारणं सर्वशक्ति सर्वदा सर्वदोषास्पृष्टं नित्यानन्तकल्याणगुणगणमन्दिरमियत्तानवच्छिन्नं सर्वभिन्नाभिन्नं ब्रह्मेत्युक्तमि-

दानीं तदियत्तानवच्छिन्नत्वपोषकं तन्निरतिशयत्वं प्रतिपाद्यते । तत्र ब्रह्म सातिशयम् ? उत निरतिशयमिति ? संशये पूर्वपक्षमाह —

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।

अतो ब्रह्मणः सर्वशक्तिनो जगत्कारणात्परमपि किंचित्तत्वमस्ति । तस्मात्सातिशयं ब्रह्म । कुतः ? सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः । तथाहि । "अथ य आत्मा स सेतुरि" ति परस्य ब्रह्मणः सेतुत्वव्यपदेशात् । अनेन व्यपदेशेन सेतुस्थानीयाद्ब्रह्मणः द्वीपान्तरस्थदुर्लभवस्तुस्थानीयं परं गम्यं वस्त्वस्तीति गम्यते । किञ्च "एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवती "ति वाक्येनापि ब्रह्मणस्तरितव्यत्वमात्रं सेतोरिव निश्चीयते । प्राप्यं त्वन्यदेवेति गम्यते "चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलमि "त्युन्मानव्यपदेशाच्च । परब्रह्मणः एतावदिदमित्युन्मितत्वव्यपदेशात् । अनेन व्यपदेशेन सेतुना प्राप्यस्यानुन्मितस्यास्तित्वं द्योत्यते । "अमृतस्यैष सेतुरि"ति

सम्बन्धव्यपदेशाच्च ब्रह्मणः परमस्तीति गम्यते। "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयमि"ति च भेदव्यपदेशात् । पुरुषशब्दवाच्याद्ब्रह्मणः यदुत्तरतरमिति तत्वान्तरस्य निरूपणादित्यर्थः । एभ्यो हेतुभ्यः परस्माद्ब्रह्मणोऽपि परं तत्त्वमस्ततीति निश्चीयते इति पूर्वः पक्षः ॥ ३१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।

"यतो वा इमानी"त्यादिना जगज्जन्मादिकारणतया निर्दिष्टात्सत्यज्ञानानन्दात्मकान्निर्धारितयाथातथ्यात्परब्रह्मणः परमप्यन्यत्तत्वमस्ति ? न वेति ? संशये तावदस्तीति पूर्वपक्षयति, कुतः ? "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरि"ति सेतुत्वश्रवणात्सेतोश्च प्राप्यान्तरप्रापकत्वदर्शनेन ब्रह्मणोऽपि प्राप्यान्तरप्रापकतैव प्रतीयते, न तु स्वयं प्राप्यता। किञ्च "एतं सेतुं तीर्त्वे"ति तरितव्यत्वाभिधानेनैतस्य प्राप्यत्वाभावाविष्करणात्, उन्मानव्यपदेशाच्च। "चतुष्पाद्ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्मे"त्युन्मितं परिच्छिन्नमुच्यते, उन्मानव्यपदेशेन च सेतुप्राप्यस्यानुन्मितस्यास्तित्वं द्योत्यते। किञ्च "अमृतस्य परं सेतुम्, अमृतस्यैष सेतुरि"त्यमृतस्य वस्त्वन्तरस्य प्राप्यप्रापकलक्षणः सम्बन्धः प्रतीयते । किञ्च "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमि"ति प्रतिपादितपुरुषादपि "ततो यदुत्तरतरं

तद्रूपमनामयमि"त्याधिकस्य निर्देशात्परस्मादपि ब्रह्मणः परमन्यदुपदिश्यते । अत एभ्यो हेतुभ्यः परस्मादपि ब्रह्मणोऽन्यत्परमभ्युपगन्तव्यम् ॥ ३१ ॥

## सू०सामान्यात्तु ३।२।३२।

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सिद्धान्तमाह । तुशब्दः पक्षनिषेधार्थः । जगत्कारणात्सर्वेश्वरात्परं न किञ्चिदस्ति, सेतुव्यपदेशस्तद्विधारणसारूप्यात् ॥ ३२ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

सिद्धान्तमाह —

सामान्यात्तु ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः । परमत इति नैव शक्यते वक्तुम् । कुतः ? एतेभ्यो हेतुभ्यः । सेतुत्वव्यपदेशस्तावत् सामान्यात् लोकप्रसिद्धसेतुसादृश्यात् । लोके यथा 'सेतुर्जलस्य व्यवस्थापकः, परमात्माऽपि तथा जगन्मर्यादाव्यवस्थापकतया सेतुर्भवतीत्यर्थः । "एषां लोकानामसम्भेदाये" ति वाक्यशेषात् । "एतं सेतुं तीर्त्वे"

ति तरतिस्त्वत्र वेदान्तं तरतीति वत् प्राप्ति-
वचनः ॥३२॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

इति प्राप्त उच्यते —

सामान्यात्तु।

तुशब्दः पूर्वपक्षं निरुणद्धि। न ब्रह्मणोऽन्यत्परमस्ति। सेतुव्यपदेशस्तावत् "एषां लोकानामसम्भेदाये" ति वाक्यशेषश्रुतासङ्करकारित्वलक्षणधर्मसामान्यनिबन्धनः। "एतं सेतुं तीर्त्वे"त्यत्र तरतिश्च प्राप्तिवचनो, व्याकरणं तरतीति वत् नोल्लङ्घनवचनः ॥ ३२ ॥

## सू० बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥३।२।३३।

वेदान्तपारिजातसौरभः।

उन्मानव्यपदेश उपासनार्थः "मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मं तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक् पाद" इत्यादिपादव्यपदेशात् ॥ ३३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

बुद्ध्यर्थः पादवत्।

उन्मानव्यपदेशोऽपि बुद्ध्यर्थः। बुद्धिरूपा-

सना, तदर्थः । पादवत् मन आदिपादव्यपदेशवत् । तथा हि यथा "मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्याध्यात्मं तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक् पादः प्राणपादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद" इत्यत्र ब्रह्मप्रतीकभूतमनसो वागादिपादव्यपदेशः । यथा चाकाशस्याग्न्यादिपादव्यपदेशश्चोपासनार्थः, न तु परिमाणविशेषद्योतनार्थः । तथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यादावपरिमितत्वेन निश्चितस्य जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽपि "चतुष्पाद्ब्रह्मे" ति व्यपदेशो बुद्ध्यर्थ एव, न तून्मितत्वद्योतक इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यदुक्तमुन्मानव्यपदेशादस्य परिमितत्वं प्रतीयते तत्राह —

बुद्ध्यर्थः पादवत् ।

बुद्धिरुपासना, तदर्थ उन्मानोपदेशः । यथा "मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मं तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म, वाक्पादप्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद "इत्यध्यात्ममित्यत्र ब्रह्मप्रतीकभूतमनआदौ वागादिपादत्वव्यपदेश उपासनार्थो, नतु तात्त्विकः । मनसो वागादिपादत्वासम्भवात् । एवमपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः "प्राचीदिक्कला प्रतीचीदिक्कला दक्षिणादिक्कला उदीचीदिक्कला एष वै

सौम्य ! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशमान्नामे"त्युक्तदिगादि-
लक्षणचतुष्कलपादसम्बन्धासम्भवादुपासनार्थ एव ॥ ३३ ॥

## सू० स्थानविशेषात्प्रकाशा-दिवत् ।३।२।३४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अपरिमितस्य परिमितत्वेन चिन्तनं स्थानविशेषात् प्रकाशादिवदुपपद्यते ॥ ३४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

नन्वपरिच्छिन्नस्योपासनार्थमपि परिमितत्वं कथं सम्भवतीत्यत्राह —

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ।

स्वयमपरिमितस्यापि ब्रह्मणः स्थानविशेषात्परिमितत्वसम्भावना सम्भवति खलु, प्रकाशादिवत् । "यथा प्रकाशाकाशादे*रपरिमितस्यापि परिमितत्वं वातायनघटादिस्थानयोगात्प्रतीयते ॥ ३४ ॥

---

* प्रकाशाकाशादेरपरिमितत्वमित्यपि पाठो भाति ।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु स्वयमनुन्मितस्य कथमुपासनार्थतयाऽप्युन्मानप्रतीतिस्तत्राह —

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ।

यथा प्रकाशाकाशादेरपरिच्छिन्नस्यापि वातायनघटाद्युपाधिवशेन परिच्छिन्नत्वानुसन्धानमेवमिहाप्यभिव्यक्तस्थानभूतप्राणाद्युपाधिवशेनोन्मितत्वानुसन्धानमुपपद्यते ॥ ३४ ॥

## सू० उपपत्तेः ।३।२।३५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स्वस्य स्वप्रापकतया सम्बन्धव्यपदेशोपपत्तेश्च तत्त्वान्तराभावः ॥ ३५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

यत्तु "अमृतस्यैष सेतुरि"ति प्राप्यप्रापकसम्बन्धव्यपदेशात्परमतोऽस्तीत्युक्तं तत्राह —

उपपत्तेश्च ।

परमपुरुषः प्राप्यभूतस्वात्मप्रापकः । इत्थं प्राप्यप्रापकव्यपदेशोपपत्तेश्च परमतोऽस्तीति नोपपद्यते । "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया

न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वामि"ति श्रुतेः । "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यासि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियो ऽसि मे" इति श्रीपुरुषोत्तमवचनाच्च ॥ ३५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यदुक्तम् " अमृतस्य परं सेतुमि "ति प्राप्यप्रापकसम्बन्धव्यपदेशेनामृताद्भेदोऽवगम्यते इति तत्राह —

उपपत्तेश्च ।

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति स्वप्राप्तेः स्वयमेव साधनतया जोघुष्यमाणे ब्रह्मणि स्वेनैव प्राप्यप्रापकत्वलक्षणसम्बन्धव्यपदेशस्यापि नानुपपत्तिः ॥ ३५ ॥

# सू० तथान्यप्रतिषेधात् ३।२।३६॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तथा "ततो यदुत्तरतरामि" ति भेदव्यपदेशाद्ब्रह्मेतरं तत्त्वमस्तीत्यपि न वाच्यं, "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिदि "ति प्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

यच्चोक्तं "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं ततो यदुत्तरतरं तद्रूपनामयामि"ति भेदव्यपदेशात्परमतोऽस्ती"ति तत्राह —

तथाऽन्यप्रतिषेधात्

यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यः ब्रह्मणोऽसमानातिशयत्वं तथाऽन्ययोः समानाधिकयोः प्रतिषेधादपि तस्यासमानातिशयत्वसिद्धिः । "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिदि"त्यादिश्रुतेः परमुत्कृष्टमपरं सममित्यर्थः । "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जये"त्यादिस्मृतेश्च प्रकृतपुरुषपरत्वात्प्रकरणस्य ततो यदुत्तरतरमित्यनेन तत्त्वान्तरं न प्रतिपाद्यते । किन्तु "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिद्वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमि"ति ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्यासमानातिशयत्वं सर्वगत्वमस्ति, ततो हेतोर्यत्पुरुषाख्यं ब्रह्म तदुत्तरतरमित्युच्यते ॥ ३६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यदुक्तं ततो यदुत्तरतरमित्यधिकं वस्तु प्रतिपाद्यते इति तत्राह —

तथा ऽन्यप्रतिषेधात् ।

"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिदि"ति तत्रैव तदतिरिक्तोत्कृष्टवस्तुनो निषेधेन तद्विरुद्धतया ततो यदुत्तरतरमिति वाक्ये तदधिकवस्तूपक्षेपासम्भवात् । एतच्च एतन्मन्त्रव्याख्याने श्वेताश्वतरप्रकाशिकायां स्पष्टीकृतमस्माभिः ॥ ३६ ॥

## सू० अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३।२।३७ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अनेन परब्रह्मणः सर्वगतत्वं दृढीकृतम् । "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं ब्रह्मैवेदं सर्वमि"त्यादिशब्देभ्यः ॥ ३७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।

अनेन समानातिशयशून्यत्ववाद्यधिकरणेन प्रकृतस्य ब्रह्मणः सर्वगतत्वं दृढीकृतमस्ति

सति समाने ऽधिके च सर्वगतत्वाभावः प्रसज्येत । तत्र प्रमाणमाह—आयामशब्दादिभ्यः । आयामशब्दोऽत्र सर्वगतत्ववाचकः । "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयते ऽपि वा अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्ममि"त्यादिः । आदिना सर्वगतत्वपोषकभूतसर्वकारणत्वसर्वात्मत्ववाचकाः शब्दाः गृह्यन्ते । "स कारणं कारणाधिपाधिपः, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं सर्वं खल्विदं ब्रह्म ब्रह्मैवेदं सर्वं आत्मैवेदं सर्वमि"त्यादयः । अतः समानातिशयशून्यं जगत्कारणं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

इति पराधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणान्यप्रतिषेधरूपेणान्तरोक्तन्यायेन ब्रह्मणः सर्वगतत्वं सर्वस्मिन् जगति व्याप्तत्वं सिद्धं भवति । तच्चास्य "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः । नित्यं

विभुं सर्वगतमि"त्याद्यायामशब्देभ्यो व्याप्तिवचनशब्देभ्यो विज्ञायते । आदिशब्देन "ब्रह्मैवेदं सर्वं सर्वं खल्विदं ब्रह्म आत्मैवेदं सर्वमि"त्यादयो गृह्यन्ते । अतो न ब्रह्मणो ऽन्यत्प्राप्यमस्तीति ॥३७॥

इति पराधिकरणम् ॥ ७ ॥

# सू० फलमत उपपत्तेः ३।२।३८॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अतो ब्रह्मण एव तदधिकारिणां तदनुरूपं फलं भवत्यस्यैव तद्दातृत्वोपपत्तेः ॥ ३८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवमपहतपाप्मत्वनित्यानन्तकल्याणगुणाकरत्वसाम्यातिशयशून्यत्वादयो गुणा भजनीयस्य ब्रह्मण उक्ताः । इदानीं फलदातृत्वं गुणविशेषं परस्य ब्रह्मण आह —

फलमत उपपत्तेः ।

तत्तदधिकारिणां तत्तदनुरूपं फलं भोगलक्षणं मोक्षलक्षणं च अतः परस्मादेव भवितुमर्हति । कुतः ? उपपत्तेः । श्रीपुरुषोत्तमस्यैव

सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सर्वनियन्तुः फलदातृत्वोपपत्तेः ॥ ३८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

फलमत उपपत्तेः ।

सर्वेषां जीवानां भोगापवर्गरूपं फलं किं कर्त्तव्यतया श्रूयमाणं कर्मैवापूर्वद्वारेण ददाति ? आहोस्वित्तत्तदाराधितः परमात्मैव ? इति विषये ऽग्रे पूर्वपक्षं निराकरिष्यन्प्रथमं सिद्धान्तमाह—फलमत इति । शास्त्रीयमैहिकामुष्मिकं सर्वं फलमतः परमात्मनः एव भवितुमर्हति । कुतः ? उपपत्तेः । कर्मणां हि क्षणिकत्वात्कालान्तरभाविफलं दातुमसमर्थत्वात्सर्वाध्यक्षात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेर्मद्वारात्तत्तत्कर्मभिराराधितात्परमात्मन एवैहिकामुष्मिकभोगजातस्य स्वात्मभावापत्तिरूपमोक्षस्य चोपपन्नत्वात् । नचापूर्वमेव कर्मजन्यं कालान्तरे फलं दातुं समर्थमिति वाच्यम्, तस्याप्यचेतनस्य काष्ठलोष्ठसमस्य चेतनाप्रवर्त्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । स्वातन्त्र्येण फलदातृत्वे प्रमाणाभावाच्च । नचार्थापत्तेः प्रामाण्यमिति वाच्यम्, ईश्वरसिद्धेस्तस्याः क्षयात् ॥ ३८ ॥

सू० श्रुतत्वाच्च ।३ ।२ ३९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"स वा एष महानज आत्मा ऽन्नादो-

वसुदान एष ह्येवानन्दयती"ति तत्फलदातृत्वस्य श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

श्रुतत्वाच्च।

"स वा एष महानज आत्माऽन्नादो-वसुदानः एष ह्येवानन्दयती"ति परमात्मफल-दातृत्वस्य श्रुतत्वाच्च अस्मादेव फलं भवितु-मर्हति ॥ ३९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

श्रुतत्वाच्च।

इतश्च "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदान" इति परमात्मन्येव भोगापवर्गरूपफलप्रदातृत्वश्रवणात् ॥ ३९ ॥

## सू० धर्मं जैमिनिरत एव ॥

३ । ३ । ४० ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

धर्मं फलहेतुं जैमिनिर्मन्यते, कृष्यादिवत्त-स्यैव तद्धेतुत्वोपपत्तेः । "यजेत स्वर्गकामः"

इति तद्धेतुत्वश्रवणाच्च ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

धर्मं जैमिनिरत एव ।

सिद्धान्ते उपपत्तेः श्रुतत्वाच्च परस्मात्फलं भवतीत्युक्तमत एव हेतुद्वयादेव कृष्यादिवत् कर्मण एव फलहेतुत्वोपपत्तेः । "यजेत स्वर्गकाम" इत्यादिविधिविषयस्य यागादेः कर्मणः फलहेतुत्वस्य श्रुतत्वाच्च जैमिनिराचार्य्यैः कर्मापरपर्य्यायं धर्ममेवापूर्वाख्यव्यापारद्वारा फलहेतुं मन्यते । यागस्योत्तरावस्थाविशेषो ऽपूर्वाख्यो व्यापार इत्युच्यते ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पक्षान्तरमुच्यते —

धर्मं जैमिनिरत एव ।

जैमिनिराचार्यो धर्मं कर्मफलप्रदं मन्यते । कुतः ? अत एव श्रुतेरुपपत्तेश्च । लोके हि कृष्यादेर्मर्दनादेश्च कर्मण एव साक्षात्परम्परया वा फलप्रदत्वदर्शनात् । तथा वेदे ऽपि "यजेत स्वर्गकाम आत्मानमेव लोकमुपासीत" इत्यादिना बुभुक्षुमुमुक्ष्वोः कर्त्तव्यतया श्रूयमाणं कर्मैव तत्तत्फलसाधनरूपतया ऽवगम्यते ।

क्षणिकमप्यपूर्वद्वारेण सर्वफलप्रदमितरथा कर्मोपदेशो निरर्थकः स्यात् ॥ ४० ॥

## सू० पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥३।२।४१॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

तुशब्दः पक्षनिरासार्थः। फलदं पूर्वोक्तं परमात्मानं वेदाचार्य्यो मन्यते। "पुण्येन पुण्यं लोकं नयती"ति "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति च परस्य तद्धेतुत्वव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

---

वेदान्तकौस्तुभः।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्।

तुशब्देन जैमिनिपक्षस्य बालभाषितत्वं

द्योत्यते । न हि कृष्यादिकर्मस्वातन्त्र्येण काल-त्रये ऽपि कर्षकाय फलं प्रयच्छति, किन्तु पर-मेश्वर एव तत्फलं ददाति । तद्वद्वैदिकं कर्मापि स्वपरस्वरूपानभिज्ञं जगच्चक्रार्दितपरतन्त्रपुरुष-कर्तृकं नैव स्वातन्त्र्येण फलं दातुं शक्नोति । "यजेत स्वर्गकाम" इत्यादावपि न केनाप्यंशेन-कर्मणः स्वातन्त्र्येण फलदत्वं प्रतीयते । अपि तु स्वर्गमुद्दिश्यधात्वर्थवशादेवताराधनल-क्षणे कर्मणि पुरुषः प्रवर्त्यते । भोगापवर्ग-रूपफलदं तु पूर्वं पूर्वोक्तं सर्वात्मानं सर्वज्ञं परमात्मानं बादरायणो मन्यते । कुतः ? हेतु-व्यपदेशात् । परमात्मन एव कर्मकारयितृ-त्वेन तत्फलदत्वेन च हेतुत्वस्य व्यपदेशात् । "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो-लोकेभ्य उन्निनीषते पुण्येन पुण्यं लोकं नयति यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इत्यादिश्रुति-कदम्बेन, "लभते च ततः कामान्मयैव विहिता-न्हितान् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामु-पयान्ति ते" इत्यादिस्मृतिपूगेन च । तस्मात्फल-

मत इति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

इति फलाधिकरणम् ॥ ८ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादः ॥ २ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । पूर्वं पूर्वोक्तं परमात्मानमेव फलहेतुं भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः ? हेतुव्यपदेशात् । ईश्वरस्यैव पुण्यापुण्यकारयितृत्वेन फलदातृत्वेन च हेतुत्वं व्यपदिश्यते । "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्, एष ह्येव साधु कर्म कारयती"त्यादिना । न च यज्ञादिकर्मणो देवतार्चनत्वात्तदर्चिता देवा एव फलं ददती"ति कथमीश्वर एव फलद इति वाच्यं, देवादीनां स्वतन्त्रतया फलदत्वाभावात्तदन्तर्यामीश्वर एव फलप्रदः । "यो वायौ तिष्ठन् यो ऽग्नौ तिष्ठन् य आदित्ये तिष्ठन्नि"त्यादिश्रुतेः । "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धया ऽऽर्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् । स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः

कामान्मयैव विहितान्हितान्। अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव चे''त्यादिस्मरणाच्च प्रभुफलप्रद इत्यर्थः॥ ४१॥

इति पराधिकरणम्॥ ८॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-
श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयि श्री६श्री-
केशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभ-
प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्याय-
द्वितीयपादविवरणम्॥ २॥

---

शान्तिकान्तिगुणमन्दिरं हरिं स्थेमसृष्टिलयमोक्षकारणम्॥
व्यापिनं परं सत्यमशिनं नौमि नन्दगृहचन्द्रिनं प्रभुम्॥ १॥

श्रीमते निम्बार्काय नमः ।

अथ

## तृतीयाऽध्याये तृतीयपादारम्भः ।

# सू० सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोद-नाद्यविशेषात् ।३।३।१ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अनेकत्र प्रोक्तमुपासनमेकचोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं खलु परमात्मभावापत्तिसाधनभूते तदुपासने मुमुक्षुं प्रवर्त्तयितुं परमात्मगुणा उक्ताः । अथेदानीं ज्ञानस्य परमात्मभावापत्तिसाधनत्वेऽपि मन्त्रो गुर्वादिश्च सुज्ञातोऽपि यथोपासित एव फलदो भवति, तथा सुज्ञातो ऽपि परमात्मोपासित एव फलदो भवतीत्येवं भूतस्य परस्य ब्रह्मण उपासनास्तासु गुणोपसंहारविकल्प-

निर्णयाय विद्याभेदाभेदविचारश्च प्रारभ्यते —

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।

उद्गीथविद्याशाण्डिल्यविद्यापुरुषविद्यादहर-विद्यावैश्वानरविद्याद्याः एकैका अनेकशा-खासु पठितास्तासु चेतरेतरगुणानामुपसंहारं कृत्वोपासनीयमिति स्फुटीभविष्यत्यग्रे । सूत्रा-क्षरयोजना तु एकाविद्या ऽनेकेषु वेदान्तेषु श्रूयते, सा भिद्यते ? उत एकैवानेकत्र श्रूयते ? इति संशये अविशेषेण पुनः पुनः श्रूयमाण-त्वात्प्रकरणवशाच्च भिद्यते । अत एव खलु "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिव-द्यैस्तु चीर्णमि" ति शिरोव्रतेनामाथर्वणिकानां विद्योपदेशनियमोपपत्तिः । इतरथा विद्याङ्गस्य शिरोव्रतस्यान्यशाखिनामपि प्राप्तत्वादाथर्वणि-कानामेवेति नियमानुपपत्तिरिति पूर्वपक्षे ऽभि-धीयते—सर्ववेदान्तप्रत्ययमिति । सर्वैरनेकैर्वेदान्तैः प्रत्ययं प्रतीयमानमुपासनमेकमेव ज्ञेयम् । कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् । तत्र चोदना विद्या-दुपासीते"त्येवं रूपो विधिः । आदिशब्देन यथा

खल्वनेकशाखास्वग्निहोत्रं जुहोती"ति चोदना-व्यविशेषान्नित्याग्निहोत्रमेकमित्येवं पूर्वतन्त्रे कर्माभेदहेतुत्वेन "एकं वा संयोगरूपचोदनाख्य-विशेषादि"ति शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोक्ताः संयोगरूपसमाख्याः गृह्यन्ते । तेषां चोदनासंयो-गरूपसमाख्यानामविशेषादित्यर्थः यथा वैश्वा-नरविद्या छान्दोग्ये वाजसनेयके च श्रूयते, तत्र "वैश्वानरमुपास्ते" इति चोदनारूपसमाख्यानां ब्रह्मप्राप्तिरूपसंयोगस्य चाविशेषाद्विद्यैक्यम् । तत्रा-सेर्धातोः प्रयोगाच्चोदनाऽविशिष्टाकर्मत्वेन निर्दिष्टं वैश्वानरात्मकं रूपमविशिष्टम् । समाख्या च वैश्वानरविद्येत्यविशिष्टेति विवेकः ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।

तदेवं जन्ममरणादिदुःखनिलयत्वरूपप्रपञ्चदोषोक्त्या ब्रह्मणो-हेयसम्बन्धरहितत्वकल्याणगुणसागरत्वनिरूपणेन तस्यैव सर्व-फलदायित्वनिरूपणेन च तत्तृष्णैव तदितरवितृष्णापूर्विका तत्प्राप्तिकारणमिति पादद्वयेन दर्शितमिदानीं ब्रह्मोपासनासु तासु गुणोपसंहारविकल्पनिर्णयाय विद्याभेदाभेदविचारश्च प्रार-भ्यते । ताश्च त्रिविधाः, प्रतीकरूपाङ्गाश्रितरूपाहंग्रहरूपभेदात् ।

तत्र प्रतीकत्वं नाम तदितरस्मिंस्तद्दृष्टिमत्त्वम्। यथा "पुरुषो वाव गौतमाग्निरि"त्यत्राग्निभिन्ने पुरुषादौ ह्यग्निदृष्टिरिति। एवमादि-प्रतीकोपासनोदाहरणं बोध्यम्। अङ्गाश्रिताः कर्माङ्गेषूद्गीथादिष्वा-श्रिताः। अहङ्ग्रहत्वं नाम तत्तदुपदेशानुकूले ब्रह्मणि तादात्म्य-सम्बन्धानुसन्धानम्। यथा सत्यविद्यादयः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी"त्यादिश्रुतेः। ताश्चोद्गीथविद्याशा-ण्डिल्यविद्यापुरुषविद्यादहरविद्यादय एकैका अनेकशाखासु पठि-तास्तासु चेतरेतरं गुणानामुपसंहारं कृत्वोपासनीयम्। तत्र गुणो-पसंहारो नाम एकस्यामनेकशाखासु पठितायां विद्यायां तत्र तत्र पठितानां गुणानां न्यूनाधिकानामितरेतरं निष्कृष्य संयो-जनम्। यथा वाजसनेयके ऽग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्या श्रूयते "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुष" इत्यारभ्य "आत्मा-नमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पमाकाशात्मा-नमि"ति तथा बृहदारण्यके ऽपि शाण्डिल्यविद्या श्रूयते "मनो-मयः पुरुषो भाः सत्यं तस्मिन्यदन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो-वा स एष सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्व-मिदं प्रशास्ती"ति उभयत्र वेद्याभेदाद्विद्यैक्यं निश्चित्य सत्यसङ्कल्पत्वादीनां सर्ववशित्वादीनां चोभयत्रेतरेतरोप-संहरणमेवमन्यत्रापि बोध्यम्। किं चानन्दादीनामपहतपाप्म-त्वादीनामस्थूलत्वादीनां च सर्वास्वपि विद्यासूपसंहारः, सर्वे-ष्वोभयविधस्य ब्रह्मणो वेद्यस्याभेदादिति स्पष्टयिष्यते ऽग्रे। तत्र तावत्सर्ववेदान्तेषु दहरादिविद्या श्रूयते, सा किमेका ? उत विद्या-भेदः ? इति संशये अविशेषेण पुनः श्रवणस्य प्रकरणान्तरस्य च विद्याभेदकत्वाद्विद्यान्तरमिति। अत एव शिरोव्रतिनामाथ-र्वणिकानां विद्योपदेशनियमोपपत्तिः। अन्यथा विद्याङ्गस्य शिरो-

ब्रतस्यान्यशाखिनामपि प्राप्तत्वादाथर्वणिकानामेवेति नियमानु-
पपत्तिरिति प्राप्ते ऽभिधीयते–सर्ववेदान्तप्रत्ययमिति । सर्वैर्वेदान्तैः
प्रतीयते इति सर्ववेदान्तप्रत्ययं, सर्ववेदान्तविहितमेकमुपासनम् ।
कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् । विद्यादुपासीतेत्येवं रूपो धात्वर्थ-
विशेषो विधिश्चोदना । आदिना पूर्वतन्त्रे शाखान्तराधिकरण-
सिद्धान्त*सूत्रोक्ताः संयोग×रूपाख्या इहाकृष्यन्ते । चोदनादी-
नामविशेषात्प्रतिपत्तृभेदेन पुनः श्रवणोपपत्तेस्तत एव प्रकरणा-
न्तरत्वाभावाच्च सैवेयं विद्येति शाखान्तरे ऽपि विद्यैक्यं प्रत्य-
भिज्ञायते ॥ १ ॥

## सू० भेदान्नेति चेदेकस्यामपि

३ । ३ । २ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्यायां पुनः श्रुत्या वेद्यभेदान्न विद्यैक्य-
मिति चेत् क्वचित्प्रतिपत्तृभेदात् क्वचित्प्रकरण-
शुद्ध्यर्थमेवास्यामपि विद्यायां पुनरुक्त्याद्युप-
पत्तेः ॥ २ ॥

---

* "एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादि"ति सूत्रोक्ताः ।
× संयोगः फलसंयोगः ।

वेदान्तकौस्तुभः ।

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ।

नन्वविशेषेण पुनरुक्त्या प्रकरणान्तराच्च वेद्यभेदान्न विद्यैक्यं सम्भवतीति चेत् (तत्रोच्यते) एकस्यामपि विद्यायां प्रयोजनवशात्पुनरुक्तिः प्रकरणान्तरं च सङ्गच्छते । यस्याः शाखाया अन्येऽध्येतारस्तेषां प्रतिपत्त्यर्थं सैव विद्या पुनरविशेषेण श्राव्यते । कस्मिंश्चिदंशे विशेषे सति गुणोपसंहारन्याय आश्रणीयः । एकस्यां शाखायां तु प्रतिपत्तुरभेदे प्रतिप्रकरणं विद्याभेदो वाक्यानां परस्परं निराकाङ्क्षत्वात् ॥२॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ।

अविशेषेण पुनरुक्तेः प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदप्रतीतेर्न विद्यैक्यमिति चेत्तत्रोच्यते- स्यादेकस्यामपि विद्यायां प्रतिपत्तृभेदात्पुनरुक्तिः । प्रकरणान्तरं च, यस्याः शाखाया अन्येऽध्येतारस्तेषां प्रतिपत्त्यर्थं सैव विद्या पुनः श्राव्यते । एकस्यां तु शाखायां प्रतिपत्तुरभेदे प्रतिप्रकरणं विद्याभेदो वाक्यानां परस्परं निराकांक्षत्वात् । यथा शाण्डिल्यविद्योपकोशलविद्यासद्विद्याभूमविद्यादहरविद्येति ॥ २ ॥

## सू० स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३।३।३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यच्चाथर्वणे "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णमि"ति शिरोव्रतं तदपि विद्याभेदकं न, यतः स्वाध्यायाध्ययनाङ्गतया शिरोव्रतं विधीयते । तस्याध्ययनाङ्गत्वे सति आथर्वणिकेतराग्राह्यतया तन्नियमोऽस्ति । यतः समाचाराख्ये ग्रन्थे ऽपि वेदव्रतत्वेन शिरोव्रतमामनन्ति "नैतदचीर्णव्रतो अधीते" इति वचनाच्च सौर्य्यादिहोमवच्च तन्नियमः सङ्गत एव ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ।

"तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं

विधिवद्यैस्तु चीर्णमि"त्याथर्वणे कर्त्तव्यत्वेनोप-दिष्टस्य शिरस्यङ्गारपात्रधारणरूपस्य व्रतस्य विद्योपदेशाङ्गत्वे सति विद्याभेदकत्वं प्रसज्येत । तत्तु विद्याङ्गत्वाभावात् नास्ति । हिहेतौ । यतः स्वाध्यायस्यैव शिरोव्रताख्यो धर्मो ऽङ्गं, न तदुक्तविद्यायाः । तथात्वे शिरोव्रतस्य स्वाध्या-याध्ययनद्वारा तदङ्गत्वे तन्नियमः व्रतोपदेश-नियमः, आथर्वणिकेन शिरोव्रताख्यो धर्मो-ऽनुष्ठेयो, नेतरेणेति । एतत्कुतः अवगम्यते ? समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे आथर्वणिकाः शिरोव्रतस्य वेदव्रतत्वेनामनन्ति, तस्मादवगम्यते इत्यर्थः । अधिकाराच्च । "नैतदचीर्णव्रतो ऽधीत"-इत्येतच्छब्दात्, अधिकृतमुण्डकग्रन्थजातपरात्, अधीते इत्यध्ययनशब्दाच्च । तस्य शिरोव्रता-ख्यस्य धर्मस्य वेदाध्ययने नियमः इत्यत्र दृष्टान्तमाह— सववच्चेति । यथा खलु सवा सप्तहोमाः सौर्य्यादयः शतौदनान्ताः शाखान्तरोक्तत्रेताग्निसम्बन्धाभावादथर्वणोक्तैका-ग्निसम्बन्धाच्चैकाग्निभिराथर्वणिकैरेवानुष्ठीयन्ते । तथा शिरोव्रताख्यो ऽध्ययनाङ्गभूतो धर्मस्तेषा-

मेव, (नान्येषाम्)। "ब्रह्मविद्यां वदेते" त्यत्र ब्रह्मशब्दस्तु शब्दब्रह्मवाचकः ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यद्प्याथर्वणे शिरोव्रतं "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णमि" ति तदपि न विद्याभेदक-मित्याह —

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारे ऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ।

शिरोव्रतस्य विद्योपदेशाङ्गत्वनियमदर्शनं विद्याभेदं द्योतय-तीति, नैतदस्ति । तस्य विद्याङ्गत्वाभावात् । अपि तु स्वाध्यायस्य वेदस्य हि यतस्तथात्वे ऽध्ययनाङ्गत्वे तन्नियमशिरोव्रतोपदेश-नियमः, निमित्ते सप्तमी तदङ्गतया शिरोव्रतं विधीयते, न विद्याङ्गतयेत्यर्थः। कुत एतदवगम्यते? "नैतदचीर्णव्रतो ऽधीयते" ति तस्याध्ययनसम्बन्धात्समाचारे ऽधिकाराच्च समा*चाराख्ये ग्रन्थे इदमपि+ वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति हि प×ठ्यते, तत्र ब्रह्म-विद्यां वेदविद्यामित्यर्थः । सववच्चेति । यथाहि "सवा होमाः सप्तसौर्य्यादयः शतौदनपर्यन्ता आथर्वणिकानामेवैकाग्नौ हूयन्ते, नान्येषाम् । तथाध्ययनधर्मस्तेषामेव ॥ ३ ॥

सू० दर्शयति च ॥ ३।३।४ ॥

---

* वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे । + शिरोव्रतमपि ।

× आथर्वणिकैः ।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"ति श्रुतिर्दर्शयति च विद्यैक्यम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

दर्शयति च ।

विद्यैक्यं श्रुतिर्दर्शयति । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"ति "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति स्मृतिश्च ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

दर्शयति च ।

दर्शयति च श्रुतिरुपासनस्य सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं, "सर्वे वेदा यपदमामनन्ती"ति । तथा च छान्दोग्ये "तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमि"त्युक्त्वा "किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यमि"ति प्रश्नपूर्वकमपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टस्य परमात्मान उपासनमुक्तम् ॥ ४ ॥

सू० उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ३।३।५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्यैक्ये सति गुणोपसंहारः कर्त्तव्यः, प्रयोजनाभेदात् । अग्निहोत्रादिविधिशेषवत् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इत्थं निर्णीते विद्यैकत्वे तत्प्रयोजनमाह —

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ।

समाने चोपासने सति उपसंहारः गुणोपसंहारः कर्त्तव्यः । एकस्मिन्वेदान्ते दृष्टा गुणा अपरस्मिनपि योजनीया इत्यर्थः । अर्थाभेदात्प्रयोजनैक्यात्, विधिशेषवत् । यथाग्निहोत्रादिविधिशेषस्य खलु सर्वत्रोपसंहारस्तद्वत् । तस्माच्चोदनाद्यविशेषाद्विद्यैक्यं, तत्र गुणोपसंहारश्चेति सिद्धम् ॥ ५ ॥

इति सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तैत्तिरीयके तु केवलं " तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यमिं " त्येवोक्तम् । नतुभयत्र गुणोपसंहारादेव विद्यैक्यं सम्भवति, तदेवं विद्यासु गुणोपसंहारादिचिन्तार्थं शाखान्तराधिकरणोक्तन्यायस्तत्फलं विद्यैक्यं स्थिरीकृतं तत्प्रयोजनमाह—

उपसंहारो ऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ।

चशब्दो ऽवधारणे । सर्ववेदान्तेषु दहराद्युपासने समाने सति एकस्यां शाखायामुक्तस्य गुणास्याप्यन्यत्राप्युपसंहारः कर्त्तव्यः । कुतः ? विधिशेषवदर्थाभेदात् । अर्थः प्रयोजनं, यथा प्रयोजनाभेदादग्निहोत्रादिविधिशेषस्य सर्वत्रोपसंहारस्तद्वदिहापि ॥ ५ ॥ इति सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

# सू० अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ३ । ३ । ६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाये" ति "तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायती" ति वाजसनेयके श्रूयते "अथ ह य एवायं मुख्यप्राणस्तमुपासां चक्रिरे" इति छान्दोग्ये च श्रूयते । किमत्र विद्यैक्यमुत तद्भेदः ? इति संशये विद्यैक्यमिति । ननु प्राणस्य वाजसनेयके "त्वं न उद्गाये" ति कर्त्तृकत्वं, छान्दोग्ये च " तमुद्गीथमि" ति कर्मत्वमधीयते, अतो विद्यानानात्वमिति

चेन्न, उपक्रमे ऽविशेषात् । "उद्गीथेनात्ययाम उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्याम" उद्गीथस्यै-वोपास्यत्वप्रतीतेः । तस्मादुभयत्र विद्यैक्यमिति प्राप्तम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्रानेकत्र पठिताया अपि विद्याया अभेद-श्चोदनाद्यविशेषादुक्तस्तत्र गुणोपसंहारश्च दर्शितः इदानीं कतिपयविद्याभेदविवक्षुः पूर्वपक्षयति —

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।

"प्राजापत्या देवाश्चासुराश्चे"त्युपक्रम्य "ते ह वा देवा ऊचुः हन्तासुरान् यज्ञे उद्गीथे-नात्ययामे"ति देवप्रतिज्ञामभिधाय वागादिद्वारा कृतप्रयत्नानामप्यसुरविध्वंसलक्षणकार्याभावमुक्त्वा "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाये"ति तथेति "तेभ्य एष प्राण उदगायदि"त्यादिनोद्गी-थविद्यया ऽसुरपराभवमात्मना परस्य द्विष-न्भ्रातृव्यो भवति । य एवं वेदेत्युद्गीथविद्या-फलं च वाजसनेयिनः समामनन्ति । "तद्ध

देवा उद्गीथमाजन्हुरनेनैनानभिभविष्याम" इत्यु-पक्रम्य पूर्ववदेवं कृतयत्नानामपि कार्य्याभावं दर्शयित्वा "अथ हं य एवायं प्राणस्तमुद्गीथमुपासां चक्रिरे" इत्यादिनोद्गीथविद्यया परिभवं "एवमेव स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते" इति विद्याफलं च छन्दोगा अप्यामनन्ति । किमत्र विद्यैक्यम् ? उत विद्याभेदः ? इति संशये उच्यते— विद्यैक्य-मस्त्विति । कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् । तथाहि चोदना तावद्विदिधात्वर्थगताऽविशिष्टा, फल-संयोगोऽपि शत्रुपराभवरूपोऽविशिष्टः, रूपमपि प्राणदृष्ट्योद्गीथाख्योपास्यैक्यादविशिष्टम् । आख्या चोद्गीथविद्येत्यविशिष्टा । ननु चान्यथात्वं विद्यै-क्यात्स्वीकृतादन्यथात्वं तन्नानात्वमस्ति ? कस्मात् ? प्राणस्य "त्वं न उद्गाय एष प्राण-उद्गायदि"ति प्रथमान्तशब्देन वाजिभिरुद्गीथ-कर्त्तृत्वं छन्दोगैस्तु तमुद्गीथमिति द्वितीयान्त-शब्देनोद्गीथरूपकर्मत्वं निर्दिश्यते । एवं भूता-च्छब्दादिति चेन्न, कुतः ? "अथ विशेषतः "उद्गीथेनात्ययाम उद्गीथमाजन्हुरनेनैनानभिह-

निष्याम" इत्युद्गीथस्यैवोपास्यत्वप्रतीतेः । न खलु विभक्तिकृताद्विशेषाद्विद्याभेदो वक्तुं शक्यः, बहुतरस्यांशस्याविशिष्टत्वात् । "त्वं न उद्गाय- एष प्राण उद्गायदि"ति कर्मण्येवोद्गीथे कर्तृत्व- मुपचर्यते इति ॥ ६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

### अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।

"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाये"ति "तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायदि"ति वाजसनेयिनः समामनन्ति । छन्दोगाः "पुनरथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासां चक्रिरे" इति । तत्र संशयः, किमत्र विद्यैक्यम् ? उत विद्याभेदः ? इति तत्र तावत् प्राप्तं विद्यैक्यमिति । कुतः ? उभयत्रोद्गीथस्यैव प्राणदृष्ट्योपास्यत्वश्रवणेन चोदनाद्यविशेषात् । तथाहि चोदना तावद्विदिधात्वर्थगता ऽविशिष्टा, फलसंयोगो ऽपि शत्रुपरि- भवरूपो ऽविशिष्टः, रूपमपि प्राणदृष्ट्योद्गीथाख्योपास्यैक्याद- विशिष्टम् । आख्या चोद्गीथविद्येत्यविशिष्टा पूर्वपक्षी सिद्धान्त- च्छायया परिचोद्य परिहरति । ननु चान्यथात्वं नानात्वं विद्यायाः । कुतः ? शब्दात् । "त्वं न उद्गाये"ति कर्तृत्वं प्राणस्य वाजिभिर्निर्दिश्यते । अन्यत्र कर्मत्वं तमुद्गीथमिति, एवं चैकत्र कर्तरि प्राणदृष्टिशब्दादन्यत्र कर्मणि प्राणदृष्टिशब्दाच्च रूप- भेदः । रूपभेदे च विधेयभेदस्तत्र सति केवलचोदनाद्यविशेषो- ऽकिञ्चित्कर इति विद्याभेद इति चेत्तन्न, न रूपभेद इत्यर्थः ।

कुतः? अविशेषात् । उपक्रमे हि "अविशेषेण उद्गीथेनात्ययाम उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्याम "इति उद्गीथस्यैवोपास्यत्वप्रतीतेः । "त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष उदगायदि"ति कर्मण्येवोद्गीथे कर्त्तृत्वमुपचर्यते इति युक्तमन्यथोपक्रमविरोधः स्यादतो-विद्यैक्यम् ॥ ६ ॥

## सू० न वा प्रकरणभेदात्परो-वरीयस्त्वादिवत् ॥ ३।३।७॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्रोच्यते, न विद्यैक्यम्, "ओमित्येतदक्षर-मुद्गीथमुपासीते"त्युद्गीथे प्रणवमुपास्यं प्रक्रम्यो-द्गीथमाजह्रुरिति वचनात् तदवयवभूतः प्रणवः प्राणदृष्टेर्विषयः छान्दोग्ये विहितः । वाजसने-यके तु" अविशेषेण उद्गीथेनात्ययाम" इत्युपक्र-मात्कृत्स्नोद्गीथः प्राणदृष्टेर्विषयः । इत्थं प्रक्र-मभेदाद्विद्याभेद एव सिद्ध्यति । यथोद्गीथाव-यवे प्रणवे परमात्मदृष्टिविधानाविशेषे ऽपि हिरण्यमयपुरुषदृष्टिविधानात्परोवरीयस्त्वादिगुण-विशिष्टविधानमन्यत् ॥ ७ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।"

परिहरति—

न वा प्रकरणभेदात्परो वरीयस्त्वादिवत्।

न वेति पक्षस्य व्यावृत्तिः । नोद्गीथविद्याया एकत्वम् । कुतः ? प्रकरणभेदात् । प्रकरणशब्दोऽत्रोपक्रमवाचकः । उपक्रमभेदात् । तथाहि छान्दोग्ये । " ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्युद्गातृकर्मभूतोद्गीथावयवं प्रणवमुपास्यं प्रक्रम्योद्गीथमाजह्रुरिति वचनादुद्गीथावयवभूतः प्रणवः प्राणदृष्टेर्विषय उक्तः । वाजसनेयके तु "अविशेषेणोद्गीथेनात्ययाम " इत्युपक्रमात्कृत्स्नोद्गीथः प्राणदृष्टेर्विषयः । अतः प्रक्रमभेदाद्विधेयभेदः, विधेयभेदे च रूपभेदस्तस्माच्चानयोर्विद्ययोर्भेदः । परो वरीयस्त्वादिवत् । यथैकस्यामपि शाखायामुद्गीथावयवभूते प्रणवे परमात्मदृष्टिविधानसाम्येऽपि हिरण्मयपुरुषदृष्टिविधानात्परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टविधानमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥

———

वेदान्तकौस्तुभः ।

इति प्राप्ते आह —

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।

न वेति पक्षव्यावृत्त्यर्थः । न वै तदस्ति, यद्रूपैक्याद्विद्यैक्यमिति । कुतः ? प्रकरणभेदात् प्रक्रमभेदादित्यर्थः । तथाहि छान्दोग्ये तावद् "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्युद्गीथावयवं प्रणवमुपास्यं प्रक्रम्य "उद्गीथमाजह्रुरि"ति वचनादुद्गीथावयवभूतः प्रणवः प्राणदृष्टेर्विषयः उक्तः । वाजसनेयके तु "अविशेषेणोद्गीथेनात्ययाम"-इत्युपक्रमात्कृत्स्नोद्गीथः प्राणदृष्टेर्विषयः । अतः प्रक्रमभेदाद्विधेयभेदः । विधेयभेदे च रूपभेदस्तस्माच्च विद्याभेद इति । नच वाक्यच्छायासमाननामात्रेणैकविद्यात्वं, यथा निर्देशसाम्येऽप्यभ्युदयेष्टिपशुकामेष्ट्योर्भेदः प्रक्रमभेदात् । तथा प्रकृतेऽपि निर्देशसाम्यं न विद्यैक्यप्रयोजकमिति परोवरीयस्त्वादिवत्, परस्मात्परोवराच्च वरीयानुद्गीथस्तस्य भावस्तत्त्वं, तदादि वत् । यथैकस्यामपि शाखायामुद्गीथावयवभूते प्रणवे परमात्मदृष्टिविधानसाम्येऽपि हिरण्मयपुरुषदृष्टिविधानात्परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टविधानमर्थान्तरमिति रूपभेदः, तद्वदत्रापि ॥ ७ ॥

## सू॰ संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ३।३।८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

संज्ञातो विद्यैक्यमिति चेत्तस्याः दुर्बलत्वं "न वा प्रकरणभेदादि"त्यनेनोक्तं, संज्ञैकत्वं तु विधेयभेदेऽप्यस्ति । यथाग्निहोत्रसंज्ञा नित्या ऽग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे च ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।

ननु संज्ञातः उद्गीथविद्येति संज्ञैक्यादुद्गीथे विद्यैक्यमिति चेत्तत्रोत्तरं " न वा प्रकरणभेदादि "त्यनेनोक्तम् । प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सिद्धे संज्ञाया न विद्यैक्यसम्पादकत्वमित्यर्थः । किञ्च तदपि संज्ञैकत्वमपि विधेययोर्भिन्नयोरप्यस्ति । यथाग्निहोत्रसंज्ञा नित्याग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे च, यथा च द्वादशाहे गवामयने च प्रथममहः प्रापणीयम् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।

उद्गीथविद्येति संज्ञैकत्वात्तद्विद्यैक्यमिति चेदुक्तं, तदपि "न

वा प्रकरणभेदादि"त्यनेन प्रकरणभेदात्संज्ञाया दुर्बलत्वात्। अपि चैतत्संज्ञैकत्वं विधेयभेदे ऽप्यस्त्येव। यथा ऽग्निहोत्रसंज्ञा नित्याऽग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे च, यथा च छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठकोदितासु वल्लीषु विद्यासूद्गीथविद्येति संज्ञैक्यम्॥८॥

# सू० व्याप्तेश्च समञ्जसम्॥

३।३।९॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

छान्दोग्ये सर्वासूद्गीथविद्यासु प्रथमं प्रस्तुतस्य प्रणवस्योपास्यत्वेन व्याप्तेः "उद्गीथमाजह्रुरि"ति मध्यगतस्योद्गीथशब्दस्यापि प्रणवविषयत्वं समञ्जसम्। छान्दोग्ये उद्गीथावयवः प्रणवः, वाजसनेयके कृत्स्नोद्गीथः प्राणदृष्ट्योपास्य इति विद्याभेदः॥९॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

व्याप्तेश्च समञ्जसम्।

छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके नानोद्गीथविद्या उक्तास्तासु "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"-त्युद्गीथावयवत्वेनोपास्यतयोपक्रान्तस्य प्रणवस्य

व्याप्तेश्च, व्यापित्वाच्च। "तद्ध देवा उद्गीथमाजन्हुरि"त्युद्गीथशब्दस्य मध्यगतस्यापि प्रणवविषयत्वं समञ्जसम्। अवयत्रे ऽपि पटैकदेशे दग्धे पटो दग्ध इत्यादाववयविशब्दप्रवृत्तिर्दृश्यते। एवं साति छान्दोग्ये उद्गीथशब्दव्यपादिष्ट उद्गीथावयवभूतः प्रणव एव प्राणदृष्टयोपास्यः। वाजसनेयके तूद्गीथशब्देनोद्गातृकर्मभूतः कृत्स्नोद्गीथः ग्राह्यः। स एव प्राणदृष्ट्योपास्य इत्यर्थः। तस्माच्छान्दोग्योक्तोद्गीथविद्या ऽन्या, वाजसनेयकोक्तोद्गीथविद्या ऽन्येति सिद्धम् ॥ ९ ॥

इत्यन्यथात्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।

छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके उपास्यत्वेन प्रथमं प्रस्तुतस्योद्गीथावयवस्य प्रणवस्योत्तरास्वप्युद्गीथविद्यासूपास्यत्वेन व्याप्तेश्च मध्यगतस्य "तद्ध देवा उद्गीथमाजन्हुरि" त्युद्गीथशब्दस्यापि प्रणवविषयत्वं समञ्जसम् । अवयवे हि समुदायशब्दो ग्रामो दग्धः, पटो दग्धः, इत्यादौ दृश्यते। एवं च छान्दोग्ये उद्गीथशब्दनिर्दिष्ट उद्गीथावयवभूतः प्रणव एवोपास्यत्वेन प्रतिपत्तव्यः । वाजसनेयके तूद्गीथशब्दः कृत्स्नोदीथविषय इति कृत्स्नोद्गीथप्राणदृष्ट्योपास्य इति सिद्धो विद्याभेदः ॥ ९ ॥

इत्यन्यथात्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

# सू० सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥

३ । ३ । १० ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

छांदोग्ये वाजसनेयके च प्राणवादे ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणोपेतः प्राण उपास्यतया वागादयो वसिष्ठत्वादिगुणका उक्ताः । ते गुणाः प्राणे समर्पिताः । कौषीतकीप्राणसंवादे तु वागादीनां गुणा उक्ताः, नतु प्राणे समर्पिताः । तत्रोच्यते । अन्यत्र कौषीतकीप्राणवादेऽपि प्राणसम्बन्धित्वेन ते उपादेयाः ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यनिमित्तस्य वागादीनां प्राणसंवादेः सर्वत्रैक्यात् ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

उद्गीथशब्दस्यैकत्र कृत्स्नपरत्वेऽपींतरत्र स्वार्थैकदेशपरत्वेन कृत्स्नस्याभावादुद्गीथोपासना भिद्यते, तथा क्वचिद्वसिष्ठत्वादिगुणान्वितत्वात्क्वचिच्च तत्प्राणो-

प्सनाऽपि भिद्यते, इति शङ्कामिदानीं गुणोपसंहारबलेन निराकरोति —

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।

प्राणसम्वादे छन्दोगा वाजसनेयिनश्च जैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणान्वितमुपास्यतया प्राणं " यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च स्वानां भवति, प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चे "त्यादिना प्रतिपादयन्ति । वागादीनां च वसिष्ठत्वादीन् गुणान्प्रतिपादयन्ति । " एता ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदिरे " इत्यादिना " अहं श्रेयसे विवदमाना " इत्यादिना च वागादीनां देहस्य च प्राणाधीनस्थितिमत्त्वे प्राणाधीनकार्य्यकरत्वेन च प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुपादयन्ति । "अथ हैनं वागुवाच यद्वाऽहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसी " त्यादिना वागादीनां गुणान् वसिष्ठत्वादीन् ज्येष्ठश्रेष्ठे प्राणे प्रत्यर्पयन्ति । एवं खलु वागाद्युपकारतया ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यवसिष्ठत्वादिगुणान्वितं

प्राणं ते उपास्यमामनन्ति । कौषीतक्यादिशाखा-
गतप्राणसम्वादेषु तु प्राणस्य श्रैष्ठ्यं प्रति-
पादितं, वागादिसम्बन्धिनो गुणास्तु प्राणे न
प्रत्यर्पिताः । गुणास्तु वाक्चक्षुःश्रोत्रमनसां
वसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसम्पत्त्यायतनत्वाख्याः ।
"यो ह वै वसिष्ठं वेद वाग्वाव वसिष्ठा
यो ह वै प्रतिष्ठां वेद चक्षुर्वै प्रतिष्ठ यो ह वै
सम्पद्वेद श्रोत्रं सम्पत् यो ह वा आयतनं
वेद आयतनं स्वानां भवति मनो ह वा
आयतनमि" त्यादिवाक्यादवगन्तव्यः । तत्र
कौषीतकिप्राणविद्यायां प्राणे एते गुणा उप-
संहर्त्तव्याः ? उत नेति ? संशये प्राणसम्बन्धित्वेना-
श्रुतत्वादनुपसंहार इति पूर्वपक्षः, तत्राभिधी-
यते छान्दोग्याद्यन्यत्र कौषीतकिप्राणविद्यायामपी-
मे वागादिसम्बन्धिनो वसिष्ठत्वादयो गुणा प्राण-
सम्बन्धित्वेनोपादेयाः। कुतः ? सर्वाभेदात् उपा-
स्यभूतप्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यनिमित्तस्य सर्वत्रै-
क्यात् । यथा छान्दोग्यादिप्राणविद्यायां प्राण-
ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यसम्पादनाय वागादीनां देहस्य च
प्राणाधीनत्वं वासिष्ठत्वादिगुणानां प्राणसंम्बन्धित्वं

चोक्तं, तथा कौषीतकिप्राणविद्यायामपि उपास्यभूतप्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यसम्पादनायैव वागादिषु वसिष्ठत्वादये गुणा उक्ताः । "अथ हेमा देवताः प्रजापतिं पितरमेत्याब्रुवन् को वै नः श्रेष्ठ" इति "सहोवाच प्रजापतिर्यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठ" इति "साहवागुच्चक्रामादि" त्यादिना वागादीनां तद्गतगुणानां देहस्य च प्राणायत्तत्वं प्रतिपादितं, तत्र वागादिभिः स्वगुणाः वासिष्ठत्वादयः प्राणे न प्रत्यर्पितास्तस्मात्ते प्राणे उपसंहर्तव्य इति सिद्धम् ॥ १० ॥

इति सर्वाभेदाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।

छन्दोगानां वाजसनेयिनां च प्राणसम्वादे "ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणान्वितं प्राणमुपास्यतया प्रतिपाद्य वागादीनामपि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणानुक्त्वा वागादीनां देहस्य च प्राणाधीनस्थिततया प्राणाधीनकार्यतया च प्राणस्य श्रेष्ठत्वमुक्त्वा वागादिगुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः । यद्वा "अहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसी" त्यादिना । एवं च तत्र ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणको वसिष्ठत्वादि-

गुणकश्च प्राण उपास्यतया प्रतिपाद्यते। कौषीतकिप्रभृतीनां तु प्राणसम्वादे वसिष्ठत्वादयो गुणा उक्ताः वागादीनां न पुनः प्राणे समर्पिताः । तत्र संशयः किं कौषीतकिप्राणविद्यायां प्राणे वसिष्ठत्वादयो गुणा उपसंहर्त्तव्या ? उत नेति ? किं प्राप्तं, तत्रानुपसंहारो ऽश्रुतत्वादिति प्राप्ते उच्यते-सर्वैति । अन्यत्र कौषीतकिप्राणविद्यायामपि इमे वसिष्ठत्वादयो गुणाः प्राणे उपादेयाः । कुतः ? सर्वाभेदात् । प्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्योपपादनं वागादीनां स्थितेस्तत्कार्यस्य च प्राणाधीनतयेत्येतत् सर्वत्राप्यविशिष्टमेव। अन्यथा वागादिगतवसिष्ठत्वादेरपि प्राणहेतुकत्वानुसन्धानमन्तरा प्राणस्य ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यानुसन्धानं नोपपद्यते। किञ्च कौषीतकिप्राणविद्यायामपि प्राणज्यैष्ठ्यादिप्रतिपादनायैव वागादिषु वसिष्ठत्वादय उक्ताः । "अथ हेमा देवताः प्रजापतिं पितरमेत्याब्रूवन् को वै नः श्रेष्ठ" इति "सहोवाच प्रजापतिर्यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठ" इत्यादिना वागादयस्तद्गतगुणाश्च देहश्च प्राणाधीना इति ज्यैष्ठ्यं श्रेष्ठ्यं च प्राणस्योपपादितम् । यतो वागादिवसिष्ठत्वादिहेतुत्वरूपेणैव प्राणे वसिष्ठत्वादिगुणयोगित्वमित्यतः प्राणे ऽपि ते उपसंहर्तव्या एवेति ॥ १० ॥

## सू० आनन्दादयः प्रधानस्य ॥

३।३।११॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्वत्र गुणिनो ऽभेदानन्दादयो गुणाः पर-

विद्यासूपसंहर्तव्याः ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं ब्रह्मस्वरूपगुणानामुपसंहारश्चिन्त्यते —

आनन्दादयः प्रधानस्य

अभेदादिति वर्त्तते। आनदान्दीनां ब्रह्मगुणानां सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहारो ऽस्ति? न वेति? संशये प्रतिवेदान्तं वाक्यानां निराकाङ्क्षत्वादप्रकरणपाठितानामुपसंहारे नियामकाभावाच्च । यत्र ये पठितास्तत्प्रकरणाद्धि ध्यातॄणां तादृक् ब्रह्मज्ञानादेव प्रयोजनसिद्धेश्चेति प्राप्ते--ऽभिधीयते, प्रधानस्य गुणिनो ब्रह्मणः सर्वासु ब्रह्मविद्यास्वैक्यात्तद्गुणा आनन्दादयः सर्वत्रोपसंहर्त्तव्याः। एकान्ततो वाक्यानां निराकाङ्क्षत्वस्यासम्भवादप्रकरणपठितानामपि प्रकरणान्तराद्ध्यात्रुपकारायोपसंहारो न्याय्यः॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आनन्दादयः प्रधानस्य ।

आनन्दत्वसर्वज्ञत्वसर्वात्मत्वज्ञानानन्तत्वरूपा ब्रह्मस्वरूपगुणा-

ब्रह्मस्वरूपपरासु श्रुतिषु श्रूयन्ते । तत्र संशयः, किं तेषां सर्वासु ब्रह्मोपासनासूपसंहारो ऽस्ति ? उत नेति ? तत्र प्रकरणपठितानामेवोपसंहारदर्शनादप्रकरणपठितानामुपसंहारे प्रमाणाभावात् । किञ्च तेषामसङ्ख्येयत्वेनोपसंहाराशक्तेश्च नोपसंहर्तव्या इति प्राप्ते आह—आनन्दादय इति । सर्वाभेदादित्यनुवर्त्तते । प्रधानस्य ब्रह्मणः सर्वत्राभेदात् गुण्यव्यतिरेकाद्गुणानां सर्वत्रानन्दादयस्तद्गुणा उपसंहर्तव्याः । यत्र प्रधानं तत्रैव तैर्भवितव्यतामिति भावः ॥ ११ ॥

# सू० प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥

३।३।१२॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

परस्वरूपगुणप्राप्तौ प्रियशिरस्त्वदीनां प्राप्तिस्तु नेष्यते, शिर आद्यवयवभेदे सति ब्रह्मण्युपचयापचयप्रसङ्गात् ॥ १२ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः।

ननु तर्हि ब्रह्माऽभेदादानन्दादीनां स्वरूपगुणानामिव तैत्तिरीयकपठितानां "तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः

पक्ष आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्ये"षामपि सर्वत्र प्राप्तिः स्यादित्यत आह —

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे

प्रियशिरस्त्वादीनां ब्रह्मस्वरूपगुणपरिग्रहेऽप्यप्राप्तिस्तेषां ब्रह्मस्वरूपधर्मत्वाऽभावात्। इतरथा शिरःपक्षाद्यवयवभेदे सति ब्रह्मण उपचयापचयौ स्याताम्। एवं सति "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"त्यादि विरुध्येत ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वेवं गुण्यव्यतिरेकादेवानन्दादिवत् प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र प्रसज्येरन्। ते हि तैत्तिरीयके आनन्दमयप्रक्रमे श्रूयन्ते। "तस्य प्रियमेव शिरः मोदः दक्षिणः पक्षः प्रमोदः उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे"त्यत उत्तरमाह —

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे

आनन्दादिवत्प्रियशिरस्त्वादीनामप्राप्तिस्ते हि न ब्रह्मस्वरूपगुणाः, किन्तु ब्रह्मणः पुरुषविधत्वरूपणमात्रेऽन्तर्गताः। कुतः? यतो ब्रह्मणः शिरःपक्षपुच्छाद्यवयवभेदे सत्युपचयापचयौ स्याताम्। ततश्च "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अनन्तोऽजर" इत्यादिविरुध्येत ॥ १२ ॥

# सू० इतरे त्वर्थसामान्यात् ।३।३।१३।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आनन्दादयस्तु गुणा गुणिन सर्वत्रैक्यादुपसंह्रियन्ते ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इतरे त्वर्थसामान्यात्

प्रियशिरस्त्वाद्यपेक्षयेतरे तु आनन्दादयस्तु सर्वत्रानुवर्त्तन्ते, अर्थसामान्यात् । अर्थस्य प्रतिपाद्यस्य गुणिनो ब्रह्मणः सामान्यात्सर्वत्रैकत्वात् । सर्वत्र तत्पुरुषविधत्वनिरूपणाभावात्संयोजितास्तेऽनर्थकाः स्युः । ब्रह्मस्वरूपज्ञानार्थमानन्दादयो ब्रह्मस्वरूपसम्बन्धित्वेन सर्वत्रोपसंह्रियन्ते । आनन्दादीनां सर्वत्रोपसंहारे हेतुप्रदर्शनार्थमितरेषां, सर्वत्रोपसंहारे आनर्थक्यसूचनार्थं चेदं सूत्रम् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तेभ्य आनन्दादीनां विशेषमाह —

इतरे त्वर्थसामान्यात्

इतरेत्वानन्दादयः सर्वत्र स्युः । कुतः ? अर्थसामान्यात्, ब्रह्मस्वरूपसमानत्वात् । ब्रह्मस्वरूपवत्सर्वत्रोपसंहार्याः । आनन्दाद्यपहतपाप्मत्वाद्यस्थूलत्वादिसत्यज्ञानामलत्वानन्तत्वादयो हि ब्रह्मस्वरूपनिरूपणधर्मत्वेन ब्रह्मस्वरूपप्रतीत्यनुबन्धित्वात् ब्रह्मस्वरूपसमानाः । ये तु वात्सल्य कारुण्यौदार्यैश्वर्यगाम्भीर्यादयस्तेषां गुण्यव्यतिरेकत्वे ऽपि ब्रह्मस्वरूपप्रतीत्यनुबन्धित्वाभावात् यत्र श्रुतास्तत्रैवोपसंहर्तव्या इति प्रथमसूत्रे हेत्वप्रदर्शनादनेन प्रियशिरस्त्वादिवैषम्यार्थं हेतुकथनं प्रकृतमिति न पुनरुक्तता ॥ १३ ॥

## सू० आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ ३ । ३ । १४ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"तस्य प्रियमेव शिरः" इत्याद्यभिधानं तु अनुचिन्तनार्थमितरप्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

तर्हि प्रियशिरस्त्वाद्युपदेशवैयर्थ्यमित्यत्राह —

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।

"तस्य प्रियमेव शिरः" इत्यादिना ब्रह्मणः

पुरुषविधत्वनिरूपणोपदेशस्तु आध्यानाय सुखेनानुचिन्तनाय, प्रयोजनान्तराभावादिदमेव तदभिधानप्रयोजनमित्यर्थः ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्रियशिरस्त्वादीनां ब्रह्मस्वरूपनिरूपणधर्मत्वाभावान्न ते ब्रह्मगुणा भवन्ति चेत्तर्हि तदभिधाने प्रयोजनं वक्तव्यं तत्राह —

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।

आध्यानायानुचिन्तनार्थमुपासनार्थं तेषामभिधानं; कुतः ? प्रयोजनान्तराभावात् । अयमर्थः "ब्रह्मविदाप्नोति परमि" त्यत्र वेदितव्यतयोपदिष्टमेकं ब्रह्मानन्दमयं सुखप्रतिपत्तये प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिरःपक्षादिभावेन रूपयित्वा बुद्धावारोह्यते । यथा ह्यन्नमयः प्राणमयमनोमयविज्ञानमयाश्चास्य देहस्य शिरःपक्षादिरूपकेण प्राणाद्यवयवरूपकेण च बुद्धावारोह्यन्ते, तस्येदमेव शिर इत्यादिना, तस्य प्राण एव शिर इत्यादिभिश्च । तथैतेभ्यो ऽर्थान्तरभूततदन्तरात्माऽऽनन्दमयपुरुषस्यापि सम्यग्ध्यानाय प्रियमोदादिरूपकेण बुद्धावारोहणमित्यतः प्रियशिरस्त्वादीनामानन्दमयोपलक्षणार्थत्वान्न ते ब्रह्मस्वरूपप्रतीतावुपसंहार्या इति ॥ १४ ॥

सू० आत्मशब्दाच्च । ३।३।१४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अन्योऽन्तर आत्मे"त्यात्मनः शिरःपक्षाद्य-सम्भवात् तदनुध्यानाय तदभिधानम् ॥ १५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

### आत्मशब्दाच्च ।

आनन्दमयप्रक्रमे "तस्य प्रियमेव शिर" इत्यादेः आध्यानार्थं पुरुषविधत्वनिरूपणमात्रार्थ-परत्वमात्मशब्दाच्च निश्चीयते । तथाहि "अन्यो-ऽन्तर आत्मा आनन्दमय" इत्यात्मशब्दवाच्यस्य वस्तुनः प्रियमोदप्रमोदादिविलक्षणस्वरूपस्य प्रियादिरूपशिरःपक्षाद्यसम्भवादात्मन एव चिन्त-नाय प्रिय इत्यादिना पुरुषविधत्वमभिधीयते इत्यात्मशब्दादपि गम्यते ॥ १५ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

### आत्मशब्दात् ।

"अन्यो' ऽन्तर आत्मा 'ऽऽनन्दमय"इत्यात्मशब्देन निर्देशाच्च प्रियशिरस्त्वादयो न ब्रह्मस्वरूपधर्माः, आत्मनः पक्षिवत् शिरःपक्षपुच्छाद्यसम्भवादतस्तस्य सुखबोधाय रूपकतामात्रं तदिति गम्यते ॥ १५ ॥

# सू० आत्मगृहीतिरितरवदुत्त-रात् ॥ ३।३।१६॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अन्योऽन्तर आत्मे" त्येवात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणं, यथा "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्, तद्वत् "सोऽकामयत बहु स्यामि"त्यानन्दमयविषयादुत्तरवाक्यादपि तद्ग्रहणम् ॥ १६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "पूर्वमन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय"इत्यात्मशब्दस्यानात्मपरत्वावगमाद् "अन्यो ऽन्तर-आत्माऽऽनन्दमय "इत्यात्मशब्दस्यात्मपरत्वं न शक्यते वक्तुमित्यत आह —

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्

"अन्यो ऽन्तर आत्मे "त्यात्मशब्देन आत्म—गृहीतिः आत्मनः परमात्मन एव ग्रहणम्, इतरवत्। "अन्यो ऽन्तर आत्मा ऽऽनन्दमय" इति

वाक्यापेक्षया इतरत्र "आत्मा वा इदमेक एवाग्र-आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् स ऐक्षत लोकान्नु-सृजा स इमाँल्लोकानसृजते" त्यैतरेयकवाक्ये यथा आत्मशब्देन जगद्धेत्तोरात्मनो ग्रहणं, तद्वत्। "सो ऽकामयत बहु स्यामि"त्यानन्दमयात्म-विषयादुत्तरवाक्यादप्येतन्निश्चीयते ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।

"अन्यो ऽन्तर आत्मे"त्यात्मशब्देन परमात्मैव गृह्यते, इतरवत् । "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदि" त्यादिषु ऐतरेयकवाक्येषु यथात्मशब्दः परमात्मानमेव गृह्णाति, तद्वत् । कथमवगम्यते ? उत्तरात् तदैक्यार्थात् "सोऽकामयत बहु स्यामि" त्यानन्दमयात्मविषयादुत्तराद्वाक्यात् । ॥१६॥

## सू० अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्. ॥३।३।१७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पूर्वत्रानात्मनि प्राणदावात्मशब्दान्वयदर्श-

नाद् "आत्मा ऽऽनन्दमय" इत्यात्मशब्देन परमात्मनोऽपरिग्रह इति, चेत्स्यादेव तेन शब्देन तत्परिग्रहः, पूर्वत्रापि परमात्मबुद्ध्यैवानात्मनि प्राणादावात्मशब्दान्वयनिश्चयात् ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।

ननु पूर्वत्र "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय" इत्यादावात्मशब्दस्यानात्मन्यन्वयात् "अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय" इत्यत्राप्यात्मशब्देन परमात्मनोऽग्रहणमिति चेत्? परमात्मन आत्मशब्देन परिग्रहः स्यादेव । कुतः? अवधारणात् । पूर्वत्रापि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति प्रकृतं परमात्मनं बुद्धौ निधाय तत्स्वरूपगुणानिर्णयार्थं प्राणमयादौ परमात्मबुद्ध्यैवात्मशब्दान्वयस्यावधारितत्वात् । तस्मादानन्दादीनां गुणांनामेव गुणिस्वरूपनिरूपणस्य उपसंहारः, न प्रियशिरस्त्वादीनामतद्गुणानामिति सिद्धम् ॥ १७ ॥

इत्यानन्दाधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु पूर्वेषु "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय" इत्यादिवाक्योक्तप्राणमयाद्यनात्मस्वप्यात्मशब्दान्वयदर्शनान्नोत्तरवाक्यादपि परमात्मा निश्चेतुं शक्यते इत्याशङ्क्याह —

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।

पूर्वेष्वनात्मस्वप्यात्मशब्दान्वयान्नोत्तरवाक्यगतात्मशब्देन परमात्मनिर्णय इति चेत्स्यादेव निर्णयः । कुतः ? अवधारणात् । "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत" इति प्रकृतस्यात्मन एव प्राणमयादिष्वानन्दमयपर्यन्तेषु आत्मशब्देन निश्चितत्वात् ॥ १७ ॥ इत्यानन्दाधिकरणम् ॥ ४ ॥

# सू० कार्य्याख्यानादपूर्वम् ॥

३ । ३ । १८ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्यादिना ऽपां प्राणवासस्त्वध्यानमप्राप्तं विधीयते, स्मृत्याचारप्राप्तस्याचमनस्य तु तत्रानुवादमात्रत्वात् ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं पूर्वोक्तप्राणविद्याङ्गविशेषश्चिन्त्यते —

कार्याख्यानादपूर्वम् ।

वाजसनेयके किं मेऽन्नं किं मे वास ” इति प्राणो वागादीन्प्रपच्छ ते प्रत्यूचुः “यदिदं किञ्चाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यो ऽन्नं तत्तेऽन्नमापो वास ” इति तदन्तरञ्च “ तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्ति एतमेव तदन्नमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते तस्मादेवं विदाशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुत ” इति श्रूयते । तथैव छान्दोग्ये ऽपि “ स होवाच किं मेवासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः . परिदधाति लम्बुको ह वासो भवत्यनग्नो भवती ”ति तत्र संशयः, किं तत्राचमनं विधीयते ? अथवा ऽऽचमनमनूद्यापां प्राणवासस्त्वध्यानमिति ? तत्रैतमेव तदनमनग्नं कुरुतेत्यपां प्राणवासस्त्वध्याने विधिप्रत्ययाश्रवणात्, अशिष्यन्नाचामेदित्याचमने विधि-

प्रत्ययश्रवणाच्चाचमनं विधीयते। आचमनस्तुत्यर्थं चापां प्राणवासस्त्वं व्यपदिश्यत इति प्राप्ते–उच्यते अपूर्वप्राप्तमपां प्राणवासस्त्वध्यानमेव विधीयते। अत एवाद्भिः परिदधतीति छान्दोग्ये परिधानस्यैवोक्तिः। आश्वभ्य इत्यादिप्राणविद्याङ्गभूतश्वादिमर्यादान्न ध्यानसाहचर्य्याच्च वासस्त्वध्यानस्यैव विधेयत्वं गम्यते। नत्वाचमनं विधेयम्। कुतः? कार्याख्यानात्। कार्यस्य प्रत्यनुष्ठानमन्वहं कर्त्तव्यस्य स्मृत्याचारप्राप्तस्य प्राणविद्यायामपि प्राणपरिधानविधानार्थं कृतानुवादस्याख्यानात्, कथनात्। तस्मादाचमनमनूद्याचमनीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वध्यानं प्राणविद्याङ्गत्वेन विधीयते इति सिद्धम्॥ १८॥

इति कार्याख्यानाधिकरणम्॥ ५॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

कार्याख्यानादपूर्वम्।

छान्दोग्यवाजसनेयकयोर्ज्येष्ठंश्रेष्ठञ्च प्राणमुपास्यमुक्त्वा तस्यैवश्वादिमर्यादमन्नमाम्नायापोवासस्त्वेनाम्नायन्ते "सहोवाच किं मेवासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशि-

ष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्बुको ह वासो-भवत्यनग्नो भवती" ति छन्दोगाः । वाजसनेयिनस्तु "किं मेवास" इति प्राणेन चोदिता वागादय ऊचु"रापो वास" इति तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते तस्मादेवं विद् 'शिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदे तमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्यामनन्ति । तत्र संशयः, किमत्राचमनमपां प्राणवासस्त्वानुसन्धानं चोभयं विधीयते ? उताचमनं ? किं वाचमनमनूद्यापां प्राणवासस्त्वानुसन्धानमिति ? किं तावत्प्राप्तम्, उभयं विधीयते इति । कुतः ? उभयस्याप्यत्र श्रूयमाणत्वादपूर्वत्वाच्च विध्यर्हत्वम् । किं वाऽशिष्यन्नाचामेदशित्वाचाचामेदित्याचमने विधिश्रवणादेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्यपां प्राणवासस्त्वानुसन्धाने विधिविभक्त्यश्रवणादाचमनस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासङ्कीर्तनमिति भोजनाङ्गस्याचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तत्वेन विधिविभक्तिबलात्तदेव प्राणविद्याङ्गत्वेनोपदिश्यते इति पूर्वः पक्षः । राद्धान्तस्तु यदपूर्वमप्राप्तं स्मृतितस्तदाचमनीयास्वप्सु वासो दर्शनं विधीयते, नत्वाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते । कुतः ? कार्याख्यानात् । अहरहः कर्त्तव्याचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तस्य सङ्कीर्तनात् । शास्त्रस्य चाप्राप्ताख्यानस्वरूपत्वादाचमनमनूद्याचमनीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वानुसन्धानं विधीयते इत्यर्थः । नचैकार्थविधाने सम्भवति प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेत्यर्थद्वयविधानं कल्पयितुं युक्तमाचमनस्य क्रियान्तरत्वाङ्गीकारात् । आचमनं हि क्रियान्तरमेव पुरुषस्य प्राय* त्यार्थमङ्गीक्रियते आचमनीयास्वप्सु वासः

---

* प्रयतस्य प्रयतवतो भावः प्रायत्यं शुद्धिस्तदर्थमित्यर्थः ।

कल्पनमपि क्रियान्तरमेव प्राणस्य परिधानार्थमङ्गीक्रियत इति तदनमनग्नं कुरुत इति चोपसंहारात्प्राणविद्याप्रकरणार्थपरिधानविधानमेव युक्तम् । अत एव छान्दोग्ये ऽद्भिः परिदधतीति परिधानमेवोक्तम्, न त्वाचमनम् । अपि च "यदिदं किञ्चाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्ते ऽन्नमि"त्यत्र तावद्दृ×ष्टिविधानं, नहि समस्तप्राणिभक्षणमुपासकेन कर्तुं शक्यते, प्रतिषेधातिक्रमात्तत्साहचर्यादाचमने ऽपि द॰ष्टिविधानमिति ॥ १८ ॥

## सू०समान एवं चाभेदात् ॥

३ । ३ । १९ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वाजसनेयिशाखायां "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीते"त्यारभ्य "आत्मानमुपासीत मनोमयमि"त्यादि । अग्निरहस्ये "मनोमयोऽयं पुरुष"इत्यादि बृहदारण्यके च शाण्डिल्यविद्याऽऽम्नाता, सा

---

× सर्वं प्राणस्यान्नमित्यन्नदृष्टिविधानम् ।

॰ आपो वास इत्यत्रापि नापामाचमनं विधीयते प्रसिद्धात्स्वेवाचमनीयास्वप्सु परिधानदृष्टिर्विधीयते ।

च यथाऽनेकशाखासु वेद्यैक्याद्विद्यैक्यं, तथैकस्यामप्येकैव विद्यैक्याद्गुणोपसंहारः ॥ १६. ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं शाण्डिल्यदृष्टविद्याऽभेदमाह —

समान एवं चाभेदात् ।

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्या श्रुता "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीताथ खलु क्रतुमयो ऽयं पुरुषः स यावत् क्रतुरयमस्माँल्लोकात् प्रैति एवं क्रतुर्भूत्वा ऽमुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवति स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पमाकाशात्मानमि" ति तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके सा विद्या पुनः पठ्यते । "मनोमयं पुरुषो भाः सत्यं तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्चे"ति । तत्राग्निरहस्यबृहदारण्यकप्रोक्तयोर्विद्ययोर्भेदः ? किं वा ऽभेदः ? इति संशयः । तत्र विद्याभेदो ऽभ्यासात् । यथा पञ्च-

कृत्वोऽभ्यासात् प्रयाजभेदस्तद्वदिहापीति प्राप्ते उच्यते, यथा खलु भिन्नासु शाखासु विद्यैक्यं तन्निबन्धनो गुणोपसंहारश्चास्ति । एवं समाने शाखैकत्वे विद्यैक्यं, ततो गुणोपसंहारश्च भवति। कुतः ? अभेदात् । वेद्यस्य मनोमयत्वादिगुणोपेतस्योभयत्राभेदात् । ननु स्यादुभयत्र विद्यैक्यं, सर्वेशानत्वादिगुणोपसंहारश्च, मनोमयत्वादीनां पुनर्विधानं तु नोपपद्यते । अविदितानां गुणानामेकत्र विधाने सत्यन्यत्र तदुपसंहारेणैवेष्टसिद्धेरिति चेन्न, कतिपयविहितगुणसङ्कीर्त्तनात्प्रत्यभिज्ञानसिद्धेः । तस्मादुभयत्र विद्यैक्यमिति सिद्धम् ॥ १९ ॥ इति सामानाधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

समान एवं चाभेदात् ।

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्या श्रूयते, "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीते"त्यारभ्य "स आत्मानमुपासीत मनोमयमि"त्यादिः । तथा तत्रैव बृहदारण्यके पुनरपि सैव श्रूयते "मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यमि"त्यादिः तत्र सन्दिह्यते, किमत्र विद्याभेदः ? उताभेदः ? इति, किन्तावत्प्राप्तं, विद्याभेदोऽभ्यासात् । यथा पञ्चकृत्वोऽभ्यासात् प्रयाजभेद स्तथाऽत्रापीति प्राप्ते,

उच्यते, विद्याऽभेदः। कुतः ? समान इति। समाने शाखैकत्वे वेद्यस्याभेदात्। एवं च गुणोपसंहारः। यथा भिन्नशाखासु विद्यैक्यं गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि भवितुमर्हति वेद्याभेदात्। न च मनोमयादीनां पुनः श्रवणमनर्थकमविदितानामेव गुणानां विधानस्य युक्तत्वादिति वाच्यं, कतिपयविहितगुणसङ्कीर्तनस्य विद्याप्रत्यभिज्ञानसिद्ध्यर्थत्वात्॥ १९॥

इति समानाधिकरणम्॥ ६॥

## सू० सम्बन्धादेवमन्यत्रापि॥

३। ३। २०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

यथा शाण्डिल्यविद्यैकं तत्सम्बन्धाद्गुणोपसंहार एवं "सत्यं ब्रह्मे"त्युपक्रमादेकविद्यात्वसम्बन्धात् "तस्योपनिषदहमि"त्यधिदैवतं "तस्योपनिषदहमित्यध्यात्ममिति" श्रुत्युक्ते द्वे नामनी उपसंह्रियेते इति पूर्वः पक्षः॥ २०॥

वेदान्तकौस्तुभः।

इदानीं शाण्डिल्यविद्यायां यथा वेद्यैक्याद्गुणोपसंहारस्तथा सत्यब्रह्मणो व्याहृतिशरीर-

क्योपासनायामपि नाम्नोरुपसंहार इत्येकेन पूर्वपक्षं प्रदर्श्य समाधत्ते सूत्रद्वयेन —

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।

बृहदारण्यके "सत्यं ब्रह्मे"त्युपक्रम्य "तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष"-इत्यादि श्रूयते, तत्र सत्यस्य ब्रह्मणो भूरिति शिरः भुव इति बाहू स्वरिति प्रतिष्ठेति व्याहृतिशरीरत्वेनादित्यमण्डलेऽक्षिणि चोपास्यत्वमुक्त्वा द्वे उपनिषदौ रहस्यनामनी उपासनशेषतया श्रूयेते । तत्र तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतं तस्योपनिषदहमित्यध्यात्ममिति क्रमेणादित्याधारस्याक्ष्याधारस्य च सत्यब्रह्मणोऽहर्नामत्वमहंनामत्वं चोक्तम्, तत्र संशयः । किमुक्तनाम्नोर्यथास्थानं ध्यानं कर्त्तव्यमुतोपसंहारपूर्वकमुभयत्रेति ? यथा शाण्डिल्यविद्यायां विद्यैक्यसम्बन्धाद्गुणोपसंहार एवमन्यत्रापि आदित्यमण्डले ऽक्षिणि च विद्यैक्यसम्बन्धात्

उभे नामनी उभयत्रोपसंह्रियेते इति पूर्वपक्ष-सूत्रार्थः ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

×सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।

बृहदारण्यके इदमाम्नायते "सत्यं ब्रह्मे"त्युपक्रम्य "तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष" इत्यादि, तत्र सत्यब्रह्मणो व्याहृतिशरीरतयाऽऽदित्यमण्डलेऽक्षिणि चोपास्यत्वमुक्त्वा "द्वे उपनिषदौ रहस्य नामनी उपासनशेषतया दिश्येते, "तस्योपनिषदहरित्याधिदैवतं तस्योपनिषदहमित्यध्यात्ममि"ति तत्र सन्दिह्यते, ते किं यत्र श्रुते तत्रैव नियमेन व्यवस्थिते ? उतोभयत्रोभे अनियमेनेति ? तत्रोभयोः स्थानयोर्व्याहृतिशरीरस्य सत्यब्रह्मणः एकरूपस्यैवोपास्यतया रूपाभेदात्संयोगचोदनाद्यभेदाच्च विद्यैक्यमित्यनियते नामनी इति पूर्वपक्षयति—सम्बन्धादेवमिति । यथा शाण्डिल्यविद्यायां मनोमयत्वादिगुणविशिष्टस्यैवोपास्यत्वेनोभयत्र रूपाभेदाद्विद्यैक्यमेवमन्यात्रापि मण्डलेऽक्षिणि चैकस्यैव सत्यब्रह्मणः स्थानद्वयसम्बन्धान्न रूपभेद इति विद्यैक्यात् । "द्वे नामनी अनि*यते" इति प्राप्ते ॥ २० ॥

सू० न वा विशेषात् ॥ ३।३।२१ ॥

---

× पूर्वपक्षेऽदः सूत्रम् ।

* उभयत्रोपसंह्रियेते ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सिद्धान्तस्तु स्थानभेदादुपसंहारो नोपपद्यते इति ॥ २१ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

समाधानमाह —

न वा विशेषात् ।

नहि नामनी उपसंह्रीयेते । कुतः ? विशेषात् स्थानभेदात् । यथा चार्यस्यासीनस्योक्तो धर्मो गच्छतो न भवत्येवमेव सत्यब्रह्मण एकस्यैव तत्तत्स्थानसम्बन्धित्वेन रूपभेदाद्विद्याभेदे अनुपसंहारः । तथाहि सत्यस्यैकत्रादित्यस्थानसम्बन्धितयोपास्यत्वं तत्र तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतमिति नामयुक्तम्, नैवंविधस्य नाम्नः अक्षिस्थाने उपसंहारसम्भवो ऽन्यत्राक्षिस्थानसम्बन्धितयोपास्यत्वं, तत्र तु तस्योपनिषदहमित्यध्यात्ममिति नामयुक्तम्, नचास्याऽऽदित्यस्थाने उपसंहार इति । शाण्डिल्यविद्यायां तु स्थानभेदो नास्ति, उपास्यस्यो-

भयत्र हृदयस्थत्वात् ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्रतिविधीयते —

न वा विशेषात् ।

न वेति पक्षव्यावृत्तिः । न वोभयोरुभयत्रोपसंहारः । कुतः ? विशेषात् उपास्यस्थानभेदात् । यथाचार्यस्यासीनस्योक्तो धर्मो गच्छतो न भवत्येवं ब्रह्मण एकत्वे ऽप्येकत्रादित्यस्थानसम्बन्धितयोपास्यत्वमितरत्राक्षिस्थानसम्बन्धितयोपास्यत्वमिति स्थानसम्बन्धित्वभेदेनोपास्यरूपभेदाद्विद्याभेद इति नियते नामनी शाण्डिल्यविद्यायां तूभयत्र हृदयाधारतयोपास्यत्वान्नोपास्यस्थानं भिद्यते ॥ २१ ॥

## सू० दर्शयति च ॥३।३।२२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपामि"ति श्रुतिश्चाक्षिस्थादित्यस्थयोर्गुणोपसंहाराभावं दर्शयति ॥ २२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

दर्शयति च ।

अन्यत्र चातिदेशश्रुतिराक्षिस्थादित्यस्थयो-

गुणोपसंहाराभावं दर्शयति । तथाहि "तस्यै-
तस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपमि"त्यतिदेश-
श्रुतिः आदित्यस्थपुरुषरूपमाक्षिस्थपुरुषे ऽति-
दिशति । सा च तादृशस्थले गुणोपसंहाराभावं
द्योतयति । सति गुणोपसंहारे ऽतिदेशवैयर्थ्या-
पत्तेः । तस्मान्नाम्नोरुपसंहारो नेति सिद्धम् ॥२२॥

इति सम्बन्धाधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

दर्शयति च ।

दर्शयति च श्रुतिरेवञ्जातीयकधर्मस्य विद्याभेदेनानुपसंहारं "तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नामे"त्यादिना अक्ष्यादित्यस्थानभेदादादित्यपुरुषगतं रूपादिकमक्षिपुरुषे स्वतो ऽप्राप्तमतिदेशेन प्रापयति-तस्माद्व्यवतिष्ठेते एवैते नामनी इति निर्णयः ॥ २२ ॥

इति सम्बन्धाधिकरणम् ॥ ७ ॥

## सू० सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥

३ । ३ । २३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्य्याः सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं

दिवमाततान" त्यादिना तैत्तिरीयकाविहितानां सम्भृतिज्येष्ठा, वीर्य्या सम्भृतानि च द्युव्याप्तिप्रभृतीनां गुणानामपि स्थानभेदादेव विद्यान्तरेणोपसंहारः ॥ २३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं पूर्वोक्तन्यायमतिदिशति —

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः

" ब्रह्मज्येष्ठा वीर्य्याः सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ब्रह्मभूतानां प्रथमं नु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्म स्पर्द्धितुं क " इति तैत्तिरीयके राणायनीयानां खिलेषु वीर्य्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतिब्रह्मगुणजातमाम्नातम् । वीर्य्याः वीर्य्याणि ब्रह्मश्रेष्ठास्तत्प्रधानानि तद्गुणभूतानीत्यर्थः, सम्भृतानि गुणिना धृतानीति वीर्यसम्भृतिरुक्ता । तच्च ज्येष्ठं ब्रह्माग्रे दिवमाततानेति द्युव्याप्तिरुक्ता, तत्र संशयः, किं ते ब्रह्मगुणास्तदीयोपनिषद्विहितासु शाण्डिल्यादिब्रह्मविद्यासूपसंह्रियन्ते ? उत नोपसंह्रियन्ते ? अपि तु तद्गुणयुक्तोपासनान्तरं

विधीयते ? इति तत्रोपसंह्रियन्ते इति प्राप्ते–उच्यते, यथा नामनी नोपसंह्रियेते तद्वत्सम्भृत्यादिगुणजातमपि नोपसंह्रियते । कुतः ? अतो विशेषादेव शाण्डिल्यादिविद्यासु ब्रह्मणोऽल्पमायातनम् "एष मे आत्माऽन्तर्हृदये" इत्यादिषु वाक्येषु श्रूयते, न तथाऽत्र द्युव्याप्तेस्तावदनल्पस्थानगुणत्वं तत्साहचर्य्यात्संभृत्यादयोऽप्यनल्पस्थानगुणाः, इत्येवं विशेषात्स्थानभेदात् तस्माद्वीर्य्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतिगुणविशिष्टमुपासनान्तरमिति सिद्धम् ॥ २३ ॥

इति सम्भृत्यधिकरणम ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।

ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ब्रह्मभूतानां प्रथमं नु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं क" इति तैत्तिरीयके राणायनीयानां खि*लेषु च वीर्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतिब्रह्मगुणजातमाम्नायते, तेषामेवोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याद्या ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते, तत्र संशयः, तेषां किं तासु सर्वासु विद्यासूपसंहारः ? उत स्थानविशेषोपासनेषु नियमः ? इति । तत्र तेषामुपासनविशेषमप्रकृ×त्याधीतानामपि विद्याभेदादुपसंहार इति

* खिलेषु विधिनिषेधशून्येषु वाक्येषु । + अनारभ्य ।

प्राप्ते, उच्यते-सम्भृतिद्युव्याप्तीति । सम्भृतिश्च द्युव्याप्तिश्चेति समाहार एकवद्भावः । सम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतिगुणजातं न सर्वासु विद्यासूपसंहार्यं, कुतः ? अत एव स्थानभेदादेव शाण्डिल्यविद्यायां ब्रह्मणो हृदयमायतनमुक्तम् । "एष मे आत्मा ऽन्तर्हृदय" इति दहरविद्यायामपि तदेवोक्तम्, "दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो ऽस्मिन्नन्तराकाश" इति उपकोशलविद्यायां तु "अक्ष्यायतनं "य एषो ऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इति द्युव्याप्तेर्हि हृदयाद्यल्पस्थानेषूपसंहारायोगात् तत्साहचर्यात्सम्भृत्यादयो ऽप्यल्पस्थानविषयासु विद्यासु नोपसंहार्या इति । श्रुत्यर्थस्तु वीर्येति वीर्याणि परमात्मपराक्रमविशेषरूपाणि खादीनि, "सुपांसुलुगि"त्यनेन जस आः, कीदृशानि ब्रह्मैव ज्येष्ठमनन्यापेक्षकारणं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि, अत्रापि जस आत्वं, तानि च वीर्याणि कारणेन ब्रह्मणा सम्भृतानि धृतानि पुष्टानि च "वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मन" इत्युक्तेः । "तच्च ज्येष्ठं ब्रह्म अग्रे देवादि जन्मनः प्रागेव दिवं स्वर्गमाततान व्याप्नुवत्सदा सर्वव्यापकमित्यर्थः । कथमेतदवगतं ? तत्राह, भूतानां चतुर्मुखादिप्राणिनां प्रथमं नु पूर्ववर्ति सत् जज्ञे प्रादुर्बभूव तेन सर्वकारणेन प्राक्सिद्धेन ब्रह्मणा सह स्पर्द्धितुं स्पर्द्धां कर्त्तुं को ऽवरजन्मा जीवो ऽर्हति योग्यो भवति, सर्वस्य तन्नियम्यत्वात्तद्व्याप्यत्वात्तदाधेयत्वाच्च तदेव सर्वोपजीव्यं सर्वपूज्यं चेत्यर्थः ॥ २३ ॥

इति सम्भृत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

## सू० पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् । ३।३।२४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः

"पुरुषो वाव यज्ञ" इत्यादिना छान्दोग्ये "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्ये"त्यादिना तैत्तिरीयके च श्रूयमाणायां पुरुषविद्यायामपि एकत्रोक्तानां "तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनमि"त्यादीनां प्रकाराणामन्यत्रानाम्नानात् विद्याभेदः ॥ २४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

पूर्वत्र विशेषादिति हेतुमाश्रित्य शाण्डिल्यादिब्रह्मविद्याभ्यः सम्भृत्यादिगुणयुक्तं विद्यान्तरमित्युपपादितमिदानीं पुरुषविद्याभेदं दर्शयन् पुरुषविद्यायां समाख्याद्यविशेषाद्विद्यैक्यमस्त्वित्याशङ्कां निराकरोति —

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात्।

छान्दोग्ये ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्याऽऽम्नायते "पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनमथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्मा-

ध्यन्दिनं सवनमथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनमि"त्यादिका । तैत्तिरीयके ऽपि पुरुषविद्याऽस्ति "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिरि"त्येवमाद्यनुवाके । तत्र संशयः, किमुभयत्राम्नातयोर्विद्ययोर्भेदः? अथवा विद्यैक्यमिति ? समाख्याद्यविशेषाद्विद्यैक्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—पुरुषविद्यायामपीति । पुरुषविद्या भिद्यते । कुतः ? छान्दोग्यतैत्तिरीयकयोः पुरुषविद्यात्वाविशेषेणाम्नातायां पुरुषविद्यायामपि परस्परापेक्षयेतरेषां गुणानामन्यत्रान्यत्रानाम्नानादनुक्तत्वात् । तथाहि : छान्दोग्ये षोडशाधिकशतवर्षपरिमितस्य त्रेधाविभक्तस्य पुरुषायुषः सवनत्वेन कल्पनम् । तैत्तिरीयके तु यत्सायं प्रातर्मध्यन्दिनं च तानि सवनानीत्येवं सवनत्रयकल्पनम् । छान्दोग्ये इत्थं सवनत्रयकल्पनं न कृतम्, किञ्च छान्दोग्ये आशिषादीनां 'दीक्षादित्वेन' कल्पनम् । तत्तैत्तिरीयके न कृतम् । छान्दोग्ये "पुरुषो वाव यज्ञ" इति पुरुषो यज्ञत्वेन कल्पितस्तस्यात्मादिषु यजमानादिकल्पनं न कृतम् । तैत्तिरी-

यके तु "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी" त्यादिना पुरुषस्यात्मादिषु यजमानत्वादिकल्पनं कृतम् । अत उभयत्र रूपभेदः, सर्वत्र प्रकारभेदो ह्युपासानाभेदे बीजम् । फलसम्बन्धभेदोऽप्युभयत्रास्ति । छान्दोग्ये तावत्पुरुषविद्यायाः आयुः प्राप्तिः फलम्, तैत्तिरीयके तु ब्रह्मप्राप्तिः पुरुषविद्यायाः फलम् । तथा हि पूर्वस्मिन्ननुवाके "ब्रह्मणो त्वामहसे ओमित्यात्मानं युञ्जीते"ति ब्रह्मविद्यामुपन्यस्य ब्रह्मणो महिमानमाप्नोतीति ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलमुक्त्वा "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्ये"ति पुरुषविद्यायां तच्छब्देन ब्रह्मवित्परामर्षात् सन्निधिपाठाच्च पुरुषविद्यायाः ब्रह्मविद्याङ्गत्वं, फलान्तरानपेक्षत्वं चेति गम्यते । एवं सति ब्रह्मविद्याङ्गभूतायाः पुरुषविद्यायाः ब्रह्मप्राप्तिरेव फलमिति गम्यते । तस्मादुभयत्र पुरुषविद्येति समाख्यामात्राविशेषस्याकिञ्चित्करत्वाद्विद्याभेदस्तथात्वे सति गुणानामनुपसंहार इति सिद्धम् ॥ २४ ॥

इति पुरुषविद्याऽधिकरणम् ॥ ९ ॥

---

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

### पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ।

छान्दोग्ये ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या श्रूयते "पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनमथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनमथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनमि"त्यादिः । तत्र पुरुषो यज्ञत्वेन कल्पितः तदीयमायुश्च प्रसिद्धयज्ञसाम्यार्थे सवनत्रयत्वेन कल्पितम् । अशिशिषादिकं तु दीक्षादित्वेन कल्पितमित्यादि तत्रैव स्पष्टं, तैत्तिरीयके ऽपि सा श्रूयते "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिरि"त्येवमाद्यनुवाके । तत्र सन्दिह्यते, किमत्र विद्याभेदः ? उत नेति ? तत्र पुरुषविद्येति समाख्याऽविशेषात्पुरुषावयवेषु यज्ञावयवकल्पनसाम्येन रूपाभेदात् । तैत्तिरीयके फलसम्बन्धाम्नानात् । छान्दोग्यगतेन "सह षोडशं वर्षशतं जीवती" त्यनेनैकफलत्वाच्च विद्यैक्यमिति प्राप्ते, राद्धान्तमाह–पुरुषविद्यायामिति । पुरुषविद्यायामप्युभयत्र रूपभेदाद्विद्याभेदः । कुतः ? इतरेषामनाम्नानात् । इतरशाखोदितानामितरशाखास्वनाम्नानात् । पुरुषविद्यायामिवेति पाठे यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायां यज्ञावयवा आम्नाताः, नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणां पुरुषविद्यायाम् । यथा वा तैत्तिरीयपुरुषविद्यायां यजमानपत्न्यादिसवनत्रयं चाम्नातं, नैवमितरेषां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामित्यर्थः । तथाहि छान्दोग्ये त्रेधाविभक्तस्य पुरुषायुषः सवनत्वेन कल्पनं, तैत्तिरीयके च यत्सायं प्रातर्मध्यन्दिनं च तानि सवनानी"त्येवं सवनत्रयकल्पनम् । छान्दोग्ये ह्यशिशिषादीनां

दीक्षात्रयत्वकल्पनं तत्तैत्तिरीयके न कृतम् । "आत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी"ति यजमानादिकल्पनं च कृतम्, तच्छान्दोग्ये न कृतम्। फलसम्बन्धभेदो ऽपि छान्दोग्ये ह्यायुःप्राप्तिफला पुरुषविद्या। तैत्तिरीयके तु पूर्वानुवाकगतस्य "ब्रह्मणो महिमानमाप्नोती"ति ब्रह्मविद्याफलस्यैव सन्निधानादफलस्यास्यानुवाकस्य ब्रह्मविद्याङ्गतया ब्रह्मप्राप्तिरेव फलम्, अतः सवनत्रयकल्पनप्रकारभेदेन यजमानपत्न्यादिकल्पनप्रकारभेदेन च रूपभेदात् फलसम्बन्धभेदाच्च विद्याभेद इति नैकत्रोक्तानां धर्माणामितरत्रोपसंहारः ॥२४॥

इति पुरुषविद्याऽधिकरणम् ॥ ९ ॥

## सू० वेधाद्यर्थभेदात् । ३।३।२५॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्ये"त्यादिमन्त्राणां "देवा ह वै सत्रं निषेदुरि"त्यादिनोक्तानां यागादिकर्मणां च न विद्यायामुपसंहारः । कुतः? वेधादीनामर्थानां विद्याभिन्नत्वात् ॥ २५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं यथा सन्निधिपाठात् पुरुषविद्याया ब्रह्मविद्याङ्गत्वं तथा वक्ष्यमाणमन्त्राणां कर्मणां

च ब्रह्मविद्यासन्निधिपाठात्तदङ्गत्वेन तत्रोपसंहारोऽस्ति ? न वेति ? विचार्यते —

*वेधाद्यर्थभेदात् ।

आथर्वणिकाः उपनिषदारम्भे "सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोभिप्रवृज्य त्रिधाविपृक्त" इत्यादीन्मन्त्रानधीयते । हे देवते मद्रिपोः सर्वमङ्गं प्रविध्य विदारय तत्र हृदयं प्रविध्य १धमनीः २प्रवृज्य शिरो ३ऽभिप्रवृज्येत्थं मद्रिपुंस्त्रिधा विपृक्तो विश्लिष्टो भवतु । ताण्डिनः सामगा अपि रहस्यब्राह्मणारम्भे देव ४सवितः ५प्रसुव यज्ञं प्रसुवे"त्यधीयते । शाट्यायनिनः ६श्वेताऽश्वो हरितनीलो ऽसी"त्यामनन्ति । कठास्तैत्तिरीयकाश्च "शं नो मित्रः शं वरुणः" इत्यादिकमामनन्ति ऐत्तरेयिणोऽपि "इन्द्रो वै वृत्रं

---

* सर्वं प्रविध्येत्यादिवेधनं विदारणम् ।

१ शिराः ।    २ त्रोटय ।    ३ अभितो नाशय ।

४ हे देव सवितः ।    ५ निर्वर्त्तय ।

६ श्वेतोऽश्वो यस्येन्द्रस्य स त्वं हरितमणिवन्नीलोऽसि ।

हत्वा महानभवदि"त्यादिमहाव्रतब्राह्मणमधीयते । कौषीतकिनो ऽपि "प्रजापतिर्वै सम्वत्सरस्तस्यैष-आत्मा यन्महाव्रत" इति महाव्रतब्राह्मणम-धीयते । वाजसनेयिनस्तूपनिषदारम्भे "देवा ह वै सत्रं निषेदुरि"त्यादिप्रवर्ग्यब्राह्मणमधीयते । तत्र संशयः, किं तत्र तत्र पठिताः मन्त्राः प्रव-र्ग्यादीनि च कर्माणि तत्तदुक्तविद्यासु तत्त-द्विद्याङ्गतयोपसंह्रियेरन् ? उत नेति ? मन्त्राणां कर्मणां च विद्याङ्गत्वेनोपसंहारो युक्तः, सन्निधि-पाठादिति प्राप्ते, उच्यते—उपसंहारो नास्ति । कस्मात् ? वेधाद्यर्थभेदात् वेधाद्यर्थानां विद्या-भिन्नाऽभिचाराद्युपयोगित्वेन विद्यातो भिन्नत्वात् तत्तद्वाक्यप्रकाशिता वेधाद्यर्था विद्यायां नोप-युज्यन्ते इत्यर्थः । तथा च मन्त्राणां सन्निधेः प्रबलेन स्वार्थप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणलिङ्गेन चाभि-चाराध्ययनादिकर्माङ्गत्वं गम्यते । प्रवर्ग्यादिकर्मणां च सन्निधेर्बलीयसा श्रुत्यादिना ज्योतिष्टोमादौ विनियोगो गम्यते, नतु विद्याङ्गत्वेन तेषां तत्रोपसंहार इति सिद्धम् ॥ २५ ॥

इति वेधाद्यधिकरणम् ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

वेधाद्यर्थभेदात् ।

स्वशाखोक्तगुणविशिष्टस्य ब्रह्मण उपास्यत्वमुक्तमथ तत्रान्येऽपि मन्त्राः कर्माणि च श्रूयन्ते। तेषामपि ब्रह्मोपासनाङ्गत्वमस्ति ? न वेति ? मीमांस्यते। तथाह्याथर्वणिकैरुपनिषदारम्भे मन्त्रा आम्नायन्ते। "अग्ने त्वं यातुधानस्य भिन्धि तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मेति सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्त" इत्यादयः। ताण्डिभिः सामगैरपि रहस्यब्राह्मणारम्भे "*देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुवे"त्यादिराम्नायते। शाट्यायनिभिश्च "श्वेताऽश्वो हरितनीलोऽसी" त्यादिः। कठैस्तैत्तिरीयकैश्च "शन्नो मित्रः शं वरुणः" इत्यादिः। ऐत्तरेयिभिश्च "महाव्रतब्राह्मणं पठ्यते 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवदि"त्यादि। कौषीतकिभिरपि तदेव पठ्यते "प्रजापतिर्वै सम्वत्सरस्तस्यैष आत्मा यन्महाव्रतमि"त्यादि। वाजसनेयिभिस्तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते "देवाह वै सत्रं निषेदुरि"त्यादि। तत्र सन्दिह्यते, किमिमे उपनिषदारम्भे पठिताः मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि उपासनासु तदङ्गतयोपसंह्रियेरन् ? उत नेति ?। किन्तावत्प्राप्तं, विद्याङ्गतयोपसंह्रियेरन्निति। कुतः ? विद्याप्रधानोपनिषद्ग्रन्थानां सन्निधौ पाठादिति प्राप्ते उच्यते—नैषामुपासनासूपसंहारः। कुतः ? वेधाद्यर्थभेदात्। भिन्ना हीमेऽर्था वेधादयो न विद्यायामुपयुज्यन्ते मन्त्रलिङ्गे, न त्वभिचारकर्माणि विनियुज्यन्त एव। शन्नो मित्रः शं वरुण" इत्यादिमन्त्रस्यापि "ऋतं वदि-

---

* देव सवित इत्यस्य यज्ञकर्मणि विनियोगः।

ष्यामि सत्यं वदिष्यामि तेजस्विना ऽवधीतमस्त्वि "त्यादिमन्त्र-लिङ्गेनाध्ययने विनियोगाच्च विद्याङ्गत्वम्, नच मन्त्राणामन्य-थार्थकल्पना युक्ता, समाख्यानात्, सन्निधेश्च लिङ्गस्य बली-यस्त्वं श्रुत्यादिषूत्तरोत्तरस्य दौर्बल्योक्तेः। प्रवर्ग्यं चाग्निष्टोमे विनि-युक्तम्, अग्निष्टोमं प्रवृणक्तीति वाक्येन अग्निष्टोमः स्वर्गफलार्थं नि-त्यार्थं च विनियुक्तः। "स्वर्गकामो यजेत वसन्ते वसन्त" इति स-न्निधिपाठस्तु अरण्येऽनुवचनादिधर्मसामान्यकृतः ॥ २५ ॥

इति वेधाद्यधिकरणम् ॥ १० ॥

## सू० हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ ३।३।२६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः

"तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूये"त्यादिश्रुति-प्रोक्तायां पुण्यपापविमोचनात्मिकायां हानौ "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"ति विद्वत्त्यक्तपुण्यपापग्रहणभूतमुपाय-नमुपसंह्रियते । कुतः ? शाखान्तरीयोपायन-

शब्दस्य हानिशब्दशेषत्वात् । यथा "कुशा-वानस्पत्या" इति 'कुशानां वानस्पत्यत्वप्रकाशक-वाक्ये शेषतामौदुम्बरा' इति वाक्यं भजते । यथा च "छन्दोभिः स्तुवीते"ति वाक्यशेषतां "देवछन्दांसि पूर्वाणी"ति वाक्यं भजते । यथा च "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती"ति वाक्यशेषतां "समयाध्युषिते सूर्य्ये" इति वाक्यं गच्छति । यथा च "ऋत्विज उपगायती"ति अस्य "नाध्वर्युरुपगायती"ति शेषतामापद्यते । "अपि वाक्यशेषत्वादन्याय्यत्वात् विकल्पस्ये"त्या-द्युक्तं जैमिनिना ऽपि ॥ २६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं यत्र यस्यार्थस्य योगस्तस्य शाखा-न्तरस्थत्वे ऽप्युपसंहारो युक्त इत्याह —

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ।

ताण्डिनां रहस्ये "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरम+कृतं*कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भ-

+ कृतस्य ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि ।

* कृतात्मा निर्मलीकृतचित्तः ।

वामीति श्रूयते, तथाऽथर्वणेऽपि श्रूयते, "तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति शाठ्यायनिनः "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"ति पठन्ति । कौषीतकिनस्तु "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृतमि"ति पठन्ति । तत्र ताण्डिनां रहस्ये आथर्वणे च पुण्यपापयोर्हानिः श्रूयते । शाठ्यायनिश्रुतौ पुण्यपापयोः प्रियाप्रियेषु प्राप्तिः श्रूयते । कौषीतकिवाक्ये तूभयं श्रूयते । एवं सति यत्रोभयं त्यागमुपादानं च श्रूयते तत्र न काचित् शङ्का । यत्रोपादानमात्रं श्रूयते तत्र त्यागोऽप्याक्षिप्यते । त्यागं विनोपादानासम्भवात् । यत्र तु हानिरेव श्रूयते तत्रेदं विचार्यते । किं त्यक्तयोः पुण्यपापयोरितरत्र श्रूयमाणमुपायनं ताण्डिनां रहस्ये आथर्वणवाक्ये चोपसंह्रियते? उत नेति? संशयः । नोपसंह्रियते, पृथक् पठनसामर्थ्यात् । अन्यथोपसंहारफलस्योभयानुसंन्धानस्य ताण्ड्यथर्ववाक्यद्वये कौषीतकिवाक्यात्तदुपसंहारेण सिद्धौ वाक्यद्वये हानि-

पठनं व्यर्थमेव स्यादिति प्राप्ते, उच्यते—हानौ तूपायनशब्दशेषत्वादिति । तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति । हानौ केवलायां श्रुतायामुपायनमुपसंहर्त्तव्यम् । कस्मात् ? उपायनशब्दशेषत्वात्, उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात् । कौषीतकिरहस्ये सुकृतदुष्कृतत्यागवादिवाक्यशेषत्वेन सुकृतदुष्कृतग्रहणवादिवाक्यं श्रूयते । तथेहापि विदुषा त्यक्तयोः पुण्यपापयोरन्येन ग्रहणमावश्यकमित्यर्थः । शाखान्तरस्थवाक्यस्य शाखान्तरस्थवाक्यशेषत्वे दृष्टान्तमुपागमाह—कुशाछन्दस्तुत्युपगानवदिति । तत्र यथा कौषीतकिश्रुतौ "कुशा*वानस्पत्याः स्थ ता मा पातेति"ति सामान्यतो हि कुशानां वानस्पत्यत्वे ऽवगते सति शाट्यायनिनामौदुम्बरा इति विशेषवचनादौदुम्बर्य्यः कुशा गृह्यन्ते । एवं सति कौषीतकिवाक्यशेषतां शाट्यायनिवाक्यमापद्यते । हे कुशाः यूयं वानस्पत्याः स्थ मां यजमानं पात रक्षतेत्यन्वयः ।

---

* कुशा उद्गातॄणां स्तोत्रगणनार्थाः शलाका दारुमय्यः ।

यथा च "छन्दोभिः स्तुवीत" इत्यत्राविशेषेण देवासुरपौर्वापर्यप्रसङ्गे "देवछन्दांसि पूर्वाणी"ति पैङ्गीवाक्येन क्रमविशेषो गृह्यते। इत्थं तद्वाक्यशेषतां पैङ्गिवाक्यमापद्यते। यथा च पात्रविशेषस्य षोडश्याख्यस्य ग्रहणे अङ्गभूतस्तोत्रकालाकांक्षायां "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती"ति कालाविशेषेण प्राप्ते "समयाध्युषिते सूर्य्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती"ति तत्कालविशेषवाचि तैत्तिरीयकवाक्यं तद्वाक्यशेषतामापद्यते। यथा च "ऋत्विज उपगायन्ती"ति शाखान्तरीयस्याविशेषविषयस्य वाक्यस्य "नाध्वर्युरुपगायती"ति शाखान्तरीयं तत्पर्युदासरूपं वाक्यशेषतां गच्छति। एवं प्रकृते ऽपि हान्याख्ये ऽर्थे उपायनाख्यस्यार्थस्यान्वयः। सामान्यवाक्यस्य विशेषसापेक्षत्वे आचार्य्यान्तरसम्मतिं दर्शयति—तदुक्तमिति। जैमिनिनेति शेषः। "अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्यायत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यादि"ति, तत्र तत्रोभयानुसन्धानसमर्थनं तु तत्तत्प्रतिपत्त्युप-

कारार्थमितिज्ञेयम्। अतो हानावुपायनं संह्रियते इति सिद्धम्॥ २६॥

इति हान्यधिकरणम्॥ ११॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्।

"तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती" त्याथर्वणिकैः, "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामी"ति छन्दोगैश्च विदुषो ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यपापयोर्विमोचनं पठ्यते। "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"ति शाठ्यायनिभिश्च विमुक्तयोः पुण्यपापयोरन्यत्र प्रवेशः पठ्यते। तथा कौषीतकिभिस्तु "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रियाः ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतमि"त्युभयं पठ्यते। तद्यत्रोभयं हानमुपायनं च पठ्यते, तत्र न किञ्चिद्वक्तव्यम्। यत्रोपायनमेव पठ्यते तत्र हानिस्त्वर्थादाक्षिप्यते, अन्यथा तदनुपपत्तेः। उपायनं हि ग्रहणं तस्य च त्यागपूर्वकत्वादत्यक्तस्य ग्रहणायोगाच्च। यत्र तु केवलहानिः श्रूयतेस्तत्रास्ति विचिकित्सा, किं यत्र विद्यायां केवलं हानं श्रूयते तत्राप्युपायनमुपसंह्रियते? उत नेति? किं तावत्प्राप्तं, नोपसंह्रियत इति। कुतः? पृथक् पठनसामर्थ्यात्। उपसंहारे हि सर्वथोभयानुसन्धानं भवेत्, तस्य च कौषीतकिवाक्येनैव सिद्धत्वादन्यत्राम्नानस्यानर्थकत्वापत्तेरिति प्राप्ते, तत्रोच्यते – हानाविति। तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। हानौ केवलायां

श्रुतायामुपायनमुपसंह्रियते । कुतः ? उपायनशब्दशेषत्वात्, उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात् । विदुषा त्यक्तयोः पुण्यपापयोः प्रवेशस्थानवाचित्वादुपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषत्वं, कौषीतकिरहस्ये तथाऽवगमात् । शाखान्तराम्नातवाक्यस्य शाखान्तराम्नातवाक्यशेषत्वे दृष्टान्तानाह- कुशेति । तद्यथा कौषीतक्याम्नाये "कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पाते"ति सामान्यतो वानस्पत्यत्वे ऽवगते सति शाट्यायनिनाम् "औदुम्बरा" इति विशेषवाक्यं "औदुम्बर्य्यः कुशा" इति प्रतिपादयत्तद्वाक्यशेषतां गच्छति । यथा च "देवासुराणां छन्दोभिरि"त्यादिना ऽविशेषेण देवासुरच्छन्दसां पौर्वापर्यप्रसङ्गे "देवच्छन्दांसि पूर्वाणी"ति पैङ्गिवाक्यं क्रमविशेषं ग्राहयत्तद्वाक्यशेषत्वं भजते । यथा च "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती"ति शाखान्तरस्थस्य तत्कालविशेषवाचि "समयाऽध्युषिते सूर्ये" इति शाखान्तरस्थं तच्छेषतां गच्छति । यथा च "ऋत्विज उपगायन्ती"ति शाखान्तरस्थस्य "नाध्वर्युरुपगायती"ति तत्पर्युदासरूपं शाखान्तरस्थमेवमुपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषतया गतिसम्भवे हान्युपायनयोरितरेतरसमुच्चयः कार्यः, उभयोरन्योन्यसापेक्षत्वनियमान्न तु विकल्पो युक्तः । तदुक्तं द्वादशलक्षण्याम् "अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यादि"ति ॥ २६ ॥

इति हान्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

## सू० साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ ३ । ३ । २७

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

शरीरादपक्रमणवेलायां निःशेषतया पापपुण्यहानिः । कुतः ? शरीरवियोगात् पश्चात्ताभ्यां तत्तव्यभोगाभावात् । एवमेवान्ये ऽधीयन्ते “अशरीरं वाव सन्तन्न प्रियाप्रिये स्पृशत एष सम्प्रसादो ऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इत्यादि । एवं सति देहवियोगसमये जाते एव कर्मक्षयो- “विरजां नदीं तां मनसाऽत्ये ”ति “ तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते ” इति नदीतरणानन्तरं पठ्यते ॥ २७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र विद्वत् पापहानोपायनानुसन्धानमुक्तामिदानीं पुण्यपापयोर्हानस्य कालश्चिन्त्यते —

**साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।**

किं विदुषः पुण्यपापयोः कश्चिदंशश्चरमशरीरवियोगवेलायां कश्चिदंशश्च तत्परित्यज्य परब्रह्मलोकं व्रजतो ऽध्वनि क्षीयते ? अथवा तद्वि-

योगकाले एव तद्धानमिति ? संशयः । तत्र पूर्वः पक्षः "स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छती"त्युपक्रम्य "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति यत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते" इत्यामनन्ति कौषीतकिनस्तत्र नदीतरणानन्तरमध्वनि तद्धानप्रतीतेः "अश्व इव रोमाणि विधूय पापमि"ति ताण्डिनां रहस्ये शरीरवियोगकाले तद्धानिप्रतीतेश्च अन्त्यशरीरवियोगवेलायां सुकृतदुष्कृतयोः किञ्चिद्धानिः, किञ्चिदध्वनि चोभयवाक्यबलादिति, तत्रोच्यते साम्पराये इति । साम्पराये परलोकगमने शरीरादुत्सर्पणकाले एव विद्वत्पुण्यपापहानिः । कुतः ? तर्त्तव्याभावात् । पुण्येनेष्टस्य पापेनानिष्टस्य च तर्त्तव्यस्य निर्वर्त्त्यस्य फलस्य शरीरत्यागादूर्ध्वमविद्यमानत्वात् । तत ऊर्ध्वं विद्याफलस्यैव ब्रह्मभावापत्तिलक्षणस्य सत्त्वात् । तथाऽन्येऽपि शाखिनो विदुषः शरीरपातात्पश्चाद्ब्रह्मभावप्राप्तिव्यतिरिक्तस्य कर्मफलस्याभावमामनन्ति । "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरी-

रात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति शरीरादुत्सर्पणकाले जात एव कर्मक्षयः । "विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते" इति कौषीतकिवाक्ये विरजातरणानन्तरं पठ्यते इति बोध्यम् । यतस्ताण्ड्यादयः शरीरादुत्सर्पणकाल एव हानमामनन्ति "अश्व इव रोमाणी" त्यादिना ॥ २७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।

ब्रह्मविद्यानिष्ठस्य विदुषो ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यापुण्यप्रहाणस्यावश्यं भावित्वात्प्रहाणविषयत्वाच्चोपायनस्येति द्वयस्य सर्वविद्यासु चिन्तनमुक्तम् । तत्र पुण्यापुण्यप्रहाणचिन्तनेऽस्ति विचिकित्सा । किं देहवियोगकाले एकदेशस्तयोः क्षीयते देहादुत्क्रान्तस्याध्वनि च शिष्टमित्युभयत्र चिन्तनम् ? उत देहवियोगकाले एव सर्वं क्षीयते ? इति तत्र "स एनं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छती" त्युपक्रम्य "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसा ऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते" इति कौषीतकिवाक्ये ऽध्वनि पुण्यपापहानिः श्रूयते । "अश्व इव रोमाणि विधूये" ति कौण्डिनां वाक्ये तु देहवियोगकाल एवेति, किंयुक्तम् ? उभयत्र श्रुतेर्देवयानेन पथा गमनान्यथानुपपत्तेश्चोभय-

प्रेति प्राप्ते पठति – साम्पराये इति । साम्पराये परलोकगमने देहादुत्सर्पणसमय एव विदुषः पुण्यपापे निरवशेषं क्षीयेते । कुतः ? तर्त्तव्याभावात् । देहवियोगादूर्द्ध विद्याफलभूतब्रह्मप्राप्तिव्यतिरेकेण तर्त्तव्यस्य पुण्यापुण्यफलस्य सुखदुःखभोगस्याभावात् । तथा ह्यन्ये ऽपि शाखिनो ऽधीयन्ते "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ऽथ सम्पत्स्य" इति "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः एष सम्प्रसादो ऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत"इत्यादिः । एवं चाध्वन्याम्नातमपि "सुकृतदुष्कृते विधुनुते" इति वाक्यं देहवियोगसमय एव सङ्क्रमयितव्यमर्थानुपपत्तिबलात् । तथा च सुकृतदुष्कृते उत्क्रान्तिसमये विधुनुते, ततश्च देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छतीत्यन्वयः । सर्वकर्मक्षये ऽपि विद्यासामर्थ्यादेव देवयानेन पथा गमनमुपपद्यते, विद्या हि स्वसामर्थ्यादेव स्वफलभूतब्रह्मप्राप्तिप्रतिपादनाय सुखदुःखोपभोगसाधनस्य स्थूलशरीरस्य सर्वकर्मणां च निरवशेषं क्षये ऽप्येनं देवयानेन पथा गमयितुं सूक्ष्मशरीरं स्थापयति ॥ २७ ॥

## सू० छन्दत उभयाविरोधात् ॥

## ३ । ३ । २८ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विदुषः पुण्यं पापं क्रमात्सुहृद्दुर्हृच्च छन्दतः प्राप्नोत्येवमुभयाविरोधो भवति ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

छन्दत उभयाविरोधात्।

अन्येन विदुषा कृतयोः पुण्यपापयोरन्यस्मिन् छन्दतः सङ्कल्पतः सङ्क्रमणमस्ति, उभयाविरोधात्। निर्निमित्तो ऽन्यत्र विभागेन कृतत्यागः समदर्शिनि विदुषि विरुद्धः अन्यकृतयोः पुण्यपापयोरन्येन निर्निमित्तं ग्रहणं च विरुद्धमेव भवति। "यदा हि यः कश्चित्सुकृतिर्विदुषः शुभं सङ्कल्पयति स हि तेनैव निमित्तेन विदुषः पुण्यमादत्ते। यस्तु कश्चिद्दुष्कृतिर्विदुषोऽहितं सङ्कल्पयति, स हि तेनैव निमित्तेन विदुषः पापमादत्ते" इत्थं छन्दतः सुकृतदुष्कृतयोः संक्रमणे त्यागग्रहणयोरविरोधो भवति। तथा च स्मृतिः "शप्यमानस्य यत्पापं शपमानं हि गच्छती"ति भगवता मनुना ऽप्युक्तम्, "प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनमि"ति॥ २८॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

छन्दत उभयाविरोधात्।

ननु "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ती"ति परकीययोः परत्र संक्रान्तिः श्रुता, सा विरुद्धा, तथात्वादर्शनादिति चेत्तत्राह छन्दत इति। परसङ्कल्पात्तथात्वोपपत्तेः। यो हि विदुषां शुभं वाञ्छति तस्य सुकृतापत्तिर्यस्तु द्वेषादहितं सङ्कल्पयति तस्य दुष्कृतापत्तिरिति शास्त्रादेवावगतम्। तथाह भगवान्मनुः "प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्म याति सनातनमि"ति "शप्यमानस्य यत्पापं शपमानं नियच्छती"ति स्मृत्यन्तरात्। एवमुभयोः कौशीतकिशाठ्यायनिश्रुत्योरविरोधः ॥ २८ ॥

## सू० गतेरर्थवत्त्वमुभयथा ऽन्यथा हि विरोधः ॥३।३।२९॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः

सुकृतदुष्कृतयोरविशेषतया निवृत्त्या गतेरर्थवत्त्वं, यदि सुकृतमनुवर्त्तेत तदा तत्फलभोगानन्तरमावृत्तिः स्यात्। एवं सत्यनावृत्तिश्रुतिविरोधो भवेत् ॥ २९ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु सुकृतहानिर्देहवियोगकाले नोपपद्यते, अनिष्टत्वादित्याशङ्क्याह —

गतेरर्थवत्त्वमुभयथा ऽन्यथा हि विरोधः ।

देहवियोगकाले दुष्कृतनिवृत्त्या सुकृतनिवृत्त्या चेत्युभयथा गतेरर्थवत्त्वं देहपातानन्तरमेव प्राप्तविषयत्वं भवति । अन्यथा दुष्कृतमात्रहान्यङ्गीकारे ऽवशिष्टस्य सुकृतस्य तत्फलभोगेन क्षयाङ्गीकारे च "तस्य सुहृदः साधुकृत्यामि"ति श्रुतिविरोधः गतेश्चरोधः स्यादित्यर्थः । भोगावसाने पुनरावृत्तौ सत्यां "एतेन मार्गेण प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इत्यनावृत्तिश्रुतिविरोधश्च स्यात् । न च वाच्यं तेन स न गच्छती"ति मार्गान्तरेण विदुषोगमनस्याश्रुतत्वात् विद्याफलं स्थिरं भविष्यतीति चेत् फले विकल्पः स्यात् ॥ २९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत्र चोदयति —

गतेरर्थवत्त्वमुभयथा ऽन्यथा हि विरोधः ।

देवयानगतिश्रुतेरर्थवत्त्वं देहादुत्क्रान्तिसमये ऽध्वनि चेत्युभयथा कर्मक्षये सत्येव । अन्यथा देहत्यागकाल एव सर्वकर्मक्षयाङ्गीकारे सूक्ष्मशरीरारम्भकनाशेन तस्य स्थित्यनुपपत्तेः केवलात्मनो गतिर्नोपपद्यत इति देवयानगतिश्रुतिर्विरुध्यते ॥ २९ ॥

## सू० उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३ । ३ । ३० ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ब्रह्मोपासकस्य शरीरवियोगकाले सर्वकर्मक्षयेऽपि पन्था उपपन्नः ; कुतः ? "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः" इत्यादिषु देहादिसम्बन्धलक्षणार्थोपलब्धेः । यथा भूपसेवकस्य भौमार्थसिद्धिस्तद्वत् । स स्थूलशरीरसर्वकर्मक्षयेऽपि विद्याप्रभावाद्विशिष्टस्थानगमनार्थं सूक्ष्मशरीरमनुवर्त्तते तद्वियोगानन्तरं युक्तं श्रुतिप्रोक्तं रूपं विद्वान् प्राप्य

ब्रह्मभावापन्नो भवतीति भावः॥ ३० ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

ननु स्थूलशरीरत्यागकाले सर्वकर्मक्षयाङ्गीकारे सूक्ष्मशरीरस्यापि नाशस्तदैव स्यादेवं सति देवयानलक्षणः पन्था अनुपन्न इत्यत्राह —

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्।

विदुषां शरीरत्यागकाले सर्वकर्मक्षयेऽपि देवयानः पन्था उपपन्नः। कुतः? तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। प्रक्षीणसुकृतदुष्कृतस्यापि विदुषः आविर्भूतस्वरूपस्याकर्मजन्यदेहादिसम्बन्धलक्षणार्थोपलब्धेः। उपलभ्यते हि अकर्मजन्यदेहादिसम्बन्धलक्षणार्थः "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्रममाणः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स एकधा भवति त्रिधा भवती"त्यादिषु। यथालोके स्वकर्मणा सम्पाद-

थितुमशक्यमप्यर्थं राजसेवकः तदनुग्रहाल्लभते, तद्वत्परमपुरुषानुग्रहात् विद्वानकर्मजन्यं परमाद्भुतं देहादिकं सर्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । अयमभिप्रायः, यदा क्षीणकर्मणो विदुषो विद्याप्रभावादकर्मजन्यात्यद्भुतदेहादिप्राप्तिर्भवति तदा विद्या खलु स्वसामर्थ्यात्स्वफलभूतब्रह्मप्राप्तिप्रदानाय सुखदुःखोपभोगसाधनस्य स्थूलशरीरस्य सर्वकर्मणां च निरवशेषं क्षयेऽप्येन देवयानेन पथा गमयितुं सूक्ष्मशरीरं किं नोपस्थापयतीति । अयमर्थः, लिङ्गशरीरं विरजानदीप्राप्तिपर्यन्तमनुवर्त्तते, तदनन्तरं कारणे समवलीयते । वक्ष्यति च "तानि परे तथा ह्याहे"ति तस्माच्चरमशरीरवियोगकाले सर्वकर्मक्षय- इति सिद्धम् ॥ ३० ॥

इति साम्परायाधिकरणम् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत्रोत्तरयति —

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।

परमात्मानमुपासीनानां देहत्यागकाल एव सर्वकर्मक्षये-

ऽप्युपपन्नो देवयानः पन्थाः । कुतः ? तल्लक्षणार्थोपलब्धेः । तल्लक्षणस्य तत्सजातीयस्याकर्मलभ्यस्यार्थस्योपलब्धेः । उपलभ्यते ह्यकर्मलभ्यो ऽर्थः परं ब्रह्मोपासीनानाम् "स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्नममाणः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिषु । लोकवत् यथा लोके राजानमुपासीनानां प्राकृतपुरुषासाधारणातिरमणीयानेकार्थसिद्धिस्तद्वत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसङ्कल्पं महोदारं परं ब्रह्मोपासकानां सर्वमुपपन्नमित्यर्थः ॥ ३० ॥　　इति साम्परायाधिकरणम् ॥ १२ ॥

## सू० अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३।३।३१।

### वेदान्तपारिजातसौरभः

उपकोशलविद्यापञ्चाग्निविद्यादिषु श्रूयमाणा गतिस्तद्विद्यावतामेवेति नियमो न । किन्तु स ब्रह्मोपासीनानां सर्वेषां या हि गतेः सर्वसाधारणत्वे सति " य एवमेतद्विदुर्ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्ति । "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः”
इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यामविरोधः ॥ ३१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र स्थूलदेहक्षयकाले सुकृतनिवृत्त्या दुष्कृतनिवृत्त्या च गतेरर्थवत्त्वमुक्तमिदानीमेवं भूतात्युत्कृष्टा गतिः सर्वेषां ब्रह्मविद्यावताम् ? उत येषां विद्याप्रकरणे पठिता तेषामेवेति ? विचार्यते —

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।

कासुचिदुपकोशलविद्यापञ्चाग्निविद्यादहरविद्यादिष्वर्चिरादिमार्गः श्रूयते, मधुविद्याशाण्डिल्यविद्यावैश्वानरविद्यादिषु च न श्रूयते । तत्र किमुपकोशलादिविद्यावतामेव मार्गो ऽस्ति ? किं वा सर्वेषां ब्रह्मविद्यावतामिति ? संशयः । तत्र यासु ब्रह्मविद्यासु मार्गः श्रुतस्तद्विद्यावतामेव प्रकरणबलात् स उचितो नेतरेषामिति नियम इति पूर्वपक्षः । तत्रोच्यते—अनियम इति । येषां विद्याप्रकरणे मार्गः पठ्यते,

तेषामेवायमिति नियमो नास्ति, किन्तु सर्वेषां ब्रह्मविद्यावतामयं मार्गः । नन्वेवं सति प्रकरणेन विरोधः । अत्रोच्यते—अविरोध इति । वाक्येन प्रकरणस्य बाध्यत्वात् । कुतो ऽवगम्यते ? शब्दानुमानाभ्याम्, श्रुतिस्मृतिभ्याम् । तथाहि "य एवमेतद्विदुर्ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्ती "त्यादि-श्रुतिभ्यः । " अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना "इत्यादिस्मृतिभ्यश्च । तत्र " ये एतद्द्युलोकादिकमेवमग्नित्वेन विदुस्ते पञ्चाग्नि-निष्ठा अर्चिषमभिसम्भवन्ती "त्यभिधाय " ये चेमे ऽरण्ये "इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं " सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे "त्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धं सत्यं ब्रह्मोपासते ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्तीति श्रुत्यो-च्यते । इत्थं खलु पञ्चाग्निविद्यावतामिव सर्वेषां ब्रह्मोपासीनानाम् ( मार्गप्राप्तिरतः ) अर्चिरादि-गतिवादिवाक्येन बलीयसा प्रकरणं बाधितमिति निश्चीयते । एवं सर्वेषां ब्रह्मोपासीनानामनेनैव मार्गेण गमनं स्मृत्याऽपि प्रतिपाद्यते । तस्मा-

रसर्वासु विद्यासु प्राप्त एवार्चिरादिमार्गोऽनूद्यत इति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

इत्यनियमाधिकरणम् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।

कासुचिदुपकोशलविद्यापञ्चाग्निविद्यादहरविद्यादिष्वर्चिरादिका गतिः पठ्यते, नान्यासु मधुविद्याशाण्डिल्यादिविद्यासु । तत्र संशयः, किमुपकोशलादिविद्यावतामेव गतिरुपपद्यते? उत सर्वेषां ब्रह्मविद्यावताम्? इति, यत्र श्रूयते तद्वतामेवेति प्राप्ते उच्यते, अनियम इति । सर्वेषां सर्वब्रह्मविद्यावतां तयैव गमनसम्भवात् । उपकोशलादिविद्यावतामेवेति नियमो नास्ति । अत एव शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामविरोधः । अन्यथा विरोध एव स्यात् । श्रुतिस्तावच्छान्दोग्ये वाजसनेयके च पञ्चाग्निविद्यायामर्चिरादिना सर्वब्रह्मनिष्ठानां गमनमाह "य एवमेतद्विदुर्ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्ती"ति वाजसनेयके "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमे श्रद्धां तप इत्युपासते ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्ती"ति छान्दोग्ये "तत्र य इत्थं विदुरि"ति पञ्चाग्निविद्यानिष्ठान् "ये चेमे ऽरण्ये" इति श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासकांश्चोद्दिश्यार्चिरादिगतिरुपदिष्टा । "सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यं सत्यं ज्ञानमि"त्यत्र सत्यशब्दो ब्रह्मपरः, तपः शब्दो ऽपि तेनैकार्थतस्तत्पर एवेत्यर्थः । स्मृतिरपि "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणमि"त्यादिका अनेनैव मार्गेण सर्वेषां ब्रह्मोपासकानां गमनमाह । एवं चोपकोशलादिविद्यासु सर्वविद्या-

साधारणीयं गतिः प्राप्तैवानूद्यते ॥ ३१ ॥

इत्यानियमाधिकरणम् ॥ १३ ॥

## सू० यावदधिकारमवस्थिति-राधिकारिकाणाम् ॥३।३।३२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

वशिष्ठादीनां त्वधिकारफलकर्मवशाद्यावद-धिकारमवस्थितिः ॥ ३२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

ननु यदुक्तं विदुषां विद्याप्रभावाद्देह-वियोगकाले सर्वकर्मक्षयो ऽर्चिरादिमार्गेण विशि-ष्टपदप्राप्तिरिति तन्नोपपद्यते, विद्यावतां महा-मुनीनां वशिष्ठादीनामपि पुनर्जन्मसुखदुःखानु-भवदर्शनात्। वशिष्ठस्य पुनर्जन्म कुम्भे प्रसिद्धः एव। तस्य दुःखानुभवः स्मर्यते। "शतात्र् ह्युक्त्यवरान्पुत्रान् वशिष्ठस्य महात्मनः। भक्षया-मास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ वशिष्ठो घातितान् श्रुत्वा विश्वामित्रेण तान् सुतान्।

धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ॥ चक्रे चात्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः । न त्वेव कौशिकोच्छेदे मेने मतिमताम्वरः ॥ स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः । गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवापतत् ॥ न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव ! । तदाऽग्निमिद्धं भगवान्सम्विवेश महावने ॥ तं तदा सुसमिद्धो ऽपि न ददाह हुताशनः । स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः ॥ बध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदम्भसि । स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः ॥ जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाश्रमं प्रति" इत्यादिना हर्षानुभवश्च स्मर्यते । अदृश्यन्त्याख्यया बध्वा चाश्रमे ऽनुसृतो ऽभवत् । अथ शुश्राव सङ्गत्या वेदाध्ययननिःस्वनम् ॥ पृष्ठतः परिपूर्णार्थं षड्भिरङ्गैरलङ्कृतम् । अनुव्रजति को ह्येष मामित्येवाथ सो ऽब्रवीत् । अहमित्यदृश्यन्तीमं सा स्नुषा प्रत्यभाषत । शक्तेर्भार्या महाभागा तपोयुक्ता तपस्विनी । पुत्रि! कस्यैष साङ्गस्य वेदस्याध्ययनस्वनः

पुरा साङ्गस्य वेदस्य शक्तेरिव मयाश्रुतः । अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते । समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यस्यतो मुने ! । एवमुक्तस्तया हृष्टो वशिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः । अस्ति सन्तानमित्युक्त्वा मृत्योः पार्थ ! न्यवर्त्तत" इत्यादि ।

इत्याशङ्कामिदानीं निराकरोति —

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।

आधिकारिकाणां वशिष्ठादीनां कर्मविशेषेण वेदप्रवर्त्तनादिष्वधिकारेषु वर्त्तमानानां यावदधिकारमवस्थितिः, अधिकारप्रदस्य प्रारब्धकर्म्मणोऽनिवृत्तत्वात् । तस्मात्तेषामप्यधिकारप्रदप्रारब्धकर्मणः भोगेन क्षये सति अधिकारसमाप्तौ चरमदेहवियोगकाले सर्वकर्मक्षयोऽर्चिरादिमार्गप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इति यावदधिकाराधिकरणम् ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।

ननु यदुक्तं विदुषामुत्क्रमणकाल एव सुकृतदुष्कृतनाशो,

अर्चिरादिका गतिश्चेति, तदयुक्तं वशिष्ठादीनां ब्रह्मविदामपि दुःखादियोगस्य देहान्तरप्राप्तेश्च शास्त्रसिद्धत्वादित्यत उत्तरमाह यावदिति । नहि ज्ञानिमात्रस्य देहवियोगसमये सर्वकर्मक्षयो विवक्षितः । अपि तु येषां देहपातानन्तरमेवार्चिरादिगत्या ब्रह्मप्राप्तिस्तेषामेव । वशिष्ठादीनां तु प्रारब्धस्याधिकारस्यासमाप्तत्वात् कर्मविशेषेणाधिकारविशेषं प्राप्तानां तेषां यावदधिकारसमाप्तितद्धेतुभूतकर्मक्षयो न भवति, तावत्तद्भोगायावस्थितिरविरुद्धेति ॥ ३२ ॥

इति यावदधिकाराधिकरणम् ॥ १४ ॥

## सू० अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यातद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३ । ३ । ३३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमि"त्यक्षरसम्बन्धिनीनामस्थूलत्वादिधियां ब्रह्मविद्यासु सर्वासु परिग्रहः । कुतः ? सर्वत्राक्षरस्य ब्रह्मणः प्रधानस्य समानत्वाद्गुणानां चस्थूलत्वादीनां तत्स्व-

रूपानुसन्धानान्तर्भावाच्च । यथा "जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु सामवेदपठितस्य मन्त्रस्याग्नेर्वैहोत्रमि"त्यादेर्याजुर्वैदिकेन स्वरेण-प्रयोगः क्रियते, तदुक्तं "गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वात् मुख्येन वेदसंयोग" इति ॥ ३३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

विदुषामप्यधिकारसमाप्तिपर्य्यन्तस्थितिकथनेन तेषामपि चेतनाचेतनात्मकात् प्रपञ्चादुत्क्रमणं प्रपञ्चविलक्षणपुरुषोत्तमाधीनमेवेति सूचितम् । इदानीं तस्यैव जगज्जन्मादिहेतोः सर्वचेतनाचेतननियन्तुः सर्वस्मात्स्थूलत्वादिनोपलभ्यमानादचेतनवर्गात् अणुत्वादिना श्रूयमाणाच्च चेतनवर्गाद्विलक्षणस्वरूपस्य स्वाभाविकनित्यानन्तगुणगणनिधेः श्रीपुरुषोत्तमस्य गुणाः अस्थूलत्वानणुत्वादयो विद्वद्भिः सर्वासु तद्विषयकासु विद्यासु चिन्तनीया इत्याह —

**अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ।**

बृहदारण्यके गार्गीं प्रति याज्ञवल्क्यस्योत्तरं

श्रूयते "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन एतस्य वा ऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इति । एवमाथर्वणे "अपि "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" इत्यक्षरं ब्रह्मोपक्रम्य श्रूयते " यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादमि" ति । तत्राक्षरशब्दनिर्दिष्टस्य ब्रह्मणो जडाजडविलक्षणत्वापादका अस्थूलत्वानणुत्वाद्रेश्यत्वाग्राह्यत्वादयो गुणा बृहदारण्यकाथर्वणपठिताः सर्वासु ब्रह्मविद्यासूपसंहर्त्तव्याः ? उत नेति ? संशयः, नोपसंहर्त्तव्याः प्रयोजनाभावादिति प्राप्ते – अस्ति प्रयोजनं तास्वपि ब्रह्मविद्यासु प्रतिपत्तृभिश्चिदचिद्विलक्षणं ब्रह्मप्रतिपत्तव्यमित्याह – अक्षरं धियां त्ववरोध इति । अक्षरं ब्रह्म तत्सम्बन्धिन्यश्चिदचिद्विलक्षणतत्स्वरूपप्रतिपत्त्यर्थाः अस्थूलत्वानणुत्वादिबुद्धयस्तासामपि सर्वासु ब्रह्म-

विद्यास्ववरोधः परिग्रहः । आनन्दादीनां स्वरूपगुणानामुपसंहारः "आनन्दादयः प्रधानस्ये"त्यत्रोक्तः। तद्वदस्थूलत्वानणुत्वादिगुणानां तदितरानन्दसादृश्यभ्रान्तिशान्तये सर्वत्रोपसंहारो न्यायः इत्यर्थः । कस्मात्? सामान्यतद्भावाभ्याम् । चिदचिद्विलक्षणस्योपास्यस्वरूपस्य प्रतिपत्तव्यस्य सर्वासु ब्रह्मविद्यासु समानत्वात् तेषामस्थूलत्वानणुत्वादीनां गुणानां प्रधानस्वरूपानुसन्धानान्तर्भावाच्च तेषां तदनुवर्त्तित्वादित्यर्थः । गुणानां प्रधानानुवर्त्तित्वे दृष्टान्तः । औपसदवदिति । यथा जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणायजते"ति *जामदग्न्ये ऽहीने ×पुरोडाशिनीषूपसत्सु पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्तीत्युपदिष्टासु सामवेदपठिताः "*अग्नेर्वेहोत्रमि"त्येवमादयो मन्त्राः

---

* जमदग्निना कृतो जामदग्न्य अहीनश्चतुरात्रः क्रतुस्तस्मिन् ।

× क्रतौ पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्तीति पुरोडाशसाध्या-इष्टयस्तासु ।

* वेर्देवगणस्य होत्रम् अध्वरं च कर्माग्नेस्त्वत्त एवेत्यग्न्या-मन्त्रणमन्त्रार्थः ।

प्राधानानुवर्त्तितया अध्वर्युणोपांशुत्वेन याजुर्वेदिकेन स्वरेण प्रयुज्यन्ते । तदुक्तं „जैमिनिनेति शेषः । "*गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग" इति ॥ ३३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ।

"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चने" ति बृहदारण्यके वाजसनेयिभिराम्नायते । "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादमि" ति चाथर्वणे तत्र सन्दिह्यते ? किमिमेऽक्षरब्रह्मसम्बन्धित्वेन श्रुता अस्थूलत्वादयो गुणाः सर्वासु विद्यासूपसंह्रियेरन् ? उत यत्र श्रुतास्तत्रैव ? इति । किं तावद्युक्तं, तत्र विद्याविशेषरूपतया श्रुतानां तेषां सर्वविद्यासाधारणत्वाभावात् प्रतिषेधरूपतया ऽऽनन्दादिवत्स्वरूपावगमोपायत्वाभावाच्च यत्र श्रुतास्तत्रैव नियता इति प्राप्ते ब्रूते--अक्षरधियान्त्विति । अक्षरधियाम् अक्षरसम्बन्धिनीनामस्थूलत्वादिबुद्धीनामप्यानन्दादिवत्सर्वब्रह्मविद्यास्व-

* गुणमुख्ययोर्व्यतिक्रमे विरोधे सति मुख्येन बलीयसा मन्त्रात्मवेदस्य अध्वर्युणा सम्प्रयोग उत्पत्तेर्विनियोगार्थत्वादिति जैमिनिसूत्रार्थः ।

वरोधः परिग्रह उपसंहार इत्यर्थः । कुतः? सामान्यतद्भावाभ्याम् । सर्वासु विद्यासूपास्यस्याक्षरब्रह्मणः समानत्वात् । अस्थूलत्वादिगुणबुद्धीनां ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानान्तर्भावाच्च । न केवलमानन्दादिभिर्ब्रह्मणो ऽसाधारणं स्वरूपमुपस्थाप्यते, जीवात्मन्यपि तेषां विद्यमानत्वात् । अस्थूलत्वादिभिर्विशेषितं त्वानन्दादि-ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनो व्यावर्तकं, प्रत्यगात्मनस्तु स्वभावतः स्थूलत्वाद्यचेतनधर्मासम्बन्धित्वे ऽपि तत्सम्बन्धार्हता ऽस्त्येव । तदर्हतया हि पूर्वं तत्सम्बन्धः सञ्जातः । अतो ब्रह्मणस्तदनर्हस्वरूपानुसन्धानतया ऽस्थूलत्वादीनामानन्दादिवद्ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरत्वात्सर्वासु विद्यासूपसंहारः । एवं चास्थूलत्वादिविशेषितविज्ञानानन्दादिस्वरूपं ब्रह्मसर्वविद्यास्वनुसन्धेयमिति गुणानां प्रधानवशवर्त्तित्वे दृष्टान्तः । *औपसदवदिति । यथा-जामदग्न्ये ऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु सामवेदपठिताः "×अग्नेर्वेर्होत्रं वेरध्वरमि" त्येवमादयो मन्त्राः सामवेदपठितत्वेन सामवेदस्वरनियता अपि प्रधानभूतोपसद्वशवर्त्तित्वात् याजुर्वेदिकत्वाच्चोपसदो याजुर्वेदिकोपांशुस्वरसम्बधिनस्तद्वदक्षर-विद्यासम्बन्धितया ऽधीतत्वेन तद्विद्यानियता अप्यस्थूलत्वादयः प्रधानवशवर्त्तित्वस्वभावात्सर्वविद्यासम्बन्धिनः । तदुक्तं प्रथम-

---

*उपसदामिमे औपसदा मन्त्रास्तद्वत् ।

× अहीनश्चतुरात्रः क्रतुः ।

काण्डे *"गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग" इति ॥ ३३ ॥

# सू० इयदामननात् ॥३।३।३४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अस्थूलत्वादिविशेषितैरानन्दादिभिः सर्वोत्कृष्टब्रह्मचिन्तनाद्धेतोरियदा(नन्दा)दिकं सर्वत्रानुवर्त्तनीयं, प्रधानानुर्त्तिनो ऽपि सर्वकर्मत्वादयः यत्रोक्तास्तत्रानुसन्धेयाः ॥ ३४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः" इत्यादिश्रुत्युक्तानां गुणानामपि प्रधानानुवर्त्तित्वेन सर्वत्रोपसंहार उक्तन्यायेन प्राप्नोतीत्यत्राह —

---

*उत्पत्तिविधिर्गुणः फलसापेक्षत्वादुत्पन्नस्य फले विनियोगविधिर्मुख्यः सफलत्वात्तथा च मन्त्राणामुद्गात् वेदोत्पन्नत्वादुद्गात्रा प्रयोगः विनियोगविधिना ऽध्वर्युणा प्रयोग इति गुणमुख्ययोर्व्यतिक्रिमे विरोधे सति मुख्येन बलीयसा मन्त्रात्मकवेदस्याध्वर्युणा संयोगः उत्पत्तेर्विनियोगार्थत्वादिति जैमिनिसूत्रार्थः ।

इयदामननात्।

इयत् अस्थूलत्वादिविशेषितमानन्दादिकं सर्वासु ब्रह्मविद्यासु प्राप्नोति। कुतः? आमननात्। अस्थूलत्वादिविशेषितेनानन्दादिगुणजातेनेतरव्यावृत्तिपूर्वकं चिदचिद्विलक्षणब्रह्मामननमाभिमुख्येन तच्चिन्तनं भवति, तस्माद्धेतोरित्यर्थः। सर्वकर्मत्वादीनां प्रधानानुवर्त्तित्वेऽपि सर्वत्रोपसंहारे प्रयोजनविशेषाभावाद्यत्र पाठस्तत्रैवोपयोगः। तस्मादक्षरधियामेवावरोध इति सिद्धम्॥३४॥

इत्यक्षरध्यधिकरणम्॥१५॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

नन्वेवं "सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरस" इत्यादीनामपि सर्वेषां ब्रह्मगुणत्वेन प्रतिविद्यं चिन्तनीयतया व्यवस्थितानामपि व्यवस्थानं स्यात्सर्वविद्यासु ब्रह्मण एव गुणित्वाद्गुणानां च प्रधानतन्त्रत्वादिति चेत्तत्राह —

इयदामननात्।

इयदस्थूलत्वादिविशेषितमानन्दाद्येव सर्वत्रानुसन्धेयम्। कुतः? आमननाद्धेतोः। आमननं ह्याभिमुख्येन मननं परब्रह्मस्वरूपानुचिन्तनं, तच्च येन विना नोपपद्यते तदेवानन्दादिगुणजातं सर्वत्रानुसन्धेयम्। सर्वकर्मत्वादिकं तु तत्र तत्र व्यवस्थितमित्यर्थः॥३४॥　इत्यक्षरध्यधिकरणम्॥१५॥

# सू० अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३ । ३ । ३५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ननु बृहदारण्यके "यत् साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व" इत्युषस्तप्रश्ने "यः प्राणेन प्राणिति स ते आत्मा सर्वान्तर" ( इत्यादिप्रतिवचनं तत्र अन्तरा स ते आत्मा सर्वान्तर ) देहाद्यन्तरत्वेन प्रत्यगात्मसम्बन्ध्युपदेशः। तस्यैव प्राणापानादिहेतुत्वात् । तथैव "तत्र यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"ति कहोलप्रश्ने योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येती"त्यादिप्रतिवचनं, तत्र तु परमात्मविषय उपदेश इति विद्याभेदः। इतरथा प्रतिवचनभेदानुपपत्तिरिति चेन्न, उभयत्र मुख्यस्यैव सर्वान्तर्यामिनः प्रश्नप्रतिवचनयोर्विषयत्वात् । यथा

सत्यविद्यायां सतः परमात्मनस्तत्तद्गुणप्रतिपादनाय "भगवांस्त्वेवमेतद्ब्रवीतु भूय एव मां भगवान्विज्ञापयत्वि"ति प्रश्नस्य "एषो ऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमि"ति प्रतिवचनस्य चावृत्तिर्दृश्यते। तद्वदत्रापि वेद्यस्याशनाद्यतीतत्वप्रतिपादनाय प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिरुपपद्यते ॥ ३५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

अस्थूलत्वादिगुणोपसंहारार्थके पूर्वाधिकरणे तत्त्वान्तरविलक्षणत्वं वेद्यस्य दर्शितम्। तद्दाढर्यार्थमिदानीं वक्ष्यमाणवाक्यद्वये विद्यैक्यं दर्शयन्नेकस्मिन्नपि वेद्ये तत्त्वद्वयभ्रान्तिं निराकरोति —

अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनो ऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्।

बृहदारण्यके "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व"त्युषस्तो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ। "तत्र यः प्राणेन प्राणिति स ते आत्मा सर्वान्तरो यो ऽपानेन पानिति स ते आत्मा

सर्वान्तर" इत्यादिप्रतिबचनम् । एवमेतदनन्तरब्राह्मणे "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"ति कहोलप्रश्ने "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरामृत्युमत्येति एवं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चेत्याद्यतो ऽन्यदार्त्तमि" त्यन्तं प्रतिवचनम् । तत्र संशयः, किमुभयत्र प्रश्नप्रतिवचनयोर्विद्याद्वयपरत्वम्? उत विद्यैक्यपरत्वमिति । तत्र पूर्वपक्षमुपन्यस्य दूषयति, अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नेति "य आत्मा सर्वान्तर" इत्युषस्तप्रश्ने "यः प्राणेन प्राणिति स ते आत्मा सर्वान्तर" इति अन्तरा सर्वात्मत्वेन प्रतिवचनं भूतग्रामवतः स्वात्मनः प्रत्यगात्मनोऽभ्युपगन्तव्यम् । जीवस्य प्राणनादिहेतुत्वात्सर्वस्य देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यादेरन्तरात्मत्वेन सर्वान्तरत्वोपपत्तेश्च । परिशेषात्कहोलप्रश्नोत्तरं मुख्यान्तरात्मभूतपरमात्मविषयं, परमात्मन एव अशनादिराहितत्वात् । एवं रूपभेदाद्विद्याद्वयपरत्वं प्रश्नप्रतिवचनयोः । अन्यथोभयत्र प्रश्न-

प्रतिवचनयोः परमात्मपरत्वेन विद्यैक्ये प्रतिवचनभेदानुपपत्तिः, इति चेन्न, विद्याभेदो नास्तीत्यर्थः । प्रश्नप्रतिवचनद्वयस्यैकरूपपरमात्मपरत्वात् । तथाहि "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"ति उषस्तप्रश्नस्तावत्परमात्मपर एव। भगवन् याज्ञवल्क्य! यद्ब्रह्म तन्मे व्याचक्ष्व सत्त्वादिबृहद्गुणयोगादेवात्मशक्तिभूतं ब्रह्म न पृच्छामीत्याशयेनाह । "अपरोक्षाद्ब्रह्माचक्ष्व य आत्मे"ति प्रत्यगात्माऽपि धर्मभूतज्ञानात्मकगुणयोगाद्ब्रह्म, तल्लक्षणं ब्रह्म न पृच्छामीत्याशयेनाह "साक्षाद्ब्रह्म व्याचक्ष्व य आत्मा सर्वान्तर" इति । एवं भूतं तु ब्रह्मोक्तलक्षणं जगत्कारणं पुरुषोत्तमाख्यमेवेति प्रश्नस्य परब्रह्मपरत्वमवगम्यते । "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः एष ते आत्माऽन्तर्यामी अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः यस्मात्क्षरमतीतो ऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः । यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वस्य

चाहं हृदि संनिविष्ट " इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च । " यः प्राणेन प्राणिति स ते आत्मा सर्वान्तर " इत्यादि प्रतिवचनमपि श्रीपुरुषोत्तमपरमेव, परस्यैव मुख्यप्राणनकर्त्तृत्वात् । " को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि "ति श्रुतेः । उत्तरप्रश्नप्रतिवचनयोः परमात्मपरत्वमङ्गीकृतमेव पूर्वपक्षेऽपि सर्वप्राणिप्राणनहेतोः पुरुषोत्तमस्य अशनादिरहितत्वप्रतिपादनाय प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिः । तत्र दृष्टान्तमाह । उपदेशान्तरवदिति । यथा खलु एकस्यामेव सद्विद्यायां " स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्य " इति प्रक्रान्तायां " भगवांस्त्वेवमेतद्ब्रवीतु भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु " इति प्रश्नावृत्तिः "एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमि"ति प्रतिवचनावृत्तिश्चैकस्यैव वेद्यस्य तत्र तत्र गुणविशेषप्रतिपादनाय दृश्यते, तद्वत् ॥३५॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ।

बृहदारण्यके उषस्तप्रश्न एवमामनन्ति वाजसनेयिनः "यत्सा-

क्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"ति तत्र प्रतिवचनं "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तर" इत्यादि । असन्तोषात् पुनस्तेन पृष्टो याज्ञवल्क्य आह "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरो ऽतो ऽन्यदार्त्तमि"ति । ततः कहोलप्रश्ने चैवं श्रूयते "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"ति । तत्र प्रतिवचनं च "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चेत्याद्यतो ऽन्यदार्त्तमि"त्यन्तं, तत्र विचिकित्स्यते । किमत्र विद्याभेदः ? उत न ? इति । भेदः इति । कुतः ? प्रतिवचनभेदेन रूपभेदात् । पूर्वत्र प्राणनादिहेतुः प्रत्यगात्मा सर्वान्तरात्मत्वेनोच्यते, उत्तरत्राशनायाद्यतीतः परमात्मेत्युपास्यभेदाद्रूपं भिद्यते इत्येवमाशङ्क्य परिहरति " अन्तरा य आत्मा सर्वान्तर उषस्तप्रश्नो भूतग्रामवतः स्वात्मनः प्रत्यगात्मन इत्यभ्युपगन्तव्यः, सर्वस्य देहादेरन्तरात्मत्वेन तस्य सर्वान्तरत्वोपपत्तेः । अन्यथा प्रश्नस्य मुख्यान्तरात्मपरमात्मपरत्वे प्रतिवचनभेदानुपपत्तिः परमात्मनश्चाशनायादिरहितत्वात्प्राणितृत्वापानितृत्वाद्यसम्भवेन प्रतिवचनस्य तत्परत्वासम्भवादिति चेन्नेति, न प्रश्नद्वयं प्रतिवचनद्वयं च भिद्यते, तयोरुभयत्र परमात्मविषयत्वात् । तथा हि प्रथमप्रश्नः परमात्मविषय एव । तत्र ब्रह्मशब्दस्य क्वचिज्जीवादिष्वपि गौण्या वृत्त्या प्रयोगो दृश्यते, तद्व्यावृत्त्यर्थं यत्साक्षादिति विशेषणम् । अपरोक्षत्वमपि " सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे "त्यनन्तत्वेनावगतस्य परमात्मन एव सर्वदेशकालसम्बन्धित्वेनोपपद्यते । सर्वान्तर-

त्वमपि सर्वान्तर्यामिणः परमात्मन अथवान्तर्यामिब्राह्मणादव-गतम्। तथैव प्रतिवचनमपि तद्विषयमेव। मुख्यप्राणनकर्तृत्वं हि परमात्मन एव। जीवस्य सुषुप्तिमूर्च्छादौ प्राणनादिकं प्रति कर्तृत्वादर्शनात्। एवमजानतोषस्तेन प्रतिवचनस्य प्रत्यगात्म-साधारणत्वं मन्वानेनासन्तोषात्पुनः पृष्टस्तं प्रति तद्व्यावृत्तं मुख्यं सर्वप्राणिप्राणनादिकर्तारं परमात्मानमाह "न दृष्टेर्द्रष्टारमि" त्यादिना करणाधीनदर्शनश्रवणादिकर्त्ता प्रत्यगात्मा प्राणनादि-कर्तृत्वेनोक्त इति न मन्वीथाः, सुषुप्त्यादौ तस्य तदभावात्। "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि"-ति परमात्मन्येव तच्छ्रवणात्। एवमुत्तरत्र प्रश्नप्रतिवचने अपि परमात्मविषये अशनायाद्यतिक्रमणस्य तदसाधारणत्वात्। तत्र दृष्टान्तः—उपदेशान्तरवदिति। "यथा स्तब्धोऽस्युत तमादेशम-प्राक्ष्य "इतिप्रक्रान्तायामेकस्यामेव सद्विद्यायां "भगवांस्त्वेवमे तद्ब्रवीतु भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु" इति प्रश्नावृत्तिः प्रतिवचनभेदश्च वेद्यस्य माहात्म्यविशेषप्रतिपादनपरतया दृश्यते। तद्वदिहापि वेद्यस्याशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनाय प्रश्नप्रतिवचनयोर्द्विराम्नातम्। अत एकस्यैव सर्वान्तर्यामिणो निखिलप्राणिप्राणनकारणत्वाशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनेन रूपा-भेदाद्विद्यैक्यम्॥ ३५॥

## सू० व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत्॥ ३। ३। ३६॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सर्वप्राणिप्राणनादिहेतुत्वेन जीवाद्व्यावृत्तस्य परस्यानुसन्धानमुषस्तवत्कहोलेनापि कार्य्यं, तथा ऽशनाद्यतीतत्वेन जीवाद्व्यावृत्तस्य कहोलवदुषस्तेनापि कार्यमेवमन्योऽन्यमनुसन्धानव्यत्ययः । एवं सति जीवाद्ब्रह्मव्यावृत्तं भवति । यतो याज्ञवल्क्यप्रतिवचनान्युभयत्रैकं सर्वात्मानमुपास्यं विशिषन्ति । यथा सद्विद्यायाकमेव सद्ब्रह्म सर्वाणि प्रतिवचनानि शिषन्ति ॥ ३६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ननूभयत्र प्रश्नस्य प्रतिवचनस्य च मुख्यसर्वान्तरात्मविषयत्वमस्तु । तथापि विद्यैक्यं न भवति, पूर्वब्राह्मणे सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वगुणविशिष्टस्य मुख्यान्तरात्मनः उषस्तप्रतिपत्तव्यतयाभिन्नरूपत्वेन उत्तरब्राह्मणे ऽशनाद्यतीत्वगुणविशिष्टस्य मुख्यान्तरात्मनः कहोलप्रतिपत्तव्यतया भिन्नरूपत्वेन च विद्याभेदसम्भवादित्यत्राह —

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ।

सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनातीतत्वयोर्गुणयोर्व्यतिहारो व्यत्ययोऽस्ति । उषस्तेनापि गुणद्वयेन व्यावर्त्तकेन चेतनात् व्यावृत्तं सर्वान्तरात्मभूतमेकं परं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमेवं कहोलेनापि हि यतोऽल्पदेशस्थत्वादिगुणयुक्तात् क्षेत्रज्ञात् श्रीमत्पुरुषोत्तमं सर्वान्तरात्मनामुपास्यं व्यावृत्तमवगमयितुं सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनाद्यतीतत्वादिगुणनिरूपणेन याज्ञवल्क्यप्रतिवचनानि विशिंषन्ति । क्षेत्रज्ञात् व्यावृत्तं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, इतरवत् । इतरत्र सद्विद्यायां यथा भूयोभूयः प्रतिवचनैर्नानागुणप्रतिपादकैः एकमेव वेद्यतया ब्रह्म व्यवच्छिद्यते, नतु गुणभेदेन तत्र तत्रोपास्यतया भिद्यते, तद्वत् ॥ ३६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वेवमप्युपास्यगुणस्य प्राणितृत्वाशनायाद्यतीतत्वस्य भेदेन रूपभेदात्प्रष्टृभेदाच्च विद्याभेदो ऽवर्जनीय इत्याशङ्क्याह —

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ।

द्वयोः पृष्ट्रोः प्रश्नस्यैकरूपत्वेन सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मैक-

विषयत्वे निश्चिते सत्येकस्मिन्नेवोपास्ये ब्रह्मण्युषस्तकहोलयोरितरेतरं बुद्धेर्व्यतिहारो व्यत्ययः कार्यः, उषस्तस्य या सर्वान्तरस्य ब्रह्मण प्राणनादिहेतुत्वविषयाबुद्धिः सा कहोलेनापि कार्या । तथा ऽशनायाद्यतीतत्वविषयाबुद्धिरुषस्तेनापीति । एवं सति ब्रह्मणो जीवव्यावृत्तिर्निश्चिता भवति । विशिषन्ति ह्युभयत्र याज्ञवल्क्यप्रतिवचनान्येकं सर्वान्तरात्मानमेवोपास्यम् । इतरवत् । यथेतरत्र सद्विद्यायां सर्वाणि प्रतिवचनान्यकेमव सच्छब्दवाच्यं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, तद्वत् ॥ ३६ ॥

## सू० सैव हि सत्यादयः ॥३।३।३७॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सैव सत्यशब्दाभिहिता "सेयं देवतैक्षत तेजः परस्यां देवतायामि"ति प्रकृतैव खलु यथा सौम्य ! "मधुमधुकृतो निस्तिष्ठन्ति" इत्यादिपर्यायेष्वनुवर्त्तते "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमि"ति प्रथमपर्य्याये पठिता एव सत्यादयः सर्वेषु पर्य्यायेषूपसंह्रियन्ते ॥ ३७ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

ननु सद्विद्यायामपि प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिसत्त्वे कुतो निश्चीयते उपास्यमेकमेवेत्यत्राह —

सैव हि सत्यादयः ।

सैव हि सच्छब्दनिर्दिष्टा परा देवतैव खलु "सेयं देवतैक्षत तेजः परस्यां देवतायामि"ति "प्रकृता सर्वेषु यथा सौम्य ! मधुमधुकृतो निस्तिष्ठन्ती"त्यादिषु पर्य्यायेषु अनुवर्त्तते । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे"ति प्रथमपर्य्याये पठिता एव सत्यादयः सर्वेषु पर्य्यायेषूपसंह्रियन्ते ऽतः सद्विद्यायामुपास्यमेकमेव । तस्मादुभयत्र प्रश्नप्रतिवचनयोर्विद्यैक्यपरत्वमिति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

इत्यन्तरत्वाधिकरणम् ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिसत्त्वे सद्विद्यायामप्युपास्यैक्यं कथमवगम्यते ? इति चेत्तत्राह —

सैव हि सत्यादयः ।

सैव हि सच्छब्दाभिहिता "सेयं देवतैक्षत तेजः परस्यां देवतायामि"ति प्रकृता परा देवतैव यथा सौम्य ! मधुमधुकृतो निस्तिष्ठन्ती" त्यादिसर्वपर्यायेष्वनुवर्त्तते " ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे" ति प्रथमपर्याये पठिता एव सत्यादयः सर्वेषु पर्यायेषूपसंह्रियन्ते । केचित्त्वेतत्सूत्रद्वयमधिकरणद्वयं

मन्यन्ते, तत्र पूर्वेण "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी"ति "तद्यो ऽहं सो ऽसौ (यो सौ सो ) हमि" ति च वाक्ये जीवपरयोर्व्यतिहारोयमाध्यानायाऽऽम्नायते इत्याहुस्तद-नादरणीयं, तस्य "सर्वं खल्विदं ब्रह्म ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसी" त्यादिना ब्रह्मणि प्राप्तसर्वात्मत्वविषयत्वान्नात्रापूर्वं किञ्चित्प्रतिपादनीयमस्ति । वक्ष्यति च "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे" ति उत्तरसूत्रेण । "स यो हैतमेवं महद्यक्ष्यं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मे" त्यादिवाक्ये "तद्यत्तत्सत्यमसौ स-आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः यश्चायं दक्षिणे ऽक्षि-न्पुरुष" इत्यादिवाक्ये च सत्यविद्यैकैवेत्याहुस्तदप्यसम्यक्, उत्तरवाक्ये ऽक्ष्यादिस्थानभेदादुपास्यरूपभेदेन फलसंयोगादि-भेदेन च विद्याभेदस्य पूर्वमेव "न वा विशेषादि" त्यनेन प्रतिपादितत्वात् ॥ ३७ ॥ इत्यन्तरत्वाधिकरणम् ॥ १६ ॥

# सू० कामादीतरत्र तत्र चाय-तनादिभ्यः ॥ ३।३।३८॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो ऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मि-न्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमि "ति उपक्रम्य " एष

आत्मा अपहतपाप्मा "त्यादिना सत्यकामत्वादिगुणवतः छान्दोग्ये " स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिंच्छेते, सर्वस्य वशी सर्वस्येशान " इति वशित्वादिगुणवतः परमात्मन उपास्यत्वं वाजसनेयके च श्रूयते। इहोभयत्र विद्यैक्यं यतः सत्यकामत्वादिवाजसनेयके वशित्वादि च छान्दोग्ये गृहीतव्यम्। कुतः? आयतनाद्यविशेषात् ॥ ३८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

एकत्र पठितेन ब्राह्मणद्वयेन प्रतिपादिता विद्या रूपाभेदान्न भिद्यत इति किमु वक्तव्यं, रूपाभेदात्पृथक् ग्रन्थे ऽपि श्रूयमाणा विद्या न भिद्यत इतीदानीमाह —

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः।

"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्म पुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मदहरो ऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यामि"त्याकाशशब्देन पर-

मात्मानमुक्त्वा तस्य गुणाष्टकवैशिष्ट्यं छन्दोगैः पठ्यते । "एष आत्मा ,अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प" इति वाजसनेयिभिश्च "स वा एष महानज आत्मा यो ऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते" इत्युक्त्वा "सर्वस्य वशी सर्वस्येशान", इत्यादिना वशित्वादिगुणवैशिष्ट्यं परमात्मनः पठ्यते । तत्र संशयः, किं छन्दोगानां वाजसनेयिनां च विद्या भिद्यते ? किं वा विद्यैक्यमिति ? एकत्राकाशशब्दवाच्यस्यापहतपाप्मत्वादिगुणवतः परमात्मन उपास्यत्वमितरत्राकाशविशेषान्तर्गतस्य वशित्वादिगुणवतः उपास्यत्वमेवं सति रूपभेदेन वेद्यभेदः प्राप्नोति तस्माद्विद्या भिद्यत इति प्राप्ते ब्रूमः । विद्यैक्यमिति । रूपाद्यभेदात्तथाह—कामादीति । कामादिसत्यकामत्वादि छान्दोग्यश्रुत्या "ऽपहतपाप्मे"त्यादिनोक्तं गुणजातमितरत्र वाजसनेयके योजनीयम् । तत्र च छान्दोग्ये च वाजसनेयकश्रुत्युक्तं वशित्वादिगुणजातं योजनीयम् । एवं

सति रूपं न भिद्यते, तथात्वे वेद्यैक्याद्विद्यैक्यम् । अन्योऽन्यगुणयोगे हेतूनाह—आयतनादिभ्यः । हृदयाख्यस्यायतनस्य वेद्यस्य ब्रह्मणः सेतुव्यपदेशस्य "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, अभयं वै ब्रह्म भवती"ति ब्रह्मप्राप्तिरूपस्य फलसंयोगस्य चोभयत्राविशेषात् ॥ ३८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।

"अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमि"त्युपक्रम्य छन्दोगैराम्नायते "एष आत्माऽपहतपाप्मे"त्यादि । वाजसनेयिभिश्च "स वा एष महानज आत्मा यो ऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" इत्यादि । तत्र किमनयोर्विद्याभेदः ? उत नेति ? संशये एकत्रापहतपाप्मत्वादिविशिष्टस्योपास्यत्वमितरत्राकाशे शयानस्य वशित्वादिगुणविशिष्टस्योपास्यत्वमिति रूपभेदाद्विद्या भिद्यते इति प्राप्ते, इदमुच्यते-कामादीति । छान्दोग्ये श्रुतं सत्यकामत्वादिगुणजातमितरत्र वाजसनेयके संग्रहीतव्यं, वशित्वादयश्च तत्र छान्दोग्ये सङ्ग्रहीतव्याः । कुतः ? आयतनादिभ्यः । समानं ह्युभयत्र हृदयमायतनं सेतुत्वविधारणत्वादि च । "परं ज्योतिरुपसम्पद्ये"ति "अभयं वै ब्रह्म भवती"ति च ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलं चैकम् , अतो

रूपैक्यात्स्थानाद्यैक्यात् फलैक्याच्च न विद्याभेदः । एवं च छान्दोग्ये श्रुत आकाशशब्दो ब्रह्मवाचीति "दहर उत्तरेभ्य" इत्यत्रोक्तम् । "आकाशे शेते" इत्यत्र त्वाकाशशब्दो हृदयपुण्डरीकवर्त्त्यवकाशवाचीति ॥ ३८ ॥

## सू० आदरादलोपः ॥ ३।३।३९॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आदरादाम्नातानां सत्यकामत्वादीनां प्रतिषेधो नास्ति "नेह नाने"ति प्रतिषेधस्याब्रह्मात्मकपदार्थपरत्वात् ॥ ३९ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु यदुक्तं वाजसनेयके पठितं वशित्वादिगुणजातं छान्दोग्ये योजनीयमिति, तन्नोपपद्यते । "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति एकधैवानुद्रष्टव्यम् एतदप्रमेयामि"ति प्रकृतवाक्यात् "स एष नेति नेत्यात्मे"त्युपरितनाद्वाक्याच्च निर्विशेषत्वं परस्य प्राप्नोत्यतः स्थूलत्वाणुत्वादिवद्वशित्वादिगुणजातं निषेध-

विषयमित्यवगम्यते ऽतश्छान्दोग्ये ऽपि सत्य-कामत्वादिगुणजातं प्रतिषेध्यं बोध्यमेवं सत्येवं-जातीयकगुणाभावो मोक्षार्थासूपासनासु प्राप्नो-तीत्यत्राह —

आदरादलोपः ।

"तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् एष आत्मा-ऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजि-घत्सो ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः तद्य-इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्का-मान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति, अथ य इह आत्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति सर्वस्य वशी सर्वस्येशान एष सर्वेश्वरः एष सर्वभूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण-एषां लोकानामसम्भेदाये "त्यादिना ऽपूर्वत्वे-नादरादुपदिष्टानां प्रतिषेधानर्हाणां सत्यकामत्वा-दीनां वशीत्वादीनां च परब्रह्मगुणानामलोपो ऽप्रति-षेधः। अपि तूपसंहारः कर्त्तव्यः, प्रतिषेधे प्रमाणा-भावात् । " नेह नानाऽस्ति किञ्चने "त्यादि-

श्रुतिस्तु चिदचिद्भिन्नाभिन्ने पूर्वोक्तलक्षणे ब्रह्मणि जगत्कारणे नानातान्निरपेक्षस्थितिप्रवृत्ति-मत्तयेतरेतरसत्ताश्रयं वस्तुजातं किञ्चन नास्ति, सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वात्तत्राब्रह्मात्मकतया नानेव यः पश्यति स मृत्योर्मृत्युमाप्नोति, एकधै-वानुद्रष्टव्यं सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वादब्रह्मात्मक-तत्त्वान्तराभावादिति वदति, नतु पारमा-र्थिकानां ब्रह्मगुणानां लोपं प्रतिपादयति ॥ ३९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु यदुक्तमुभयत्रापि सत्यकामत्वादिवशित्वादिगुणजातं सङ्गृहीतव्यमिति, तदनुपपन्नं, "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति एक-धैवानुद्रष्टव्यमि" ति प्रकृतवाक्यात्, " स एष नेति नेत्यात्मे"त्युप-रितन ( वक्ष्यमाण ) वाक्याच्च प्रतीतस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणो न सत्यकामत्वादयो वशित्वादयश्च पारमार्थिकाः गुणाः । अतस्तेषां मोक्षफलासु विद्यासु लोप इति चेत्त-त्राह —

आदरादलोपः ।

प्रमाणान्तराऽप्रतिपन्नस्य श्रुत्येकसमधिगम्यस्य सत्यकामत्वादे-र्ब्रह्मगुणतया ऽऽदरेण प्रतिपादनादलोपः अप्रतिषेधः । अपि तूपसंहार एव कर्त्तव्यः । अन्यथा ब्रह्मगुणतया ऽऽदरेण प्रति-

पाद्य, भूयः स्वयमेव तन्निषेधे प्रवृत्तस्य शास्त्रस्यौन्मत्त्यप्रतारकत्वादिदोषापत्तिरिति । " नेह नाने "त्यादिश्रुत्यर्थस्तु पूर्वमेवोक्तः ॥ ३९ ॥

## सू० उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ३ । ३ । ४० ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उक्तलक्षणया ब्रह्मोपासनया ब्रह्मोपसम्पन्ने सर्वलोकेषु कामचारो भवति । ननु तत्तल्लोकप्राप्तिसङ्कल्पपूर्वकं तत्तत्साधनानुष्ठानं विना कुतः सर्वत्र कामचारः ? तत्रोच्यते । ( अतः ) उपसम्पत्तेरेव हेतोः "परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"ति वचनात् ॥ ४० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु " तद्य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स यदि पितृलोककामो भवती "त्यादिषु सत्यकामत्वादिगुणवत्प्रकृतब्रह्मविदां

मुमुक्षूणामपि बुभुक्षुसाधारणलोकप्राप्तिः श्रूयते। एवं सति कर्मनिष्ठातो ज्ञाननिष्ठायाः को विशेष इत्यत्राह —

उपस्थिते ऽतस्तद्वचनात् ।

उपस्थिते परब्रह्मभावमापन्ने कार्य्यकारणप्रकृतिसम्बन्धविनिर्मुक्ते विदुषि सति सर्वलोकेषु कामचारो भवति। कुतः? अत एव। ब्रह्मभावप्राप्तेरेव हेतोः। अयमर्थः यथा साम्राज्यकामः पुरुषः सर्वजनसाधारणान् भोग्यपदार्थान् तत्साधनान्यतिहाय साम्राज्यं तदुपायेन प्राप्नोति। तत एव हेतोः पश्चादनीप्सितेष्वपि सर्वजनसाधारणेषु भोग्येषु तद्दुर्लभेषु च कामचारस्तस्य भवति। तथा विद्वान् सर्वानैहिकानामुष्मिकान् भोगान् तत्तल्लोकसाधनानि च विहाय भगवच्छ्रवणमननध्यानाराधनादिना तद्भावं प्राप्नोति, तद्भावप्राप्तेरेव सर्वत्र कामचारो भवति। कुतो ऽवगम्यते? इत्यत्राह— तद्वचनादिति। तद्वचनात्सर्वत्र कामचारविषयकवचनात्। "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपे-

णाभिनिष्पद्यते । स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्य्येति जक्षन्क्रीडन् रममाणस्त्रीभिर्वा—यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड् भवति । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति "या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाऽऽप्नोति नरो नारायणाश्रयः" इत्यादेः। इति सत्यकामत्वादि-गुणविशिष्टब्रह्मज्ञाननिष्ठायाः कर्मनिष्ठातो महद्वै-लक्षण्यमस्ति । तस्माच्छन्दोगानां वाजसने-यिनां च सत्यकामत्वादेर्वशित्वादेश्चेतरेतरोपसं-हारेण ब्रह्मविद्यैकैवेति सिद्धम् ॥ ४० ॥

इति कामाधिकरणम् ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वेवमपि सगुणोपासने "स यदि पितृलोककामो भवती" त्यादि ना पितृलोकादिप्राप्तिश्रवणात् तस्याश्च सांसारिकफल-त्वेन न मोक्षफलत्वम् । अतो न सगुणं ब्रह्म मुमुक्षोरुपास्यमिति न सत्यकामत्वादयो ब्रह्मप्रेप्सुनोपसंहार्या इत्याशङ्क्याह —

उपस्थिते ऽतस्तद्वचनात् ।

उपस्थितिरुपस्थानं ब्रह्मोपसम्पत्तिः । उपस्थिते ब्रह्मोपस-म्पन्ने निवृत्तसर्वाविद्ये स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्ने प्रत्यगात्मनि

अतो ब्रह्मसम्पत्तेरेव 'हेतोः तद्वचनात् पितृलोकप्राप्तिवचनात् न तत्सांसारिकं फलम् । अपि तु संसारान्मुक्तस्य सर्वबन्धविनिर्मुक्तस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्नस्यैव "स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"त्याद्युच्यते, अतः सर्वलोकेषु कामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वादुपसंहार्या मुमुक्षुणाऽपि सत्यकामत्वाद्यो गुणाः ॥ ४० ॥

इति कामाधिकरणम् ॥ १७ ॥

## सू० तन्निर्द्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ३।३।४१॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्यादिकर्माङ्गाश्रयोपासनस्य कर्मस्वनियमः । कुतः ? "तेनोभौ कुरुते यश्चैतदेवं वेद यश्च नैवं वेदे"ति श्रुतौ तस्यानियमस्य दर्शनात् । अनुपासकस्यापि प्रणवेन कर्माङ्गभूतेन कर्माणि

कर्त्तृत्वश्रवणादुपासनकर्मस्वनियतत्वं निश्चीयते। यतश्च कर्मफलादुपास्यस्य पृथक्फलं "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"त्युपलभ्यते ॥ ४१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

कर्मणः सकाशाद्विद्यायाः सर्वलोकेषु विद्वत् कामचारपरमपदहेतुतया महद्वैलक्षण्यं पूर्वाधिकरणान्ते दर्शितमिदानीं साङ्गस्यापि कर्मणोऽनुष्ठितस्य फलात् कर्माङ्गाश्रितायाः विद्यायाः फलस्य श्रेष्ठत्वात्कर्मणो विद्यायाः श्रैष्ठ्यं दर्शयति —

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्।

सन्ति खलु कर्माङ्गभूतोद्गीथाद्याश्रयाण्युपासनानि, "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्यादीनि। तत्र किं तानि कर्मसु पर्णमयीत्वादिवन्नियमेनोपसंहर्त्तव्यानि? उत गोदोहनादिवदनियमेनेति? संशयः। तत्र पूर्वः पक्षः। "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरमि"

त्याद्युद्गीथाद्युपासनाविषयकानिर्देशस्य " यस्य पर्ण-मयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोती "ति पर्णमयीत्वादिसम्बन्ध्यपापश्लोकश्रवणवत् पृथक् फलत्वाभावात् कर्माङ्गाश्रयाण्युपासनानि कर्मा-ङ्गभूतोद्गीतादिद्वारा जुह्वादिद्वारा पर्णतादिवत् कर्माङ्गतया नियमेनोपसंहर्त्तव्यानीति। तत्र ब्रूमः तन्निर्द्धारणानियम इत्यादि, मनसो निरवशेषतया धारणं निर्द्धारणमुपासनमित्यर्थः। तत्तस्य कर्मा-ङ्गाश्रयस्य निर्धारणास्योद्गीथाद्युपासनस्यानियमः, क्रतुषु तदङ्गतया नियमेनोद्गीथाद्युपासनं नोप-संहार्य्यमित्यर्थः। कुतः ? तद्दृष्टेः। तस्यानियमस्य दृष्टिः श्रुतौ दर्शनं तस्मादित्यर्थः। तथाहि " तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेदे"ति श्रुतौ अविदुषो ऽपि कर्त्तृत्वकथनेन कर्मा-ङ्गभूतोद्गीथाश्रया विद्या कर्माङ्गतया कर्मणि नियमेनोपसंहार्य्येति नियमाभावो निश्चीयते। कर्मफलात्पृथग्भूतस्योपासनाविधिफलस्य सत्त्वा-द्यपि तन्निर्धारणानियम इत्याह। पृथग्धीति। हि यतः कर्मफलात्पृथक् अप्रतिबन्धः अप्रतिबन्धरूपमुपा-सनाविधेः फलं श्रूयते, प्रलबकर्मान्तरफलेन कर्म-

फलं प्रतिबध्यते, तद्विपरीतमुपासनाविधेः फलमित्यर्थः । "तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती "ति तेनोङ्कारेणोभौ खलु कर्म कुरुतः । य एतदोङ्काराख्यमक्षरमेवं रसतमत्वादिगुणकं वेद, यश्च न वेद, कर्त्तृत्वेन तयोः समत्वेऽपि विद्याऽविद्याभ्यां फले विकल्प इत्याह । तत्र ज्ञानं विद्या सा ऽविद्यापेक्षया नाना भिन्ना तया यत्कर्म विद्यया श्रद्धया उपनिषदा रहस्यदेवताध्यानेन करोति तद्वीर्य्यवत्तरं भवतीत्यर्थः । तस्माद्यथा गोदोहनेन पशुकामस्यापः प्रणयेदित्यत्राप्प्रणयनमाश्रित्य गोदोहनफलं (पशुं) साधयति प्रणयति । शब्दोपादानसामर्थ्यान्न तत्र गोदोहनस्य कर्माङ्गत्वं, तद्वत् कर्मसु कर्माङ्गाश्रयाण्युपासनान्यनियमेनोपसंहार्य्याणीति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

इति तन्निर्द्धारणाऽनियमाधिकरणम् ॥ १८ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते" त्याद्याः कर्माङ्गाश्रया विद्याः श्रूयन्ते । तत्र संशयः, ताः किं कर्मसु पर्णमयीत्वादिवन्नियमेनोपादेया ? उत गोदोहनादिवदनियमेनेति ? तत्र नियमेनोपादेया इति । यतो "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवती" त्युद्गीथादिविद्यासम्बन्धिनो वर्त्तमाननिर्देशस्य पर्णमयीत्वादिसम्बन्ध्यपापश्लोकश्रवणवत्पृथक्फलत्वप्रतिपादनायोगात् । यत्त्वासां स्ववाक्येषु फलं श्रूयते "आपयिता ह वै कामानां भवती" त्यादि, तदप्यर्थवादमात्रमपापश्लोकश्रवणादिवत् न फलप्रधानं, तस्माद् "यथा यस्यपर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोती" त्येवमादीनामनारभ्याधीतानामपि जुह्वादीमुखेन कर्मसु प्रवेशादारभ्याधीतवन्नियमेनोपादेयत्वं, तथाऽऽसामपि कर्माङ्गभूतोद्गीथादिमुखेन कर्मसु प्रवेशात्क्रत्वङ्गतया नियमेनोपसंहार्यत्वमिति प्राप्ते, ब्रूमः । तन्निर्धारणानियम इति । निर्धारणं निश्चयेन मनसो धारणमुपासनमित्यर्थः । तस्योद्गीथाद्युपासनस्य कर्मस्वनियमः । कुतः ? तद्दृष्टेः "तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्चन वेद" इत्युद्गीथोपासनरहितस्याविदुषोऽपि क्रत्वनुष्ठानवचनेनोपासनानुष्ठानस्यानियमदर्शनात् । उपासनस्य कर्माङ्गत्वे तु तदनुपपत्तेः, साङ्गक्रतुफलात्स्वर्गादेः पृथग्भूतवीर्यवत्तरत्वं ह्यस्योपासनस्य फलं, तच्चाप्रतिबन्धरूपं, प्रतिबध्यते हि कर्मफलं प्रबलकर्मान्तरफलेन, अस्य तु तदभावः । श्रुत्यर्थस्तु यदेव कर्मविद्ययोद्गीथाद्युपास्त्या श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्योपनिषदा रहस्यदेवताध्यानेन करोति, तदेव कर्म वीर्यवत्तरं फलातिशयवद्भवतीति कर्मणो वीर्यवत्त्वं नाम फलवत्त्वं, तद्विद्याहीनस्यापि

गम्यमानं विद्याया अनङ्गत्वं सूचयति । अतः कर्माङ्गाश्रयाणामप्युद्गीथादिविद्यानां पृथक् फलत्वाद्गोदोहनादिवत्कर्मस्वनियमेनोपादेयत्वम् ॥ ४१ ॥ इति तन्निर्द्धारणाऽनियमाधिकरणम् ॥ १८ ॥

# सू० प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥

३।३।४२॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

दहरस्य गुणिनस्तद्गुणविशिष्टतया गुणचिन्तनेऽपि चिन्तनमावर्त्तनीयम् । "इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेदिन्द्रायाधिराजाय स्वराज्ञ" इति पुरोडाशप्रदानवत्तदुक्तम् " नाना वा देवतापृथक्ज्ञानादिति ॥ ४२॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र कर्माङ्गाश्रयमुपासनं कर्मसु नियमेन नोपसंहार्यमित्युक्तम् । तत्राङ्गाश्रयमुपासनमङ्गिनिरपेक्ष्यं यथा तथा गुणोपासनं गुणिनिरपेक्ष्यमित्याशङ्क्येदानीमिदमुच्यते—

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।

" तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ती "ति दहरविद्यायां दहराकाशमात्मानं गुणिनं पूर्वमु-

पास्यमुक्त्वा पुनः "एतांश्च सत्यान्कामान्" इत्य-
पहतपाप्मत्वादिगुणानामप्युपासनं पृथगेवाभि-
धीयते । 'तत्र किं गुणवेदने दहराकाशस्य
गुणिनस्तत्तद्गुणवत्त्वेन वेद्यत्वमस्ति ? न
वेति ? संशयः । सदैव दहराकाशस्यापहतपाप्म-
त्वादिगुणविशिष्टत्वेन चिन्तयितुं शक्यत्वा-
द्गुणोपासने तत्तद्गुणविशिष्टतया तस्य चिन्तनं
नावर्त्तनीयमिति प्राप्ते, प्रचक्ष्महे । प्रदानवद्द-
हराकाशस्य गुणिनस्तेषां गुणानां चिन्तने
तत्तद्गुणविशिष्टत्वेन चिन्तनमावर्त्तनीयम् । अय-
मर्थः, यद्यपि तेषां गुणानामपहतपाप्मत्वादी-
नामेक एव दहराकाशो गुणी, तथापि तत्त-
द्गुणविशिष्टाकारविवक्षयाऽपहतपाप्मा विजरः
इत्यादौ नानात्वेन चिन्तनीय इति "यथेन्द्राय
राज्ञे पुरोडाशमेकादश कपालं निर्वपेदिन्द्रा-
याधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे" इत्यस्यां त्रिपुरोडाशि-
न्यामिष्टाविन्द्रस्यैव 'राजत्वादिगुणविशिष्टत्वे-
ऽपि राजाधिराजस्वराजगुणभेदेन तत्तद्गुणविशिष्ट-
देवताभेदात्पुरोडाशानां प्रदानस्य प्रक्षेपस्या-
वृत्तिः, तद्वत् । तदुक्तं देवताकाण्डे "नाना वा

देवता पृथक्ज्ञानादि "ति । तस्माद्गुणचिन्तनेऽपि दहराकाशस्य तत्तद्गुणविशिष्टतया तत्तदाकारेण चिन्तनमावर्त्तनीयमिति सिद्धम् ॥४२॥

इति प्रदानाधिकरणम् ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।

दहरविद्यायां दहराकाशमुपास्यत्वेनोक्त्वा "तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामानि" त्यपहतपाप्मत्त्वादिगुणानामपि गुणिस्वरूपोपासनवत्पृथगुपासनमुक्तं, तत्र किं गुणचिन्तने गुणिनोऽनुचिन्तनमावर्त्तनीयम् ? उत नेति ? संशयः, दहराकाशस्य परमात्मन एकस्यैव सर्वगुणानां गुणित्वेन सकृदेव तच्चिन्तनोपपत्तेर्नावर्त्तनीयमिति प्राप्ते, आह । प्रदानवदिति । "यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेदिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे" इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टाविन्द्रस्यैकत्वेऽपि राजत्वादिविशिष्टाकारभेदाद्देवताभेद इति प्रदानावृत्तिस्तद्वद्गुणिस्वरूपैक्ये ऽपि तत्तद्गुणविशिष्टाकारभेदादावर्त्तनीयमेवेति । तदुक्तं* सङ्कर्षे "नाना वा देवता पृथग्ज्ञानादि"ति ॥ ४२ ॥

इति प्रदानाधिकरणम् ॥ १९ ॥

सू० लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि । ३।३।४३ ।

---

* सङ्कर्षो देवताकाण्डः ।

वेदान्तपारिजातसौरभः।

मनश्चितो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः कर्मचितोऽग्निचित " इत्याद्यग्नयः यत्किञ्चेमानि मनसा सकल्पयन्ति तेषामेव साकृतिरिति "तान्हैतानेवं विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि विचिन्वन्त्यपि स्वपते" इत्येवमादिलिङ्गानां बाहुल्याद्विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एव । लिङ्गं हि प्रकरणाद्बलीयस्तदपि शेषलक्षणे उक्तं "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादि"ति ॥ ४३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

इदानीं वक्ष्यमाणा अग्नयो ऽपि कर्माङ्गाश्रयोपासनवत्कर्माङ्गतया न गृहीतव्या—इत्याह —

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।

" नैव वा इदमग्रे सदासीन्नाप्यसादि "त्युपक्रम्य मनस आविर्भावमभिधाय " तन्मनआत्मनोऽमीनपश्यादि "ति मनोऽधिकृत्य

" षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितस्ते मनसैवाधीयन्त मनसा चीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसा स्तुवन्तः मनसा शंसन् यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते " इत्यादि, एवमेव " वाक्चितः चक्षुश्चितः कर्मचितोऽग्निचित " इति च साङ्कल्पिकान्मनश्चिदादीनग्नीन् वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये आमनन्ति । "पुरुषायुश्शतं वर्षाणि तत्र षट्त्रिंशत्सहस्राण्यहोरात्राणि भवन्ति, तत्रैकस्मिन्नहोरात्रे बह्व्यो मनोवृत्तय उत्पद्यन्ते । तासामेकाहोरात्रजन्यत्वेनैकत्वं गृह्यते । इत्थं षट्त्रिंशत्सहस्राहोरात्रावच्छिन्ना मनोवृत्तयः खलु षट्त्रिंशत् सहस्राणि भवन्ति, ताश्च क्रत्वङ्गभूतेष्टकात्वेन तथाभूताग्नित्वेन च षट्त्रिंशत् सहस्राणीत्यादिना प्रतिपाद्यन्ते । "तत्र मनसा चीयन्ते सम्पाद्यन्ते" इति मनश्चितः एवं प्राणचित इत्यादिश्रुत्यर्थः यथायथं बोध्यः । तत्र संशयः, एतेऽग्नयः मनश्चिदादयः कर्मप्रकरणपठितत्वात् किं क्रियामयक्रत्वङ्गभूताः ? आहोस्विद्विद्यामयक्रत्वङ्गभूताः ? इति । तत्र तावत्सिद्धा-

न्तमुपक्रमते । लिङ्गभूयस्त्वादिति । विद्यामय-क्रत्वङ्गभूता एव । कस्मात् ? लिङ्गभूयस्त्वात् । "यत्किञ्चेमानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिरिति तान्हैतानेवं विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इत्यादीनां लिङ्गानां भूयस्त्वात् बाहुल्यात् । तद्धि लिङ्गं हि प्रकरणाद्बलीयः, तदपि बलीयस्त्वमपि देवताकाण्डे उक्तम् । "श्रुतिलिङ्ग-वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादि"ति ॥ ४३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ।

वाजसनेयिनो ऽग्निरहस्ये "मनश्चितो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितो ऽग्निचिदि"त्यादिना मनश्चिदादीनग्नीन्साम्पादिकान्*पठन्ति । तत्र संशयः, किमेते क्रियामयक्रत्वङ्गभूताः ? उत प्राधान्यज्ञापकलिङ्गभूयस्त्वाद्विद्यामयक्रत्वङ्गभूताः ? इति, तत्र सिद्धान्तं तावदाह — लिङ्गभूयस्त्वादिति । लिङ्गं सामर्थ्यं "तद्यत्किञ्चेमानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव साकृतिरिति "तान्हैतानेवं विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इत्येवमादिलिङ्गानां भूयस्त्वात् बाहुल्यात् विद्यारूपा एवैते । तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयस्तदप्युक्तं शेष-

---

* साङ्कल्पिकानित्यर्थः ।

लक्षणे "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादि"ति समवाये समानविषयत्वेन द्वयोर्विरोधे परस्य दौर्बल्यम् । कुतः ? अर्थविप्रकर्षात् स्वार्थबोधने परस्य पूर्वव्यवधाने न प्रवृत्तेरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

## सू० पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रियामानसवत् ।३।३।४४॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अथ पूर्वः पक्षः "इष्टकाभिरग्निं चिनुत" इति विहितस्य क्रियामयस्य पूर्वस्यैवायं विकल्पः प्रकरणात् स्यात् । लिङ्गस्यात्रार्थवादस्थत्वेन बलीयस्त्वाभावात् उक्ता अग्नयः क्रियारूपा एव, मनो ग्रहं गृह्णातीति वत् ॥४४॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अथ पूर्वपक्षयति* —

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत् ॥

"इष्टकाभिरग्निं चिनुत" इति विहितस्य

*द्वाभ्यां सूत्राभ्याम् ।

पूर्वस्यैवाग्नेरयं विकल्पः प्रकारः स्यात्। कुतः? प्रकरणात्। "असद्वा इदमग्र आसीदि"त्यादिना पूर्वत्रेष्टकाचितस्याग्नेः प्रकृतत्वात्। ननु प्रकरणस्य लिङ्गाद्दौर्बल्यमुक्तमिति चेन्न, उक्तलिङ्गस्यार्थवादस्थत्वेन प्रकृतसाङ्कल्पिकाग्निस्तुतिपरत्वेन विध्येकवाक्यतया स्वार्थपरत्वाभावात्। तस्मात्तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता प्रकरणेन बाध्यते, तस्मादेते विद्यारूपा अप्यग्नयः क्रियारूपा एव, मानसवत्, यथा द्वादशाहस्य दशमे ऽहनि "अनया त्वापात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनो ग्रहं गृह्णाती"ति मानसग्रहस्य विद्यारूपस्यापि क्रियामयक्रत्वङ्गत्वेन क्रियारूपत्वम्, तद्वत्॥ ४४॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अथ पूर्वः पक्षः —

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत्।

"पूर्वस्यैव क्रियामयस्येष्टकाभिरग्निं चिनुत" इति विहितस्येष्टकचितस्याग्नेरयं विकल्पः स्यात्तत्प्रकार इत्यर्थः। यथा ऽसौ क्रत्वङ्गस्तथायमपीत्यर्थः। कुतः? प्रकरणात्। "असद्वा इदमग्रआसीदि" त्यादिना पूर्वत्रेष्टकचितस्याग्नेः प्रकृतत्वात्तस्य च

क्रियामयक्रत्वव्यभिचारित्वेन तत्र क्रतुसान्निधानात्तत्प्रकरणपठिता मनश्चिदादयो ऽपि तद्विकल्परूपत्वेन क्रिया रूपा एव स्युः। ननु प्रकरणस्य लिङ्गाद्दौर्बल्यमुक्तमिति चेत्सत्यं विधिवाक्यस्थस्यैव लिङ्गस्य प्रकरणाद्बलीयस्त्वं, नत्वर्थवादस्थस्येति गृहाण विद्यारूपा अप्येते क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपतां लभन्ते, मानसवत् । "यथा द्वादशाहस्य दशमे ऽहन्यनया त्वापात्रेण समुद्रं रसया *प्राजापत्यं मनो ग्रहं गृह्णाती"ति मानसीक्रियाक्रत्वङ्गमेवमत्रापीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

## सू० अतिदेशाच्च ॥ ३।३।४५ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः" इति पूर्वस्याग्नेर्वीर्यं तेष्वतिदिश्यते अतस्ते क्रियारूपा एव ॥ ४५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अतिदेशाच्च ।

त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक ---

---

* अनया रसया पृथिव्या पात्रेण समुद्रं त्वां प्रजापतिदेवता कं मनो गृहं गृह्णते इति गृहः सोमरसः मनसा रसत्वेन भावितमध्वर्युर्गृह्णातीत्यर्थः ।

एव तावान् यावानसौ पूर्वः" इति पूर्वस्ये-ष्टकचितस्याग्नेर्वीर्यं तेष्वतिदिश्यते । एवं भूतादतिदेशाच्च मनश्चिदादयोऽग्नयः क्रिया-रूपा एव ॥ ४५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अतिदेशाच्च ।

इतश्चैषां क्रियारूपत्वं, "षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषा-मेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्व" इतिपूर्वस्येष्टकचितस्याग्नेः कार्यं तेष्वतिदिश्यते । ततश्चेष्टकचितवत् तेषामपि क्रतुनिर्वर्त्त-कत्वेन क्रत्वङ्गभूता एते क्रियारूपा एव ॥ ४५ ॥

## सू० विद्यैव तु निर्धारणात् दर्शनाच्च ॥ ३।३।४६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सिद्धान्ते विद्यात्मका एव ते । कुतः ? "ते हैते विद्याचित एवे"ति निर्द्धारणात् । अत्र "येषामाङ्गिनो विद्यामयक्रतोस्ते मनसा-ऽधीयन्त मनसा चीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृ-

ह्यन्त मनसा स्तुवन्त मनसा शंसन् यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते" इत्यादौ तदङ्गभूतविद्यामयक्रतुप्रतीतेश्च ॥ ४६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

सिद्धान्तमाह — ( सिद्धान्तयति ) ।

विद्यैव तु निर्द्धारणाद्दर्शनाच्च ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । एवकारोऽवधारणे । मनश्चिदादयोऽग्नयः क्रियारूपा न भवन्ति । किन्तु विद्यैव, विद्यात्मका एव, विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एवेत्यर्थः । कुतः ? निर्द्धारणदर्शनाच्च निर्द्धारणात् दर्शनाच्च । "तत्र ते हैते विद्याचित एवे"ति निर्धारणात् । "ते मनसैवाधीयन्त मनसा चीयन्त मनसैषु ग्रहाः अगृह्यन्त मनसा स्तुवन्तः मनसा शंसन्, यत् किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किञ्च यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेवाक्रियते" इत्यादौ तेषामङ्गी विद्यामयः क्रतुरत्रैव प्रतीयते, इत्येवं दर्शनाच्च ॥ ४६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इति प्राप्ते आह —

विद्यैव तु निर्द्धारणाद्दर्शनाच्च ।

तुशब्दात्पक्षव्यावृत्तिरेवकारो ऽवधारणे । मनश्चितादयो विद्यैव, विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एवेत्यर्थः । कुतः ? निर्धारणात् । तेषां साम्पादिकाग्नित्वेन विद्यारूपत्वे प्रसिद्धे ऽपि "ते हते विद्याचित एव "विद्यया हैवैत एवं विदश्चिता भवन्ती" ति च निर्धारणं विद्यामयक्रत्वङ्गतयैषां विद्यारूपत्वं ख्यापयति । दर्शनाच्च दृश्यते चात्रैवैषामङ्गी विद्यामयक्रतुः "ते ×मनसैवाधीयन्त मनसा ऽचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसास्तुवन्तः मनसा ऽशंसन् यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किञ्च यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेवाक्रियत" इत्यादौ ॥ ४६ ॥

## सू० श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥३।३।४७॥

---

× ते अग्नयः अधीयन्त तेषामाधानं मनसैव कुर्यात्, अचीयन्त इष्टकाश्चेतव्या इत्यर्थः, ग्रहाः पात्राणिः अस्तुवन्नुद्गातारः अशंसन् होतारः यत्किञ्च यज्ञे कर्म आरादुपकारकं यज्ञीयं यज्ञस्वरूपोत्पादकञ्च तत्सर्वं मनोमयं कुर्यात् इति श्रुत्यर्थः ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ते हैते विद्याचित एवे"ति श्रुतेः । "एवं विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि विचिन्वन्ती"ति लिङ्गस्य "विद्यया हैवै ते एवं विदश्चिता भवन्ती"ति वाक्यस्य च प्रकरणाद्बलीयस्त्वात्तेषामग्नीनां विद्यामयक्रत्वङ्गताबाधो न ॥ ४७ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु न तेषां मनश्चिदादीनामग्नीनामिह विद्यामयक्रत्वङ्गता युक्ता, "ते मनसाऽधीयन्ते" त्यादौ विधिपदाश्रवणात्फलसम्बन्धाप्रतीतेश्चेष्टकचिताऽग्न्युपस्थापितक्रियामयक्रतुप्रकरणेन तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता बाध्यते इत्यत्राह —

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।

न खलु प्रकरणेन तेषां विद्यामयक्रतुङ्गताबाधः । कुतः ? श्रुत्यादेः प्रकरणाद्बलीयस्त्वात् । आदिशब्देन लिङ्गवाक्ययोर्ग्रहणम् । "तत्र ते हैते विद्याचित एवे"ति श्रुतिः

"तान्हैतान् एवं विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्ती"ति *लिङ्गम् "विद्यया हैवैत एवं विदश्चिता भवन्ती"ति ×वाक्यम् ॥ ४७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु न तेषामिह विद्यामयक्रत्वङ्गता सम्भवति विधिपदाश्रवणात्फलसम्बन्धाप्रतीतेश्चेष्टकाचिताग्न्युपस्थापितक्रियामयक्रतुप्रकरणेन तद्बाधाच्चेत्याशङ्क्याह —

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।

न प्रकरणेन तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता बाध्यते, कुतः ? श्रुत्यादेः प्रकरणाद्बलीयस्त्वात् । श्रुतिस्तावत् "ते हैते विद्याचित एवे"ति "तथा तान्हैतान् एवं विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्ती"ति लिङ्गं, तथा वाक्यमपि" विद्यया हैवैतएवं विदश्चिता भवन्ती " ति एवं विदो मनआदिव्यापारेष्वग्नित्वं सम्पादयितुर्विद्यया विद्यामयक्रतुना सम्बधा एते मनश्चिदादयश्चिता भवन्तीत्येषां विद्यामयक्रतुसम्बन्धमाचक्षाणं क्रियामयक्रत्वङ्गशङ्कां निरुणद्धि ॥ ४७ ॥

## सू० अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥

३।३।४८॥

---

* शब्दसामर्थ्यलक्षणम् ।

× समभिव्याहारलक्षणम् ।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्ते"त्यादिभ्यः स्तोत्रशस्त्रादिभ्योऽनुबन्धेभ्यः श्रुत्यादिभ्यश्च विद्यामयः क्रतुः पृथगेव, शाण्डिल्यादिविद्यान्तरपृथग्वत्। तथा सति विधिः परिकल्प्यते। दृष्टश्चानुवादसरूपे "यदेव विद्यया करोती"त्यादौ कल्प्यमानो विधिः "वचनानि त्वपूर्वत्वादि"त्युक्तं च ॥ ४८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

यच्चोक्तं "मनसैवाधीयन्ते" त्यादौ विधिपदाश्रवणात्फलसम्बन्धाप्रतीतेश्च न तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता युक्तेति तत्राह —

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् दृष्टश्च तदुक्तम् ।

विद्यामयक्रतुः क्रियामयात्क्रतोः पृथगेव तदङ्गतैषां युक्तैव । कुतः ? अनुबन्धादिभ्यः, अनुबन्धातिदेशश्रुत्यादिभ्यः । तत्रानुबन्धाः "मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्ते"त्यादिनोक्ताः क्रियामयक्रतोस्त्वङ्गानां प्रत्यक्षसिद्धत्वात्(तत्)पृथग्विद्यामयक्रत्वभावे वृथैव स्युः । यज्ञानुबन्धिनो ग्रहाः स्तोत्रशस्त्रादयः "तेषामेकैक एतावान् यावान् असौ पूर्वः"

इत्यतिदेशः पूर्वोक्तः। अयमतिदेशो ऽभेदेनोपपद्यते, श्रुत्यादयः प्राक्प्रदर्शिताः। तत्र दृष्टान्तः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववदिति। प्रज्ञान्तराणां शाण्डिल्यादिविद्यानां तत्तदसाधारणैरनुबन्धादिभिः क्रियामयात्क्रतो(यथापृथक्त्वं)र्विद्यान्तरेभ्यश्च पृथक्त्वं,तद्वदत्रापि। एवं सति विधिः परिकल्प्यते। दृष्टश्चानुवादसरूपे "यदेव विद्यया करोती"त्यादौ कल्प्यमानो विधिः। तदुक्तम् "वचनानि त्वपूर्वत्वादि"ति फलसम्बन्धो ऽपि तेषामेकैक एव, "तावान्यावानसौ पूर्व" इत्यतिदेशादवगन्तव्यः॥ ४८॥

वेदान्तकास्तुभप्रभा ।

यच्चोक्तं "ते मनसैवाधीयन्ते" त्यादौ विधिपदाश्रवणात् फलसम्बन्धाप्रतीतेश्च न तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता सम्भवतीति तत्राह —

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् दृष्टश्च तदुक्तम्।

इष्टकचितसम्बन्धिक्रियामयक्रतोर्विद्यामयो ऽयं क्रतुः पृथक्त्वेनावगम्यते। कुतः? अनुबन्धादिभ्यः। अनुबन्धा "मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्ते"त्यादिनोक्ता यज्ञानुबन्धिनो ग्रहस्तोत्रशस्त्रादयस्तेभ्यः। आदिशब्दात्पूर्वोक्तातिदेशश्रुत्यादिग्रह। तत्र दृष्टान्तः प्रज्ञेति। यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिविद्याप्रभृतीनि स्वस्वानुबन्धा-

दिहेतुभिः क्रियामयात्क्रतोर्विद्यान्तरेभ्यश्च पृथगवतिष्ठन्ते, एव-मयमपि। एवं चानुबन्धैः श्रुत्यादिना च पृथक्विद्यामयक्रतु-निश्चये विधिः परिकल्प्यते, दृष्टश्चानुवादसरूपे "यदेव विद्यया करोती"त्यादौ कल्प्यमानो विधिः। तदुक्तं "वचनानि त्वपूर्वत्वा-दि"ति इष्टकचिताग्नेः स्वक्रतुद्वारेण यत्फलं तदेव तेषामपि स्वक्रतुद्वारेण फलं तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्व "इत्य-तिदेशात् ॥ ४८ ॥

## सू० न सामान्यादप्युपलब्धे-र्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः॥

३ । ३ । ४९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

मानसग्रहसामान्यादप्येषां न क्रियामयक्र-त्वङ्गत्वम्, विद्यारूपत्वोपलब्धेः । "स एष एवं मृत्युर्यएष तस्मिन् मण्डले पुरुषः अग्निर्वै मृत्युरि"-त्यग्न्यादित्यपुरुषयोर्मनःसादृश्येन वैषम्यापगमः, नहि "लोको गौतमाग्निरि"त्यग्नेर्लोकापत्तिः ॥४९॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

यच्चोक्तं मानसवन्मनश्चिदादीनामग्नीनां

क्रियामयक्रत्वङ्गत्वमिति तद्दूषयति —

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः।

"अनया त्वापात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोगृहं गृह्णामी"ति मानसेन ग्रहेण मनश्चिदादीनां मानसिकत्वसामान्यादपि क्रियामयक्रत्वङ्गत्वं न कल्प्यम्। कुतः? तेषां श्रुत्यादिभ्यो विद्यामयक्रत्वङ्गतोपलब्धेः। किञ्चित्साद्दश्यस्य महद्वैषम्यबाधकत्वाभावादिति भावः। तत्र दृष्टान्तमाह। मृत्युवत्, यथा "स एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष" इति "अग्निर्वै मृत्युरि"ति वाऽऽदित्यपुरुषस्याग्नेश्च मृत्युशब्दनिर्दिष्टत्वसाम्येऽपि परस्परवैषम्यम्। यथा वा "असौ वाव लोको गौतमाग्निरि"ति नहि लोकस्याग्न्यापत्तिः, तद्वत् मनोग्रहस्य मनश्चिदादीनामग्नीनां च मानसिकत्वसाम्ये ऽपि परस्परवैषम्यम्॥ ४९॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

यत्तूक्तं मानसवदिति तत्राह —

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः।

न मानसग्रहसामान्यात्तुल्यत्वादपि मनश्चितादीनां क्रियामयक्र-

त्वङ्गत्वं कल्प्यम् । कुतः ? उपलब्धेः, पूर्वोक्तश्रुत्यादिहेतुभ्यो विद्यारूपत्वोपलब्धेः । न हि किञ्चित्सादृश्यं कस्यचित्केनचिन्नास्ति, नच तावता वैषम्यनिवृत्तिः मृत्युवत् यथा पूर्वस्मिन्मण्डलब्राह्मणसमाप्तौ "स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष" इति "अग्निर्वै मृत्युरि"ति चाग्न्यादित्यपुरुषयोर्न सादृश्यादेकतापत्तिः । यथा च "असौ वाव लोको गौतमाग्निरि"ति न ह्यग्नेर्लोकापत्तिर्लोकस्य वाऽग्न्यापत्तिस्तथा ऽत्रापि क्रियारूपत्वविद्यारूपत्ववैषम्येऽपि मानसत्वसामान्यं न विरुध्यते, विषमयोरपि साम्यदर्शनात् ॥ ४९ ॥

## सू० परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥

३।३।५०॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अयं वाव लोक एषो ऽग्निचित" इत्यनन्तरेण चास्य शब्दस्य मनश्चिदाद्यग्निविषयस्य ताद्विध्ये मनश्चिदादिषूपादेयानामग्न्यङ्गानां भूयस्त्वाद्बहुत्वात्तेषां क्रियाऽग्निसन्निधावनुबन्धः ॥ ५० ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।

मनश्चिदाद्यग्निब्राह्मणात्परेण "अयं वाव लोक एषो ऽग्निचित" इत्यनेन लोकपूर्णब्राह्मणेन चकारात् "यदेतन्मण्डलं तपती"त्यनेन पूर्वेण ब्राह्मणेनास्यापि (शब्दस्य) तन्मध्यस्थस्य ब्रह्मणस्य ताद्विध्यं विद्याविधि(वत्)त्वम् । विद्याप्रधानपूर्वोत्तरब्राह्मणमसम्भिव्या*हारदत्रापि विद्यायाः प्राधान्यमिति यावत् । नन्वस्मिन्ब्राह्मणे विद्यायाः प्राधान्यं चेत्तर्हि क्रियोपक्रमस्य किं प्रयोजनमित्यत्राह । भूयस्त्वादिति । क्रियाग्न्यङ्गानां विद्याग्निषु सम्पादनीयानां भूयस्त्वाद्बहुत्वात् विद्याग्नीनां क्रियाग्न्युपक्रमेणानुबन्धः प्रतिपादनम् । तस्मान्मनश्चिदादयो ऽग्नयो विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एवेति सिद्धम् ॥ ५० ॥ इति लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥२०॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

किञ्च पूर्वोत्तरब्राह्मणयोः केवलविद्याविधानात्तन्मध्यस्थस्या-

---

* साहचर्य्यादस्यापि विद्यापरत्वम् ।

स्यापि ब्राह्मणस्य केवलविद्याविधिपरत्वमित्याह —

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।

परेण "चायं वाव लोक एषो ऽग्निचित "इत्यनन्तरेण लोकपूर्णब्राह्मणेनास्य मनश्चिताद्यभिधायिनः शब्दस्य ताद्विध्यं तद्विधत्वं विद्यामयत्वं प्रतिपादितमवगम्यते । "तेन हि विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्र दक्षिणायन्ति नाविद्वांसस्तपस्विन "इति केवलकर्मनिन्दापूर्वकं विद्यां प्रशंसता विद्यैव विधीयते, अतो ऽग्निरहस्ये क्रिया एव विधीयन्ते इति नियमो नास्ति । एवं तर्हि विद्यामयमनश्चिदादीनां क्रियाग्निना सह पाठः किमर्थमित्यत आह । भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः इति । मनश्चितादिषु सम्पादनीयानामग्न्यङ्गानां भूयस्त्वात्तेषां क्रियाग्निसन्निधावनुबन्धः कृतः, नतु कर्माङ्गतया, तस्मान्मनश्चिदादयो ऽग्नयो विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एवेति सिद्धम् ॥ ५० ॥

इति लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ २० ॥

## सू० एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥३।३।५१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उपासनवेलायां बद्धावस्थःप्रत्यगात्मा चिन्तनीयः शरीरे तादृशस्यैवात्मनः सत्त्वादित्येके ॥ ५१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

विद्यामयक्रत्वङ्गत्वेन मनश्चिदादीनामनुसन्धानमनन्तरं निर्णीतमिदानीमुपासनकाले तत्फलाधिकारी प्रत्यगात्मा ऽपि किमाकारो ऽनुसन्धेय इति चिन्त्यते —

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।

किमुपासनकाले ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्याकारमात्रो बद्धावस्थः प्रत्यगात्माऽनुसन्धेयः ? आहोस्विन्मुक्तावस्थः आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टस्वरूपः ? इति संशयः । तत्रैके बद्धावस्थ एव ज्ञातृत्वाद्याकारमात्रो ऽनुसन्धेयः । कुतस्तदानीं शरीरेऽपहतपाप्मत्वाद्याकारस्याविर्भूतस्वरूपस्य मुक्तावस्थस्यात्मनोऽभावात् । यद्वा तादृशस्यैव बद्धावस्थस्य सत्त्वादिति मन्यन्ते ॥ ५१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।

पूर्वं "त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च" इत्यनेन त्रयाणामप्युपास्योपासकोपासनानां स्वरूपस्य सर्वासु परविद्यासु ज्ञेयत्व-

मुक्तं, वर्ण्यते चोपासकस्यात्मतया परमात्मोपास्यः, उपासकश्चोपास्यात्मकतया ऽनुसन्धेयः "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे"त्यनेन । तत्र संशय्यते, किमयं प्रत्यगात्मा शरीरे वर्त्तमानः ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टस्वरूपोऽनुसन्धेयः ? उत प्रजापतिवाक्योक्तापहतपाप्मत्वादिगुणको यथा ऽवस्थितरूपः ? इति, तत्र ज्ञातृत्वादिविशिष्टमेव तत्स्वरूपमनुसन्धेयमित्येके मन्यन्ते । कुतः ? आत्मनः शरीरे भावात् । शरीरे वर्त्तमानस्योपासितुरात्मनस्तथाभावात् ॥ ५१ ॥

# सू० व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥३। ३ । ५२॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

बद्धाकाराद्विलक्षणो मुक्ताकारः प्रत्यगात्मा साधनकाले ऽनुसन्धेयस्तादृग्रूपस्यैव मुक्तौ भावित्वात् । ध्यानानुरूपपरमात्मप्राप्तिवत् ॥ ५२ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

तत्रोच्यते —

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ।

तुशब्दो ऽवधारणे । ज्ञातृत्वकर्तृत्वाद्याकार-

मात्रो बद्धावस्थ एव प्रत्यगात्माऽनुसन्धेयोऽपि तु बद्धावस्थस्वरूपादस्यात्मनो यो व्यतिरेकः आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणको ज्ञातृत्वादिधर्मको मुक्तावस्थस्वरूपः स उपासनकालेऽनुसन्धेयः । कुतः? तद्भावभावित्वात् । तद्भावस्योपासनकाले यथाशास्त्रमनुसन्धेयस्य स्वरूपभावस्य मुक्त्यवस्थायां भावित्वात् । ब्रह्मोपलब्धिवत् । यथा ब्रह्मोपलब्धिर्यथाचिन्तनं भवति, तद्वत् । "यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती"ति "तं यथा यथोपासते तदेव भवती"ति च श्रुतेः । तस्मान्मुक्तावस्थः प्रत्यगात्मा साधनावस्थायामनुसन्धेय इति सिद्धम् ॥ ५२ ॥　　इति शरीरे भावाधिकरणम् ॥२१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नहि कर्मिणां कर्तृत्वाद्यतिरेकेण फलानुभवदशायां यादृशं रूपं तादृशं साधनानुष्ठानदशायामनुसन्धीयते तावतैव साधनानुष्ठानतत्फलयोः सम्भवात् । तथैवोपासकस्यापि देहस्थस्य यादृशं रूपं तावतैवोपासनानुष्ठानतत्फलयोः सिद्धेः । "यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती"ति तु "तं यथा यथोपासत" इत्यनेनैकार्थ्यात्परमात्मविषयमित्येवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह —

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ।

तुशब्दोऽवधारणे । न ज्ञातृत्वादिविशिष्टस्वरूप एव प्रत्यगात्माऽनुसन्धेयः, अपि तु सांसारिकस्वरूपान्मुक्तस्वरूपस्य यो व्यतिरेकः आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूपः सोऽनुसन्धेयः । कुतः? तद्भावभावित्वात् । तद्भावस्यापहतपाप्मत्वाद्यवच्छिन्नयथावस्थितस्वरूपत्वस्य मुक्तौ भावित्वात् । अयम्भावः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसि स त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इत्यादिश्रुतेः प्रत्यगात्मन आत्मतयैव परमात्मोपास्य इति प्रत्यगात्माऽप्युपास्यभूतपरमात्मात्मकत्वेनोपास्यकोटिनिविष्टः । अतो "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुष" इति "तं यथा यथोपासते तथैव भवती"ति च न परमात्ममात्रविषयमपि तु प्रत्यगात्मात्मभूतोपास्यविषयमिति प्रजापतिवाक्योक्तापहतपाप्मत्वादिविशिष्टं यथाऽवस्थितं स्वरूपमेव प्रत्यगात्मनोऽनुसन्धेयमन्यथा प्राप्योपास्ययोः प्रकारभेदाद्यथाक्रतुरित्यादि विरुध्येत तत्र दृष्टान्तः । उपलब्धिवत् । ब्रह्मोपलब्धिवत् । यथा ब्रह्मोपलब्धिर्यथाऽवस्थितब्रह्मस्वरूपानुसन्धानयुक्तस्यैव, तथात्मोपलब्धिरपि यथावस्थितात्मस्वरूपानुसन्धानयुक्तस्यैव । कर्मिणान्तु "यजेत स्वर्गकाम" इत्यादिविधिषु देहादिव्यतिरिक्तकर्तृत्वाद्याकारप्रत्यगात्मस्वरूपविचारस्यैव कालान्तरभाविफलसाधनकर्माधिकारायापेक्षितत्वान्न ब्रह्मतादात्म्यापन्नतया प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादिविशिष्टप्रत्यगात्मस्वरूपानुसन्धानस्य तत्र कर्माङ्गत्वमिति विशेषः ॥५२ ॥

इति शरीरे भावाधिकरणम् ॥ २१ ॥

---

## सू० अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥३।३।५३॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीते" त्येवमाद्याः उद्गीथाङ्गप्रतिबद्धा उपासना न शाखास्वेव व्यवस्थिताः । अपि तु प्रतिवेदं सर्वशाखास्वेव प्रतिबध्यन्ते । यतः उद्गीथादिश्रुतेरविशेषात् ॥ ५३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

उपासनवेलायां तत्कालिकाकारविशेषचिन्तां त्यक्त्वा ऽऽविर्भूतापहतपाप्मत्वादिविशिष्टस्याकारविशेषस्यानुसन्धेयत्वं पूर्वत्रोक्तम् । एवमिहाप्याकारविशेषस्यार्थसाधकत्वाद्येन स्वरादिविशेषेण यस्यां शाखायामुद्गीथादयो यदाकाराः पठ्यन्ते, तत्तदाकारोद्गीथाद्यालम्बनास्तत्तदाश्रिता उपासनाः स्युरिति शङ्कां स्वसिद्धान्तमुपदिशन्निराकरोति —

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत उक्थमुक्थमिति वै प्रजाः वदन्ति तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी अयं वाव लोक एषो ऽग्निश्चित" इत्येवमाद्याः कर्माङ्गभूतोद्गीथाद्याश्रया उपासनाः प्रतिवेदं शाखासु विधीयमानाः येन स्वरादिभेदेन यस्यां शाखायामुद्गीथादयः पठ्यन्ते तत्तदाकारेषूद्गीथादिषु व्यवतिष्ठेरन्? उत सर्वशाखागतोद्गीथादिषु सम्बध्यन्ते? इति संशयः । तत्र येन स्वरादिभेदेन यस्यां शाखायामुद्गीथादयः पठ्यन्ते तत्तदाकारेषूद्गीथादिषु व्यवतिष्ठेरन् । न तु शाखान्तरगतोद्गीथादिषु सम्बध्यन्ते सन्निधानादिति पूर्वः पक्षः । तत्र सिद्धान्तमाह—अङ्गावबद्धास्त्विति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । "एताः अङ्गावबद्धाः क्रत्वङ्गाश्रयाः उपासनाः न स्वशाखागतोद्गीतादिषु व्यवतिष्ठेरन्, अपि तु प्रतिवेदं सर्वशाखागतोद्गीथादिषु सम्बध्यन्ते । हिहेतौ । यतः स्वरादिभेदेनोद्गीथाद्याकारभेदे ऽप्यु-

द्गीथमुपासीतेत्यादौ उद्गीथादिश्रुतिरविशेषेण वर्त्तते, तया सन्निधिर्बाध्यते ॥ ५३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तादिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी अयं वाव लोक एषो ऽग्निश्चित "इत्येवमाद्याः उद्गीथादिक्रत्वङ्गाश्रयाः उपासनाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विधीयमानाः श्रूयन्ते। तत्र संशयः, ताः किं यासु शाखासु पठिताः तच्छाखागतोद्गीथादिष्वेव नियताः ? उत सर्वशाखागतेषूद्गीथादिषु सम्बध्यन्ते ? इति। तत्र येन स्वरादिविशेषेण यस्यां शाखायामुद्गीथादयः पठ्यन्ते, तद्विशिष्टा एव भवेयुर्न शाखान्तरगतोद्गीथाद्याश्रयाः, सन्निधानादिति प्राप्ते, ब्रूमः- अङ्गावबद्धास्त्विति। तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। उद्गीथाङ्गप्रतिबद्धा उपासना न स्वशाखास्वेव व्यवस्थिताः, अपि तु प्रतिवेदं सर्वशाखासु सम्बध्यन्ते । हि यतः स्वरादिभेदेनोद्गीथव्यक्तिभेदेऽपि "उद्गीथमुपासीते"ति सामान्योद्गीथादिश्रुतिरविशिष्टा सती सन्निधिं बाधते। क्रतुमध्यगताश्चोद्गीथादयः प्रत्ययाश्रया न तत्र सन्निधिविशेषः, सर्वशाखाप्रभवत्वात् क्रतोः ॥ ५३ ॥

## सू० मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥

३।३।५४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यथा "कुटरुरसी"ति मन्त्रः यथा वा प्रयाजास्तद्वदन्यत्रोक्तानामुपासनानामितरत्र योगोऽविरोधः ॥ ५४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

मन्त्रादिवद्वा ऽविरोधः ।

एकत्रोक्तानामुपासनानामन्यत्रोक्तोद्गीथादिसम्बन्धेऽविरोधः । मन्त्रादिवच्च, चार्थे वाशब्दः । यथा तण्डुलपेषणार्थमश्मादानमन्त्रः "कुटरुरसी"त्येकत्रोक्तो ऽन्यत्रापि सम्बध्यते, तद्वच्च । आदिशब्देन यथा प्रयाजाः एकत्र पठिता अन्यत्रापि सम्बध्यन्ते । तस्मादेकत्राम्नाता उद्गीथाद्यङ्गाश्रिता उपासना अन्यत्राम्नोतोद्गीथादिष्वपि सम्बन्ध्यन्ते इति सिद्धम् ॥ ५४ ॥

इत्यङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥ २२ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

मन्त्रादिवद्वा ऽविरोधः ।

चार्थे वाशब्दः । यथा च शाखान्तरविहितो मन्त्रः "कुट-

रुरसी "ति शाखान्तरेष्वपेक्ष्यते । कुक्कुटो ऽसीत्यश्मानमादत्ते कूटरुरसी"ति । वेति । आदिना कर्मगुणजातिसङ्ख्यादयो गृह्यन्ते । यथा मैत्रायणीयानां प्रयाजा न सन्ति, तथा ऽप्यनूर्द्ध्व गुणविधिर्भवति "ऋतवो वै प्रयाजाः समा तत्र होतव्या" इत्याद्युदाहरणमूह्यम् । एवं च यथा मन्त्रादीनां क्रत्वङ्गभूतानामेकैकशाखावगतानां सर्वशाखासु क्रतोरेकत्वेन सर्वत्र सम्बन्धो न विरुध्यते, तद्वदिहापि न विरोधः ॥ ५४ ॥

इत्यङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥ २२ ॥

## सू० भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥३।३।५५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वैश्वानरविद्यायां समग्रोपासनस्य प्रशस्ता यथा पौर्णमासादीनां साङ्गानामेकः प्रयोगः, एवं " मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन् मां नागमिष्य" इत्यादिका प्रत्यङ्गमुपासने दोषं ब्रूवन्ती, समस्तोपासनस्य प्रशस्ततां दर्शयति श्रुतिः ॥५५॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र श्रुत्याऽन्यत्रोक्तानामुपासनानामन्यत्र

योग उक्तः। अथेदानीं वैश्वानरविद्यायां श्रुत्या व्यस्तोपासनं कुतो नेत्यत आह—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति।

वैश्वानरविद्यायां प्राचीनशालादीनां षण्णामृषीणां केकयेन राज्ञा सह प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां द्युलोकादित्यवाय्वाकाशपृथिव्याख्येष्ववयवेषु व्यस्तेषु समस्तेषु च वैश्वानरोपासनं प्रतीयते। तत्र संशयः, किं तत्र व्यस्तोपासनं कर्त्तव्यम्? उत समस्तोपासनमिति? व्यस्तोपासनविधिश्रुतेर्व्यस्तोपासनं कर्त्तव्यमिति प्राप्ते, उच्यते। भूम्नः समग्रोपासनस्यैव ज्यायस्त्वं प्राशस्त्यमित्यर्थः। न व्यस्तोपासनानाम्। द्युमूर्द्धाद्यवयवस्यैकस्यैव वैश्वानरस्य वेद्यत्वेनोक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यत्वात्। क्रतुवत् यथा पौर्णमासादेः समस्तस्य क्रतोः प्रयोगे विवक्षिते प्रयाजादीनां व्यस्तानां न तद्वत्। तथाहि समस्तोपासनमेव कर्त्तव्यं, न व्यस्तोपासनमिति दर्शयति। "मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इत्यन्धो-

भविष्यसि यन्मां नागमिष्य" इत्यादिका व्यस्तोपासने दोषं ब्रुवन्ती श्रुतिः । न च वाच्यमौपमन्यवकं त्वमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते " इति राजप्रश्ने राजन्सुतेजाद्युलोको वैश्वानरोऽयं त्वं वैश्वानरमुपास्स "इत्यादौ व्यस्तोपासनेषु विधिश्रुतीनां वैयर्थ्यमिति व्यस्तोपासनानुवादेन समस्तोपासनस्य विधेयतया तच्छ्रुतीनामनुवादपरत्वात् । किञ्च "स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ती "ति व्यस्तोपासनं व्यावर्त्त्य समस्तोपासनत्वमेवानुकृष्य फलमभिधीयते, तस्मात्समस्तोपासनमेव कर्त्तव्यमिति सिद्धम् ॥ ५५ ॥ इति भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥ २३॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ।

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यायां व्यस्तस्य समस्तस्य च स्वर्लोकादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिव्यवयवत्वेन वैश्वानरात्मन उपासनं श्रूयते। तत्र संशयः, किं तत्रास्य व्यस्तस्योपासनं कर्त्तव्यम् ? उत व्यस्तस्य समस्तस्य च ? अथ समस्तस्यैवेति ? किं तावत् प्राप्तं, व्यस्तस्येति । यतः " औपमन्यवकं त्वमात्मानमुपास्ते इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचे "त्यादिना स्वर्लोकादिपृथिव्यन्तानां वैश्वानरात्मनो मूर्द्धादिपादान्तावयवत्माभिधाय

तत्र तत्र व्यस्तोपासनं तत्फलं च विहितम्, परत्र "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्त" इति पूर्वोक्तस्यैव मूर्द्धाद्युपासनस्य समासेनोपसंहार इति युक्तमतो व्यस्तस्यैवेति प्रथमः पक्षः। एवमेव व्यस्तस्य समस्तस्य चाप्युपासनं कार्यम्। "स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ती"ति समस्तोपासनस्य व्यस्तोपासनफलेभ्यः फलान्तरविधानादिति द्वितीयः पक्षः। न त्वेतावता वाक्यभेदप्रसङ्गः, यथा भूमविद्योपक्रमे "नाम ब्रह्मेत्युपासीते"त्यादिवाक्यानां भूमविद्यापरत्वे ऽपि नामाद्यवान्तरोपासनस्य तत्फलस्य च भूमविद्यास्तुत्यर्थमङ्गीकारस्तथेहापीत्येवं प्राप्ते, उच्यते– भूम्न– इति। भूम्नः समग्रोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्रशस्ततप्रमाणवत्त्वं, कथमुपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यत्वात्। एवं सति प्रत्येकमवयवोपासनानां तत्तत्फलस्य च समस्तोपासनैकदेशानुवादमात्रत्वं निश्चेतव्यं, क्रतुवत् "यथा वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जात"इति विहितस्यैव क्रतोरेकदेशो यदष्टाकपालो भवतीत्यादिना ऽनूद्यते। तथाहि दर्शयति। यथा न्याय उक्तो ऽस्माभिस्तथा श्रुतिश्च "मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य"इत्यादिका व्यस्तोपासने दोषं ब्रुवन्ती, समग्रोपानस्य ज्यायस्त्वं दर्शयति। अतो न नामाद्युपासनसमत्वं तत्र तेषु दोषाश्रवणात्॥ ५५॥ इति भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्॥ २३॥

## सू० नानाशब्दादिभेदात्॥

३।३।५६॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

शाण्डिल्यविद्यादीनां नानात्वं, कुतस्तच्छब्दादिभेदात् ॥ ५६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

इदानीं वेद्यस्य ब्रह्मणः एकत्वे ऽपि शब्दादिभेदान्नानाविद्याः सन्तीति प्रतिपादयन्ननन्तरं व्यस्तोपासनविधिश्रुतीनां सत्त्वे ऽपि वेद्यैक्यादिना समग्रोपासनस्य ज्यायस्त्वमुक्तं, तद्वत् शाण्डिल्यविद्यादिकासु सर्वासु ब्रह्मविद्यासु विधिश्रुतीनां सत्त्वे ऽपि वेद्यैक्याद्विद्यैक्यं भवत्विति शङ्कां निराकरोति —

नानाशब्दादिभेदात्।

शाण्डिल्यविद्याभूमविद्यासद्विद्यादहरविद्योपकोशलविद्यावैश्वानरविद्यानन्दमयविद्याक्षरविद्यादिकानां ब्रह्मविद्यानां ब्रह्मप्राप्तिरूपमोक्षफलानां सर्वासां प्राणाद्येकविषयकफलानां च किं समुच्चित्योपासनं कर्त्तव्यम्? उत भेदेनेति? संशयः, सर्वासु विद्यासु प्रत्येकं विधीनां सत्त्वे ऽपि

समुच्चित्योपासनं कर्त्तव्यम् । वेद्यैक्यात् इति पूर्वः पक्षः । तत्रोच्यते—नानेति । विद्याः नानाभूताः । कस्मात् ? शब्दादिभेदात् । "वेद उपासीत स क्रतुं कुर्वीत भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः सत्यमुपासीते"त्यादिशब्दभेदात् । अयमर्थः, वेद्यस्यैकत्वेऽपि तत्तद्विद्याभिधायिवाक्योदिततद्गुणयुक्तवेद्याकारभेदाद्विद्याभेद इति, आदिना शब्दान्तराभ्याससङ्ख्यासञ्ज्ञागुणप्रकरणानि कर्मभेदप्रमाणानि भेदलक्षणे दर्शितानि गृह्यन्ते । तैरिहापि विद्याभेदसिद्धिः ॥५६ ॥

इति शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥ २४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नानाशब्दादिभेदात् ।

अनन्तराधिकरणे सुतेजः प्रभृतीनां फलभेदश्रवणे सत्यपि समग्रोपासनस्य ज्यायस्त्वमुक्तम् । एवं शाण्डिल्यविद्याभूमविद्यासद्विद्यादहरविद्योपकोशलविद्यावैश्वानरविद्यानन्दमयविद्याक्षरविद्यादिकानामपि ब्रह्मविद्यानां ब्रह्मप्राप्तिरूपमोक्षैकफलानां सर्वासां किं समुच्चित्योपासनं ज्यायः ? उत भेदेन ? इति संशये, किं तावद्युक्तम्, समुच्चित्योपासनं ज्यायोऽनन्तरन्यायेन, यथा

था ऽग्निहोत्रादीनां समुच्चित्यप्रयोगस्तथा ऽत्रापि । अपि च वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वात् वेद्यं हि रूपं विद्यायाः द्रव्यदैवतमिव यागस्य, अतो रूपाभेदादपि विद्यैक्यमिति प्राप्ते, उच्यते नानेति । भेदेनोपासनं कर्त्तव्यं, न समुच्चित्यप्रतिप्रकरणमुपासनाविधीनामन्योऽन्यनिराकांक्षत्वात् । कथं ? शब्दादिभेदात् "वेदोपासीत स क्रतुं कुर्वीते"ति "स भूमापहतपाप्मे"ति च शब्दभेदात् । आदिना शब्दान्तराभ्याससङ्ख्यासञ्ज्ञागुणप्रकरणनामधेयानि पूर्वकाण्डे दर्शितानि गृह्यन्ते । शब्दान्तरादिभिरत्र विधेयभेदहेतवोऽनुबन्धभेदा दृश्यन्ते "वेदोपासीत स क्रतुं कुर्वीते"ति स्वरूपाभेदेऽपि विधेयस्य पुरुषप्रयत्नस्य भेदहेतोर्गुणफलानुबन्धभेदास्तत्र स्वरूपं भिद्यते, यथेष्टिपशुसोमादीनाम्, अतो विद्याभेद इति स्थितम् ॥ ५६ ॥

इति शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥ २४ ॥

# सू० विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥३।३।५७॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्याभेद उक्तस्तत्रानुष्ठानविकल्पो ऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५७ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र विद्यानाना इत्युक्तमिदानीं तासां ब्रह्मप्राप्तिफलानामनुष्ठानप्रकारो विचार्य्यते —

विकल्पो ऽविशिष्टफलत्वात् ॥

किमेता ब्रह्मप्राप्तिफलाः शाण्डिल्यविद्या-भूमविद्यासद्विद्यादिकाः समुच्चयेनानुष्ठेयाः ? किम्वा विकल्पेनेति ? संशयः, अग्निहोत्रदर्श-पूर्णमासादिवत्समुच्चयेनानुष्ठेया इति प्राप्ते, आह । विकल्प इति । या काचिदेकैवानु-ष्ठेयेत्यर्थः । कुतः ? अविशिष्टफलत्वात्, सर्वासां ब्रह्मविद्यानामविशेषेण तद्भावापत्तिफलकत्वात् । एकयेव प्रयोजनसंसिद्धावितरानुष्ठाने प्रयोज-नान्तराभावात् । "ब्रह्मविदाप्नोति परं मद्भक्ताः यान्ति मामपी"त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः ॥ ५७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विद्यानां स्वरूपमुक्त्वा ऽनुष्ठानप्रकारमाह —

विकल्पो ऽविशिष्टफलत्वात् ।

किमासु ब्रह्मप्राप्तिफलासु शाण्डिल्यादिविद्यासु फलार्थिना समुच्चयेन प्रयोगो ऽग्निहोत्रादिवद् ? अथवा विकल्पेन ? इति संशयः,

समुच्चयेनाग्निहोत्रादिवदिति पूर्वः पक्षः । विकल्प इति सिद्धान्तः । कुतः? अविशिष्टफलत्वात् । अविशिष्टं हि सर्वासामासां परविद्यानां परब्रह्मभावापत्तिलक्षणं फलं, तस्य चैकयैव सिद्धत्वाद्विद्यान्तरसमुच्चये प्रयोजनाभावाच्च सर्वासां विकल्प एव, न समुच्चय इति ॥ ५८ ॥

## सू० काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥३ । ३ । ५८॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलानुष्ठाने* ऽनियमो नियमप्रयोजकपूर्वोक्तहेत्वभावात् ॥ ५८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न पूर्वहेत्वभावात् ।

उक्तार्थदृढीकरणार्थं प्रत्युदाहरणसूत्रमिदम् । "स यो ह वै नाम ब्रह्मेत्युपास्ते

---

* क-ख - पुस्तकयोस्तु यथामुद्रितमेव पाठः ।
ग-पुस्तके सप्तमीतः परम् अनियमप्रयोजकपूर्वोक्तहेत्वभावादिति पाठः ।
घ-पुस्तके नियमप्रयोजकपूर्वहेत्वभावादिति ।

यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्र ! रोदं रोदिती"त्यादिकाः काम्याः ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलाः प्रतीकोपासनास्तु यथाकामं स्वर्गादिफलप्रदकर्मवत् समुच्चीयेरन् ? न वा समुच्चीयेरन् कुतः ? पूर्वहेत्वभावात् आसामविशिष्टफलत्वाभावात् । तस्माद्यथा ब्रह्मव्यतिरिक्तफलास्तदर्थिना यथाकाममनियमेनानुष्ठेयास्तद्वैपरीत्येनाविशिष्टफलत्वाद्ब्रह्मप्राप्तिफला विकल्पेन मुमुक्षुणाऽनुष्ठेया इति सिद्धम् ॥ ५८ ॥

इति विकल्पाधिकरणम् ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ।

काम्यास्तु " स यो ह वै नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद स न पुत्र ! रोदं रोदिती "त्यादिकाः प्रतीकरूपाः ब्रह्मप्राप्त्यतिरिक्तफलास्तु विद्याः स्वर्गादिफलकर्मवद्यथाकामं यथाफलं यावन्ति फलानि प्रार्थयते तत्प्राप्तये समुच्चेतव्याः, यद्येकं फलमिच्छति तदैकमेव कुर्यादित्यनियमः । कुतः ? पूर्वहेत्वभावात्, मोक्षफलकत्वहेत्वभावात् ॥ ५८ ॥

इति विकल्पाधिकरणम् ॥ २५ ॥

# सू० अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥

३।३।५९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

बहुभिर्लिङ्गैः कर्माङ्गाश्रितानामुद्गीथादिविद्यानां नियमेन कर्मसूपादानमित्याक्षिपति, उद्गीथादिष्वाश्रितानां विद्यानामुद्गीथादिवदङ्गभावः ॥ ५६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अनन्तरं काम्यानां विद्यानां यथाकाममनुष्ठानं कर्त्तव्यमित्युक्तमिदानीं क्रत्वङ्गाश्रयाणामपि विद्यानां क्रतुषु यथाकाममुपादानं "तन्निर्धारणानियम" इत्यत्रोक्तमपि पुनर्दृढतया प्रतिपादयितुमङ्गवत्क्रत्वर्थतया क्रतुषु तासां नियमेनोपादानमस्तीत्याक्षिपति* —

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ।

कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु या आश्रिताः "ओमि-

* चतुर्भिः सूत्रैः ।

त्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्येवमाद्या विद्यास्ताः किं कर्माङ्गवत्कर्मसु नियमेनोपादेयाः ? किं वा यथाकाममिति ? संशये, कर्माङ्गवान्नियमेने- त्याह — अङ्गेष्वित्यादिः । अङ्गेषु कर्माङ्गेषू- पाश्रितानां वि ानां कर्मसु यथाश्रयभावः । यथा कर्माङ्गानामुद्गीथादीनामङ्गत्वं तद्वद्विद्याना- मित्यर्थः ॥ ५९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्यादिकानां कर्माङ्गेषूद्गी- थादिष्वाश्रितानां प्रत्ययानां किमुद्गीथादिवत्क्रत्वर्थतया क्रतुषु नियमेनोपादानम्? उत गोदोहनादिवत्पुरुषार्थतया यथाकाममिति? संशये, नियमेनोपादानमिति युक्तम् । ननु "तन्निर्धारणानियमः" इत्यत्राङ्गाश्रितानां गोदोहनादिवदनङ्गत्वमुक्तमिति चेत्सत्यम्, अङ्गा- न्यनुष्ठापयन्प्रयोगविधिर्यद्युपासनानि नानुष्ठापयेत्तर्हि तेषां तदा- श्रितत्वं व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमेव द्रढयितुं कैश्चिल्लिङ्गदर्शनै- राक्षिपति । अङ्गेष्विति । अङ्गेषूद्गीथादिष्वाश्रितानामुपासनानां क्रतुषु, यथाश्रयभावः, उद्गीथादिवदङ्गभावः गोदोहनादिवदुद्गीथमुपा- सीतेत्युपासनविधौ फलसम्बन्धाश्रवणादुद्गीथसम्बन्धावगतक्र- त्वङ्गता न विरुध्यते । एवं विधिवाक्येनैव क्रत्वङ्गत्वेऽवगते "यदेव विद्यया करोति तेनोभौ कुरुत "इति च वर्त्तमानफलसम्बन्ध-

निर्देशः " न स पापं श्लोकं शृणोती "ति यदर्थवादमात्रं स्यात्। अतो यथोद्गीथादीनामुपासनाश्रयकत्वङ्गतया प्रयोगविधिना नियमेनोपादानं, तथा तदाश्रितोपास्तीनामपि तद्वाराङ्गत्वङ्गतया नियमेनोपादानम् ॥ ५९ ॥

## सू० शिष्टेश्च ॥ ३।३।६०॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

"उद्गीथमुपासीते"ति शासनाच्चोपादाननियमः ॥ ६० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

शिष्टेश्च ।

"उद्गीथमुपासीते"त्युद्गीथाश्रयतया विद्याशासनाच्चोद्गीथवत्कर्मसु नियमेन विद्योपादानम् ॥ ६० ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

शिष्टेश्च ।

शिष्टिः शासनम्। उद्गीथमुपासीतेत्युद्गीथाङ्गतया प्रत्ययानां विधानं, ततश्चोपादाननियमः ॥ ६० ॥

## सू० समाहारात् ॥ ३।३।६१।

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरती"ति प्रणवोद्गीथयोरैक्येन सम्पादनाच्च ॥ ६१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

समाहारात् ।

"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरती" ति ऋग्वेदोक्तस्य प्रणवस्य सामवेदोक्तोद्गीथस्य च समाहाराच्च ऐक्येन सम्पादनाच्च कर्मसु वेदनस्य नियमेनोपादानं गम्यते । उद्गाता प्रणवस्योद्गीथस्य च समाहारमाहात्म्यात्स्वानुष्ठितमपि यथावत्स्वरादिज्ञानाभावाद् दुरुद्गीथं दुष्टमुद्गानं होतृषदनाद्धोतृकर्मणः शंसनादनुसमाहरतीति श्रुत्यर्थः ॥ ६१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

समाहारात् ।

"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरती"ति दुरुद्गीथं दुष्टमुद्गीथं वेदनहीनं उद्गाता स्वकर्मणि समुत्पन्नं वैगुण्यं होतृषदनात् होतृकर्मणः शंसनात्समादधातीत्यनेन समाधानं ब्रुवन्ती श्रुतिर्वेदनस्योपादाननियमं दर्शयति ॥ ६१ ॥

## सू० गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥

३।३।६२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"तेनेयं त्रयी वर्त्तते" इति गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ।

गुणस्य विद्याश्रयस्यौंकारस्य "तेनेयं त्रयी वर्त्तते" इति सर्वकर्मसु साधारण्यश्रवणाच्च । तेन विद्याश्रयेणौंकारेणेयं त्रयी वर्त्तते, वेदत्रयी प्रोक्तं कर्म भवतीत्यर्थः । अङ्गवदङ्गाश्रयाणामुपासनानामपि कर्मसु नियमेनोपादानमिति भावः ॥ ६२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ।

इतश्च विद्यागुणस्य विद्याश्रयस्यौङ्कारस्य "तेनेयं त्रयी विद्या वर्त्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायती"ति वेदत्रयसाधारण्यश्रवणाच्च तदाश्रितस्य प्रत्ययस्यापि साधार-

ण्यमित्यभिप्रायः । तेनेति प्रकृतपरामर्शोक्तेन सोपासनेन प्रणवेन वेदात्रयोक्तं कर्म प्रवर्त्तते इत्यर्थः । अत उपासनस्य प्रणवसहभाव-नियमदर्शनादुद्गीथाद्युपासनानामुद्गीथादिवदुपादाननियमो निश्ची-यते ॥ ६२ ॥

# सू० न वा तत्सहभावोऽश्रुतेः ॥ ३ । ३ । ६३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

नाङ्गाश्रितानां विद्यानामङ्गवत्क्रतुषूपादान-नियमः, क्रत्वङ्गभावाश्रवणात् ॥ ६३ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

अथ तत्परिहरति —

न वा तत् सह भावाश्रुतेः ।

यदुक्तमुद्गीथादिविद्यानां कर्माङ्गाश्रयाणाम-ङ्गवत्कर्मसु नियमेनोपादनमिति, तन्न । कुतः ? सहभावाऽश्रुतेः । "यथा ग्रहं वा गृहीत्वा च-मसञ्चोन्नीयस्तोत्रमुपाकुर्य्यादि"त्यादिना ऽङ्गानां सहभावः श्रूयते, नैवं विद्यानामित्यर्थः ॥ ६३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

तत्परिहरति।

न वा तत् सह भावाऽश्रुतेः।

नवेति पक्षव्यावृत्तिः। नोद्गीथाद्याश्रिताः प्रत्ययाः क्रतुषूद्गीथादिवन्नियमेनोपसंहर्त्तव्याः। कुतः? तत्सह भावाऽश्रुतेः। क्रत्वङ्गभावाश्रवणात्। सहभावो हि क्रत्वङ्गभावः। "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमि"ति विद्यायाः क्रतुवीर्यवत्तरत्वं प्रति साक्षात्साधनत्वमवगम्यते। एवं क्रतुफलात्पृथक्फलसाधनतया ऽवगता विद्या किमाश्रित्य फलं कुर्यादित्यपेक्षायाम् "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते"त्युद्गीथमाश्रित्य कुर्यादिति क्रत्वङ्गभूतस्योद्गीथस्याश्रयमात्रत्वं प्रतीयते। यथा "गोदोहनेन पशुकामस्यापः प्रणयेदि"त्यत्राप्प्रणयनमाश्रित्य गोदोहनं फलं साधयति प्रणयति शब्दोपादानसामर्थ्यान्न तत्र गोदोहनस्य क्रत्वङ्गतानियमः, एवमत्रापि। अतः क्रतुफलात्पृथग्भूतफलसाधनतया ऽवगताया विद्याया न क्रत्वङ्गभाव उपपद्यते। अपि तु यथाक्रत्वधिकारिण एव पशुकामनानिमित्तं गोदोहनमधिकारान्तरमेवं क्रतुप्रयुक्तोद्गीथाद्याश्रयस्योपासनस्यापि क्रत्वधिकारिण एव क्रतोर्वीर्यवत्तरत्वफलेच्छानिमित्तमधिकारान्तरत्वमिति क्रतुषु तद्विकल्प एव। पर्णमयीवाक्ये तु पर्णतादीनां यदेव विद्ययेति विद्यायाः फलसाधनत्ववदपापश्लोकश्रवणादिफलं प्रति साक्षात् साधनभावो न श्रूयते। तत्र पर्णतायां जुहूसम्बन्धस्यावश्यं भावित्वात्तत्सम्बन्धः पूर्वं विधातव्यस्ततः क्रत्वङ्गभूतजुह्वाद्यङ्गतया तेषां क्रत्वर्थता न विरुध्यते तदङ्गानां फलान्तरसाधनत्वकल्पनानुपपत्तेस्तत्र फलश्रुतिरर्थवादः। अन्यथा वाक्यभेदु

प्रसङ्गात् । इह तु वाक्यान्तरे स्ववाक्ये वा यत्फलमुक्तं तदेव युक्तमन्तरङ्गत्वादनारभ्याधीतत्वाच्च । प्रयोगवचनस्तु क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभावनियमं विधत्ते । उद्गीथादिप्रत्ययास्तु क्रत्वङ्गाश्रया अपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्था इति वैषम्यम् ॥ ६३ ॥

## सू० दर्शनाच्च ॥ ३।३।६४॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्च ऋत्विजो ऽभिरक्षती"ति श्रुतौ वेदनानियततादर्शनाच्च ॥ ६४ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजातसौरभे तृतीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

---

### वेदान्तकौस्तुभः ।

दर्शनाच्च ।

वेदानानियततादर्शनाच्च क्रत्वङ्गाश्रयावि-

द्यानां क्रतुषूपादानानियम एव। "एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षती"-ति श्रुतिः ब्रह्मणा विदुषा सर्वेषां यज्ञयजमानादीनां रक्षणं ब्रुवती वेदनानियततां दर्शयति। तस्मात्कर्माङ्गाश्रितानामुद्गीथादिविद्यानां कर्मसु नियमेनोपादानं नास्ति, किं तु गोदोहनादिवदिति सिद्धम्॥ ६४॥

इति यथाश्रयभावाधिकरणम्॥ २६॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे तृतीयाऽध्यायस्य तृतीयपादः॥ ३॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

दर्शनाच्च।

इतश्च प्रत्ययानामसहभावो दर्शनात्। "एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षती"ति ब्रह्मणो विद्वत्तया

सर्वेषां पालनं ब्रुवती श्रुतिः प्रत्ययानामनियततां दर्शयति । अनेन लिङ्गेन पूर्वोक्तसमाहारादिलिङ्गानि प्रापिकानीत्यवगम्यते ॥६४॥

इति यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ २६ ॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-
श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयि श्रीश्री-
केशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभ-
प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्याय-
तृतीयपादविवरणम् ॥ ३ ॥

---

मुद्रापितमिदं श्रीमन्मधुसूदनशरणदेवेन श्रीनिम्बार्कदर्शने· मुदे भवतु सज्जनानाम् ।

त्वत्समो यदिह नास्ति चेतनः । कस्तदाधिकगुणाकरः प्रभुः ॥
त्वां प्रयामि शरणं शरण्यकम् । पुण्डरीकनयनं सुधानिधम् ॥

श्रीमते निम्बार्काय नमः ।

अथ

## तृतीयाऽध्याये चतुर्थपादारम्भः ।

# सू० पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥३।४।१॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ब्रह्मप्राप्तिर्विद्यातः " ब्रह्मविदाप्नोति परमि" त्यादिशब्दादिति भगवान् बादरायणो मन्यते ॥ १ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वस्मिन्पादे विद्याभेदतन्निबन्धनगुणोपसंहारानुपसंहारादिविचारः कृतः । अथेदानीं विद्यातः पुरुषार्थः ? आहोस्वित्तदङ्गात्कर्मणः ? इत्याद्यस्मिन्पादे विचार्य्यते —

पुरुषार्थोः ऽतः शब्दादिति बादरायणः ।

किं पुरुषार्थो विद्यातः ? अथवा विद्याङ्गात्कर्मणः ? इति संशये, तावत्सिद्धान्तमुपक्र-

मते । पुरुषस्यार्थः प्रयोजनं ब्रह्मभावापत्तिः अतो विद्यातो भवति । कुतः ? शब्दात् । "तरति शोकमात्मवित्स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ब्रह्मविदाप्नोति परं सर्वांल्लोकानाप्नोति वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"त्यादेः शब्दादेवेति भगवान्बादरायणो मन्यते ॥ १ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

पूर्वस्मिन्पादे वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्याया ब्रह्मविद्यायाः भेदाभेदविचारस्तदनुष्ठानप्रकारश्च निरूपितः । अथेदानीं विद्यायाः स्वातन्त्र्यं कर्मणस्तदङ्गत्वमिति निरूपयितुं विद्यातः पुरुषार्थः ? उत विद्याङ्गकात् कर्मणः ? इत्याशङ्क्य सिद्धान्तं तावदाह —

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।

पुरुषस्यार्थः प्रयोजनं सर्वमतो विद्यात एव स्यादिति भगवान्बादरायणो मन्यते स्म । कुतः ? शब्दादितीति । इतिशब्दोऽवधारणार्थः "तरति शोकमात्मवित् ब्रह्मविदाप्नोति परं तमेव विद्वानमृत इह भवति तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तदि "त्यादि शब्दो विद्यात एव पुरुषार्थं प्रब्रुवन्दृश्यते ॥ १ ॥

सू० शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ ३।४।२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

कर्माङ्गभूतकर्तृसंस्कारद्वारेण विद्यायाः कर्माङ्गत्वं कर्तुः कर्मशेषत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः । यथा पर्णमयीद्रव्यादिष्वपापश्लोकश्रवणादि··· फलश्रुतिस्तद्वदिति जैमिनिर्मन्यते ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इत्थमौपनिषदं सिद्धान्तमुपक्रम्यात्र

पूर्वपक्षयति* —

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।

विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् । कुतः ? शेषत्वात्, कर्त्तृत्वेन वेद्यस्यात्मनः कर्मशेषत्वात् । कर्त्तुर्देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञाने सति स्वर्गाद्यर्थके कर्मणि प्रवृत्तिसम्भवात् । अतः कर्त्तृसंस्कारद्वारा विद्याया अपि कर्माङ्गत्वम् । " तरति शोकमात्मविद्ब्रह्मविदाप्नोति परमि "त्यादिफलश्रुतिस्तु पुरुषार्थवादः अस्त्वर्थवादमात्रम्, यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु फलश्रुतिरर्थवादमात्रम् । तत्र द्रव्ये यस्य पर्णमयी × जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोती "ति संस्कारे+ यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य ँवृङ्क्ते " इत्याद्याः कर्मणि च " वर्म ❀ वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते " इत्याद्याः

---

* षड्भिः सूत्रैः ।

× पर्णमयी पलाशरूपा " पलाशे किंशुकः पर्ण " इत्यमरः ।

\+ अञ्जनकरणं संस्कारः ।

ँ भ्रातृव्यस्य शत्रोः वृङ्क्ते अन्धयाति । ❀ कवचं

तदुक्तम् "द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यादि"ति.। तद्वदत्रापीति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत्र पूर्वः पक्षः प्रारभ्यते —

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।

यदुक्तं विद्यातः पुरुषार्थ इति नैतदुपपद्यते । उक्तश्रुतीनां क्रत्वङ्गकर्तृस्वरूपयाथात्म्यववेदनविधानपरत्वात्कर्तृसंस्कारद्वारेणात्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वात्तत्र फलश्रवणमर्थवादमात्रमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते स्म । तत्र दृष्टान्तः । यथान्येष्वितीति । तदुक्तं "द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यादि"ति । तत्र द्रव्ये फलश्रुतिः "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवती "त्याद्याः, संस्कारे च "यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते "इत्याद्याः, कर्मणि च "वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते"-इत्याद्या यथान्येषु द्रव्यादिषु पर्णमयी द्रव्ययजमानस्याञ्जनादिसंस्कारप्रयाजादिरूपेषु अपापश्लोकश्रवणादिश्रुतिरर्थवादस्तथाऽत्रापि पुरुषार्थश्रुतिरर्थवाद इत्यर्थः । ब्रह्मज्ञानं कर्माङ्गं फलशून्यत्वे सति कर्माङ्गाश्रयत्वात्पर्णतादिवदित्यनुमानात् । नच कर्मण्यात्मज्ञानस्याप्रयोजकत्वमिति वाच्यम् । आत्मनो देहादिव्यतिरेकज्ञानमन्तरेण परलोकगामित्वानिश्चयाज्ज्योतिष्टोमादौ प्रवृत्तिरेव न स्यात् । तस्मात्क्रतुप्रवृत्तावात्मज्ञानस्योपकारकत्वात्कर्माङ्गत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ २ ॥

## सू० आचारदर्शनात् ॥३।४।३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"जनको ह वैदेहो बहुदाक्षिणेन यज्ञेनेजे" इत्यादिश्रुतिभ्यो जनकादीनामाचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "नेतरोऽनुपपत्तेः भेदव्यपदेशाच्च अनुपपत्तेश्च न शारीर" इत्यादिसूत्रेभ्यः "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः सकारणं कारणाधिपाधिपः यः सर्वज्ञः सर्ववि" इत्यादिश्रुतिभ्यः "यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च जीवस्वरूपाद्भिन्नः परमात्मा वेद्यत्वेन निर्णीतः। स न कर्मशेषोऽतस्तद्विषयाया विद्याया न कर्माङ्गत्वमिति चेद्वेदान्तवाक्योदितैरेव लिङ्गैर्वेदान्तवाक्यानि देहव्यति

रिक्तकर्त्तृस्वरूपयाथात्म्यपराणि तानि च लिङ्गा न्युच्यन्ते —

आचारदर्शनात् ।

"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यो जनकादीनां ब्रह्मविद्यावतां विद्यया सह कर्माचारदर्शनात् विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नच कर्तुरात्मनो ऽन्यो मुमुक्षुवेद्यो मुक्तोपसृप्यो वेदान्तैरुपदिश्यते इति वाच्यं, वेदान्तेष्वेव ब्रह्मज्ञानस्य कर्मप्राधान्यं सूचयद्भिर्लिङ्गैस्तदुपबृंहितसामानाधिकरण्यनिर्देशेन च वेदान्ता अपि देहातिरिक्तप्रत्यक्स्वरूपयाथात्म्यवेदनपराः इत्यवश्यमङ्गीकरणीयत्वात् । लिङ्गान्याह —

आचारदर्शनात् ।

"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तो ऽहमस्मी"त्यादिश्रुतिभ्यो जनककेकयादीनां ब्रह्मविद्यावतामपि कर्माचरणदर्शनात् ॥ ३ ॥

सू० तच्छ्रुतेः ॥३।४।४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"ति विद्यायाः कर्मो-पयोगित्वस्य श्रुतेः ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

तच्छ्रुतेः ।

तद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वं युक्तमेव । कुतः ? "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवती"ति श्रुतेः ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तच्छ्रुतेः ।

"यदेव विद्यया करोती"ति श्रुतिरेव विद्यायाः कर्मशेष-त्वमाह ॥ ४ ॥

## सू० समन्वारम्भणात् ॥ ३।४।५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणो साहित्यदर्शनाच्च ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

समन्वारम्भणात्।

तं *"विद्या कर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोः साहित्यश्रवणादपि विद्यायाः कर्माङ्गत्वमवगम्यते ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

समन्वारम्भणात्।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोः फलारम्भे समुच्चयश्रवणाच्च ॥ ५ ॥

सू० तद्वतो विधानात्॥३।४।६॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य (स्वे) कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाऽध्यायमधीयान" इति कर्मविधानाच्च ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

तद्वतो विधानात्।

"आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः

---

* तं परलोकं गच्छन्तं विद्याकर्मणी अनुगच्छत इत्यर्थः।

कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे' शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान " इति श्रुत्या तद्वतः सर्ववेदार्थज्ञानवतः कर्मविधानात् विद्यायाः कर्माङ्गत्वम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तद्वतो विधानात् ।

" आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान "इत्यादौ वेदज्ञानवतोऽपि कर्मसु विनियोगदर्शनात् ॥६॥

## सू० नियमाच्च ॥३।४।७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इत्यादिनियमाच्च ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

नियमाच्च ।

" कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" इत्यादिनियमाच्च कर्मण्येव विद्यायाः उपयोगः ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नियमाच्च ।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती"त्यादिनियमाच्च कर्मत एव फलम्, विद्यायास्तु कर्मशेषत्वम् ॥ ७ ॥

# सू० अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥३।४।८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तत्रोच्यते, जीवात्कर्त्तुरधिकस्य सर्वेश्वरस्य सर्वनियन्तुर्वेद्यत्वेनोपदेशात् "पुरुषार्थोऽतः" इति भगवतो बादरायणस्य मतम् । "एष सर्वेश्वरः अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वस्येशानः तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"त्यादि तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इत्येवं प्राप्ते* समाधानमाह —

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिषेधार्थः । कर्त्राख्य-

* एवं कर्मवादिनां पक्षे प्राप्तौ सत्यां प्राह ।

कर्मशेषसंस्कारद्वारोपनिषत्समधिगम्याविद्याकर्माङ्गमिति जैमिनिपक्षो न साधुः । अपि तु कर्तुर्जीवादुक्तलक्षणादधिकस्य सर्वात्मनः स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषस्य कल्याणगुणगणनिधेः स्वाभाविकानन्तशक्तेः जगत्कारणस्य प्रधानक्षेत्रज्ञपतेः सर्वेश्वरस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य विद्या(या)विषयतयोपदेशात् वेदान्तैर्वेद्यत्वेन निरूपितत्वात् विद्यातः पुरुषार्थ इत्येवं बादरायणस्य भगवतो मतम् । कुतः ? तद्दर्शनात् । तस्य परमात्मन एव वेद्यस्य प्रतिपादकवाक्यदर्शनात् । "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् अक्षरात्परतः परः अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः यः सर्वज्ञः सर्ववित् अनन्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ तेजोबलैश्वर्य्यमहावबोधः । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च स कारणं कारणाधिपाधिपः प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः एष सर्वेश्वरः सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते मत्तः

परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ! वेदैश्च सर्वै-रहमेव वेद्य" इत्यादितत्प्रतिपादकवाक्यकदम्ब-दर्शनादित्यर्थः ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इति प्राप्ते आह —

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।

तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । न विद्यायाः कर्मशेषत्वमुपपद्यते । कुतः ? अधिकोपदेशात् । कर्मकर्त्रात्मनः सकाशादत्यन्तविलक्षणस्यातिशयसाम्यशून्यस्य हेयगन्धास्पृष्टमाहात्म्यानन्ताचिन्त्यापरिमितसद्गुणार्णवस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य वेदान्तैः प्रतिपाद्यमानत्वात्, तज्ज्ञानस्य कर्मानुपयोगात्प्रकरणाद्यभावाच्च कर्मशेषत्वं कल्पयितुमशक्यम्, " फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गं प्रयाजवदि "ति न्यायात् । आत्मज्ञानं तु स्वप्रकरणगतेनैव " तन्महिमानमिति वीतशोक "इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितेन फलेन निराकाङ्क्षम्, नान्यशेषत्वं प्रतिपद्यते । स्थितमेवं पुरुषार्थोऽत इति बादरायणस्य मतम्, कथं ? तद्दर्शनात् " एष सर्वेश्वरः एष भूतपालः एष भूताधिपतिः स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! भीषास्माद्वातः यः सर्वज्ञः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प "इत्यादिश्रुतिभिः " अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः परतरं नान्यत् तपाम्यहमहं वर्षं पितामहस्य जगत "इत्यादिस्मृतिभिश्च सर्वेश्वरत्वादिस्वाभाविकाचिन्त्यानन्तकल्याणरूपधर्मैः श्रीपुरुषोत्तमस्यैवा-

खिलाविद्याद्यस्पृष्टमाहात्म्यसीम्नः परब्रह्मभूतस्य जीवादधिकतया वेद्यत्वेन प्रतिपाद्यमानत्वदर्शनात् । तादृशधर्माणां हेयसम्बन्धार्हे प्रत्यगात्मनि कथमप्यसम्भाव्यत्वात् । नच तत्त्वमस्यादिना तस्यैव तत्ताविधानादस्मदर्थसिद्धिरिति वाच्यम्, तस्य तदात्मकत्वादिभिस्तदपृथक्सिद्धत्वादेकत्वोक्तिः, न स्वरूपतः अभेद इति पूर्वमेव प्रतिपादितत्वात् । अखिल वेदान्तस्याशेषदोषास्पृष्टमाहात्म्ये ज्ञानैश्वर्यकारुण्यवात्सल्यगुणार्णवे ब्रह्मणि श्रीभगवति समन्वयेन ब्रह्मविद्यायां क्लेशकर्माद्यशेषहेयधर्माश्रयस्य क्षेत्रज्ञस्य प्रत्यगात्मनो गन्धोऽपि नास्ति ॥ ८ ॥

# सू० तुल्यं तु दर्शनम् ॥३।४।९॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्याया अकर्माङ्गत्वे ऽपि " किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे " इत्यादिदर्शनं तुल्यम् ॥ ९ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

यत्तु विद्याया आचारदर्शनात्कर्माङ्गत्वमुक्तं तत्रोच्यते —

तुल्यन्तु दर्शनम् ।

विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावे ऽपि विदुषां कर्मानाचरणदर्शनं तुल्यम् । तथाहि " एतद्ध-

स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसो ऽग्निहोत्रं न जुहुवांचक्रिरे एवं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यां चरन्ती "ति अस्मत्पक्षे विविदिषायां फलाभिसन्धिरहितस्य कर्मणोऽनुष्ठानमुपपद्यते । वक्ष्यति च " सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि"ति । उक्तं च भगवता " कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय " इति " कुर्याद्विद्वांस्तथा ऽशक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहमि"ति च । विद्यायाः कर्माङ्गत्वपक्षे तु कर्माननुष्ठानश्रुतिबाध इति भावः ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तस्मात्तद्भावापत्तिरूपनिश्रेयसैकप्रयोजनमेवौपनिषदं ज्ञानम्, नाप्युक्तालिङ्गानां तत्र प्रामाण्यं, तेषामन्यपरत्वेनोक्तार्थासाधकत्वादित्याह —

तुल्यन्तु दर्शनम् ।

न तावद्विद्यावतां कर्मानुष्ठानस्य विद्यायाः कर्माङ्गत्वे लिङ्ग-

त्वमनैकान्तिकत्वात् । "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांसः आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वांसो ऽग्निहोत्रं न जुहुवां चक्रिरे"-इत्यादौ कर्मानाचरणस्यापि तुल्यत्वदर्शनात् कर्मानुष्ठानदर्शनं तु फलाभिसन्धिरहितस्य कर्मणो विद्याङ्गत्वात् ॥ ९ ॥

# सू० असार्वत्रिकी ॥ ३।४।१० ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यदेव विद्यये"ति श्रुतिर्न सर्व(विद्या)-विषया ॥ १० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

यदप्युक्तं तच्छ्रुतेरिति तत्रोच्यते —

असार्वत्रिकी ।

"यदेव विद्यया करोती"त्युद्गीथविद्यामात्र-विषया श्रुतिरसार्वत्रिकी, सर्वविद्याविषया नास्ति ॥ १० ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नापि "यदेव विद्यये"ति श्रुतिस्तत्परेत्याह —

असार्वत्रिकी ।

सा हि प्रकृतोद्गीथविद्यामात्रपरा यदेवेति यच्छब्दस्यानिश्चित-

विशेषस्योद्गीथमुपासीतेति प्रस्तुतोद्गीथविशेषनिष्ठत्वात्। नहि यत्करोति तद्विद्ययेत्यन्वय इति भावः॥ १०॥

## सू० विभागः शतवत् ॥३।४।११॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इत्यत्र फलद्वयनिमित्तशतविभागवद्विभागो ज्ञेयः॥ ११॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

यच्चोक्तं समन्वारम्भणादिति तत्रोच्यते —

विभागः शतवत्।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इत्यत्र विभागो ज्ञेयः, विद्या स्वासाधारणफलाय तं समन्वारभेते कर्म च स्वासाधारणफलायेति शतवत् यथा प्रयोजनद्वयसिद्धये शतमस्मै दीयतामित्युक्तेः पञ्चाशदेकप्रयोजनार्थं पञ्चाशत्प्रयोजनान्तरार्थं विभज्य दीयते, तद्वत्॥ ११॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

नापि "तं विद्याकर्मणी" इति श्रुतेस्तत्परत्वं सम्भाव्यं तस्याविभक्ताधिकारिकत्वादित्याह —

विभागः शतवत् ।

यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै, पञ्चाशदन्यस्मै, तथा विद्याऽन्यस्मै, कर्म चाऽन्यस्मै, इति विभागो द्रष्टव्य इत्यर्थः । यद्वा विभक्तफलकत्वाद्विद्या स्वफलार्था समारभ्या, कर्म च स्वफलार्थमारभ्यमिति । यथा क्षेत्ररत्नविक्रयिणं शतद्वयमन्वेतीत्युक्ते क्षेत्रार्थं शतं, रत्नार्थं शतमिति विभागस्तथाऽत्रापि ॥ ११ ॥

## सू० अध्ययनमात्रवतः ॥ ३।४।१२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्ये"त्यत्र त्वध्ययनमात्रवतः कर्म विधीयते ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

यच्चोक्तं "तद्वतो विधानादि"ति तत्रोच्यते —

अध्ययनमात्रवतः ।

आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्ये"त्यत्र वेदाध्ययनमात्रवतः कर्म विधीयते, न तु विद्यावतः । यतो विद्याया कर्माङ्गकल्पना स्यात् । पूर्वतन्त्रा-

ध्ययनहीनः "स्वाध्यायो ऽध्येतव्यः" इत्यध्ययनविधिना महता यत्नेन वेदे कृतश्रमो ऽपि किंचिद्‌ज्ञानवानऽपि पूर्वतन्त्रनिर्णीतधर्मस्वरूपतदनुष्ठानज्ञानाभावात् तत्तन्त्रापेक्षया ऽध्ययनमात्रवान्स भवति, नतु वेदार्थवित् । वेदार्थस्तु पूर्वतन्त्रकृन्मते तत्तन्त्रविचारगम्यः । इह तु वेदाध्ययनपूर्वकपरिज्ञातधर्मरहस्यो ऽपि सामान्यतः सर्वविदपि सर्ववेदमुख्यार्थभूतब्रह्माभिधायिवेदान्तविचारहीनो ऽध्ययनमात्रवानित्युच्यते । एवंभूतस्य तस्मिन् वाक्ये कर्म विधीयते । नतु विदुष इति सूत्रकृतो भगवतो ऽभिप्रायः ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नाप्याचार्यकुलादित्यादिश्रुतिरुक्तार्थपरेत्याह —

अध्ययनमात्रवतः ।

वेदाध्ययनमात्रवतः पुंसस्तद्विषयत्वात् नतु परविद्यावतः अध्ययनशब्दस्याक्षरराशिग्रहणमात्रेणैव नैराकाङ्क्ष्यादाधानवत् । ननु वेदमधीत्येत्यध्ययनविधिरेवार्थावबोधपर्यन्तमध्ययनं ज्ञापयतीति चेत्? एवमपि न विद्याकर्माङ्गम्, अर्थज्ञानाद्विद्याया अर्थान्तरत्वात् ।

यथा ज्योतिष्टोमादिकर्मस्वरूपज्ञानात्फलसाधनभूतकर्मानुष्ठानमर्थान्तरम्, तथा ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाद्वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्या पुरुषार्थहेतुभूता विद्या ऽर्थान्तरम्, इति न कर्मसम्बन्धगन्धो ऽपि तत्र ॥ १२ ॥

## सू० नाविशेषात् ॥३।४।१३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

नियमवाक्यस्यापि नियमेन विद्वद्विषयकत्वायोगात् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

यच्चोक्तं नियमाच्चेति तत्रोच्यते —

नाविशेषात् ।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणी"त्यादिवाक्यबलाद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वं न शक्यते वक्तुम् । कुतः ? अविशेषात् । वाक्यस्य विद्वान् कुर्वन्निति विशेषाभावात् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नापि यावज्जीवश्रुतिरुक्तार्थपरेत्याह ।

नाविशेषात् ।

न यावज्जीवश्रुत्या विद्यायाः कर्माङ्गत्वं निर्णेतुं शक्यम्,

तस्या अत्राविद्वत्सामान्येन नियतविद्वद्विषयकत्वायोगा-दित्यर्थः ॥ १३

## सू० स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ ३।४।१४ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्यास्तुतये विदुषः "कुर्वन्नेवेह कर्माणी" ति कर्मानुज्ञा क्रियते ॥ १४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु " ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्तेन तिक्तेन भूञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनमि "ति विद्योपक्रमादिना वाक्यस्य विशेषतो विद्वत्परत्वं निश्चीयते इत्यत्राह—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।

विद्यास्तुतये विदुषः कर्मानुमतिः कर्मानुज्ञा क्रियते । यावज्जीवं कर्म कुर्वन्नपि कर्मभिर्विद्वान्न लिप्यते इति विद्यायाः स्तुतिर्भवति । " एवं त्वयि नान्यथेतो ऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे " इति वाक्यशेषात् "सर्व-

कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते" इत्यादि श्रीमन्मुखवचनाच्च ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु सामान्यविषयकत्वेऽपि विदुषोऽपि तदन्तःपातित्वेन तन्नियमस्य तादवस्थ्यमिति चेत्तत्राह —

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।

वाशब्दोऽवधारणे । ब्रह्मविद्यास्तुतये कर्मणामनुज्ञामात्रत्वात् यावज्जीवं ब्रह्मविद्यावति पुंसि कर्म कुर्वत्यपि विद्यासामर्थ्यात्कर्मलेपो नास्तीति । तस्याः श्रुतेर्विद्यासामर्थ्यद्योतनार्थकत्वादित्यर्थः । "यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते"इत्यादिश्रुतेः "सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् । इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते, ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसे"त्यादिस्मृतेश्च ॥ १४ ॥

सू० कामकारेण चैके ॥ ३।४।१५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा-

ऽयं लोक" इत्येके विदुषां स्वेच्छया गार्हस्थ्यत्यागमत एवाभिधीयते ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

कामकारेण चैके ।

एके शाखिनो विदुषां कामकारेण च स्वेच्छयैव कर्मसाधनभूतप्रजादित्यागमामनन्ति । "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसो प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा ऽयं लोक" इति विद्यायाः कर्मशेषत्वाऽभावे गार्हस्थ्यत्याग उपपद्यते, नतु कर्मशेषत्वे इत्यर्थः ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

कामकारेण चैके ।

अपि चैके शाखिनो विदुषामिच्छानुरोधेन प्रजादिपरित्यागमामनन्ति । "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा ऽयं लोक" इति विद्याया यदि कर्माङ्गत्वमभ्युपगतं स्यात्तर्हि तद्विरोधाद्गार्हस्थ्यत्यागविधानानुपपत्तिः ॥ १६ ॥

सू० उपमर्दञ्च ॥३।४।१६॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अत एव विद्यया कर्मोपमर्द्दं च "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादिना पठन्ति ॥ १६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

उपमर्दं च ।

त्रिविधदुःखनिदानस्य सुकृतदुष्कृतरूपस्य कर्मणो विद्ययोपमर्दमामनन्ति च "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावर" इत्यादिना । "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः । ज्ञानाग्निसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुने" ति श्रीमद्भगवद्वचनं च ॥ १६ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उपमर्द्दं च ।

संसारबीजस्य कर्मण उपमर्द्दकत्वं विद्याया आमनन्ति । "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावर "इत्यादि । " ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते " इति स्मृतिश्च विद्यायाः कर्माङ्गत्वे न सङ्गच्छेते ॥ १६ ॥

## सू० ऊर्द्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि॥ ३।४।१७ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ऊर्द्ध्वरेतस्सु आश्रमेषु विद्यादर्शनाच्च तस्याः स्वान्तत्र्यं निश्चीयते । ते तु "त्रयो धर्मस्कन्धाः " इत्यादिशब्दे दृश्यन्ते ॥ १७ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ऊर्द्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ।

इतश्च विद्यायाः स्वातन्त्र्यम् । यतः ऊर्द्ध्वरेतस्सु निवृत्तग्राम्यधर्मेषु आश्रमेषु ब्रह्मविद्या श्रूयते । कर्म चाग्निहोत्रादि तेषु न श्रूयते । ननु यावज्जीवमि"त्यादिना ऽग्निहोत्रादिकर्माधिकारः श्रूयते, तद्वद्वेदे ऊर्द्ध्वरेतस आश्रमाः न श्रूयन्ते, इत्यत्रोच्यते । शब्दे हीति । ते चाश्रमाः शब्दे वेदे श्रूयन्ते " त्रयो धर्मस्कन्धाः ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां तप " इत्युपासते एतमेव

प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती"त्यादौ। अतस्ते सन्त्येव। यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती"ति श्रुतिस्तु अविरक्तविषया ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

ऊर्द्धरेतस्सु च शब्दे हि।

इतश्च विद्यायाः स्वातन्त्र्यम्। कथम्? ऊर्द्धरेतःसु निवृत्तग्राम्यधर्मेष्वाश्रमेषु ब्रह्मविद्याश्रवणात्। अग्निहोत्रादि कर्म च तेषु न श्रूयते। ते चाश्रमा वैदिके शब्दे दृश्यन्ते। "त्रयो *धर्मस्कन्धाः ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदि"-त्यादौ। यावज्जीवश्रुतिस्त्वविरक्तेषु कर्म विधत्ते ॥ १७ ॥

सू० परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ॥३।४।१८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

"त्रयो धर्मस्कन्धा" इत्यादौ तेषामाश्रमाणामनुवादमात्रं विधायकशब्दाभावात्। "विरहा

* कर्मप्रधाना आश्रमाः; चतुर्थो ब्रह्मसंस्थ इत्यर्थः।

वा एष देवामां यो ऽग्निमुद्वासयते" इत्याश्रमान्तरापवादश्रवणाच्चाश्रमान्तरमननुष्ठेयमिति जैमिनिः ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि।

यदुक्तं ते आश्रमाः शब्दे श्रूयन्ते, अतस्ते सन्तीति तन्नोपपद्यते। यतः "त्रयो धर्मस्कन्धा" इत्यादौ वैदिके शब्दे तेषां स्मृतिप्रसिद्धानामाश्रमाणां सामोपासनविधिप्रकरणे वितायमाने ततो ऽपकृष्य प्रकृतस्य स्वतन्त्रस्य प्रणवेन ब्रह्मोपासनस्य स्तुत्यर्थं परामर्शमनुवादमात्रं क्रियते। नतु ते विधीयन्ते। कुतः? अचोदनात् विधायकशब्दाभावात् "वीरहा वा एष देवानां यो ऽग्निमुद्वासयते, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीर्नापुत्रस्य लोको ऽस्ती"त्यादिका श्रुतिराश्रमान्तरमपवदति च तस्माद्गृहाश्रमो ऽनुष्ठेयः आश्रमान्तरमप्यननुष्ठेयामिति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ।

यदुक्तं "त्रयो धर्मस्कन्धा" इत्यादिवैदिकशब्देषु तेषां दर्शनात्ते आश्रमाः सन्त्येवेति, तन्नोपपद्यते । यतः त्रयो धर्मस्कन्धाः इत्यादिवाक्येषु स्मृत्याचारप्रसिद्धानामाश्रमाणां सामोपासन-विधिप्रकरणे वितायमाने ततो ऽपकृष्य प्रकृतस्य स्वतन्त्रस्य प्रणवेन ब्रह्मोपासनस्य स्तुत्यर्थं परामर्शमात्रमनुवादमात्रं क्रियते, नतु ते विधीयन्त इति जैमिनिराचार्यो मेने । कुतः ? अचोदनात्, विधायकशब्दाभावात् । अपि चापवदति "*वीरहा वा एष देवानां यो ऽग्निमुद्वासयते आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीर्नापुत्रस्य लोको ऽस्ती" त्यादिका श्रुतिराश्रमान्तरम् । "ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासत "इत्यादि च देवयानविधिपरम्, न तत्राश्रमान्तरोपदेशासम्भवः । अतो नोर्द्ध्वरेतस आश्रमा सन्तीति जैमिनिमतम् ॥ १८ ॥

## सू० अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः॥३।४।१९॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्यानुवादवाक्ये तुल्य-

---

* वीरहा पुत्रहा ।

त्वश्रवणात्तदनुष्ठेयमिति भगवान् बादरायणो मन्यते ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः।

आश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयमिति भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः ? साम्यश्रुतेः गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य साम्यश्रवणात्। तथाहि "त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञो ऽध्ययनं दानमि" ति प्रथमः तपः एव द्वितीयः ब्रह्मचार्य्याचार्य-कुलवासी तृतीय" इत्यत्र सर्वेषांमाश्रमिणां ग्रहणं समानम्। तत्र यज्ञाध्ययनादिशब्दैर्गृहस्थाश्रमो दर्शितः। ब्रह्मचार्य्याश्रमस्य तच्छब्देनानुवादः। तपःशब्देन वानप्रस्थसंन्यासाख्ययोराश्रमयोर-नुवादः। ते च सर्वे आश्रमिणो बुभुक्षवश्चे-त्केवलस्वाश्रमकर्मनिष्ठाः सन्तः पुनरावृत्तिलोक-भाजो भवन्ति। "सर्वे एते पुण्यलोकाः भवन्तीति श्रुतेः। तत्र कश्चिद्भगवत्तत्त्वविन्मुमुक्षु-र्भगवत्कृपापात्रस्तन्निष्ठस्तद्भावं प्राप्नोतीत्येतद्बोध-यति "ब्रह्मसंस्थो ऽमृतत्वमेती" ति वाक्य-

शेषः । "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः । आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावृत्तिनोऽर्ज्जुन! मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते" इति भगवद्वचनात् ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरमपि गृहस्थाश्रमवदिति भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः ? साम्यश्रुतेः । गार्हस्थ्येन तुल्यश्रवणादाश्रमान्तरस्य । "त्रयो धर्मस्कन्धा" इत्यत्र यथाश्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृश्यते, एवमाश्रमान्तरमपि श्रुत्यन्तरविहितमेव परामृष्टमिति ॥ १९ ॥

## सू० विधिर्वा धारणवत् ॥

॥३।४।२०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विधिरेवास्ति यथादिष्टाग्निहोत्रे श्रूयते, "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि देवेभ्यो धारयती"ति वाक्यं भित्त्वोपरिधारणमपूर्वत्वाद्विधीयते, तद्वत् ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवमनुवादपक्षेऽप्याश्रमान्तरसद्भावमुक्त्वाऽस्मिन्वाक्ये तेषां विधिरेव नानुवाद इत्याह—

विधिर्वा धारणवत् ।

वेत्यवधारणे । उक्तवाक्ये आश्रमाणां विधिरेव । ननु वाक्यभेदः प्रसज्येत एकस्मिन्वाक्येऽनेकाश्रमविधिस्वीकारादित्याशङ्क्याह – धारणवदिति । यथादिष्टङ्कताग्निहोत्रे श्रूयते, "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयती "ति अत्र स्रुग्दण्डादधस्तात्समिद्धारणेन सहैकवाक्यताप्रतीतावपि तां भित्वा स्रुविस्थहविरुपरि समिद्धारणमपूर्वत्वाद्विधीयते, तथेहापि । तदुक्तं शेषलक्षणे " विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वादि "ति । यद्यपि " ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदि"ति जाबालश्रुतिप्रसिद्धाश्रमविधिरस्ति । तथापि तं विनैवान्यवाक्येष्वपि भगवताश्रमप्राप्तिदर्शितेति ज्ञेयम् ।

"*विरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीर्नापुत्रस्य लोको ऽस्ती"त्यादीनि वाक्यानि बुभुक्षुजनविषयाणि। तस्माद्विद्यातः पुरुषार्थ इति सिद्धम्॥२०॥

इति पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विधिर्वा धारणवत् ।

वाशब्दो ऽवधारणे । न परामर्शमात्रमाश्रमान्तराणां, किं तर्हि ? विधिरेवायं सर्वेषामाश्रमाणां धारणवत् । यथादिष्टं गताग्निहोत्रे श्रूयते " अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयती "त्यत्राधो धारणेन सहैकवाक्यताप्रतीतावपि तां भित्त्वोपरि धारणमपूर्वत्वाद्विधीयते । तदुक्तं शेषलक्षणे "विधिस्तु धारणे ऽपूर्वत्वादि"ति। तद्वदिहाप्यप्राप्तत्वाद्विधिरुपगमनीयः। अपि च "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेवं प्रव्रजेदि "ति। प्रत्यक्षैवाश्रमान्तरविधायिनी जाबालश्रुतिस्तामनपेक्ष्यैवाचार्येणेतरवाक्येष्वप्याश्रमप्राप्तिरवश्याऽऽश्रयणीयेत्येतदर्थं विचारः कृतः। तस्मात्सिद्धमूर्द्ध्वरेतःस्वपि विद्यादर्शनाद्विधात एव पुरुषार्थ इति । नन्वेवमपि प्रत्यगात्मज्ञानं विना ऽदृष्टस्वर्गादिफलके यागादिकर्मणि प्रवृत्तेरेवासम्भवा-

---

* तस्य वीराः पुत्राः म्रियन्ते ।

दन्यथा* कर्मश्रुतेर्बाधस्तथापि वैदिकत्वादनिष्ट एव । तस्माज्ज्ञानस्य 'कर्माङ्गत्वमवश्यमभ्युपेयमिति चेन्नैवमापातोक्तेः । तथाहि ज्ञानं तावद्द्विविधं, देहादिव्यतिरिक्तप्रत्यगात्मत्वंपदार्थविषयकं, प्रत्यगात्मब्रह्मतादात्म्यविषयकं, चेति । तत्राद्यस्य देहादिविवेकज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे ऽपि ततो ऽत्यन्तविलक्षणाद्द्वितीयज्ञानस्य न कथमपि पराङ्गत्वमिति राद्धान्तः । " प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः अक्षरात्परतः पर "इत्यादिविवेचकश्रुतेः । " अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम "इत्यादिस्मृतेश्च सर्वात्मपरमात्मज्ञानं स्वतन्त्रमेव मोक्षफलकं, परमात्मनश्च तत्फलदातृत्वमिति सिद्धम् । ननु स्यादेतत्परमेश्वरस्य कर्मफलदातृत्वं यदि कर्मनिरपेक्षं स्यान्नतु तदस्ति, तस्य कर्मसापेक्षत्वस्य त्वया ऽप्यभ्युपगम्यमानत्वादन्यथावैषम्यादिप्रसङ्गात्तस्मात्कर्मानुसारिफलदातुरीश्वरस्याभ्युपगमे गौरवमात्रत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मण एवैकान्तफलहेतुत्वदर्शनात्कर्माभावे केवलेश्वरस्य फलादातृत्वाभावाच्चाप्रयोजक एवेश्वरः । दृश्यते च लोके कृष्यादिकर्मणः फलहेतुत्वं, तथा वैदिके ऽपि यागादौ तस्यैव स्वातन्त्र्यमनुमेयम् । यागादिकं वैदिकानुष्ठानं फलादानार्हं, कर्मत्वात्कृष्यादिवदित्यनुमानात् । न चाऽऽशु विनाशित्वात्तस्य कथं फलदातृत्वमिति वाच्यं ? तस्य विनाशित्वे ऽपि तज्जन्यादृष्टलक्षणसंस्कारस्य यावत्फलावाप्तिस्थैर्यत्वाभ्युपगमात् । किञ्च " स्वर्गकामो यजेते "त्यादिविधिवाक्यमपि स्वर्गादिफलसिद्धये कर्मण एव विधानपरम्, नत्वीश्वरस्येति चेन्न । कर्मणि जडत्वेनाकिञ्चित्करत्वादिति पूर्वमेवोक्तम् । किञ्च तज्ज-

---

* प्रवृत्तेरन्यथा सत्याम् ।

न्यादृष्टस्यापि जडत्वाविशेषात् । नाप्युक्तानुमानमत्र प्रमाणमाभासमात्रत्वात् । वृष्ट्याद्यभावेनोपलादिघातेन व्यभिचारदर्शनात् । नापि यजेदित्यादिशास्त्रस्य कर्ममात्रविधायकत्वम्, अपि तु परदेवताराधनपरत्वमेव । तथा च यजदेवपूजायामिति धात्वर्थादेव कर्मणः पराङ्गत्वोपलब्धेः । "वायव्यं श्वेतमालभेते भूतिकामो वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयती"त्यादिषु कामिनः पुंसः सिसाधयिषितफलसाधनत्वप्रकारोपदेशोऽपि विध्यपेक्षितः । नातत्प्रकारत्वशङ्का युक्ता, एवमपेक्षितेऽपि फलसाधनत्वप्रकारे शब्दादेवावगते सति तत्परित्यागमश्रुतापूर्वकल्पनं च न विदुषां सन्मानार्हमन्याय्यत्वाच्छ्रुतिविरुद्धत्वाच्च । ननु तर्हि देवा एव पुण्यकर्माणः क्षेत्रज्ञविशेषाः कर्मफलदातारः सन्तु, तेषामपि कर्म(द्वारा)ण एव परम्परया फलहेतुत्वसिद्धेस्तेषां जीवत्वसामान्येऽपि पुण्यकर्मबाहुल्यजन्यशक्त्यैव कर्मफलदातृत्वयोग्यत्वादिति चेन्न, कर्मवश्यानां तेषां पारतन्त्र्याविशेषेण तादृक्शक्त्यसम्भवात्तत्तदन्तर्यामिपरमपुरुष एव फलद इत्युक्तं "फलमत उपपत्तेरि"त्यत्र पूर्वमेव । "इष्टापूर्त्तं बहुधा जायमानं विश्वं विभर्ति भुवनस्य नाभिः तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमा" इत्यादिश्रुत्या तदात्मकत्वेन तत्सामानाधिकरण्योक्तेरिति संक्षेपः ॥ २० ॥

इति पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥

## सू० स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥३।४।२१॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

"स एष रसानां रसतम" इत्यादिकर्माङ्गोद्गीथादिस्तुतिमात्रं तत्सम्बन्धितया रसतमत्वादेरुपादानादिति चेन्न, अप्राप्तत्वादुद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिविधानम् ॥ २१ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

अयं इत्यादौ गृहस्थाश्रमेणाश्रमान्तरस्य तुल्यश्रवणादनुष्ठेयत्वं पूर्वत्रोपपादितं तद्वज्जुहूरादित्यादिवाक्येन कर्माङ्गान्वयिना रसतमत्वादिवाक्यजातस्य साम्यात्कर्माङ्गान्वयित्वमित्याशङ्क्येदानीं समाधत्ते —

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात्।

उद्गीथादिविद्यासु "स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो ऽय उद्गीथः इयमेवर्गग्निः साम अयं वाव लोकः एषोऽग्निश्चितः तदिदमेवोक्थमि"त्यादिश्रूयते। तत्र संशयः, किं रसतमत्वादिवाक्यानां क्रत्वङ्गभूतोद्गीथादिस्तुतिमात्रपरत्वम्? उतोद्गीथादिषु रसतमत्वादि-

दृष्टिविधायकत्वम् ? इति । तत्र पूर्वपक्षयति, स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेदिति । स्तुतिमात्रपरत्वम् । कुतः ? उपादानात् । "इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गलोकः आहवनीय" इत्यादिकर्माङ्गस्तुत्या रसतमत्वादिवाक्यजातस्य तुल्यतया कर्माङ्गभूतोद्गीथाद्यस्तुतिपरत्वेनोपादानादित्यर्थः । अत्रोच्यते—नेति । नैवं वक्तव्यम् । कुतः ? अपूर्वत्वात् । उद्गीथादीनां रसतमादितया मानान्तरेणाप्राप्तत्वात् । उद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिविधायकत्वमेव दृष्टिविधिरेव, स्वप्रदेशे वाक्यार्थसम्भवे प्रदेशान्तरविहितोद्गीथादिस्तुतिपरत्वस्यान्याय्यत्वात् ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्यो ऽष्टमो य उद्गीथः इयमेवर्गग्निः सामः अयं वाव लोकः एषो ऽग्निश्चितः तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी" त्येवञ्जातीयकानां वाक्यानां कर्माङ्गभूतोद्गीथादिस्तुतिमात्रं प्रयोजनमास्थेयम् ? उतोद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिविधानम् ? इति शंसयः । किं युक्तं ? स्तुतिमात्रमिति । कुतः ? उपादानात् । उद्गीथाद्युपादानात्

"इयमेव जुहुरादित्यकूर्मः स्वर्गलोक आहवनीयः" इत्यादिवत् कर्माङ्गोद्गीथादिसम्बन्धितया रसतमत्वादेरुपादानात् तेषां स्तुतिमात्रं क्रियते, ननु रसतमत्वादिदृष्टिविशेषो विधीयते इति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु–नापूर्वत्वादिति। नेति पूर्वपक्षनिवृत्तिः। जुह्वादिविधिवदुद्गीथादिविधेरत्रासन्निधानेन रसतमत्वादेरप्राप्तत्वादुपासीतेति प्रत्ययो न स्तुतिमात्रमपि तु तद्दृष्टिविधिरेव, न च प्रदेशान्तरे विहितस्योद्गीथस्य प्रदेशान्तरे स्तुतिरुपयुज्यते। विधायकस्य पदसमूहस्यानन्तरं पुरस्तात्परस्ताद्वा समाम्नातोऽर्थवादस्तेनैकवाक्यतामेति। "यथा वायुर्वै क्षेपिष्ठे"ति। तदुक्तं "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरि"१।२।७।ति॥ २१॥

## सू० भावशब्दाच्च ॥३।४।२२॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"उद्गीथमुपासीते"त्यादिविधिशब्दाच्च ॥२२॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

भावशब्दाच्च ।

"उद्गीथमुपासीत सामोपासीते"त्यादिविधिशब्दाच्चोदाहृतवाक्यानामुद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिविधायकत्वमिति सिद्धम् ॥ २२ ॥

इति स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भावशब्दाच्च ।

भावो विधिः । "उद्गीथमुपासीत सामोपासीते"त्यादिविधिशब्दाच्चाप्युपासनविध्यर्थान्युद्गीथादिवाक्यानि ॥ २२ ॥

इति स्तुतिमात्राधिकरणम्॥ २ ॥

# सू० पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥३।४।२३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वेदान्तेष्वाख्यानश्रुतयः पारिप्लवार्था इति न मन्तव्यम् । " पारिप्लवमाचक्षीते "त्युक्त्वा " मनुर्वैवस्वतो राजे "त्यादिना कासाञ्चिद्विशेषितत्वात् ॥२३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

रसतमत्वादेरन्यपरत्वमाशङ्क्य विद्यायामन्वयो दर्शितः । तद्वदिदानीमाख्यानविशेषवाक्यानामन्यविषयत्वमाशङ्क्य विद्यायामन्वयं दर्शयति —

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।

"प्रतर्द्दनो ह वै दैवो दासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम । जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस श्वेतकेतुर्हारुणेय आस । अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी चे"त्यादयस्तत्र तत्र वेदान्तेषु बह्व्यः आख्यानश्रुतयः सन्ति । तत्र संशयः, किं ताः पारिप्लवार्थाः ? आहोस्विद्विद्याविध्यर्थाः ? । किं तावद्युक्तम् ? पारिप्लवार्था इति चेन्न । कुतः ? ✕विशेषितत्वात् । पारिप्लवमाचक्षीते"त्युक्त्वा तत्रैव "मनुर्वैवस्वतो राजे"त्यादिना कासाञ्चिच्छ्रुतीनामेव पारिप्लवपरतया विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

*पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।

"प्रतर्दनो ह वै दैवो दासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस श्वे-

---

✕ परिशेषितत्वात् इत्यपि पाठः ।

* अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृत्ताय यजमानाय राज्ञे नानाविधकथाकथनं पारिप्लवशब्देनाभिधीयते ।

तकेतुर्हारुणेय आसे "त्यादयो वेदान्तेष्वाख्यानविशेषाः श्रूयन्ते । तेषु संशयः, किमेते पारिप्लवार्थाः ? उत तत्र तत्र विद्याविशेषप्रतिपादनार्थाः ? इति । तत्राख्यानानि शंसन्तीत्याख्यानसामान्यादाख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात्तदर्था इति पूर्वः पक्षः । ततश्च मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वान्न विद्याप्रधान्यं वेदान्तानां न्याय्यमिति चेत्तन्न । कुतः ? विशेषितत्वात्, "पारिप्लवमाचक्षी "त्युक्त्वा तत्रैव "मनुर्वैवस्वतो राजे "त्यादिना कानिचित् मन्वाद्याख्यानान्येव विशेष्यन्ते । अतस्तेषामेव तत्र विनियोगः, नाख्यानसामान्यात्सर्वस्य । अन्यथा विशेषणानर्थक्यम् । तस्मादाख्यानश्रुतयो विद्याविध्यर्था एव, न पारिप्लवार्था इति ॥२३॥

# सू० तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ ३।४।२४ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एवं सति "अन्यासां द्रष्टव्यः" इत्यादि-विध्येकवाक्यतयोपबन्धाच्चा विद्यार्थाः ॥ २४ ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ।

तथा च कासाञ्चिदेव पारिप्लवपरत्वादन्यासामाख्यानश्रुतीनां पारिप्लवपरत्वाभावे सति

तासामाख्यानश्रुतीनां विद्याविध्यर्थत्वम् । तासाम् "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्य" इत्यादिविध्येकवाक्यतयोपबन्धात्सम्बन्धात् । तस्मादाख्यानश्रुतयो विद्याविध्यर्था इति सिद्धम् ॥ २४ ॥

इति पारिप्लवाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ।

यथा च "सोऽरोदीदि"त्येवमादीनां विधिनैकवाक्यत्वादर्थवादता, तथा "द्रष्टव्य" इत्यादिविध्येकवाक्यतयोपबन्धात्सम्बन्धात्तत्प्रशंसार्थमाख्यानमिति । अतो न पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥

इति पारिप्लवाधिकरणम् ॥ ३ ॥

# सू० अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ३।४।२५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ब्रह्मनिष्ठोऽमृतत्वमेति" इत्यादिश्रुतेरूर्द्ध्वरेतस्सु अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा विद्या ऽस्ति ॥ २५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ऊर्द्ध्वरेतस आश्रमाः श्रौताः सन्तीति

पूर्वत्रोक्तं, तदनन्तरं प्रदर्शितसङ्गतिवशादर्थद्वयं चिन्तितमिदानीं तेषु विद्याङ्गभूतयज्ञादिकर्माभावात्प्रधानभूता विद्याऽपि सम्भवति? न वेति ? संशये, न सम्भवति, यज्ञादिविद्यावद्गृहास्थाश्रमे तु सम्भवतीति प्राप्ते सिद्धान्तमाह —

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।

यतो "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि । एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते" इत्यादिश्रुतिभिस्तेषां विद्यावत्त्वमवगम्यते । अत एव च तेष्वग्नीन्धनाद्यनपेक्षा । अग्न्याधानसाध्यकर्मानपेक्षा । पुरुषोत्तमश्रवणमननध्यानाद्यविरोधिस्वाश्रमकर्मालङ्कृता विद्येति निश्चीयते । गार्हस्थ्ये प्रत्यहं लौकिकवैदिकदुर्निवार्य्यकर्मबाहुल्येन परमपुरुषार्थसाधनभूतविद्यापौष्कल्यासम्भवात्तदर्थो बुद्धिपूर्वको गार्हस्थ्यत्यागः शास्त्रादेव गम्यते । तस्मादूर्द्ध्वरेतस्सु विद्या सुतरां सम्भवत्येवेति सिद्धम् ॥ २५ ॥इत्यग्नीन्धनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।

स्तुतिप्रसङ्गादवान्तरसङ्गत्याऽधिकरणद्वयं चिन्तितम्, ऊर्ध्वरेतसः आश्रमाः श्रुतिपरिगृहीताः सन्तीत्युक्तमिदानीं तेषु यज्ञादिकर्माभावात्तदङ्गिका विद्या ऽपि सम्भवति? न वा? इति संशये, न सम्भवतीति प्राप्ते, आह—अत एव चेति। यतो "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासत" इत्यादिश्रुतिभिस्तेषां विद्यावत्त्वमवगम्यते । अत एव तेष्वग्नीन्धनाद्यनपेक्षा । अग्न्याधानसाध्यकर्मानपेक्षा विद्येति निश्चीयते ॥ २५ ॥

इत्यग्नीन्धनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

## सू० सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ ३।४।२६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेने"त्यादिश्रुतेर्गमनेऽश्ववद्विद्या स्वोत्पत्तौ साधनभूतानि सर्वाणि कर्माण्यपेक्षते ॥ २६ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

विद्यायाः परमपुरुषार्थसाधनत्वे निरूपिते तत्र कर्मत्यागमाशङ्क्येदानीं तेषां विविदिषायां विनियोगं दर्शयति —

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।

विद्ययैव परमपुरुषार्थश्चेत्तर्हि सा सर्वथा सर्वाश्रमकर्मनिरपेक्षा ? उत सर्वापेक्षा ? इति संशये, तयैवेष्टसिद्धौ किं कर्मभिरतः सर्वानपेक्षेति प्राप्ते, उच्यते—सर्वापेक्षेति । सर्वेषु मुमुक्षुभिर्विद्यार्थिभिरनुष्ठीयमानेषु अङ्गभूतेषु आश्रमकर्मसु जायमानतयापेक्षा यस्याः सा । यद्वा स्वोत्पत्तौ सर्वाण्याश्रमकर्माण्यपेक्षते इति सर्वापेक्षा । उत्पन्ना सती तु पुरुषार्थसिद्धौ निरपेक्षा । कुतः ? "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"ति यज्ञादिश्रुतेः यज्ञादिभिर्विविदिषन्ति, वेदितुमिच्छन्तीति विग्रहः । अत्र प्रत्ययार्थप्राधान्याङ्गीकारे इच्छाद्वारा यज्ञादयो ज्ञानाङ्गतया विनियुज्यन्ते । प्रकृत्यार्थप्राधान्याङ्गी-

कारे यज्ञादीनामीक्ष्यमाणज्ञानाङ्गत्वं साक्षात्प्राप्नोतीति बोध्यम् । तत्र दृष्टान्तः । अश्ववदिति । अश्वो हीप्सिततमदेशगमनसिद्धये ऽपेक्षते । सिद्धे गमने नापेक्षते, तद्वत् । उक्तं च श्रीभगवता "यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विदन्ति मानव" इति । तथा च स्वाश्रमविहितैर्नित्यैर्नैमित्तिकैश्चानुष्ठितैः श्रीवासुदेवाभ्यर्चनोपयिकैः कर्मभिः शास्त्राचार्यानुग्रहादुपासनध्यानपराभक्तिध्रुवास्मृत्याद्याकारं सर्वाशुभघ्नं परब्रह्मादिशब्दाभिधेयपुरुषोत्तमभावापत्त्यसाधारणकारणं तत्कृपाबललभ्यं ज्ञानं जायते इति सिद्धम् ॥ २६ ॥

इति सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।

यद्येवं केवला विद्या पुरुषार्थं साधयेत्तर्हि किं सर्वथाऽऽश्रमकर्मानपेक्षा ? उताश्रमकर्माण्यपेक्षतेऽपीति ? संशये, विद्यायाः स्वातन्त्र्यात्सर्वथानपेक्षेति प्राप्ते, आह-सर्वापेक्षेति । विद्यास्वोत्पत्तौ

सर्वापेक्षा सर्वाणि यज्ञाद्याश्रमकर्माण्यपेक्षते । उत्पन्ना सती स्वफलमोक्षसिद्धौ तु निरपेक्षा । कुतः ? यज्ञादिश्रुतेः । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा ऽनाशकेने"ति यज्ञादयो विविदिषोत्पादनद्वारा विद्याङ्गतया विनियुज्यन्ते । यज्ञादिभिर्वेदनं प्राप्तुमिच्छन्तीति । अतस्तदपेक्षायाः इच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणं ज्ञानमेव तदङ्गकमित्यर्थतो ऽवगम्यते । तत्र दृष्टान्तः । अश्ववदिति । यथा ऽश्वो गमनसाधनभूतो गमनसिद्धये ऽपेक्ष्यते । सिद्धे च गमने स्वगृहादिप्राप्तौ नापेक्ष्यते, तद्वत् ॥ २६ ॥

इति सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥

## सू० शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥३।४।२७॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ब्रह्मजिज्ञासुर्विद्याङ्गभूतस्वाश्रमकर्मणा विद्यानिष्पत्तिसम्भवे ऽपि शमदमाद्युपेतः स्यात् । "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा ऽऽत्मन्येवा ऽऽत्मानं पश्येदि"ति विद्याङ्गतया शमादिविधेस्तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं विद्योत्पत्तौ बहिरङ्गसाधनं निरूप्येदानीमन्तरङ्गं साधनं निरूपयति —

**शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।**

ब्रह्मविद्यार्थी विद्योदयाय शमाद्युपेतः स्यात् ? उत नेति ? संशये, शमादीनां विद्योत्पत्त्युत्तरकालवर्त्तित्वेन विद्याङ्गत्वाभावात् । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती "त्यादिश्रुत्युक्तेः कर्मभिरेव विद्योदयसम्भवाच्च ब्रह्मविद्यार्थिनो न शमाद्युपेतत्वं युक्तमिति प्राप्ते, उच्यते— तुशब्दः शङ्कानिराशार्थः । ब्रह्मविद्यार्थिनो यद्यपि कर्मभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा विद्या स्यात्तथापि स शमदमाद्युपेतः स्यात् । कस्मात् ? तदङ्गतया तद्विधेः । विद्याङ्गतया शमादीनां विधानात् । " तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येदि "ति विहितानां च तेषां विद्योदयायावश्यानुष्ठेयत्वात् । शमादिभिरैकाग्र्यं भवति "धर्मेण

पापमपनुदती ”ति श्रुतेः कर्मभिश्च पापनिर्हरणद्वारा चैकाग्र्यं भवति । ततो विद्योदयः । ततस्तु पूर्वाभ्यासाद्वैपरीत्यस्यानिष्टत्वाच्च शमादीनां महोदयः । तस्माच्छमाद्युपेतः स्यादिति सिद्धम् ॥२७॥

इति शमदमाद्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विद्योत्पत्तौ यज्ञादिबहिरङ्गसाधनमुक्तमथान्तरङ्गसाधनमाह —

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।

यद्यपि यज्ञादिभिः स्वाश्रमविहितकर्मभिरेव शुद्धान्तःकरणस्य विद्या स्यात्तथाऽपि तु मुमुक्षुः शमदमाद्युपेतः स्यात् । कुतः? तदङ्गतया तद्विधेः । “तदस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येदि”ति विद्याङ्गतया शमादीनां विधानाद्विहितानां च तेषां विद्यानिर्वृत्तये ऽवश्यानुष्ठेयत्वात्, विद्याया एकाग्रतानिष्पाद्यत्वाच्छमादिभिरेव तन्निष्पत्तिः । यज्ञादिकर्माण्यपि पापनिर्हरणद्वारेणैकाग्रतामापादयन्तीति भावः ॥ २७ ॥ इति शमदमाद्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू० सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥३।४।२८॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

"न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवती"-ति सर्वान्नानुज्ञानं प्राणात्ययापत्तावेव प्राणात्यये चाक्रायणो हीभ्योच्छिष्टं भक्षणं कृतवान्। तस्य श्रुतौ दर्शनात् ॥ २८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

शमादीनां विद्याङ्गत्वमुक्तमिदानीं तद्वत्सर्वान्नभक्षणमपि विद्याङ्गमित्याशङ्कां निराचिकीर्षुः प्राणात्ययविषयं तदित्याह —

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्।

बृहदारण्यके "न ह वा ऽस्यानन्नं जग्धं भवती"ति छान्दोग्ये च "न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवती"ति श्रूयते। तत्र संशयः, किमिदं प्राणविदः सर्वान्नभक्षणं शमादिवत्प्राणविद्याङ्गतया स्वस्थावस्थायाम्? उत प्राणात्यये? किं तावद्युक्तं, स्वस्थावस्थायामिति प्राप्ते, उच्यते। प्राणात्यये एव सर्वान्नानुमतिः। कुतः? तद्दर्शनात्। अयुक्तान्नभक्षणस्य प्राणात्ययापत्तावेव

"मटचीहतेषु कुरुष्वि"ति ब्राह्मणे दर्शनात् । मटचीसञ्ज्ञकैर्जन्तुविशेषैः सर्वान्नभक्षणेन कुरुषु दुर्भिक्षे जाते क्षुत्परीतो मुनिश्चाक्रायणो हस्तिपोच्छिष्टभक्षणं कृतवान् । तस्मात्प्राणविदोऽपि प्राणात्यये एव सर्वान्नभक्षणं सङ्कीर्त्यते, इत्यवगम्यते ॥ २८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।

वाजिनां प्राणविद्यायां "न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं भवति" तथा छान्दोग्यानां "न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवती"ति प्राणविदः सर्वान्नभोजनानुमतिः श्रूयते । सा किं प्राणविद्यावतां सर्वदा कर्त्तव्या ? उत प्राणात्ययापत्ताविति ? विषये विशेषाश्रवणात्सर्वदेति + प्राप्ते समाधत्ते, सर्वेति + चशब्दोऽवधारणार्थः । प्राणात्यये एव सर्वान्नानुमतिः, सर्वान्नभक्षणानुज्ञा, न सर्वदा । कुतः ? तद्दर्शनात्, ब्रह्मविदामपि प्राणात्ययापत्तौ तथात्वश्रवणात् । किं पुनः प्राणविदः । "उषस्तिः किल चाक्रायणो ब्रह्मविदग्रेसरो मटचीहतेषु कुरुषु" मटच्यो रक्तक्षुद्रपक्षिणस्तैर्हतेषु कुरुदेशस्थसस्येषु दुर्भिक्षदूषितेषु कुरुष्वित्यर्थः । इभ्यग्रामे तसन्नमशनेन प्राणसंशयापन्नो ब्रह्मविद्यानिष्पत्तये प्राणानामनवसादमाकांक्ष्यमाण इभ्यं *कुल्मा-

*चोलालो चिया इति ख्यातः ।

षान् खादन्तं भिक्षमाणस्तेनोच्छिष्टेभ्यो ऽन्ये न विद्यन्त इति प्रत्युक्तः । पुनरपि " एतेषां मे देही "त्युक्त्वा तेन चेभ्योनोच्छिष्टेभ्य आदाय दत्तान् कुल्माषान्प्रतिगृह्यानुपानप्रतिग्रहमिभ्येनार्थितः उच्छिष्टं मे पीतं स्यादिति वदंश्चाक्रायणः किमेते कुल्माषा अनुच्छिष्टा इतीभ्येन पर्यनुयुक्तो न वा अजीविष्य मिमा न खादन् कामोम उदपान-मिति कुल्माषाऽखादने स्वस्य प्राणसंशयापत्तिस्तावन्मात्रखादनेन धृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोदकपानं कामचारं निषिद्धं स्यादि-त्युक्त्वा स्वभुक्तशेषं जायायै दत्वा तया च रक्षितान्दिना-न्तरे पुनरपि प्राणसङ्कटे तया दत्तान्तानेवेभ्योच्छिष्टान्स्वोच्छि-ष्टांश्च चखादेति ब्रह्मविदां प्राणसङ्कट एव सर्वान्नानुमतिदर्श-नादत्राविशेषदर्शने ऽपि प्राणात्यये एव प्राणविदो ऽपि तथा-त्वमिति निश्चेयम् ॥ २८ ॥

## सू० अबाधाच्च ॥३।४।२९॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

" आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरि "त्यस्या-बाधाच्च ॥ २९ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अबाधाच्च ।

" आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिरि "ति विद्योत्पत्त्यर्थमाहारशुद्धिविधानं

तस्याबाधादपि प्राणात्यये एव सर्वान्नानुमतिरिति निश्चीयते ॥ २९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अबाधाच्च ।

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरि" त्याहारशुद्धिविधेरबाधादपि ब्रह्मविदां सर्वान्नीनत्वं प्राणसङ्कटविषयमेव । एवमतिशयितशक्तेर्ब्रह्मविदो ऽपि ह्युच्छिष्टपरिग्रहभक्षणयोरापद्येव दर्शनादल्पशक्तेः प्राणविदः किं पुनरिति ॥ २९ ॥

सू० अपि च स्मर्य्यते॥३।४।३०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसे" ति स्मर्य्यते च ॥ ३० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अपि च स्मर्य्यते ।

अपि च प्राणात्यये विदुषो ऽविदुषश्च यतस्ततो ऽन्नभक्षणं स्मर्य्यते । "जीवितात्ययमापन्नो यो ऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते

न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसे" ति ॥ ३० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अपि च स्मर्य्यते ।

"जीवितात्ययमापन्नो यो ऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसे"ति प्राणसङ्कट एव सर्वान्नभक्षणं स्मर्यते ॥ ३० ॥

सू० शब्दश्चातो ऽकामकारे ॥

३।४।३१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अत एव "तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेदि"ति शब्दो यथेष्टाचारनिवृत्तौ वर्त्तते ॥ ३१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

शब्दश्चातो ऽकामकारे ।

यतः प्राणात्ययापत्ताविव विदुषो ऽविदुषश्च सर्वान्नानुमतिरतो ऽकामकारे च स्वच्छन्दाचारविपर्य्यये "तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेदि"ति कठानां शब्द उपपद्यते । प्राणोपासकस्य

सर्वान्नानुज्ञानमापद्विषयं भवति । अनापद्विषयमिव तच्छ्रवणं तु तत्तद्विद्यास्तुत्यर्थं, न तु शमादिवत् प्राणविद्याङ्गतया विधीयते इति फलितार्थः । तस्मात्सर्वान्नभक्षणमापद्विषयमिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥ इति सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

शब्दश्चातो ऽकामकारे ।

यतो ब्रह्मविदामन्येषां च सर्वान्नानुमतिः प्राणात्यये एवातः अकामकारे यथेष्टाचरणनिवृत्तौ कठसंहितायां श्रूयमाणशब्दश्चोपपद्यते "तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबति पाप्मना नोत्सृजा" इत्येति पाप्मना संसृष्टो न भवामीति मत्वा सुरां न पिबतीत्यर्थः । "अतीतानागतज्ञानी त्रैलोक्योद्धरणक्षमः । एतादृशोऽपि नाचारं श्रौतं स्मार्त्तं विवर्जयेदि"ति स्मृतिश्च । "तस्मान्न ह वा अस्यानन्नं जग्धमि"त्येवञ्जातीयकाः प्राणविद्यास्तुत्यर्था अर्थवादा एव, न शमादिवत् प्राणविद्याङ्गतया सर्वान्नभक्षणविधयः ॥ ३१ ॥

इति सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

सू० विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि

॥३।४।३२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

यद्विद्याङ्गं यज्ञादि तद्वदमुमुक्षुणा चाश्रमकर्मत्वेनाप्यनुष्ठेयं "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती"ति विहितत्वात् ॥ ३२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

"सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरि"त्यत्र यज्ञादीनां कर्मणां ब्रह्मविद्याङ्गत्वमुक्तं, तत उक्तसङ्गतिद्वयेनार्थद्वयं चिन्तितमिदानीमभ्युदयार्थं यज्ञादिकर्माण्यमुमुक्षुणाऽऽश्रमिणाप्यनुष्ठेयानि ? न वा ? इति चिन्त्यते —

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेने"त्यादिश्रुत्युक्तं कर्म पूर्वत्रापवर्गसाधनाङ्गतयाभिमतं, तदनपवर्गार्थिनः केवलाश्रमिणः प्राप्नोति ? न वा ? इति संशये, पूर्वः पक्षः। यज्ञादेर्विद्याङ्गतया प्राप्तविषयस्य केवलाश्रमकर्मत्वकल्पनाऽसम्भवान्न प्राप्नोतीति। तत्रोच्यते—आश्रमकर्मापीति। यद्विद्याङ्गतया श्रुत्योक्तं यज्ञदानादिकर्म तदाश्रमकर्मापि भवति। अमु-

मुमुक्षुणा चाश्रमकर्मत्वेनाप्यनुष्ठेयम् । कुतः ? विहितत्वात् । "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती" त्यादिना नित्यकर्त्तव्यतया केवलाश्रमकर्मत्वेन विहितत्वात् । तदमुमुक्षोः केवलाश्रमिणोऽपि प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ।

यज्ञादिश्रुतेरिति यज्ञाद्याश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वमुक्तदानीं तानि यज्ञादिकर्माणि केवलाश्रमनिष्ठेनामुमुक्षुणाप्यनुष्ठेयानि ? उत नेति ? चिन्त्यते, तत्र विद्याङ्गभूतानां तेषां केवलाश्रमस्याप्यङ्गत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधः* प्रसज्यत इति न केवलाश्रमधर्मा यज्ञादय इति प्राप्ते आह— आश्रमकर्मापीति । यज्ञादि-आश्रमस्य कर्मापि केवलगृहस्थाश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्त्तव्यमेव । कुतः ? विहितत्वात् । "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती"-त्यादिनाकेवलाश्रमिणोऽपि जीवननिमित्ततया नित्यवद्विहितत्वात् ॥३२॥

## सू० सहकारित्वेन च ॥३।४।३३॥

---

* ज्ञानकामनया ऽनुष्ठाने कर्मणामनित्यत्वं, तस्या अनित्यत्वात् यावज्जीवादिविधिना तु नित्यत्वं चेति विरुद्धधर्मद्वयापातः ।

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्यासहकारित्वेनापि "विविदिषन्ति यज्ञेने"त्यादिना यज्ञादेर्विहितत्वान्मुमुक्षूणामप्यनुष्ठेयं संयोगपृथक्त्वेनोभयार्थत्वसम्भवात् ॥ ३२ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं चेत्तर्हि विद्याङ्गत्वं यज्ञादेर्न स्यादित्यत्राह —

सहकारित्वेन च ।

"तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेने"-त्यादिना विद्योत्पत्तिद्वारा विद्यासहकारित्वेन च यज्ञादेर्विहितत्वाच्च मुमुक्षुणा ऽपि यज्ञादिकर्मानुष्ठेयमेव । नन्वेकस्य कर्मण आश्रमार्थत्वं विद्यार्थत्वं च न युक्तमिति चेन्न, कर्माभेदे ऽपि विनियोगभेदात् । "एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमि"ति न्यायात् । यथैकस्य खादिरत्वस्य "खादिरो यूपो भवती"ति क्रत्वर्थो विनियोगः । "खादिरं वीर्य्यकामस्ये"ति पुरुषार्थार्थो विनियोगस्तद्वत् ॥ ३३ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

*सहकारित्वेन च ।

"तमेतं वेदानुवचनेने"त्यादिना विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाच्च विद्योत्पत्तिद्वारेण विद्यासहकारितयाऽप्यनुष्ठेयं यज्ञादिकर्म, नाप्यत्र नित्यानित्यसंयोगविरोधः कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात् "एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमि"ति न्यायात् । संयोगभेदो हि तुल्यबलवाक्यद्वयेन विनियोगपृथक्त्वं, तथा हि यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो नित्यः संयोगो, न तस्य विद्याफलत्वं "तमेतं वेदानुवचनेने"त्यादिवाक्यकल्पितस्त्वनित्यस्तस्य विद्याफलत्वं, यथैकस्यापि "दध्ना जुहोती"ति नित्येन विनियोगेन क्रत्वर्थता दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यनित्येन विनियोगेन पुरुषार्थता, तद्वत् । अतः सति वाक्यद्वये विनियुक्तविनियोगो न विरुध्यते ॥ ३३ ॥

## सू०सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ॥३।४।३४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उभयार्थतया ते एव यज्ञादयो बोध्याः । उभयत्रैकरूपकर्मप्रत्यभिज्ञानात् ॥ ३४ ॥

---

* सह मिलित्वा शुद्धिद्वारा विद्यां कुर्वन्तीति सहकारीणि कर्माणि तेषां भावस्तत्त्वमित्यर्थः ।

वेदान्तकौस्तुभः ।

कर्माभेदमुपपादयति —

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ।

सर्वथाश्रमकर्मतया विद्यार्थतया चोपदिश्यमानास्ते एव यज्ञादयो बोद्धव्याः । कुतः ? उभयलिङ्गात् । उभयत्रैकरूपकर्मप्रत्यभिज्ञानाल्लिङ्गात् । यज्ञादयः प्रत्येकमेकैकरूपा एवाश्रमकर्मतया विद्याङ्गतया चेत्युभयत्र तत्तच्छब्दैरुपदिश्यन्ते इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु नित्याग्निहोत्रादिभ्यो भिन्ना एवापूर्वयज्ञादयो विविदिषायां विनियुज्यन्तां तत्र कुतो विनियुक्तविनियोगस्तत्राह —

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ।

सर्वथाऽपि विद्यासहकारित्वे आश्रमकर्मत्वे ऽपि त एव यज्ञादयो धर्मा अनुष्ठेयाः । त एवेत्यवधारणेन कर्मस्वरूपभेदनिरासः । यथा "कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुहोती"ति होमान्तरं तद्वदिह न भवतीत्यर्थः । कुतः ? उभयलिङ्गात् । उभयत्र श्रुतौ यज्ञादिशब्दैः प्रत्यभिज्ञाप्य तेषामेव विनियोगात्, लिङ्गात ॥ ३४ ॥

---

# सू० अनभिभवं च दर्शयति

३।४।३५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"धर्मेण पापमपनुदती "तिश्रुतिप्रसिद्धैर्यज्ञादिभिरेव विद्याभिभवहेतुभूतपापापनयनेन विद्यायाः अनभिभवं दर्शयति ॥३५॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अनभिभवञ्च दर्शयति ।

"शमादिभिरेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दत" इत्यादिश्रुतिर्ब्रह्मचर्य्यादिनाऽऽश्रमकर्मणाऽऽत्मज्ञानानभिभवं दर्शयति । आत्मा न नश्यति न विस्मृतो भवतीत्यर्थः । केवलाश्रमधर्मत्वेनानुष्ठिता यज्ञादयः स्वर्गादिप्रापका भवन्ति । ते एव विद्याङ्गतया ऽनुष्ठिता विद्यामुत्पादयन्ति । अतो विनियोगभेदो, न तु कर्मभेदः । तस्मात्ते एव मुमुक्षूणाममुमुक्षूणां चानुष्ठेया इति सिद्धम् ॥ ३५ ॥

इति विहितत्वाधिकरणम् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनभिभवञ्च दर्शयति ।

" धर्मेण पापमपनुदती "त्यादिना तैरेव यज्ञादिभिर्विद्यायाः अनभिभवं पापकर्मभिरुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावं दर्शयति । अत उभयत्र विनियोगाद्यज्ञादयस्त एव मुमुक्षूणां केवलाश्रमिणां चानुष्ठेयाः ॥ ३५ ॥ इति विहितत्वाधिकरणम् ॥ ८ ॥

## सू० अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ३।४।३६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आश्रममन्तरा वर्त्तमानानामपि विद्याधिकारोऽस्ति । रैक्कादेर्विद्यानिष्ठत्वस्य दर्शनात् ॥ ३६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्राश्रमिणां विद्याधिकारस्तत्कृतकर्मणां च विद्याङ्गत्वमित्युक्तमिदानीं येऽन्तराले वर्त्तमानास्तेषां विद्यायामधिकारस्तत्कृतकर्मणां विद्याङ्गत्वसिद्धये विचार्य्यते —

अन्तरा चापि तु तद् दृष्टेः ।

आश्रममन्तरा वर्त्तमाना ये विधुरादय-

स्तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति ? न वेति ? संशयः । ब्रह्मविद्याया उत्पत्तावाश्रमकर्मापेक्षा- ऽस्ति, तेषामाश्रमकर्माभावान्नास्तीति पूर्वः पक्षः । तत्रोच्यते—अन्तरा आश्रममन्तरा वर्त्तमाना- नामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति । कुतः ? । तद्दृष्टेः । तस्य ब्रह्मविद्याधिकारस्यानाश्रमिणां रैक्वसम्वर्त्तादीनां श्रुतौ स्मृतौ च दर्शनात् । रैक्वब्रह्मविद्याधिकारबोधिनी श्रुतिः प्रथमाऽध्याये उदाहृता । सम्बर्त्तस्याङ्गिरसः पुत्रस्य कथा- विस्तरो महाभारते आश्वमेधिके "राजन्नङ्गि- रसः पुत्रः सम्बर्त्तो नाम धार्मिकः चङ्क्रमीति दिशः सर्वा दिग्वासा मोहयन्प्रजे "त्यादिना द्रष्टव्यः । अयमभिप्रायः । तमेतमित्यादिश्रुत्युक्ता- विद्यासहकारिणो यज्ञादयो धर्मा ये ते हि मुमुक्षुगृहस्थानुरूपा अग्निहोत्रादयः यज्ञादि- शब्दार्था विद्योत्पादका धर्मा बोध्याः । ऊर्द्ध्व- रेतसामाश्रमिणां यथाश्रमं अग्निहोत्रादिव्यति- रिक्ताः धर्मा बोध्याः । एवमनाश्रमिणामपि आश्रमानियता जपोपवासदेवताराधनादयो बोध्याः इति ॥ ३६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ।

अथ यानाश्रमिणां विद्यायामधिकारोऽस्ति ? न वा ? इति विषये किं प्राप्तं, नास्तीति। कुतस्तेषां विद्याऽसाधारणहेत्वाश्रमधर्माभावादिति प्राप्ते, इदमुच्यते। अन्तरा चापि त्विति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। चशब्दो नियोगे । अन्तरा आश्रमधर्मान्तराले विनष्टदाराकृतदारत्वात् अनाश्रमित्वेन वर्त्तमानानामपि विद्यायामधिकारोऽस्त्येव। कुतः ? तद्दृष्टेः । दृश्यते हि उर्द्ध्वरेतसां रैक्वभीष्मसम्वर्तवाचक्नवी*प्रभृतीनामपि ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वम्। नच तेषां विद्यानुग्राहकधर्माभाव इति वाच्यं, यज्ञहोमाद्यनैकान्तिकधर्माभावे ऽपि जपोपवासदानदेवाराधानादीनामेकान्तिनामाश्रमानियतानां विद्यानुग्राहकधर्माणां तेष्वपि सत्त्वात् ॥३६॥

# सू० अपि च स्मर्य्यते॥३।४।३७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मणः उच्यते "इति तेषामपि जपादीनां विद्यानुग्रहः स्मर्य्यते ॥ ३७ ॥

---

*वचक्नुर्विप्रवाग्मिनो वचेरक्नुच्प्रत्ययस्तस्यापत्यं स्त्री ।

वेदान्तकौस्तुभः ।

अपि च स्मर्यते ।

"जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" इति जपादिभिरेवानाश्रमिणामपि सिद्धत्वं स्मर्य्यते । जपादिभिरन्तःकरणशुद्धौ सत्यां विद्योदयोऽतस्तेऽपि सिद्धार्था भवन्तीति भावः ॥ ३७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अपि च स्मर्यते ।

"जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो*ब्राह्मण उच्यते" इति विधुरादीनामनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यानुग्रहः स्मर्यते ॥ ३७ ॥

## सू० विशेषानुग्रहश्च ॥ ३।४।३८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

जन्मान्तरीयेणापि साधनविशेषेण विद्या-

---

* मैत्रो दयावानित्यर्थः, सूर्यसदृशो वा मित्रावरुणाधिष्ठातृगायत्री तन्निष्ठो वा ।

नुग्रहः स्मर्यते च "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि"ति ॥ ३८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

विशेषानुग्रहश्च ।

अनेकजन्मकृतैः कर्मविशेषैर्विद्यानुग्रहः स्मर्य्यते च । "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि"ति येषु विद्या दृश्यते, यथोक्ता-ऽऽश्रमकर्मापि विद्याङ्गानि न दृश्यन्ते, तेषु पूर्वजन्मानुष्ठितान्याश्रमकर्माण्यनुमेयानीति भावः ॥ ३८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विशेषानुग्रहश्च ।

श्रूयते चानाश्रमनियतधर्मविशेषैस्तेषां विद्यानुग्रहः "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया ऽऽत्मानमन्विष्यादि"ति प्राग्जन्मा-नुष्ठितैरप्याश्रमधर्मैरिह विद्योदयः सम्भवति । "अनेकजन्मसं-सिद्धस्ततोयाति पराङ्गतिमि"ति स्मृतेः ॥ ३८ ॥

सू० अतस्त्वितरज्ज्यायो लि-ङ्गात् ॥ ३।४।३९॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

*अन्तरालवर्त्तित्वादाश्रमवर्त्तित्वं ज्यायः "अनाश्रमी न तिष्ठेते"ति लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गात्।

अतोऽन्तरालवर्त्तित्वात्तु इतरत् आश्रमवर्त्तित्वं बहुविद्यासाधनसम्पत्त्या ज्यायः, अल्पकालेन विद्योत्पादकम्। कुतः? लिङ्गात्। तेनैति "ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्चे"ति श्रुतिर्देवयानेन पथा गमनमाश्रमिणां दर्शयति। ब्रह्मवित्पुण्यकृत्स्वाश्रमकर्मवत्तेन कर्मणैधितेन ज्ञानेन देवयानद्वारा ब्रह्मैतीति श्रुत्यर्थः। एवं भूतात् पुण्यकृदिति श्रौताल्लिङ्गात्। ते च पञ्चाग्निविद्यायां "ये चेमे ऽरण्ये" इति अरण्यवासिनां निर्देशाच्चत्वार आश्रमाः॥ "अनाश्रमि न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः। सम्वत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रं समाचरेत्। वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण

---

* अन्तरालवर्त्तित्वादाश्रमानन्तरत्वं ज्यायः इत्यपि पाठः।

परः पुमान् । तोष्यते खलु विश्वात्मा नान्यत्तत्तोषकारणमि"त्यादिस्मृतिलिङ्गाच्च । दैवादाश्रमप्रतिपत्त्यसम्भवे जपोपवासदानदेवताराधनाहिंसासन्तोषार्ज्जवमहत्सङ्गादिभिरपवर्गं तु साधयेदेव । तथाह याज्ञवल्क्यः "नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्द्विजः । अतो यदात्मनोऽपथ्यं परस्य न तदाचरेत् । इतिहासे च "विद्यावृत्तिविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च । आर्ज्जवे वर्त्तमानस्य ह्याश्रमैः किं प्रयोजनमिति । अत एवाश्रमलिङ्गाभावे ऽपि धर्ममाचरेदित्युक्तम् । महाभारते "दूषितो ऽपि चरेद्धर्मं न लिङ्गं धर्मकारणमि"ति तस्मादाश्रमवर्त्तित्वस्य ज्यायस्त्वेऽप्यकृतदारमृतदारादीनामनाश्रमिणामपि जपादिभिर्विद्यानुग्रहः इति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

इति विधुराधिकरणम् ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारो ऽस्त्येवेति । तथा ऽप्याश्रमित्वानाश्रमित्वयोराश्रमित्वस्यैव वैशिष्ट्यमित्याह —

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ।

अतो ऽनाश्रमित्वादितरदाश्रमित्वमेव ज्यायो वरिष्ठं भूयोधर्मका-ऽल्पधर्मकयोरतुल्यकार्यत्वात् । लिङ्गात् श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्च । "तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्चे"ति देवयानेन पथा गमनमाश्र-मिणामेव दर्शयति । कथं गम्यते ? "ये चेमे ऽरण्य "इत्यरण्य-वासिनामेव ग्रहणात् "चत्वार आश्रमा "इति नियमात् । "अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः । सम्वत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रं समाचारेदि"ति निन्दावचनाच्चाश्रमित्वेनैव भाव्यम् । अपि च विनष्टदारा अकृतदारा वा विधुरादयः केनचिद्धेतुना-ऽऽश्रमप्रतिपत्त्यसम्भवे तेषामप्यपवर्गो जपादिसाधारणधर्मैर्विद्या-नुग्रहादवगम्यते । तथाह याज्ञवल्क्यः "नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्द्विजः । अतो यदात्मनो ऽपथ्यं परस्य न तदा-चरेत् "इतिहासे च "विद्यावृत्तिविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च । आर्जवे वर्त्तमानस्य आश्रमैः किं प्रयोजनमि "ति ॥ ३९ ॥

इति विधुराधिकरणम् ॥ ९ ॥

## सू० तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपा-भावेभ्यः ॥ ३।४।४० ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्राप्तोर्द्ध्वरेतोभावस्याभावस्तु नोपपद्यते, इति

जैमिनेरपि सम्मतं वचनाभावान्निमित्ताभावा-च्छिष्टाचाराभावाच्च ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

इदानीं नैष्ठिकाद्यश्रमेभ्यः प्रच्युताना-मपि विद्याधिकारोऽस्ति ? न वेति ? चिन्त्यते —

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः।

सन्त्यूर्द्ध्वरेतसः आश्रमा इति प्रागुपपा-दितम्, तेभ्यो विभ्रष्टानां ब्रह्मविद्यायामधिकारो-ऽस्ति ? न वेति ? सन्देहः, विधुरादीनामिव जपादिभिरस्तीति प्राप्ते, उच्यते—तुशब्दः पक्ष-निषेधार्थः। तद्भूतस्य परमफलकत्वेन प्राप्त-स्योर्द्ध्वरेतोभावस्य अतद्भावः प्रच्युतिर्न भवतीति जैमिनेरपि च सम्मतम्। जैमिनिसम्मतत्वेन स्वम-तस्य दार्ढ्यमुपपादितमित्यपि शब्दः सूचयति। अतः कारणात् उर्द्ध्वरेतसां नैष्ठिकवैखानसपरि-व्राजकानां विधुरादीनामिवानाश्रमित्वेनावस्था-नासम्भवात्तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारः सङ्ग-च्छते इत्यर्थः। प्रच्युतिर्न सम्भवतीत्यत्र हेतू-नाह—नियमात्तद्रूपाभावेभ्य इति। "ब्रह्मचा-

य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयो ऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुले ऽवसादयन्नि"ति "अरण्यमीयान्नततः पुनरेयादि"ति "संन्यस्याग्निं न पुनरावर्त्तयेदि"ति चाश्रमाप्रच्युतिनियमात् । तच्छब्दो ऽतद्भावपरामर्शपरः । तस्यातद्भावस्याश्र(म)मं प्रच्युतेः रूपाणि शब्दरूपाणि तानि तद्रूपाणि आश्रमप्रच्युतिबोधकानि वाक्यानीत्यर्थः । तेषामभावस्तद्रूपाभावस्तस्मात् । अनाश्रमनिष्ठापादकानि वाक्यानि न सन्त्यर्थः । बहुवचनेनान्येऽभावा गृह्यन्ते । तथाहि "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा परिव्रजेदि"त्यारोहणबोधकवाक्यवदवरोहणवाक्याभावात्, प्रच्युतिनिमित्ताभावाच्च, शिष्टाचाराभावाच्च ॥ ४० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ च नैष्ठिकवैखानसपरिव्राजकानां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्युतानामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारो ऽस्ति ? न वेति ? विषये, अस्तीति विधुरादिवदनाश्रमधर्मैर्जपादिभिस्तेषामपि विद्यानुग्रहसम्भवाद्विति प्राप्ते, आह ———

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ।

तुशब्दः पक्षनिषेधार्थः । तद्भूतस्य नैष्ठिकादिधर्मनिष्ठस्य नातद्भावः, । अनाश्रमितयाऽवस्थितिर्न सम्भवति । कुतः ? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात् । तद्रूपा भावाः नैष्ठिकादिधर्माभावास्तेभ्यः शास्त्रैर्नियमात् नैष्ठिकादिबृहद्धर्मनिष्ठान्स्वाश्रमधर्मत्यागान्नियच्छन्ति शास्त्राणि । "ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयो ऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुले ऽवसादयन्नि" ति "नैष्ठिकस्य अरण्यमीयान्न ततः पुनरेयादि" ति "वैखानसस्य संन्यस्याग्निं न पुनरावर्त्तयेदि"ति परिव्राजकस्य । अतो विधुरादिवत्तेषामनाश्रमित्वासम्भवान्न ब्रह्मविद्याधिकारः । जैमिनेराचार्यस्याप्येतत्सम्मतम् । "किंच ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेदि"त्याद्यारोहणविधिवदवरोहणविध्यदर्शनात् शिष्टाचाराभावाच्च ॥ ४० ॥

## सू० नचाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥३।४।४१॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अधिकारलक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तं नैष्ठिकस्य न सम्भवति, तस्य तदयोगात् । "आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महे "ति स्मृतेः ॥ ४१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु प्रतिपन्नाश्रमप्रच्युतौ प्रमादो निमित्तमस्तु । पतितस्य च प्रायश्चित्तं पुनर्विद्याधिकारे हेतुरस्त्विति चेन्नेत्याह —

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ।

"ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेते"ति प्रायश्चित्तं श्रुतं तदधिकारलक्षणे षष्ठेऽध्याये । "अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्" । ६।८।२२। इत्यत्र निर्णीतं, तदाधिकारिकमित्युच्यते । तन्नैष्ठिकधर्मच्युतानां न सम्भवति । कुतः? पतनानुमानात्तदयोगात् । दुर्निवार्य्यपातित्यबोधकस्मृतेः । तेषां प्रायश्चित्तायोगात् । स्मृतिस्तु "आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महे"ति । अपिशब्दः प्रायश्चित्तमुपकुर्वाणविषयमिति द्योतयति ॥ ४१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नन्वधिकारलक्षणे "अवकीर्णी पशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तका-

लत्वात्"६।८।२२। इति "ब्रह्मचार्यवकीर्णी* नैर्ऋतं गर्दभमालभेते" त्यादिना प्रच्युतब्रह्मचर्यस्य प्रायश्चित्तविधानात्कृतप्रायश्चित्तस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारः स्यादित्याशङ्क्याह —

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ।

आधिकारिकम् अधिकारलक्षणोक्तम् प्रायश्चित्तं नैष्ठिकधर्म-च्युतानां न सम्भवति । कुतः ? तेषां पतनस्मरणात् प्रायश्चित्तायोगात् । तथा च स्मृतिः "आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महे"ति । अपिशब्दः प्रायश्चित्तस्योपकुर्वाणविषयकत्वद्योतनार्थकः ॥ ४१ ॥

## सू० उपपूर्वमपि त्वेके भाव-मशनवत्तदुक्तम् ॥३।४।४२॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एके तु नैष्ठिकस्य ब्रह्मचर्य्यच्यवनमुपपातकमतस्तत्र प्रायश्चित्तं मन्यन्ते । उपकुर्वाणवत्तस्य ब्रह्मचारित्वाविशेषात् मध्वशनादिवत्तदुक्तम् "उत्तरेषामविरोधी"ति ॥ ४२ ॥

---

*अवकीर्णं योनौ निषिक्तं रेतोऽस्यास्तीत्यवकीर्णी ।

वेदान्तकौस्तुभः ।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ।

उपपूर्वं नैष्ठिकादीनां स्त्रीगमनादिना ब्रह्मचर्य्यप्रच्यवनमुपपदपूर्वमुपपातकमित्यर्थः । दुर्निवार्य्यं महापातकं नास्ति । अपिशब्दो हेत्वर्थः । अतस्तेषामपि ब्रह्मचारित्वाविशेषादुपकुर्वाणानामिव प्रायश्चित्तस्य भावमेके आचार्य्याः मन्यन्ते । अशनवत् । यथा मध्वशनादिनिषेधस्तत्प्रायश्चित्तं चोपकुर्वाणानां नैष्ठिकादीनां च समानम्, तद्वत् । तदुक्तम् "उत्तरेषां तदविरोधी"ति स्मृतिकृद्भिः । उपकुर्वाणस्य यदुक्तं तत्स्वाश्रमाविरोधिनैष्ठिकादीनामुत्तरेषामाश्रमिणां चापि सम्भवतीत्यर्थः । इत्थं नैष्ठिकानां ब्रह्मचर्य्यच्यवने प्रायश्चित्तसम्भवाद्विद्यायां पुनरधिकारः । एवं परिव्राड्वैखानसयोरपि गतिः ॥ ४२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ।

अपि सम्भावनायाम् । एके त्वाचार्याः गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र नैष्ठिकादिब्रह्मचर्यच्यवनस्य महापातकविलक्षणत्वादुपपातकत्वादुपकुर्वाणकवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्ताभावं मन्यन्ते, ब्रह्म-

चारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च अशनवत्, यथा मध्व शनादिनिषेधस्तत्प्रायश्चित्तं चोपकुर्वाणस्य नैष्ठिकादीनां च समानं, तदुक्तं स्मृतिकर्तृभिः "उत्तरेषां चैतदविरोधी"ति उपकुर्वाणब्रह्मचारिण उक्तो धर्म उत्तरेषां चाश्रमिणां स्वाश्रमाविरोधी भवतीत्यर्थः । तथात्रापि ब्रह्मचर्यच्यवने प्रायश्चित्तसम्भवादस्ति विद्यायोग्यता । एवं यतिवनस्थयोरपि प्रमादाद्ब्रह्मचर्यभङ्गे प्रायश्चित्तमूह्यम् ॥ ४२ ॥

## सू० बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ३।४।४३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

नैष्ठिकादीनां स्वाश्रमप्रच्युतेर्महापातकत्वमुपपातकत्वं वा ऽस्तूभयथाऽपि ते ब्रह्मविद्याधिकाराद्बहिर्भूताः "प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत् स आत्महे"ति स्मृतेः, शिष्टाचाराच्च ॥ ४३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ।

ऊर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्युतेर्महापातक-

त्वमस्तूपपातकत्वं वा ऽस्तूभयथापि ते बहिर्भूता एव शिष्टैः कर्त्तव्याः । कुतः ? स्मृतेराचाराच्च । "प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महा आरूढं पतितं विप्रं दृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेदि"त्यादिनिन्दास्मृतेः । अवकीर्ण्यादिजनपरित्यागलक्षणात् शिष्टाचाराच्च । तस्मात्स्वाश्रमेभ्यः प्रच्युतानां तेषां नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकार इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥

इति तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ।

ऊर्द्ध्वरेतस उपपातकित्वे महापातकित्वे वोभयथा ऽपि स्वाश्रमप्रच्युतत्वाच्छिष्टैस्ते बहिःकार्याः । कुतः ? "आरूढो नैष्ठिकमि"त्यादिस्मृतेः । आचारात्, वर्जयन्ति हि तान् शिष्टाः विद्योपदेशसहभोजनादिव्यवहारेषु । यद्यपि किल्बिषनिर्हरणाय कैश्चिद्वाक्यैस्तेषु प्रायश्चित्तमुपदिश्यते, तथापि कर्माधिकारापादनी शुद्धिस्तेषां न सम्भवति । तद्धेतुप्रायश्चित्ताभावात् "प्रायश्चित्तं न पश्यामी"ति स्मृतेरित्यर्थः । अतः प्रायश्चित्ते कृते ऽपि तादृशशुद्ध्यनुरूपयोग्यताभावाद्ब्रह्मविद्याधिकारासम्भव इति भावः । जपादिना पारमार्थिकफलभाक्त्वे ऽपि व्यवहारयोग्यता नास्तीति राद्धान्तः ॥ ४३ ॥

इति तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥

## सू० स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ३ । ४ । ४४ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः

कर्माङ्गाश्रितमुपासनं यजमानकर्त्तृकमित्यात्रेयः । "यदेव विद्यये"ति फलश्रुतेः ॥ ४४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

"तद्विद्त्सम्मतोऽर्थो ग्राह्यो, न त्वनिश्रिततद्वित्वसम्मतः" इत्यपि जैमिन्यभिमतार्थस्वीकारात्केषाञ्चिदभिमतस्यार्थस्यार्थस्यानादृ···तत्वाच्च पूर्वाधिकरणे दर्शितं, तथेदानीमङ्गाश्रितमुपासनमृत्विजः कर्मेति दर्शयन्न तद्विदभिमतार्थमनादृत्य तद्विदभिमतोऽर्थ उपादेयः इति दृढयति —

### स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।

कर्माङ्गाश्रितमुद्गीथाद्युपासनं यजमानस्य स्वामिनः कर्म? आहोस्विदृत्विजः? इति सन्देहे, स्वामिनः इत्यात्रेय आचार्य्यो मन्यते ।

कुतः ? फलश्रुतेः "यदेव विद्यया करोती" ति क्रतुवीर्य्यवत्तरत्वफलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणात् ॥ ४४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।

अङ्गाश्रितान्युद्गीथाद्युपासनानि किं स्वामिनो यजमानस्य कर्माणि ? उत ऋत्विजः ? इति विषये किं युक्तं, स्वामिन इति । कुतः ? फलश्रुतेः । "यदेव विद्यये"ति क्रतुवीर्यवत्तरत्वफलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणाद्दहरोपासनादिष्विव स्वामिन एवैषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते स्म ॥ ४४ ॥

सू० आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ३।४।४५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

कर्माङ्गाश्रितमुपासनमृत्वि(ज)क्कर्त्तृकं त(स्य)स्मै कर्मणे क्रीतत्वात् फलस्य यजमानाश्रयम् ॥ ४५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।

कर्माङ्गाश्रितमुद्गीथाद्युपासनमार्त्विज्यम् ।

ऋत्विजा कर्त्तव्यम् इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। कुतः ? हि हेतौ। यतस्तस्मै साङ्गकर्मणे कर्मकरः ऋत्विक् यजमानेन दक्षिणया परिक्रीयते। तेनैव तन्निर्वर्त्त्यं तस्मादित्यर्थः । ननु "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमि"ति श्रुत्युक्तं वीर्य्यवत्तरं फलमप्युपासनकर्त्तुरेव स्यादिति चेन्न, शास्त्रफलं प्रयोक्तरीतिन्यायात्। "यां वै काञ्चनाशिषं ऋत्विज आशासते सा सर्वा यजमानस्ये"ति श्रुतेश्च फलं तु यजमानस्यैव । अतः कर्माङ्गाश्रितोपासनमृत्विक्कर्मेति सिद्धम् ॥ ४५ ॥

इति स्वाम्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते।

क्रत्वङ्गत्वेन क्रत्वधिकृतस्यैवोद्गीथाद्युपासनेऽधिकारात् क्रतोश्च साङ्गस्यार्त्विज्यत्वेनैतदपि गोदोहनादिवदङ्गाश्रयत्वेनार्त्विज्यमङ्गं कुर्वतः ऋत्विजः कर्मैवेत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते स्म । किं कारणं ? तस्मै हि यजमानफलसाधनभूतसाङ्गक्रत्वनुष्ठानाय हि ऋत्विक् परिक्रीयते। क्रतुप्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपासनानीति ऋत्विजैव निवर्त्त्यानि। यत्तूक्तं फलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणादिति, नैष दोषः, शास्त्रफलं प्रयोक्तरीतिन्यायेन तस्य तत्रा-

मित्वात् । "यजमानेन हि स्वगामिफलकसाङ्गप्रयोगकरणाय ऋत्विजां दक्षिणया क्रीतत्वात्कर्त्तृत्वे ऽपि न तेषां फलभाक्त्व-मतः क्रयणद्वारा कर्त्तृत्वभोक्तृत्वसामानाधिकरण्यमप्युपपद्यते । भृत्यकर्त्तृके युद्धे राजा युध्यते इति वदिति भावः । तस्माद-ङ्गोपासनान्यृत्विक्कर्माणीति सिद्धम् ॥ ४५ ॥

इति स्वाम्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

## सू०सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्

३ । ४ । ४६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरि" त्यत्र मननशीले मौनपदप्रवृत्तिसम्भवे ऽपि पक्षेण प्रकृतमननशीले प्रयोगदर्शनात् पाण्डित्य-बाल्ययोरपेक्षया तृतीयं सहकार्य्यन्तरं मौनं विधी-यते, यज्ञादिवत् शमादिवच्च ॥ ४६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

विद्यावतः सहकारिभूताः यज्ञादयः शमा-

दयश्च पूर्वत्र निरूपिताः । इदानीं तद्वद्विद्यावतः सहकार्य्यन्तरं मौनमस्ति, तद्विषयको विचारः क्रियते —

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।

बृहदारण्यके कहोलप्रश्ने श्रूयते "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनं मौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मण" इति । तत्र संशयः । किमिह बाल्यपाण्डित्यवन् मौनमपि विधीयते ? आहोस्विदनूद्यत ? इति मोनं ज्ञानं तद्धि पाण्डित्यं निर्विद्येति गतमेव मुनिरित्यनूद्यते । इति प्राप्ते, उच्यते—तद्वतो विद्यावतः तृतीयं बाल्यपाण्डित्ययोरपेक्षया तृतीयं साधनं मौनं विधीयते । एतदेवाह—सहकार्यन्तरविधिरिति । ब्रह्मसाक्षात्कारे साध्ये पाण्डित्यं बाल्यं च सहकारितदपेक्षया सहकार्य्यन्तरं मौनं तस्य विधिरेव मुनिरिति । विध्यादिवत्, विधीयते उपकारितयेति विधिः यज्ञदानादिरूपः सर्वाश्रमधर्मः शमादिरूपश्च । आदिशब्देन पाण्डित्यं

बाल्यं च गृह्यते, तद्वत्। यत्तु मौनं ज्ञानं तद्धि पाण्डित्यं निर्विद्येति गतमेव मुनिरित्यनूद्यते इत्युक्तं, तत्राह—पक्षेणेति। मुनिशब्दस्य "मुनीनामप्यहं व्यासः" इत्यादौ प्रकृष्टमननशीले पक्षेण प्रसिद्धेः पाण्डित्यात्तृतीयं मौनमर्थान्तरमेवेत्यर्थः। अथ मुनिरित्यत्र विधिप्रयोगाभावे ऽपि मननविशेषस्य प्राप्तत्वाद्विधेयत्वं मन्तव्यम्। "यस्मादनेन प्रकारेण पूर्वे ब्राह्मणाः कृतार्थाः जातास्तस्मादन्यो ऽपि ब्राह्मणः पाण्डित्यं पण्डितकृत्यं श्रवणं निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन तिष्ठासेत् मननेन स्थातुमिच्छेत् उभयं लब्ध्वा मुनिः स्यात्। प्रकृष्टध्यानशीलो भवेत्। तदनन्तरममौनं मौनेतरमुपायजातं मौनं च लब्ध्वा ब्राह्मणो भवति निष्पन्नविद्यो भवती"ति श्रुत्यर्थः ॥ ४६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्।

"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च

निर्विद्याथ ब्राह्मण" इति बृहदारण्यके कहोलप्रश्ने श्रूयते। तत्रेदं चिन्त्यते, किमत्र बाल्यपाण्डित्यवन्मौनमपि विद्याङ्गतया विधीयते ? उतानूद्यत ? इति विषये किं तावत्प्राप्तम् ? अनूद्यत इति मौनं च ज्ञानं तच्च पाण्डित्येन गतमित्येवं प्राप्ते, ब्रूमः—सहकार्य्यन्तरविधिरिति। विधीयते इति विधिः, सहकार्यन्तरस्य विधिः सहकार्यन्तरविधिः तद्वतो विद्यावतः। सहकार्यन्तरं मौनं विधीयते विध्यादिवत् विधीयते इति विधिस्तेन यज्ञदानप्रभृत्याश्रमधर्मः शमदमादयश्च गृह्यन्ते। आदिशब्दाच्छ्रवणमननग्रहः। आश्रमधर्मवत् शमदमादिवत् श्रवणमननवच्च पाण्डित्यबाल्ययोस्तृतीयं मौनं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते। यद्यपि बाल्ये एव विधेः पर्यवसानं, तथाऽप्यपूर्वत्वान्मुनित्वमपि विधेयम्। न च त्रयाणां विधाने वाक्यभेदो दोष उपरिधारणवदिष्टत्वाद्वाक्यभेदस्य। ननु पाण्डित्यग्रहणादेव सिद्धं मौनं, नेत्याह। पक्षेणेति। मुनिशब्दस्य मननान्मुनिरिति व्युत्पत्त्या प्रकृष्टमननशीले पक्षेण प्रसिद्धेः "मुनीनामप्यहं व्यास" इति "वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गव" इति च प्रयोगदर्शनात्। प्रकृष्टमननं च श्रवणप्रतिष्ठार्थान्मननादर्थान्तरभूतमुपासनालम्बनस्य परमात्मस्वरूपगुणादेरनवरतध्यानरूपं भगवदनुग्रहासाधारणं कारणं निदिध्यासनाख्यम्। ततश्चैवं वाक्यार्थः, यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा आत्मानं विदित्वा पुत्रैषणादेर्व्युत्थाय भिक्षाचर्य्यं चरन्ति, तस्मादधुनातनोऽपि ब्राह्मणो विद्यावान् विद्यानिष्पत्तये पाण्डित्यं निर्विद्य, साङ्गवेदाध्ययनजा बुद्धिः पण्डा तद्वान्पण्डितस्तस्य कृत्यं श्रवणापरपर्यायं पाण्डित्यं निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन तिष्ठासेत् श्रवणजज्ञानस्य बालभावेन मननेनासम्भावनानिरासेन, बालस्य भावेन वा

दम्भादिरहितशुद्धचित्तत्वेन स्थातुमिच्छेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य एवं श्रवणमनने कृत्वा ऽनन्तरं मुनिः स्यात्, परब्रह्मण्यनवरतध्यानशीलो भवेत्। तत्परिपाकाय एवममौनं मौनेतरं सहकारिकलापं मौनं च निदिध्यासनं यथावल्लब्ध्वाऽनन्तरं ब्राह्मणो भवति, निष्पन्नविद्यो भवतीत्यर्थः। ततो भगवदनुग्रहेण तत्साक्षात्कारं लभत इति भावः। नच श्रवणादेरेव साक्षान्मोक्षहेतुत्वमस्तु, किमनुग्रहाङ्गीकारेण गौरवादिति वाच्यं, तेषां व्यभिचारदर्शनात्। अस्य त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामव्यभिचारित्वश्रवणादवश्याभ्युपगम इत्यर्थः। "शृण्वन्तो ऽपि बहवो यं न विदुः नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशं" इत्यादिश्रुतेः। न च "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" इति ध्यानस्यैव तत्साक्षात्कारं, प्रतिप्रधानोपायत्वश्रवणात्तद्बाधः स्यादिति वाच्यम् अविरुद्धत्वात्। ध्यानस्य करणत्वेन भगवत्प्रसादस्य व्यापारत्वेनाङ्गीकारादुभयोः सामञ्जस्यमन्यथा प्रसादश्रुतेर्बाधप्रसङ्गात्। अतः सर्वाश्रमस्थस्य विदुषो यज्ञादिस्वाश्रमधर्मवत्पाण्डित्यादिभिंतर्य विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते ॥ ४६ ॥

## सू० कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः॥३।४।४७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्त्तते" इति गृहिणोपसंहारः सर्वाश्रमधर्मसद्भावात्सर्वधर्मप्रदर्शनार्थः ॥ ४७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु सर्वाश्रमस्थमुमुक्ष्वनुष्ठेयाः यज्ञदानतपआदयः शमदमादयः श्रवणमनननिदिध्यासनाख्याश्च धर्मा विद्यासहकारिणस्तत्साध्या सर्वाश्रमिसाधारणाविद्या ऽपवर्गसाधनं यदि भवति तर्हि "आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे" इत्यारभ्य "स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते" इति छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारो न घटेत, तेनोपसंहारेणान्ये आश्रमा न सन्तीति द्योत्यते इत्यत्राह—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । गृहिणोपसंहारेण

तदितरे आश्रमा न सन्तीति न मन्तव्यमित्यर्थः । कृत्स्नानां धर्माणां तत्र भावात्सत्त्वाद्गृहिणोपसंहारः सर्वधर्मप्रदर्शनार्थ इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु यदि सर्वाश्रमस्थविदुषां स्वस्वाश्रमधर्मसहकारिणी पाण्डित्यादिसहकारिणी च विद्या ब्रह्मप्राप्तिकेत्युच्यते, तर्हि कथं छान्दोग्ये "आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे" इत्यारभ्य "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते" इति गृहस्थेनोपसंहार इत्याशङ्क्याह —

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।

तुशब्दः शङ्कोच्छेदार्थः । गृहिणोपसंहारात्तस्यैव यथोक्तविद्यानुष्ठानाद्ब्रह्मप्राप्तिरिति नाभिप्रेयते, अपि तु कृत्स्नभावात् कृत्स्नानां धर्माणां तत्र सत्त्वात्तेनोपसंहारः सन्ति हि । गृहस्थं प्रति कर्त्तव्यतयोपदिष्टा बहुलायासा बहवो यज्ञादयः स्वाश्रमधर्माः आश्रमान्तरधर्माश्च यथासम्भवमहिंसेन्द्रियसंयमादयः । तस्मात्तत्र धर्मबाहुल्यात्तेनोपसंहारः सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थः । तथैतस्मिन्नपि वाक्ये "अथ भिक्षाचर्यं चरन्ती"ति पारिव्राज्यैकान्तधर्मभिक्षाचरणपूर्वकः । अथमुनिरिति मौनोपदेशः सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थः ॥ ४७ ॥

# सू० मौनवदितरेषामप्युपदेशात्

३। ४। ४८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

तथैव तस्मिन् वाक्ये ऽपि मौनोपदेशः सर्वधर्मप्रदर्शनार्थः। मौनोपदेशवत् "त्रयो धर्मस्कन्धा" इत्यादिना सर्वाश्रमधर्मोपदेशात्॥ ४८॥

वेदान्तकौस्तुभः।

तथा ऽत्रापि "अथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ती" इति भिक्षाचरणपूर्वको "अथ मुनिरि"ति मौनोपदेशः सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थ इत्याह —

मौनवदितरेषामप्युपदेशात्।

तथेहापि "ब्राह्मणाः पुत्रेषणायाश्च वित्तेणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षुचर्य्यां चरन्ती"ति भिक्षाचरणपूर्वको मौनोपदेशः सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थः। कस्मात्? मौनवन्मौनोपदेशवदितरेषामाश्रमाणां "त्रयो

धर्मस्कन्धाः यज्ञो ऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयो ऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन्सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थो ऽमृतत्वमेती"त्यादावुपदेशात्। तस्मात्पाण्डित्यं बाल्यं तथैव मौनं चात्र विधीयते इति सिद्धम् ॥ ४८॥

इति सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

इत्याह ———

मौनवदितरेषामप्युपदेशात्।

"यथा बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः एतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ती"त्यादौ पारिव्राज्यं मौनमुपदिष्टं, तद्वदितरेषां नैष्ठिकादिधर्माणामपि "त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञो ऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयो ऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुले ऽवसायदयन्सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थो ऽमृतत्वमेती"त्यादावुपदेशात्। तत्र हि सर्वाश्रमसाधारणेन ब्रह्मसंस्थशब्देन सर्वेषामप्याश्रमिणां ब्रह्मप्राप्तिरुपदिश्यते। तथा जाबालोपनिषदि च "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेदि"त्यादिना चत्वार आश्रमा उपदिश्यन्ते। अतः सुष्ठूक्तं यज्ञादि-

सर्वाश्रमधर्मवन्मौनतृतीयं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते इति ॥ ४८ ॥　इति सहकार्य्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

## सू०अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥

३ । ४ । ४९ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पाण्डित्य(प्रयुक्त)स्वमाहात्म्याद्यनाविष्कुर्वन्बाल्येन निरहंकारभावेन वर्त्तेत । तस्यैवान्वयसम्भवात् ॥ ४९ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

" तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरि "त्यत्र मौनमपि विधेयमित्युक्तमिदानीं बाल्यशब्दार्थश्चिन्त्यते —

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।

किं स्वच्छन्दाचरणमात्रं बाल्यस्य कर्म बाल्यशब्देनोच्यते, तन्मुमुक्षुणानुष्ठेयम् ? उत दम्भदर्पाभिमानादिराहित्यमिह बाल्यशब्देनोच्यते तन्मुमुक्षुणोपादेयमिति ? संशयः ।

तत्र बालस्य भावो बाल्यं स्वच्छन्दाचरणमात्रं तन्मुमुक्षुणोपादेयं, दम्भादिराहित्यमेवोपादेयं, नतु स्वच्छन्दाचरणमात्रमपीति नियमे हेत्वभावादिति प्राप्ते, ब्रूमः श्रवणादिजन्यवैदुष्याद्यनाविष्कुर्वन्बाल्येन दम्भादिराहित्येन बुद्धिपूर्वकेन ब्रह्ममननाद्यनुरूपेण तिष्ठासेत्स्थातुमिच्छेत् । कुतः ? अन्वयात् । दम्भादिराहित्यस्यैव प्रकृतेऽन्वयसम्भवात्, स्वच्छन्दाचरणस्य तु सर्वथा ऽनन्वयात् । "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितो नाशान्तमनसो वा ऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयादि"त्यादि श्रुतेः । तस्माद् दम्भादिरहितत्वं बाल्यं मुमुक्षुणोपादेयमिति सिद्धम् ॥ ४९ ॥ इति अनाविष्काराधिकरणम् ॥१३॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।

"बाल्येन तिष्ठासेदि"त्यत्र किं बालचरितं बाल्यं विदुषोपादेयम् ? उत जितेन्द्रियतया दम्भदर्पादिराहित्यं भावशुद्धिमात्रं बाल्यमिति ? विषये तिष्ठन्मूत्रपूरीषादिकर्मबाल्यमिति पूर्वः पक्षः । राद्धान्तस्तु बालो यथा स्वाभिजनाद्यनाविष्कुर्वन् दम्भदर्पादिराहितो वर्त्तते, तथा विद्वानपि पाण्डित्यप्रयुक्तस्वमाहात्म्या-

नमाविष्कुर्वन् दम्भदर्पादिराहित्येन बाल्येन वर्त्तेत । कुतः ? अन्वयात् । तस्यैव विद्यान्वययोग्यत्वात् । कामचारादेस्तु " नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्तमानसो वा ऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयादि"त्यादिभिर्विद्योत्पत्तिविरोधित्वावगमात् ॥४९॥

इति अनाविष्काराधिकरणम् ॥ १३ ॥

## सू० ऐहिकमप्रस्तुते प्रतिबन्धे तद्दर्शनात् । ३।४।५०॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

असति प्रतिबन्धे ऐहिकं विद्याजन्म, तस्मिन् सत्यामुष्मिकं, "मृत्युप्रोक्तां नाचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामि"त्यादौ तद्दर्शनात् ॥ ५० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

विद्योत्पत्तिसाधनकदम्बमुक्त्वा इदानीं विद्योत्पत्तिकालश्चिन्त्यते —

ऐहिकमप्रस्तुते प्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।

किम् "अनाविष्कुर्वन्नन्वयादि"त्यन्तेन सूत्रगणेन प्रतिपादितैः साधनैरिहैव जन्मनि विद्योत्पत्तिः ? उत जन्मान्तरे ? इति संशये, पूर्वपक्षः

"स्वर्गकामो यजेदि" त्यादिशास्त्रबलादामुष्मिकाभ्युदयार्थं यत्नं कुर्वन्ति, जन्मान्तरे विद्योत्पत्त्यर्थं तु यत्नं न कुर्वन्तीहैव जन्मनि विद्यासम्भवादित्यत्राभिधीयते । प्रतिबन्धे विद्याप्रतिबन्धके देशकालादिविशेषापेक्षे विद्येतरफलोन्मुखे कर्मणि अप्रस्तुते अप्रवृत्ते असतीत्यर्थः । विद्योत्पत्तिसाधनसमुहे स्वनुष्ठिते च सति ऐहिकं विद्याजन्म प्रतिबन्धे तादृशे कर्मणि प्रस्तुते सति चामुष्मिकमपीति । कुतः ? तद्दर्शनात् । उभयथा विद्याजन्मदर्शनात् । प्रतिबन्धाभावे ऐहिकं विद्याजन्म "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगसिद्धिं च कृत्स्नाम् ब्रह्मप्राप्तो विरजो भूद्विमृत्युरि" ति श्रुतौ दृश्यते । जन्मान्तरानुष्ठितसाधनैर्जन्मान्तरे विद्याजन्म "गर्भस्थ एव वामदेवः प्रतिपेदे" इत्यत्र दृश्यते । प्रतिबन्धबाहुल्ये सति विद्यालाभो दुर्घटः । "शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युरि" ति श्रुतेः । तस्मात्प्रतिबन्धापगमे विद्योत्पत्तिर्यस्मिन् जन्मनि साधनमनुष्ठितं तत्रैव विद्योदय इति नियमो नास्तीति सिद्धम् ॥ ५० ॥  इत्यैहिकाधिकरणम् ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

अथ विद्योत्पत्तिकालश्चिन्त्यते —

ऐहिकमप्रस्तुते प्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।

किं पूर्वोक्तसाधनैः सिध्यति विद्येहैव जन्मनि सिध्यति? उत जन्मान्तरे? इति संशयः। तत्र किं युक्तमिहैवेति। कुतः? दृष्टार्थत्वाद्विद्यायाः। नहि कश्चित्परत्र मे विद्या जायतामिति कामयमानो विद्यासाधनेषु प्रवर्त्तते। अतो यस्मिन् जन्मनि विद्यायां यतते, तत्रैव तत्फलेन भवितव्यमिति प्राप्ते, ब्रूमः। ऐहिकं विद्याफलं प्रतिबन्धे ऽप्रस्तुते सति विद्याविरुद्धफलं देशकालविशेषापेक्षं फलोन्मुखं कर्म प्रतिबन्धशब्दवाच्यं तस्मिन्न विद्यमाने सतीत्यर्थः। प्रस्तुते तु तस्मिन् जन्मान्तरे विद्यासिद्धिः। कुतः? तद्दर्शनात्। "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ब्रह्मप्राप्तो विरजो भूद्विमृत्युरि" त्यादिश्रुतिरैहिकीं विद्यासिद्धिं दर्शयति। "गर्भस्थ एव वामदेवः प्रतिपेदे" इत्यादिस्तु जन्मान्तरसाधनजां, जन्मान्तरे स्मृतिश्च "अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण! गच्छति। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि" त्यादिका, अतो ऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा प्रबलकर्मान्तरप्रतिबन्धक्षयानन्तरमेव विद्या सिध्यतीति सिद्धम् ॥ ५० ॥ इत्यैहिकाधिकरणम् ॥ १४ ॥

# सू०एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तथा मुक्तिफलानियमः "तस्य तावदेव चिरमि"ति वचनात् ॥ ५१ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजात-सौरभे तृतीयाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

विद्यार्थिनो विद्याप्राप्तिकालश्चिन्तित इदानीं प्राप्तविद्यस्यापवर्गार्थिनोऽपवर्गकालश्चिन्त्यते—

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।

प्राप्तविद्यस्य यस्मिन् शरीरे विद्यालाभस्तद्वियोगानन्तरं विद्याया मुक्तिरूपं फलमिति नियमः ? उतानियमः ? इति सन्देहः, साधने सिद्धे तदैवं फलप्राप्तिसम्भवात्तच्छरीरवियोगानन्तरं फलं भवतीति नियम इत्यत्रोच्यते । एवं मुक्तिफलानियम इति । यथा प्रतिबन्ध-

स्याभावे इहैव, भावे त्वन्यत्र विद्याजन्म सम्भवतीत्यनियमः। एवं प्राप्तविद्यस्य विद्यायाः मुक्तिरूपस्य फलस्यानियमः। असति प्रारब्धे कर्मणि शरीरवियोगानन्तरं विदुषो विद्यायाः मुक्तिरूपं फलं, सति च शरीरान्तरवियोगानन्तरमित्यनियम इत्यर्थः। कुतः? तदवस्थावधृतेः। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ऽथ सम्पत्स्ये"ति छान्दोग्ये तदवस्थस्य सा विद्वद्रूपाऽवस्था यस्य स तदवस्थस्तस्य सम्पन्नविद्यस्यानियतमुक्तिकालत्वेनावधृतेरित्यर्थः। तस्मान्मुक्तिफलानियम इति सिद्धम्। पदाभ्यासो ऽध्याय परिसमाप्तिद्योतनार्थः ॥५१॥

इति मुक्तिफलाधिकरणम् ॥ १५ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे तृतीयाऽध्यायस्य चतुर्थपादः ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ सम्पन्नविद्यस्य मोक्षकालो निर्णीयते—

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।

किं यस्मिन् शरीरे विद्योदयस्तच्छरीरपात एव मोक्षः ? उत शरीरान्तरपातः ? इति विषये विद्यासिद्धौ तत्फलस्यावश्यकत्वात्तच्छरीरपात एवेति पूर्वः पक्षः । राद्धान्तस्तु यथा साधनसम्पन्नस्येह जन्मन्येव विद्या सिध्यतीति न नियमः । अपि तु प्रतिबन्धनाशोत्तरमेव । एवं विद्यासम्पन्नस्य मुक्तिरेव फलं तस्याऽनियमः प्रारब्धकर्माणि सति शरीरान्तरपाते, तदभावे तच्छरीरपात एवेति । कुतः ? तदवस्थावधृतेः । विद्यावतोऽपि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति छान्दोग्ये प्रारब्धक्षयोत्तरमेव मोक्षकालविनिश्चयादित्यर्थः । पदाभ्यासोऽध्यायसमाप्तिद्योतकः ॥ ५१ ॥

इति मुक्तिफलाधिकरणम् ॥ १५ ॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-
श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयि श्रीश्री-
केशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभ-
प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्याय-
चतुर्थपादविवरणम् ॥ ४ ॥

---

## समाप्तश्चायं ब्रह्मविद्याचिन्तनपरः साधना-ऽध्यायस्तृतीयः ।

भवतु भूतये विदुषां श्रीद श्रीनिम्बभास्करदर्शनं बङ्गदेशस्थ-वर्द्धमाननिवासनिरतश्रीनृहरिदेवपादपीठाधिकृतश्रीश्रीमन्मधुसूदनशरणदेवाचार्य्यैः मुद्रापितमिदम् ।

अस्याध्यायस्य प्रथमे पादे सूत्राणि २७ सप्तविंशतिः ।
अधिकरणानि च षट् ६ ।
द्वितीये पादे सूत्राणि ४१ एकचत्वारिंशत् ।
अधिकरणान्यष्टौ ।
तृतीये पादे सूत्राणि ६४ चतुःषष्टिः ।
अधिकरणानि च षड्विंशतिः ।
चतुर्थे पादे सूत्राणि ५१ एकपञ्चाशत् ।
अधिकरणानि पञ्चदश १५ ।
सर्वाणि चैतदध्यायसूत्राणि त्र्यशीत्युत्तरं शतम् १३८
सर्वाणि चाधिकरणानि ५५ पञ्चपञ्चाशत् ।

---

तस्थौ देवो योऽर्करूपेण निम्बे प्रादुष्कर्त्तुं वेदतत्त्वं दयालुः ॥
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे गाढं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥१॥

॥ॐ श्रीमद्राधागोपालाभ्यां नमः॥

ॐ मङ्गलमूर्त्तये श्रीमन्नियमानन्दाय नमः

भाष्यत्रयोपेते ।

# श्रीब्रह्मसूत्रे ।

चतुर्थोऽध्याये प्रथमपादारम्भः ।

## सू० आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥

४ । १ । १ ॥

श्री६श्रीभगवन्निम्बार्कविरचित-वेदान्तपारिजात-सौरभाख्य-ब्रह्मसूत्र-वाक्यार्थः ।

असकृत् साधनावृत्तिः कर्त्तव्याः "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादिब्रह्मदर्शनायोपदेशात् ॥ १ ॥

श्रीश्रीनिवासाचार्य-विरचित-श्रीवेदान्त-कौस्तुभभाष्यम् ।

तृतीयेऽध्याये साधनानि निरूपितानीदानीं

चतुर्थेऽस्मिन्नध्याये फलं निरूप्यते । तत्र प्रथमे पादे फलसिद्धिर्दृष्टैः साधनैरञ्जसा भवेत्तदर्थं साधनावृत्तिराप्रयाणात्कर्त्तव्येति निरूप्यते । विदुषो ब्रह्मात्मकत्वादुत्तरपूर्वकर्मनिवृत्तिहेतुभूत-विद्याबलाच्च फलसिद्धिरवश्यं भविष्यतीति च द्योत्यते, भोगेनारब्धकार्य्यकर्मक्षये सति ब्रह्म-प्राप्तिरूपं फलं भवतीति च प्रतिपाद्यते । द्वितीये पादे तु विदुष उत्क्रान्त्यादिकं चिन्त्यते । तृतीये पादे तु तस्यार्चिरादिगतिर्निरूप्यते । चतुर्थे पादे तु तस्य परम्ब्रह्मप्राप्तस्य निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपादि निर्णीयते । तत्रादौ साधनमसकृद-नुष्ठेयमित्याह —

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।

आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि-ध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यस्त-मेव विदित्वातिमृत्युमेति ब्रह्मविदाप्नोति परमि"-त्यादिषु श्रूयमाणं ब्रह्मदर्शनसाधनं सकृदनुष्ठे-यम् ? उतासकृत्तदावृत्तिः कर्त्तव्येति? संशयस्तत्र सकृदनुष्ठेयमसकृत्तदावृत्तौ प्रमाणाभावादिति पूर्वः

पक्षः । तत्राभिधीयते—आवृत्तिरिति । असकृद्ब्रह्म- दर्शनसाधनावृत्तिः कर्त्तव्या । कुतः ? उपदेशात् । श्रवणमननोपदेशपूर्वकब्रह्मदर्शनसाधनभूतध्यानोपदेशात् । अयमभिप्रायः, सकृच्छ्रवणेन यथार्थं वाक्यार्थज्ञानं श्वेतकेतुसदृशानामपि न भवति, वेदान्तवाक्यार्थस्यातिदुर्ज्ञेयत्वात् । अन्यथा तत्त्वमसीति वाक्याभ्यासस्य वैयर्थ्यं स्यात् । अत एव "यं शृण्वन्तोऽपि न विदुः" इत्यादि- वाक्यस्य सार्थक्यम् । अत एवाध्ययनविधिना वेदान्तवाक्यश्रवणमात्रेण वाक्यार्थज्ञानाभावं मन्वानो भगवानिदं शास्त्रं कृतवान् । तथाच "आत्मा वा अरे ! द्रष्टव्य" इति ब्रह्मदर्शन- मु(द्दिश्य)श्रस्य श्रोतव्य इत्युपदेशोऽसकृच्छ्रवण- ज्ञापकः । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धब्रह्मविषय- केन सकृच्छ्रवणेनाध्ययनविधिप्राप्तेन ब्रह्मदर्शने सिद्धे श्रोतव्य इत्युपदेशस्य वैयर्थ्यापत्तेः । एवमेव मन्तव्य इत्युपदेशो मननं नाम निर- न्तरं तत्त्वचिन्तनं तदुपदेशः, ततो निदिध्यासि- तव्य इति ध्यानोपदेशः श्रवणमननविषयभूतस्य

ब्रह्मणोऽविच्छिन्नप्रत्ययाकारं तत्साक्षात्कारासाधारणं कारणं ध्यानं तस्योपदेशस्तस्मादुपदेशात् असकृदनुष्ठिते उपासनवेदननिदिध्यासनादिशब्दार्थे ब्रह्मध्याने तदनुग्रहाद्ब्रह्मदर्शनं भवति। "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" इति श्रुतेः ॥ १ ॥

श्रीश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचितवेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

मोक्षोपायाभियुक्तानां भजतां तत्पदाम्बुजम् ॥
तनोति परमं श्रेयो यस्तं कृष्णमहं भजे ॥१॥
संग्रहीतानि मोक्षस्य साधनानि तृतीयके ॥
चरणे ऽस्मिन्फलं प्राह भगवान्बादरायणः ॥ २ ॥

एवं तृतीये ऽध्याये ससाधनविद्याविचारो वृत्तः । अथेदानीं चतुर्थे ऽस्मिन्नध्याये विद्यायाः फलचिन्ता वर्त्तिष्यते, प्रसङ्गप्राप्तं चान्यदपि किञ्चित् । तत्र तावदिदं चिन्त्यते। "आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सो ऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य" इत्यादिना ब्रह्मदर्शनाय विधीयमानानि श्रवणादीनि श्रूयन्ते। तानि किं सकृत्कर्त्तव्यानि ? उतासकृदावर्त्तनीयानि ? इति संशये, किं तावत्प्राप्तं, सकृदिति। असकृदावृत्तौ प्रमाणाभावादिति प्राप्ते, उच्यते —

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।

तान्यसकृदावर्त्तनीयानि । कुतः ? उपदेशात् । वेदनोपासन-

पर्य्यायेण निदिध्यासनशब्देनोपदेशात् । तस्य च निरन्तरध्यानएक शक्तत्वात् । अयमर्थः, "ततस्तु तं पश्यति निष्कलंध्यायमान" इत्यादिना ब्रह्मापरोक्षासाधारणोपायत्वेन श्रूयमाणं ध्यानं सकृत्कृतं ब्रह्मदर्शनाय न क्षमं भवति, किन्त्वसकृदेवेति । ॥ १ ॥

## सू० लिङ्गाच्च ॥ ४।१।२॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय !" इत्यादिस्मृतेश्च ॥ २ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

लिङ्गाच्च ।

लिङ्गं स्मृतिः । अस्मिन्नर्थे स्मृतयः सन्ति । "अभ्यासेन तु कौन्तेय ! मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ! । स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः" इत्याद्याः तस्मादसकृद्ब्रह्मदर्शनसाधनावृत्तिः कर्त्तव्येति सिद्धम् ॥ २ ॥

इत्यावृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

लिङ्गाच्च

लिङ्गं स्मृतिः । स्मर्यते चायमेवार्थः "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनरि" त्यादिना ॥ २ ॥

इत्यावृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

## सू० आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ४।१।३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"एष मे··· आत्मे"ति पूर्वे उपगच्छन्ति। "एष ते आत्मे"ति शिष्यानुपादिशन्ति । अतो मुमुक्षुणा परमपुरुषः स्वस्यात्मत्वेन ध्येयः ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अनन्तराधिकरणेऽसंकृद्वेदनावृत्तिर्दर्शिता। सा वेत्तुर्वेद्येनात्यन्तं भेदं द्योतयति । तत्रेदानीमिदमुच्यते —

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।

किं वेद्यं ब्रह्म वेत्तुरन्यत्वेनानुसंध्येयम् ?

आहोस्विद्धेतुरात्मत्वेनेति संशयः, तत्र पूर्वः पक्षः । अन्यत्वेनेति । कस्मात् ? अहम्प्रत्ययगोचरत्वेनात्मनः सुज्ञेयत्वादिह तु प्रकृतात्मवेदने ऽसकृत्साधनावृत्त्युपदेशाच्च प्रागुदाहृतभेदबोधकश्रुतिस्मृतिगणाच्च "भेदव्यपदेशाच्च अधिकन्तु भेदनिर्देशादि"त्यादिसूत्रगणाच्च । इत्थं स्वानुभवसिद्धे शास्त्रनिष्पन्ने भेदे सति अन्यथा प्रतिपत्तिर्न कर्त्तव्या । " योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे "ति निन्दावचनाच्च । अत्रोच्यते, आत्मेति तूपगच्छन्तीति । परमात्मा ममांशभूतस्यात्मांशित्वादहञ्च तदात्मकस्तन्निरपेक्षस्थितिप्रवृत्तिराहितत्वात् । यथा स्वांशवपेक्षया सहस्रांशुः स्वाधीनास्थितिप्रवृत्तिमान् तेषामात्मा, ते च तदात्मकास्तदभिन्नाः । एवं तादात्म्यसम्बन्धेन भगवान् वेद्यः । तुशब्दो जीवपरमात्मनोरज्ञसर्वज्ञयोः स्वरूपेण भेदं द्योतयति । द्वयोः पदार्थयोः केनापि प्रकारेणाभेदे सति तादात्म्यलक्षणः सम्बन्ध उपपद्यते । न गवाश्वयोस्तादात्यमुपपद्यते, नचैकस्याप्यश्वस्य तादात्म्यमुपपद्यते । अपि तु

कार्य्यकारणयोः गुणगुणिनोः शक्तिशक्तिमतो-र्भिन्नाभिन्नयोः पदार्थयोरेव तादात्म्यसम्बन्धः । अन्यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यत्रापि चिज्जडात्मकस्य जगतो हि स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वं स्यात् । तस्मा-दुपासितुर्ब्रह्मांशभूतस्य स्वरूपेण भिन्नस्यैव भगवानात्मा, पत्रस्य वृक्षवत्, प्रभायाः प्रभावा-निव, प्राणानां मुख्यप्राणवच्च । इह भेदोऽपि मुख्यः, अभेदोऽपि मुख्यः, उभयोः स्वाभाविकत्वात् । अस्मिन्नर्थे एव "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी"त्यादिवाक्यान्यर्थवन्ति सन्ति । अत एव ब्रह्मणो जीवस्य वृक्षात्पत्र-स्येव प्रभावतः प्रभाया इव अपृथक्सिद्ध-त्वात् । "यो ऽन्यां देवतामुपास्ते ऽन्यो सावन्यो-ऽहमस्मी"ति "न स वेद यथा पशुरि"त्यादि-वाक्यान्युपपद्यन्ते । एवम्प्रकारे ऽभेदे भेदावि-रोधिनि "चेतनश्चेतनानामक्षरादपि चोत्तमः । अधिकोपदेशात्तु नेतरोऽनुपपत्तेरि"त्यादिश्रुति-स्मृतिसूत्राणामबाधः । भेदाभेदलक्षणस्य तयोः सम्बन्धस्य सर्वशास्त्रसम्मतत्वात् । यतः "एष मे आत्मा एष सर्वभूतान्तरात्मे"ति प्राश्नो-

ऽभ्युपगच्छन्ति । "एष(ते) आत्मा सर्वान्तर एष ते आत्माऽन्तर्य्याम्यमृत एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसी"त्यादिना शिष्यांस्तथैव ग्राहयन्ति । "अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः । क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धी"त्यादिस्मृतेश्च श्रीपुरुषोत्तमः स्वास्यात्मत्वेन ध्येयः इति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।

यस्य ध्यानं नैरन्तर्येण निर्णीतं सो ऽशेषदोषासंस्पृष्टमाहात्म्यः सार्वज्ञ्याद्यसंख्येयस्वाभाविकसद्गुणशक्तिवैभवः सर्वात्मा परब्रह्माख्यः श्रीमुकुन्दः किं स्वस्मादन्यत्वेनानुसन्धेयः ? उत स्वस्यात्मत्वेनेति संशये, किं तावद्युक्तं, बहुशो भेदोपपादनादन्यत्वेनेति प्राप्ते, आह- आत्मेतीति । स ममात्मैवाहं च तदात्मक इति तादात्म्यसम्बन्धेनेव ध्येयः । कुतः ? यतः "एष मे आत्मा एष सर्वभूतान्तरात्मे"ति पूर्वे महान्तो ऽभ्युपगच्छन्ति । "एष ते आत्मा सर्वान्तर एष ते आत्मा ऽन्तर्याम्यमृतः एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसी"त्यादिना शिष्यांस्तथैव ग्राहयन्ति च । "अहमात्मा गुडाकेश ! क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि वासुदेवः सर्वमिति अखिलमिदमहं च वासुदेवः वासुदेवात्मकान्याहुरि"त्यादिस्मृतेश्च ॥ ३ ॥

इति आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥ २ ॥

## सू० न प्रतीकेन हि सः ॥४।१।४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

प्रतीके त्वात्मानुसन्धानं न कार्य्यं, न स उपासितुरात्मा ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

तद्वत् प्रतीकोपासने त्वनुसन्धानं न कर्त्तव्यमिति इदानीमाह —

न प्रतीकेन हि सः।

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते "इत्यादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः, किं प्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वेनानुसन्धानं करणीयम्? आहोस्विन्नेति? किं तावद्युक्तम्, करणीयमेव ब्रह्मोपासनत्वाविशेषादिति प्राप्ते, ब्रूमः न प्रतीके आत्मत्वानुसन्धानं कर्त्तव्यम्। यतो नहि सः प्रतीकः उपासितुरात्मा मनआदेः प्रतीकस्यं ब्रह्मदृष्ट्योपास्यत्वात् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

न प्रतीकेन हि सः।

"मनो ब्रह्मेत्युपासीते" त्यादिप्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वेनानु-

सन्धानं कर्त्तव्यम् ? उत नेति ? संशये, ब्रह्मोपासनत्वाविशेषाद् तमेत्येवानुसन्धेय इति' प्राप्ते, उच्यते- न प्रतीके [illegible] न्धानं कर्त्तव्यम् । न हि सः प्रतीक उपासितुरात्मा [illegible] सने हि मनोनामादिप्रतीकस्योपासनं, नतु परब्र[illegible], तत्र तत्र तत्तद्दृष्ट्या ऽनुसन्धानमात्रत्वात् । प्रतीकोप[illegible]नं ह्य-ब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसन्धानं तत्रोपास्य(स्य)प्रतीकस्योपासितुरात्मत्वाभावान्न तथा ऽनुसन्धातुं योग्यम् ॥ ४ ॥

## सू॰ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥४।१।५॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

मनआदौ ब्रह्मदृष्टिर्युक्तैव, नतु ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिर्ब्रह्मण उत्कर्षात् ॥ ५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननूक्तस्थले मनआदिदृष्ट्या ब्रह्मणः एवोपास्यत्वमस्तु मन आदेरुपास्यत्वाभावाद्ब्रह्मण उपास्यत्वाच्चेत्यत्राह —

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।

मनोनामादिषु ब्रह्मदृष्टिः कर्त्तव्या । कुतः ? उत्कर्षात् । मनोनामादिभ्यो ब्रह्मण उत्कर्षात् । न तूत्कृष्टे ब्रह्मणि मनोनामादिदृष्टिः कार्या,

यथाऽमात्ये राजदृष्टिर्युक्ता भवति, नतु राज्ञ्यमात्यदृष्टिस्तद्वत् । तस्मात्प्रतीके आत्मत्वानुसन्धानं न कार्य्यमिति सिद्धम् ॥ ५ ॥

इति प्रतीकाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु मनआदेरचेतनाल्पशक्तेरुपास्यत्वाश्रयणस्यान्याय्यत्वादत्रापि मनआदिदृष्ट्या ब्रह्मैवोपास्यमिति चेत्तत्राह —

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।

मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव कर्त्तव्या, न ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिः । कुतः ? उत्कर्षात् । ब्रह्म हि मनआदिभ्य उत्कृष्टं, अपकृष्टे ह्युत्कृष्टदृष्टिरभ्युदयाय भवति । उत्कृष्टे त्वपकृष्टदृष्टिः प्रत्यवायकरी, राजनि भृत्यदृष्टिरिव । "नेदं ब्रह्म यदिदमुपासते" इत्यादिना प्रतीकस्य ब्रह्मत्वनिषेधश्रवणात् विश्वात्मत्वाद्यसम्भवाच्च तादात्म्यविधानशास्त्रविरोधाच्च ॥ ५ ॥

इति प्रतीकाधिकरणम् ॥ ३ ॥

सू० आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ४।१।६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत"

त्याद्युपासनेषूद्गीथादिष्वादित्यादिमतयः कर्त्तव्याः, आदित्यादेरुत्कर्षोपपत्तेः ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं "स एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीते" त्यादीन्यङ्गाश्रितोपासनानि श्रूयन्ते, तत्र फलसाधनभूतकर्माङ्गतयोद्गीथादेरफलेभ्यः आदित्यादिभ्य उत्कर्षादादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः कर्त्तव्येति प्राप्ते, सिद्धान्तमाह —

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ।

आदित्यादिमतयश्च आदित्यादिदृष्टय एव अङ्गे कर्माङ्गे उद्गीथादौ कर्त्तव्याः । कस्मात्? उपपत्तेः । आदित्यादेरुत्कर्षोपपत्तेः । आदित्यादिदृष्ट्या संस्कृतेषु कर्माङ्गभूतेषूद्गीथादिषु कर्माणि विशिष्टफलप्रदानि भवन्ति । अत उपपद्यते आदित्यादेरुत्कर्षः । तस्मादादित्यादिदृष्टिरुद्गीथादौ कार्येति सिद्धम् ॥ ६ ॥

इत्यादित्यादिमत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ।

"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीते" त्यादिकर्माङ्गा-

श्रयेषूपासनेषु किं कर्माङ्ग उद्गीथादावादित्यादिदृष्टिः कर्त्तव्या? उतादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिरिति? संशये, तत्रादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिरिति । कुतः ? फलसाधनभूतकर्माङ्गतयोद्गीथादीनामफलेभ्य आदित्यादिभ्य उत्कृष्टत्वान्निकृष्टे ह्युत्कृष्टदृष्टिः कर्त्तव्यान्याय्यत्वादिति प्राप्ते, उच्यते-आदित्यादिमतयश्चेति । आदित्यादिदृष्टय एव कर्माङ्ग उद्गीथादौ कर्त्तव्याः । कुतः ? उपपत्तेः । कर्मणामपि फलसाधनत्वमादित्यादिदेवताराधनद्वारेणेत्यादेरेवोत्कृष्टत्वोपपत्तेः ॥ ६ ॥

इत्यादित्यादिमत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

## सू० आसीनः सम्भवात् ॥४।१।७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आसीन एवोपासनमनुतिष्ठेत्तस्यैव तत्सम्भवात् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ब्रह्मदर्शनासाधारणकारणस्योपासनस्यासकृदावृत्तिः कर्त्तव्येति प्रागुपपादितमिदानीं तदनुष्ठानमनियमेन कुर्यात् ? उतासीनः ? एवेति चिन्त्यते —

आसीनः सम्भवात् ।

किमुपासनमासीनः शयानो गच्छन्

तिष्ठन्वा ऽनुतिष्ठेदित्यनियमः ? उतासीन एवेति नियमः ? इति संशये, नियमे हेत्वभावादनियमः, इति पूर्वपक्षे, उच्यते— आसीन इति । कुतः ? सम्भवात् । आसीने उपासके उपासनस्य सम्भवात् । शयानस्य निद्रासम्भवाद्गच्छतस्तिष्ठतश्च शरीरधारणादियत्नवशाद्विक्षेपे सत्युपासनं न सम्भवति ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आसीनः सम्भवात् ।

किमिदं ब्रह्मदर्शनासाधारणोपायतया वेदान्तशास्त्रैर्विहितं ध्यानवेदनज्ञानप्रत्ययादिशब्दवाच्यमुपासनमासीनः शयानो गच्छन्स्तिष्ठन्वा कुर्यादित्यनियमः ? उतासीनः ? एवेति नियमः ? इति संशयः । तत्र विशेषाश्रवणादनियम इति प्राप्ते, प्रतिब्रूते आसीन एवोपासनमनुतिष्ठेत् । कुतः ? सम्भवात् । उपासनं ह्येकाग्रतया साध्यमेकाग्रचित्तता चासीनस्यैव सम्भवति, शयनादीनां लयविक्षेपहेतुत्वात् ॥ ७ ॥

## सू० ध्यानाच्च ।४।१।८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उपासनस्य ध्यानरूपत्वादासीन एव तद-

नुतिष्ठेत् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ध्यानाच्च ।

"निदिध्यासितव्य" इत्युपासनस्य ध्यान-रूपत्वाच्च आसीने एव ध्यातरि ध्येयाकार-प्रत्ययप्रवाहरूपस्य ध्यायत्यर्थस्योपासनवेदनाद्य-परपर्य्यायस्य सम्भवान्नियमो युक्त इत्यर्थः ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ध्यानाच्च ।

निदिध्यासितव्य इत्युपासनस्य ध्यानरूपत्वाच्चैकाग्रतावश्यं भाविनी । अन्यथा ध्यानासिद्धेः । ध्यानं हि विजातीयप्रत्यया-नालम्बनत्वे सति ध्येयाकारैकस्मृतिसन्ततिरूपं, तदेव परिपाका-पन्नं ध्रुवास्मृतिपराभक्तिशब्दाभिधेयं "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः मद्भक्तिं लभते परामि" ति श्रुतिस्मृतिभ्याम् । तथा च स्थितौ गमने च विक्षेपात् शयाने लयाच्च दुःसाध्यमिति भावः ॥ ८ ॥

सू० अचलत्वं चापेक्ष्य ॥४।१।९॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ध्यायतीव पृथिवी" त्यत्राचलत्वमपेक्ष्यध्या यति-

प्रयोगो वर्त्तते । अत आसीन एवोपासनमनु-
तिष्ठेत् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अचलत्वञ्चापेक्ष्य ।

"ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्याय-
तीव द्यौः ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वताः"
इत्यत्र श्रुतौ पृथिव्यादीनामचलत्वमपेक्ष्य ध्यायति-
प्रयोगो वर्त्तते । तस्माच्च लिङ्गाद्ध्यानवेदनादि-
रूपमुपासनमासीन एवानुतिष्ठेत् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अचलत्वञ्चापेक्ष्य ।

तच्च ध्यानं नैश्चल्यसापेक्षं तदभावे तदसिद्धेः "ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौः ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता" इत्यत्राचलत्वमपेक्ष्यैव ध्यायतीप्रयोगो दृश्यते, तथाभूतं नैश्चल्यमासीनस्यैव सम्भवति, नान्यस्येत्यर्थः ॥ ९ ॥

## सू० स्मरन्ति च ॥ ४।१।१० ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्ये"त्यादि स्मरन्ति
च ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

स्मरन्ति च ।

“शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् । तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये”त्याद्याः आसीनस्यैव ध्यानं स्मरन्ति च ॥१०॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्मरन्ति च ।

“ शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् । तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ” इत्यादिना स्थिरसुखासने स्वस्तिकासनेनोपविश्य निमीलितनयनो निरतिशयानन्दे परमात्मनि चित्तमावेशयेदिति स्मरन्ति ॥ १० ॥

## सू० यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।

॥४।१।११॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

यत्र चित्तैकाग्रं तत्रोपासीत, तदतिरिक्त-देशादिविशेषाश्रवणात् ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।

यत्र यस्मिन्देशे कालादौ चित्तैकाग्रता, तत्र कुर्य्यात् । तदतिरिक्तदेशकालादिविशेषाश्रवणात् । "समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाशयादिभिर्मनोऽनुकूले, न तु चक्षु*पीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेदि"ति श्वेताश्वतराणां वाक्यमपि चित्तैकाग्र्यानुरूपं देशमाह । नतु देशादिविशेषम् । मनोऽनुकूले इति वाक्यशेषात् । तस्मादासीनः उपासनमनुतिष्ठेदिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

इत्यासीनाधिकरणम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।

नात्र कश्चिद्देशकालादिनियमः, किन्तु यत्र देशे काले च चित्तैकाग्र्यं स्यात्तत्रैव ध्यानं कुर्यात् । ननु वैदिकारम्भेषु प्रायेण दिगादिनियमो दृश्यते । उपासनस्यापि वैदिकत्वाविशेषात्तत्रापि दिगादिनियमेन भवितव्यमिति चेत्तद्वदत्र विशेष-

---

* विसर्गलोपश्छान्दसः ।

स्याश्रवणात् ! नन्वाम्नायते देशविशेषनियमः श्वेताश्वतरैः" "समे शुचौ शर्करावन्हिवालुकाविवर्जिते । शब्दजलाश्रयादिभिः मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेदि"त्यादिनेति चेत्सत्यं, तैरपि चित्तैकाग्रतैकान्तदेशएवोच्यते, नतु देशविशेषो नियम्यते, मनोऽनुकूल इति वाक्यशेषादित्यर्थः ॥ ११ ॥ इत्यासीनाधिकरणम् ॥ ५ ॥

## सू० आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्

॥ ४ । १ । १२ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उपासनमाप्रयाणात् कार्य्यम् । यतस्तत्रापि "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषमि"त्यादौ तद् दृष्टम् ॥ १२ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

प्राक् साधनावृत्तिरसकृत्कर्त्तव्येत्युक्तमिदानीं तत्कालो विचार्य्यते —

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।

ध्यानवेदनादिपदवाच्यमुपासनं किमल्पकाले समापनीयम् ? उत देहपातपर्य्यन्तमा-

वर्त्तनीयमिति ?, संशये, अल्पकाले समापनीयं तावतैवाऽसकृदावृत्तिबोधकवाक्यस्य चरितार्थत्वादिति प्राप्ते—अभिधीयते । आप्रयाणादिति । आप्रयाणादामरणान्नैरन्तर्य्येणोपासनमावर्त्तनीयम् । हिशब्दः हेत्वर्थः । यतस्तत्रापि तस्मिन् काले खलु "अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति एवं क्रतुर्ह्यमुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवती"ति श्रुतौ ध्येयप्रत्ययानुवर्त्तनं दृष्टम् । क्रतुमयो ध्यानप्रधान इत्यर्थः । तथा यावज्जीवं ध्येयप्रत्ययानुवर्त्तनम् "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" इति श्रुतौ च दृष्ट(व्यं)म् "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः" इतिस्मृतौ च । तस्मादुपासनं प्रत्यहमाप्रयाणादनुवर्त्तनीयमिति सिद्धम् ॥ १२ ॥

इत्याप्रयाणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।

तदिदं मोक्षासाधारणसाधनं ध्यानमेकस्मिन्नहनि कार्यम् ?

उताप्रयाणात्प्रत्यहमावर्त्तनीयमिति ? संशयः । तत्रैकस्मिन्नेवाहनि कृत्वोपरमेत्, आवृत्तिविशिष्टस्योपासनशब्दार्थस्य कृतत्वात् । "यावदायुषमि"ति वचनं तु विधिशब्दाभावाद्विद्यायाः फलत्वेनोप-संहारपरमिति प्राप्ते, ब्रूमः--आप्रायाणादिति । आमरणान्नैरन्तर्येणानु-ष्ठेयम्,नत्वल्पकालानुष्ठेयम् । कुतः ? तत्रापि हि "आप्रयाणान्मध्ये यः कालस्तत्राप्युपासनं दृष्टं, "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोक-मभिसम्पद्यते" इत्यप्राप्तत्वेनानुवादासम्भवाद्विधिरेवायमिति । तथा "अथ खलु क्रतुमयो ऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोका-त्प्रैति एवं क्रतुर्ह्यमुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवती "त्यग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्यायां श्रवणात् । अत्र क्रतुशब्दो मानसव्यापार-परः, क्रतुमयो ध्यानप्रधान इत्यर्थः ॥ १२ ॥

इत्याप्रयाणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

# सू० तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोर-श्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।

४ । १ । १३ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विदुष उत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः । कुतः ? " एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त " इति व्यप-

देशात् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

एवं फलाध्याये ऽपि फलासौ प्रतिबन्धकं निर्जिहीषुराशु स्वात्मनः श्रीपुरुषोत्तमस्य पदप्राप्तिरूपफलसिद्धये साधने ऽत्यन्तं यत्नं कुर्यादिति द्योतनाय साधनावृत्त्यादिविचारः कृतः । इदानीं विद्याफलप्रतिबन्धानिवृत्तिं दर्शयति —

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।

"तद्यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवम्विदि पापं कर्म न श्लिष्यते "इति विदुषः उत्तराघाऽश्लेषः श्रूयते । "तद्यथैषिकातूलमग्नौ प्रोत्तं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे "इति च तत्पूर्वाघविनाशः श्रूयते । तत्र सन्देहः, किं प्राप्तविद्यस्योत्तरपूर्वयोः पापकर्मणोरश्लेषविनाशौ उपपद्येते ? आहोस्विन्नेति ? तत्र "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभमि "त्यादिवाक्यात्कृतस्य कर्मणः फलमवश्यं

भोक्तव्यमतः उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ नोपपद्येते । अश्लेषविनाशश्रुतेस्तु भुक्तकर्मनिवृत्तिपरतया चरितार्थत्वादिति प्राप्ते, ब्रूमः । तथाभूतेन ध्यानपरिपाकेन ध्रुवास्मृतिपराभक्त्याख्यज्ञानाधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते । कस्मात् ? तद्व्यपदेशात् । "एवम्विदि पापं कर्म न श्लिष्यते "इत्युत्तराघाश्लेषव्यपदेशात् । नायं व्यपदेशः भोगपूर्वककर्मणोऽश्लेषपरत्वेन नेतुं शक्यः । तदानीं श्लेषाभावे निषेधायोगात् । "एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे "इति पूर्वाघनाशव्यपदेशात् । अयमपि व्यपदेशो भुक्तकर्मनाशपरत्वेन नेतुमशक्यः । अविदुषोऽपि भुक्तकर्मणो नाशस्य तुल्यत्वात् । "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्तव्यमि "त्यादिवाक्यस्याविद्वद्विषयत्वाच्च । आरब्धकार्य्यकर्मविषयत्वाच्च । तस्मात्प्रमादोत्पन्नयोरुत्तरपूर्वयोर्विदुषोऽघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते इति सिद्धम् ॥१३ ॥

इति तदधिगमाधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

तदेवं विद्यासाधनानुष्ठाने *प्रयत्नाधिक्यज्ञापनाय फला-ध्याये ऽपि विद्यासाधनशेषं विचार्येदानीं तत्फलचिन्तनायारभते —

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।

छान्दोग्ये श्रूयते "तद्यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति । तत्र संशयः, किमत्र प्राप्तविद्यस्य विदुष उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ श्रूयमाणावुपपद्येते ? न वेति ? किं युक्तं ? नोपपद्येत इति । कुतः ? "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभमि"ति भोगेनैव कर्मक्षयः श्रवणादश्लेषविनाशश्रुतिः कथञ्चिद्विद्यास्तुत्यर्थतया नेया, नहि विद्या पापप्रायश्चित्तत्वेन विधीयते, अपि तु "ब्रह्मविदाप्नोति परं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवती"ति ब्रह्मापरोक्षसाधनतया विधीयत इति प्राप्ते, उच्यते-तदधिगम इति । एवम्भूतेन ध्यानपरिपाकेन ध्रुवा-स्मृत्याख्यज्ञानाधिगमे सिद्धे सति उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते । *तत्रोत्तरभाविनः क्रियमाणस्य पापस्याश्लेषः तत्प्राग्भूतस्य सञ्चितस्य तस्य नाशः* । कुतः ? तद्व्यपदेशात् । "एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त" इत्यादिव्यपदेशात् । "नाभुक्तं क्षीयते कर्मे"ति शास्त्रं हि कर्मणां फलजनने सामर्थ्यं दर्शयति "एवंविदि पापं कर्म

---

* तत्रोत्तरभाविनोः क्रियमाणयोः पापपुण्ययोरश्लेषः तत्प्राग्भूतयोः सञ्चितयोस्तयोः इत्यपि पाठो भाति

न श्लिष्यत" इत्यादि तु विद्यायास्तत्सामर्थ्यनिवारणशक्तिपर-मिति द्वयोः शास्त्रयोर्भिन्नविषयत्वान्न विरोधः । यथाग्नेजसोः शीतजननतन्निवारणशक्तिविषययोर्द्वयोः प्रमाणयोरपि विषय-भेदात्प्रामाण्यमेवमिहापीति ॥ १३ ॥

इति तदधिगमाधिकरणम् ॥ ७ ॥

## सू० इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥४।१।१४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

पुण्यस्य काम्यकर्मणो ऽपि अघ-वन्मुक्तिविरोधित्वादुत्तरस्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः एव । उत्तरपूर्वयोरश्लेषविनाशानन्तरं देहपाते सति मुक्तिरेव ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अनन्तराधिकरणे विदुषः प्रमादोत्पन्नानां पापकर्मणां निवृत्तिरुक्तेदानीं पुण्यानां कर्मणा-मपि निवृत्तिमाह —

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।

उत्तरपूर्वाघयोरनिष्टत्वाद्विद्यया ऽश्लेष-

विनाशौ भवतां, पुण्यकर्मणोस्तूत्तरपूर्वयोर्विद्यया ऽश्लेषविनाशौ नोपपद्येते। तयोः शास्त्रीयत्वेन विद्यया विरोधाभावादिति प्राप्ते प्रतिदिशति। इतरस्याप्येवमिति। अघादितरस्य पुण्यस्य काम्यकर्मणोऽप्येवमघवद्विद्यया ऽश्लेषविनाशौ स्याताम्। कुतः? तद्व्यपदेशात्। मुमुक्षोः पापकर्मणो यथा मोक्षविरोधित्वेन हेयत्वव्यपदेशस्तथा पुण्यकर्मणोऽपि व्यपदेशस्तस्मात्। अस्ति च मोक्षविरोधितया हेयत्वसाम्येनोभयोः पुण्यपापयोर्व्यपदेशः "उभे सुकृतदुष्कृते निर्दिश्य सर्वे पाप्मानो ऽतो निवर्त्तन्ते" इति "सुकृतदुष्कृते विधुनुते" इति "उभे उहैवैष एते तरती"ति च एवं सुकृतदुष्कृतयोर्मोक्षविरोधिनोरभावात्पाते देहपाते मुक्तिरेव। तुशब्दो ऽवधारणे। तस्मात्सुकृतस्याप्यश्लेषविनाशावुपपद्येते इति सिद्धम् ॥१४॥

इतीतराधिकरणम् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

नन्वत्र पापस्यैवाश्लेषविनाशश्रवणात्पुण्यं तु विदुषा भोक्तव्यमेव, सुकृतस्य शास्त्रीयत्वात्तत्फलस्य सुखरूपत्वेन विदुषो-

ऽनिष्टत्वाभावेऽश्लेषो नेति चेत्तत्राह —

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।

इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मणः शास्त्रदृष्ट्या संसरणहेतुत्वसाम्यादेवमघवदश्लेषविनाशौ विद्यया स्याताम् । "उभे सुकृतदुष्कृते निर्दिश्य सर्वे पाप्मानो ऽतो निवर्त्तन्ते तत् सुकृतदुःकृते विधुनुते" इत्यादि श्रुत्या मुमुक्षोर्मोक्षविरोधित्वेनानिष्टफलत्वात्पुण्यमपि पाप्मशब्देन व्यपदिश्यते "उभे उहैवैष एते तरती"त्यादौ पापवत्पुण्यस्यापि प्रणाशव्यपदेशाच्च पाते तु तुशब्दो ऽवधारणे शरीरपाते विदुषो मुक्तिरेवेत्यर्थः ॥ १४ ॥

इतीतराधिकरणम् ॥ ८ ॥

## सू० अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ ४।१।१५ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्याप्राप्तौ पूर्वे पापपुण्ये ऽप्रवृत्तफले एव क्षीयेते । कुतः ? "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षे अथ सम्पत्स्ये "इति शरीरपातावधिश्रवणात् ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यया विनाश उक्तः ।

इदानीमारब्धकार्य्ययोरपि सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यया विनाशो भवत्वित्यत आह —

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः।

विद्यया खलु किलाऽऽरब्धकार्य्ययोऽनारब्धकार्य्ययोश्च सुकृतदुष्कृतयोः कर्मणोरविशेषेण विनाशो भवत्याहोस्विद् (विशेषतः) अनारब्धकार्य्ययोरेवेति ? संशये, "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते"-इत्यविशेषश्रवणात्सर्वेषामविशेषेण विनाश इति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—अनारब्धकार्य्ये एवेति। पूर्वे सुकृतदुष्कृते कर्मणी अनारब्धकार्य्ये अप्रवृत्तफले एव विद्यया क्षीयेते, नतु प्रवृत्तफले। कुतः ? तदवधेः। " तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये " इति देहपातविलम्बावधिश्रवणादित्यर्थः। एवं सति विशेषवाक्यानुरोधादविशेषवाक्यं नेतव्यम्। अतो विद्यया प्रवृत्तफलयोः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशो न भवतीति सिद्धम्॥ १५॥

इति अनारब्धकार्याधिकरणम्॥ ९॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।

पूर्वयोरधिकरणयोः पुण्यपापयोर्विद्यानिमित्तो विनाशोऽवगतः, स किमविशेषेणारब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवति ? उत विशेषेणानारब्धकार्ययोरेवेति ? चिन्त्यते । तत्र "सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त" इति विद्याशक्तेरविशेषात्तदविशेष इति पूर्वपक्षी मन्यते, तत्राचक्ष्महे—पूर्वे पुण्यपापरूपे कर्मणी अनारब्धकार्ये एव विनश्यतः । कुतः ? तदवधेः "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इत्युत्पन्नविद्यस्यापि शरीरपातावधिश्रवणादन्यथा सर्वविनाशे शरीरस्थित्यनुपपत्तेः ॥ १५ ॥

इति अनारब्धकार्याधिकरणम् ॥ ९ ॥

## सू० अग्निहोत्रादि तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात् ॥४।१।१६॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्ययाऽग्निहोत्रदानतपआदीनां स्वाश्रमकर्मणां निवृत्तिशङ्का नास्ति, विद्यापोषकत्वादनुष्ठेयान्येव । यज्ञादिश्रुतौ तेषां विद्योत्पादकत्वं दर्शनात् ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

विद्यासामर्थ्यादितरस्याप्येवमसंश्लेष इति शुभकर्मणो ऽप्यसंश्लेष उक्तस्तद्वन्नित्यनैमित्तिकानां स्वाश्रमकर्मणामप्यसंश्लेषः प्राप्नोत्यतस्तान्यननुष्ठेयानीति शङ्कामिदानीं निराकरोति —

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।

अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिकं कर्म विदुषा न कर्तव्यम् ? उत कर्त्तव्यमिति ? सन्देहे, विद्यया शुभाशुभयोरश्लेषविनाशौ भवतः । किं तदनुष्ठानेनाग्निहोत्रादेरपि शुभत्वाविशेषान्निवृत्तिः प्राप्नोतीति प्राप्ते, ब्रूमः । तुशब्दो ऽग्निहोत्रादेर्विशेषत्वं द्योतयति । अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिकं स्वाश्रमकर्म विदुषा तत्कार्य्यायैव विद्योत्पत्तिकार्य्यायैवानुष्ठेयम् । कुतः ? तद्दर्शनात् । अग्निहोत्रादिस्वाश्रमकर्मणां “ तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा ऽनाशकेने ”त्यादौ विद्यासाधनत्वदर्शनात् । विद्यायास्तु यावज्जीवं प्रत्यहमुत्पाद्यत्वम् । अतो यावज्जीवमाश्रमकर्मानुष्ठेयम् ॥ १६ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।

अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिकस्वाश्रमकर्म विदुषा किं कर्त्तव्यम् ? उत नेति ? संशयः । तत्र विद्यासामर्थ्यात् धर्माधर्मयोरश्लेष-विनाशविधानादाश्रमकर्मणो ऽपि सुकृतत्वसाम्येन तत्फलाश्लेषान्न कर्त्तव्यमिति प्राप्ते, प्रत्युच्यते —अग्निहोत्रादि त्विति । तुशब्दः सुकृतान्तरसाम्यशङ्कां निरस्यति । अग्निहोत्रादि स्वाश्रमकर्मविदुषा ऽपि तत्कार्याय विद्योत्पत्तिरूपकार्यायैव कर्त्तव्यं, कुतः ? तद्दर्शनात् । दृश्यते ह्यग्निहोत्रादीनां "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा ऽनाशकेने"त्यादिना विद्योत्पत्तिफलत्वं, विद्या चाप्रयाणादहरहराधेयातिशयोत्पाद्यैव, तदुत्पत्त्यर्थमाश्रमकर्माप्यहरहः कर्त्तव्यमितरथा ऽशुद्धान्तःकरणस्य विद्योत्पत्त्यसम्भवात् ॥ १६ ॥

## सू० अतो ऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः

॥ ४ । १ । १७ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अस्मात्प्राप्तविषयात्कर्मणो विद्योत्पादकादिरूपादन्याप्यलब्धविषयाकृत्या ऽस्ति । तद्विषयमेकेषां "सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"त्युभयोः पुण्यपापयोर्विभागवचनम् ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

ननु तर्हि "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्त पापकृत्यामि"ति वाक्यं किं विषयं स्यादित आह—

अतो ऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः।

अतोऽस्माद्विद्योत्पादकत्वादिलक्षणादन्यापि प्रबलकर्मविशेषप्रतिरुद्धफला साधुकृत्याऽसाधुकृत्या चास्ति। हि यतः काम्यं कर्म फलाय क्रियते प्रतिषिद्धं चाचर्यते प्रमादात् अतः एकेषामुभयोः पुण्यापुण्ययोर्विभागवचनं प्राप्तविषयं भवति। "सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामि"ति अश्लेषविनाशवचनं च तद्विषयं ज्ञेयम् ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

यदग्निहोत्रादिसुकृतं विद्योत्पत्त्यर्थं विद्योत्पत्तेः पूर्वकृतं च सुकृतदुष्कृतं विद्यया विनष्टं भुक्त्यवशिष्टं च प्रवृत्तफलं तर्हि "तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ती"ति कौषीतकिवचनस्य, "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यामि"ति शाट्यायनिवचनस्य च को विषय इत्याशङ्क्याह—

अतो ऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।

अतो ऽग्निहोत्रा*देरन्यापि विद्याधिगमात्पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यपापकर्मणोः प्रबलकर्मान्तरप्रतिबद्धफला साध्वसाधुकृत्याऽस्त्येव । यतः काम्यं कर्म फलाय क्रियते, प्रतिषिद्धं चाचर्यते तद्विषयमेकेषां शाखिनां "तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमि"-त्यादिवचनं, तद्विषयैव विद्यया श्लेषविनाशश्रुतिरपि, काम्यकर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वात् ॥ १७ ॥

## सू० यदेव विद्ययेति हि॥४।१।१८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

कर्मणः प्रबलत्वदुर्बलत्वसूचनार्थमिदमुच्यते "यदेव विद्यये"ति हि ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

"पृथगप्रतिबन्धः फलमि"त्यत्रोक्तं कस्यचित्कर्मणः प्रबलत्वं कस्यचिद्दुर्बलत्वं स्मारयति —

यदेव विद्ययेति हि ।

"यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमि"-त्येवं कस्यचित्कर्मणः प्रबलत्वं कस्यचिद्दुर्बलत्वम् । तत्र स्वविषये प्रबलं कर्म प्रथमं

---

* मित्या।कर्मणः ।

पतति । अतः 'प्रबलेषु' फलोन्मुखेषु प्रवृत्तेषु कर्मसु दुर्बला काचित्साधुकृत्याऽसाधुकृत्या च फलायानुष्ठिता निर्विषयावतिष्ठते । प्रबलाभिर्गोभिर्जलतृणादिभ्यो निवारिता दुर्बला गौरिव । आरब्धकार्य्यकर्मक्षयानन्तरं विदुषि मुक्ते सति तत्सुहृद्दुर्हृत्सु यथायथं प्रविशतीति भावः । तस्माद्विद्योदयाय स्वाश्रमकर्माग्निहोत्रादिरूपं गृहस्थेन, तपजपादीनि कर्माणि ऊर्द्ध्वरेतोभिरनुष्ठेयानीति सिद्धम् ॥ १८ ॥

इत्यग्निहोत्राधिकरणम् ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अनुष्ठितस्य कर्मणः फलप्रतिबन्धसम्भवं पूर्वोक्तं स्मारयति —

यदेव विद्ययेति हि ।

हि यतो "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमि"-त्युद्गीथविद्यायाः क्रतुफलाप्रतिबन्धफलत्वकथनमनुष्ठितस्य केवलस्य कर्मणः कर्मान्तरेण फलप्रतिबन्धं सूचयति । अत आरोग्यान्नादिसिद्धये विदुषाऽनुष्ठितप्रबलकर्मान्तरप्रतिबद्धफलपुण्यकर्मविषयं "सुहृदः साधुकृत्यामि"त्यादि ॥ १८ ॥

इत्यग्निहोत्राधिकरणम् ॥ १० ॥

सू० भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते॥४।१।१९॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्वानारब्धकार्य्ये तु सुकृतदुष्कृते भोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते ॥ १९ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजात-सौरभे चतुर्थोऽध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

तृतीयाध्यायान्ते विद्याफलस्यारब्धकार्य्य-कर्मरूपप्रतिबन्धनिवृत्तिसापेक्ष्यत्वात्कालानियमः प्रतिपादितः । इह तु पाते मुक्तिरेवेत्युक्तं, तत्र विद्याफलप्रतिबन्धभूतस्यारब्धकार्य्यस्योभयविधस्य कर्मणः कुतो निवृत्तिः । कस्य च देहविशेषस्य पाते मुक्तिरित्याकाङ्क्षायामिदानीमिदमाह —

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते ।

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ, तद्व्यपदेशात् । “इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु” इत्यादिनोक्ताभ्यामश्लेषविनाशविषयाभ्याम-नारब्धकार्य्याभ्यां शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यामितरे

आरब्धकार्ये शुभाशुभे कर्मणी किं विद्यायोनिशरीरभोग्ये ? किं वा शरीरान्तभोग्येऽपीति ? सन्देहे, शरीरान्तरस्यानीप्सितत्वाद्विद्यायोनिशरीरभोग्ये तत्पाते मुक्तिरेवेति प्राप्ते प्रचक्ष्महे । तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । इतरे आरब्धकार्ये शुभाशुभे कर्मणी ( विद्यायोनिशरीरे शरीरान्तरे वा ) भोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते । "नाभुक्तं क्षीयते कर्मे"ति श्रुतेः । (तेनैहिकमप्रस्तुते प्रतिबन्धे" इत्यत्र दर्शितस्य विद्याप्रतिबन्धस्यापि निवृत्तिप्रकारो व्याख्यातः । ) तस्माद्भोगेनारब्धकार्यकर्मक्षये भोगावसानशरीरपाते मुक्तिरेवेति सिद्धम् ॥ १९ ॥

इतीतरक्षपणाधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे चतुर्थोऽध्यायस्य प्रथमपादः ॥ १ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा ऽथ सम्पद्यते ।

विदुषा प्रारब्धे पुण्यपापे कर्मणी किं विद्यायोनिशरीर-भोग्ये ? उत शरीरान्तरभोग्ये अपीति ? संशये. किं युक्तं, तच्छरीर-भोग्ये इति "यावन्न विमोक्ष्ये ऽथ सम्पत्स्ये" इति श्रुतेरिति प्राप्ते, आह–भोगेनेति । तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । इतरे प्रवृत्तकार्ये पुण्य-पापरूपे कर्मणी स्वप्रवृत्तफलभोगेन क्षपयित्वा ऽथ तत्फलसमाप्त्य-नन्तरं ब्रह्म सम्पद्यते । प्रारब्धं कर्म यदि ह्येकशरीरे भोग्यं तर्हि तच्छ-रीरावसाने मोक्षः, अनेकशरीरभोग्यं चेदनेकशरीरावसान इति राद्धान्तः । "नाभुक्तं क्षीयते कर्म"ति श्रुतिः प्रारब्धकर्मविष-यैव । आरब्धफलयोर्भोगेनैव क्षपयितव्यत्वाभिप्रायेण "यावन्न विमोक्ष्ये ऽथ सम्पत्स्य" इति चोच्यते । शरीरमतन्त्रं तदवधिनि-यमाश्रवणात्कर्मविषयौ बन्धमोक्षौ । अयं भावः, विदुषो विद्या-माहात्म्यात्सञ्चितक्रियमाणयोरश्लेषविनाशौ, प्रारब्धस्य तु कर्मणो भोगेन विनाशः । तत्र प्रारब्धस्य विद्यायोनिशरीरेणेतरशरी-रैर्वा भुक्त्वा विनाशान्मोक्ष इति सङ्क्षेपः ॥ १९ ॥

इतीतरक्षपणाधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयि श्रीश्री-केशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभ-प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्याय-प्रथमपादविवरणम् ॥ १ ॥

———

प्रपन्नपारिजाताय पार्थसारथये नमः

अथ

चतुर्थाऽध्याये द्वितीयपादारम्भः ।

# सू० वाङ्मनसि दर्शनात् शब्दाच्च ॥४।२।१॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति वागिन्द्रियस्य मनसि संयोगरूपा सम्पत्तिरुच्यते, वागिन्द्रिये उपरते ऽपि मनः प्रवृत्तिदर्शनात् "वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति शब्दाच्च ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वपादान्ते ब्रह्म सम्पद्यते इत्युक्तमिह तु ब्रह्मप्राप्तये विदुष उत्क्रान्त्यादिकं निरूप्यते । तत्रेदानीं विद्वदविद्वत्साधारणामुत्क्रान्तिं निरूपयति —

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।

"अस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः

परस्यां देवतायामि" त्यत्र संशयः। किमत्र वाग्वृत्तेर्मनसि सम्पत्तिरुच्यते ? उत वृत्तिमत्या वाच एवेति ? वागादिवृत्तयः स्वेषु स्वेषु विषयेषु मनसा प्रवर्त्तन्ते ऽतो वाग्वृत्तेर्मनसि सम्पत्तिर्युक्तेति प्राप्ते, ब्रूमः । वागेव वृत्तिमती मनसि सम्पद्यते । कुतः ? दर्शनात् । वागिन्द्रिये उपरते ऽपि मनः प्रवृत्तिदर्शनात् । नन्वेतद्वाग्वृत्तिमात्रसम्पत्तौ सत्यामपि सङ्गच्छत इत्याशङ्क्य मुख्यं हेतुमाह—शब्दाच्चेति। "वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति शब्दाच्च। नेह वाग्वृत्तिर्मनसि सम्पद्यते इति शब्दो ऽस्ति। सम्पत्तिरिह संयोगरूपा ज्ञेया, नतु लयरूपा, अनुपादानभूते मनसि वाचो लयासम्भवात् (अविदुषो देहान्तरप्रतिपत्तौ वागाद्यनुवृत्तेरपेक्षितत्वात्, विदुषो वागादीनां लयस्य परमात्मनि वक्ष्यमाणत्वाच्च) ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।

अथेदानीं विद्वद्गतिप्रकारचिन्तनार्थं प्रथमं तावदुत्क्रान्तिश्चिन्त्यते "अस्य सौम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामि "ति सम्पत्तिः

श्रूयते, तत्र संशयः । किं वाग्वृत्तिर्मनसि सम्पद्यते ? उत वागेवेति ? तत्र वाचो मनःप्रकृतिकत्वाभावात्स्वरूपलयस्तत्र न सम्भवतीति वागादीनां मनोऽधीनवृत्तिकत्वाद्वाग्वृत्तिमात्रमिति पूर्वः पक्षः । राद्धान्ते तु वाक्स्वरूपस्यैव लयो बोध्यः । कुतः ? दर्शनात् । वागिन्द्रिय उपरते ऽपि मनः प्रवृत्तिदर्शनात् । "वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति शब्दाच्च । अन्यथा शब्दस्वारस्यभङ्गः स्यात् । नहि वृत्त्युपरमे तत्र प्रमाणान्तरेण वागिन्द्रियमवगम्यते । येन वृत्तिसम्पत्तिः कल्प्या, अप्रकृतौ लयाभावात्सम्पत्तिशब्दः संयोगाभिप्रायः ॥ १ ॥

## सू० अत एव सर्वाण्यनु ॥ ४।२।२ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

वाचमनु सर्वाण्यपीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्ते तथादर्शनात् "इन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैरि"ति शब्दाच्च ॥ २ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अत एव सर्वाण्यनु ।

अत एव दर्शनात्, शब्दाच्च वागिन्द्रियमनु सर्वाण्यपीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्ते । दर्शनं तावत् पूर्ववदेव । शब्दस्तु "तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैरि"

ति । अतो वागादीनीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्ते इति सिद्धम् ॥ २ ॥ इति वागधिकरणम् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत एव सर्वाण्यनु ।

अत एवोक्तहेतुभ्यां दर्शनशब्दाभ्यामेव वाचमनु सर्वाण्यपीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्ते । को ऽसौ शब्दः ? "तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैर्यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाती"ति प्रश्नोपनिषदि श्रुतेः । दर्शनं च पूर्ववद्बोध्यम् ॥ २ ॥

इति वागधिकरणम् ॥ १ ॥

## सू० तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥

॥ ४ । २ । ३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तच्च प्राणेन संयुज्यते ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं तत्प्राणेन संयुज्यते इत्याह —

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।

वागादिसंयुक्तं मनः क्व सम्पद्यते ? इत्यत्रोच्यते, तद्वागादिसंयुक्तं मनः *प्राणे सम्पद्यते ।

* प्राणेन संयुज्यते इत्यपि पाठो दृश्यते ।

कुतः? उत्तरात्। "मनः प्राणे" इत्युत्तराच्छब्दात्। एवं सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणेन संयुज्यते इति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति मनोऽधिकरणम् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

तन्मनः प्राण उत्तरात्॥

"मनः प्राण" इति श्रुतौ किं प्राणशब्दः अपां वाचकः? उत प्राणस्यैवेति? संशये "अन्नमयं हि सौम्य! मनः आपोमयः प्राण" इति मनसोऽन्नमयत्वस्य प्राणस्य चाम्मयत्वस्य श्रवणात्। अद्भ्यः पृथिवी"त्यपामन्नप्रकृतित्वेन तत्र लयस्यापि सम्भवाद्ब्वाचक इति प्राप्ते, राद्धान्तः। तत्सर्वेन्द्रियसयुक्तं मनः प्राणे सम्पद्यते तेन संयुज्यत इत्यर्थः। कुतः? उत्तरात्। "मनः प्राण" इति वाक्यशेषात्। किञ्च "अन्नमयं हि सौम्य! मनः आपोमयः प्राण" इति श्रुत्याऽन्नादिना मनःप्राणयोराप्यायनस्यैव विवक्षितत्वाच्च तदुपादेयत्वं, मनसोऽहङ्कारोपादेयत्वात्। प्राणस्य चाकाशोपादेयत्वाच्च तत्राबन्नजत्वशङ्कावकाश इत्यर्थः ॥ ३ ॥

इति मनोऽधिकरणम् ॥ २ ॥

## सू० सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः।

॥४।२।४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

प्राणो जीवेन संयुज्यते। कुतः? "एव-

मेवममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति तमुत्क्रामन्तं प्राणो ऽनुत्क्रामति कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठितः स्यामी''ति तदुपगमादिबोधकवाक्येभ्यः जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिरिति फलितो ऽर्थः ॥४॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

"एवं मनः प्राणे" इति वाक्यस्यार्थो दर्शितः। इदानीं प्राणस्तेजसीति वाक्यस्यार्थमाह—

सो ऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।

प्राणस्तेजसीति वाक्ये किं प्राणस्तेजसि सम्पद्यते ? उत जीवे ? इति सन्देहे यथापूर्वत्र शब्दानुरोधेन "वाचो मनसि सम्पत्तिर्मनसः प्राणे सम्पत्तिः" तद्वत्प्राणस्तेजसीत्युत्तरवाक्येऽपि शब्दादेव निश्चीयते प्राणस्तेजस्येव सम्पद्यत इति पूर्वः पक्षः । तत्रोच्यते "यत्र मनसः सम्पत्तिः सः प्राणः अध्यक्षे देहेन्द्रियाध्यक्षे जीवे सम्पद्यते, तेन संयुज्यते इत्यर्थः । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः । तस्योपगमानुगमनप्रतिष्ठानेभ्यः । तत्र तस्य प्राणस्याध्यक्षोपगमस्ता-

वच्छ्रूयते । यथा राजानं यात्रेच्छावन्तं सन्तं भृत्या आभिमुख्येनागच्छन्ति, एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्तीति अध्यक्षेण सह प्राणस्यानुगमनं च श्रूयते "यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति तमुत्क्रामन्तं प्राणो ऽनूत्क्रामती"ति अध्यक्षेण सह प्राणस्य प्रतिष्ठा च श्रूयते "कस्मिन्नुत्क्रामन्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि ' स्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठितः स्यामि"-ति ाणस्त त संहतेषु न सह प्राणस्य तेजस्यापि सम्पत्तिः । र मात्रे इति । जीवेन संयुज्य पुनस्तेन सह तेजसा संयुज्यत इति सिद्धम् ॥ ४ ॥

इति अध्यक्षाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सो ऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।

प्राणः किं तेजसि सम्पद्यते ? उत जीवे ? इति संशये तेजसीति पूर्वपक्षः । राद्धान्तस्तु सः प्राणो देहेन्द्रियाधिपे जीवात्मनि संयुज्यते । कुतः ? *तदुपगमादिभ्यः । श्रूयन्ते हि प्राणस्य जीवोपगमादयः "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणाः अभिसमायन्ति तमुत्क्रामन्तं प्राणो ऽनूत्क्रामति कस्मिन्नुत्क्रान्ते

* आभिमुख्येन गमनमुपगमः ।

उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठितः स्यामि" त्यादिषु । नच प्राणस्तेजसीति श्रुतिविरोधः, तस्या जीवविशिष्ट-प्राणविषयकत्वात् । यथा गङ्गायमुनयोर्वैशिष्ट्येन समुद्रलयेऽपि यमुनायाः पृथक्समुद्रलयोक्तावप्यविरोधस्तद्वदन्यथोक्तश्रुति-विरोधात् ॥ ४ ॥ इति अध्यक्षाधिकरणम् ॥ ३ ॥

## सू० भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥४।२।५॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सा च जीवसंयुक्तस्य तस्य तेजःसहितेषु भूतेषु भवति "पृथ्वीमयः आपोमयो वायुमयः आकाशमयस्तेजोमय" इति सञ्चरतो जीवस्य सर्वभूतमयत्वश्रवणात् ॥ ५ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

अध्यक्षेण संयुज्य तेजसा प्राणः संयुज्यते, इत्युपपादितमिदानीं तेजः शब्देन किं ग्राह्य-मिति विचार्यते —

भूतेषु तच्छ्रुतेः ।

तदुपगमादिभ्योऽध्यक्षसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिर्भवतु । तावदथ सा किं तेजो-मात्रे? आहोस्वित्तेजःसहितेषु? भूतेषु इति संशये,

प्राणस्तेजसीति शब्दात्तेजोमात्रे इति प्राप्ते, उच्यते—भूतेष्विति । तेजसि तेजःसहितेषु भूतेष्वित्यर्थः । कुतः? तच्छ्रुतेः । "पृथिवीमयः आपोमयो वायुमयः आकाशमयस्तेजोमय"-इति सञ्चरतो जीवस्य सर्वभूतमयत्वश्रव-णात् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भूतेषु तच्छ्रुतेः ।

प्राणस्तेजसीति जीवविशिष्टः प्राणः किं तेजोमात्रे संयुज्यते ? उत संहतेषु तेजःप्रभृतिभूतेष्विति ? संशये तेजसीति श्रुतेस्तेजोमात्रे इति प्राप्ते, आह—भूतेष्विति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । "पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमय"इति सञ्चरतो जीवस्य सर्वभूतमयत्वश्रवणात् ॥ ५ ॥

## सू० नैकस्मिन्दर्शयतो हि॥४।२।६॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एकस्मिन्तु सा न सम्भवति "तासां त्रिवृतमेकैकां करवाणि नानावीर्य्याः पृथग्भूता-स्ततस्ते संहतिं विना नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः इति श्रुतिस्मृती एकैकस्य कार्य्याक्षमत्वं दर्शयतः ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "पृथिवीमय आपोमय" इति श्रुतिस्तु तेजआदिष्वेकैकस्मिन्क्रमेण सम्पत्तावप्युपपद्यते, इत्यत आह —

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ।

हि यतः "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि नानावीर्य्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः समेत्यान्योऽन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः महदाद्या-विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते" इति श्रुति-स्मृती एकैकस्य कार्य्यानर्हत्वं दर्शयतः । अतः एकस्मिन्नाम तेजःप्रभृतिष्वेकैकस्मिन् क्रमेण जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य सम्पत्तिर्न सम्भवति । तस्मात्प्राणस्तेजसीत्यस्मिन्वाक्ये तेजःशब्दो-भूतान्तरसंयुक्ततेजोवाचको ऽतः सर्वेषु भूत-सूक्ष्मेषु सा सम्पत्तिरिति सिद्धम् ॥ ६ ॥

इति भूताधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु तेज आदिष्वेकैकास्मिन् क्रमेण सम्पत्तावप्युक्तश्रुतिरुप-

पद्यत इति चेत्तत्राह —

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ।

नैकस्मिन्नेव प्राणः संयुज्यते, एकैकस्याकार्यक्षमत्वात् । दर्शयतो हि कार्याक्षमत्वं श्रुतिस्मृती । " नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी "ति नामरूपव्याकरणा- र्थत्वाय त्रिवृत्करणमुपदिश्यते । " नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना । नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः समे- त्यान्योऽन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः महदाद्याविशेषान्ता ह्यण्ड- मुत्पादयन्ति ते" इति । तथा च प्राणस्तेजसीति जीवद्वारा भूतान्तरसंसृष्टे तेजसि प्राणः संयुज्यत इत्यर्थात्तेजःप्रभृतिभूते- ष्वेव प्राणसम्पत्तिरिति ॥ ६ ॥ इति भूताधिकरणम् ॥ ४ ॥

## सू० समाना चासृत्युपक्रमाद- मृतत्वं चानुपोष्य ॥४।२।७॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

" शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्व- मेति विश्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ती "ति नाडीविशेषेण विदुषो ऽप्युत्क्रम्य गतिः श्रूयते । एवं सति विदुषो नाडीप्रवेशलक्षणगत्युपक्र-

मात् प्रागुत्क्रान्तिः समानैव । यत्तु "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः अथ मर्त्यो ऽमृतो भवती"ति विदुष इहैवामृतत्वं श्रूयते। तदेन्द्रियादिसम्बन्धमदग्ध्वैवोत्तरपूर्वाघाश्लेषविनाशलक्षणमुपपद्यते ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

इदानीमुक्तप्रकारोत्क्रान्तिर्विद्वदविद्वत्समाना भवति ? न वेति ? विचार्य्यते —

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य ।

किमियमुत्क्रान्तिरविदुष एवाहोस्विद्विद्वदविदुषोः समानैवेति ? सन्देहे, "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः अथ मर्त्यो ऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इति बृहदारण्यके विदुषो ऽत्रैवामृतत्वप्राप्तिश्रवणादविदुष एवेति प्राप्ते, उच्यते–समाना चासृत्युपक्रमादिति । चशब्दोऽवधारणे, आङ्मर्यादायाम् ।आसृत्युपक्रमाद्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिः समानैव । सृतिर्गतिरर्चिरादिका, तस्या उपक्रमो नाडीप्रवेशलक्षणस्तस्मात्प्रागित्यर्थः । मूर्द्धन्य-

नाड्योत्क्रम्य विदुषो ऽपि छान्दोग्ये गतिः श्रूयते । "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ती" ति नाडी-प्रवेशे तु विशेषः श्रूयते । "तस्य हैतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रा-मति चक्षुष्टो वा मूर्द्ध्नो वा ऽन्येभ्यो वा शरीर-प्रदेशेभ्य" इति इह मूर्द्ध्न उत्क्रान्तिर्ब्रह्मजिगमिषो-र्विदुषः चक्षुरादिभ्यः स्वर्गं नरकं वा गच्छतो-ऽविदुषश्चेति विशेषः । अमृतत्वं चानुपोष्येति । चशब्दो ऽवधारणे । अनुपोष्यैव उषदाहे इत्यस्य रूपम्, देहेन्द्रियादिसम्बन्धमदग्ध्वैव अमृत-त्वमुत्तरपूर्वाघाश्लेषविनाशरूपं यत्प्राप्यते तत् "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये ऽस्य हृदि स्थिता अथ मर्त्यो ऽमृतो भवती" ति वाक्येनो-च्यते । अत्र "ब्रह्म समश्नुते" इति वाक्यस्य चानुभवेनोपासनकाले ब्रह्म समश्नुते इत्यर्थः । अतो विदुषो ऽप्युत्क्रान्तिरुपपद्यते ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य ।

किं सेयमुत्क्रान्तिर्ज्ञाज्ञयोः समाना ? उताज्ञस्यैव ? इति विषये

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये ऽस्य हृदि स्थिताः, अथ मर्त्यो ऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत" इति बृहदारण्यके विदुषो ऽत्रैवामृतत्वप्राप्तिश्रुतेरुत्क्रान्त्यभावादज्ञस्यैवेति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु आज्ञयोर्द्वयोः, सृतिरर्चिरादिका गतिः यावत्सृत्युपक्रमे मूर्द्धन्यनाडीप्रवेशस्ततः प्राक् ज्ञाज्ञयोः समानैवेयमुत्क्रान्तिः। तदनन्तरं त्वस्ति विशेषः। "विद्वांश्चेन्मूर्द्धन्यनाडीं प्रतिपद्यते, अविद्वांश्चेत्पितृयानं नरकद्वारं वा प्रतिपद्यते। तथाहि छन्दोगैराम्नायते "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ती"ति। एवं नाडीविशेषेण गतिश्रवणाद्विदुषो ऽप्युत्क्रान्तिरावश्यकी। सा च पूर्वत्र समाना ऽपि प्रवेशे विशेषवती श्रूयते "तस्य हैतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्द्ध्नो वा ऽन्येभ्यो वा शरीरप्रदेशेभ्य" इति। अत्र मूर्द्ध्न उत्क्रान्तिर्विद्वद्विषया, चक्षुरादिभ्य उत्क्रान्तिरितरविषया, शतं चैकेति श्रुत्यैकार्थ्यात्। यत्तूक्तं विदुषो ऽत्रैवामृतत्वप्राप्तिश्रुतेरुत्क्रान्त्यभाव इति तत्रोच्यते। अमृतत्वं चानुपोष्येति। अमृतत्वमेति अमृतो भवती"त्यादिना ऽमृतत्वं हि अनुपोष्यैव उपदाह्य देहेन्द्रियादिसम्बन्धमदग्ध्वैव पूर्वोत्तराघविनाशाश्लेषमात्रमुच्यते, देहादिसम्बन्धनाशस्याग्रे भविष्यमाणत्वात्। अत्र "ब्रह्म समश्नुत" इति श्रुतिस्तूपासनसमये एव ध्रुवास्मृत्याख्यब्रह्मानुभूतिविषया, ध्रुवास्मृतेर्बृहत्त्वादन्यथा ऽमृतत्वं चानुपोष्येति विरुध्येत। लिङ्गशरीरदाहाभावे परमोक्षानुपपत्तेः। तस्य हि देशविशेषं गत्वैव लयश्रवणात्। "इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती"ति श्रुतेः गतिश्रुतिश्च विरुध्येत। अतो गतिश्रुत्यविरोधाय "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यमेनामृतत्वसाधनभूतो-

पासननिष्पत्तिरेवोच्यते। हृदि स्थिताः कामा यदा प्रमुच्यन्ते तदैवोपासननिष्पत्तेर्मर्त्यो ऽमृतो भवति पूर्वोत्तराघरहितो भवति। अत्र कामप्रमोक्षपूर्वकमोक्षोपासने स्थितो मर्त्यो ब्रह्म समश्नुते। ब्रह्मविषयकानवच्छिन्नानुभूत्या स्थितो भवतीत्यर्थः॥ ७॥

## सू० तदापीतेः संसारव्यपदेशात्।

॥४।२।८॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः।

तदमृतत्वं देहसम्बन्धमदग्ध्वैव बोध्यम्। कुतः? "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इति आविमुक्तेः संसारव्यपदेशात्॥ ८॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

तदापीतेः संसारव्यपदेशात्।

तदमृतत्वमदग्धदेहादिसम्बन्धस्यैव मन्तव्यम्। कस्मात्? "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामी"ति च आपीतेः संसारव्यपदेशात्।

अपीतिर्ब्रह्मभावापत्तिः साऽर्चिरादिकया सृत्या देशविशेषं गत्वा भवति, तदर्वाक् देहसम्बन्धरूपसंसारस्य व्यपदेशात् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

उक्तमेव विशदयति —

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ।

तदमृतत्वमदग्धदेहसम्बन्धस्यैव मन्तव्यम् । कुतः ? आपीतेरिति । अपीतिरप्ययो ब्रह्मप्राप्तिः अर्चिरादिगत्या देशविशेषं गत्वा यावत् ब्रह्म न प्राप्यते तावद्देहसम्बन्धरूपसंसारस्य व्यपदेशात् * "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्ये ऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् । तस्य तावदेव चिरं धूत्वा शरीरमकृतं कृताऽऽत्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामी" त्यादिना ॥ ८ ॥

# सू० सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ४।२।९॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते "विदुषस्तं प्रति ब्रूयात् सत्यं ब्रूयादि "ति प्रमाणतस्तद्भावोपलब्धेः ॥ ९ ॥

---

* योनिं सुरनरतिर्यगादिरूपाम् ।

वेदान्तकौस्तुभः ।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।

इतो ऽपि अदग्धदेहसम्बधस्यैवामृतत्वम् । "अथ मर्त्यो ऽमृतो भवती"ति वाक्येनोच्यते विदुषो, यतः सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते । कुतः ? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः । "देवयानेन व्रजतो हि विदुषस्तं प्रति ब्रूयात्सत्यं ब्रूयादि"ति चन्द्रमसा सम्वादबोधकं वचनं प्रमाणमस्ति । तस्मात् प्रमाणात् सूक्ष्मशरीरसद्भावोपलब्धेः ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।

इतश्च मरणसमये विदुषो न देहसम्बन्धो दग्धः, यतः सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते । कुतः ? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः । देवयानेन पथा गछतो विदुषश्चन्द्रमसा ; सम्वादलक्षणप्रमाणादपि सूक्ष्मशरीरस्य सद्भावोपलम्भात् "तं प्रतिब्रूयात्सत्यं ब्रूयादि" ति श्रुतेः ॥ ९ ॥

## सू० नोपमर्देनातः ॥४।२।१०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अतः "अथ मर्त्यो ऽमृतो भवती"ति देहसम्बन्धोपमर्देनामृतत्वं वदति ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

नोपमर्देनातः ।

अतो हेतुपूगात् "अथ मर्त्यो ऽमृतो भवती" तिश्रुतिर्न देहसम्बन्धोपमर्देनामृतत्वमाह ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

नोपमर्देनातः ।

अत उक्ताद्धेतुकलापात् "अथ मर्त्यो ऽमृतो भवती" ति श्रुतिर्न देहसम्बन्धोपमर्देनामृतत्वं वक्तुं समर्था ॥ १० ॥

## सू० अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥

॥ ४ । १ । १२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स्थूलदेहे सूक्ष्मदेहस्यैव धर्मभूतः ऊष्मोपलभ्यते । तस्मिन्नसति तदनुपलब्धेरित्युपपत्तेः ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ।

अस्य सूक्ष्मशरीरस्यैव धर्मभूतः स्थूलशरीरे जीवदवस्थायामूष्मोपलभ्यते । कुतः ? उपपत्तेः सति सूक्ष्मशरीरे स्थूलशरीरे ऽप्यू-

ष्मोपलब्धेः । असति तस्मिन्तत्रापि तदनुपलब्धेः । इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामूष्मणः सूक्ष्मशरीरधर्मत्वोपपत्तेः । इतो ऽपि विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमात्समानैवोत्क्रान्तिरित्यर्थः ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ।

जीवदवस्थायां स्थूलदेहे संस्पर्शेन योऽयमूष्मोपलभ्यते सोऽस्यैव सूक्ष्मशरीरस्य गुणो, न च स्थूलस्य । कुतः ? उपपत्तेः ? सति तस्मिन् ऊष्मोपलब्धेस्तस्मिन्विनिर्गते तु मृतशरीरे ऊष्मानुपलब्धेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यैवोपपन्नत्वात् । अतः सूक्ष्मदेहयुक्तो विद्वानप्युत्क्रामतीति ॥ ११ ॥

सू० **प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् ४।२।१२॥**

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"अथाकामयमानो यो ऽकामो निष्कामः आप्तकामः आत्माकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ती" ति विप्रतिषेधाद्विदुष उत्क्रान्तिरनुपपन्नेति चेन्नायं विरोधः, यतो ऽयं प्राणानामुत्क्रान्तिप्रतिषेधाद्विदुषः प्रकृताच्छरीरात्तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति

स्पष्ट एकेषां पाठे । तस्मादेव तेषामुत्क्रान्ति-प्रतिषेधः श्रूयते ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् ।

ननु "समाना चासृत्युपक्रमादि"त्यादिना प्रतिपादिता विदुषोऽप्युत्क्रान्तिः, सा न युक्ता। "अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्त-काम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती"त्यादिका एव श्रुते-र्विदुषः शरीरादुत्क्रान्तिप्रतिषेधादिति चेन्न, शरी-रादयमुत्क्रान्तिप्रतिषेधो न भवति। "अथा-ऽकामयमानः" इति प्रकृतं शारीरं तच्छब्देन परामृश्य "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ती"त्यनेन वाक्येन शारीराज्जीवात्तेषामुत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यते। तस्येति षष्ठ्या प्राणसम्बन्धित्वेनाप्रकृतस्य शरी-रस्य निर्देशाभावात् । "तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति अन्यं नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते" इत्यादिना संसारावस्थायां शरीरारम्भाय शारीरस्य प्राणाना-

मुत्क्रान्तिः प्राप्ता, सा निषिध्यते । विदुषः प्रारब्ध-कर्मोपस्थापितचरमशरीरवियोगकाले प्राणानां वियोगः प्राप्तस्तदपि निषिध्यते । देवयानेन पथा व्रजता तेन सहैव गच्छन्ति ब्रह्मप्राप्तेः प्राक् *न विश्लिष्यन्ते इत्यर्थः । एकेषां शाखिनां माध्यन्दिनानां पाठे तु "यो ऽकामो निष्कामः आप्तकाम" इति प्रकृतात् न तस्मात् प्राणाः उत्क्रामन्तीति पञ्चम्या विभक्त्या ऽपादानत्वेन निर्दिष्टाच्छारीरात्प्राणानामुत्क्रान्तिनिषेधः स्पष्टः एव श्रूयते ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवमुत्क्रान्तिनिरूप्य तद्विवादं निराकरोति —

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् ।

ननु यदुक्ता विदुष उत्क्रान्ति, सा ऽनुपपन्ना । कुतः ? " अथा ऽकामयमानो यो *ऽकामो नि᳴ष्काम आप्तकाम-आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती " त्यादिका एव श्रुतेर्विदुष उत्क्रान्तिप्रतिषेधदर्शनादिति प्राप्ते, राद्धान्तो नेति । ना ऽयं निषेधो विदुष उत्क्रान्तेः, कथं तर्ह्युक्त-श्रुतेर्गति ? रित्यत्राह– शारीरादिति । तया श्रुत्या शारीरात्प्राणा-

* नदीतीरे ।

* बाह्यविषयकामनाशून्यः । ᳴ हार्दविषयकामनाशून्यः ।

नामुत्क्रान्तिर्निषिध्यते, न शरीरात् । तस्याकामयमानस्य विदुषः प्राणाः स्वस्मान्नोत्क्रामन्ति देवयानेन गमनात्तत्रैव तिष्ठन्ति । तत्र हेतुः–स्पष्टो ह्येकेषामिति । हि यस्मादेकेषां माध्यन्दिनशाखिनां पाठे न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते । "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती"ति पञ्चमीप्रयोगाच्छारीरात्प्राणानामुत्क्रान्तिनिषेधः स्पष्टः श्रूयते इत्यर्थः । अत्रैवान्तर्यामिणि परमात्मन्येवेत्यर्थः । यदि च शरीरादुत्क्रान्तिः प्रतिषिध्येत तर्हि "स उच्छ्वयत्याध्मात्याध्मातो मृतः शेत "इति नोपपद्येत । उच्छ्वयनादीनां देहधर्मत्वेन प्रत्यक्षविरोधश्च स्यादतः शारीरात्प्रतिषेधो युक्तो विवक्षिता ऽर्थोपपत्तेः । किञ्च न तस्येति षष्ठीप्रयोगे ऽपि सम्बन्धसामान्यप्रतीत्या विदुषः सम्बन्धिप्राणोत्क्रान्तिनिषेधो युक्तः एव । न चोत्क्रमणस्यापादाननिरूप्यत्वनियमात् षष्ठीश्रवणविरोधः । अपादानं तु शरीरमेव, न शारीर इति वाच्यं, अपादानापेक्षायामश्रुताच्छरीरात्सम्बन्धितया श्रुतस्य शारीरस्यैव सन्निहितत्वेनापादानतया ग्रहणे ऽपि दोषायोगात् । किञ्च जीवसम्बन्धितया ज्ञातानां प्राणानां सम्बन्धसामान्यवाचकायाः षष्ठ्या अपादानत्वरूपसम्बन्धविशेषपरत्वमपि समञ्जसम्, विशेषस्य सामान्यानतिरेकित्वात् । नटस्य शृणोतीतिवत् । अन्यथा श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनापत्तेः । किञ्च विदुषः शरीरवियोगकाले प्राणवियोगस्यापि प्राप्तत्वात्तस्यैव निषेधः, अप्राप्तस्य निषेधायोगात् । किञ्चेमा षोडशकला" इत्यादिना विदुषो गत्यनन्तरं देशान्तरे प्राणवियोगश्रवणाच्च । ननु पूर्वं आर्त्तभागप्रश्ने "अपपुनर्मृत्युं जयतीति विद्वांसं प्रस्तुत्य "याज्ञवल्क्येतिहोवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहोनेतीति पृष्टेनेति होवाच याज्ञवल्क्यो ऽत्रैव समव

लीयन्ते संउच्छ्वयत्याध्मात्याध्मातो मृतः शेते", इति विदुषः उत्क्रान्तिनिषेधः श्रवणाद्विद्वानिहैवामृतत्वं प्राप्नोतीति चेन्न, तत्र प्रश्नप्रतिवचनयोर्ब्रह्मविद्याप्रसङ्गादर्शनेन तस्य विद्वद्विषयकत्वाभावात् । तत्राह प्रश्नपूर्वकं " प्राणो वै ग्रहः सोपानेनातिग्रहेण गृहीत " इत्यादिना ग्रहातिग्रहरूपेणेन्द्रियेन्द्रियार्थस्वभावो ऽग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमि"त्यनेनाऽपामग्न्यन्नत्वम् अपपुनर्मृत्युं जयतो"त्यनेन चापामग्न्यन्नत्वज्ञानादग्निजय एव मृत्युजयः नेतिहोवाच याज्ञवल्क्य इत्यादित्रयेण च म्रियमाणस्य जीवस्य प्राणापरित्यागो मृतस्य नामवाच्यकीर्त्यनुवृत्तिस्तस्य च पुण्यपापानुगुणगतिप्राप्तिरित्येते ऽर्थाः वर्णिता इति नात्र विदुषः प्रसङ्गः । अविदुषस्तु प्राणानुत्क्रान्तिवचनं स्थूलदेहवत्प्राणा न मुञ्चन्ति, अपि तु भूतसूक्ष्मवज्जीवं परिष्वज्य गच्छन्तीति प्रतिपादयति ॥ १२ ॥

## सू० स्मर्य्यते च ॥४।२।१३॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

" सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै ।
जगाम भित्वा मूर्द्धानं दिवमभ्युत्पपात हे"ति विदुष उत्क्रान्तिः स्मर्य्यते ॥ १३ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

स्मर्यते च ।

स्मर्यते हि विदुष उत्क्रान्तिः महाभारते

"सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः । देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः" इति । अनया स्मृत्या परब्रह्मप्राप्तिमार्गस्य दुर्गमत्वमप्युक्तम् । अपदस्येति पदेन विदुषः सूक्ष्मशरीरविशिष्टस्य स्थूलशरीररहितत्वमुक्तम् । पदैषिण इत्यनेन स्थानविशेषः सूचितः । दानधर्मान्ते च स्मर्यते "तस्योर्द्ध्वमगमन्प्राणाः सन्निरुद्धा महात्मनः" इत्युपक्रम्य "सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै । जगाम भित्त्वा मूर्द्धानं दिवमभ्युत्पपात ह" इति आह च याज्ञवल्क्यः "उर्द्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्य्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिमि"ति । तस्माद्विदुषोऽप्युत्क्रान्तिरस्त्येवेति सिद्धम् ॥ १३ ॥ इत्यासृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्मर्यते च ।

"सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै । जगाम भित्त्वा मूर्द्धानं दिवमभ्युत्पपात ह । उर्द्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिमि" त्यादिस्मृतेश्च विदुषो मूर्द्धन्यनाड्योत्क्रान्ति ब्रवीतीति सिद्धा

विदुषो ऽप्युत्क्रान्तिः ॥ १३ ॥ , इत्यासृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥५॥

## सू०तानि परे तथा ह्याह॥४।२।१४॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तेजःप्रभृतिभूतसूक्ष्माणि परस्मिन् सम्पद्यन्ते । "तेजः परस्यां देवतायामि"त्याह श्रुतिः ॥ १४ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीमवशिष्टस्य क्रमप्राप्तस्य "तेजः परस्यां देवतायामि"त्यस्यार्थमाह —

तानि परे तथा ह्याह ।

वागादिसहितः प्राण उत्क्रान्ति समये ऽध्यक्षद्वारा तेजःप्रभृतिषु भूतसूक्ष्मेषु सम्पद्यते इत्युक्तं तानि विदुषः सूक्ष्मदेहावयवरूपाणि वागादिप्राणान्तसहितानि भूतसूक्ष्माणि स्वकार्याय यथोपयोगं गच्छन्ति ? किं वा परमात्मनि समवलीयन्ते ? इति संशये, यथोपयोगं गच्छन्तीति प्राप्ते, ब्रूमः— तानि परे परस्मिन् सर्वात्मनि ब्रह्मणि सम्पद्यन्ते । कुतः ? हि

यतः श्रुतिरेव तथा सुषुप्तिप्रलययोरिव विश्रामस्थानतया परमात्मानमाह "तेजः परस्यां देवतायामि"ति । तेजइति वागादिप्राणान्तप्रवेशस्थानभूतानि तेजःप्रभृतिभूतसूक्ष्माणि परमकारणे समवलीयन्ते । स्थूलदेहादुत्क्रम्य विद्योपस्थापितं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्यार्चिरादिमार्गेण सरिद्वरां विरजां प्राप्य परस्मिन् सूक्ष्मशरीरं हित्वा परभावं विद्वान्प्राप्नोतीति भावः । अतस्तानि परे समवलीयन्ते इति सिद्धम् ॥ १४ ॥

इति परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स इन्द्रियः स प्राणो जीवात्मोत्क्रान्तिसमये तेजःप्रभृतिभूतसूक्ष्मेषु संयुज्यते इत्युक्तं तत्राशङ्क्य परिहृतं च तानि पुनर्विदुषो वागादीन्द्रियाणि प्राणो भूतसूक्ष्माणि च किं परदेवतायां समवलीयन्ते ? उत यथाकर्म यथाविद्यं गच्छन्तीति ? संशये, यथाकर्म यथाविद्यमिति पूर्वपक्षः । तदानीं पुण्यादिफलभोगाभावेन सम्पत्तेर्निष्प्रयोजनत्वादिति प्राप्ते आह —

तानि परे तथा ह्याह ।

तानि विदुषो वागादिप्राणभूतानि परे परस्मिन्सर्वात्मनि ब्रह्मणि सम्पद्यन्ते, सर्वस्य तदुपादेयत्वात् । कुतः ? तथा ह्याहेति । हियतः " तेजः परस्यां देवतायामि"ति श्रुतिरेव पर-

मात्मानं तथा सुषुप्तिप्रलययोरिव विश्रामस्थानत्वेनाह ॥ १४ ॥

इति परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

## सू० अविभागो वचनात् ॥४।२।१५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

तेषां वागादिभूतसूक्ष्माणां परेऽविभागस्तादात्म्यापत्तिः "भिद्यते चासां नामरूपे पुरुष" इत्येवं प्रोच्यते" इति वचनात् ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

इदानीं सा सम्पत्तिः किमाकारेति विचार्यते —

अविभागो वचनात् ।

विद्वत्परित्यक्तसेन्द्रियप्राणसंयुक्तभूतसूक्ष्मसम्पत्तिः किं वागादेर्मनआदाविव संयोगरूपा ? उत समुद्रे नद्यादिसम्पत्तिवत्तादात्म्यरूपेति ? सन्देहे, संयोगरूपैव वाङ्मनसि सम्पद्यते इति प्रथमवाक्यस्थस्य सम्पद्यत इत्यस्य पदस्य सर्वत्र संयोगबोधकतयैवान्वितत्वादिति प्राप्ते, उच्यते–वागादेर्मनआ(द्य)द्युपादानकत्वाभावात्सं-

योगरूपा सम्पत्तिरिष्टा, सर्वकारणे ब्रह्मणि तु तेषामविभागः । तादात्म्यापत्तिरूपा सम्पत्तिरित्यर्थः । कुतः ? वचनात् "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती"ति परे ब्रह्मणि कलानां सम्पत्तिमुक्त्वा "भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवती"ति श्रवणात् । यद्यपि वागादिदशेन्द्रियाण्यन्तरिन्द्रियमेकं मनः पञ्चभूतसूक्ष्मरूपाणि तन्मात्राणि प्राणश्चैक इति सप्तदशकलाः सूक्ष्मशरीरे सन्ति, तथाऽपि प्राणस्पर्शतन्मात्रयोरेकत्वविवक्षया श्रुतौ षोडशेत्युक्तम् । अतस्तेषां जगत्कारणे परमात्मनि तादात्म्यापत्तिरूपा सम्पत्तिरिति सिद्धम् ॥ १५ ॥

इति अविभागाधिकरणम् ॥ ७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अविभागो वचनात् ।

सेयं परमात्मनि विद्वत्प्राणादिसम्पत्तिः किं मनःप्रभृतिषु वागादिसम्पत्तिवत्संयोगरूपा ? उत समुद्रे नद्यादिसम्पत्तिवत्तादात्म्यापत्तिरूपेति ? विषये वाङ्मनसि सम्पद्यत इति श्रुतस्यैव सम्पत्तिपदस्य "तेजः परस्यामि"त्यत्रानुषङ्गाद्विशेषादर्शनाच्च संयोगापत्तिरूपेति पूर्वः पक्षः । राद्धान्तस्तु सर्वात्मनो भगवतः

परब्रह्मणः सर्वाधारत्वात्सर्वकारणत्वाच्च तत्र विद्वत्प्राणादीनां सम्पत्तिरविभागस्तादात्म्यापत्तिरूपैव। कुतः ? वचनात् "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती"ति परमात्मनि प्राणादिकलानां सम्पत्तिमुक्त्वा "भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषो ऽकलोऽमृतो भवती"ति तासां नामरूपभेदोक्तेरित्यर्थः। अयमभिप्रायः, स्थूलदेहादुत्क्रम्य देवयानेन गतो विद्वान् प्राकृतमण्डलं भित्वा प्रकृतिविष्णुपदसीम्नोर्विवेचनहेतुभूतां सरिद्वरां विरजां यावत्प्राप्नोति तावत्सूक्ष्मशरीरमनुवर्त्तते। तत्र सूक्ष्मशरीरं परस्यां देवतायां हित्वा दिव्याप्राकृतानादिसिद्धामानवानीतब्राह्मथालङ्कारैरलङ्कृतो विष्णुलोकं परं पदं प्रविश्य परं ब्रह्माधिगच्छतीति ॥ १५ ॥ इति अविभागाधिकरणम् ॥ ७ ॥

## सू० तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ ४ । १ । १६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः तासां

मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेती" ति श्रुत्युक्ता नाडी वर्त्तते । तां विद्यासामर्थ्याच्चच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च प्रसन्नेन वेद्येनानुगृहीतो यदा भवति ततस्तस्योको हृदयमग्रज्वलनं भवति तदा परमेश्वरप्रकाशितद्वारस्तां विदित्वा विद्वान्तया निष्क्रामति ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

"समाना चासृत्युपक्रमा"दित्यत्र विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिः समाना वर्णिता । विद्वल्लिङ्गशरीरस्य परे सम्पत्तिरविभागश्चोक्तः । इदानीं विद्वदुत्क्रान्तौ विशेष उच्यते —

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्ध्वमायन्नऽमृतत्वमेति विष्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ती"ति श्रुतौ शताधिकया मूर्द्धन्यया नाड्या विदुषोऽन्याभिरविदुषश्च निष्क्रमणमित्येवं भूत उत्क्रान्तौ विदुषो विशेषोऽस्ति ? न वेति ? संदेहे, नास्ति

विशेषः । नाडीविशेषज्ञानासम्भवादिति प्राप्ते, ऽभिधीयते— हार्दानुगृहीत इति । "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्ट" इत्येवं भूतो हार्दः श्रीमत्पुरुषोत्तमः तेन स्वानन्यवशीभूतेन सर्वावस्थासु तदनुरूपबुद्धियोगदात्रानुगृहीतः । इयं सा नाडी ययोत्क्रम्य " मम साधर्म्यं यास्यसी "ति प्रतिबोधित इत्यर्थः । " ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते "इति श्रीमुखवचनात् । तदनुग्रहादेव " स एतास्तेजो मात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामती "ति श्रुतिप्रोक्तं तस्य हार्दानुग्रहपात्रीभूतस्य विदुष ओकः स्थानमग्रज्वलनं भवति । अग्रे ज्वलनं प्रकाशनं यस्येत्येवमनुकूलं भवति तत्प्रकाशितद्वारः तेनैव हार्देन प्रकाशितं द्वारं नाडीमूलं यस्मै स विद्वान् शताधिकया हृदयादुद्गतया मूर्द्धानं गतया सूर्यरश्मिभिरैकीभूतया नाड्यैव निष्क्रमति । भगवति वैषम्याभावं दर्शयन्ननुग्रहबीजमाह । विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च । विद्यापरिपाकजन्यवेद्यवशीकरणलक्षणवेतृसामर्थ्यात् । मम कदा ऽनया वेदान्तगीतया

वेदान्तवेद्यप्राप्तिर्भविष्यती."ति विद्याशेषस्मृत्यनुस्मृतियोगाच्च तेनानुगृहीत इत्यर्थः । तस्माद्विदुषो नाडीविशेषेणोत्क्रमणमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

इति तदोकोऽधिकरणम् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं सृत्युपक्रमावधि विद्वदविदुषोः सामान्यत उत्क्रान्ति निर्णीयाथेदानीं विदुष प्रतिज्ञातं विशेषं दर्शयितुमारभ्यते —

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्य" इति श्रुतौ शताधिकया मूर्द्धन्यनाड्या मूर्द्धस्थानान्निष्क्रमणं श्रूयते । तत्रास्ति संशयः, शताधिकया विदुषो निष्क्रमणमन्याभिस्त्वितरस्येति नियमः सम्भवति ? उत नेति ? तत्र नाडीनामतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विवेचनतया पुरुषेण गृहीतुमशक्यत्वान्न नियमः । तयोर्द्धमायन्निति तु यादृच्छिकीं तथागतिमनुवदतीति प्राप्ते, उच्यते—तदोक इति । विद्वान्देहादुत्क्रम्य शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या हृदयादुद्गतया ब्रह्मरन्ध्रं प्राप्तया सूर्य्यरश्मिभिरेकीभूतया सुषुम्णाख्यनाड्यैव निष्क्रामति । नच तेन सा विवेक्तुमशक्या, यतो ऽयं विद्वान् परमात्माराधनभूतविद्याया उपासनायाः सामर्थ्यात्प्रभावात् विद्याङ्गभूतगतेरातिवाहिकैस्तत्पदप्राप्तेरनुचिन्तनयोगाच्च प्रीतेन हृदि स्थितेन परमात्मना ऽनुकम्पितो भवति । ततश्च तस्योपसंहृतवागादिवर्गस्योच्चिक्रमिषोर्जीवस्यौकः स्थानं हृदयम् "*स एतास्तेजो मात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामती" ति

* स मुमुर्षुः ।

श्रुतेः अग्रज्वलनं प्रकाशिताग्रं भवति । एवं तेन हार्देन परमात्मना प्रकाशितं द्वारं सुषुम्णामूलं यस्मै तादृशो विद्वान्स्तां विजानातीति तया तस्य गतिर्युक्तैवेति ॥ १६ ॥

' इति तदोकोऽधिकरणम् ॥ ८ ॥

## सू० रश्म्यनुसारी ४।२।१७॥

वदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्वान्मूर्द्धन्यया नाड्या निष्क्रम्य सूर्य्यरश्मीननुसार्य्येवोर्द्ध्वं गच्छति " तैरेव रश्मिभिरि" त्यवधारणात् ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

मूर्द्धन्यया विद्वान्निष्क्रामतीत्युक्तमिदानीं तया निष्क्रान्तस्य गतौ रश्म्यनुसारित्वं नियतमस्ति ? न वेति ? विचार्य्यते —

रश्म्यनुसारी ।

" अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्द्ध्वमाक्रमते" इत्याद्युक्त्वा "तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्ववमेती"ति छान्दोग्ये उत्क्रमतो मूर्द्धन्यया निष्क्रामन् रश्मीननुसृत्यादित्यमण्डलं गच्छती"ति गम्यते, तत्र संशयः । गतौ सूर्य्यरश्म्यनुसारित्वं

विदुषो नियतमुतानियतमिति ? तत्र रात्रौ स्थूलदेहान्मूर्द्धन्यया निष्क्रान्तस्य सूर्य्यरश्म्यनुसारित्वाभावान्न विदुषस्तद्रश्म्यनुसारित्वं नियतमिति प्राप्ते, ब्रूमः । रश्म्यनुसार्येव विद्वान् गच्छति । "अथैतैरेव रश्मिभिरि"त्यवधारणात् । रात्रावपि रश्मयो देहे औष्णोपलम्भान्निश्चीयन्ते, हेमन्ते तु निशि तुषारनिकराभिभवादनुपलब्धिः । सर्वदा नाडीरश्म्यऽन्योऽन्यसम्बन्धश्च श्रूयते । तद्यथा "महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुञ्चैवमेवैत आदित्यस्य रश्मयः उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्च अमुष्यादादित्यात्प्रतायन्ते त आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्य प्रतायन्ते ते ऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता" इति तस्माद्विदुष ऊर्द्ध्वगतौ सूर्य्यरश्म्यनुसारित्वं नियतमेवेति सिद्धम् ॥ १७ ॥

इति रश्म्यनुसार्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

रश्म्यनुसारी ।

छान्दोग्ये "ऽथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्द्ध्वमाक्रमते "इत्याद्युक्त्वा पुनः "तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेती "त्युक्तं

ततो हि मूर्द्धन्यनाड्या निष्क्रामन् रश्मीननुसृत्यादित्यमण्डलं गच्छतीति गम्यते । तत्रेयं विचिकित्सा, किं मूर्द्धन्यनाड्या निर्गतो विद्वान् रश्म्यनुसार्य्येव गच्छतीति नियमः संभवति ? उत नेति ? तत्र रात्रौ मृतस्य विदुषो रविरश्म्यनुसरणासम्भवादनियम इति प्राप्ते, राद्धान्तः । रश्म्यनुसार्येव गच्छति । कुतः ? विशेषाश्रुतेः " अथैतैरेवे "त्यवधारणाच्च निश्यपि सूक्ष्मा रश्मयः सन्त्येवातिनिदाघकाले निश्यूष्मोपलब्धेः । हेमन्तादौ तु हिमाभिभवात् दुर्दिन इव तदनुपलब्धिः । श्रूयते च सर्वदा शिरारश्मिसम्बन्धः "तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुञ्च एवमेवैत आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्च अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते त आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते ते ऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता" इति ॥ १७ ॥

इति रश्म्यनुसार्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

## सू० निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥

॥ ४ । २ । १८ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

निशि मृतस्य विदुषो न परप्राप्तिरिति न वाच्यम्, यावद्देहभाविकर्मसम्बन्धापगमात्तस्य तत्प्राप्तिः स्यादेव " तस्य तावदेव

चिरं यावन्न विमोक्षे ऽथ सम्पत्स्ये " इति श्रुतेः ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं निशि मृतस्य परब्रह्मप्राप्तिर्विचार्यते —

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ।

निशि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः किं भवति ? उत नेति ? शङ्कायां "दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च । मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितमि"ति वचनान्निशामरणस्याप्रशस्तत्वान्निशि मृतस्य सूर्यरश्मिलाभेऽपि ब्रह्मप्राप्तिर्नेति चेन्न, एवं पक्षो न युक्तः । कुतः ? सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् । उत्तरपूर्वयोः शुभाशुभलक्षणयोः कर्मणोर्विद्ययाऽश्लेषविनाशसम्भवात् । प्रारब्धकार्यकर्मसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वेन देहपाते सति विनाशसम्भवात् प्रतिबन्धाभावान्निशि मृतस्य विदुषोऽर्चिरादिमार्गेन ब्रह्मप्राप्तिः स्यादित्यर्थः । दर्शयति च श्रुतिः । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न

विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति "दिवा च शुक्लपक्षश्च"त्यादिवचनं त्वविद्वद्विषयम् । तस्मान्निशि मृतस्यापि विदुषो ब्रह्मप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ १८ ॥   इति निशाधिकरणम् ॥ ९ ॥

## वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ।

इदमत्र विचार्यते निशि मृतेन विदुषा ब्रह्म प्राप्यते ? न वेति ? तत्र "दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च । मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितमि"ति रात्रिमरणस्य गर्हितत्वेनाधोगमनहेतुत्वान्न निशि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिः सम्भवतीति चेत्तन्न । विदुषः कर्मसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् उत्तरपूर्वयोः पुण्यापुण्ययोर्भगवदीयध्रुवास्मृत्याख्यज्ञानेनैवाश्लेषविनाशात्प्रवृत्तफलकर्मसम्बन्धस्य च यावच्चरमदेहभावित्वाद्बन्धहेत्वभावेन न तत्र कालादिप्रतीक्षापेक्षेति विदुषो निशि मरणे ऽपि ब्रह्मप्राप्तिरविरुद्धेति, दर्शयतिच श्रुतिरेवैतत् । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ऽथ सम्पत्स्य" इति । "दिवा चे"ति वचनं त्वज्ञविषयम् ॥ १८ ॥ इति निशाधिकरणम् ॥ १० ॥

## सू० अतश्चायने ऽपि दक्षिणे ४।२।१९॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

उक्तहेतोर्दक्षिणायने ऽपि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

इदानीं दक्षिणायने मृतस्य विदुषो ब्रह्म-प्राप्तिश्चिन्त्यते —

अतश्चायने ऽपि दक्षिणे ।

किं दक्षिणायने मृतस्य विदुषो ब्रह्म-प्राप्तिरस्ति ? न वेति ? संशये, भीष्मस्य ब्रह्म-विद उत्तरायणप्रतीक्षादर्शनात् न प्राप्नोतीति प्राप्ते, अतिदेशः । अत एव हेतोः कर्मसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादेव दक्षिणायने ऽपि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिरिष्टा । भीष्मस्योत्तरायणप्रतीक्षा तु धर्मप्रवर्त्तनार्थं स्वच्छन्दमरणशक्तिज्ञापनार्थं च ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अतश्चायने ऽपि दक्षिणे ।

अतः पूर्वोक्त*हेतोरेव दक्षिणायने ऽपि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिरविरुद्धा । ननु " अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव

---

* बन्धहेत्वभावरूपहेतोरेव यथा निशि मृतस्य नाहः प्रतीक्षा, तथा दक्षिणायने मृतस्या ऽप्युत्तरायणापेक्षा नास्ति । "स यावत् क्षिपेत् मनस्तावदादित्यं गच्छती"ति प्रतिक्षणाभाव-श्रवणात् ।

महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छती"ति चन्द्रप्राप्ति-श्रवणाच्चन्द्रं प्राप्तानां च "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" इति पुनरावृत्तेरावश्यकत्वात् । किञ्च भीष्मादीनां ब्रह्मविद्यावदग्रवर्त्ति-नामप्युत्तरायणप्रतीक्षादर्शनात्कथं दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्रा-प्तिरिति चेन्न, ब्रह्मविद्याविधुराणां पितृयानेन पथा चन्द्रं गता-नामेव पुनरावृत्तिर्न विदुषां, तेषां तु चन्द्रप्राप्तावपि "तस्मा-द्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोती" ति वाक्यशेषाद्दक्षिणायनमृतानां चन्द्रं गतानामपि ब्रह्मप्राप्तिरविरुद्धा । चन्द्रसायुज्यवचनं तु ब्रह्मप्रेप्सोर्विश्रामस्थानमात्रविषयम्, आवृत्तिवचनं चाविद्वद्विषयं भीष्मादीनामुत्तरायणादिप्रतीक्षा तु स्वस्य स्वच्छन्दमरणशक्ति-प्रदर्शनार्थमुत्तरायणप्रशंसार्थं वेत्यविरोधः ॥ १९ ॥

## सू० योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्त्ते चैते ॥ ४।२।२० ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"यत्र काले त्वनावृत्तिरि"त्यादिना च योगिनः प्रति स्मृतिद्वयं स्मर्य्यते । (स्मार्य्यते) ते चैते स्मणार्हेऽतो न कालविशेषनियमः ॥ २० ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजात-सौरभे चतुर्थोऽध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्त्ते चैते ।

ननु "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ! अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः । धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते । शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुन "इति ब्रह्मनिष्ठान्मुमूर्षून्प्रति अपुनरावृत्तिहेतुत्वेन कर्मनिष्ठान्प्रति पुनरावृत्तिहेतुत्वेन च कालविशेषविधिरस्ति । तस्माद्दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न युक्तेति चेन्न, यतः योगिनो ब्रह्मनिष्ठान्कर्मनिष्ठांश्च प्रति देवयानाख्यसृतिः पितृयानाख्यसृतिश्च स्मर्य्यते । यतश्चैते स्मार्त्ते स्मृतिविषयभूते ज्ञानाङ्गत्वकर्माङ्गत्वाभ्यां स्मरणार्हे "नैते सृती पार्थ ! जानन्योगी मुह्यति कश्चने "त्युपसंहारात् । स्मृतौ "यत्र काले" इति कालशब्देन कालाभिमानिदेवतायुक्तो मार्गो

गृह्यते । तथा च यत्र काले यस्मिन्नहाराद्यभिमाभ्यातिवाहिकदेवतायुक्ते मार्गे इत्यर्थः । अग्निधूमयोः कालत्वासम्भवात् । अतो न कालविशेषनियमः । तस्माद्दक्षिणायने ऽपि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ २० ॥

इति दक्षिणायनाधिकरणम् ॥ ११ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्तातिप्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे चतुर्थाऽध्यायस्य द्वितीयपादः ॥ २ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु "यत्र काले त्वनावृत्तिमि" त्युपक्रम्य "एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनरि" त्यन्तमहरादिकालविशेषः स्मृतौ मुक्तये निर्दिश्यते, तत्कथं रात्रौ दक्षिणायने वा मृतो मुक्तिं लभेतेत्यत्रोच्यते —

योगिनः प्रतिस्मर्यते स्मार्त्ते चैते ।

योगिनो ब्रह्मनिष्ठान्प्रति हेयोपादेयतया पितृयानदेवयानाख्यसृतिद्वयं तत्र स्मर्यते, नतु विदुषः कालविशेषो नियम्यते ।

यत एते सृती स्मार्ते स्मृतिविषयभूते योगाङ्गतया ऽहरहः स्मरणार्हे "नैते सृती पार्थ ! जानन्योगी मुह्यति कश्चने" त्युपसंहारवाक्यात् "यत्र काले त्वि" त्यत्र कालशब्दो ऽहरादिसम्वत्सरान्तकालाभिमान्यातिवाहिकदेवतापरः, अग्निधूमयोः कालत्वासम्भवात् । तया च तदुपलक्षितो मार्ग उच्यते । यत्र यस्मिन्काले कालाभिमानिदेवतोपलक्षितमार्गे इत्यर्थः ॥ २० ॥

इति दक्षिणायनाधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयि श्रीश्री-केशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभ-प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्याय-द्वितीयपादविवरणम् ॥ २ ॥

---

पाषण्डवादपरिदाहकचण्डवह्निम् ।
श्रुत्यन्तपुष्कर विकासन भानुरूपम् ॥
वादप्रगल्भ गिरिखण्डनवज्रतुल्यम् ।
श्रीश्रीनिवासमनीशं गुरुवर्य्यमीडे ॥ १ ॥

प्रपन्नपारिजाताय पार्थसारथये नमः ।

अथ

चतुर्थोऽध्याये तृतीयपादारम्भः ।

# मू० अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥

॥ ४।३।१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

एक एव मार्गो ऽर्चिरादिर्ज्ञेयो ऽतस्तेनैव विद्वांसो गच्छन्ति "अर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति अर्चिषो ऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो ऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति छान्दोग्ये "ते ऽर्चिषमभि(सम्भवन्ति)अर्चिषो ऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङादित्यमेति मासेभ्यः देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान् वैद्युतात् पुरुषो ऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान्गमयती "ति बृहदारण्ये ऽन्यत्रापि तथैव

प्रसिद्धेः ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

एवं पूर्वपादे विदुष उत्क्रान्त्यादिकं चिन्तितमिदानीं तस्य ब्रह्मप्राप्तये गतिश्चिन्त्यते —

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः।

वेदान्तेषु बहुविधो मार्गः श्रूयते। तत्र बृहदारण्यके ऽर्चिरादिनैकः श्रूयते "य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषो ऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतात् पुरुषो ऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयती"ति। तत्रैवान्यप्रकारः श्रूयते। "यदा वै पुरुषो ऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र *विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स उर्द्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा डम्बरस्य खं तेन स उर्द्ध्व आक्रमते स चन्द्र-

* मार्गं ददाति।

मसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छती"ति कौषीतकिनश्च प्रकारान्तरेण मार्गमाहुः। "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इ(च)न्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकमि"ति छान्दोग्ये च प्रकारान्तरेण सः श्रूयते "अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदु च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्बत्सरं सम्बत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति तत्रैव नाडीरश्मिसम्बन्धेन पुनः श्रूयते "अथैतैरेव रश्मिभिरूर्द्ध्वमाक्रमते" इति। "सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ती"त्येवमन्यत्र प्रकान्तरेण सः श्रूयते, तत्र संशयः। किं परस्परं भिन्नाः मार्गाः श्रुतिभिः प्रतिपाद्यन्ते ? उतार्चिरादिः एक एवेति। तत्र नानारूपत्वात्परस्परं भिन्ना एव श्रुतिभिः प्रति-

पाद्यन्त इति प्राप्ते, उच्यते—सर्वाभिः श्रुतिभिर्र्चिरादिरेक एव मार्गः प्रतिपाद्यते। तेनैवार्चिरादिना ब्रह्मविदो गन्तुमर्हन्ति। कुतः? तत्प्रथितेः। सर्वत्र श्रुतिष्वर्चिरादिमार्गैकदेशप्रत्यभिज्ञानात्तस्यार्चिरादेरेव मार्गस्य प्रथितेः प्रसिद्धेरित्यर्थः। तस्मात्सर्वासु श्रुतिषु सर्वेषामन्यत्रोक्तानां पर्वणामन्यत्रोपसंहारेण सर्वविशेषणविशिष्टो ऽर्चिरादिमार्ग एक एव प्रतिपाद्यते, इति सिद्धम् ॥ १ ॥ इत्यर्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।

उत्क्रान्तिमारभ्य नाडीविशेषेणोत्क्रम्य रश्म्यनुसारी सन्नेवयानेन पथा गतो विद्वान्परं ब्रह्म प्राप्नोतीति स्थितं, तदानीं गच्छतस्तस्य सा सृतिरेका? अनेका वेति? चिन्त्यते, तत्र श्रुतिष्वनेकविधासृतिः श्रूयते। तथा हि बृहदारण्यके ऽर्चिरादिनैका। "ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते ते ऽर्चिरभिसम्भवन्ति अर्चिषो ऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो ऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयती" ति। पुनस्तत्रैवान्या "यदा वै पुरुषो ऽस्माल्लोकात्प्रेति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमा-

गच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा डम्बरस्य खं तेन स ऊर्द्ध्व-आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभे खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छती "ति । कौषीतक्याम्नाये त्वपरा " स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकमि "ति। छान्दोग्ये च " अथ यदुचैवास्मिंश्छव्यं कुर्वन्ति यदुच नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति आर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यम् आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो ऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इत्यर्चिः प्रथमैका, तथा तत्रैव नाडीरश्मिसम्बन्धेनान्या "अथैतैरेव रश्मिभिरूर्द्ध्वमाक्रमत "इति "सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ती"ति च क्वचिदन्या, इह अस्ति शंसयः। किमेता नानाविधा ब्रह्मलोकसृतयः श्रुतिभिः प्रतिपाद्यन्ते? उतार्चिरादिकैकैव सृतिरिति? तत्रान्योऽन्यनिरपेक्षत्वाद्भिन्नप्रकरणत्वाद्भिन्नोपासनाशेषत्वात् अथैतैरेवेत्यवधारणानुरोधाच्च नानाविधा इति प्राप्ते, अभिदध्महे। अर्चिरादिनेति। अर्चिरादिरेक एव मार्गो ऽनेकविशेषणविशिष्टः सर्वश्रुतिभिः प्रतिपाद्यते। तेनैव विद्वान्ब्रह्म गच्छति। कुतः? तत् प्रथितेः। प्रथितिः प्रसिद्धिः। तस्यैव सर्वत्र प्रसिद्धत्वात्। पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे " ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासत" इति विद्यान्तरशालिनामप्यर्चिरादिमार्गेणैव गत्यभिधानात्। " द्वावेव मार्गौ प्रथितावर्चिरादिर्विपश्चिताम्। धूमादिः कर्मिणां चैव सर्ववेदविनिर्णयादि"ति स्मृतेः "पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ। दुर्जनाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिण "इति

मोक्षधर्मे च स्मरणात् । श्रुत्यन्तरोक्तानामेकदेशानां विद्यागुणोपसंहारवच्छ्रुत्यन्तरं उपसंहारात्स एव सर्वत्र न्यूनाधिकभावेन प्रतिपाद्यते । प्रकरणभेदे ऽपि विद्यायाः प्राप्तव्यस्य चैकत्वादनेकमार्गकल्पनमनर्थकं सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्यायुक्तत्वादेतैरेवेत्यवधारणस्यापि रश्मिप्राप्तिपरत्वादेकेयं सृतिरिति स्थितम् ॥ १ ॥ इत्यर्चिराद्यधिकरणम् ॥१ ॥

## सू० वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ ४।३।२ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

छान्दोग्यश्रुतिपठितात्सम्वत्सरादूर्ध्वमादित्यात्पूर्वमग्निलोकमागच्छति "स वायुलोकमि"ति कौषीतकिश्रुत्युक्तं वायुमभिसम्भवन्ति अविशेषविशेषभ्याम् "अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमि"त्यत्र वायुरविशेषणोपदिष्टत्वात् "तस्मै तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छती"त्यत्र विशेषावगमाच्च ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

सर्वत्र एक एवार्चिरादिमार्ग इत्युक्तमिदा-

नीमन्यत्रोक्तानां तदवयवानां सन्निवेशप्रकारो निर्णीयते —

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।

"मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमि"ति बृहदारण्यकश्रुतौ मासादित्ययोर्मध्ये देवलोकः "मासेभ्यः सम्बत्सरं सम्बत्सरादादित्यमि"ति छान्दोग्यश्रुतौ तु तयोर्मध्ये सम्बत्सरः श्रूयते । तयोरुभयोरुभयत्रोपसंहारः कार्य्यः, उभयत्र मार्गैक्यात् । तत्र बृहदारण्यकश्रुतिप्रोक्तयोर्मासदेवलोकयोरन्तराले सम्बत्सरः सन्निवेशयितव्यः । अह्नोऽनन्तरं पक्षस्ततः षण्मासास्तेभ्यः सम्बत्सरस्योचितत्वात् । छान्दोग्यश्रुत्युक्तयोः सम्बत्सरादित्ययोरन्तराले देवलोकः सन्निवेशयितव्यः । एवं सति बृहदारण्यकश्रुतौ "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्द्ध्वमाक्रमते आदित्यमागच्छती"त्यादित्यात्पूर्वं वायुः श्रुतः । कौषीतकिश्रुतौ तु "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्नि-

लोकमागच्छति स वायुलोकमि, "त्यग्निलोक-शब्दितादर्चिरात्मकादग्नेरनन्तरं" वायुः श्रुतः । तत्र संशयः, किमर्चिरात्मकादग्नेरनन्तरं वायुं विद्वान् गच्छति ? उत प्रदर्शितस्थानादब्दादनन्तरमादित्यात्पूर्वमिति ? तत्र "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमि"ति पाठबलात्कार्य्यकारणयोः सामीप्यसम्भवाच्चाग्नेरनन्तरमिति प्राप्ते, उच्यते—वायुमब्दादिति । अब्दात्सम्बत्सरादनन्तरमादित्यात्पूर्वं वायुं विद्वान्विशति । कुतः ? अविशेषविशेषाभ्याम् । "अग्निलोकमागच्छति स वायु लोकमि"ति कौषीतकिश्रुतौ वायोर्यद्यप्यग्नेरनन्तरपाठो ऽस्ति, तथापि कुतश्चिद्वायोः परत्वं पूर्वत्वं वा गमनक्रमे विशेषतो न ज्ञायते, किं त्वविशेषेण वायुरुपदिष्टः । यथा छात्रो गुरुगृहान्निष्क्रम्य भिक्षार्थं चैत्रगृहं मैत्रगृहं गच्छतीत्येतावता चैत्रगृहानन्तरं मैत्रगृहं स गच्छतीति विशेषो न निश्चीयते, तद्वत् । "यदा वै पुरुषो ऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै तत्र स विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्द्ध्व-

आक्रमते स आदित्यमागच्छती"ति बृहदारण्यकश्रुतौ तु आदित्यात्पूर्ववर्त्तित्वेन विशेषेण वायुरुपदिष्टः । ताभ्यामविशेषविशेषाभ्यामित्यर्थः । पूर्वोदाहृतबृहदारण्यकश्रुतिस्थदेवलोकशब्दो वायुपरः, देवानां लोको वासस्थानं देवलोक इत्यर्थः । कौषीतकिश्रुतिगतवायुलोकशब्दे कर्मधारय एव समासाश्रयणीयः । सूत्रकारेणापि वायुशब्दादित्युक्तत्वात् । स वायुमागच्छतीति श्रौतप्रयोगाच्च । वायोर्देवानां वासस्थानत्वाल्लोकत्वं सङ्गच्छते । "यो ऽयं पवते एष एव देवाना गुहा" इति श्रुतेः । तस्माद्वायोरब्दादित्ययोरन्तराले सन्निवेश इति सिद्धम् ॥ २ ॥

इति वाय्वधिकरणम् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

वायुशब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।

सर्वप्रकरणेष्वर्चिरादिमार्ग एकस्तेनैव विद्वानागच्छतीत्युक्तमथ श्रुत्यन्तरोक्तानां मार्गपर्वणां केन क्रमेण सन्निवेश इति चिन्त्यते ध्यानोपयोगात् । तत्र वाजसनेयिपाठे मासाऽऽदित्ययोर्मध्ये देवलोकः श्रूयते । छान्दोग्यपाठे तु तयोर्मध्ये सम्वत्सरस्तावुभावुभयत्रोपसंहार्यौ द्वयोर्मार्गैक्यात् । तत्रा ऽपि मासादुर्ध्वं

सम्बत्सरस्ततो देवलोकः सन्निवेशयितव्यः "अर्चिषो ऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमि"त्यादावधिककालानां न्यूनकालेभ्य उत्तरोत्तरसन्निवेशदर्शनात्, माससम्बत्सरयोः सम्बन्धस्य प्रसिद्धत्वाच्च । "यदा ह वै पुरुषो ऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छती" त्यत्र तु वाजसनेयिनः आदित्यात्पूर्वं वायुं पठन्ति । कौषीतकिनस्तु "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमि" त्यग्निलोकशब्दितार्चिषः परं वायुं पठन्तीति वायुस्थानानिश्चयात्तं किमर्चिरात्मकाग्नेरनन्तरं विद्वानभिगच्छेदुत्सम्बसराद्नन्तरमिति संशये, "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागछति स वायुलोकमि"ति पाठबलादर्चिषो ऽनन्तरो वायुरिति प्राप्ते, उच्यते । वायुमब्दादिति । अब्दात्सम्बत्सरादूर्द्ध्वमादित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसम्भवति । कुतः ? अविशेषविशेषाभ्यामिति । "सवायुलोकमि"त्यविशेषेण वायुरुपदिष्टः पदार्थमात्रनिर्देशात् " यदा वै पुरुषो ऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुलोकमागच्छति तस्मै तत्र विजिहीते यथा चक्रस्य खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छती"ति विशेषेणोपदिष्टः । ऊर्द्ध्वशब्दः क्रमवाची, तेन विशेषो गम्यते । एवं सति बृहदारण्यकोक्तदेवलोकशब्देनापि वायुरेव ज्ञातव्यः कौषीतकिनां वायुलोकशब्दश्च वायुश्चासौ लोकश्चेति वायुमेवाभिधत्ते । वायुश्च देवानामावासभूतः "यो ऽयं पवत एष एव देवानां ग्रहा इति श्रुतेः । केचित्तु सम्वत्सराद्देवलोकं देवलोकाद्वायुलोकमिति श्रुत्यन्तरवशाद्देवलोको ऽप्यत्र मध्ये निवेशयितव्यः । वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तं सूत्रे वायुपदं देवलोकपूर्वकवायुपरमिति वदन्ति, तन्मते त्रयोदशपर्वा ब्रह्मलोकपद्धतिः॥ २ ॥

इति वाय्वधिकरणम् ॥ २ ॥

## सू० तडितो ऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॥४।३।३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

" स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स वरुणलोकमि"ति कौषीतकिश्रुत्युक्तो "वरुणश्चन्द्रमसो विद्युतमि "ति छान्दोग्यश्रुत्युक्तविद्युत उपरि तेजो विद्युद्वरुणसम्बन्धादिन्द्रप्रजापती च तदग्रे योज्यौ ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं कौषीतकिश्रुत्युक्तस्य वायोरर्चिरादिमार्गे स्थानमुक्तमिदानीं तदनन्तरश्रुतस्य वरुणस्य स्थानमाह —

तडितो ऽधिवरुणः सम्बन्धात् ।

कौषीतकिश्रुत्युक्तो वरुणः किं " स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकमि "ति पाठक्रमाद्वायोरुपरि एव युक्तः ? उत बृहदार-

रण्यकश्रुतौ वायोरग्रे आदित्यस्य श्रवणादन्यत्र यथासम्भवं निवेशयितव्यः ? इति संशयः । तत्र पाठक्रमाद्वायोरुपर्येव युक्तो ऽश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति प्राप्ते, उच्यते—तडितोऽधिवरुण इति । तडितश्चन्द्रमसो विद्युतमि"ति छान्दोग्यश्रुत्युक्ताया विद्युतो ऽप्युपरि वरुणः सम्बन्ध्यते । कुतः? सम्बन्धात् विद्युद्वरुणयोः सम्बन्धात् । इन्द्रप्रजापती उक्तस्थानाद्वरुणादधिनिवेशयितव्यौ । तस्मात्पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्तडितोऽधिवरुणः सम्बन्ध्यते इति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति वरुणाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं कौषीतकिभिरग्न्यनन्तरं पठितस्य वायोः स्थानमुक्तमथ वाय्वनन्तरं पठितस्य वरुणस्य किं विद्युत उपरि निवेशः ? उत वायोरुपरि ? इति संशये "स वायुलोकं स वरुणलोकमि"ति पाठक्रमेण वायोरुपरि वरुणनिवेश इति प्राप्ते, राद्धान्तमाह —

तडितो ऽधिवरुणः सम्बन्धात् ।

"स वरुणलोकमि"ति कौषीतकिश्रुत्युक्तो "वरुणः चन्द्रमसो विद्युतमि" ति छान्दोग्यश्रुत्युक्तायास्तडितो ऽप्युपरिष्टान्निवेशयितव्यः । कुतः ? सम्बन्धात् । विद्युतो मेघोदरवर्तित्वेन विद्यु-

द्वरुणयोः सम्बन्धस्य लोके वेदे च प्रसिद्धत्वात्, पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात् । "यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति । विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा" इति श्रुतेः । अपां चेश्वरो वरुणः, वरुणाच्चोपरीन्द्रप्रजापती निवेश्यौ, स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च । एवं च सति "तत्पुरुषो ऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयती" त्यमानवस्य विद्युत्पुरुषस्य गमयितृत्वं व्यवधानसहमित्यवगम्यते । तदेवमर्चिरादिप्रजापत्यन्तो द्वादशपर्वा ब्रह्मलोकमार्ग इति सिद्धम् ॥ ३ ॥ इति वरुणाधिकरणम् ॥ ३ ॥

# सू० आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।

४।३।४॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

आर्चिरादयो गन्तॄणां गमयितारः "स एतान् ब्रह्म गमयती"त्यमानवस्य गमयितृत्वश्रवणात् पूर्वेषामपि गमयितृत्वं गम्यते ॥४॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवमर्चिरादीनां प्रजापत्यन्तानां द्वादशसङ्ख्याकानां मार्गपर्वणां क्रमविशेषो दर्शितः । इदानीं तु विदुषो ऽर्चिरादयो यत्कार्य्यं कुर्वन्ति तच्चिन्त्यते —

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।

किं ब्रह्मजिगमिषोर्विदुष एते ऽर्चिरादयो मार्गचिह्नभूताः ? आहोस्विद्भोगभूमयः ? उतातिवाहिकाः ? इति सन्देहः । तत्र मार्गचिह्नभूताः भवन्तु, वृक्षपर्वतादिवत् । "अग्निलोकं वायुलोकं वरुणलोकमि"त्यादिषु लोकत्वेन श्रूयमाणा भोगभूमयो वा भवन्तु इति प्राप्ते, उच्यते । आतिवाहिका इति । अतिवाहे भवा आतिवाहिकाः भगवदाज्ञया भागवतानां विदुषामतिवोढारः इत्यर्थः । कुतः ? तल्लिङ्गात् उपसंहारे "तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयती"त्यमानवस्य पुरुषस्य गन्तॄणां गमयितृत्वश्रवणात् । तच्च गमयितृत्वलक्षणं लिङ्गं पूर्वेषामर्चिरादीनामपि गमयितृत्वं सूचयति । अर्चिरादयः शब्दास्तदभिमानिदेवताविशेषपरा ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।

किमर्चिरादयो विदुषो ब्रह्मप्रेप्सोर्भोगस्थानानि ? किम्वा मार्गचिन्हानि ? किं वा ऽतिनेतारः पुरुषाः ? इति संशयः, तत्र मार्गचिन्हानीति तावत्प्राप्तं, तत्संरूपत्वेन निर्देशात् । यथा

हि लोके किञ्चित् गङ्गादितीर्थं प्रविविक्षासमानं तन्मार्गज्ञा अनुशिषन्ति। अतो निर्गत्यामुं ग्रामं याहि, ततो नगरं, ततो गिरिं, ततो नदीं, ततस्तीर्थं प्राप्स्यसीति। अथवा भोगस्थानानि, अहरादेः कालविशेषत्वेन प्रसिद्धेर्मार्गचिन्हत्वानुपपत्तेः। एते एव लोका यदहोरात्राण्यर्द्धमासा ऋतवः सम्वत्सरा" इत्यहरादीनां लोकत्वोक्तेः। कौषीतकिनां च "अग्निलोकमागच्छती"त्यादिना लोकशब्दानुविधानेनार्चिरादीनां पाठात् लोकशब्दस्य च भोगस्थानेषु प्रसिद्धत्वादर्चिरादेरचेतनत्वाच्च भोगभूमय एवार्चिरादय इति प्राप्ते, प्रतिब्रूमः। आतिवाहिका इति। अतिवाहे भवास्तत्र परमात्मना नियुक्ता आतिवाहिका देवताविशेषाः एवैते भवितुमर्हन्ति। कुतः? तल्लिङ्गात्। उपसंहारे "स एतान्ब्रह्म गमयती" ति वैद्युतपुरुषस्य गन्तृणां गमयितृत्वदर्शनात्। पूर्वेषां चाविशेषनिर्दिष्टानां स एव सम्बन्धस्ते ऽप्यमानवा इति निश्चीयते। अन्यथोपसंहारे प्राप्तमानवत्वनिवृत्त्यर्थममानव इति विशेषणं न प्रकल्पते। गन्तृणां च सूक्ष्मशरीरपरिवेष्टितानां स्वातन्त्र्येण गमनानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा विभूतिविस्ताराय परेण नीयमानत्वमुक्तम्। "अग्निलोकमि"त्यादिलोकशब्दो ऽपि मध्ये भोगाभावाद्गमयितृत्वे एवोपपद्यते ॥ ४ ॥

## सू० वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥

॥ ४ । ३ । ५ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विद्युत उपरिष्टादमानवेनैव विद्वान्नीयते ।

वरुणादयस्तु साहित्येनोपकारकाः ॥ ५ ॥

० वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो ऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयती"ति श्रवणादमानवस्यैव पुरुषस्य विद्युल्लोकाद्गमयितृत्वं प्राप्नोति । विद्युतः परेषां वरुणेन्द्रप्रजापतीनामातिवाहिकत्वं न प्राप्नोतीत्यत आह —

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।

"चन्द्रमसो विद्युतमि"ति विद्युत्प्राप्तेरूर्द्ध्वं वैद्युतेनैव विद्युत्पर्य्यन्तागतेनामानवेनैवाऽऽब्रह्मप्राप्तेर्विद्वान्नीयते विद्युल्लोकं विद्वद्वोढृत्वेनागतो मानवो वैद्युत इत्युच्यते । कुतः ? तच्छ्रुतेः । स एतान् ब्रह्म गमयतीति छान्दोग्ये "तान्वैद्युतात्पुरुषो ऽमानव एत्य ब्रह्मलोकं गमयती"ति बृहदारण्यके च तस्यामानवस्य गमयितृत्वश्रुतेः । अर्चिरादिविद्युदन्ताः नव प्राधान्येनातिवाहिकाः, वरुणेंद्रप्रजापतयस्त्रयः सहकारित्वेनोपकारका इति विवेकः । विद्वान् स्थूलशरीरान्मूर्द्धन्यनाड्या निष्क्रम्य सूर्य्यरश्मीनारुह्य यदा परं पदं गन्तुमिच्छति तदाऽर्चिषो ऽभिमानिनाऽऽ-

तिवाहिकेन सुसत्कृत्य दिनाभिमानिनं, + नीत+ स्तथैव तेन पक्षाभिमानिनं, तेन च षण्मासाभिमानिनं, तेन सम्वत्सराभिमानिनं, तेन वायुं, तेन स्वस्मिन् छिद्रं दत्वाऽऽदित्यं, तथैव तेन चन्द्रमसं, तेन विद्युदभिमानिनं देवताविशेषं नीतस्ततश्च वैद्युतपुरुषप्रधानं वरुणाद्यातिवाहिकत्रयं प्राप्य प्राकृतमण्डलं भित्वा विरजां प्राप्नोति । तदा परस्मिन् लिङ्गं हित्वा तां तीर्त्वा परब्रह्मलोकं प्रविश्य ब्रह्मसाधर्म्यं प्राप्नोति । तस्मादर्चिरादय आतिवाहिका इति सिद्धम् ॥४॥

इत्यातिवाहिकाधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु वैद्युतादूर्ध्वं आब्रह्मप्राप्तेरमानवस्य गमयितृत्वं श्रुतं, न वरुणादीनाम् । अतः कथं तेषामातिवाहिकत्वमित्यत आह —

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।

ततो विद्युत उपरिष्टाद्वैद्युतेन विद्युल्लोकपर्य्यन्तागतेनैवामानवेनातिवाहिकेनाब्रह्मप्राप्तेर्विद्वान्नीयते । कुतः ? तच्छ्रुतेः "स एतान्ब्रह्म गमयती" ति तस्यैव गमयितृत्वश्रवणात् । "तान्वैद्युता*त्पुरुषो ऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयती" ति श्रुत्यन्तराच्चामानवो विद्युल्लोकमागतो वैद्युत उच्यते, वरुणादयस्तु

* लोकात् ।

साधु गम्यतामिति साहित्येनोपकारकाः, अतस्तेषामप्यातिवाहिकत्वमिति । एतदुक्तं भवति, विद्वान्देहादुत्क्रम्य मूर्द्धन्यनाड्या विनिःसृत्य रश्मीनारुह्य यदा गन्तुमिच्छति तत्रार्चिषो ऽभिमानिनातिवाहिकेन सन्मुखमेत्य निरतिशयसन्मानेनोपचारैः समभ्यर्च्यातिवाह्यदिनं नीतस्तेनापि पूर्वोक्तरीत्या शुक्लपक्षं नीतः, ततश्चोक्तरीत्या क्रमात् पक्षोत्तरायणसम्वत्सराभिमानिभिर्वायुं देवलोकरूपं नीतस्तेनापि सन्मानेन समभ्यर्च्य स्वस्मिंश्छिद्रं दत्वा तन्मार्गेण सूर्यमण्डलं नीतस्तथैव सूर्येण स्वस्मिंश्छिद्रं दत्वा तेन सूर्यमण्डलं भित्वा चन्द्रमसं, तेन विद्युल्लोकं, तदभिमानिदेवताविशेषेण वरुणलोकं, तत इन्द्रलोकं, ततः प्रजापतिलोकं, ततः प्राकृतमण्डलं भित्वा परधामसीमानं सरिद्वरां विरजामिति " स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येती " तिश्रुतेः । ततः सूक्ष्मशरीरं परदेवतायां हित्वा तत्रामानवान्पुरुषान्स्वस्यातिवाहनार्थमागतान्पश्यति । तैः सह सङ्कल्पमात्रेण तां तीर्त्वा विष्णुलोकं प्रविश्य ब्रह्मभावमभिगच्छतीति यावत् ।

सन्ति चात्र सङ्ग्रहश्लोकाः

"विद्वान् विनिष्क्रम्य सुषुम्णया तया नाड्या समारुह्य सवितृरश्मिन् ॥
ततश्च वह्निं प्रथमं प्रयाति ततो दिनं पक्षमुपैति शुक्लम् ॥ १ ॥
तथोत्तरं प्राप्य बुधो ऽयनं ततः सम्वत्सरं देवनिवासवायुम् ॥
सूर्यं च सोमं च ततश्च वैद्युतं जलेशमिन्द्रं च ततः प्रजापतिम् ॥ २ ॥
स तत्र तत्राखिललोकपालैः समर्चितो याति समस्तलोकान् ॥
अतीत्य देवैश्च समागतैरसौ ह्यमानवैर्याति सरिद्वरां बुधः ॥ ३ ॥
विहाय लिङ्गं परदेवतायां सङ्कल्पमात्रेण तरेच्च तां नदीम् ॥
ततो ऽकृतं विग्रहमभ्युपेत्य ह्यलङ्कृतो ब्रह्मसमैश्च भूषणैः ॥ ४ ॥
द्वाःस्थैः समागम्य परस्परं मुदा ह्यलौकिकं स्थानमसौ प्रपश्यन् ॥

समागतो भागवतैश्च मार्गे समानशीलैर्भगवत्प्रपन्नैः ॥ ५ ॥
ततश्च पश्यन्मणिमण्डपे ऽसौ, स्थूणासहस्रादिविराजमाने ॥
दिव्ये महारत्नमये महात्मा सिंहासनस्थं पुरुषोत्तमं हरिम् ॥ ६ ॥
लक्ष्म्यादियुक्तं परमेशितारमादित्यवर्णं तमसः परात्परम् ॥
सुनन्दमुख्यैश्च सुदर्शनादिभिर्नमस्कृतं स्वाञ्जलिसम्पुटैश्च ॥ ७ ॥
सहस्रसूर्यादिप्रभातिरस्करद्युभिः किरीटादिसमस्तभूषणैः ॥
विभूषिताङ्गं जगतां पतिं गुरुं वेदान्तवेद्यं द्रुहिणादिवन्द्यम् ॥ ८ ॥
मुक्तोपसृप्यं च मुमुक्षुमृग्यं विश्वस्य हेतुं स्वजनैकजीवनम् ।
विज्ञानमानन्दमयस्वरूपं स्वभावतो ऽपास्तसमस्तहेयम् ॥ ९ ॥
समस्तकल्याणगुणाकरं प्रभुं विज्ञानमूर्त्तिं परधामसंस्थम् ॥
दृष्ट्वा मुकुन्दं भगवन्तमाद्यं कृष्णं सदानन्दमयं वरेण्यम् ॥ १० ॥
दूरान्नमस्कृत्य पदारविन्दयोर्नमो नमो भूय उदाहरन्मुदा ॥
ततश्च कृष्णेन कृपार्द्रया दृशा ऽवलोकितः श्रीमुखपङ्कजेन सः ॥ ११ ॥
गिरा परानन्दनिदानभूतया सम्भावितो याति हि ब्रह्मभावम् ॥
पुनर्न संसारगतिं समेति वै विमुक्तमायार्गल एष मुक्तः ॥ १२ ॥
प्रदर्शितेयं श्रुतिभिः परागतिः संक्षेपतो मन्दधियां हिताय ॥
स्वसम्प्रदायानुगुणाभ्युदीरिता श्रुतिस्मृतिन्यायप्रमाणसङ्घैः ॥ १३ ॥
यया गतो याति परेशभावं हरेः पदं मुक्तसमस्तबन्धः ।
मुमुक्षुभिः सा परिशीलनीया मुकुन्दपादाम्बुजगन्धलुब्धैः । १४-५ ।

इत्यातिवाहिकाधिकरणम् ॥ ४ ॥

# सू० कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥४।३।६॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अर्चिरादिगणः कार्य्यं ब्रह्म तदुपासका-न्नयति, कार्य्यस्य ब्रह्मण एव गत्युपपत्तेरिति बादरिर्मन्यते ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अर्चिरादिगतिर्निरूपितेदानीं गन्तृविशेषो निर्णीयते —

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।

किमयमर्चिरादिकः आतिवाहिकगणः कार्य्यं ब्रह्मोपासीनान् गमयति? उत परब्रह्मोपासकान्? अथवा परं ब्रह्मोपासीनान्प्रकृतिवियुक्तं प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकतयोपासीनांश्च ? इति संशये, कार्य्यं हिरण्यगर्भाख्यं गमयति तदुपासकान्। कुतः? अस्य कार्य्यस्यैव ब्रह्मणो देशविशेष-वर्त्तिनो गत्युपपत्तेः, गन्तव्यत्वोपपत्तेः । इति बादरिराचार्य्यो मन्यते ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

कार्यं *बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।

"अथ स एतान्ब्रह्मगमयती"ति श्रुत्याऽर्चिरादिना ब्रह्मप्राप्ति-

* पञ्चसूत्रैरस्य मतम्

विधीयते, सा किं कार्यभूतहिरण्यगर्भब्रह्मविषयका ? उत परब्रह्मविषयकेति ? संशये किं युक्तम्, कार्य्यं ब्रह्मैवार्चिरादिर्गमयति । कुतः ? अस्य कार्यब्रह्मण एव देशविशेषवर्त्तित्वेन तत्रैव गत्युपपत्तेर्गन्तृगन्तव्यत्वसम्भवादिति बादरिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

## सू० विशेषितत्वाच्च ॥ ४।३।७॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तेषु ब्रह्मलोकेषु "पराः परावन्तो वसन्ती" ति लोकशब्दबहुवचनाभ्यां विशेषितत्वाच्च ॥७॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

विशेषितत्वाच्च ।

"पुरुषो मानवः स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयती" ति "तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावन्तो वसन्ती" ति च लोकशब्देन बहुवचनेन देशविशेषवर्त्तिनः कार्य्यब्रह्मण एव विशेषितत्वाच्च तदुपासकान् तदेव गमयति ॥ ७ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विशेषितत्वाच्च ।

"ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावन्तो वसन्ती" ति लोकशब्दबहुवचनाभ्यां तस्य विशेषितत्वाच्च ॥ ७ ॥

## सू० सामीप्यात्तु तदुपदेशः ॥

॥ ४ । ३ । ८ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रथमजत्वेन ब्रह्म सामीप्यात्तु "ब्रह्म गमयती"ति व्यपदेश उपपद्यते ॥ ८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु परब्रह्मवाचकस्य ब्रह्मशब्दस्य नपुंसकस्य हिरण्यगर्भपरत्वं न सम्भवतीत्यत्राह —

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।

"यो ब्रह्माणं विदधाती"ति श्रुतेर्हिरण्यगर्भस्य कार्य्यब्रह्मणः प्रथमजत्वेन कारणभूतब्रह्मासामीप्यात्तु "स एतान्ब्रह्म गमयती"ति कारणवाचकेन नपुंसकलिङ्गेन व्यपदेश उपपद्यते ॥ ८ ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु नपुंसकब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वात्कथं कार्यब्रह्मोपस्थापकत्वमन्यथा "स एतान्ब्रह्माणं गमयती"ति निर्दिष्टव्यं स्यादत आह —

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।

तुशब्दः शङ्कोच्छेदार्थः । "यो ब्रह्माणं विदधाती"ति तस्य पूर्वजत्वेन परब्रह्मसामीप्याद्ब्रह्मत्वोक्तिः ॥ ८ ॥

## सू० कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।४।३।६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

कार्य्यब्रह्मलोकनाशे कार्यब्रह्मणा सह कार्यब्रह्मणः परं प्राप्नोति "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" इत्यभिधानात् ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

नन्वर्चिरादिमार्गो न हिरण्यगर्भलोकविषयः। "एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमानाः इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इत्यर्चिरादिमार्गेण गतस्यापुनरावृत्तिश्रवणात् "तयोर्द्ध्वमायन्नऽमृतत्वमेती"त्यमृतत्वश्रवणाच्च हिरण्यगर्भलोकस्य सृष्टिसंहारविषयत्वात् । "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमि"ति हिरण्यगर्भस्य जन्यत्वादिदोषवत्त्वात्तत्प्राप्तस्य "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन !" इति पुनरावृत्तिस्मरणाच्चेत्यत आह —

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।

कार्य्यात्यये हिरण्यगर्भलोकनाशे सति तदध्यक्षेण तल्लोकनाथेन विद्यावता सह तत्रापि विद्याधिकारात्स्वयमपि लब्धविद्यो ऽतः कार्य्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भात्परं मूलभूतं ब्रह्म प्राप्नोति । कस्मात् ? अभिधानात् "तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेती"ति "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" इति चाभिधानात् ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु "नावर्त्तन्त" इति "अमृतत्वमेती"ति कथमस्यापुनरावृत्त्यादिश्रवणं सङ्गच्छेत ? कार्यब्रह्मगतस्य "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिन" इति पुनरावृत्तिस्मरणादिति चेत्तत्राह—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।

चतुर्मुखप्राप्तावप्यपुनरावृत्तिर्नानुपपन्ना, कार्यस्य हिरण्यगर्भलोकस्यात्यये महाप्रलये सतीत्यर्थः । तदध्यक्षेण चतुर्मुखेन विदुषा सह स्वयमपि तत्राधिगतविद्यो ऽतः कार्यब्रह्मणश्चतुर्मुखात्परं मूलभूतं ब्रह्म प्राप्नोति । कुतः ? अभिधानात् । "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" इति ब्रह्मणा सह परप्राप्त्यभिधानात् ॥ ९ ॥

## सू० स्मृतेश्च ॥ ४।३।१० ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमि"ति स्मृतेश्चोक्तार्थोऽवगम्यते ॥ १० ॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

स्मृतेश्च ।

" ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमि " ति स्मृतेश्च हिरण्यगर्भप्राप्तावप्यपुनरावृत्तिः सङ्गच्छते ॥ १० ॥

### वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

स्मृतेश्च ।

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । *परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमि" ति स्मरणाच्च तथावगम्यते इति पूर्वः पक्षः ॥ १० ॥

---

* ये सत्यलोकं गतास्तदुपासकास्ते प्रतिसञ्चरे महाप्रलये सम्प्राप्ते सति अन्ते ब्रह्माधिकारक्षये ब्रह्मणा सह परस्य हरेः पदं प्रविशन्ति । कीदृशाः कृतात्मानः, हरिनिहितबुद्धय इत्यर्थः ।

## सू० परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥

४।३।११॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"परं ब्रह्म नयति एतान् ब्रह्म गमयती" ति ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन् मुख्यत्वात्॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।

आतिवाहिकगणः परब्रह्मोपासीनान् परं ब्रह्म गमयतीति जैमिनिराचार्य्यो मन्यते । कुतः ? "एतान्ब्रह्म गमयती" ति ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्ब्रह्मणि मुख्यत्वात् । यदुक्तं लोक-शब्देन बहुवचनेन च देशविशेषवर्त्तिनः कार्य-ब्रह्मण एव विशेषितत्वाच्च तदुपासकान् तदेव गमयतीति, तत्रोच्यते— सर्वगतस्य परस्य ब्रह्मणः स्वेच्छया देशविशेषवर्त्तित्वं "यो ऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् तिष्ठति तद्विष्णोः परमं पदमि" त्यादिश्रुतिभ्य एवावगम्यते । तल्लोकस्य (अपि) नित्यसिद्धत्वम् "अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकं सम्भवानी" ति श्रुत्योच्यते । बहुवचनमपि लोक-

प्रदेशबाहुल्यविवक्षयोपपद्यते। "ये लोका मम विमलाः सकृद्विभान्ति ब्रह्माद्यैः सुरवृषभैरपीष्यमाणाः॥ तान्क्षिप्रं व्रज सततान्निहोत्रयाजिन्मत्तुल्यो भव गरुडोत्तमाङ्गयान" इति द्रोणपर्वस्थश्रीमुखवचनाच्च ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्।

जैमिनिराचार्यस्तु परं ब्रह्मैवार्चिरादिगणो विद्वांसं गमयतीति मन्यते स्म। कुतः? मुख्यत्वात्। ब्रह्म गमयती"त्यत्र परं ब्रह्मैव ब्रह्मशब्दाभिधेयं, तस्यैव शक्यत्वेन नपुंसकब्रह्मशब्दस्य तत्रैव वृत्तेरन्यथा गौणत्वप्रसङ्गः। "यत्परः शब्दः स शब्दार्थ" इति न्यायात् शब्दप्रमाणकैः शब्दानां यो ऽर्थः प्रतीयते स गृहीतव्यो, गौणो लाक्षणिकश्च न शब्दनिमित्तः प्रमाणान्तरापेक्षत्वात्॥ ११ ॥

## सू० दर्शनाच्च ॥४।३।१२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति परप्राप्यत्वदर्शनाच्च ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

दर्शनाच्च ।

" तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत " इति मूर्द्धन्यया निष्क्रान्तस्य देवयानेन गतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तेर्दर्शनाच्च ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

दर्शनाच्च ।

"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति श्रुतौ परस्यैव प्राप्यत्वं स्पष्टं दृश्यते ॥ १२ ॥

## सू० न च कार्य्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥४।३।१३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

" प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये " इत्ययं प्राप्तेः सङ्कल्पः कार्यब्रह्मविषयको न, किन्तु परमात्मविषयकः तस्यैवाधिकारात् ॥१३॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "एतान्ब्रह्म गमयती"ति श्रुतिस्थस्य ब्रह्म-

शब्दस्य कार्य्यब्रह्मपरत्वमेवास्ति - "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य"इत्यर्चिरादिना गतस्य विदुषः कार्ये ब्रह्मणि प्रतिपत्त्यभिसन्धेरित्यत्रोच्यते —

नच कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ।

न च कार्ये ब्रह्मणि "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य "इति श्रुत्युक्तः प्रतिपत्त्याभिसन्धिः सम्प्राप्तिसङ्कल्पो भवति । किन्त्वयं प्रतिपत्त्यभिसन्धिः परब्रह्मविषयकः "नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्मे "ति परस्यैवाधिकारात् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य " इति श्रुत्या कार्यब्रह्मपरत्वमेव पूर्वश्रुतस्य ब्रह्मशब्दस्येति चेत्तत्राह —

नच कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ।

नायं कार्यब्रह्मविषयः प्रतिपत्त्यभिसन्धिः सम्प्राप्तिसङ्कल्पः । किन्तु परब्रह्मविषय एव । "नामरूपयोर्निर्वहिते" ति परस्यैवाधिकारात् । वाक्यशेषे "यशो ऽहं सम्भवामि ब्राह्मणानामि"ति तस्याभिसन्धातुः सर्वाविद्याविमोकसर्वात्मभावाभिसन्धानात् । "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानी "त्यभिसम्भाव्यमानस्य ब्रह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात् सर्वबन्धविनिर्मुक्तिश्रवणाच्च परं ब्रह्मैव प्राप्यमर्चिरादिना गतस्येति । एतदुक्तं

भवति "स एतान् ब्रह्म गमयती"ति ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वं, प्रमाणान्तरेण कार्यत्वनिश्चये सत्येव हि लाक्षणिकत्वं युक्तम् । नच गत्यनुपपत्तिः प्रमाणं परं ब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि विदुषो विशिष्टदेशगतस्यैव निःशेषविद्यानिवृत्तिः शास्त्रादवगम्यते । यथा विद्योत्पत्तौ वर्णाश्रमादिधर्मापेक्षा विविदिषाश्रुतेः, तथा निःशेषाविद्यानिवृत्तिरूपविद्यानिष्पत्तिरपि विशिष्टदेशगतिसापेक्षेति गतिश्रुतिभ्यो ऽवगम्यते । नच लोकशब्दबहुवचनाभ्यां विशेषणाभ्यां हिरण्यगर्भस्यैव प्रतीतिरिति वाच्यं, निषादस्थपतिन्यायेन ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति कर्मधारयसमासेनाविरोधात् । अथैक्यनिश्चये बहुवचनस्यापि पाशबहुत्ववदुपपत्तेः, "यथादितिपाशान् प्रमोमोक्ते तानि"ति एकस्मिन्पाशे बहुवचनं प्रयुज्यते, तद्वत् । केचित्तु निर्गुणब्रह्मविदो हि गतिर्नोपपद्यते, ब्रह्मणः सर्वगतत्वान्न हि प्राप्तमेव प्राप्यते । किन्तु यः परिच्छिन्नो ग्रामादिः, स गत्वा प्राप्यते । तस्मात्सगुणब्रह्मविद एव सगुणासु विद्यासु गतिः श्रुतिरित्याहुस्तदयुक्तमित्याहुरन्ये ऽसम्भवात् । तथाहि यदि निर्गुणायां गतिरनुपपन्ना तर्हि सगुणास्वपि समानानुपपत्तिः, तत्रापि ब्रह्मैवोपास्यते, तस्यानेकत्वाभावात् । सर्वगतस्य ये गुणास्ते सर्वगता एव, यथाकाशस्य परममहत्त्वं, यस्य हि संसारातिनिवृत्तिहेतवोऽपहतपाप्मत्वादयो गुणाः स परमात्मोच्यते । यस्यैते न सन्ति, स संसारी सत्त्वादिगुणयोगात् । नहि सगुणं ब्रह्मोपास्यमानमब्रह्म भवति, नच निर्गुणं वस्तु विद्यते, न ह्युष्णप्रकाशादिप्रत्याख्याने ऽग्निर्नाम भवति । नापि द्रव्यप्रत्याख्याने गुणो नामास्ति । उभयात्मकं तद्वस्तु "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म आनन्दो ब्रह्मे"ति शतगुणोत्तरक्रमेणानन्दप्रतिपादनात् । यदि चैतन्यमात्रं ब्रह्म,

आनन्दगुणोपदेशो ऽनर्थकः स्यात् । न चाकस्मादर्थवादकल्पना युक्ता । यथा श्रुतार्थग्रहणे किं नामानुपपन्नम् । अस्थूलादिश्रुतिस्तु प्रपञ्चनिवारणपरा । अयं तु "स एको ब्रह्मण आनन्द" इत्य-साधारगुण उत्कर्षापकर्षरहितो व्यपदिष्टो, यदि च श्रुतं नाद्रियते, अपवर्गे ऽप्यर्थवादः किं न स्यादत एव सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सृष्टिकर्तृत्वमित्येते गुणाः परस्यासाधारणाः न केनचित्प्रतिषेद्धुं शक्यन्ते । गुणकृतं कार्यकृतं वा नानात्वं च दर्शितं, तच्चास्माकं न दोषाय, प्रत्युतालङ्कारो भिन्नाभिन्नात्मवस्तूपगमादतः सगु-णब्रह्मविदो ऽपि गतिरनुपपन्ना तद्भावापन्ने नहि प्राप्तमेव प्राप्यते इति त्वदुक्तेनैव हेतुना । तथात्वे गत्यादिश्रुतयः कूपे प्रवेशयितव्याः । किञ्च संसारिणो ऽपि स्वरूपतो गतिर्नोपप-द्यते । तस्यापि लिङ्गशरीरगमनादेव गमनम् । ननु च संसारी जीवो नाम परमात्माभासस्तस्य परिच्छिन्नत्वाद्गतिरुपपद्यते, अत्रोच्यते कोऽयमाभासो नाम किं वस्तुभूतः ? अथावस्तुभूतः ? इति । यदि तावदवस्तुभूतस्तस्य स्वर्गापवर्गयोरधिकाराभावः, शशविषाणवत् । अथ वस्तुभूतस्तत्राणुमध्यमपरिमाणत्वं च भवता नेष्यते । यच्चाणुत्वं तदौपाधिकमित्यभ्युपगतं, तथात्वे च लिङ्गशरीर-स्यैव गतिर्न स्वरूपस्येति गतिश्रुतीनां बाध एव । स्वरूपेण जीवस्य गत्यनुपपत्तेः, शरीरस्यैव फलप्राप्तिप्रसङ्गाच्च । न चास्मा-भिरियं गतिः पठिताः, अपि तु श्रौतमानसिद्धा । नापि सगु-णविद्यायामेव श्रुता, अपितु निर्गुणायामपि । "तद्वैतदि-ष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते ते चन्द्रमसमेव लोकमभिजायन्ते त एव पुनरावर्त्तन्ते तथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजायन्ते एतद्वै प्राणानामायतनम् एतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्ते "इति प्रश्ने

मुण्डके च "सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ती"ति ऐतरेयके च "अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वा ऽमृतः समभवदि" त्यादिश्रवणात् । तथा च श्रुतिमुखेनैव सिद्धा विदुषां गतिरिति । ननु वाजसनेयके "तेषामिह न पुनरावृत्तिरि" ति इहेति विशेषणादिह कल्पे ऽनावृत्तिः कल्पान्तरे त्वावृत्तिः स्यादिति चेन्न, असम्भवात्तथाहि यथा "राजसूये ब्रह्मणो गृहे महिष्या ग्रह" इत्येवमादिना द्वादशाहर्वीषि विहितानि प्रत्येकं कर्त्तव्यानीति "तत्र श्वोभूते निर्वपेदि"त्युक्तं एकस्मिन्कृते पुनरपि श्वोभूते इत्युपतिष्ठते "श्वोभूतवदनुवादादि"ति सूत्रात् । तद्वदत्रापीह कल्पे ऽनावृत्तिः कल्पान्तरे ऽपि बोध्या, आकृतिनिर्देशस्य सर्वकल्पव्यापनात् । अपि चेह युगे ऽवान्तरे कल्पे ऽन्यस्मिन्वेत्यनध्यवसानादाकृतिवादो युक्तः अर्थवादसम्भवात्, ग्रहैकत्ववद्वाक्यभेदात्सदाऽनावृत्तिर्विधीयते युगपत्सर्वकल्पानावृत्तिरेवावतिष्ठते, तत्रास्मिन्नेव कल्पेन कल्पान्तर इत्यपरस्मिन्नर्थे विद्यमाने वाक्यभेदो दुर्निवारः । यथा "ग्रहं सम्मार्ष्टी" ति संमार्गे विधीयमाने सर्वग्रहेषु प्राप्तिः, तत्रैकमिति पुनर्विधीयमाने वाक्यभेदस्तथा प्रकृते ऽपि बोध्यम् । किञ्चाऽमुत्रानावृत्तिर्न विधीयते, तदानीमिहेति पदं किं विशेषणं स्यात् । तस्मादिहपदमनुवादो ऽत एव काण्वानामिहपदं न पठ्यते । तस्मादर्चिरादिना गत्वा परमात्मनि लिङ्गप्रलयो, न प्रागिति गतिश्रुतिसामर्थ्यान्निश्चीयते । "परे ऽव्यये सर्व एकीभवन्ती" 'ति "पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती" ति श्रुतिभ्यः इत्यादिना तदपि न रमणीयं, स्वोक्तिविरोधात् । तन्मते ऽपि न तावद्भेदः स्वाभाविकः, किन्त्वौपाधिक एव मोक्षे भेदानङ्गीकारात्तथात्वे चोपाधेरेव गत्यादिसिद्धिर्न स्वरूपस्य ।

तथैव मोक्षोऽपि विरुद्धः । स च पूर्वमेव विस्तृतः । सिद्धान्ते तु भेदस्यापि स्वाभाविकत्वेनाणुपरिमाणस्य च श्रुतिमानसिद्धत्वेन पारमार्थिकत्वाद्बन्धमोक्षगोरुत्क्रान्तिगत्यागतीनां च सामञ्जस्यं विरोधाभावात् । अपुनरावृत्तिरपि त्रिविधकर्मणो निःशेषनाशेन जन्मकारणाभावादेव । निःकारणमेव पुनरावृत्त्यङ्गीकारे मुक्तस्य पुनः संसारापत्तिस्तथापि समाना । नच तस्यापि कर्मशेषो ऽङ्गीकार्य इति वाच्यम्, प्रमाणाभावात् । " तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना " इत्यर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्तिविधानादित्यलं प्रासङ्गिकेन ॥ १३ ॥

## सू० अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात्तक्रतुश्च ॥४।३।१४ ॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अर्चिरादिगणः प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् परब्रह्मोपासकान् ब्रह्मात्मकतया ऽक्षरस्वरूपोपासकांश्च परं ब्रह्म नयति । कुतः ? उभयथादोषात् । कार्योपासकान्नयतीत्यत्र "अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य "- त्यादिश्रुतिव्याकोपः स्यात् । परोपासीनानेव

नयतीति नियमे तु "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते. तेंऽर्चिषमभिसम्भवन्ती"ति श्रुतिव्याकोपः स्यात्। "तस्माद्यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती" त्यादिश्रुतेस्तत्क्रतुस्तथैव प्राप्नोतीति सिद्धान्तो भगवान् बादरायणो मन्यते ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

एवं पक्षद्वयं दर्शयित्वा स्वसिद्धान्तमाह भगवान्सूत्रकारः —

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथादोषात्तत्क्रतुश्च।

अर्चिरादिक आतिवाहिकगणः अप्रतीकालम्बनान्नयतीति भगवान् बादरायणो मन्यते। ये नामादिकं ब्रह्मदृष्ट्योपासते तद्व्यतिरिक्तान्परं ब्रह्मोपासीनान्प्रकृतिवियुक्तं प्रत्यगात्मस्वरूपं ब्रह्मात्मकतयोपासीनानुभयविधान्नयतीत्यर्थः। ननु कार्य्यं ब्रह्मोपासीनान्नयति, नवा परं ब्रह्मोपासीनानेव नयतीति नियमः। कुतः? उभयथादोषात्। तत्र कार्य्यं ब्रह्मोपासीनान्नयतीति बादरिपक्षे "एष सम्प्रसादोऽस्मा-

ऽच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसन्द्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिश्रुतिविरोधरूपदोष-प्रसङ्गात् । परम्ब्रह्मोपासीनानेव नयतीति जैमिनिपक्षे "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्ती" ति पञ्चाग्निविदामर्चिरादिगतिबोधकश्रुतिविरोधरूप-दोषप्रसङ्गात् । अत उभयविधान्नयतीत्याह—तत्क्रतुश्चेति । "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती" ति "तं यथा-यथोपासते तदेव भवती" त्यादिश्रुतेः पर-ब्रह्मक्रतुः परं ब्रह्म प्रतिपद्यते । परब्रह्मात्मक-तया प्रकृतिवियुक्तप्रत्यगात्मक्रतुस्तादृशस्वस्वरूप-प्राप्तिपूर्वकपरमात्मानं प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं पक्षद्वयं दर्शयित्वा स्वमतेन निर्णयमाह—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ।

"ये नाम ब्रह्मेत्युपासीते"त्यादिश्रुत्युक्तनामादिप्रतीकं ब्रह्म-दृष्ट्योपासते ते प्रतीकालम्बनास्तान्वर्जयित्वा ये परं ब्रह्मोपा-सीना ये च पञ्चाग्निविद्यावन्तः प्रकृतिवियुक्तं प्रत्यगात्मस्वरूपं ब्रह्मात्मकत्वेनोपासीनास्तानुभयविधानमानवः पुरुषः परं ब्रह्म

नयतीति भगवान्बादरायणो मन्यते स्म । कुतः ? उभयथादोषात् । तत्र कार्योपासकान्नयतीति पक्षे " एष सम्प्रसादो ऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते " इत्याद्याः श्रुतयो विरुध्येरन् । परं ब्रह्मोपासीनानेव नयतीति पक्षे " तद्य इत्थं विदुर्ये चेमे ऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते ते ऽर्चिषमभिसम्भवन्ती " ति : पञ्चाग्निविदामप्यर्चिरादिगतिविधायकश्रुतिगणो विरुध्येत, अत उभयस्मिन्पक्षे दोष इत्यर्थः । तस्मादुक्तलक्षणोभयविधान्नयतीत्याह—तत्क्रतुश्चेति । यथोपासीनस्तथैव प्राप्नोति । परमात्मक्रतुः परमात्मानं प्रतिपद्यते, परमात्मात्मकतया प्रकृतिवियुक्तप्रत्यगात्मक्रतुः तादृशस्वस्वरूपप्राप्तिपूर्वकपरमात्मानं प्रतिपद्यते । " यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति तं यथायथोपासते तदेव भवति " इत्यादिश्रुतेः पञ्चाग्निविद्यावतामप्यर्चिरादिगतिविधानादर्चिरादिना गतस्य परब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिविधानाच्च तत्क्रतुन्यायेन प्रकृतिवियुक्तब्रह्मात्मकात्मस्वरूपोपासनं सिद्धं, ननु प्रतीकालम्बनोपासनास्वपि ब्रह्मोपासनस्य सत्त्वात्कथमर्चिरादिगत्यभावः इति चेन्न, तत्र तत्क्रतुविरहात् । नामादिप्राणपर्यन्तप्रतीकोपासनासु प्रतीकस्यैव प्राधान्येन ब्रह्मणस्तु विशेषणत्वान्न तेषां ब्रह्मोपासकत्वमतो नार्चिरादिना गतिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च सम्पद्यते ॥ १४ ॥

## सू० विशेषं च दर्शयति ॥४।३।१५॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

" यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो

भवती "त्यादिका श्रुतिः प्रतीकोपासकस्य गत्यनपेक्षं फलविशेषं च दर्शयति ॥ १५ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजात-सौरभे चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

विशेषं च दर्शयति ।

नामादिप्राणपर्यन्तप्रतीकोपासनेषु परस्य ब्रह्मणः प्रतीकं प्रति विशेषणतया प्रतीकस्यैव प्रधानत्वात्प्रतीकोपासकानां परब्रह्मोपासंकत्वं नास्ति । तस्मात्तेषां नार्चिरादिगतिः परब्रह्म-प्राप्तिश्चास्ति । तेषां भगवती श्रुतिः "यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवती"त्यादिका गत्यनपेक्षं परिमितफलविशेषं च दर्शयति । तस्मादर्चिरादिक आतिवाहिको गणः परब्रह्मो-पासकान्(अपि च)परब्रह्मात्मकतया प्रकृतिवियुक्त-स्वस्वरूपोपासकांश्च परं ब्रह्म गमयतीति सिद्धम्१५॥

इति कार्याधिकरणम् ॥ ५ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयपादः ॥ ३ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

विशेषं च दर्शयति ।

न प्रतीकेषु ब्रह्मोपासनमस्तीत्युक्तं, श्रुतिरपि "यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारो भवति वाग्वाव नाम्नो भूयसी यावद्वाचो गतं तत्रास्य कामचारो भवति" त्यादिका नामादिप्रतीकोपासनस्य गतिनिरपेक्षं परिमितञ्च फलमुपासनतारतम्यञ्च दर्शयति । तस्मात्प्रतीकोपासकभिन्नान्पूर्वोक्तोभयविधानन्विदुषोऽमानवः पुरुषः परं ब्रह्म नयतीति गतिश्रुतिभिस्तेषामेव गतिरपुनरावृत्तिश्च सम्पद्यत इति राद्धान्तः । एवं च "ब्रह्मणा सह ते सर्वे" इति वचनं मार्चिरादिना गतानां गतिप्रकारविषयम्, अर्चिरादिना गतानां देहावसानसमय एव पुण्यापुण्ययोर्नाशात्, चतुर्मुखलोकप्राप्तितद्वासतत्रस्थभोगानुभवहेत्वभावात् तत्क्रतुन्यायविरोधात्तदानीमेव ब्रह्मप्राप्तिश्रुतिविरोधाच्च । तद्वचनं तु पुण्यकर्मविशेषेण सत्यलोकं प्राप्तानां "तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवादि"ति न्यायेन तत्रैव निष्पन्नविद्यानां गतिप्रकार-

विषयं "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले" इति तु वाक्यं ब्रह्मलोकशब्दस्य कर्मधारयसमासेन ब्रह्मविषयमेव, ब्रह्मण्युपास्ये वर्त्तमानाः परान्तकाले चरमदेहावसानसमये परामृतात्परस्माद्ब्रह्मण उपासनप्रीताद्धेतोः परिमुच्यन्ति "सर्वे ऽस्माद्बन्धाद्विमुच्यन्ते" इति "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इति प्रकरणादवगम्यते। येतु दुराग्रहमाश्रित्य सगुणनिर्गुणतया ब्रह्मभेदं वदन्तो निर्गुणब्रह्मविदो गत्यनुपपत्तिं सगुणब्रह्मविदश्च गत्या कार्यब्रह्मप्राप्तिमभ्युपगच्छन्ति, ते उपेक्षणीयाः, बादरिपक्षान्तः पातित्वात्सूत्रकारपक्षविरोधात्, श्रुतिहीनत्वाच्च। नहि ब्रह्मभेदे कार्यब्रह्मप्राप्तौ च श्रुतिरुपलभ्यते इति भावः॥ १५॥

इति कार्याधिकरणम्॥ ५॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-
श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयि श्रीश्री-
केशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभ-
प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्याय-
तृतीयपादविवरणम्॥ ३॥

---

बङ्गदेशस्थ वर्द्धमाननगरनिवासनिरतेन श्रीश्रीमधुसूदनशरणदेवेन पं० किशोरदासद्वारा मुद्रापयित्वा प्राकाश्यं नीतमिदं श्री श्रीनिम्बार्कदर्शनम्।

पूर्वाचार्यसूक्तयः।

त्वय्यणुत्वसुमहत्वभागिनि।
सर्वशक्तिबलयोगशालिनि॥
भक्तिरस्तु मम निश्चला हरे!।
कृष्ण! केशव! महत्तमाश्रये॥ १॥

प्रपन्नपारिजाताय पार्थसारथये नमः।

अथ

चतुर्थोऽध्याये चतुर्थपादारम्भः।

# मू० सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥४।४।१॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

जीवोऽर्चिरादिकेन मार्गेण परं सम्पद्य स्वाभाविकेन रूपेणाविर्भवतीति "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इति वाक्येन प्रतिपाद्यते, स्वेनेति शब्दात् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

पूर्वपादेऽर्चिरादिमार्गः सर्वासु श्रुतिष्वेकः एव। स च विद्वांसं परम्ब्रह्म गमयतीत्युक्तमिदानीं तेन मार्गेण परं ब्रह्मप्राप्तः केन रूपेणाविर्भवतीति विचार्यते —

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्।

छान्दोग्ये प्रजापतिवाक्ये "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुप-

सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिसम्पद्यते" इति श्रूयते, तत्र संशयः। किं परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्यागन्तुकेन खलु केनचिद्रूपेण सम्बन्धोऽनया श्रुत्या प्रतिपाद्यते? आहोस्विद्विद्वान्परं सम्पद्य स्वाभाविकेनैव स्वरूपेणाविर्भवतीति श्रुत्या प्रतिपाद्यते? इति। तत्राभिनिष्पद्यते इत्यस्माच्छब्दात्परं ज्योतिरुपसम्पद्य देवादिवदागन्तुकेन केनचिद्रूपेण सम्पन्नो भवतीति गम्यते, इति प्राप्ते, उच्यते "सम्पद्याविर्भाव इति। प्रत्यगात्मा परं ज्योतिरुपसम्पद्याविर्भावः आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूपो भवतीत्यनया श्रुत्या प्रतिपाद्यते। कुतः? स्वेन शब्दात्। स्वेनेति विशेषणात्। अन्यथा रूपेणेत्यनेनैवागन्तुकरूपपरिग्रहे सिद्धे स्वेनेतिविशेषणस्यानर्थक्यापत्तेः। बद्धावस्थायामावृतस्वरूपः प्रत्यगात्मा ऽर्चिरादिमार्गेन भगवन्तं सम्पद्य निरावर्णेन स्वेन स्वाभाविकेन रूपेणाविर्भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।

एवमुत्क्रान्तिगतिगन्तव्या निर्णीताः। अथेदानीं गन्तव्यं प्राप्तस्य स्वरूपं निर्णीयते। इदं हि छान्दोग्ये प्रजापतिवाक्ये श्रूयते। "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति, तत्र संशय्यते, किं परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य स्वर्गिवदागन्तुकरूपेण सम्बन्धरूपाभिनिष्पत्तिरत्राभिप्रेता ? उत स्वाभाविकस्वरूपाविर्भावरूपेति किं पुनः प्रतिभाति, आगन्तुकरूपेण सम्बन्धरूपेति, अभिनिष्पत्तेरुत्पत्तिपर्यायत्वात् । मोक्षशास्त्रस्य च पुमर्थावबोधित्वात् । सुषुप्त्यादावात्मस्वरूपस्यापुरुषार्थत्वदर्शनात् स्वरूपाविर्भावस्य मोक्षस्वरूपत्वे मोक्षशास्त्रस्यापुरुषार्थविषयत्वापत्तेरतो देवादिवदागन्तुकावस्थान्तरप्राप्तेरेवाभिनिष्पत्तिपदार्थत्वं स्वीकार्यमिति प्राप्ते, ब्रूमः—सम्पद्येति। परं ज्योतिरुपसम्पद्य प्रत्यगात्मा स्वस्वरूपेणैवाविर्भवति, नतु केनचिदागन्तुकेन । कुतः ? स्वेन शब्दात्। स्वेन रूपेणेति विशेषणादन्यथा स्वशब्दोक्तिवैयर्थ्यात्। अभिव्यक्तिरेवात्राभिनिष्पत्तिः ॥ १ ॥

## सू० मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ ४।४।२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

बन्धाद्विमुक्त एवात्र स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते। कुतः ? "य आत्मा अपहत-

पाप्मे "त्युपक्रम्य "एतं त्वेव ते भूयो ऽनुव्याख्यास्यामी "ति प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु स्वाभाविकस्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वाद्बद्धावस्थातो मुक्ताऽवस्थायां को विशेष इत्यतः आह —

मुक्तः प्रतिज्ञानात्

कर्मात्मिकाविद्यावशात्कार्य्यकारणरूपप्रकृतिसम्परिष्वक्तो नानातापसन्तप्तो नानातर्कविमोहितो ऽनादिबद्ध इत्युच्यते । स नित्यप्राप्तमपि निजं रूपं न जानाति । मुमुक्ष्ववस्थायां च शास्त्राचार्य्यानुग्रहाद्ज्ञातस्वरूपो ऽपि कार्यकारणप्रकृतिसंसर्गात्स्वेन रूपेण नाभिनिष्पद्यते । स एवं विद्यामहिम्ना अर्चिरादिमार्गेण परं ज्योतिरुपसम्पन्नः सर्वबन्धविनिर्मुक्तः स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। तदा मुक्त इत्युच्यते इति विशेषोऽस्ति । कुतः ? प्रतिज्ञानात् । "य आत्मा ऽपहतपाप्मे "त्युपक्रम्य " एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामी "ति जागरिताद्यवस्थात्रयतदालय-

शरीरादिनिखिलदोषविनिर्मुक्तस्वरूपप्रतिपादन-विषयकप्रजापतिप्रतिज्ञानात्। असति विशेषे प्रजापतिप्रतिज्ञानस्यानर्थक्यं स्यादिति भावः ॥२॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

ननु स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात्कोऽत्र विशेष इति चेत्तत्राह —

मुक्तः प्रतिज्ञानात्

सर्वबन्धविनिर्मुक्त एवात्र स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते। कुतः? प्रतिज्ञानात् "य आत्मेत्युपक्रम्य "एतं त्वेव ते भूयो ऽनुव्याख्यास्यामी"ति भूयो भूय उक्त्वा "एष सम्प्रसाद" इत्यादि "निष्पद्यते" इत्यन्तं प्रजापतिना ऽभिधानात्। कर्मसंज्ञकाविद्यासङ्कुचितज्ञानादिधर्मकस्य नित्यप्राप्तत्वे ऽपि तद्रूपबन्धविनिर्मुक्तस्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणकदम्बकस्य जाग्रदाद्यवस्थातीतस्य स्वरूपस्याप्राप्तत्वादिह त्वपरिच्छिन्नज्ञानापहतपाप्मत्वादिगुणाश्रयस्य स्वरूपस्याभिनिष्पत्तिरिति विशेषस्य सत्त्वात् ॥ २ ॥

## सू० आत्मा प्रकरणात् ॥ ४।४।३॥

वेदान्तपारिजातसौरभः।

आत्मैवाविर्भूतरूपस्तत्प्रकरणात् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

आत्मा प्रकरणात्।

आत्मा (स्वरूपेणैव) बद्धावस्थायामावृत-

स्वरूपः परं ज्योतिः शब्दवाच्यं परं ब्रह्मोपसम्पद्य स्वरूपेणैवाविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणको निष्पन्नो भवति । न रूपान्तरेणागन्तुकेन खलु केनचिदभिनिष्पद्यते "य आत्मा ऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकाम" इति प्रजापतिवाक्यप्रक्रमात्प्रत्यगात्मप्रकरणादप्ययमर्थोऽवगम्यते । तथैवाह शौनकः "यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः । दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा ॥ यथोदपानखननात्क्रियते न जलान्तरम् । सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः ॥ तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः । प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते" इति । तस्मादर्चिरादिना परम्ब्रह्मोपसम्पद्य स्वाभाविकेनैव रूपेणाभिनिष्पद्यते प्रत्यगात्मेति सिद्धम् ॥ ३ ॥

इति सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

यत्तूक्तं सुषुप्तयादावात्मस्वरूपस्यापुरुषार्थत्वदर्शनादित्यादि स्वीकार्यमित्यन्तं तत्रोत्तरम् —

आत्मा प्रकरणात् ।

स्वरूपेणैवापहतपाप्मत्वादिगुणको ऽयमात्मा नागन्तुक-

धर्मकः । कुतः ? प्रकरणात् " य आत्मा ऽपहतपाप्मे " त्यादिना प्रजापतिविद्यायां श्रवणात् । प्रकरणञ्चेदं जीवात्मविषयमित्युक्तं पुरस्तात् " उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्त्वि " त्यत्र । अतो नोक्तदोषः । सुषुप्तौ तु कर्मणा ऽपहतपाप्मत्वादेस्तिरोभावेनात्मयाथात्म्याप्रकाशादपुरुषार्थत्वम् । तथा चापहतपाप्मत्वादिगुणानां परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्याविर्भावमात्रत्वान्न जन्यत्वादिकल्पनावकाशस्तथा च स्मर्यते शौनकेन । " यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः । दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा ॥१॥ यथोदपानखननात्क्रियते न जलान्तरम् ॥ सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः ॥ २ ॥ तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः । प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते ॥३॥ इत्यादि । तस्माज्ज्ञानानन्दादिगुणानां ब्रह्मापत्तौ कर्मणः प्रतिबन्धकस्य नाशे आविर्भावो ऽविरुद्धः । न च भौतिकज्योतिरेवात्र श्रूयते इति वाच्यं, " तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरि " ति श्रुत्यन्तरे ज्योतिःशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वदर्शनाद्विस्तृतं चैतत् "ज्योतिर्दर्शनादि " त्यत्रेति संक्षेपः ॥ ३ ॥

इति सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

## सू० अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४।४।४॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

मुक्तः परस्मादात्मानं भागाविरोधिना अविभागेनानुभवति । तत्त्वस्य तदानीमपरोक्षतो दृष्टत्वात्, शास्त्रस्याप्येवं दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः।

"परं ज्योतिरुपसम्पद्ये"ति वाक्यात् "सम्पद्याविर्भाव ".इति सूत्राच्च गम्यगन्त्रोर्मोक्षदशायामत्यन्तभेदः प्रतीयते तत्रेदानीमिदमाह —

अविभागेन दृष्टत्वात्।

किमयमाविर्भूतस्वरूपः परं ज्योतिरुप--सम्पन्नः प्रत्यगात्मा परमात्मनो विभागेन स्वात्मानमनुभवति ? उत तदंशतया ततोऽविभागेनेति ? सन्देहे, पूर्वः पक्षः। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति सो ऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता मम साधर्म्यमागता" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां विभागेनानुभवतीति गम्यते, तत्राह — अविभागेनेति। परमात्मनः श्रीपुरुषोत्तमात्सर्वबन्धविनिर्मुक्तः प्रत्यगात्मा स्वात्मानमविभागेनानुभवति। कुतः ? दृष्टत्वात्। तेन मुक्तेन तदानीं सर्वात्मनः परमात्मनो दृष्टत्वात्। अज्ञानवशादन्यथा सतो ऽन्यथा प्रत्ययो जायते यदा श्रवणमननध्यानाभ्यासवशात्परमात्मा दृष्टो भवति, तदैव स्वात्मपरमात्मस्वरूपयाथात्म्यज्ञानप्रतिबन्धाः सर्वे विनश्यन्ति "भिद्यते

हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते । चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावर" इति श्रुतेः । किं पुनर्मुक्तः सर्वात्मानं स्वांशिनं दृष्ट्वा स्वात्मानमंशभूतं ततो ऽविभागेनानुभवतीति वक्तव्यम् । तस्मात्तदात्मकस्य प्रत्यगात्मनो हि विभागाभावात् । स्वरूपतः स्वाभाविके विभागेऽपि तत्सहिष्णुर्गुण्यादिभ्यो गुणादेरिव ब्रह्मतो जीवस्य स्वाभाविको ऽविभागो ज्ञेयः । अयं ब्रह्मणा सह जीवस्य सम्बन्धो बहुशः प्रागुपपादितः, श्रुतिस्मृतिसमुदायश्च तत्र तत्रोदाहृत एव । स्वरूपाऽविभागस्तु नेष्टः, अन्यथा "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म वासुदेवः सर्वमिति सर्वं कृष्णः स्थावरं जङ्गमं च विश्वात्मानं विश्वमेतं प्रतीही"त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः स्वरूपाऽविभागो ऽचेतनवर्गस्यापि स्यात् । शास्त्रस्य विभागाविभागपरत्वेन दृष्टत्वादिति वा । तस्मान्मुक्तः परस्मादात्मानं विभागसहिष्णुना ऽविभागेनानुभवतीति सिद्धम्॥४॥

इति अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् ॥२॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अविभागेन दृष्टत्वात् ।

अथ स्वस्वरूपाभिनिष्पन्नो मुक्तः प्रत्यगात्मा किं परब्रह्मणो विभागेन स्वात्मानमनुभवति? उताविभागेनेति? विचिकित्सायां "परमं साम्यमुपैति सो ऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता मम साधर्म्यमागता" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यो मुक्तस्य परमात्मना साम्यसाहित्यादिदर्शनाद्विभक्तमनुभवतीति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसि एष सर्वभूतान्तरात्मा अयमात्मा ब्रह्मे"त्यादिश्रुतिभ्यो ऽविभागेन ब्रह्मात्मकतया ब्रह्मापृथक्सिद्धमात्मानमनुभवति। कुतः? दृष्टत्वात्। आत्मेति तूपगच्छन्ती" त्युक्तन्यायेन स्वात्मनो ऽप्यात्मतया "अहं ब्रह्मास्मी"त्युपासनेन यथावस्थितस्य ब्रह्मात्मकस्य स्वस्वरूपस्य दृष्टत्वात्। नच तथात्वे ऽत्यन्ताभेद एव सिद्ध इति वाच्यं, ब्रह्मात्मीयस्य तदात्मकत्वतदपृथक्त्वाद्यनुभवितृरूपस्यापि सत्त्वात् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि" त्यादिघटकश्रुत्योभयत्वस्य सूपपन्नत्वात् ॥ ४ ॥

इति अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

## सू० ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।४।४।५॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

अपहतपाप्मत्वादिब्राह्मेण गुणेन युक्तः

प्रत्यगात्मा ऽऽविर्भवतीति जैमिनिर्मन्यते । दहर-वाक्ये ब्रह्मसम्बन्धितया श्रुतानामपहतपाप्म-त्वादीनां प्रजापति वाक्ये प्रत्यगात्मसम्बन्धितया-ऽप्युपन्यासादिना लक्षणादिभ्यश्च ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

पूर्वत्र परं ब्रह्म सम्पद्य स्वेन रूपेणावि-र्भवतीत्युक्तमिदानीं तद्रूपं कीदृशमिति विचा-र्यते —

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।

किमयं प्रत्यगात्मा ऽपहतपाप्मत्वादिगुण-युक्तेन स्वेन रूपेणाविर्भवति ? उत चिन्मात्रेण रूपेणाहोस्विदुभयश्रुत्यनुसारिणा रूपेणेति ? सन्देहे, ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धितयाम्नातेनापहतपाप्म-त्वादिगुणजातेन युक्तो मुक्त आविर्भवति । कुतः ? उपन्यासादिभ्यः ? अपहतपाप्मत्वा-दयो गुणा ब्रह्मसम्बन्धित्वेन दहरविद्यायां श्रुता-स्तेषां प्रत्यगात्मसम्बन्धित्वेन "य आत्मा ऽप-हतपाप्मे"त्यादिना प्रजापतिवाक्ये ऽप्युप-न्यासः । आदिशब्देन लक्षणादयः सर्वज्ञत्वा-

दयश्च गृह्यन्ते, तेभ्यः इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।

प्रत्यगात्मा परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वाभाविकेन स्वस्वरूपेणाविर्भवतीत्युक्तं, तत्र कीदृशं तत्स्वरूपमितीदानीं चिन्त्यते । किमपहतपाप्मत्वादिगुणकमेवास्य स्वाभाविकं स्वरूपम्? उत चैतन्यमात्रम्? अथोभयरूपम्? इति संशये, प्रथमं तावत् प्राप्तमपहतपाप्मत्वादिगुणकमित्याह—ब्राह्मेणेति। ब्राह्मेणापहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पत्वावसानेन गुणेन विशिष्टः सन्नयमाविर्भवतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते स्म। अपहतपाप्मत्वादयो हि दहरवाक्ये ब्रह्मगुणाः उक्तास्तेषां प्रजापतिवाक्ये प्रत्यगात्मन्यपि "य आत्मा ऽपहतपाप्मे"त्यादिनोपन्यासात् । आदिना "जक्षन् क्रीडन् रममाणः" इत्यादिश्रुत्युक्ताः जक्षणादयः सर्वज्ञत्वादयश्च गृह्यन्ते । अपहतपाप्मत्वादिसर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वादिरूपब्राह्मधर्मसम्पन्नचैतन्यस्वरूपाविर्भावो मोक्ष इति जैमिनेर्मतम् ॥ ५ ॥

## सू० चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।४।४।६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

ब्रह्मणि चिद्रूपे उपसन्नः प्रत्यगात्मा

चिन्मात्रेण रूपेणाविर्भवति। "प्रज्ञानघन एवे"ति तस्य तदात्मकत्वश्रवणादित्यौडुलोमिर्मन्यते ॥६॥

वेदान्तकौस्तुभः।

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः।

चिति चिद्रूपे ब्रह्मण्युपसन्नः प्रत्यगात्मा तन्मात्रेण चिन्मात्रेण रूपेणार्विभवति। कुतः? प्रत्यगात्मनः तदात्मकत्वात्। चिदात्मकत्वात्। विज्ञानमात्रत्वात् "यथा सैन्धवघनो ऽनन्तरो बाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरे! अयमात्मा ऽनन्तरो बाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन-एवे"ति श्रुतिर्विज्ञानमात्रत्वमेवकारेणगुणान्तर-रहितत्वं चात्मनो दर्शयति। अपहतपाप्मत्वादि-वाक्यं तु विकारादिव्यावृत्तिपरमित्यौडुलोमि-र्मन्यते ॥ ६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा।

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः।

चिति चिद्रूपे ब्रह्मण्युपसन्नो मुक्तस्तन्मात्रेण चैतन्यमात्रेण स्वरूपेणाविर्भवतीत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते स्म। कुतः? तदात्मकत्वात्। "स यथा सैन्धवघनो ऽनन्तरो ब्राह्यः कृत्स्नो रस-घन एव एवं वा अरे! अयमात्मा ऽनन्तरो बाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे"त्यादि सावधारणश्रुत्या तावन्मात्रात्मकत्वाद्विज्ञान-

मात्रस्वरूपत्वादस्य प्रत्यगात्मनः अपहतपाप्मादिशब्दास्त्व-विद्यात्मकविकारसुखदुःखादिधर्मेभ्यस्तस्य व्यावृत्तिपराः कथश्चित्तत्रैव नेयाः। "अनश्वाद्व्यावृत्तोऽश्व" इत्यादिवदपहतपाप्माऽनपहतपाप्मतो व्यावृत्तो मुक्तजीव इत्यर्थः, चैतन्यमात्रस्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्मोक्ष इत्यौडुलोमेर्मतम् ॥ ६ ॥

## सू०एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः॥४।४।७॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

विज्ञानमात्रस्वरूपत्वप्रतिपादने सत्यपि अपहतपाप्मत्वादिमद्विज्ञानस्वस्वरूपाविर्भावादविरोधं भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः? मुक्तजीवसम्बन्धितया अपहतपाप्मत्वाद्युपन्यासात् ॥ ७ ॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

अथोभयश्रुत्यविरुद्धं स्वमतमाह भगवान्वेदाचार्य्यः —

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः।

एवमपि चिन्मात्रत्वप्रतिपादने सत्यपि

पूर्वभावात् पूर्वोक्तादपहतपाप्मत्वादिगुणसम्पन्न-विज्ञानस्वरूपप्रत्यगात्माविर्भावात् अविरोधम् मोक्षस्वरूपं भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः ? उपन्यासात् । प्रजापतिवाक्ये ब्राह्मस्यापहतपाप्म-त्वादेर्मुक्तजीवसम्बन्धितयोपन्यासात् । "विज्ञान-घन एव "त्यत्रापहतपाप्मत्वादीनामेवकारेण व्या-वृत्तिः कर्त्तुमशक्या । तेषां "य आत्मा ऽपहतपाप्मे" त्यादिश्रुतिसिद्धत्वात् । एवकारस्य जडत्वव्यावृ-त्तिपरत्वाच्च । यथा "रसघन एवे"त्यत्रैवकारेण रूप-स्पर्शादीनां व्यावृत्तिर्न कर्तुं शक्या, प्रमाणा-न्तरेण तदुपलब्धेः, एवकारस्य द्रव्यान्तरव्या-वृत्तिपरत्वाच्च निःसम्बोधमुक्तस्वरूपवाद्यौडुलोमि-पक्षो नादर्त्तव्य इत्यभिप्रायः । एतेन निर्बोध-मुक्तस्वरूपवादिनो ऽन्ये ऽपि तार्किकादयः प्रत्युक्ताः । तस्मात्परं ज्योतिरुपसम्पद्योभयश्रुत्य-विरुद्धेनापहतपाप्मत्वादिगुणयुक्तेन स्वाभाविकेन स्वेन स्वरूपेण प्रत्यगात्मा ऽऽविर्भवतीति सिद्धम् ॥ ७ ॥ इति ब्राह्माधिकरणम् ॥ ३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ सूत्रकारः स्वमतमाह —

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः।

एवमपि चैतन्यमात्रस्वरूपत्वनिरूपणे सत्यपि पूर्वभावात्पूर्वोक्तब्रह्मभावादपहतपाप्मत्वादिसम्पन्नविज्ञानस्वरूपाविर्भावादविरोधं मोक्षस्वरूपं भगवान्बादरायणो मन्यते। कुतः? उपन्यासात्। प्रजापतिवाक्ये अपहतपाप्मत्वादीनामपि विज्ञानघनस्वरूप एव मुक्तजीवे उपन्यासात्प्रतिपादनात्। नच विज्ञानघन एवेत्यवधारणं गुणान्तरं न सहते, यथा सैन्धवघनस्य रसघन एवेत्यवधारणं रसाश्रयद्रव्यं रूपस्पर्शादिगुणान्तरं सहते। "रसघन एवे"त्यवधारणप्रयोजनं तु रसवत् द्रव्यान्तरस्वभावव्यावृत्तिः द्रव्यान्तरेषु ह्याम्रादिफलेषु त्वगादिप्रदेशभेदाद्रसभेदः। सैन्धवघनस्तु सर्वत्रैकरसः। एवमत्रापि जडवस्तुव्यावृत्त्या सर्वत्र स्वप्रकाशोऽयमात्मेति स्वप्रकाशताऽवधारणं क्रियते। विज्ञानघन एवेति अपहतपाप्मत्वादिसम्पन्नविज्ञानघनीभूतस्वस्वरूपाविर्भावपूर्वकत्वे सति श्रीभगवत्स्वरूपगुणादिविषयकानवच्छिन्नानुभूत्या स्थितिर्मोक्ष इति श्रीसूत्रकारसिद्धान्तः। एवं च न केनापि वाक्येन विरोधः। तथाहि "परं ज्योतिरुपसम्पद्य" ति वाक्यं यावदात्मवृत्त्यनवच्छिन्नब्रह्मानुभवितृत्वं ब्रह्मभावपदार्थं वदति। परंज्योतिःशब्दाभिधेयं परब्रह्मभूतं श्रीपुरुषोत्तममुपसम्पद्य साक्षात्स्वात्मत्वेनानुभूय, स्वेन रूपेण तत्स्वरूपगुणादिविषयकानवच्छिन्नानुभवितृत्वरूपेण तदात्मकतया ऽवतिष्ठते इति श्रुत्यर्थः। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"त्यत्र परमं साम्यं भावपदेनाभिधीयते; परमं साम्यं च स्वरूपेण गुणादिना च सादृश्यम्। तथा च ज्ञानस्वरूपत्वात्स्वरूपसादृश्यम्, अपरिच्छिन्नज्ञानधर्मकत्वाद्गुणसादृश्यं च, तत्त्वं नाम तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं, नियन्तृत्वस्वातन्त्र्यवत्त्वाभावेन ब्रह्म-

भिन्नत्वे सति सार्वज्ञ्याद्यपहतपाप्मत्वादि भूयो ब्रह्मगतधर्मवत्त्वा-ल्लक्षणसमन्वयः । " सर्वं हि पश्यः पश्यती "ति सार्वज्ञ्य-श्रुतेः । नच " स्वराड् भवती " ति श्रुतिविरोध इति वाच्यं, स्वाराज्यसाम्यस्य ब्रह्मादिवन्दनीयत्वस्य तत्र सत्त्वात् । नापि " नारायणे सायुज्यमाप्नोती " ति श्रुतिविरोध इति वाच्यं, तस्या अपि त्वदभिप्रेतार्थपरत्वाभावात् । सह युज्यत इति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यं नित्यसम्बन्ध इत्यर्थः । भगवता नित्य-सम्बन्धोऽत्र भावपदार्थः । न चैक्यमेव तदर्थ इति वाच्यम्, सा-युज्यस्य शक्यार्थाभावात् । ननु "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैती"ति श्रुतिविरोध इति चेन्न, तत्रापि भेदस्य सत्त्वात् । नहि जले निक्षिप्तं जलान्तरं स्वरूपैक्यं भजते । किन्तु नित्ययोगमेव, सावयवद्रव्यत्वात् । नद्यादीनां प्रावृषादिऋतुविशेषे वृद्धिह्रास-दर्शनात् । नच समुद्रे वृद्धिह्रासादर्शनादेकमेवेति वाच्यम्, सावयवद्रव्यत्वेन नदीदृष्टान्तेन च तत्राप्यनुमातुं शक्यत्वात् । तत्तरङ्गेषु भेददर्शनाच्च । "यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति, एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमे "ति श्रुत्यन्त-रेण सादृश्यस्यैव लाभाच्च । श्रुत्यर्थस्तु तत्त्वप्रकाशिकायां विस्तृतस्तत्रैव द्रष्टव्यः । नच " ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवती "ति सावधारणश्रुतिविरोध इति वाच्यं, बृहज्ज्ञानगुणयोगेन तस्मा-यास्तत्रापि सुवचत्वात् । अन्यथा "ब्रह्मविदाप्नोति परमि "ति कर्मकर्तृबोधकश्रुतिबाधस्य तथापि साम्यात् । ननु " ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! " इत्यादिवाक्येऽन्तःप्रवेशो-क्तेरन्तःप्रविष्टस्य भेदानुपलब्धेरभेदसिद्धिरिति चेन्न, श्रीभगवतो विश्वरूपविग्रह एव प्रवेशस्य विवक्षितत्वात् । भिन्नस्यैव प्रवेश-

घटनाच्च "तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् । मम देहे गुडाकेशे "ति श्रीमुखोक्तेः "पश्यामि देवांस्तव देव ! देहे " इति श्रोतुरर्जुनस्यानुभवपूर्वकोक्तेश्च । अयमभिप्रायः, प्रवेशो नाम स्वस्य चेतनाचेतनात्मकविश्वस्य च ब्रह्मात्मकत्वात् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि "ति श्रुतेस्तत्तादात्म्यानुभवपूर्वकं विश्वरूपे भगवति तच्छक्त्यात्मना ऽवस्थानं, विश्वरूपस्य ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य जगदाधारत्वात्सर्वं जगत्सर्वदैव तत्रावतिष्ठते । परापरात्मकशक्तिरूपत्वाद्विश्वस्येति निर्विवादः । "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतामि "ति श्रीमुखोक्तेः । तथैव सर्वाधिकारिकाणामधिकाररूपाः शक्तयो ऽपि तस्यैवैकान्ततया तत्रैव तासामवस्थानात्सृष्टिसमये तत्तदधिकारयोग्यतापन्नान् पुण्यात्मनो ब्रह्मरुद्रादिपदव्यारोहणार्हान् जीवविशेषान् तत्तद्बौतिकैकदेशकार्यरूपजगत्सर्जनसंहरणादियोग्याभिः स्वासाधारणशक्तिभिर्युनक्ति । प्रलयसमये च तान्विश्वाधिकारिणो ब्रह्मादींस्ताभिर्वियुनक्ति । परन्तु तासां शक्तीनां स्वाभाविकत्वनित्यत्वादिभिस्तत्र नित्यावस्थानात् स्थितिरव्यभिचारिणी । तथा चोक्तं विष्णुधर्मे "ब्रह्माशम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः । एवमाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा । जगत्कार्यावसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसे" त्यादिना । तथैव मुक्तानामपि विश्वरूपे भगवति तदात्मकत्वस्वरूपाविर्भावपूर्वकं तच्छाश्वत्यनुभूत्या ऽवस्थानमप्यविरुद्धं, तच्छक्तित्वाविशेषादिति वेदान्तरत्नमञ्जूषायां श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणैस्तथैवोक्तत्वात् । "सर्वः श्रीभगवद्गीतैकादशाध्यायो ऽत्र प्रमाणत्वेनानुसन्धेय इति तत्सिद्धं मोक्षावस्थायामपि ( स्वरूपभेदावस्थायामपि )स्वरूपभेदावस्थानं, भेदज्ञानादपि मोक्षश्रवणात् । " जुष्टं यदा

पश्यत्यन्यमीशं तन्महिमानमिति वीतशोकः पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेती" त्यादिभिः । तथैवोक्तं सिद्धान्तसेतुकायां श्रीसुन्दरभट्टपादैः "श्रीभगवदनवच्छिन्नानुभूत्या स्थितिभगवत्प्राप्तिः, सैव भगवद्भावापत्तिरिति । तथा चाह पराशरः "निरस्तातिशयाल्हादसुखभावैकलक्षणा । भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तकी मते" ति भगवत्प्राप्तिर्भेषजं संसाररोगस्येति योजना । तामेव विशिनष्टि–निरस्तेति । निरस्तोऽतिशयाल्हादो यस्मात्तथाभूतेन सुखेन भावो भवनमवस्थानमेकमसाधारणं लक्षणं यस्याः सा कालादिपरिच्छेदरूपव्यभिचारशून्यत्वं दर्शयन्नाह—एकान्ताऽत्यन्तिकीति । एकान्ता केवलभगवच्छब्दवाच्यैकविषयका ऽत एवात्यन्तिकी निरतिशयेति यावत् । तत्र शास्त्रं प्रमाणयति । मतेति । शास्त्रमुखेनेति शेष इति संक्षेपः । केचित्तु प्रतिबिम्बो जीवः बिम्बस्थानीयो हीश्वरः, उभयानुस्यूतं शुद्धं चैतन्यमिति मुक्तस्य यावत्सर्वमुक्तिसर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वसर्वेश्वरत्वसत्यकामत्वादिगुणगणाढ्येश्वरभावापत्तिरिष्यते । यथा ऽनेकेषु दर्पणेष्वेकस्य मुखस्य प्रतिबिम्बे सत्येकस्य प्रतिबिम्बस्योपाधिविलये बिम्बभावापत्तिस्तथैकस्मिन्प्रतिबिम्बे विद्योदयेन तदुपाधिविलये तत्प्रतिबिम्बस्य बिम्बभावेनावस्थानस्यावश्यम्भावात् । नच मुक्तस्याविद्याभावात्सत्यकामत्वादिगुणविशिष्टसर्वेश्वरत्वानुपपत्तिरिति वाच्यं, तदविद्याभावे ऽपि तदानीं बद्धपुरुषान्तराविद्यायाः सत्त्वात् । नहीश्वरस्येश्वरत्वं सार्वज्ञ्यादिगुणवैशिष्ट्यं च स्वाविद्याकृतं, तस्य निर्गुणनिरञ्जनत्वात् । किन्तु बद्धपुरुषाविद्याकृतमेवेति राद्धान्तः । सूत्रकारो ऽपि "एवमप्युपन्यासादि"ति सिद्धान्तसूत्रेण वस्तुदृष्ट्या चैतन्यमात्रत्वे ऽपि पूर्वोक्तगुणकलाप-

स्योपन्यासाद्यवगतस्य मायामयस्य बद्धपुरुषव्यवहार--दृष्ट्या सम्भवान्न, श्रुतिद्वयविरोध इत्यविरोधं वदन्नुत्त[illegible]न्तमेव मेने। भाष्यकारश्च सूत्रत्रयमुक्तार्थपर[illegible]रभावापत्तिं स्पष्टमनुमेने। भामतीप्रबन्ध[illegible]हितमिदं सूत्रजातं भगवतो भाष्यकारस्योदाहृतं वचनजातञ्च तथैवानुवर्त्तते। तस्मान्मुक्तानामीश्वरभावापत्तेरवश्याभ्युपेयत्वाद-सम्भव एव प्रतिबिम्बेश्वरवादे दोषः—तदाहुः कल्पतरु-काराः, "न माया प्रतिबिम्बस्य विमुक्तैरुपसृप्यते" इत्याहुस्तत्तुच्छ-मसम्भवात्। तथाहि न तावत्परेशजीवयोर्बिम्बप्रतिबिम्ब-भावः सम्भवति, पूर्वमेव निरस्तत्वात्। नापि मुक्तस्य याव-त्सर्वमुक्तिसार्वज्ञ्यादिसम्पन्नेश्वरभावेनावस्थानं पूनर्भावान्तराप-त्तिरिति वक्तुं शक्यते, अनुपपन्नत्वात्, तथाहि मुक्तस्येश्वरभा-वापत्तिः स्वरूपेण विवक्षिता? सार्वज्ञ्यादिधर्मेण वा? नाद्यः, स्वरूपनाशापत्तेः। "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति श्रुत्या स्वरू-पापत्तेरेव विधानात्, नतु स्वरूपनाशस्य। एतदुक्तं भवति, ईश्वर-भावापत्तिः किं जले निक्षिप्तजलवदेकीभावेन पृथग्ग्रहणयो-ग्यत्वमात्रं वा? जीवस्वरूपबाधो वा? आद्ये, इष्टापत्तिस्त्वा-भिप्रेताद्वैतभङ्गश्च। अन्त्ये, स्वरूपनाशापत्तिरिति। किञ्च बिम्ब-प्रतिबिम्बरूपौ ईशजीवौ वस्तुरूपौ? मिथ्याऽनिर्वचनीयौ वा? शशशृङ्गवत्तुच्छौ वा? नाद्यः, परपक्षप्रवेशात्। नापि द्वितीयः, बन्धमोक्षादिप्रतिपादनस्य वैयर्थ्यात्। वस्तुभूताद्वितीयनिर्विशे-षस्य बन्धानर्हत्वेन बद्धस्य चावस्तुत्वेन को बद्धो मुक्तश्चेति प्रश्नस्य निरुत्तरत्वात्। अत एव न तृतीयः, "[illegible]ति वक्तृशास्त्रप्रणयनादौ वाक्यमूकत्वापत्तेः। नापि सार्व[illegible]णेति द्वितीयः, विकल्पासहत्वात्। को वाऽत्र भावपदार्थः?

सार्वज्ञ्यकलापाश्रयत्वं वा? सार्वज्ञ्याद्याश्रयत्वं वा? नाद्यः, अनङ्गीकारादपसिद्धान्तापत्तेः। परपक्षप्रवेशाच्च। नान्त्यः, प्रमाणाभावादसम्भवाच्चान्यथा ऽनेकेश्वरत्वापत्तेः। किञ्च नहि भगवदीयैश्वर्येस्य मायामयत्वे पुनर्निवृत्तौ च मानमस्ति। यतस्तन्निवृत्त्या पुनर्भावान्तरापत्तिः सुवचा स्यात्। न च "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरि"ति श्रुतिरेवात्र मानमिति वाच्यं, तस्याः परमेश्वरभावापत्तिरूपमोक्षप्रतिबन्धकीभूतविश्वमायानिवृत्तिविधानपरत्वात्। "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति श्रीमुखोक्तेः। एताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां भगवदनुग्रहसहकृतसाधनपरिपाकेन जीवानामेव भगवन्मायातरणं प्रतिपाद्यते, तत्रैव तयोः प्रामाण्यञ्च सूपपन्नम्, नतु भगवतः स्वाभाविकनित्यसार्वज्ञ्यादिनिवृत्तौ। तथात्वे ऽनाप्तत्वप्रसङ्गात्। एतेन यदुक्तं परमेश्वरस्यैश्वर्यं सार्वज्ञ्यादिसत्यसङ्कल्पत्वादिवैशिष्ट्यं च बद्धजीवाविद्याकल्पितं न स्वाभाविकं, तस्य निर्विशेषत्वात्। नत्वीश्वराविद्याकृतं तस्य निरञ्जनत्वात् इति, तदपि निरस्तं, स्वबुद्धिपरिकल्पितत्वेन प्रमाणशून्यत्वात्। प्रत्युत तत्प्रत्यनीकस्वाभाविकत्वश्रवणात् "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी"ति। यदप्युक्तं सिद्धान्तसूत्रस्य वस्तुदृष्ट्या चिन्मात्रत्वे ऽपि पूर्वोक्तगुणकलापस्योपन्यासाद्यवगतस्य मायामपश्येत्यादिना विवक्षितार्थपरत्वं, तदपि स्वकपोलकल्पितं, सूत्रार्थस्य पूर्वमेवोक्तत्वात्। किन्तु यदि चैतन्यमात्रापत्तिरेव मोक्षस्वरूपमभिप्रेतं, तर्ह्यौडुलोमिपक्षानुगामित्वमेव भवतां प्रेष्ठं, किं पुनः सूत्रकारसिद्धान्तेन। सूत्रकृद्भिः कुत्रापि पारमेश्वरीयैश्वर्यादिधर्माणां मायिकत्वानभिधानादपि तु "विवक्षितगुणोपपत्तेश्च, सर्वधर्मोपपत्तेश्चे"त्यादिसूत्रैरुपपन्नतयाऽत्यादरेणाभ्युप-

गमात् । नापि तस्य त्वदभिप्रेतनिर्विशेषत्वयोगः, ईशत्वनिर्विशेषत्वयोः सामानाधिकरण्यासम्भवात् । अन्यथा सर्वप्रमाणाविषयत्वेन शशशृङ्गसाम्यापत्तेः । प्रमाणविषयत्वे च सविशेषत्वस्यावश्यम्भावित्वाच्चेति संक्षेपः ।

एकविंशतिप्रकारकदुःखध्वंसो मोक्ष इति गौतमीयानामभ्युपगमः । तथाहि तदत्यन्तविमोक्षो ऽपवर्ग इति अत्र तच्छब्देन सूत्रोपात्तानामेकविंशति प्रकारदुःखानां परामर्शः । तानि च शरीरं षडिन्द्रियवर्गः षड्विषयाः *षड्बुद्धयः, सुखं, दुःखं, चेति । आत्यन्तिकत्वं च ×स्वसमानाधिकरणदुःखतत्प्रागभावासमानकालिकत्वम्, इदानीमस्मदीयदुःखध्वंसस्य सुषुप्तिकाले दुःखासमानकालिकत्वसत्त्वात्प्रागभावेति उपान्त्यदुःखध्वंसस्य तत्प्रागभावासमानकालिकत्वाद्दुःखेति । तत्र शरीरेन्द्रियविषयबुद्धीनां दुःखसाधनत्वाद्दुःखत्वं, दुःखस्य स्वरूपतः पूर्वापरदुःखसम्बलितत्वात्सुखस्यापि दुःखत्वमिति । दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग॰" १।१।२। इति सूत्रादिति । तन्न, तस्य पुरुषार्थत्वाभावात् । पुरुषव्यापारासाध्यत्वात् । +अतीतस्य स्वविरोधिगुणान्तरनाश्यत्वात् । आगामिनः स्वकारणनाशेन नाश्यत्वात् । वर्त्तमानस्य स्वोत्पन्नगुणनाश्यत्वात् । किञ्च नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्न दुखप्रहाणिमात्रं, नैतावन्मात्रमुद्दिश्य प्रवृत्तिः सम्भवति, प्रवृत्तिसामान्यं ·प्रतीष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वात् । नन्वनि

---

* श्रावणाद्याः ।  × स्वं दुःखध्वंसः ।

॰ तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये आत्यान्तिको ऽपवर्गः ।

\+ अतीतस्य दुःखस्य ।

ष्टाभावसाधनताज्ञानमपि प्रवर्त्तकमिति चेन्न, अनिष्टाभावस्यापीष्टसिद्धावेव विनियोगात् । कण्टकविद्धपादस्य कण्टकापनयने प्रवृत्तिर्न केवलं कण्टकाभावोद्देशेन । किन्तु यथेष्टप्रचाररूपेष्टसिद्ध्यर्थैति प्रसिद्धम । तस्मान्मुक्तौ नित्यसुखानुभवो ऽव्यकामेन त्वया ऽभ्युपगन्तव्य इति दिक् ।

अथ दुःखनिवृत्तिमात्रं मोक्षः, आनन्दादिशब्दाश्च दुःखाभावमात्रावलम्बिनो यदि च सुखरागेणवर्त्तेत ततो बन्ध एव स्यात्, रागस्य बन्धहेतुत्वात् । देहेन्द्रियमनसां निवृत्तौ विज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावान्मुक्तो निःसंज्ञपाषाणकल्पो ऽवतिष्ठते, इति वैशेषिका आहुस्तत्तुच्छमसम्भवात् । तथाहि यदुक्तं रागो बन्धहेतुरिति तदयुक्तं, शास्त्रदयं विभागो गम्यते । यथा स्वदारगमनं धर्माय, परदारगमनं चाधर्माय, तथाविधविषयको रागो बन्धहेतुः । निरतिशयानन्दपरब्रह्मविषयकश्च रागो मोक्षहेतुः । नाप्यानन्दादिशब्दो दुःखाभाववचनः, शतगुणोत्तरक्रमेणोत्कर्षापकर्षौ प्रतिपाद्य निरतिशयस्य ब्रह्मानन्दस्योपदेशात् । " यतो वाचो निवर्त्तन्ते ऽप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्च ने "तिमन्त्रात् । नहि निरूपाख्यस्याभावस्योत्कर्षापकर्षौ सम्भवतः । लोके ऽपि दुःखतारतम्यं सुखतारतम्यञ्च परस्परविलक्षणं प्रत्यक्षेणानुभूयते । किञ्च यदि पाषाणकल्प एव मोक्षो ऽभीष्टस्तर्हि पाषाणादीनामेव मुक्तत्वमभ्युपगन्तव्यं देवानां प्रियैस्तर्कनिपुणैः, किं॰ कल्पशब्दप्रयोगप्रयासेनेति संक्षेपः ।

साङ्ख्यास्तु चैतन्यस्वभाव आत्मा तस्य द्रष्टुः स्वरूपे चैतन्यमात्रे ऽवस्थानमसम्प्रज्ञातयोगनिष्पत्तौ मोक्ष इति मन्यन्ते, तच्चिन्त्यं ब्रह्मानन्दाभावे निरतिशयानन्दापत्त्यभावात् ।

पातञ्जलास्तु असतो ब्रह्मभावस्य योगानुष्ठानाज्जन्ममोक्ष इत्याहुस्त-

दपि चिन्त्यं, असतो जन्मायोगात्, शशशृङ्गादावतिव्याप्तेश्च "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येती "ति श्रुतिविरोधाच्च । पञ्चक्लेशादिध्वंसश्चास्मत्पक्षेऽपि समान एवेत्यलं प्रासङ्गिकेन ।

तस्मात्पूर्वोक्तलक्षणो भगवद्भावापत्तिरेव मोक्ष इति सिद्धम् । स च मोक्षो भगवदनुग्रहैकलभ्यतत्साक्षात्कारैकलभ्यः । साक्षात्कारश्च प्राप्तध्रुवास्मृतीनां भुक्तप्रारब्धकर्मणामेव । " यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णमि "त्यादिश्रुतिभ्यः । तस्मिन्निति सर्ववेदान्तप्रसिद्धे ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे दृष्टे साक्षादनुभूते सति हृदयग्रन्थिः अनादिकर्मनिरूपितमायासम्बन्धः " कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मस्वि "ति श्रीमुखोक्तेर्भिद्यते ध्वंसमापद्यते स्वयमेवेति कर्मकर्तृप्रयोगः साधनान्तरनिरपेक्षत्वसौकार्यद्योतनार्थः सूर्यप्रकाशे तमोवत् तत्कार्यभूताः सर्वसंशयाः आत्मपरमात्मसाधनफलसम्बन्धादिविषयकाः स्वयमेव छिद्यन्ते " स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्र मोक्ष "इतिश्रुत्यन्तरात् । तत्र हेतुमाह—क्षीयन्ते चास्येति । अस्य भगवत्प्रसादैकविषयस्य चरमजन्मनो विदुषः साक्षाद्द्रष्टुः सञ्चितक्रियमाणप्रारब्धाख्यानि सर्वकर्माणि पुण्यापुण्यरूपाणि क्षीयन्ते । क्षयमापद्यन्ते । परमेश्वरं विशिनष्टि—परावरे इति । लोकदृष्ट्या मनुष्यादिभ्यः परे उत्कृष्टा ब्रह्मरुद्रादयः अवरे निकृष्टा यस्मात् तस्मिन्नित्यर्थः । ननु कर्माणीत्यत्र कर्मपदं प्रारब्धेतरद्विविधकर्मपरमेव, नच बहुवचनविरोध इति वाच्यम्, एकैकस्यापि सञ्चितादिकर्मणोऽसङ्ख्यत्वात् अन्यथा साक्षात्कारसमय एव विदुषो देहपातप्रसङ्गात्, जीवन्मुक्त्यभावप्रसङ्गाच्चेति चेन्न, इष्टापन्नत्वात् ।

नच तथात्वे "तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरि"ति सूत्रबाधस्तत्र प्रारब्धेतरस्यैव कर्मणो विनाशोक्तेरि"ति वाच्यं, तस्य निदिध्यासनपरिपाकध्रुवास्मृत्याख्यपरोक्षज्ञानविषयत्वेन पूर्वमेव व्याख्यातत्वात् । नच परोक्षज्ञानेन तथात्वासम्भवः । श्रुतिप्रमाणसिद्धत्वात् " स्मृतिलम्भ" इति पूर्वोक्तश्रुतेः । किञ्चापरोक्षज्ञानान्मूलाज्ञाननिवृत्तिरभिप्रेता ? न वेति ? नाद्यः, कारणनाशे कार्यस्थित्ययोगात् । भावरूपकार्यस्य निरुपादानस्थित्यदर्शनात् । सोपादानं चेत् ? किमत्रोपादानं ब्रह्मैव ? अन्यद्वा ? नाद्यः ब्रह्मणोऽकारणत्वेन तदुपादानत्वासम्भवात् । अन्यथा कारणस्य नित्यत्वेन कार्यस्यावश्यम्भावात् । अनिर्मोक्षप्रसङ्गो-दुर्वारः । न द्वितीयः, अविद्यातत्कार्याभ्यामन्यस्याभावात् । तस्मान्मूलाविद्यानाशे तत्कार्यस्य प्रारब्धस्याप्यवस्थातुमशक्यत्वम्, तन्तु नाशे पटस्येव । नच प्रारब्धजन्यभोगनिर्वाहकतया कियत्कालमविद्याया अनुवृत्त्यङ्गीकार इति शङ्कनीयं, विद्याया अविद्योपमर्दकत्वस्वभावहानिप्रसङ्गात् । " यस्मिन्सत्यग्रिमक्षणे यस्य सत्त्वं यद्व्यतिरेके च यस्याभावस्ततत्साध्यमि" ति लक्षणोक्तेः । तथा च यस्मिन्ब्रह्मापरोक्षज्ञाने सत्यविद्यानिवृत्तेः सत्त्वं तद्व्यतिरेके चाविद्यानिवृत्त्यभाव इति सिद्धान्तभङ्गाच्च, नच प्रारब्धभोगोत्तरकाल एव तथाभूतः स्वभावो ब्रह्मसाक्षात्कारस्येति वाच्यम्, एकस्य स्वभावद्वयासम्भवात् । नचावरणविक्षेपशक्तिमत्या मूलाविद्याया ब्रह्मसाक्षात्कारेणावरणशक्तिनाशे ऽपि प्रारब्धकर्मजन्यवर्त्तमानदेहनिर्वाहाय विक्षेपशक्त्यंशानुवृत्तिरिति वाच्यम्, एकस्या अविद्याया-युगपत् स्थितिनिवृत्त्योर्विरुद्धत्वात् । नच शक्तिनिवृत्तिमात्रमेव विवक्षितं, शक्तिशक्तिमतोरभेदात् । भेदे च मूलाज्ञानानिवृत्ति-

प्रसङ्गः । निवर्त्तकाभावात् । नच प्रारब्धनिवृत्तिरेव तन्नि-वर्त्तिकेति वाच्यं, कार्यनाशस्य कारणनाशकत्वायोगात् । अति-व्याप्तिप्रसङ्गात्प्रमाणशून्यत्वाच्च । नच पूर्वज्ञानमेव तन्निवर्त्तक-मिति वाच्यं, तस्य शक्तिनिवृत्तावेवोपक्षीणत्वात् । नच स्वरू-पात्मकज्ञानमेव तन्निवर्त्तकमिति वाच्यं, तस्य तदविरोधित्वाभ्यु-पगमात् । अन्यथापसिद्धान्तापत्तेः । द्वितीये, ज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्य-भावपक्षे ज्ञानस्यैव वैयर्थ्यापत्तिः, अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च । "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती"त्यादिश्रुतिव्याकोपश्च । तदर्थशास्त्रारम्भवैय-र्थ्यञ्च । किञ्च विरोधिसाक्षात्कारोदये सर्वथा लेशतोऽप्यविद्यानुवृ-त्त्यसम्भव एवेत्यकामेन त्वयाङ्गीकरणीयम् । अन्यथा कृतनिदि-ध्यासनस्य ब्रह्मसाक्षात्कारोदयेन सविलासाऽविद्यानिवृत्तिरिति सिद्धान्तभङ्गः स्यात् । एतेन क्षालितलशुनभाण्डानुवृत्तिलशुन-वासनाकल्पाऽविद्यासंस्कारानुवृत्तिरिति पक्षोऽपि निरस्तो, दोषसाम्यात् । नहि सूर्योदये लेशतोऽपि तमोऽनुवृत्तिः केन-चिदुन्मत्तेन दृष्टा श्रुता चोपपन्ना वेति भावः । ननु दग्ध-पटन्यायेनानुवृत्तावविद्यैवेति चेन्न, अनिवृत्तिप्रसङ्गस्य पूर्व-मेवोक्तत्वात्, दृष्टान्तवैषम्याच्च । दग्धपटस्याच्छादनादिकार्य-कारित्वासम्भवात् । अस्य तु पूर्ववत्सर्वकार्यकारित्वस्य प्रत्यक्ष-प्रमाणसिद्धत्वात् । न चान्यदृष्ट्यैव तस्य कार्यकारित्वमिति वाच्यं, तर्हि द्वैतस्य सत्त्वं तव श्रीमुखेनैव सिद्धम्, अद्वैतभङ्गात्, शास्त्रप्रमाणशून्यत्वाच्च । किञ्च का वाऽविद्यानिवृत्तिः? आत्मस्व-रूपैव? तदन्या वा? नाद्यः, तस्य पूर्वमेव सिद्धत्वेन ज्ञानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । द्वितीये, सती वा? असती वा? उभयात्मिका वा? अनिर्वाच्या वा? नाद्या, अद्वैतभङ्गात् । न द्वितीया, ज्ञानसाध्य-त्वायोगात् । निवर्त्याभावान्निवर्त्तकस्य ज्ञानस्य दिवसे दीपस्ये-

वान्धकाराभावाद्वैयर्थ्यमेव । नापि तृतीया, इतरेतरविरोधात् । नापि चरमा, अनिर्वाच्यस्य सादेरज्ञानोपादानकत्वनियमेन मुक्तावपि तदुपादानाज्ञानानुवृत्त्यापत्तेः, ज्ञाननिवर्त्यत्वापत्तेश्च । नच प्रकारचतुष्टयोत्तीर्णा पञ्चमप्रकारेत्यानन्दबोधोक्तेरिति वाच्यं, प्रमाणशून्यत्वात् । तस्माज्जीवन्मुक्तेरिति परिभाषामात्रैव जन्मान्धस्य कमलनयनसमाख्यावत्, दरिद्रस्य लक्ष्मीनिध्यादिसमाख्यावच्चोपहासमात्रत्वात्प्रारब्धेन कर्मणा निबध्यमानानां तत्कार्यभूतकाममात्सर्यादिवह्निप्रज्वलतां सतां मुक्ता वयमित्यज्ञजनवञ्चकतामात्रत्वाच्च । ननु "तस्य तावदेव चिरमि"ति श्रुतिसिद्धत्वाज्जीवन्मुक्तेः कथमप्रामाण्यमिति चेत् ? गतत्रपाणां न किमप्यशोभनं, श्रुतौ "यावन्न विमोक्ष्य" इति मोक्षाभावं "चिरमि"ति कालव्यवधानं "सम्पत्स्य" इति भविष्यन्निर्देशञ्च कण्ठरवेणोच्चार्य्यमाणमपश्यतां यथाकामं प्रजल्पतां किमप्याश्चर्यं नास्तीति भावः । ननु जीवन्मुक्त्यनङ्गीकारे उपदेष्टृभावेन वेदान्तसम्प्रदायोच्छेदापत्तिः । सा च तवा ऽप्यनिष्टतमा, अज्ञस्योपदेष्टृत्वाचार्यत्वाद्यसम्भवात् । "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन" इति श्रीमुखोक्तेः । अन्यथा चाऽऽर्याणामनाप्तत्वप्रसङ्गेन तदुक्तसिद्धान्तस्याप्रामाण्यमावयोः समानं स्यादिति चेन्न, आवयोः सामान्याभावात् । अस्मत्सिद्धान्ते सम्प्रदायप्रवर्त्तकानां नित्यमुक्तश्रीपुरुषोत्तमपरिजनावतारत्वात् श्रीभगवदवतारवत् "स एकधा भवति त्रिधा भवती" ति श्रुतेरुक्तलक्षणध्रुवास्मृतिमत आचार्यस्योपदेष्टृत्वसम्भवान्नोक्तदोषावकाशः । ननु तव मते ऽविद्यानिवृत्तिः किमात्मिकाऽभिप्रेतेति ? चेच्छृणु ! अनादिमायासम्बन्धो वा तत्प्रयुक्तानादिकर्मात्मको बन्धो वा वेदान्तसाध्यज्ञानप्रागभावो वा ऽविद्याशब्द-

वाच्यस्तस्य निवृत्तिर्ध्वंसाभावः। सच यावदात्मवृत्त्यनवच्छिन्नैकरसब्रह्मसाक्षात्कारानुभूतिसमानाधिकरणभावरूपानन्दलक्षणे धर्मविशेषस्तदा ऽऽश्रयो मुक्त इति यावत्। किञ्चोक्तलक्षणानुभूतेरंशत्रयत्वे, ऽपि न केनाप्यंशेनानित्यत्वादिकल्पनावकाशः, क्रियाजन्यत्वाभावात्। तथा हि क्रिया तावच्चतुर्विधा उत्पादनप्रापणसंस्कारविकारभेदात्। तत्रोत्पादनं नाम प्रागभावप्रतियोगित्वे सत्युत्तरकालीनसत्तायोगः, यथा कटादेः प्रापणं च प्राप्तिक्रियायोगः, यथा रूपादिसाक्षात्कारः, संस्करणं च वस्तुनि योग्यताविशेषसम्पादनं, तद्विविधं, गुणाधानं, मलापकर्षणञ्च। तत्र गुणविशेषसम्बन्धरूपं गुणाधानं यथोपनयनादियोगः, राज्याद्यभिषेको वा। दोषध्वंसलक्षणं द्वितीयं, यथा दर्पणादिमलनिराकारणम्, विक्रिया च परिणामादिमत्त्वं, यथा दुग्धादीनां दध्याद्यवस्थापत्तिरिति विवेकः। अंशत्रैविध्यं च आश्रयविषयस्वरूपभेदात्। तत्र न तावदाश्रयतो ऽस्याः क्रियाजन्यत्वमाश्रयस्तावत्प्राप्तः क्षेत्रज्ञः। सच नोत्पाद्यः अजत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं, कटादिवदित्यनुमानात्। "न जायते म्रियते वा विपश्चिदि"त्यादिश्रुतेः। "न जायते म्रियते वा कदाचिदि"त्यादिस्मृतेश्च। नापि प्राप्तिक्रियायोग्यत्वं स्वरूपत्वेन नित्यप्राप्तत्वात् स्वस्य प्राप्तेः प्रमाणनिरपेक्षत्वाच्च। आत्मा नाप्यः, नित्यप्राप्तत्वात् स्वस्वरूपत्वात्, प्रमाणान्तरानपेक्षत्वाच्च। यन्नैवं तन्नैवं, रूपादिवदित्यनुमानात्। नहि कस्यचित् स्वप्राप्तौ प्रमाणापेक्षा, संशयाद्यभावात्। नायं विकारार्हः षड्विकारशून्यस्वरूपत्वात्। जीवात्मा न विकार्य्यः षड्विकारहीनत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, दध्यादिवदित्यनुमानात्। "अविकार्यो ऽयमुच्यते" इति श्रीमुखोक्तेश्च। नाप्ययमात्मा संस्कार्यः, ज्ञानादिनित्यगुणाश्रयत्वात्।

गुणाधानानर्हत्वात्, राज्ञादिवत् । " नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वात् अविनाशी वा अरे ! आत्मा ऽनुच्छित्ति धर्म्मा शो ऽत एवे "त्यादिशास्त्राच्च नित्यनिर्दोषविज्ञानरूपत्वेन मलापकर्षणानर्हत्वात् । यन्नैवं तन्नैवं, दर्पणादिवदित्यनुमानात् । " य आत्मा ऽपहतपाप्मे "त्यादिश्रुतेश्च । किञ्चात्मनो ऽनाद्यविद्यायोगो ऽभिप्रेतो ? न वा ? नाद्यः, अविद्यासम्बन्धे सति तथाभूताया दोषापकर्षणसंस्कार्यतायाः अवश्यम्भावात्तथात्वे चासंस्कार्यत्वसिद्धान्तभङ्गात् । न द्वितीयः, बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तेः, तत्प्रतिपादकश्रुतिव्याकोपाच्च । बन्धमोक्षाभ्युपगमसिद्धान्तभङ्गाच्चेति चेन्न, स्वरूपे पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वदोषसंसर्गाभावे ऽपि तद्धर्मभूतज्ञानमनादिकर्मात्मिकाविद्यया सङ्कुचितं, घटस्थदीपप्रभेव । सैव बद्धावस्थेति भण्यते । "अज्ञानेनावृतं ज्ञानमि"ति श्रीमुखोक्तेः । भूयो भगवत्प्रसादादुक्तलक्षणबन्धनस्य तत्साक्षात्कारेण ध्वंसे सति पूर्वोक्तलक्षणो मोक्षः, इति सर्वं समञ्जसमिति भावः । तस्मादाश्रयतो ऽस्याः क्रियाजन्यत्वासम्भवान्न तत्त्वार्हत्वमिति सिद्धम् । नापि विषयतो ऽस्यास्तत्तायोगः, विषयश्चास्याः परब्रह्मभूतो भगवान्वासुदेवः । तस्य क्रियाजन्यत्वाभावे विवाद एव नास्ति, सर्वास्तिकानां सम्मतत्वात्सर्वशास्त्रसिद्धत्वात् । नापि स्वरूपतो ऽस्यास्तत्तायोगः सम्भावनार्हः, तस्याः शाश्वतत्वात् । नहि ; "विज्ञातुरि" ति श्रुतेः आत्मनिष्ठा ब्रह्मविषयकानुभूतिः शाश्वती, स्वाभाविकत्वात् क्रियाजन्यत्वाभावाच्चात्मवदित्यनुमानात् । "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानि" ति मन्त्राच्च । ननु ब्रह्मानुभूतिः शाश्वती चेत्तर्हि सर्वैरप्युपलभ्येत, नतु तदस्ति, तस्मान्न तथेति योग्यानुपलब्धिप्रमाणबाध्यत्वात्तत्साध्यस्य, अन्यथा सर्वमोक्षप्रसङ्गः । किञ्च तस्या

मानसक्रियारूपध्यानजन्यत्वेनोक्तहेत्वोरुभयोरप्याभासत्वं, ब्रह्मानुभूतिर्न शाश्वती, मानसव्यापारात्मकध्यानजन्यत्वात्, बाह्यक्रियाजन्यस्वर्गादिवदित्यनुमानादिति चेन्न, शङ्काविषयासिद्धेः । तथा हि शङ्काविषयो ऽत्र नित्यमुक्तो बद्धमुक्तश्च तयोर्नित्यानुभूतिलक्षणमोक्षस्य निर्विवादत्वात् । बद्धस्य त्वशङ्काविषयत्वात्कथमुक्तशङ्कागन्धावकाशः । अन्यथा ब्रह्मणो ऽपि सर्वस्य बाह्याभ्यन्तरव्यापकत्वेन आकाशवदनुपलब्ध्या ऽसत्त्वं किमिति न शङ्क्यते देवानांप्रियैः । नच ब्रह्मणः "सत्यं ज्ञानं सदेव सौम्येदमग्र "इत्यादिशास्त्रसिद्धत्वान्नोक्तशङ्कावकाश इति वाच्यम्, प्रकृते ऽपि तुल्यत्वात् "सदा पश्यन्ति सूरयः" इत्यादिनित्यमुक्तानां "सर्वं पश्यः पश्यती"त्यादिना बन्धमुक्तानां च ब्रह्मानुभूतेस्तथात्वश्रवणात् । यदप्युक्तं मोक्षस्य मानसक्रियात्मकध्यानजन्यत्वेन हेत्वोराभासत्वमिति, तन्तुच्छं, ध्यानस्य तत्प्रतिबन्धकनिवर्तनेनैवोपक्षीणत्वान्न तज्जन्यत्वं मोक्षस्येति नोक्तदोषः, प्रत्युत ध्यानजन्यत्वादिति त्वत्प्रयुक्तहेतोरेव स्वरूपासिद्धत्वेनाभासत्वसिद्धिः । किञ्च त्वदुक्तहेतोस्त्वत्पक्षे ऽपि व्याप्तिर्वक्तुं शक्या, दोषसाम्यात् । तथाहि त्वत्पक्षे वृत्तेः प्रत्यक्षहेतुत्वेन तस्या अपि मानसव्यापारत्वसाम्येन दोषस्तुल्य एव । तस्मान्न केनाप्यंशेनात्र विकारित्वजन्यत्वादिशङ्कावकाश इति सिद्धम् । ननु ध्यानस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वे ब्रह्मण उपास्यत्वप्रसङ्गः, उपास्यस्यैव ध्येयत्वात्तथात्वे च ब्रह्मत्वहानिप्रसक्तिः । "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते "इत्यादिनोपास्यस्य कण्ठरवेण ब्रह्मत्वनिषेधश्रवणादिति चेन्न, तस्य प्रतीकाद्युपासनाविषयनिषेधपरत्वात् । तथाहि लोकवेदयोः "आरोप्यस्यैव निषेधविषयत्वं, न प्रमाणसिद्धस्य वस्तुनः"

इति न्यायस्य सर्वसम्मतत्वात् । यथा नद्यादिजले गङ्गात्वमारोप्य नेयं गङ्गेति निषेधसम्भवो, न साक्षाद्भागीरथ्यां विष्णुपादोदक्यां तस्याः प्रत्यक्षागमप्रमाणसिद्धत्वात् । यथा वा पञ्चाग्निविद्यायां पुरुषादावुपासनार्थमग्नित्वमारोपितं रूपकेण छन्दोगैस्तन्निषेधश्चेदनर्हत्वाभावात्सम्भवत्येव, ननु प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धे हवनीयाग्नौ तत्स्पर्शावकाशो, वक्तुं शक्यः प्रामाणिकत्वात् । एवं प्रकृते ऽपि अतद्वस्तुषु " नाम ब्रह्मेत्युपासीत मनो ब्रह्मेत्युपासीते" त्यादिश्रुत्योपासनार्थे नामादिप्रतीकेष्वारोपितब्रह्मत्वस्यैव निषेधान्न सर्वेश्वरे साक्षाद्ब्रह्मणि श्रीवासुदेवे तत्स्पर्शावसरः सर्ववेदान्तसिद्धत्वात्तज्जिज्ञासार्थमेव शारीरकशास्त्रारम्भाच्च । तच्च नेदं ब्रह्मेतीदङ्कारेणैव द्योत्यमानं, नात्र श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनोद्भावनावकाशः, इदङ्कारास्पदसर्वप्रपञ्चात्यन्तविलक्षणं ब्रह्मेति श्रुत्यर्थः । इतरथा प्रमाणसिद्धस्यापि निषेधयोगे ब्रह्मस्वरूपस्यापि निषेधविषयत्वं शक्यते वक्तुं, तुल्ययोगक्षेमात् । ननु ब्रह्मण उपास्यत्वे मोक्षे सशरीरत्वप्रसङ्गस्तथात्वे च " नह वै शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इत्यन्वयव्यतिरेकश्रुतेर्मोक्षे ऽपि दुःखानुभवो दुर्वारस्तथात्वे च कथमिव नित्यानवच्छिन्नानन्दापत्तिसम्भव इति चेन्न, उक्तश्रुतेः कर्मजन्यप्राकृतशरीरविषयकत्वात् । अप्राकृतशरीरस्य श्रुतिप्रमाणसिद्धत्वात् । "जक्षन् क्रीडन् रममाण" इति श्रुतेः । अन्यथा परमेश्वरे ऽपि तत्सम्भावना कल्पनीया पण्डितम्मन्यैर्वैदिकाभिमानिभिः । तथात्वे च सार्वज्ञ्यनित्यत्वानन्दत्वाद्यसम्भवेनेश्वरत्वस्यैव नाशात् " यः सर्वज्ञः एष सर्वेश्वरः सत्यकामः य आत्मा ऽपहतपाप्मे" त्यादिश्रुतिकदम्बलक्षणं " सर्वज्ञः सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञानबलाद्धिमान्

अन्यूनश्चाप्यवृद्धश्च स्वाधीनो ऽनादिमान्वशी। कामतन्द्राभयक्रोधकामादिभिरसंयुतः निरवद्यः परः प्राप्तेनिरधिष्ठो ऽक्षरक्रमः॥ वेदाहं समतीतानि, मत्तः परतरं नान्यत् अतो ऽस्मि लोके वेदे च, सर्वस्य चाहं हृदी" त्यादिस्मृतिकदम्बलक्षणं च तत्प्रतिपादकं सर्वमपि वेदान्तशास्त्रं दत्ततिलाञ्जलिः स्यात्। तथात्वे च बाह्यपक्षात्को विशेषः, शून्यस्य सत्तायास्तैरप्यङ्गीकृतत्वादित्यलं प्रासङ्गिकविस्तरेण॥ ७॥

इतिब्राह्माधिकरणम्॥ ११॥

## सू० सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः॥४।४।८॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः

मुक्तस्य सङ्कल्पादेव पित्रादिप्राप्तेः। कुतः? "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती"ति तदभिधानश्रुतेः॥८॥

### वेदान्तकौस्तुभः।

प्रत्यागात्मा परं ज्योतिरुपसम्पद्यापहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पपर्य्यन्तगुणगणवता विज्ञानघनेन स्वरूपेणाविर्भवतीत्युक्तं,, तस्मात्सत्यसङ्कल्पत्वमपि मुक्तस्य सङ्गच्छते। निःसम्बोधमुक्तात्मवादे सत्यसङ्कल्पत्वासम्भवादित्याभिप्रायवानिदानीं मुक्तस्य सङ्कल्पसामर्थ्यं दर्शयति —

सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः ।

मुक्तमधिकृत्य छान्दोग्ये " स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा "इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः, किं मुक्तस्य ज्ञात्यादिभिः सह संयोगः प्रयत्नान्तरसहकृतात्सङ्कल्पादुत सङ्कल्पादेवेति ? तत्र लोके नृपादीनां प्रयत्नसहकृतसङ्कल्पाद्भोगोपकरणप्राप्तिदर्शनात्प्रयत्नसहकृतादेवेति प्राप्ते, उच्यते सङ्कल्पादेव ज्ञात्यादिप्राप्तिः । कुतः ? तच्छ्रुतेः "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती "ति प्रयत्नान्तरनिरपेक्षसङ्कल्पसाध्यपित्रादिसमुत्थानश्रवणात् । सङ्कल्पस्य प्रयत्नान्तरसहकृतत्वाश्रवणाच्च । नृपादीनां सत्यसङ्कल्पत्वाभावात्प्रयत्नसहकृतसङ्कल्पादिष्टप्राप्तियुक्तैव ॥ ८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

मुक्तस्य श्रीपुरुषोत्तमानुग्रहादाविर्भूतसत्यसङ्कल्पत्वमुक्तमथ तदेव निरूपयति —

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ।

एवं हि मुक्तमधिकृत्य छान्दोग्ये श्रूयते " स तत्र पर्येति

जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती" त्यादि। तत्र संशयः, किमत्र मुक्तस्य ज्ञात्यादिप्राप्तिः प्रयत्नान्तरसापेक्षात्सङ्कल्पात् ? उत परमात्मन इव सङ्कल्पमात्रादेव भवती ? ति'। तत्र किं युक्तं, निमित्तान्तरसहितादिति लोके राजादीनां सत्यसङ्कल्पतयोक्तानामपि कार्यनिष्पत्तौ प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनात्। सङ्कल्पादेवेत्यवधारणं तु विज्ञानघन एवेतिवद्भविष्यतीति प्राप्ते, आह– सङ्कल्पादेवेति। सङ्कल्पमात्रादेवास्य तत्प्राप्तिः। कुतः ? तच्छ्रुतेः। "सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती"त्यवधारणेन सङ्कल्पादेव पित्रादिसमुत्थानश्रवणात्। अन्यथा ऽवधारणबाधः। नचेह सत्यकामत्वाद्युपन्यासवन्मुक्तस्य प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वे वाक्यान्तरं दृश्यते, येनावधारणस्य विज्ञानघन एवेति वद्व्यवस्था स्यात्। लोके हि सत्यसङ्कल्पत्वाभावादेव प्रयत्नान्तरापेक्षत्वं, नहि परमात्मव्यतिरिक्तः कश्चित्सत्यसङ्कल्पो ऽस्ति। मुक्तस्य तु तत्प्रसादात्तत्साम्यमुपगतस्य तथात्वमस्त्येवेति ॥ ८ ॥

# सू॰ अत एवानन्याधिपतिः।

॥ ४ । ४ । ९ ॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः।

परब्रह्मात्मको मुक्त आविर्भूतसत्यसङ्कल्पत्वादेवानन्याधिपतिर्भवति "स स्वराड् भवती"

ति श्रुतेः ॥ ९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

अत एवानन्याधिपतिः ।

मुक्तो यतः आविर्भूतसत्यसङ्कल्पोऽतोऽनन्याधिपतिर्भवति, स्वात्मभूतादंशिनः परस्माद्ब्रह्मणोऽन्योऽधिपतिर्यस्य न भवति । परब्रह्मात्मकस्य जगद्विमुक्तस्य ब्रह्मानुग्रहादाविर्भूतेन सत्येन सङ्कल्पेनाविर्भूतस्यैश्वर्य्यस्यान्यथाकारकाः प्रकृतिकालयमेन्द्राद्या अधिपतयो न भवन्तीत्यर्थः। "स स्वराड् भवती"ति श्रुतेः। तस्मान्मुक्तस्यज्ञात्यादिप्राप्तिः सङ्कल्पादेव भवतीति सिद्धम्॥९॥

इति सङ्कल्पाधिकरणम् ॥ ४ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अत एवानन्याधिपतिः ।

अत एव परमात्मानुग्रहाविर्भूतसत्यसङ्कल्पादेव हेतोर्मुक्तोऽनन्याधिपतिः, श्रीवासुदेवेतराधिपतिशून्यः । "स स्वराड् भवती"ति श्रुतेः स्वेनान्तरात्मना परब्रह्मणा राजते इति स्वराट्, न चात्राधिपतिसामान्यनिषेधदर्शनात्सङ्कोचे मानाभावाच्च कथमुक्तार्थसिद्धिरिति शङ्क्यम्, अन्यपदसन्निवेशस्यैव सङ्कोचे दृढप्रमाणत्वादन्यथा ऽनधिपतिरित्येव सूत्रितं स्यादित्यर्थः ॥९॥

इति सङ्कल्पाधिकरणम् ॥ ४ ॥

# सू०अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥

४।४।१०॥

## वेदान्तपारिजातसौरभः ।

मुक्तस्य शरीराद्यभावं बादरिर्मन्यते । यतः "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इति श्रुतिस्तथैवाह ॥ १० ॥

## वेदान्तकौस्तुभः ।

एवं मुक्तस्य सङ्कल्पादेव ज्ञात्यादिप्राप्ति-र्भवतीत्युक्तमिदानीं तस्य यथासङ्कल्पं शरीरे-न्द्रियादिसंयोगं दर्शयितुं मन्तातरमाह —

अभावं बादरिराह ह्येवम् ।

किं मुक्तस्य शरीरादिभावोऽस्ति ? न वाऽस्ति ? आहोस्वित्सङ्कल्पादस्ति ? नास्ति ? चेति सन्देहे, तदभावं बादरिराचार्य्यो मन्यते । हि-हेतौ । यतः मुक्तस्य "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इति श्रुतिरन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् एवं शरीराद्यभावमाह ॥ १० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ तस्य दिव्यविग्रहवत्त्वप्रदर्शनायारभ्यते । तत्रैवं विशय्यते, किं मुक्तस्य देहेन्द्रियादियोगो ऽस्ति ? उत नास्ति ? आहोस्विद्यथासङ्कल्पमस्ति च नास्ति चेति । तत्र प्रथमं बादरिपक्षमाह —

अभावं बादरिराह ह्येवम् ।

मुक्तस्य न सन्ति देहादयो ऽन्यथा दुःखादियोगस्याप्यनपहतिप्रसङ्गात् । हि यतो मुक्तस्यैवं शरीराद्यभावं "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इत्यन्वयव्यतिरेकश्रुतिराहेति बादरिराचार्यो मन्यते ॥ १० ॥

## सू० भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ४ । ४ । ११ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

तच्छरीरादिभावं जैमिनिर्मन्यते । कुतः ? "स एकधा भवति त्रिधा भवती" त्यादि वैविध्यामननात् ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।

भावं मुक्तस्य शरीरादेः सत्तां जैमिनि-

राचार्य्यो मन्यते । कस्मात् ? विकल्पामननात् । "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिरि"ति हि भूमविद्यायां तस्य वैविध्यामननात् । तच्च वैविध्यं मुक्तस्य शरीरविषयम् । अणुपरिमाणस्याऽच्छेद्यस्यात्मनो वैविध्यासम्भवात् । अशरीरश्रुतिस्तु कर्मजन्यशरीरविषया ॥ ११ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।

मुक्तस्य शरीरादिभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः ? विकल्पामननात् "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिरि"ति हि भूमविद्यायां मुक्तस्य विविधः कल्प आम्नायते । नहि विविधशरीरमन्तरैकस्याछेद्यस्याणुपरिमाणस्यात्मनो वैविध्यं सम्भवति । अशरीरत्वश्रुतिस्तु कर्मजन्यशरीराभावपरेत्युक्तं पुरस्तात् ॥ ११ ॥

सू० द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥४।४।१२॥

वेदान्तपारिज्ञातसौरभः ।

सङ्कल्पादेव शरीरत्वमशरीरत्वञ्च मुक्तस्य भगवान् बादरायणो मन्यते । द्वादशाहस्य यथा "द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदि "ति सत्रत्वमहिनत्वं च भवति, तद्वत् ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

सम्प्रति स्वकीयं राद्धान्तमाह —

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।

अतः सङ्कल्पादेवोभयविधत्वं भगवान्बादरायणो मन्यते । यथासङ्कल्पं मुक्तशरीरादिभावाभावौ भवत इत्यर्थः । एवं सति न कस्यचिद्वाक्यस्य व्याकोपः । द्वादशाहवत्, द्वादशाहस्य यथोभयविधत्वं सङ्कल्पभेदेनास्ति । "द्वादशहमृद्धिकामा उपेयुरि "त्युपैति चोदनायाः सत्रत्वं "द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदि"ति यजतिचोदनाया अहीनत्वञ्च द्वादशाहस्य भवति, तद्वत् । अत इति शब्दस्य वाक्यद्वयादित्यर्थो वा बोध्यः " मनसैवैतान्कामान्पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके " इत्य-

शरीरस्य भोगवादिवाक्यम् "स एकधा भवती" त्यादि सशरीरस्य भोगवादिवाक्यम् (च) ॥ १२ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ स्वमतेन सिद्धान्तमाह —

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।

अतः सङ्कल्पादेवेति श्रुतेः "यद्वा मनसैवैतान्कामान्पश्यन्र-मते य एते ब्रह्मलोके" इत्यशरीरस्यैव भोगश्रुतेः "स एकधा भवती" ति सशरीरत्वश्रुतेश्चेत्युभयविधश्रवणाद्धेतोर्मुक्तस्य शरीरादिभावाभावोभयविधं भगवान्बादरायणो मन्यते । तथात्वे चोभयश्रुतिर्नो विरुद्ध्यते । तत्र दृष्टान्तमाह । द्वादशाहवदिति । यथा द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदि" ति उपैतियजतिभ्यां चोदनाभ्यां सङ्कल्पभेदेन द्वादशाहस्य सत्रत्वमहीनत्वं च भवति । तद्वत् शरीरादिमत्त्वं तदभावश्च भगवत्सङ्कल्पाधीनं मुक्तस्येति ज्ञेयम्, तस्य सत्यसङ्कल्पत्वयोगेऽपि शरीरादिसर्जने प्रवृत्त्यभावादित्यर्थः ॥ १२ ॥

सू० तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।

४ । ४ । १३ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स्वसृष्टशरीराद्यभावे स्वप्नवद्भगवत्सृष्टशरीरादिना मुक्तभोगोपपत्तेः शरीरादेर्मुक्तसृज्यत्वानियमः ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।

तन्वभावे स्वसृष्टशरीराद्यभावे सन्ध्यवत्स्वप्नवद्भगवत्सृष्टोपकरणकलापेन मुक्तस्य लीलारसभोगोपपत्तेः । मुक्तः स्वसङ्कल्पादेव शरीरादिकं सृजतीत्यनियमः । सत्यसङ्कल्पो मुक्तः पितृलोकादिस्वशरीरादिस्रष्टुं समर्थोऽपि स्वलीलानुरूपैः परमपुरुषसृष्टैरुपकरणैर्लीलारसं भुङ्क्ते इत्यर्थः । स्वप्ने भगवत्सृष्टैरेव रथादिभिर्बद्धो भुङ्क्ते इति प्रागुपपादितम् ॥ १३ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु देहाद्यभावे कथं भोगसिद्धिरिति ? चेत्तत्राह —

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।

स्वसृष्टतन्वाद्युपकरणाभावे भगवत्सृष्टैरुपकरणैरेवं मुक्तस्य सर्वभोगोपपत्तेः सन्ध्यवत्स्वप्नवत्, यथास्वप्ने पूर्वोक्तरीत्या परमेश्वरसृष्टैः शरीरेन्द्रियैर्बद्धजीवो भुङ्क्ते, तद्वन्मुक्तोऽपीत्यर्थः । नच स्वप्ने जीव एव स्रष्टेति वाच्यं, पूर्वमेव विस्तरशो निरस्तत्वात् । तस्माल्लीलाप्रवृत्तपरमेश्वरसृष्टैरेव पितृलोकादिभिर्मुक्तस्यापि लीलारसास्वादः सूपपन्न इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सू० भावे जाग्रद्वत् ॥४।४।१४॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

स्वसृष्टशरीरादिभावे ऽपि मुक्तस्य भगवल्लीलारसभोगोपपत्तेः कदाचिद्भगवल्लीलानुसारिणा स्वसङ्कल्पेनापि सृजति ॥ १४ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

भावे जाग्रद्वत् ।

उपपत्तेरित्यनुवर्त्तते । स्वसृष्टतन्वादिभावे जाग्रद्वत् पुरुषवन्मुक्तस्य लीलारसभोगोपपत्तेः । मुक्तः स्वयं शरीरादिकं न सृजतीत्यप्यनियमः । यथा प्रबुद्धः पुरुषः भगवत्सृष्टपुरुषकाष्ठलोष्टानुसारेण तत्सृष्ट्यन्तर्गतं पुत्रगृहरथादिकं यथाशक्ति सृजति, तेन विहरते । तथा मुक्तो ऽपि भगवदनुग्रहात्सत्यसङ्कल्पस्तल्लीलानुरूपं तदिच्छानुसारिण्या निजेच्छया पितृभ्रात्रादिकं शरीरादिकं च सृजति, तल्लीलारसं भुङ्क्ते इत्यर्थः ॥१४॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

भावे जाग्रद्वत् ।

स्वसृष्टतन्वादिपितृलोकादिभावे जाग्रत्पुरुषभोगवन्मुक्तस्य लीलारसभोगोपपत्तिः । यथा परमेश्वरो लीलारसार्थं वसुदेवादिपितृलोकं सृजते । सृष्ट्वा च तैर्मनुष्यधर्मलीलारसं भुङ्क्ते ।

तथा मुक्तानामपि पितृलोकादिकं स्वलीलार्थं स्वयमेव सृष्ट्वा, स्वसृष्टैकदेशमुक्तपितृलोकादिकं सम्भोजयति । कदाचिच्च मुक्ता अपि परमात्मप्रसादेनाविर्भूतसत्यसङ्कल्पवत्तया परमात्मलीलान्तर्गतस्वपितृलोकादिकं स्वयमेव सृजन्तीति सर्वमनवद्यम् ॥१४॥

## सू० प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥४।४।१५॥

### वेदान्तपारिजातसौरभः ।

प्रभाया दीपस्येव ज्ञानेन धर्मभूतेन जीवस्यानेकशरीरेष्वावेशो भवति "स चानन्त्याय कल्पते" इति श्रुतिस्तथाहि दर्शयति ॥१५॥

### वेदान्तकौस्तुभः ।

ननु "त्रिधा भवती"त्यादि श्रुत्युक्तं वैविध्यं तु देहेनापि मुक्तस्य न सम्भवति, एकेनाणुस्वरूपेणानेकदेहव्याप्त्यसम्भवादित्याशङ्क्याह —

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ।

मुक्तस्याणुपरिमाणकस्यैकस्मिन्देहे स्थितस्याप्यनेकेषु शरीरेषु धर्मभूतेन ज्ञानेनावेशः सत्यसङ्कल्पत्वादिदं मम शरीरमिदं चेत्येवं तत्तच्छरीरित्वेन समन्तात्प्रवेश उपपद्यते । प्रदी-

पवत् प्रदीपस्येव । यथैकत्र स्थितस्य प्रदीपस्य प्रभया धर्मभूतया ऽनेकेषु प्रदेशेष्वावेशस्तद्वत् । तथाहि श्रुतिर्दर्शयति । "वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्ताय कल्पते" इति ॥ १५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

अथ मुक्तात्मनो ऽणुपरिमाणत्वे ऽपि धर्मभूतज्ञानेनानेकशरीरव्यापकतामाह —

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ।

यथा प्रदीप एक एवैकस्मिन्प्रदेशे स्थितो ऽपि स्वप्रभया ऽनेकदेशेष्वाविशति । तथा ऽसौ स्वरूपेणाणुत्वे ऽपि धर्मभूतचैतन्येनानेकशरीरेषु व्याप्य, तद्गतभोगादिकमनुभवतीति । तथाहि दर्शयति श्रुतिः । "स चानन्त्याय कल्पते" इति ज्ञानसङ्कोचासङ्कोचाभ्यां बद्धमुक्तयोर्विशेषो वोध्यः । तत्र बद्धस्य भोगे तत्तत्कर्मैव नियामकं, मुक्तस्य तु परमात्मसङ्कल्पायत्तस्वेच्छैवेति भावः ॥ १५ ॥

## सू० स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ ४।४।१६ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तो न बाह्यं

किञ्चन वेद नान्तरमि"ति वाक्यं तु न मुक्त-विषयं, किन्तु सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरन्यतरापेक्षम्। नाह खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययहमस्मी"ति नो एवेमानि भूतानीति एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यती"ति च "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन्नि"ति च जीवस्योभयत्र निर्बोधत्वं, मुक्त्य-वस्थायां च सर्वज्ञत्वं, शास्त्रेणाविष्कृतम् ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

नन्वनेकशरीरेषु जीवस्य धर्मभूतं ज्ञान-माश्रित्यापि स्थितिर्वक्तुमशक्या, "प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमि"ति परमात्मानं प्राप्तस्य विशेषज्ञानाभाववत्त्वश्रव-णादित्यत्राह —

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।

स्वाप्ययसम्पत्त्योः सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरन्यतरा-पेक्षमिदं वाक्यम्, आविष्कृतं हि । हि यतः जीवस्य स्वाप्ययसम्पत्त्योर्विशेषज्ञानाभाववत्त्वं, मोक्षदशायां सर्वज्ञत्वञ्च, श्रुत्यैवाविष्कृतम् । "नाह

खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मी"ति "नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामी"ति श्रुत्या स्वाप्यये विशेषज्ञानाभाववत्त्वं जीवस्याविष्कृतम्। सम्पत्तौ च तस्य विशेषज्ञानाभाववत्त्वम् "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यती"ति श्रुत्या ऽऽविष्कृतम्। विनश्यत्यनभिव्यक्तज्ञानो भवति मोक्षदशायां जीवस्य सर्वज्ञत्वं "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके" इति "सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश" इति च श्रुत्या ऽऽविष्कृतम्। तस्मान्मुक्तस्य परमपुरुषसृष्टशरीराद्युपकरणवत्त्वं यथासङ्कल्पं सशरीरत्वमशरीरत्वमनेकशरीरत्वं सर्वज्ञत्वञ्च सूपपन्नमिति सिद्धम् ॥१६॥

इति अभावाधिकरणम् ॥ ५ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

ननु "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमि"ति श्रुत्या ज्ञानसामान्यनिषेधात्कथं मुक्तस्य सर्वज्ञत्वमिति चेत्तत्राह —

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।

नहीदं वाक्यमुक्तविषयं, यत्स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षं तत् । तत्र स्वाप्ययः सुषुप्तिः "स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते" इति श्रुतेः सम्पत्तिश्चोत्क्रान्तिर्मरणमिति यावत् । "वाङ्मनसि सम्पद्यत" इत्यारभ्य "तेजः परस्यां देवतायामि"ति श्रवणात् । हि यतः सुषुप्तिमरणयोर्जीवस्य विशेषज्ञानाभाववत्वं, मोक्षदशायां सर्वज्ञत्वञ्च, श्रुत्यैवाविष्कृतम् । तथाहि छान्दोग्ये "नाह खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि *विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामी"ति सुषुप्तौ विशेषज्ञानाभावं निरूप्य तत्रैव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान्पश्यन्रमते य एते ब्रह्मलोके" इति सर्वज्ञत्वमाह "सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश" इति श्रुत्यन्तरात् । मरणे च "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यती"ति विशेषज्ञानाभावमाह । विनश्यति न पश्यतीत्यर्थः एवञ्च "प्राज्ञेनात्मने"ति श्रुतेः सुषुप्तिमरणयोरन्यतरविषयत्वान्न मुक्तपरत्वमिति मुक्तस्य ज्ञानानन्त्यमुपपन्नम् ॥ १६ ॥

इति अभावाधिकरणम् ॥ ५ ॥

## सू० जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ४।४।१७ ॥

---

* विनाशमदर्शनम् ।

वेदान्तपारिजातसौरभः।

जगत्सृष्ट्यादिव्यापारेतरं मुक्तैश्वर्यम्। कुतः? "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादौ परब्रह्मप्रकरणान्मुक्तस्य तत्रासन्निहितत्वाच्च ॥१७॥

वेदान्तकौस्तुभः।

एवमुक्तप्रकारस्य मुक्तस्य परमसाम्यं गतस्यैश्वर्य्यं किं लक्षणमितीदानीं चिन्त्यते—

जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

मुक्तैश्वर्यं किं जगद्व्यापाररूपम्? उत तद्वर्ज्जमिति? संशयः। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती"ति साम्यश्रुतेः परमपुरुषवन्मुक्तस्यापि सर्वजगत्सृष्टिस्थित्यादिव्यापाररूपमैश्वर्यं भवतीति पूर्वः पक्षः। तत्रोच्यते— जगद्व्यापारवर्ज्जमिति। मुक्तैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादिनियमनरूपव्यापारभिन्नं भवितुमर्हति। जगत्सृष्ट्यादिव्यापारस्तु परब्रह्मण एव। कुतः? प्रकरणात्। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिषु सृष्ट्यादिवाक्येषु तस्यैव प्रकरणात्। असन्निहितत्वाच्च। सृष्ट्यादिवाक्येषु जगत्कर्त्तृत्वादिना मुक्तस्यानुक्तत्वाच्च ॥ १७ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।

मुक्तैश्वर्यं किं जगत्सृष्ट्यादिव्यापाररूपम् ? उत परमात्मस्वरूपगुणाद्यनुभवरूपमिति ? संशये, किं तावद्युक्तं ? साम्यश्रुतेर्जगत्सृष्ट्यादिव्यापाररूपमिति प्राप्ते, आह । जगदिति । मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्टिस्थितिनियमनरूपव्यापारेतरं भवितुमर्हति । कुतः ? प्रकरणात् । सृष्ट्यादिनिर्णयेषु सर्वत्र परस्यैव प्रकृतत्वात् । " सदेव सौम्येदमग्र आसीत् तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदि "त्यादिश्रुतेः ॥ १७ ॥

## सू० प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥४।४।१८॥

वेदान्तपारिजातसौरभः

"स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"त्यादिश्रुत्या मुक्तस्य जगद्व्यापारप्रतिपादनात् "जगद्व्यापारवर्ज्जमि"ति यदुक्तं तन्नेति चेन्न, तथा श्रुत्या हिरण्यगर्भादिलोकस्थानां भोगानां मुक्तानुभवविषयतयोक्तत्वात् ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः

ननु जगद्व्यापारवर्ज्जं मुक्तैश्वर्य्यमिति यदुक्तं तन्न । कुतः ? "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"त्यादिप्रत्यक्षोपदेशात् । प्रत्यक्षं श्रुतिस्तया छान्दोग्यादिश्रुत्या मुक्तस्य जगद्व्यापाररूपमैश्वर्य्यमुपदिश्यते, तस्मादिति चेन्न । कुतः ? आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । आधिकारिकमण्डलस्थाः हिरण्यगर्भादिलोकस्था भोगास्ते अपि मुक्तानुभवविषयास्तेषामुक्तेः, छान्दोग्यादिश्रुत्या तत्प्रतिपादनादित्यर्थः ॥ १८ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

किञ्च तत्र तत्र जगद्व्यापारप्रकरणे मुक्तस्यासन्निहितत्वादपि न तस्य सृष्ट्यादिकर्तृत्वमिति —

प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः

प्रत्यक्षं श्रुतिः । ननु "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती" ति छान्दोग्ये "आप्नोति स्वाराज्यं सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ती"ति तैत्तिरीयके च मुक्तस्य प्रत्यक्षेण श्रुत्या जगद्व्यापारोपदेशात्तद्वर्जनं न युक्तमिति चेत्तन्न । कुतः ? आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । आधिकारिका लोकनियमनाधिकारे नियुक्ता हिरण्यगर्भादयस्तेषां मण्डलानि लोकास्त-

स्वभोगा मुक्तानुभवविषया इति तया श्रुत्योच्यते ॥ १८ ॥

मू०विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ ४।४।१९ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

जन्मादिविकारशून्यं स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तगुणसागरं सविभूतिकं ब्रह्मैव मुक्तोऽनुभवति । तथाहि मुक्तस्थितिमाह श्रुतिः । "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये अनात्म्ये निरुक्ते निलयने ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ऽथ सो ऽभयं गतो भवति रसो वै स रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवती"त्यादिका ॥ १९ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

जगद्व्यापारवर्ज्जं मुक्तैश्वर्यमित्युक्तं, तत्किमित्याकाङ्क्षायां सविभूतिपरब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यं दर्शयन्नाधिकारिकमण्डलस्थभोगानां मुक्तानुभवविषयत्वकथनान्मुक्तस्य बद्धतुल्यतां प्राप्तां निराकरोति —

विकाराऽवर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह ।

विकारावर्त्ति जन्मादिविकारास्पृष्टं स्वभावतः

अपास्तसमस्तदोषं समस्तकल्याणगुणैकसागरं सविभूतिकं परं ब्रह्मैव मुक्तो ऽनुभवति। चेत्यवधारणे। तथाहि मुक्तस्थितिमाह श्रुतिः। "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येनात्म्ये निरुक्ते निलयने ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ऽथ सोऽभयं गतो भवति रसो वै स रसं ह्येवायं लब्ध्वा ऽऽनन्दी-भवति येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि"त्यादिका। अयमर्थः, बद्धः कदा-चिद्दैवाद्धिरण्यगर्भादिलोकान् गत्वा ऽप्यभयं न प्राप्नोति, "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनराव-र्त्तिनो ऽर्जुने"ति भगवद्वचनात्। मुक्तस्तु सवि-भूतिं भगवन्तं प्राप्य तद्विभूतिविशेषतदन्तर्गत-हिरण्यगर्भादिलोकस्थानपि भोगान्भुङ्क्ते। "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती"ति श्रुत्योच्यते। सर्वेषां परब्रह्मविभूतिभूतानां लोकानां परे ब्रह्मणि स्थितिः। "तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्च-ने"ति श्रुत्योच्यते। नच वाच्यं परस्माज्जीवस्या-न्यत्वात्कदाचिद्भयं भवेत्, "द्वितीयाद्वै भयं भवती"ति वचनादिति, व्याघ्रात् मृगस्येव परस्मा-

न्मुक्तस्य द्वितीयत्वाभावात्, ब्रह्मात्मकत्वा-द्ब्रह्मानन्यतया जीवस्य प्राग्बहुशः प्रति-पादितत्वाच्च ॥ १६ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

एवं तर्हि बद्धमुक्तयोः को वा विशेष इति चेत्तत्राह —

विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह ।

चशब्दो ऽवधारणे । विकारे जन्मादिषट्केन वर्त्तत इति विकारावर्त्ति जन्मादिविकारशून्यं निखिलदोषास्पृष्टमाहात्म्यं निरतिशयकल्याणगुणाब्धिसविभूतिकं ब्रह्मैव मुक्तो ऽनुभवति । तद्विभूत्यन्तर्गतत्वेन हिरण्यगर्भादिभोगानुभवो ऽप्यविरुद्धस्तदा-श्रितत्वात्सर्वस्येति भावः । तथाहि मुक्तस्थितिमाह श्रुतिः । “ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ऽनात्म्ये निरुक्ते निलयने ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ऽथ सो ऽभयं गतो भवति रसो वै स रसं ह्येवायं लब्ध्वा ऽऽनन्दीभवति येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतम-विज्ञातं विज्ञातमि” त्याद्याः सविभूतिकब्रह्मानुभवितृत्वेनैव सर्वानुभवितृत्वान्मुक्तस्य “ तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती” त्याद्युच्यते ॥ १९ ॥

सू० दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।

४।४।२०॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

कृत्स्नजगत्सृष्ट्यादि व्यापारार्हं ब्रह्मैव “ स

कारणं कारणाधिपाधिपः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरमि"ति श्रुतिस्मृती दर्शयतः "जगद्व्यापारवर्ज्जं मुक्तैश्वर्य्यम् ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।

प्रत्यक्षं श्रुतिः, अनुमानं स्मृतिः । ते श्रुतिस्मृती एवम्भूतं जगत्स्रष्टिस्थित्यादिव्यापारार्हं विकारावर्त्ति ब्रह्मैव दर्शयतः । "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपतिरेष भूतपालः एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः स कारणं कारणाधिपाधिपः तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एको वशी सर्वगः कृष्णः

ईड्य" इत्यादिश्रुतिः । "मया ऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जये"ति स्मृतिः मुक्तस्य तु परब्रह्मसाधर्म्ये ऽपि निखिलचेतनाचेतनपतित्वतन्नियन्तृत्वतद्विधारकत्वसर्वगतत्वाद्यसम्भवाज्जगद्व्यापारवर्जमैश्वर्यम् ॥ २० ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

दर्शतयश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।

परस्यैव जगत्कारणत्वसर्वनियन्तृत्वादिव्यापारस्वान्तन्त्र्यं, न मुक्तस्य । तस्य तु परब्रह्मानुभवितृत्वमेवेत्येवं श्रुतिस्मृती दर्शयतः । "एष सर्वेश्वर, एषः भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी" त्यादिश्रुतिः "अहं सर्वस्य प्रभवः, मत्तः परतरं नान्यदि" त्यादिका स्मृतिः ॥ २० ॥

सू० भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।

४ । ४ । २१ ॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

"सो ऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा

विपश्चिते"ति भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च मुक्तैश्वर्य्यं जगद्व्यापारवर्ज्जम् ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभः ।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।

"सो ऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिते"ति भोगमात्रे खलु मुक्तस्य परब्रह्मसाम्यबोधकलिङ्गाच्च मुक्तैश्वर्य्यं जगद्व्यापारवर्ज्जमिति गम्यते ॥ २१ ॥

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।

इतश्च जगद्व्यापारेतरं मुक्तैश्वर्यमित्याह —

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।

यथा सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वादिसद्गुणाश्रयस्य परमात्मनः स्वविभूत्यनुभवानन्दरूपभोगः सदैकरसस्तथा तन्मात्रभोगः सविभूतिब्रह्मयाथात्म्यानुभवितॄणां मुक्तानामपि समः । नतु स्वरूपेण ते ब्रह्मसमास्तेषामणुपरिमाणकत्वादतो भोगमात्रसाम्यलिङ्गात् जगद्व्यापारवर्ज्जं मुक्तानामैश्वर्यमिति निश्चीयते । " ब्रह्मविदाप्नोति परमि" त्युपक्रम्य " सो ऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते" 'ति परमं साम्यमुपैती"त्यादिश्रुतिभ्यः मात्रपदान्मुक्तगम्यैश्वर्यस्य स्वतन्त्रताव्यावृत्तिरपि बोध्यते ॥ २१ ॥

---

## सू० अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् । ४।४।२२॥

वेदान्तपारिजातसौरभः ।

परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य संसाराद्वि-मुक्तस्य प्रत्यगात्मनः पुनरावृत्तिर्न भवति कुतः ? " एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते " इति शब्दात् ॥ २२ ॥

हरिरों तत्सदिति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कविरचिते शारीरकमीमांसावाक्यार्थे वेदान्तपारिजात-सौरभे चतुर्थोऽध्यायस्य चतुर्थपादः ॥ ४ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभः ।

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।

मुक्तस्य भोगमात्रे ब्रह्मसाम्यप्रतिपादना-त्स्वरूपसाम्याभावो दर्शितस्तस्य ब्रह्मविलक्षणस्य मुक्तस्वरूपस्यानावृत्तिर्बोध्या । "एतेन प्रति-पद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते ब्रह्म-

लोकमभिसम्पद्यन्ते न च पुनरावर्त्तते एतद्-मृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तते, मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गे ऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च "त्यादि-श्रुतिस्मृतिरूपाच्छब्दात् । सूत्रावृत्तिः शास्त्रसमाप्तिद्योतिका । सर्वात्मभूतपरमानन्दपरब्रह्मानुभवरूपं मुक्तैश्वर्य्यमिति सिद्धम् ॥ २२ ॥

इति जगद्व्यापारवर्ज्जाधिकरणम् ॥ ६ ॥

सूत्रसूत्रार्थकारौ हि वन्दे ऽहं यत्प्रसादतः ॥
श्रुत्यब्धेरुद्धृतो भूत्यै विदां वेदान्तकौस्तुभः ॥१॥

हरिरों तत्सदिति श्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तकाचार्यश्रीमन्निम्बार्कपादपद्मान्तेवासिना श्रीश्रीनिवासाचार्येण विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमति वेदान्तकौस्तुभे चतुर्थाऽध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

---

वेदान्तकौस्तुभप्रभा ।.

तत्र पुनरावृत्तिशङ्कां वारयति —

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।

एवं परब्रह्मोपासनया विमुक्तनिःशेषाविद्यार्गलस्य तल्लोकं गतस्य तद्भावमापन्नस्य न तस्मात्पुनरावृत्तिर्भवति । कुतः ? शब्दात् । "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते नच पुनरावर्त्तते एतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तते अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वा ऽमृतः समभवत् तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति इह न पुनरावृत्तिरि"त्यादिपरविद्याप्रकरणगतश्रुतिभ्यः "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते, तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः । इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गे ऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति चे"त्यादिस्मृतिभ्यश्च । अयम्भावः यथा परमात्मा सर्वज्ञः सर्वकारणं सर्वसद्गुणसमुद्रः सर्वनियन्तेति शब्दादवगम्ये, तथा निवृत्तसर्वाविद्यस्य परब्रह्मभावापन्नस्य मुक्तस्यापि न पुनरावृत्तिरिति शब्दादेवावगम्यते । परमात्मा ऽपि तादृशं स्वातिप्रियं ज्ञानिनं लब्ध्वा न कदाचिदपि स्वस्मात्स्वलोकाच्च वियोक्तुमिच्छतीति स्वयमेवाह "प्रियो हि ज्ञानिनो ऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय" इत्यादिना । सूत्रावृत्तिः शास्त्रपरिसमाप्तिद्योतनार्था ॥ २२ ॥

इति जगद्व्यापारवर्ज्जाधिकरणम् ॥ ६ ॥

भगवद्भावसम्प्राप्तिं मुक्तिं श्रुतिमुखेरिताम् ॥
फलं वेदान्तशास्त्रस्य प्रावोचद्बादरायणः ॥ १ ॥
सर्ववेदशिरोगीतस्तर्कातीतश्च यो हरिः ॥
यानेन मुक्तिदः कृष्णस्तं मुकुन्दं गुरुं श्रये ॥ २ ॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि-
श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयि श्री६श्री-
केशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभ-
प्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्याय-
चतुर्थपादविवरणम् ॥ ४ ॥

---

## समाप्तश्चायं फलाख्यश्चतुर्थोऽध्यायः ।

अस्य फलाऽध्यायस्य प्रथमे पादे सूत्राण्येकोनविंशतिः ॥ १९॥
अधिकरणानि चैकादश ( ११ )
द्वितीये पादे सूत्राणि विंशतिः ( २० )
अधिकरणानि एकादश ( ११ )
तृतीये पादे सू० पञ्चदश ( १५ )
अधिकरणानि पञ्च ( ५ ).
चतुर्थे पादे सू० द्वाविंशतिः ( २२ )
अधिकरणानि षट् ( ६ )
सर्वाणि चैतदध्यायसूत्राणि • षट्सप्ततिः ( ७६ )
सर्वाण्यधिकरणानि च त्रयस्त्रिंशत् ॥ [ ३३ ]
परिसमाप्ता चेयं समन्वयाऽविरोध साधन फल विषया,
उत्तरमीमांसाचतुरध्यायी ॥

## अथ श्रीनिम्बार्कभाष्यत्रयोपेतब्रह्मसूत्रविषयसूचनिका, तत्र वेदान्तकौस्तुभप्रभायाम् ।

### प्रथमाऽध्यायस्य प्रथमपादे ।


| अधिकरणसङ्ख्या | पृ० | पं० |
| --- | --- | --- |
| १ जिज्ञासाऽधिकरणम् १९ | | |
| मङ्गलाचरणम् | *१९ | १० |
| अवतरणिका | *२० | ३ |
| अथशब्दार्थः | *,, | १५ |
| मुमुक्षुतायाः पूर्ववृत्तत्वम् | *२१ | ३ |
| अतःशब्दार्थः | *,, | २५ |
| श्रीकृष्णस्य ब्रह्मशब्दार्थत्वम् | *२२ | १२ |
| अद्वैतमते ब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वस्य दुरुपपादत्वम् | *,, | १८ |
| सूत्रे अनुबन्धचतुष्टयप्रदर्शनम् | *२३ | ९ |
| अद्वैतमते विषयस्य दुर्निरूपत्वम् | *,, | १४ |
| अद्वैतमते सम्बन्धानुपपत्तिः | *२४ | ११ |
| अद्वैतमते प्रयोजनस्य दुर्निरूपत्वम् | *,, | १८ |
| उपाधिखण्डनम् | *२५ | ९ |
| एकजीववादखण्डनम् | *,, | २६ |
| बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तिः | *२६ | १४ |


* एतच्चिह्नयुतासङ्ख्या चतुःसूत्रीप्रकरणस्था ज्ञेया, एवमग्रे सूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिकायामपि ।

| | | |
|---|---|---|
| प्रतिबिम्बवादखण्डनम् | *२७ | १२ |
| अधिकार्यनुपपत्तिनिगमनम् | *३० | ३ |
| अध्यासलक्षणखण्डनम् | *३१ | १३ |
| मिथ्याज्ञानस्य कारणत्वखण्डनम् | *३७ | १९ |
| **२ जन्माद्यधिकरणम्** | **४४** | |
| ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानसमर्थनम् | *४५ | ८ |
| सत्यादिपदानां निर्विशेषपरत्वनिरासः | *४७ | २४ |
| **३ शास्त्रयोन्यधिकरणम्** | **५५** | |
| ब्रह्मणोऽनुमानगम्यत्वनिरासः | *५७ | १ |
| **४ समन्वयाधिकरणम्** | **६९** | |
| मीमांसकपूर्वपक्षनिगमनम् | *७० | २३ |
| वेदान्तानां ब्रह्मण्येव समन्वयः | *७३ | २ |
| **५ ईक्षत्यधिकरणम्** | **४** | |
| प्रधानकारणवादखण्डनम् | ५ | ३ |
| **६ आनन्दमयाधिकरणम्** | **२३** | |
| जीवस्य जगत्कारणत्वनिराकरणम् | ४१ | ६ |
| **७ अन्तरधिकरणम्** | **५२** | |
| सूर्याक्षणो दृश्यमानस्येश्वरत्वसमर्थनम् | ५२ | २० |
| **८ आकाशाधिकरणम्** | **५८** | |
| सृष्टिवाक्य आकाशशब्दस्य ब्रह्मपरत्वम् | ५८ | १४ |
| **९ प्राणाधिकरणम्** | **६२** | |
| प्राणशब्दस्यापि ब्रह्मपरत्वम् | ६२ | ८ |

| | | |
|---|---|---|
| १० ज्योतिरधिकरणम् | ६५ | |
| ज्योतिःशब्दस्यापि ब्रह्मपरत्वम् | ६५ | १७ |
| ११ इन्द्रप्राणाधिकरणम् | ७६ | |
| प्रतर्दनविद्यायां प्राणशब्दस्यान्तर्यामिपरत्वम् | ७७ | १ |
| इति प्रथमे प्रथमपादः ॥ १ ॥ | ८७ | |

---

अथ प्रथमाऽध्याये द्वितीयपादः ॥

| | | |
|---|---|---|
| १ सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् | ९२ | |
| सर्वं खल्विति श्रुतिविचारः | ९३ | १७ |
| २ अत्राधिकरणम् | १०९ | |
| यस्य चेति श्रुतिविचारः | ११०' | २ |
| ३ गुहाधिकरणम् | ११४ | |
| ऋतं पिबन्ताविति श्रुतिविचारः | ११५ | ६ |
| ४ अन्तराधिकरणम् | १२० | |
| य एष इति श्रुतिविचारः | १२० | १४ |
| ५ अन्तर्याम्यधिकरणम् | १३५ | |
| यः पृथिव्यामिति श्रुतिविचारः | १३६ | ५ |
| ६ अदृश्यत्वाधिकरणम् | १४४ | |
| यत्तदद्रेश्यमिति श्रुतिविचारः | १४५ | १२ |

७ वैश्वानराधिकरणम् १५२
आत्मानं वैश्वानरमिति श्रुतिविचारः १५३ ५
इति प्रथमे द्वितीयपादः ॥२॥ १६८

---

## अथ प्रथमाध्याये तृतीयपादः

१ द्युभ्वाद्यधिकरणम् १७१
यस्मिन् द्यौपृथिवीति श्रुतिविचारः १७२ २
२ भूमाधिकरणम् १८४
भूमात्वेवेति श्रुतिविचारः १८६ ?
३ अक्षराधिकरणम् १९१
एतद्वै तदक्षरमिति श्रुतिविचारः १९१ १०
४ ईक्षत्यधिकरणम् १९९
पुरुषमीक्षत इति श्रुतिविचारः २०० ६
५ दहराधिकरणम् २०४
ब्रह्मपुरे दहरमिति श्रुतिविचारः २०४ १२
६ प्रमिताधिकरणम् २२१
अंगुष्ठमात्रश्रुतिविचारः २२२ २
७ देवताधिकरणम् २२६
देवतानामुपासकत्वविचारः २२६ १८
८ मध्वधिकरणम २४२
असौ वा आदित्य इतिश्रुतिविचारः २४२ १७

९ अपशूद्राधिकरणम् २५०

शूद्राधिकारविचारः २५० १९

आकाशार्थाधिकरणम् । २६४

आकाशो ह वै इतिश्रुतेः ब्रह्मपरत्वसमर्थनम् २६४ १४

इति प्रथमे तृतीयपादः ॥३॥ २६६

---

अथ प्रथमाऽध्याये चतुर्थपादः ॥

१ आनुमानिकाधिकरणम् २७७

महतः परमव्यक्तमिति श्रुतिविचारः २७७ ६

२ चमसाधिकरणम् २९४

अजामेकामिति श्रुतिविचारः २९४ ११

३ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ३०६

यस्मिन् पञ्चपञ्चजना इति श्रुतिविचारः ३०६ २०

४ कारणत्वाधिकरणम् ३१२

सदेवेत्यादिश्रुतिर्विचारः ३१२ १२

५ जगद्वाचित्वाधिकरणम् ३२३

यस्य चैतत्कर्मेति श्रुतिविचारः ३२३ ८

६ वाक्यान्वयाधिकरणम् ३३३

नवा अरे पत्युरित्यादिश्रुतिवि० ३३३ १९

७ प्रकृत्यधिकरणम् ३४७

| | | |
|---|---|---|
| येनाश्रुतं श्रुतमिति श्रुतिवि० | ३४८ | १४ |
| मायाया उपादानत्वखण्डनम् | ३५१ | २५ |

८ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ३६३

| | | |
|---|---|---|
| सर्ववेदान्तवाक्यनिर्वाहकरणम् | ३६३ | १० |

इति प्रथमाध्याये चतुर्थपादः ॥४॥ ३६४


---

## अथ द्वितीयाऽध्याये प्रथमपादः ।


१ स्मृत्यधिकरणम् ३७१

| | | |
|---|---|---|
| साङ्ख्यस्मृतिविरोधकथनम् | ३७२ | ३ |

२ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ३७७

| | | |
|---|---|---|
| प्रकृतेरुपादानकारणत्वखण्डनम् | ३७८ | ५ |

३ न विलक्षणत्वाधिकरणम् ३८०

| | | |
|---|---|---|
| जगद्ब्रह्मणोर्वैलक्षण्ये ऽपि कार्यकारणभावकथनम् | ३८४ | १२ |

४ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ३९७

५ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ४००

६ आरम्भणाधिकरणम् ४०५

| | | |
|---|---|---|
| जगन्मिथ्यात्ववादनिराकरणम् | ४०५ | ९ |
| परमेश्वराज्ञानकल्पनाखण्डनम् | ४०८ | १८ |
| परमेश्वरस्य मिथ्यात्वखण्डनम् | ४१० | ४ |

| | | |
|---|---|---|
| विश्वमिथ्यानुमानखण्डनम् | ४११ | १६ |
| तत्र पक्षाप्रसिद्धिनिगमनम् | ४१२ | १४ |
| साध्यासम्भवनिगमनम् | ४१३ | ११ |
| दृश्यत्वहेतोराभासत्वोपपादनम् | ,, | १२ |
| जडत्वहेतोराभासत्वकथनम् | ४१४ | २१ |
| परिच्छिन्नत्वहेतोराभासीकरणम् | ४१६ | १४ |
| विभक्तत्वहेतोराभासताकरणम् | ,, | २६ |
| षडिन्द्रियवेद्यस्य ब्रह्मणो मिथ्यात्वकरणम् | ४१७ | १८ |
| विश्वस्याध्यस्तत्वनिरसनम् | ४१८ | २६ |
| आरम्भणशब्दस्य मिथ्यार्थकत्वखण्डनम् | ४२२ | २३ |
| नैयायिकाभिमतासत्कार्यवादखण्डनम् | ४३५ | ७ |
| भेदपरश्रुतीनामप्रामाण्यभञ्जनम् | ४३७ | २४ |
| ब्रह्मपरिणामवादस्थापनम् | ४३९ | १ |
| एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेर्भेदपरत्वोपपादनम् | ४४४ | ७ |
| एको ह वा इत्यादीनामपि भेदपरत्वकथनम् | ४४७ | १४ |
| **७ इतरव्यपदेशाधिकरणम्** | **४५०** | |
| जगदभिन्नत्वेऽपि ब्रह्मणो निर्दोषत्वम् | ४५२ | ९ |
| **उपसंहारदर्शनाधिकरणम्** | **४५७** | |
| अकरणत्वे ऽपि जगत्कर्तृत्वोपपादनम् | ४५७ | १० |
| **९ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्** | **४६१** | |
| निरवयवत्वे ऽपि कार्यत्वोपपत्तिः । | ४६४ | १३ |
| **१० प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम्** | **४७५** | |

ईश्वरस्याप्तकामत्वेऽपि जगत्कर्तृत्वम् ४७६

इति द्वितीये प्रथमपादः ॥२॥ ४८२

---

## अथ द्वितीये द्वितीयपादः ।

### १ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ४८७

साङ्ख्यमते सृष्ट्यसम्भवकथनम् ४८७ २०

### २ महद्दीर्घाधिकरणम् ५०८

परमाणुकारणवादखण्डनम् ५०० १०

### ३ समुदायाधिकरणम् ५२७

सुगतानुयायिवैभाषिकमतखण्डनम् ५२८ १६

### ४ उपलब्ध्यधिकरणम् ५५२

योगाचारपक्षखण्डनम् ५५३ १८

### ५ सर्वथाऽनुपपत्त्यधिकरणम् ५६०

सर्वशून्यवादिमाध्यमिकमतखण्डनम् ५६० १७

### ६ एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ५६६

जैनमतखण्डनम् ५६६ १०

### ७ पत्युरधिकरणम् ५७६

पाशुपतादिचतुर्विधमतखण्डनम् ५७७ ५

### ८ उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ५८३

शाक्तमतखण्डनं, पाञ्चरात्रमतखण्डनञ्च ५८६ ६

| | | |
|---|---|---|
| तत्र षड्विधलिङ्गतात्पर्येण भारते पाञ्चरात्रप्रामाण्यप्रदर्शनम् | ५८७ | १० |
| पञ्चरात्रशास्त्रे जीवोत्पत्तिं कथयतां श्रीशङ्करभाष्यकाराणामुक्तेरन्यथोक्तित्ववर्णनम् | ५९३ | १० |
| पञ्चरात्रशास्त्रे वेदनिन्दाऽस्तीत्युक्तेरप्यन्यथोक्तित्ववर्णनम् | ५९५ | १७ |

इति द्वितीये द्वितीयपादः । ५९७

---

## अथ द्वितीयाऽध्याये तृतीयपादारम्भः ५९९

| | | |
|---|---|---|
| १ वियदधिकरणम् | ५९९ | |
| आकाशस्यानित्यत्वकथनम् | ६०० | ११ |
| २ मातरिश्वाधिकरणम् | ६०९ | |
| ३ असम्भवाधिकरणम् | ६११ | |
| ब्रह्मण एवासम्भवत्वकथनम् | ६११ | ३ |
| ४ तेजोऽधिकरणम् | ६१२ | |
| तेजआदीनां ब्रह्मण एवोत्पत्तिकथनम् | ६१७ | ८ |
| ५ विपर्ययाधिकरणम् | ६२० | |
| उत्पत्तिविपर्ययेण लयकथनम् | ६२० | १६ |
| ६ अन्तराविज्ञानाधिकरणम् | ६२५ | |
| ७ आत्माधिकरणम् | ६२८ | |
| जीवानुत्पत्तिकथनम् | ६३१ | १५ |

| | | |
|---|---|---|
| **८ ज्ञाधिकरणम्** | ६३३ | |
| आत्मनो ज्ञातृत्वप्रतिपादनम् | ६३७ | २ |
| ज्ञातुरपि ज्ञानपदवाच्यत्वनिरूपणम् | ६३७ | ६ |
| ज्ञानस्य प्रभादृष्टान्तेन द्रव्यत्वसमर्थनम् | ६३७ | १० |
| आत्मनो ऽहमर्थत्वसमर्थनम् | ६३८ | १ |
| सुषुप्तावहमर्थानुभवसमर्थनम् | ६३९ | १४ |
| सुषुप्तौ ज्ञातृसद्भावे ऽपि ज्ञानाभावसमर्थनम् | ६४१ | २२ |
| परमात्मनो ऽप्यहमर्थत्वसमर्थनम् | ६४२ | २० |
| प्रमाणत्रयेणाहमर्थस्यात्मत्वसमर्थनम् | ६४४ | ७ |
| **९ उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम्** | ६४७ | |
| आत्मनो ऽणुपरिमाणकत्वकथनम् | ६४७ | १३ |
| सर्वगताद्वितीयात्मवादखण्डनम | ६४८ | १६ |
| जीवस्य प्रतिबिम्बभावनिरासः | ६४९ | १६ |
| मायाविद्याविभागानुपपत्तिः | ६५० | ७ |
| बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः | ६५१ | १[illegible] |
| एकजीववादे वचनाभावकथनम् | ६५३ | १३ |
| **१० कर्त्रधिकरणम्** | ६७४ | |
| लोकवेदयोरात्मनः कर्तृत्वप्रदर्शनम् | ६७५ | ४ |
| आत्मनो निर्धर्मकत्वनिष्क्रियत्वयोः खण्डनम् | ६७८ | ७ |
| **११ परायत्ताधिकरणम्** | ६९० | |
| जीवकर्तृत्वस्येश्वराधीनत्ववर्णनम् । | ६९० | १५ |
| **१२ अंशाधिकरणम्** | ६९५ | |
| जीवस्य ब्रह्मांशत्वकथनम् | ६९६ | ६ |

| | | |
|---|---|---|
| औपाधिकखण्डत्वे दोषभूयस्त्वम् | ६९७ | १ |
| कल्पितांशांशिभावेऽपि दोषकथनम् | ६९९ | ६ |
| शक्तिशक्तिमतोरिवांशांशिभावः | ७०१ | २२ |
| भेदप्रतिबन्द्या अभेदस्यापि खण्डनम् | ७०२ | २३ |
| तत्त्वमसीति वाक्यार्थकथनम् | ७०४ | १ |
| निर्विशेषाद्वैतवादे तत्त्वमसीत्यर्थासाङ्गत्यम् | ७०५ | ४ |
| विशिष्टाद्वैतवादे व्यावर्त्यालाभाद्विशेषणानुपपत्ति-कथनम् | ७११ | ६ |
| परपक्ष इव प्राप्तदोषस्य परिहारः | ७१२ | १२ |


## इति द्वितीये तृतीयपादः ॥ ७२२ ॥

---

## अथ द्वितीये चतुर्थपादारम्भः ॥४२७॥


| | | |
|---|---|---|
| १ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् | ७२४ | ८ |
| २ सप्तगत्यधिकरणम् | ७३० | १७ |
| एकादशेन्द्रियाणीति स्थापनम् | ७३२ | १८ |
| ३ प्राणाणुत्वाधिकरणम् | ७३४ | १७ |
| ४ मुख्यप्राणोत्पत्त्यधिकरणम् | ७३७ | २ |
| ५ वायुक्रियाधिकरणम् | ७३९ | १० |
| ६ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् | ७४७ | ६ |
| ७ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् | ७४९ | ७ |
| इन्द्रियाणां देवताधिष्ठितत्वकथनम् | ७४९ | ११ |

८ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ७६१ १८
नामरूपव्यापारस्य परमात्मकर्तृकत्वस्थापनम् ७६२ ८
इति द्वितीये चतुर्थपादः ॥ ७६९ ॥

अथ तृतीये प्रथमपादारम्भः ॥ ७७५ ॥
१ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ७७६
देहान्तरे भूतैः सह जीवस्य गमनम् ७७६ ११
२ कृतात्ययाधिकरणम् ७९१
चन्द्रमण्डलादवरोहतां शिष्टकर्मणा सहैवागमनम् ७९१ २०
३ अनिष्टादिकार्यधिकरणम् ७९८
पापिनामपि चन्द्रमण्डलगमननिरूपणम् ७९८ १७
४ तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ८१३
आकाशपवनादिषु गच्छतो जीवस्य तत्सादृश्यमात्रवर्णनम् ८१४ ६
५ नातिचिराधिकरणम् ८१६
आकाशादिष्वल्पकालस्थितिनिरूपणम् ८१६ ६
६. अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ८१८
व्रीह्यादिषु तेषां संसर्गमात्रनिरूपणम्। ८१८ ११
इति तृतीये प्रथमपादः ॥ ८२३ ॥

| | | |
|---|---|---|
| अथ तृतीये द्वितीयपादारम्भः । | ८२५ | |
| १ सन्ध्याधिकरणम् | ८२५ | |
| स्वप्नसृष्टेरीश्वरकर्तृकत्वम् | ८२६ | ७ |
| २ तदभावाधिकरणम् | ८३७ | |
| नाडीपुरी तद्ब्रह्मणां सुषुप्तिस्थानत्वम् | ८३८ | १३ |
| ३ कर्मानुस्मृत्यधिकरणम् | ८४१ | |
| सुप्तः पुरुष एवोत्तिष्ठतीति वर्णनम् | ८४१ | १८ |
| ४ मुग्धाधिकरणम् | ८४३ | |
| मूर्च्छाया अवस्थान्तरत्वम् | ८४४ | ६ |
| ५ उभयलिङ्गाधिकरणम् | ८४७ | |
| दूषितपदार्थेषु स्थितस्यापि ब्रह्मणो निर्दोषत्वम् । | ८४७ | १८ |
| ६ प्रकृतैतावदधिकरणम् | ८६९ | |
| नेति नेतीति श्रुतेर्ब्रह्मण इयत्ताप्रतिषेधपरत्वम् | ८७० | १७ |
| अविद्याशब्दस्यानादिकर्मपरत्वम् | ८९२ | १७ |
| बन्धस्य मिथ्यात्वे शास्त्रोक्तप्रयत्नानर्थक्यम् | ८९३ | ९ |
| अभेदवाक्यानामनुवादकत्वापत्तिवर्णनम् | ८९५ | १ |
| परपक्षप्रतिक्षेपपूर्वकं भेदाभेदपक्षोपपादनम् | ८९८ | २३ |
| ७ पराधिकरणम् | ९०२ | |
| विष्णोरन्यस्मिन्परत्वाभावसमर्थनम् | ९०४ | ६ |
| ८ फलाधिकरणम् | ९१३ | |
| परमात्मन एव फलदातृत्वकथनम् | ९१८ | १० |

इति तृतीये द्वितीयपादः ॥ ९११ ॥

अथ तृतीये तृतीयपादारम्भः । ९२२

| | | |
|---|---|---|
| १ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् | ९२२ | |
| सर्ववेदान्तेष्वेकोपासनवर्णनम् | ९२४ | ४ |
| २ अन्यथात्वाधिकरणम् | ९३४ | |
| प्रकरणभेदस्य विद्याभेदकत्वम् | ९३७ | ४ |
| ३ सर्वाभेदाधिकरणम् | ९४४ | |
| सर्वाभेदे गुणोपसंहारः | ९४५ | ५ |
| ४ आनन्दाद्यधिकरणम् | ९४६ | |
| आनन्दादीनां सर्वत्रोपसंहारः | ९४७ | ५ |
| ५ कार्याख्यानाधिकरणम् | ९५८ | |
| आचमनीयास्वप्सु वासो विधानम् | ९५९ | १७ |
| ६ समानाधिकरणम् | ९६२ | |
| शाण्डिल्यविद्यायाः सर्वत्राभिन्नत्वम् | ९६३ | २० |
| ७ सम्बन्धाधिकरणम् | ९६५ | |
| आदित्याक्षो ब्रह्मनाम्नोरनुपसंहारः | ९६७ | ५ |
| ८ सम्भृत्यधिकरणम् | ९७० | |
| सम्भृत्यादिगुणानां सर्वत्रानुपसंहारः | ९७१ | २ |

९ पुरुषविद्याधिकरणम् ९७५

पुरुषविद्यायाः सर्वत्र भेदः ९७५ १६

१० वेधाद्यधिकरणम् ९७९

वेधाद्यर्थमन्त्राणामुपासनासु नोपसंहारः ९७९ १९

११ हान्यधिकरणम् ९८५

मुक्तस्य पुण्यपापयोर्हानिरिवोपायनमपि कल्पनीयम् ९८६ १

१२ साम्परायाधिकरणम् ९८९

देहावियोगसमय एव सर्वकर्मक्षयः ९९० ३

१३ अनियमाधिकरणम् १०००

सर्वब्रह्मविदामर्चिरादिमार्गगमनम् १००० १०

१४ यावदधिकाराधिकरणम् १००३

अधिकारवतां वसिष्ठादीनां ब्रह्मज्ञानिनामपि लोकस्थितिः १००४ ३

१५ अक्षरध्यधिकरणम् १००८

आनन्दादीनामिवास्थूलत्वादीनामपि ब्रह्मणा ध्येयत्वम् १००९ १

१६ अन्तरत्वाधिकरणम् १०१६

उषस्तकहोलकृतयोरन्तरात्मप्रश्नयोः परमात्मपरत्वम् १०१७ २

१७ कामाद्यधिकरणम् १०२६

१८ तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् १०३७

उद्गीथाद्युपासनानां कर्मसु नियमाभावः १०३७ १५

१९ प्रदानाधिकरणम् १०४०

अपहतपाप्मत्वादिगुणभेदेन गुणिनोऽप्यावर्तनम् १०४० १२

२० लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् १०४३

मनश्चितादीनां विद्यारूपत्वम् १०४३ १७

२१ शरीरेभावाधिकरणम् १०५९

ज्ञातृत्वविशिष्टमेवात्मनः स्वरूपमनुसन्धेयम् १०६० ७

२२ अङ्गावबद्धाधिकरणम् १०६५

उद्गीथांगोपासनानां सर्वशाखासु सम्बन्धः १०६५ १३

२३ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् १०६९

वैश्वानरविद्यायां समस्तोपासनस्य श्रेष्ठत्वम् १०७० १०

२४ शब्दादिभेदाधिकरणम् १०७२

शाण्डिल्यादिविद्यानां भेदेनैवोपासनं कार्यम् १०७३ ४

२५ विकल्पाधिकरणम् १०७४

एकयैव विद्यया सर्वफलप्राप्तिः १०७५ २

२६ यथाश्रयभावाधिकरणम् १०७८

उद्गीथाद्याश्रितप्रत्ययानां नियमेन नोपसंहारः १०८३ ४

इति तृतीये तृतीयपादः ॥१०८६॥

## अथ तृतीये चतुर्थपादारम्भः ।


| | | |
|---|---|---|
| १ पुरुषार्थाधिकरणम् | १०८८ | |
| कर्मणामेव विद्याशेषत्वप्रतिपादनम् | १०९९ | ७ |
| ऊर्ध्वरेतसामाश्रमस्य विहितत्वम् | १११८ | ८ |
| २ स्तुतिमात्राधिकरणम् | ११२२ | |
| उद्गीथादिवाक्यानामुपासनाविध्यर्थत्वम् | ११२४ | २ |
| ३ पारिप्लवाधिकरणम् | ११२५ | |
| आख्यानश्रुतीनां विद्याविध्यर्थत्वम् | ११२६ | ६ |
| ४ अग्नीन्धनाधिकरणम् | ११२९ | |
| ऊर्ध्वरेतसामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः | ११२९ | ६ |
| ५ सर्वापेक्षाधिकरणम् | ११३१ | |
| विद्यायाः सर्वाश्रमकर्मापेक्षत्वम् | ११३२ | १ |
| ६ शमदमाद्यधिकरणम् | ११३४ | |
| शमादीनां विद्याङ्गत्वकथनम् | ११३४ | ११ |
| ७ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् | ११३६ | |
| ब्रह्मविदामपि प्राणसङ्कट एव सर्वान्नभक्षणम् | ११३६ | १५ |
| ८ विहितत्वाधिकरणम् | ११४२ | |
| केवलाश्रमिणामप्याश्रमकर्मणां कर्तव्यत्वम् | ११४२ | ११ |
| ९ विधुराधिकरणम् | ११४९ | |
| अनाश्रमिणामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः | ११४९ | ८ |

१० तद्भूताधिकरणम् ११५६
आश्रमाद्भ्रष्टानां ब्रह्मविद्यायां नाधिकारः ११५७ ३
११ स्वाम्यधिकरणम् ११६४
उद्गीथाद्युपासनानि ऋत्विग्भिः कर्तव्यानि ११६५ १५
१२ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ११५८
बाल्यपाण्डित्यवन्मौनस्यापि विधित्वम् ११६९ ५
१३ अनाविष्काराधिकरणम् ११७६
अभिमानादिवर्जनेन बालकर्मणा स्थेयम् ११७६ १९
१४ ऐहिकाधिकरणम् ११७६
विद्यासिद्धौ जन्मान्तरस्यापि सम्भावना ११७६ १२
१५ मुक्तिफलाधिकरणम् ११८२
ब्रह्मविधावतोऽपि जन्मान्तरसम्भवः ११८२ ६

इति तृतीयाध्याये चतुर्थ पादः ॥

---

अथ चतुर्थे प्रथमपादारम्भः ॥ १०८६

१ आवृत्त्यधिकरणम् ११८८
श्रवणादीनां पुनः पुनः कर्तव्यत्वम् ११८८ २१
२ आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ११९३
परमात्मन आत्मत्वेनानुसन्धानम् ११९३ १५

| | | |
|---|---|---|
| ३ प्रतीकाधिकरणम् | ११९४ | |
| मनआदीनां ब्रह्मत्वेनानुसन्धानम् | ११९५ | २ |
| ४ आदित्यादिमत्यधिकरणम् | ११९७ | |
| उद्गीथादावादित्यादिदृष्टिः कर्तव्या | ११९८ | ५ |
| ५ आसीनाधिकरणम् | ११९९ | |
| आसीनेनैव ध्यानादिकर्तव्यम् | ११९९ | १४ |
| ६ आप्रयाणाधिकरणम् | १२०५ | |
| यावदायुषमुपासनं कार्यम् | १२०६ | ४ |
| ७ तदधिगमाधिकरणम् | १२०९ | |
| ज्ञानोत्पत्तौ पूर्वोत्तरपापयोरभावः | १२०९ | ५ |
| ८ इतराधिकरणम् | १२११ | |
| पुण्यस्यापि तथाविद्योत्पत्तावभावः। | १२१२ | ३ |
| ९ अनारब्धकार्याधिकरणम् | १२१४ | |
| विद्योत्पत्तावनारब्धकर्मण एव नाशः | १२१४ | ७ |
| १० अग्निहोत्राधिकरणम् | १२१६ | |
| विद्योत्पत्तये अग्निहोत्रादिकर्म विदुषा ऽपि कार्यम | १२१६ | ९ |
| ११ इतरक्षपणाधिकरणम् | १२२२ | |
| प्रारब्धकर्मणां भोगेन नाश्यत्वम् | १२२२ | १० |
| इति चतुर्थे प्रथमपादः ॥१॥ | १२२२ | |

# अथ चतुर्थे द्वितीयपादारम्भः ।


| | | |
|---|---|---|
| १ वागधिकरणम् | १२२४ | |
| वाचो मनसि स्वरूपेण लयो भवति | १२२५ | ४ |
| २ मनोऽधिकरणम् | १२२७ | |
| मनः प्राणे लीनं भवति | १२२७ | ११ |
| ३ अध्यक्षाधिकरणम् | १२२९ | |
| प्राणो जीवात्मनि संयुज्यते | १२२९ | १६ |
| ४ भूताधिकरणम् | १२३१ | |
| जीवविशिष्टः प्राणो भूतेषु संयुज्यते | १२३१ | ११ |
| ५ आसृत्युपक्रमाधिकरणम् | १२३५ | |
| अर्चिरादिमार्गगमनपर्यन्तं विद्वदविदुषोर्गतिः समानैव | १२३६ | ४ |
| ६ परसम्पत्त्यधिकरणम् | १२४८ | |
| विदुषो वागादिप्राणभूतानां ब्रह्मणि सम्पत्तिः | १२४८ | २० |
| ८ अविभागाधिकरणम् | १२५० | |
| परसम्पत्तिस्तादात्म्यरूपैव | १२५१ | २ |
| ९ तदोकोऽधिकरणम् | १२५४ | |
| विद्वान् शताधिकया नाड्या गच्छति | १२५४ | १५ |
| १० रश्म्यनुसार्यधिकरणम् | १२५६ | |
| सूर्यरश्मिभिरेव विद्वान् गच्छति | १२५७ | ५ |

११ निशाधिकरणम् १२५९

निशि मृतस्यापि विदुषो ब्रह्मप्राप्तिर्भवत्येव १२५९ ११

१२ दक्षिणायनाधिकरणम् १२६०

दक्षिणायने मृतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः १२६० १५

इति चतुर्थे द्वितीयपादः ॥२॥ १२६४

अथ चतुर्थे तृतीयपादारम्भः ।

१ अर्चिराद्यधिकरणम् १२६८

सर्वेषामपि ब्रह्मविदामर्चिरादिरेक एव मार्गः १२६९ १८

२ वाय्वधिकरणम् १२७३

अर्चिरादिमार्गे सम्बत्सरादुपरि वायोर्निवेशः १२७४ ११

३ वरुणाधिकरणम् १२७६

तडित उपरि वरुणस्य निवेशः १२७६ २१

४ आतिवाहिकाधिकरणम् १२७८

अर्चिरादयो मुक्तस्यातिवोढारः १२७९ ११

अर्चिरादिमार्गेण परमपदगमने सङ्ग्रहश्लोकाः १२८२ १७

५ कार्याधिकरणम् १२८४

आतिवाहिको गणः मुक्तं परं ब्रह्मोपासीनान्नयति १२९१ ९

अप्रतीकालम्बनानेव मुक्तानातिवाहिको गणो नयति १३०० १

इति चतुर्थे तृतीयपादः ॥ १३०२ ॥

## अथ चतुर्थे चतुर्थपादारम्भः ।


| | | |
|---|---|---|
| १ सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् | १३०६ | |
| परमात्मानं प्राप्य स्वरूपेण प्रकाशमानो भवति जीवः | १३०६ | १४ |
| २ अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् | १३१३ | |
| ब्रह्मापृथक्सिद्धमात्मानमनुभवति मुक्तः | १३१३ | ८ |
| ३ ब्राह्माधिकरणम् | १३१५ | |
| अपहतपाप्मत्वादिब्रह्मगुणक आविर्भवति मुक्तः | १३१८ | ४ |
| विज्ञानघन एवेति श्रुतिरपि सगुणपरा एव | १३१९ | ११ |
| निरञ्जनः परममिति श्रुत्याऽपि मुक्तौ भेद एव उच्यते | १३१८ | २१ |
| सायुज्यशब्देनापि मुक्तौ भेद एव प्रतिपाद्यते | १३२० | ५ |
| यथा नद्यः स्यन्दमाना इत्यनेनापि भेद एवोपलभ्यते | १३२० | ११ |
| ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीत्यस्यापि भेदपरत्वमेव | १३२० | १९ |
| प्रवेष्टुञ्च परन्तप इत्यनेनापि भेद एवोच्यते | १३२१ | ३ |
| जुष्टमन्यमीशं पृथगात्मानमित्यादिभिः मुक्तौ भेद उच्यते | १३२२ | १ |
| प्रतिबिम्बजीववादे दोषकथनम् | १३२२ | १३ |
| नैयायिकाभिमतमुक्तिखण्डनम् | १३२५ | ५ |
| वैशेषिकाभिमतमुक्तिखण्डनम् | १३२६ | ६ |
| साङ्ख्यपातञ्जलोक्तमुक्तिखण्डनम् | १३२६ | २२ |
| भिद्यते हृदयग्रन्थिरिति श्रुत्यर्थविस्तरः | १३२७ | ७ |
| जीवन्मुक्तेरयौक्तिकत्वकथनम् | १३२८ | १ |

| | | |
|---|---|---|
| पराभिमताविद्यानिवृत्तिर्मोक्षभावभिन्ना | १३३० | २३ |
| मोक्षेऽप्यप्राकृतशरीरवत्त्वं मुक्तस्य | १३३४ | १५ |
| ४ सङ्कल्पाधिकरणम् | १३३६ | |
| मुक्तस्य सङ्कल्पमात्रेण सर्वार्थसिद्धिः | १३३७ | ८ |
| ५ अभावाधिकरणम् | १३४० | |
| सङ्कल्पादेव शरीरत्वमशरीमत्वञ्च मुक्तस्य | १३४३ | ६ |
| ६ जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् | | |
| जगत्सृष्ट्यादिव्यापाररहितमेव मुक्तस्यैश्वर्यम् | १३५२ | ५ |
| इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादः॥४॥ | १३६३ | |

# सूत्राणामकराद्यनुक्रमणिका ॥

| सूत्राणि | पृष्ठसंख्या | सूत्राणि | पृष्ठसंख्या |
|---|---|---|---|


अ

| सूत्राणि | पृष्ठसंख्या |
|---|---|
| अकरणत्वाच्च न० | ७३२ |
| अक्षरमम्बरान्तधृतेः | १८९ |
| अक्षरधियान्त्ववरो० | १००४ |
| अग्निहोत्रादितु तत्का० | १२१४ |
| अग्न्यादिगतिश्रुतेरि० | ७८० |
| अङ्गावबद्धास्तु न शा० | १०६३ |
| अङ्गित्वानुपपत्तेश्च | ४९९ |
| अङ्गेषु यथाश्रयभावः | १०७७ |
| अचलत्वञ्चापेक्ष्य | १२८७ |
| अणवश्च | ७३३ |
| अणुश्च | ७३६ |
| अत एव नित्यत्वम् | २३४ |
| अत एव च तद्ब्रह्म | १२४ |
| अत एव चाग्नीन्धना० | ११२७ |
| अत एवानन्याधि० | १३३७ |
| अत एव चोपमा सूर्य० | ८६० |
| अतएव न देवता० | १५८ |
| अतएव प्राणः | *५९ |
| अतएव सर्वाण्यनु | १२२५ |
| अतः प्रबोधोऽस्मात् | ८३८ |
| अतश्चायनेऽपि दक्षिणे | १२५९ |
| अतस्त्वितरज्ज्या० | ११५१ |
| अतिदेशाच्च | १०४६ |
| अतोऽनन्तेन तथाहिलि० | ८७९ |
| अतोऽन्यापि ह्ये० | १२१६ |
| अत्ता चराचरग्रहणात् | १०७ |
| अथातो ब्रह्मजिज्ञासा | *१ |
| अदृश्यत्वादिगुणको० | १४१ |
| अदृष्टानियमात् | ७१८ |
| अधिकन्तु भेदनिर्देशात् | ४५० |
| अधिकोपदेशात्तु बाद० | १०९७ |
| अधिष्ठानानुपपत्तेश्च | ५७९ |
| अध्ययनमात्रवतः | ११०४ |
| अनभिभवश्च दर्श० | ११४६ |
| अनवस्थितेरसम्भवा० | १३२ |
| अनारब्धकार्ये एव० | १२१२ |
| अनाविष्कुर्वन्न० | ११७५ |
| अनावृत्तिशब्दादना० | १३६० |
| अनियमः सर्वेषाम० | ९९७ |
| अनिष्टादिकारिणा० | ७९७ |
| अनुकृतेस्तस्य च | २१७ |
| अनुज्ञापरिहारौ० | ७१४ |
| अनुपपत्तेस्तु न० | ९६ |
| अनुबन्धादिभ्यः प्र० | १०५१ |
| अनुस्मृतेर्बादरिः | १६३ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| अनुस्मृतेश्च | ५४५ |
| अनुष्ठेयं बादराय० | १११४ |
| अनेन सर्वगतत्वमा० | ९१० |
| अन्तर उपपत्तेः | ११७ |
| अन्तरा चापि तु त० | ११४७ |
| अन्तराभूतग्राम० | १०१२ |
| अन्तरा विज्ञानम० | ६२३ |
| अन्तर्याम्यधिदैवा० | १३३ |
| अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा | ५८१ |
| अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् | *४८ |
| अन्त्यावस्थितेश्चो० | ५७२ |
| अन्यत्राभावाच्च० | ४९३ |
| अन्यथात्वं शब्दा० | ९३१ |
| अन्यथानुमितौ च ज्ञ० | ५०० |
| अन्यभावव्यावृत्तेश्च | १९३ |
| अन्यार्थन्तु जैमिनि० | ३२६ |
| अन्यार्थश्च परामर्शः | २१५ |
| अन्याधिष्ठिते पू० | ८२६ |
| अन्वयादिति चेत्स्या० | ९५४ |
| अपरिग्रहाच्चात्य० | ५२१ |
| अपि च स्मर्य्यते | ७०६, ११३८, ११४९ |
| अपि चैवमेके | ८५१ |
| अपि तु स्मर्य्यते | २१८ |
| अपि सप्त | ८०१ |
| अपि संराधने प्र० | ८७४ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| अपीतौ तद्वत्प्रसं० | ३८८ |
| अप्रतीकालम्ब० | १२९७ |
| अबाधाच्च | ११३७ |
| अभावं बादरिराह० | १३३९ |
| अभिध्योपदेशाच्च | ३५५ |
| अभिमानिव्यपदेश० | ३८१ |
| अभिव्यक्तेरित्याश्म० | १६२ |
| अभिसन्ध्यादिष्व० | ७१९ |
| अभ्युपगमेऽप्यर्था० | ४९५ |
| अम्बुवदग्रहणात्तु न० | ८६१ |
| अरूपवदेव हि त० | ८५२ |
| अर्चिरादिना तत्प्र० | १२६५ |
| अर्भकौकस्त्वात्तद्व्य० | १०३ |
| अल्पश्रुतेरिति चेत्तदु० | २१६ |
| अवस्थितिवैशे० | ६६० |
| अवस्थितेरिति काश० | ३४० |
| अविभागेन दृष्टत्वात् | १३१० |
| अविभागो वचनात् | १२४९ |
| अविरोधश्चन्दनवत् | ६५७ |
| अशुद्धमिति चेन्न | ८१८ |
| अंशो नानाव्यपदेशात्० | ६९३ |
| अश्मादिवच्च त० | ४५३ |
| अश्रुतत्वादिति चे० | ७८४ |
| असति प्रतिज्ञोपरो० | ५३६ |
| असदिति चेन्न प्रति० | ३८५ |
| असद्व्यपदेशान्नेति चे० | ४३१ |
| असन्ततेश्चाव्यति० | ७१५ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| असम्भवस्तु सतो० | ६०८ |
| असार्वत्रिकी | ११०२ |
| अस्ति तु | ५६६ |
| अस्मिन्नस्य च तद्योगं० | *३९ |
| अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा० | १२४० |

## आ

| सू० | पृ० |
|---|---|
| आकाशस्तल्लिङ्गात् | *५५ |
| आकाशे चाविशेषात् | ५४३ |
| आकाशोऽर्थान्तरत्वा० | २६२ |
| आचारदर्शनात् | १०६२ |
| आतिवाहिकास्तल्लि० | १२७७ |
| आत्मकृतेः परि० | ३५६ |
| आत्मगृहीतिरित० | ९५३ |
| आत्मनि चैवं विचि० | ४६५ |
| आत्मशब्दाच्च | ८५१ |
| आत्मा प्रकरणात् | १३०८ |
| आत्मेति तूपगच्छन्ति० | ११९० |
| आदरादलोपः | १०२७ |
| आदित्यादिमतयश्चा० | ११९६ |
| आध्यानाय प्रयो० | ९५० |
| आनन्दादयः प्रधानस्य | ९४५ |
| आनन्दमयोऽभ्यासात् | *२१ |
| आनर्थक्यमिति चेन्न० | ७९५ |
| आनुमानिकमप्येके० | २७० |
| आपः | ६१२ |
| आप्रयाणात्तत्रापि हि दृ० | १२०४ |
| आभास एव च | ७१७ |
| आमनन्ति चैनम० | १६७ |
| आर्त्विज्यमित्यौडुलो० | ११६४ |
| आवृत्तिरसकृदुपदे० | ११८५ |
| आसीनः सम्भवात् | ११९८ |
| आह च तन्मात्रम् | ८५६ |

## इ

| सू० | पृ० |
|---|---|
| इतरपरामर्शात्स० | २१० |
| इतरव्यपदेशाद्धि० | ४४९ |
| इतरस्याप्येवमसंश्ले० | १२१० |
| इतरेतरप्रत्ययत्वा० | ५२९ |
| इतरे त्वर्थसामान्यात् | ९४९ |
| इतरेषाञ्चानुपलब्धेः | ३७४ |
| इयदामननात् | १०१० |

## ई

| सू० | पृ० |
|---|---|
| ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् | १९५ |
| ईक्षतेर्नाशब्दम् | *१ |

## उ

| सू० | पृ० |
|---|---|
| उत्क्रान्तिगत्यागती० | ६८६ |
| उत्क्रमिष्यत एवम्भावा | ३२८ |
| उत्पत्त्यसम्भवात् | ५८२ |
| उत्तराच्चेदाविर्भूतस्व० | २१२ |
| उत्तरोत्पादे च पू० | ५३१ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| उदासीनानामपि चै० | ५४८ |
| उपदेशभेदान्नेति चे० | *७१ |
| उपपत्तेः | ९०७ |
| उपपन्नस्तल्लक्ष० | ९९४ |
| उपपूर्वमपि त्वेके० | ११५९ |
| उपमर्दं च | ११०६ |
| उपलब्धिवद० | ६८५ |
| उपसंहारदर्शना० | ४५४ |
| उपसंहारोऽर्थाभे० | ९२९ |
| उपस्थितेऽतस्त० | १०३० |
| उपादानात् | ६८२ |
| उभयथा च दोषा० | ५१८, ५४२ |
| उभयथापि नकर्मा० | ५०९ |
| उभयव्यपदेशात्त्वहि० | ८८१ |
| **ऊ** | |
| ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि | ११११ |
| **ए** | |
| एकआत्मनः शरी० | १०५८ |
| एतेन मातरिश्वा व्या० | ६०८ |
| एतेन योगः प्रत्युक्तः | ३७५ |
| एतेन शिष्टापरिग्र० | ३९६ |
| एतेन सर्वे व्याख्या० | ३६१ |
| एवमप्युपन्यासात्पू० | १३१७ |
| एवञ्चात्माकात्स्न्र्यम् | ५६९ |
| एवं मुक्तिफलानियमस्त० | ११७९. |
| **ऐ** | |
| ऐहिकमप्रस्तुते प्रति० | ११७७ |
| **क** | |
| कर्त्ता शास्त्रार्थ० | ६७२ |
| कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च | ९७ |
| करणवच्चेन्न भो० | ५८० |
| कम्पनात् | २५९ |
| कल्पनोपदेशाच्च मध्वा० | २९९ |
| **का** | |
| कामकारेण चैके | ११०८ |
| कामाच्च नानुमाना० | *३७ |
| कामादीतरत्र तत्र चा० | १०२३ |
| काम्यास्तु यथाकामं० | १०७५ |
| कारणत्वेन चाकाशा० | ३१० |
| कार्याख्यानादपूर्वम् | ९५६ |
| कार्यात्यये तदध्यक्षेणस० | १२८७ |
| कार्यं बादरिरस्य ग० | १२८३ |
| **कृ** | |
| कृतप्रयत्नापेक्ष० | ६९ |
| कृत्स्नप्रसक्तिर्निर० | ४५९ |
| कृत्स्नभावात्तु गृहि० | ११७० |
| कृतात्ययेऽनुशय० | ७८८ |
| **क्ष** | |
| क्षणिकत्वात् | ५५७ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| क्षात्रियत्वावगतेश्च | २५१ |
| **ग** | |
| गतिशब्दाभ्यां तथाहिदृ० | २०५ |
| गतिसामान्यात् | *१७ |
| गतेरर्थवत्त्वमुभ० | ९९२ |
| **गु** | |
| गुणसाधारण्यश्रु० | १०८१ |
| गुणाद्वा-लोकवत् | ६६१ |
| गुहांप्रविष्टावात्मानौ हि० | १११ |
| **गौ** | |
| गौणश्चेन्नात्मशब्दात् | *५ |
| गौण्यसम्भवाच्छ० | ६०० |
| गौण्यसम्भवात् | ७२५ |
| **च** | |
| चक्षुरादिवत्तत्स० | ७४० |
| चमसवदविशेषात् | २९२ |
| चरणादिति चेन्न० | ७९३ |
| चराचरव्यपाश्रय० | ६२६ |
| चितितन्मात्रेण तदात्म० | १२१५ |
| **छ** | |
| छन्दत उभयाविरोधात् | ९९० |
| छन्दोऽभिधान्नेतिचे० | *६६ |
| **ज** | |
| जगद्वाचित्वात् | ३१७ |
| जगद्व्यापारवर्जम्प्रक० | १३५० |
| जन्माद्यस्य यतः | *४० |
| जीवमुख्यप्राणलिं० | [८३ ३२४ |
| ज्योतिश्चरणाभि० | *६२ |
| ज्योतिर्दर्शनात् | २६१ |
| ज्योतिराद्यधिष्ठा० | ७४७ |
| ज्योतिरुपक्रमात्तु त० | २९५ |
| ज्योतिषि भावाच्च | २४३ |
| ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने | ३०८ |
| **ज्ञ** | |
| ज्ञेयत्वावचनाच्च | २८२ |
| ज्ञोत एव | ६३२ |
| **त** | |
| त इन्द्रियाणि तद्व्यप० | ७५४ |
| तच्छ्रुतेः | १०९३ |
| तडितोऽधिवरुणःसम्ब० | १२७५ |
| तत्तु समन्वयात् | *५९ |
| तत्पूर्वकत्वाद्वाचः | ७२८ |
| तत्प्राक्श्रुतेश्च | ७२७ |
| तत्रापि च तद्व्यापारा० | ८०२ |
| तत्स्वाभाव्यापत्ति० | ८११ |
| तथा चैकवाक्यतोप० | ११२६ |
| तथान्यप्रतिषेधात् | ९०८ |
| तथा प्राणाः | ७२३ |
| तदधिगमे उत्तरपू० | १२०६ |
| तदधीनत्वादर्थवत् | २८० |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| तदनन्यत्वमारम्भण० | ४०१ |
| तदन्तरप्रतिपत्तौ रंह० | ७७१ |
| तदभावनिर्द्धारणे प्र० | २५६ |
| तदभावो नाडीषु त० | ८३५ |
| तदभिध्यानात्तु० | ६१५ |
| तदव्यक्तमाह हि | ८७३ |
| तदापीतेः संसारव्य० | १२३७ |
| तदुपर्य्यपि बादरायणः० | २२४ |
| तदोकोग्रज्वलनं तत्प्र० | १२५१ |
| तद्गुणसारत्वात्त० | ६६५ |
| तद्भूतस्यतु नातद्भा० | ११५४ |
| तद्वतो विधानात् | १०९५ |
| तद्धेतुव्यपदेशाच्च | *२९ |
| तन्निर्द्धारणानियमस्त० | १०३३ |
| तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् | *९ |
| तन्मनः प्राणउत्तरात् | १२२६ |
| तन्वभावेसन्ध्यवदुपपत्तेः | १३४३ |
| तर्काप्रतिष्ठानादप्य० | ३९३ |
| तस्य नित्यत्वात् | ७५२ |
| तानि परे तथाह्याह | १२४७ |
| त्रयाणामेव चैवमुप० | २८४ |
| त्र्यात्मकत्वात्तु भू० | ७७७ |
| तुल्यन्तु दर्शनम् | ११०० |
| तृतीयशब्दावरो० | ८१० |
| तेजो ऽतस्तथाह्याह | ६११ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| **द** | |
| दर्शनाच्च | ८०९, ८६५, १०८४, १२९१ |
| दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षा० | १३५६ |
| दर्शयति च | ९२८, ९६७ |
| दर्शयति चाथो० | ८५७ |
| दहर उत्तरेभ्यः | २०० |
| दृश्यते तु | ३८३ |
| देवादिवदपि लो० | ४५७ |
| देहयोगाद्वासोऽपि | ८३४ |
| द्वादशाहवदुभय० | १३४१ |
| द्युभ्वाद्यायतनं स्वश० | १९९ |
| **ध** | |
| धर्मं जैमिनिरतएव | ९१४ |
| धर्मोपपत्तेश्च | १८७ |
| धृतेश्च महिम्नोऽस्या० | २०८ |
| ध्यानाच्च | ११९९ |
| **न** | |
| नकर्माविभागादिति चे० | ४७८ |
| नच कर्तुः करणम् | ५८४ |
| नचकार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः | १२९२ |
| नच पर्य्यायादप्यविरो० | ५७० |
| नच स्मार्त्तमतद्धर्मा० | १३६ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| न चाधिकारिकमपि० | ११५७ |
| ननु दृष्टान्तभावात् | ३८९ |
| नतृतीये तथोपलब्धेः | ८०६ |
| नप्रतीकेन हिसः | ११९४ |
| न प्रयोजनवत्त्वात् | ४७४ |
| न भावोऽनुपलब्धेः | ५५६ |
| न वक्तुरात्मोपदेशादि० | *७७ |
| नवा तत्सहभावाऽश्रुतेः | १०८२ |
| नवा प्रकरणभेदात्० | ९३५ |
| नवायुक्त्रिये पृथ० | ७३७ |
| नवा विशेषात् | ९६५ |
| न वियदश्रुतेः० | ५९८ |
| नविलक्षणत्वादस्य० | ३७८ |
| न सामान्यादप्युप० | १०५४ |
| न सङ्ख्योपसङ्ग्रहा० | ३०२ |
| न स्थानतोऽपि पर० | ८४४ |
| नाणुरतच्छ्रुतेरि० | ६५५ |
| नातिचिरेण विशेषात् | ८१४ |
| नात्माश्रुतेर्नित्य० | ६२८ |
| नानाशब्दादिभेदात् | १०७० |
| नानुमानमतच्छब्दात् | १७४ |
| नाभाव उपलब्धेः | ५४९ |
| नाविशेषात् | ११०६ |
| नासतो दृष्टत्वात् | ५४७ |
| नियमाच्च | १०९६ |
| निर्मातारञ्चैके पु० | ८२६ |
| निशिनेति चेन्न सम्ब० | १२५७ |
| नित्यमेव च भावात् | ५१६ |
| नित्योपलब्ध्यनु० | ६७० |
| नेतरोऽनुपपत्तेः | *३३ |
| नैकस्मिन् दर्शयतोहि | १२३१ |
| नैकस्मिन्नसम्भवात् | ५६१ |
| नोपमर्द्दनातः | १२३९ |

प

| सू० | पृ० |
|---|---|
| पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यप० | ७४४ |
| पत्यादिशब्देभ्यः | २६७ |
| पत्युरसामञ्जस्यात् | ५७२ |
| पटवच्च | ४४० |
| पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि | ४८९ |
| परमतः सेतून्मान० | ९०० |
| परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् | १२९० |
| परात्तु तच्छ्रुतेः | ६८९ |
| पराभिध्यानात्तु ति० | ८३२ |
| परामर्शं जैमिनिरचो० | १११२ |
| परेण च शब्दस्य ता० | १०५६ |
| पारिप्लवार्था इति चे० | ११२४ |
| पुरुषाश्मवदितिचेत्त० | ४९६ |
| पुरुषार्थोऽतः शब्दा० | १०८७ |
| पुरुषविद्यायामपि० | ९७१ |
| पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतो० | ६६९ |
| पूर्ववद्वा | ८८९ |
| पूर्वविकल्पः प्रक० | १०४४ |
| पूर्वन्तु बादरायणोहि० | ९१६ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| **पृ** | |
| पृथगुपदेशात् | ६६४ |
| पृथिवी | ६१३ |
| पृथिव्यधिकाररूप० | ६१४ |
| **प्र** | |
| प्रकरणात् | १७७ |
| प्रकरणाच्च | ११० |
| प्रकाशादिवच्चावैशे० | ८७७ |
| प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् | ८५५ |
| प्रकाशादिवत्तु नै० | ७०७ |
| प्रकाशाश्रयवद्वा तेज० | ८८५ |
| प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृ० | ३४४ |
| प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रति० | ८६६ |
| प्रतिज्ञाविरोधात् | *१४ |
| प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमा० | ३३५ |
| प्रतिज्ञाहानिरव्यति० | ६०३ |
| प्रतिषेधाच्च | ८९० |
| प्रतिषेधादिति चे० | १२४१ |
| प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिस० | ५३८ |
| प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चे० | १३५२ |
| प्रथमेऽश्रवणादिति चे० | ७८१ |
| प्रदानवदेव तदुक्तम् | १०३८ |
| प्रदीपवदावेशः | १३४६ |
| प्रदेशाभेदादिति चे० | ७२० |
| प्रवृत्तेश्च | ४८८ |
| प्रसिद्धेश्च | २०९ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| प्राणगतेश्च | ७७८ |
| प्राणभृच्च | १७५ |
| प्राणवता शब्दात् | ७५० |
| प्राणस्तथानुगमात् | *७३ |
| प्राणादयो वाक्यशेषात् | ३०७ |
| प्रियशिरस्त्वाद्यप्रा० | ९४७ |
| **फ** | |
| फलमत उपपत्तेः | ९१२ |
| **ब** | |
| बहिस्तूभयथापि स्मृ० | ११६१ |
| बुद्ध्यर्थः पादवत् | ९०४ |
| ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् | ११९५ |
| ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्या० | १३१३ |
| **भ** | |
| भाक्तं वानात्मवित्त्वात्त० | ७८६ |
| भावं जैमिनिर्विकल्पाम० | १३४० |
| भावन्तु बादरायणो० | २४४ |
| भावशब्दाच्च | ११२३ |
| भावे चोपलब्धेः | ४२४ |
| भावे जाग्रद्वत् | १३४४ |
| भूतादिपादव्यपदेशो० | *६९ |
| भूतेषु तच्छ्रुतेः | १२३० |
| भूमा संप्रसादादध्युपदे० | १७० |
| भूम्नः क्रतुवज्ज्याय० | १०६७ |
| भेदव्यपदेशाच्च | *३५, १७६ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| भेदव्यपदेशाच्चान्यः | ५४ |
| भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च | ७५६ |
| भेदादिति चेन्न प्रत्येक० | ८४८ |
| भेदान्नेति चेदेकस्यामपि | ९२४ |
| भोक्त्रापत्तेरविभाग० | ३८८ |
| भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च | १३५८ |
| भोगेन त्वितरे क्षपयि० | १२१९ |

## म

| सू० | पृ० |
|---|---|
| मध्वादिष्वसम्भवादन० | २४१ |
| महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरि० | ५०४ |
| महद्वच्च | २९१ |
| मन्त्रवर्णात् | ७०१ |
| मन्त्रादिवद्वाविरोधः | १०६५ |
| मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते | ३१ |
| मायामात्रन्तु कार्त्स्न्ये० | ८२८ |
| मांसादिभौमं यथाशब्द० | ७६५ |
| मुक्तः प्रतिज्ञानात् | १३०६ |
| मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् | १७२ |
| मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परि० | ८४२ |
| मौनवदितरेषाम० | ११७३ |

## य

| सू० | पृ० |
|---|---|
| यत्रैकाग्रता तत्राविशे० | १२०२ |
| यथा च तक्षोभयथा | ६८८ |
| यथा च प्राणादिः | ४४२ |
| यदेव विद्ययेति हि | १२१८ |
| यावदधिकारमव० | १००१ |
| यावदात्मभावित्वा० | ६६७ |
| यावद्विकारन्तु विभा० | ६०६ |
| योगिनः प्रति स्मर्यते स्मा० | १२६१ |
| योनिश्च हि गीयते | ३६० |
| योनेः शरीरम् | ८२१ |

## र

| सू० | पृ० |
|---|---|
| रचनानुपपत्तेश्च | ४८३ |
| रश्म्यनुसारी | १२५५ |
| रूपादिमत्त्वाच्च विपर्य्य० | ५१७ |
| रूपोपन्यासाच्च | १४७ |
| रेतः सिग्योगोऽथ | ८२० |

## ल

| सू० | पृ० |
|---|---|
| लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि ब० | १०४० |
| लिङ्गाच्च | ११८९ |
| लोकवत्तुलीला कैवल्यम् | ४७५ |

## व

| सू० | पृ० |
|---|---|
| वदतीति चेन्न प्रा० | २८३ |
| वाक्यान्वयात् | ३३१ |
| वाङ्मनसि दर्शनाच्छ० | १२२३ |
| वायुमब्दादविशेषवि० | १२७० |
| विकल्पो विशिष्टफ० | १०७३ |
| विकरणत्वान्नेति चे० | ४७२ |
| विकारशब्दान्ने० | २५ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| विकारावर्त्ति च त० | १३५४ |
| विज्ञानादिभावे० | ५८५ |
| विद्याकर्मणोरिति० | ८०३ |
| विद्यैव तु निर्द्धारणा० | १०४७ |
| विधिर्वा धारणवत् | १११६ |
| विपर्ययेण तु क्र० | ६१७ |
| विप्रतिषेधाच्च | ५९१ |
| विप्रतिषेधाच्चास० | ५०२ |
| विभागः शतवत् | ११०३ |
| विरोधः कर्मणीति चे० | २२७ |
| विवक्षितगुणोपपत्तेश्च | ९४ |
| विशेषश्च दर्शयति | १३०० |
| विशेषणभेदव्यपदे० | १४५ |
| विशेषणाच्च | ११६ |
| विशेषानुग्रहश्च | ११५० |
| विशेषितत्वाच्च | १२८५ |
| विहारोपदेशात् | ६८२ |
| विहितत्वाच्चाश्रमक० | ११४० |
| वृद्धिह्रासभाक्त्वम० | ८६३ |
| वेधाद्यर्थभेदात् | ९३६ |
| वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः | १२७९ |
| वैधर्म्याच्च न स्वप्ना० | ५५४ |
| वैशेष्यात्तु तद्वा० | ७६७ |
| वैश्वानरः साधारण० | १४९ |
| वैषम्यनैर्घृण्ये न सा० | ४७६ |
| व्यतिरेकस्तद्भावभा० | १०६० |
| व्यतिरेकानवस्थिते० | ४९१ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| व्यतिरेको गन्धवत्त० | ६६३ |
| व्यतिहारो विशिंष० | १०१८ |
| व्यपदेशाच्च क्रि० | ६८३ |
| व्याप्तेश्च समञ्जसम् | ९३९ |
| **श** | |
| शक्तिविपर्ययात् | ६८६ |
| शब्द इति चेन्नातः प्र० | २३० |
| शब्दश्चाथो कामकारे | ११३९ |
| शब्दविशेषात् | ९९ |
| शब्दादेव प्रमितः | २१९ |
| शब्दादिभ्योऽन्तः प्र० | १५५ |
| शमदमाद्युपेतः स्या० | ११३२ |
| शारीरश्चोभयेऽपि हि० | १३८ |
| शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो० | ८१ |
| शास्त्रयोनित्वात् | *५१ |
| शिष्टेश्च | १०७९ |
| शुगस्य तदनादरश्र० | २४६ |
| शेषत्वात्पुरुषार्थवा० | १०८९ |
| **श्र** | |
| श्रवणाध्ययनार्थ० | ३५७ |
| श्रुतत्वाच्च | १८, ९१३ |
| श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् | ४६१ |
| श्रुतोपनिषत्कगत्य० | १२६ |
| श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च० | १०४९ |

| सू० | पृ० |
| --- | --- |
| श्रेष्ठश्च | ७३५ |

## स

| सू० | पृ० |
| --- | --- |
| स एव तु कर्म्मानु० | ८३९ |
| सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः | १३३५ |
| सञ्ज्ञातश्चेत्तदुक्तम० | ९३७ |
| सञ्ज्ञामूर्त्तिक्लृप्ति० | ७५९ |
| सत्त्वाच्चावरस्य | ४२७ |
| सन्ध्ये सृष्टिराह हि | ८२४ |
| सप्तगतेर्विशेषित० | ७२९ |
| समन्वारम्भणात् | १०९४ |
| समवायाभ्युप० | ५१३ |
| समाकर्षात् | ३१४ |
| समाध्यभावाच्च | ६८७ |
| समान एवञ्चाभेदा० | ९६० |
| समाननामरूपत्वा० | २३६ |
| समाना चासृत्युपक्र० | १२३३ |
| समाहारात् | १०७९ |
| समुदायउभयहे० | ५२२ |
| सम्पत्तेरिति जैमि० | १६५ |
| सम्पद्याविर्भावः स्वे० | १३०४ |
| सम्बन्धादेवमन्य० | ९६३ |
| सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि० | ९६८ |
| सम्भोगप्राप्तिरिति० | १०५ |
| सम्बन्धानुपपत्तेश्च | ५७७ |
| सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् | ८८ |
| सर्वथानुपपत्तेश्च | ५५८ |
| सर्वथाऽपि तएवोभ० | ११४४ |
| सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च | ४८१ |
| सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोद० | ९२० |
| सर्वान्नानुमतिश्च प्रा० | ११३४ |
| सर्वापेक्षा च यज्ञा० | ११२९ |
| सर्वाभेदादन्यत्रेमे | ९४१ |
| सर्वोपेता च तद्द० | ४७० |
| संयमने त्वनुभू० | ७९९ |
| संस्कारपरामर्शात्त० | २५४ |
| सहकारित्वेन च | ११४२ |
| सहकार्य्यन्तरविधिः प० | ११६६ |
| साक्षाच्चोभयाम्ना० | ३५४ |
| साक्षादप्यविरोधं० | १५९ |
| सा च प्रशासनात् | १९२ |
| सामान्यात्तु | ९०३ |
| सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः | १२८६ |
| साम्परायेतरतव्या० | ९८६ |
| सुकृतदुष्कृते एवे० | ७९६ |
| सुखविशिष्टाभिधाना० | १२२ |
| सुषुप्त्युत्क्रान्त्यो० | २६५ |
| सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात् | २७८ |
| सूक्ष्मं प्रमाणतश्च त० | १२३८ |
| सूचकश्च हि श्रुतेः ० | ८२९ |
| सैवहि सत्यादयः | १०२१ |
| सोऽध्यक्षे तदुपगमा० | १२२७ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| स्तुतये ऽनुमतिर्वा | ११०७ |
| स्तुतिमात्रमुपादा० | ११२० |
| स्थानविशेषात्प्रका० | ८०६ |
| स्थानादिव्यपदेशा० | १२० |
| स्थित्यदनाभ्याञ्च | १९८ |
| स्मरन्ति च | ७०९, ८०० १२०१ |
| स्मर्य्यमाणमनुमा० | १५३ |
| स्मर्य्यते च | १२४५ |
| स्मर्य्यतेऽपि च लोके | ८०८ |
| स्मृतेश्च | १०० २५८ १२८९ |
| स्मृत्यनवकाशदोष० | ३६५ |

| सू० | पृ० |
|---|---|
| स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्द० | ६०२ |
| स्वपक्षे दोषाच्च | ३९१ ४६८ |
| स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च | ६५६ |
| स्वात्मना चोत्तरयोः | ६५४ |
| स्वाध्यायस्य तथात्वे हि० | ८२६ |
| स्वाप्ययात् | १५ |
| स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यत० | १३४७ |
| स्वामिनः फलश्रुतेरित्या० | ११६३ |

**ह**

| सू० | पृ० |
|---|---|
| हस्तादयस्तु स्थि० | ७३१ |
| हानौ तूपायनशा० | ८८० |
| हृद्यपेक्षया तु मनु० | २२२ |
| हेयत्वावचनाच्च | १२ |